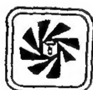
● मेरठ एवं अन्य विश्वविद्यालयों के लिये पाठ्य-पुस्तक ●

- भारतीय शासन एवं राजनीति पर हिन्दी में प्रथम पाठ्य-पुस्तक
- भाषा सरल, प्रवाहमयी एवं स्वाभाविक
- विषय का पूर्ण एवं विस्तृत ज्ञान
- विषय सामग्री यथेष्ठ एवं मौलिक
- विश्वसनीय एवं आधुनिकतम सूचना
- शुद्ध एवं स्पष्ट मुद्रण



रस्तोगी पब्लिकेशन्स
मुद्रक एवं प्रकाशक
शिवाजी रोड
मेरठ : दिल्ली

भारतीय शासन और राजनीति

INDIAN GOVERNMENT AND POLITICS

लेखक

पी० शरण

एम. ए., पी-एच. डी

रीडर एवं अध्यक्ष, राजशास्त्र विभाग

मेरठ कालिज

मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ

अन्य महत्वपूर्ण पाठ्य-पुस्तकें

१	राजदर्शन भाग १ (प्लेटो से कन्सीलियर आन्दोलन तक)	डा० के. एन. वर्मा
२	राजदर्शन भाग २ (कन्सीलियर आन्दोलन से बर्क तक)	डा० के. एन. वर्मा
३	राजनीतिक निबन्ध	डा० के. एन. वर्मा
४	लोक प्रशासन	डा० डी सी. चतुर्वेदी
५	अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध	डा० डी सी. चतुर्वेदी
६	अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति	डा० पी. शरण
७	भारतीय शासन एव राजनीति का विकास	डा० पी शरण
८	प्रमुख शासन पद्धतियो का तुलनात्मक अध्ययन	डा० पी. शरण
९	भारत मे शासन एव राजनीति	डा० पी. शरण
10	A History of Political Thought (From Plato to Conciliar Movement)	Dr. Sukhbir Singh



प्रकाशक
रस्तोगी पब्लिकेशन्स
मुद्रक एवं प्रकाशक
शिवाजी रोड, मेरठ

प्रथम संस्करण १९७०

मूल्य . विद्यार्थी संस्करण–१२.५०
पुस्तकालय संस्करण–१५.००

मुद्रक .
पायनियर प्रिंटर्स
मेरठ

प्रस्तावना

भारतीय शासन और राजनीति विषय का अध्ययन राजशास्त्र के विद्यार्थियों के लिये, विशेष रूप से स्नातकोत्तर स्तर पर, अति आवश्यक और लाभकारी है। इसी दृष्टि से स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से अनेक विश्वविद्यालयों ने इसे अपने पाठ्यक्रमों में एक वैकल्पिक कोर्स के रूप मे स्थान दिया है, परन्तु मेरठ विश्वविद्यालय ने इसके महत्व को देखते हुए इसे अपने पाठ्यक्रम में एक अनिवार्य कोर्स के रूप में स्वीकार किया है। इस विषय के विभिन्न पहलुओं पर पुस्तकें उपलब्ध है, किन्तु एक ऐसी पाठ्य-पुस्तक का, जिसमें इसके सभी महत्वपूर्ण पहलुओं का सविस्तार विवेचन हो सर्वथा अभाव है। प्रस्तुत पुस्तक उस कमी को पूरा करने के लिये एक प्रयास है। इसमें भारतीय शासन और राजनीति के सभी महत्वपूर्ण पहलुओं की आलोचनात्मक दृष्टि से परीक्षा तथा उनका विस्तारपूर्ण विवेचन किया गया है जैसा कि विषय सूची पर दृष्टि डालने से ही स्पष्ट होगा। वर्तमान शासन और राजनीति की ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि के रूप में सन् १९३७ से लेकर १९५० तक भारतीय शासन और राजनीति का विकास प्रथम दो अध्यायों में दिया गया है। पुस्तक के प्रेस में जाने तक की घटनाओं को पाठ्य सामग्री में यथास्थान सम्मिलित किया गया है।

पुस्तक की भाषा सरल हिन्दी है, फिर भी कठिन व पारिभाषिक शब्दों के अंग्रेजी रूपान्तर तथा अनेक उपयुक्त वाक्यांश पाठ्य-सामग्री के साथ-साथ कोष्ठक मे दिये गये है। पद-टिप्पणियों के रूप में विद्वान लेखकों के साथ ग्रन्थो, राजनीतिक नेताओं व पर्यवेक्षकों के लेखों और पत्रिकाओं से अनेक उपयुक्त उद्धरण भी दिये गये हैं, जो विद्यार्थियों को विषय के आगे अध्ययन में अति सहायक सिद्ध होंगे। हमें आशा है कि सहयोगी शिक्षक और विद्यार्थी इसे सभी दृष्टियों से उपयोगी पायेंगे और अपने सुझाव भेजेंगे, जिनका अगले संस्करण में समावेश किया जायेगा।

'पारिजात'
७५ साकेत, मेरठ

परमात्मा शरण

विषय सूची

अध्याय १

ऐतिहासिक भूमिका

किसी भी देश की वर्तमान शासन पद्धति और राजनीति उसके अतीत की देन है। यह बात भारतीय शासन और राजनीति के विषय मे पूर्णतया सच है। परन्तु हमें भारत के वर्तमान शासन और राजनीति को भली प्रकार से समझने के लिये ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के रूप में केवल आधुनिक भारत अर्थात् ब्रिटिश शासनकालीन अतीत का ही अध्ययन करना काफी होगा। भारत की वर्तमान शासन संस्थाओं और उनसे सम्बन्धित राजनीति का विकास ब्रिटिश शासन काल में ही हुआ। भारत मे अंग्रेजो का व्यापार हेतु आगमन सन् १६०० मे हुआ और १७५७ में प्लासी के युद्ध के बाद भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आधिपत्य अर्थात् ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना हुई। सन् १८५७ तक कम्पनी की सर्वोपरिता बनी रही, परन्तु उस वर्ष के सशस्त्र विद्रोह के उपरान्त कम्पनी के शासन का अन्त हुआ और भारत के शासन पर ब्रिटिश ताज व पालियामेंट का सीधा नियन्त्रण स्थापित हुआ। १८५८ से १६२० तक भारत मे ससदीय नमूने की संस्थाओं का क्रमिक विकास हुआ और भावी भारतीय राजनीति की रेखायें भी निश्चित हुई।

भारतीय शासन अधिनियम, १६१६ के अन्तर्गत भारत मे उत्तरदायी शासन का अति सीमित रूप मे आरम्भ हुआ। भारतीय शासन अधिनियम, १६३५ ने उत्तरदायी शासन के सिद्धान्त को और आगे बढाया तथा भारत को एक प्रकार का संघात्मक सविधान प्रदान किया। विभिन्न कारणों से सन् १६३५ का कानून सफलतापूर्वक न चल सका और दूसरे विश्व युद्ध के दौरान तथा उसके बाद संवैधानिक गतिरोध को सुलझाने के लिये अनेक प्रयत्न हुये। सन् १६३५ के शासन अधिनियम के प्रारम्भ से लेकर १६४७ तक भारतीय शासन और राजनीति से सम्बन्धित घटना चक्र को अधिक विस्तार के साथ जानना उचित होगा। अत प्रथम अध्याय मे केवल ब्रिटिश शासन काल मे हुये संवैधानिक विकास को १६३५ तक दिया गया है और उसे आगे वर्णित तीन भागो—काल खण्डो—मे विभाजित किया गया है तथा उनमे हुये विकास की अति सक्षिप्त रूपरेखा दी गई है। आगे के दो अध्यायो मे स्वतन्त्रता प्राप्ति मे पूर्व के दस वर्षो मे हुये संवैधानिक और राजनीतिक विकास का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।

१. कम्पनी की सर्वोपरिता का काल, १६०० से १८५७ तक

यह बात सभी जानते है कि ब्रिटेन निवासी भारत मे यहाँ की अतुल सम्पत्ति की चर्चाओ से आकर्षित होकर व्यापार करने के उद्देश्य से आये थे। सन् १६०० ई० मे महारानी एलिजाबेथ के शासन-काल मे एक शाही अधिकार-पत्र (Royal Charter) के अधीन एक अंग्रेजी व्यापारिक कम्पनी, जो आगे चलकर ईस्ट इण्डिया कम्पनी कहलाई, स्थापित हुई थी। इस कम्पनी का प्रमुख लक्ष्य व्यापार करना था, परन्तु देश में उस समय फैली परिस्थितियों के वश उसका यहाँ पर साम्राज्य स्थापित हो गया। भारत मे तीन यूरोपियन व्यापारिक कम्पनियाँ पहले से ही थी। डच कम्पनी का अन्त तो हॉलैंड की सामुद्रिक शक्ति के कमजोर पड़ने तथा उस देश मे उत्तराधिकार सम्बन्धी युद्ध होने के कारण हो गया था। पुर्तगाली कम्पनी व्यापार के साथ-साथ ईसाई धर्म के प्रचार हेतु धर्म परिवर्तन का कार्य भी करती थी, इस कारण सम्राट शाहजहाँ उससे नाराज हुआ और उसका भी अन्त हो गया। परन्तु फ्रासीसी कम्पनी ने डूप्ले के अधीन दक्षिणी भारत में अपना प्रभाव-क्षेत्र काफी बढ़ा लिया था। लार्ड क्लाइव ने भी देशी राजाओ और नवाबो को सैनिक सहायता देकर अपनी शक्ति व प्रभुत्व को बढ़ाया। सन् १७५७ मे प्लासी की लड़ाई के बाद भारत मे ब्रिटिश सर्वोपरिता का युग प्रारम्भ हुआ और १७६१ मे फ्रासीसियो के पॉन्डिचेरी किले पर अंग्रेजो का आधिपत्य कायम हो जाने के बाद तो फ्रासीसी कम्पनी मैदान से हट गई।

कम्पनी के साम्राज्य का विस्तार—भारत पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी की विजय एक क्रमिक प्रक्रिया से हुई। सन् १७६५ मे कम्पनी ने दीवानी के प्रशासन को सम्भाला, परन्तु इस कार्य-भार को सहन करने मे कम्पनी ने बहुत-सी कठिनाइयां अनुभव की, फिर भी भारतीय साम्राज्य से कम्पनी को अत्यधिक लाभ हुआ। दीवान की हैसियत से भूमि-कर कम्पनी वसूल करती थी पर शासन की जिम्मेदारी मुर्शिदाबाद के नवाब पर ही थी। इसी व्यवस्था को **दुहरी सरकार** (Double Government) कहा जाता था। कम्पनी द्वारा स्थापित प्रारम्भिक प्रशासन मे कई दोष थे। आरम्भ से ही कम्पनी के अंग्रेज संचालको ने भारतीय साम्राज्य को अपने आर्थिक लाभ और शक्ति का स्रोत समझा था। दीवानी के अधिकार मिल जाने पर उन्होंने इस अवसर से पूरा लाभ उठाकर अधिक से अधिक भूमि-कर (Land Revenue) वसूल करने और व्यापारिक रियायतें पाने की सभी सम्भव कोशिशें की और कम्पनी ने भारतीय जनता की बढ़ती हुई दरिद्रता पर तनिक भी ध्यान नही दिया। भारत मे खुलकर धन इकट्ठा करने के उद्देश्य से कम्पनी के संचालको तथा धनिको के रिश्तेदारो को कम्पनी की नौकरियो मे भरती किया जाता था। भारत की लूट मे ब्रिटिश पार्लियामेंट भी साझीदार बनना चाहती थी। वैसे भी इतने बड़े साम्राज्य की राजनीतिक सत्ता एक व्यापारिक कम्पनी के हाथो मे आने पर पार्लियामेंट की ईर्ष्या स्वाभाविक ही थी। अतएव जब कम्पनी पर

आर्थिक संकट आया और उसने ब्रिटिश पार्लियामेंट से ऋण की प्रार्थना की तो पार्लियामेंट ने कम्पनी की राजनीतिक शक्तियों पर प्रतिबन्ध लगाने और कम्पनी के भारतीय शासन पर अपने नियन्त्रण का अधिकार जमाने के हेतु सन् १७७३ में पहला महत्वपूर्ण एक्ट पास किया।

रेगुलेटिंग एक्ट, १७७३ (Regulating Act, 1773)—इससे पूर्व ही बंगाल, मद्रास और बम्बई, तीन प्रान्तों (Presidencies) का निर्माण हो चुका था और प्रत्येक पर गवर्नर एवं उसकी परिषद् शासन करती थी। इस एक्ट द्वारा बंगाल के गवर्नर को **गवर्नर-जनरल ऑफ बंगाल** घोषित किया गया और उसे कम्पनी के अधीन सभी प्रदेशों पर देख-रेख सम्बन्धी कुछ अधिकार मिले। उसकी सहायता के लिये चार सदस्यों की एक **कार्यकारिणी परिषद् (Executive Council)** की रचना हुई। गवर्नर-जनरल और उसकी कार्यकारिणी की व्यवस्था संशोधित रूप में स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय तक कायम रही। इसी एक्ट द्वारा यूरोपियनों और कम्पनी के कर्मचारियों के मुकदमों का निर्णय करने के लिये कलकत्ते में एक सर्वोच्च न्यायालय भी स्थापित किया गया। इन परिवर्तनों से कम्पनी के अधीन भारतीय प्रदेश राजनीतिक दृष्टि से एक सूत्र में बंध गये और इस प्रकार बहुत छोटे से रूप में भारत में केन्द्रीभूत शासन की स्थापना हुई। साथ ही कम्पनी के स्वेच्छाचारी शासन पर पार्लियामेंट ने कुछ प्रतिबन्ध लगाये, परन्तु इसमें कई दोष थे। उन्हें दूर करने के उद्देश्य से पार्लियामेंट ने सन् १७८४ में एक नया कानून पास किया।

पिट्स इण्डिया एक्ट, १७८४ (Pitt's India Act, 1784)—इसके द्वारा लन्दन में एक **नियन्त्रण बोर्ड (Board of Control)** की स्थापना की गई। इस बोर्ड को भारतीय सरकार पर देख-रेख व नियन्त्रण रखने के हेतु पूर्ण शक्तियाँ दी गई। गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों की संख्या घटाकर चार से तीन कर दी गई और सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार क्षेत्र को अधिक स्पष्ट किया गया। सन् १७८६ में गवर्नर-जनरल को विशेष परिस्थितियों में एक मत अधिक देने के अतिरिक्त, परिषद् के बहुमत निर्णय के विरुद्ध भी कार्य-संचालन का अधिकार मिला। उपर्युक्त परिवर्तनों के द्वारा भारतीय प्रशासन में केन्द्रीकरण (centralisation) की प्रक्रिया और आगे बढ़ी।

सन् १७९३ और १८१३ के चार्टर एक्ट—प्रथम के अनुसार कम्पनी का व्यापारिक एकाधिकार आगामी २० वर्ष के लिये बढ़ा दिया गया और प्रान्तीय गवर्नरों के ऊपर प्रयोग किये जाने वाले गवर्नर-जनरल के अधिकारों में वृद्धि की गई। दूसरे चार्टर एक्ट द्वारा भारत के साथ व्यापार करने के अधिकार सभी ब्रिटिश नागरिकों को प्रदान किये गये। इस प्रकार ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत में व्यापारिक अधिकार से वंचित कर दी गई। भारत में ईसाई पादरियों को अपने धर्म का

प्रचार करने की आज्ञा मिली और भारत में विद्या के प्रोत्साहन के लिये एक लाख रुपये वार्षिक व्यय की स्वीकृति भी दी गई।

सन् १८३३ का चार्टर एक्ट—विभिन्न चार्टर अधिनियमों में यह अति महत्वपूर्ण था। इसने भारत में कम्पनी के व्यापारिक अधिकारों का अन्त कर कर दिया। आगे के लिये कम्पनी का कार्य भारत पर ब्रिटिश प्रभु (British Sovereign) और उसके उत्तराधिकारियों के अधीन शासन करना ही रह गया। इस एक्ट द्वारा भारतीय शासन में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन भी किये गये, गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी परिषद् में चौथा सदस्य जोड़ा गया, जो कानूनी सदस्य (Law Member) कहलाया और उसे परिषद् की केवल उन्हीं बैठकों में भाग लेने का अधिकार मिला जिनमें कि कानून बनाने का कार्य होता था। लार्ड मैकाले को पहला कानूनी सदस्य नियुक्त किया गया। प्रान्तीय सरकारों से विनियम (Regulations) बनाने का अधिकार छीन लिया गया अर्थात् कम्पनी के अधीन सभी प्रदेशों के लिये आगे केवल गवर्नर-जनरल व उसकी कार्यकारिणी परिषद् को ही कानून बनाने के अधिकार रहे। भारतीयों की शिक्षा के लिये वार्षिक व्यय की धन-राशि बढ़ाकर १० लाख रुपये कर दी गई। साथ ही यह स्पष्ट किया गया कि किसी व्यक्ति को धर्म, घराने अथवा जाति के कारण किसी सरकारी पद से वंचित न किया जायेगा। सन् १८३४ में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी भाषा को बनाया गया और इस प्रकार पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति का देश में प्रवेश हुआ।

सन् १८५३ का चार्टर एक्ट—इस एक्ट के द्वारा कम्पनी के शासनाधिकारों की अवधि अनिश्चित छोड़ दी गई। शासन पर ब्रिटिश सरकार के नियन्त्रण में और वृद्धि हुई। कानूनी सदस्य को परिषद् का पूर्ण सदस्य बनाया गया। कानून बनाने के लिये उसके साथ छः अन्य सदस्यों को भाग लेने का अधिकार दिया गया। इस प्रकार भारत की प्रथम विधायिका (Legislature) में गवर्नर-जनरल, सर्वोच्च सेनापति, कार्यकारिणी परिषद् के अन्य चार सदस्य, चार प्रान्तों में से प्रत्येक का एक सरकार द्वारा नामजद प्रतिनिधि, सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधिपति और एक अन्य न्यायाधीश अर्थात् कुल १२ सदस्य रहे। तभी से कार्यकारिणी परिषद् और विधायिका एक दूसरे से अलग हुई। सरकारी नौकरियों में भरती के लिये प्रतियोगी परीक्षा (Competitive examination) की भी व्यवस्था गई।

सन् १८५७ का सशस्त्र स्वातन्त्र्य युद्ध—सन् १८५७ की घटना अंग्रेजों के लिये सिपाहियों का विप्लव (Sepoy Mutiny) मात्र थी, परन्तु भारतीयों के लिये यह स्वतन्त्रता की पहली सशस्त्र लड़ाई थी। युद्ध की योजना सीधी और सरल थी। इसमें भारतीय सेना द्वारा निश्चित दिन विद्रोह का झंडा ऊँचा करके अंग्रेज अधिकारियों को मार डालने, जेलों को तोड़कर वन्दियों को छुड़ाने, खजानों, शस्त्रागारों तथा किलों पर अधिकार कर लेने आदि का कार्यक्रम सम्मिलित था;

परन्तु विद्रोह नियत दिन से पहले ही आरम्भ हो गया तथा उसका मुख्य भार सेना पर ही रहा। जहाँ-जहाँ सेना ने योग नहीं दिया, वहीं विप्लव की आग अधिक न भड़की। उस युद्ध में लगभग ३०,००० भारतीय सैनिक तथा १ लाख असैनिक मारे गये। उसके बाद विप्लवकारियों पर झूठे आरोप लगाये गये और जनता को आतंकित करने के उद्देश्य से अमानुषिक निर्दयता का प्रयोग किया गया। सन् १८५७ की घटना के परिणामस्वरूप कम्पनी के शासन का अन्त हुआ। उस घटना ने सदैव के लिये शासकों को यह भी सिखा दिया कि भारत पर भारतियों के सहयोग बिना शासन करना सम्भव नहीं।

कम्पनी के शासन-काल की आलोचना—कम्पनी ने देश को ऐसा प्रभावशाली शासन प्रदान किया जिसमें शान्ति और व्यवस्था स्थिर रही। ठगी जैसे अपराध को समाप्त किया गया, दासता का अन्त किया गया और दासों का व्यापार करना एक दण्डनीय अपराध बनाया गया। धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में 'सती' की प्रथा को बन्द किया गया। यद्यपि ईसाई प्रचारकों को अपने धर्म-प्रचार के लिये आज्ञा दी गई थी, फिर भी कम्पनी ने धर्म-परिवर्तन के कार्यों में प्रत्यक्ष रूप से भाग नहीं लिया। देश में पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली जारी की गई। समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता भी स्थापित की गई तथा सरकारी सेवाओं में भारतीयों की भरती के अधिकार को स्वीकार किया गया। जहाँ एक ओर कम्पनी ने सर्वसाधारण की भलाई के लिये कुछ कार्य किये, दूसरी ओर उसने अनेक व्यक्तियों, विशेष रूप से अनेक राजाओं और नवाबों को नाराज किया, क्योंकि कम्पनी के अधिकारियों ने उनकी रियासतों को अपने राज्य में मिलाने की नीति का पालन किया था। फलतः जब सन् १८५८ में कम्पनी के शासन का अन्त हुआ तो उससे किसी को भी दुख न हुआ।

२. पार्लियामेंट की सर्वोपरिता का काल, १८५८ से १९१७ तक

सन् १८५८ के भारतीय शासन अधिनियम के अन्तर्गत भारतीय शासन का पूर्ण दायित्व सीधा ब्रिटिश पार्लियामेंट ने सम्भाला। ब्रिटिश मंत्रिमण्डल के एक प्रमुख मंत्री को, जो भारत मन्त्री (Secretary of State for India) कहलाया, वे सभी अधिकार सौंप दिये गये जो उस समय तक नियन्त्रण बोर्ड के हाथ में थे। भारत-मंत्री की सहायता के लिये १५ सदस्यों की एक भारतीय परिषद् (India Council) भी बनाई गई। भारत-मंत्री और परिषद् संशोधित रूप में स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय तक भारतीय प्रशासन के ऊपर नियंत्रक व निदेशक के रूप में कायम रहे, यद्यपि भारत में बहुत समय से परिषद् का अन्त करने की जोरदार माँग की गई थी।

महारानी विक्टोरिया की घोषणा (Royal Proclamation, 1858)—उपर्युक्त अधिनियम के पास होने के बाद शाही घोषणा में कहा गया था :

> हमारी हार्दिक इच्छा है कि भारत की सर्वतोन्मुखी उन्नति के लिये फिर से प्रयत्न किया जाये। जनता के हित के लिये सार्वजनिक सुविधायें प्राप्त

की जायें...हमारी सारी प्रजा, चाहे किसी भी वंश अथवा धर्म की हो बिना किसी भेद-भाव के प्रत्येक सरकारी पद अपनी शिक्षा और योग्यता के अनुसार पा सके। हमारी सभी कर्मचारियों को आज्ञा है कि वे हमारी प्रजा के धार्मिक विचारों और विश्वासों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करें। हमारी यह इच्छा नहीं है कि हम अपने साम्राज्य की सीमा और अधिक बढ़ायें। हम देशी राजाओं की मान-मर्यादा का उतना ही आदर करेंगे, जितना अपना।

उपरोक्त घोषणा बड़ी महत्वपूर्ण थी, परन्तु इसका सबसे बड़ा दोष यह था कि इसमें भारतवासियों को कोई राजनैतिक अधिकार प्रदान करने की बात नहीं कही गई थी। सन् १८६१ के भारतीय कौंसिल एक्ट (Indian Councils Act, 1861) का उद्देश्य भारतीयों का प्रशासन में, विशेष रूप से कौंसिलों में सहयोग प्राप्त करना था। इसके द्वारा बम्बई और मद्रास के प्रान्तों में फिर से विधान परिषदें, (*Legislative Councils*) स्थापित की गई। केन्द्रीय कार्यकारिणी परिषद् में पांचवां सदस्य, जो वित्त सदस्य (Finance Member) कहलाया, जोड़ा गया। इस एक्ट में यह व्यवस्था भी की गई थी कि गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी परिषद् के साथ विधि-निर्माण कार्यों में भाग लेने के लिये ६ और १२ के बीच नामजद सदस्य जोड़े जायें। इन सदस्यों में कम से कम आधे सदस्य गैर-सरकारी (Non-officials) होने आवश्यक थे, जिनमें भारतीयों को भी सम्मिलित किया जा सकता था और व्यवहार में किया भी गया। इस प्रकार इस एक्ट के अन्तर्गत भारतीय तथा प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं में कुछ नामजद भारतीयों (देशी नरेशों और बड़े जमींदारों) को भी सदस्य बनाया गया। आगामी वर्षों में इन सुधारों से शिक्षित भारतीयों को कोई भी सतोष नहीं हुआ। विभिन्न कारणों से देश में राष्ट्रीयता का उदय हुआ और सन् १८८५ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हुआ। कांग्रेस ने आरम्भ से ही कौंसिलों में सुधार की मांग की और विशेष रूप से कांग्रेस के ही प्रयत्नों के फलस्वरूप सन् १८९२ के सुधार आये।

सन् १८९२ का भारतीय कौंसिल एक्ट (Indian Council Act, 1892)—इस एक्ट के द्वारा केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान परिषदों (Legislative Councils) की सदस्य संख्या में वृद्धि की गई। नामजद सदस्यों में अधिक भारतीय लिये जाने की भी व्यवस्था की गई। किन्तु विशेष महत्व की बात यह थी कि गवर्नर-जनरल व गवर्नर इन व्यवस्थापिका सभाओं में ऐसे भारतीयों को नामजद करने लगे जिन्हें कि कुछ मान्य संघ व समुदाय छाँटते थे। इस प्रकार एक ढके ढंग से प्रतिनिधियों के अप्रत्यक्ष चुनाव का आरम्भ हुआ। कौंसिल के अधिकारों में भी कुछ वृद्धि हुई। सदस्यों को बजट पर वाद-विवाद करने और प्रशासन सम्बन्धी प्रश्न पूछने के अधिकार प्रदान किये गये। इस अधिनियम के अन्तर्गत भारतीय व्यवस्थापिका सभा में गवर्नर-जनरल को सर्वोच्च सेनापति व कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों के अति-

रिक्त, १८ और १६ के बीच नामजद सदस्य जोडने का अधिकार मिला। परन्तु इससे प्रगतिशील व्यक्तियों को कोई सतोष न हुआ। इस अधिनियम को इस प्रकार से कार्यान्वित किया गया कि असतोष बढता ही गया।

शीघ्र ही इन सुधारो से भी असतोष पैदा हुआ। कांग्रेस ने बार-बार अधिक सुधारों की मांग की, किन्तु सरकार ने उसे न सुना। अनेक कारणों और घटनाओं से वर्तमान शताब्दी के आरम्भ मे उग्रवादिता (extremism) का जन्म हुआ। १६०६ में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई और उसने मुसलमानो के लिये पृथक् चुनावों व जनसख्या के अनुपात से अधिक स्थानो की मांगे रखी। ब्रिटिश सरकार ने मुसलमानों और जमीदारो को साथ लेने के लिये आने वाले सुधारों मे विशेष रियायतें देने का निर्णय किया और उग्रवादी कांग्रेसियो व क्रांतिकारियो का जोर-दार दमन किया।

सन् १६०६ के मिन्टो-मोर्ले सुधार (Minto-Morley Reforms, 1909)—१६०६ के एक्ट से भारतीय तथा प्रान्तीय कौसिलो मे कुछ और सुधार किये गये। प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं मे तो गैर सरकारी सदस्यो को बहुमत दिया गया। भारतीय (इम्पीरियल) लेजिस्लेटिव कौन्सिल (Imperial Legislative Council) में सदस्यों की सख्या बढाकर ६० कर दी गई जिनमे ३३ नामजद तथा २७ निर्वाचित सदस्य रहे। निर्वाचित सदस्य पृथक् निर्वाचन प्रणाली (separate electorates) द्वारा चुने जाते थे। यह ढंग मुसलमानों को प्रसन्न करने के उद्देश्य से कांग्रेस और दूसरों के विरोध की परवाह न करते हुये अपनाया गया था। मताधिकार बहुत ही सीमित रक्खा गया था। व्यवस्थापिका सभाओं के अधिकारो में थोडी-सी वृद्धि भी कर दी गई थी। परन्तु इन सुधारों द्वारा भी कोई वास्तविक शक्ति भारतीयो को नही सौंपी गई और शीघ्र ही नरम दल के नेता (moderates) भी इनसे निराश हो गये। सन् १६११ में सम्राट जॉर्ज पंचम भारत आये और उन्होंने बगाल के विभाजन को रद्द किया। तभी दिल्ली को भारत की राजधानी घोषित किया गया। सन् १६१४ मे यूरोपीय महायुद्ध (Great War) आरम्भ हुआ। भारतीयों ने युद्ध मे सरकार की तन, मन और धन से सहायता की।

सन् १६१६ में तिलक और उनके साथी फिर से कांग्रेस में आ मिले। साथ ही कांग्रेस और लीग ने मिलकर एक सुधार योजना तैयार की और सरकार से उसे स्वीकार करने की माग की। कांग्रेस ने समझौते के द्वारा साम्प्रदायिक वैमनस्य को दूर करने के उद्देश्य से अपने आधार-भूत सिद्धांतों को त्याग दिया अर्थात् मुसलमानो की पृथक् निर्वाचन और जनसंख्या से अधिक स्थानों की मागों को स्वीकार कर लिया। कुछ लेखको की दृष्टि मे कांग्रेस की यह बडी भूल थी। दुर्भाग्यवश ब्रिटिश सरकार ने इस योजना द्वारा मागे गये सुधारों की माग को तो ठुकरा दिया, किन्तु इसके बडे दोष साम्प्रदायिक समझौते को सन् १६१६ के सुधारो का आधार बनाया।

अब तक भारतीय सरकार पूरी तरह से ब्रिटिश पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी रही, परन्तु भारतीय सरकार ने शासन करते हुये जनमत को जानने और जनता की भावनाओं को समझने का प्रयत्न किया। इसी उद्देश्य से सन् १८६१ के उपरान्त भारतीय तथा प्रांतीय व्यवस्थापिका सभाओं की सदस्य संख्या तथा अधिकारों में क्रमिक रूप से वृद्धि हुई और जनता के प्रतिनिधियों का कुछ सहयोग भी प्राप्त किया गया। सन् १९०९ की मिण्टो-मोर्ले सुधार-योजना सहयोग प्राप्त करने की नीति (policy of association) के अंतर्गत अंतिम किश्त थी। इन सुधारों के लागू हो जाने पर भी भारतीय सरकार का रूप उदार किन्तु स्वेच्छाचारी शासन (benevolent despotism) से कुछ अधिक न था। महायुद्ध से पूर्व ब्रिटिश सरकार का भारत में उत्तरदायी शासन स्थापित करने का कोई विचार भी न था, किन्तु सन् १९१७ की घोषणा से ब्रिटिश सरकार की भारत के प्रति नीति में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ।

३. उत्तरदायी शासन का क्रमिक विकास १९१९ से १९३५ तक

मॉण्टफोर्ड सुधार योजना, १९१९ (Montford Reforms, 1919)—मॉण्टफोर्ड रिपोर्ट के लेखकों ने भारत के भावी संविधान के बारे में अपने मत को निम्न प्रकार प्रकट किया :—

> अन्त में, भारत के भविष्य के बारे में हमारी अवधारणा यह है कि वह अनेक स्व-शासित राज्यों का संघ होगा...उन राज्यों के ऊपर एक केन्द्रीय सरकार रहेगी जो कि उन सभी की जनता की वृद्धिपूर्ण मात्रा में प्रतिनिधि होगी तथा उनकी जनता के प्रति उत्तरदायी रहेगी। केन्द्रीय सरकार सम्पूर्ण भारत के सामान्य हितों से सम्बन्धित मामलों—आन्तरिक एवं वाह्य—का प्रशासन करेगी; वह अन्तर्राज्य सम्बन्धों में पंच—निर्णायक—का कार्य करेगी तथा ब्रिटिश भारत की स्वशासित इकाईयों के साथ समता के आधार पर अखिल भारत के हितों का प्रतिनिधित्व करेगी।

भारत के संवैधानिक विकास की उपरोक्त अवधारणा (संघात्मक संविधान) को भारतीय शासन अधिनियम, १९३५ ने व्यवहारिक रूप दिया, जैसा कि आगे के वर्णन से स्पष्ट होगा।

इन सुधारों के अन्तर्गत केन्द्रीय क्षेत्र में पूर्ण अधिकार गवर्नर-जनरल और उसकी कार्यकारिणी परिषद् के हाथों में ही रहे और केन्द्रीय सरकार पूरी तरह से ब्रिटिश पार्लियामेंट अर्थात् भारत-मंत्री के प्रति उत्तरदायी बनी रही, किन्तु भारतीय विधायिका को दो सदन वाली बना दिया गया। निचले सदन को केन्द्रीय विधान सभा (Central Legislative Assembly) कहा गया; इसके कुल सदस्यों की संख्या १४४ थी, जिनमें से १०४ निर्वाचित होते थे। ऊपर वाले सदन को राज्य-

परिषद् (Council of State) कहा गया जिसके कुल ६० सदस्यों में से ३३ चुने हुये होते थे। प्रांतों में द्वैध शासन-प्रणाली (Dyarchy) जारी की गई थी। उसके अनुसार प्रांतीय विषयो में से कुछ को आरक्षित (Reserved) बनाया गया, जिसका शासन गवर्नर अपनी कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों (Executive Councillors) की सहायता से करते थे। शेष विषय हस्तांतरित (Transferred) कहलाये, जिनका शासन गवर्नर जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों में से छाटे गये मंत्रियों के परामर्श से करते थे। द्वैध शासन प्रणाली के लिये यह आवश्यक था कि केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण को ढीला किया जाय, उसे किसी भी रूप में संघवाद जारी करना न समझा गया। परन्तु यह केवल मात्र विकेन्द्रीकरण से कुछ अधिक था, उसे न्यागमन कहा गया।[1] वह शासन-प्रणाली बड़ी दोषपूर्ण थी, इसलिये वह कार्य-रूप में असफल सिद्ध हुई।

सन् १९१९ से लेकर १९३५ तक—सन् १९१९ में अमृतसर में जलियावाला बाग की अत्यन्त दुखद घटना हुई। युद्ध के बाद तुर्की पर असम्मानपूर्ण सन्धि लादी गई, जिससे क्षुब्ध होकर भारतीय मुसलमानो की ओर से 'खिलाफत आन्दोलन' चलाया गया। कांग्रेस ने महात्मा गाधी के नेतृत्व के अन्तर्गत १९२१—२२ में **असहयोग आन्दोलन** (Non-co-operation Movement) चलाया और बाद में कांग्रेसी नेताओ ने कौंसिलों में भाग लेने के लिये **स्वराज्य दल** सगठित किया। विभिन्न स्थानो पर हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुये और आपसी वैमनस्य बढा। सन् १९२८ में **साइमन कमीशन** नये सुधारो के विषय में रिपोर्ट देने के लिये भारत आया जिसका सब जगह विरोध हुआ। कांग्रेस की ओर से एक **सर्वदल सम्मेलन** बुलाया गया, जिसके फलस्वरूप **नेहरू रिपोर्ट** बनी।

नेहरू रिपोर्ट की सिफारिशो को ब्रिटिश सरकार ने स्वीकार नही किया। इसलिये कांग्रेस ने लाहौर में हुए १९२९ के अधिवेशन पर पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करने का ध्येय अपनाया। इस हेतु मार्च सन् १९२९ से लेकर सन् १९३४ तक **सविनय अवज्ञा आन्दोलन** (Civil Disobedience Movement) चला। यह आन्दोलन कुछ महीनो के लिये गांधी-इरविन समझौते के फलस्वरूप बीच में बन्द रहा। सन् १९३० से लेकर १९३२ तक लदन में **गोलमेज सम्मेलन** (Round Table Conference) की तीन बार बैठकें हुईं, जिनमें भारत के भावी संविधान की समस्या

1 "This act attempted to carve out a range of 'transferred' subjects suitable for entrusting to ministers accountable to elected provincial legislatures, a balance of 'reserved' subjects being left in the hands of officials under the Governors. But this scheme of 'dyarchy' required a preliminary relaxation of control by the central government. This relaxation was not thought of as implying the introduction of federalism but at the same time it was evidently more than could reasonably be conveyed by the term decentralization, the favoured word was devolution."

Moris Jones, W. H. *The Government and Politics of India, p. 18*

पर विचार किया गया, परन्तु साम्प्रदायिक प्रश्न हल न होने के कारण यह सम्मेलन अपने उद्देश्य में सफल न हुआ। सम्मेलन के बाद ब्रिटिश सरकार ने भारतीय सवैधानिक समस्या के सम्बन्ध में एक श्वेत-पत्र (White Paper) पार्लियामेंट के सामने पेश किया और बाद में एक संयुक्त संसदीय समिति (Joint Parliamentary Committee) सुधारों के विषय में रिपोर्ट देने के लिये बैठाई। उसकी रिपोर्ट के आधार पर भारतीय शासन विधेयक, १९३५ तैयार किया गया, जो पार्लियामेंट द्वारा स्वीकृत हो जाने पर भारतीय शासन अधिनियम, १९३५ कहलाया।

भारतीय शासन अधिनियम, १९३५ (Government of India Act, 1935)—इसका प्रथम उद्देश्य भारत में एक संघ (All-India Federation) स्थापित करना था, जिसमें गवर्नरों के प्रान्त तथा देशी रियासतें (जो संघ की इकाई बनने को तैयार होंगी) सम्मिलित होंगी। प्रथम बार देशी रियासतों को जो कि ब्रिटिश संसद की प्रभुता के अधीन न थीं, एक ऐसे सवैधानिक संगठन के भीतर लाया जा रहा था, जिसे सभी प्रान्तों तथा संघ में प्रवेश करने वाली रियासतों के क्षेत्र में सत्ता प्राप्त होगी। दूसरे, अखिल भारतीय संघ स्थापित करने के प्रयोजन से अधिनियम ने ब्रिटिश भारत के एकात्मक राज्य (unitary state of British India) को कई स्वायत्तता प्राप्त प्रान्तों में विभाजित किया, जो अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र रहे और केन्द्रीय नियन्त्रण से मुक्त हुए, क्योंकि उन्हें सीधे ताज (Crown) से सत्ता प्राप्त हुई। यह वास्तव में १९१९ के अधिनियम की योजना में एक उग्रगामी परिवर्तन था। तीसरे, अधिनियम ने एक संघीय न्यायालय (Federal Court) भी स्थापित किया, जिसे सम्पूर्ण संघ क्षेत्र में सत्ता प्राप्त हुई और जिसने सभी उच्च न्यायालयों के ऊपर अपीलीय अधिकार-क्षेत्र प्राप्त किया।

सन् १९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत प्रस्तावित संघ का रूप अनोखा होता। उसकी इकाइयों की संख्या बहुत बड़ी होती और उनके अपने संविधान विभिन्न प्रकार के होते तथा उनका संघ में सम्बन्ध भी भिन्न भिन्न प्रकार का होता। संघ की केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत प्रान्तों में असफल सिद्ध हुई द्वैध-शासन प्रणाली लागू की जाती अर्थात केन्द्रीय क्षेत्र में केवल हस्तान्तरित विभागों पर ही जनप्रिय मन्त्रियों का नियन्त्रण स्थापित होता, शेष विभागों का प्रशासन गवर्नर-जनरल स्वयं अपने कार्यांग पार्षदों (Executive Councillors) द्वारा सचालित करता। प्रान्तों में प्रान्तीय स्वराज्य (Provincial autonomy) की योजना लागू हुई, जिसके अन्तर्गत सभी विभाग मन्त्रियों के अधीन आये, परन्तु गवर्नरों को अनेक प्रकार की विशेष शक्तियाँ प्रदान की गईं, जिनके कारण उत्तरदायी शासन अति सीमित व प्रतिबन्धित रहा।

संविधान-सभा (Constituent Assembly) के लिये मांग—भारत का संविधान बनाने के हेतु एक संविधान सभा के निर्माण की माग प्रथम बार भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने मई १९३४ में की, परन्तु यह १९१९ के भारतीय शासन अधि-

नियम के भारत द्वारा विरोध में ही निहित थी, क्योंकि कुछ समय पूर्व से ही भारतीयों ने स्वभाग्य निर्धारण के सिद्धान्त (Principle of self-determination) को भारत में लागू करने की माग की थी। भारतीय राष्ट्रवादियों का उद्देश्य 'पूर्ण स्वराज' प्राप्त करना था परन्तु उस समय भारतीय नेता यह न सोचते थे कि वे ब्रिटेन से सम्बन्ध-विच्छेद कर एक स्वतन्त्र गणतन्त्र की स्थापना करेंगे। सन् १६२२ में गांधी जी ने कहा था.

> स्वराज ब्रिटिश ससद द्वारा एक स्वतन्त्र (अपनी इच्छा से प्रदान किया गया) उपहार न होगा। यह भारत की पूर्ण स्व-अभिव्यक्ति की घोषणा होगी, जिसे ससद के कानून द्वारा अभिव्यक्त किया जायेगा। परन्तु यह भारत की जनता की घोषित इच्छा का केवल मात्र शिष्ट अनुसमर्थन होगा। अनुसमर्थन एक सधि के रूप में होगा जिसमें एक पक्ष ब्रिटेन होगा। जब समझौता होगा तो ब्रिटिश ससद भारतीय जनता की इच्छा का अनुसमर्थन करेगी, जिसे जनता द्वारा स्वतन्त्र रूप से निर्वाचित प्रतिनिधि अभिव्यक्त करेंगे।[2]

उपरोक्त विचार को क्रियात्मक रूप दिलाने के उद्देश्य से स्वराज दल के नेता मोतीलाल नेहरू, ने केन्द्रीय विधान सभा में १६२४ में माग रखी कि भारत के लिए सविधान योजना के निर्माण हेतु एक प्रतिनिधिक गोलमेज सम्मेलन बुलाया जाय तथा उस योजना को नव-निर्वाचित भारतीय विधान सभा के समक्ष स्वीकृति के लिए रखा जाय और उसके बाद उसे ब्रिटिश ससद में प्रस्तुत किया जाना चाहिए जिससे कि उसे कानूनी रूप दिया जा सके। उनके विचार के अनुसार किसी ऐसी योजना को देश का संविधान तब तक नहीं कहा जा सकता था, जब तक कि उसके निर्माण में देश की जनता की कोई आवाज न रही हो। उन्होंने तर्क प्रस्तुत किया कि उत्तरदायी शासन के आधार पर भारत के लिए सविधान बनाने का उत्तरदायित्व केवल एक प्रति-निधिक गोलमेज सम्मेलन पर रहना चाहिए।[3]

भारत की जनता द्वारा निर्वाचित सविधान सभा के लिए माग को राजनीतिक नेताओं द्वारा समय समय पर दोहराया गया। इंगलैंड में हुए गोलमेज सम्मेलनों की विफलता ने भारतीयो के इस विश्वास को पक्का किया कि भारत का सविधान भारतीयो द्वारा एक प्रभुत्वपूर्ण सविधान सभा द्वारा ही बनाया जाना चाहिए। सन् १६३४ में स्वराज्य दल ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें भारत के लिए स्व-भाग्य निर्णय के अधिकार का दावा किया गया और यह घोषित किया गया कि उस सिद्धान्त को लागू करने की एकमात्र विधि 'भारतीय जनता के सभी

---

2 Constituent Assembly (C. A.) Debates, 9th Dec.,1946, p. 5,
3 Legislative Assembly Debates, 1924, vol. iv, p 367-70.

वर्गों की प्रतिनिधिक संविधान सभा को संविधान-निर्माण हेतु बुलाया जाना है।[3] मई १९३४ में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति (All India Congress Committee) ने उस प्रस्ताव में समाविष्ट नीति को स्वीकृत किया।[4] दिसम्बर सन् १९३६ के फैजपुर अधिवेशन पर कांग्रेस ने यह घोषित किया कि भारत में सच्चे लोकतन्त्रात्मक राज्य की स्थापना केवल एक ऐसी संविधान सभा के द्वारा ही हो सकती है, जिसका निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर हो और जिसे देश के लिए संविधान निर्माण करने की सत्ता सौंपी जाय।[5]



4 Indian Annual Register, 1934, i, p. 279.

5 Sitaramayya, P., *History of the Indian National Congress, vol. ii, p. 35*

अध्याय २

१९३५ का संविधान कार्यरूप में

१. संघ योजना

प्रान्तों और देशी रियासतों के सघ की योजना ब्रिटिश सरकार को इसलिए अधिक पसन्द आई थी कि इसके द्वारा यह दिखाया अथवा धोखा दिया जा सकता था कि केन्द्र मे भी उत्तरदायी शासन का एक बडा अश दिया जा रहा था जबकि सघीय सरकार बहुत सीमा तक शासको के नियन्त्रण व प्रभाव मे ही रहती। सघीय विधान मण्डल में देशी रियासतो के नामजद प्रतिनिधियों का पूरा गुट ऐसा होता जिस पर ब्रिटिश सरकार अपनी नीति कार्यान्वित कराने के लिए भरोसा कर सकती थी।[1] यदि केवल प्रान्तो का ही सघ बनाया जाता तो यह बात सम्भव न रहती, क्योंकि ऐसी सघ योजना में शासन की बागडोर राष्ट्रवादियो के हाथों मे आ जाती। भारतीयों को सघ का विचार तो पसन्द था, क्योंकि इसके द्वारा देश की एकता का स्वप्न पूरा हो सकता था, किन्तु जिस प्रकार की सघ योजना सन् १९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित होने को थी उसे सभी भारतीय नेताओं और दलो ने एक आवाज से अस्वीकार कर दिया, केवल उदार दल व हिन्दू महासभा इसे कार्यान्वित करने के पक्ष मे थे जिनके अनुयायियों की संख्या देश मे नही के बराबर थी।

सघीय योजना कार्यान्वित न हो सकी यह तो सभी जानते है, किन्तु ऐसा क्यो हुआ उसके समझने के लिए हमे सघ योजना के प्रति विभिन्न दलो के दृष्टिकोणों को जानने के साथ-साथ उन अन्य बातो को भी जानना आवश्यक है, जिनके कारण यह योजना कार्यरूप मे परिणित न की जा सकी। वास्तव मे भारत मे कोई भी दल ऐसा न था जिसने इस योजना का स्वागत किया हो। इसके विपरीत मान्य नेताओ व दलो ने इस योजना कि निन्दा की। विभिन्न दलो की प्रतिक्रिया व दृष्टिकोण सक्षेप मे अग्रलिखित रहे—

---

1 "The privileged position accorded to the states apparently to secure their voluntary accession, was intended to provide a conservative ballast in the Central Government. Britain could retain the effective control of the Indian Government through the instrumentality of a pliant and obedient Princely order. The separation of Paramountcy from the Government of India established a dualism in Indian Government, which was in part controlled by Britain and in part by the Indian Legislature."

Srinivasan, N., *Democratic Government in India*, p. 55

उदारवादी (Liberals)—उदारवादी नेता भी इस योजना से असन्तुष्ट थे, किन्तु उनके संगठन ने योजना के बहिष्कार का प्रस्ताव पास न किया, वरन् यह निश्चय किया कि यद्यपि संघ योजना दोषपूर्ण है फिर भी उसे कार्यान्वित करके जो लाभ उठाया जा सके उठाया जावे। उन्होंने यह चाहा कि ऐसा मान लिया जावे कि गवर्नर-जनरल व [illegible] उन्हें और भी उदारवादी रहते हुए भारतीयों को और संघीय विधान-मण्डल के सदस्य हों। उन्होंने विशिष्ट क्षेत्र में रखे गये संरक्षणों को अनावश्यक ही अत्यधिक कठोर बनाने के विरुद्ध भी शिकायत की।

मुस्लिम नेता व लीग—सर [illegible] के अनुसार मुस्लिम कान्फ्रेंस की कार्यकारिणी बोर्ड ने सन् १९३६ में अपनी बैठक में हिज हाइनेस आगा खाँ के सभापतित्व में एक कार्यक्रम निर्धारित किया जिसे कान्फ्रेंस के पूर्ण अधिवेशन में अनुसमर्थित किया गया। यह एक क्रियाशील कार्यक्रम था जिसमें भारतीय मुसलमानों से अन्य सम्प्रदायों के सहयोग से नये अधिनियम को कार्यान्वित करने को कहा गया। अन्य मुस्लिम संगठनों ने भी प्राय: ऐसे ही निश्चय किये, परन्तु मुस्लिम लीग ने मुसलमानों से प्रान्तीय योजना को ही कार्यान्वित करने की अपील की और इसने अखिल भारतीय संघ की योजना को निन्दनीय ठहराते हुये अस्वीकार कर दिया। वास्तव में मुस्लिम लीग के नेताओं ने संघ योजना को विशेष रू. से इस आधार पर अस्वीकृत किया कि उसमें हिन्दू बहुमत का प्राधान्य रहता। अधिकांश मुसलमान नेताओं ने इस योजना को स्वीकार सा ही कर लिया था, क्योंकि उन्हें विश्वास था कि उनके अधिकारों और साम्प्रदायिक हितों के संरक्षण के लिये अधिनियम में ये बातें थीं—(१) उन्हें पृथक् निर्वाचन द्वारा अपने प्रतिनिधियों को चुनने का अधिकार मिला था जिनकी संख्या जनसंख्या के अनुपात में कहीं अधिक थी। (२) अल्पसंख्यकों के हितों के लिये संरक्षणों की व्यवस्था थी। (३) उनका विचार था कि केन्द्रीय व प्रान्तीय मन्त्रि-मण्डलों में उनके प्रतिनिधि भी लिये जायेंगे, क्योंकि वे मिले-जुले होंगे।

इण्डियन नेशनल कांग्रेस—कांग्रेस ही ऐसा संगठन था जिसने सन् १९३५ के अधिनियम की सबसे अधिक निन्दा की और उसे पूर्णतया अस्वीकार किया। सन् १९३४ में ही वार्षिक अधिवेशन पर कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार के प्रस्तावों को बलपूर्वक अस्वीकार करते हुये यह माँग की थी कि उसका केवल एक ही विकल्प था और वह यह कि भारतीय जनता द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित संविधान सभा ही भारत का भावी संविधान बनाये। सन् १९३६ के अधिवेशन पर जवाहरलाल नेहरू ने अपने अभिभाषण में सुधारवादियों या (उदारवादियों) की आलोचना की और ब्रिटिश साम्राज्यवाद व नये संविधान की कटु निन्दा की।[2] उस वर्ष के स्वीकृत प्रस्ताव में कांग्रेस ने १९३५ के अधिनियम

---

2 "It (The Act of 1935) is a prodigy of imperialist statesmanship. It is r elaborate and ingenious device to frustrate the emergence of a free India

की निन्दा की, किन्तु चुनाव में विजयी होने पर कांग्रेस पद ग्रहण करेगी अथवा नहीं इस प्रश्न पर निर्णय निर्वाचनों के पश्चात् करने का निश्चय किया। सन् १९२७ के आरम्भ में दिल्ली में कांग्रेसी विधायकों का सम्मेलन हुआ। उस अवसर पर कांग्रेस ने इस शर्त पर प्रान्तों में मन्त्रि-मण्डल बनाना स्वीकार करना निश्चय किया कि गवर्नरों से ऐसा आश्वासन मिले कि वे दिन-प्रतिदिन के प्रशासन में मन्त्रियों के कार्यों में अपनी विशेष शक्तियों के प्रयोग द्वारा हस्तक्षेप न करेंगे। किन्तु केन्द्र में संघीय योजना को कांग्रेस किसी भी प्रकार से मानने को तैयार न थी।

हिन्दू महासभा—यही अकेला राजनीतिक दल था जिसने अखिल भारतीय संघ की योजना को स्वीकार किया, किन्तु उसकी बात उस समय नगण्य संख्या ही मानती थी। इसने संघ योजना को इसलिये स्वीकार किया कि केन्द्रीय शासन में हिन्दू-बहुमत अपना प्राधान्य रख सकता था। यह मुस्लिम लीग के दृष्टिकोण के सर्वथा विपरीत था।

संघ निर्माण-कार्य में विफलता—प्रान्तों में कांग्रेसी बहुमत ने संघ योजना का विरोध किया और संविधान सभा (Constituent Assembly) के लिये माँग दोहराई। संघ योजना के प्रति कांग्रेस का विरोध स्पष्ट और स्वाभाविक ही था। कांग्रेसी नेता समझते थे कि नरेशों के उद्देश्य प्रजातन्त्रात्मक स्वशासन के विपरीत थे। सितम्बर १९३७ में केन्द्रीय विधान मण्डल की संयुक्त बैठक में भाषण देते हुये प्रस्तावित संघ योजना के विषय में गवर्नर-जनरल ने कहा था—(१) संघ के अन्तर्गत ब्रिटिश भारत के साथ देशी रियासतों के संवैधानिक सम्बन्ध का शीघ्र स्थापित होना भारत की एकता स्थिर रखने के लिये अत्यधिक महत्वपूर्ण है। (२) सम्पूर्ण भारतीय उप-महाद्वीप के हित में एक समान आर्थिक नीति निर्धारित करने के लिये भी एक केन्द्रीय सरकार का होना आवश्यक है। संघ बनाने के उद्देश्य की पूर्ति के लिये गवर्नर-जनरल ने संघ योजना की विचित्रताओं का सामना करने की तत्परता दिखाई। परन्तु कांग्रेस का मत यह था कि जिस पद्धति द्वारा रियासतों में प्रजातन्त्र की उन्नति सम्भव न हो और जो नरेशों की सुधार के लिये दबाव के विरुद्ध रक्षा करती हो, कभी अच्छी नहीं हो सकती। कांग्रेस के नेता यह बात भी भली प्रकार समझते थे कि नरेशों को संघ में सम्मिलित होने के लिये इस विचार से कहा जा रहा था कि उनके भेजे गये नामजद प्रतिनिधियों का एक सुदृढ़ व प्रतिक्रियात्मक समूह बनेगा जो रियासतों में प्रजातन्त्र के विकास की प्रत्येक प्रवृत्ति का तीव्र विरोध करेगा। साथ ही इस समूह के रहते हुये वास्तविक उत्तरदायी शासन का विकास सम्भव न था। अतएव कांग्रेस तथा अन्य दल विरोध पर अड़े रहे।

---

and to secure—so far as constitutional provisions can ensure—the continuance of British rule in circumstances totally different from those prevailing at the time of its establishment." (From a Congress Publication)

स्वराज की योजना के अन्तर्गत जो चुनाव प्रान्तो में सन् १९३६ के अन्त तथा १९३७ के आरम्भ मे हुये उनमें काग्रेस ने अन्य दलो के साथ-साथ भाग लिया। इन ६ प्रान्तों—यू० पी०, बिहार, उडीसा, मद्रास, बम्बई और सी० पी० व बरार मे काग्रेस दलो को पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ, आसाम व पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त मे काग्रेस के पूर्ण बहुमत में केवल कुछ ही स्थानो की कमी रही और शेष तीनों प्रान्तो में भी कांग्रेस दल सबसे बडा सगठित दल रहा। अधिकांश साधारण स्थानो पर कांग्रेस ने विजय पाई। सभी प्रान्तों में मुस्लिम निर्वाचन-क्षेत्रो से विभिन्न मुस्लिम दलों के प्रतिनिधि चुने गये। मुस्लिम लीग को अन्य किसी भी एक दल से अधिक स्थान मिले थे, किन्तु कुल मुस्लिम स्थानो में मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियो की सख्या अन्य दलो के जोड से बहुत कम थी। एक विचित्र बात यह थी कि मुस्लिम लीग को हिन्दू बहुमस्यक प्रान्तों मे मुस्लिम बहुमस्यक प्रान्तों की अपेक्षा अधिक स्थान मिले थे। इसका एक कारण यह भी था कि इन चुनावो के अवसर पर काग्रेसी कार्यकर्त्ताओ ने अन्य मुस्लिम दलों की अपेक्षा मुस्लिम लीग के उम्मीदवारो के प्रति सद्भावना रखी थी, क्योंकि अन्य मुस्लिम दलो की अपेक्षा मुस्लिम लीग को उस समय कुछ थोडा-सा प्रगतिशील समझा जाता था। विभिन्न प्रान्तो मे निर्वाचनो के परिणामस्वरूप विधान सभाओ मे दलगत स्थिति निम्न प्रकार थी :

प्रान्त	अधिकतम स्थान	कांग्रेस	मुस्लिम लीग	अन्य मुस्लिम
मद्रास	२१५	१५९	११	१७
बम्बई	१७५	८८	२०	९
बगाल	२५०	५०	४०	७७
यू० पी०	२२८	१३४	२७	३७
पंजाब	१७५	१८	१	८३
बिहार	१५२	९८	—	३९
सी० पी० व बरार	११२	७१	—	१४
आसाम	१०८	३५	९	२५
पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त	५०	१९	—	३६
उडीसा	६०	३६	—	४
सिन्ध	६०	७	—	३५
	१५८५	७१५	१०८	३७७

यद्यपि फैजपुर मे हुये कांग्रेस अधिवेशन पर काग्रेस ने सन् १९३५ के सम्पूर्ण कानून का विरोध किया था फिर भी चुनावों मे काग्रेस को अपूर्व विजय मिलने पर

कांग्रेसी नेताओं के सामने यह प्रश्न आया कि उन्हें मन्त्रि-पद स्वीकार करने चाहिये अथवा नहीं। कुछ दिन तक उनमें एक जोरदार प्रवाद इसी प्रश्न पर चला। इस पर अन्तिम निर्णय करने के लिये मार्च १९३७ में सभी प्रान्तों के कांग्रेसी सदस्यों का एक सम्मेलन दिल्ली में हुआ। कांग्रेस महासमिति ने महात्मा गांधी के द्वारा सुझाये प्रस्ताव के पक्ष में ७० के विरुद्ध १२७ मत से अन्तिम निर्णय किया। इस प्रस्ताव ने कांग्रेसी दलों को उन प्रान्तों में जहाँ उन्हें पूर्ण बहुमत प्राप्त था मन्त्रि-पद स्वीकार करने का अधिकार इस शर्त पर दिया कि मन्त्रि-पद तब तक स्वीकार न किये जायेंगे जब तक कि कांग्रेस दलों के नेता सार्वजनिक रूप से यह वक्तव्य न दे दें कि गवर्नर उनके परामर्श, को उनके संवैधानिक कार्यों में अपनी विशेष शक्तियों द्वारा न गिरायेंगे। बाद में यह भी निश्चय किया गया कि यदि कांग्रेसी दलों ने मन्त्रि-पद स्वीकार किये तो वे लगान व मालगुजारी में कमी करेंगे, कृषि आय पर प्रगतिशील पैमाने पर आय कर लगायेंगे, भूमि पर जोतने वालों को मौरूसी अधिकार दिलायेंगे, सभी दमनकारी कानूनों का अन्त करेंगे, राजनैतिक बन्दियों को मुक्त करेंगे और सत्याग्रह आन्दोलन में जिसकी सम्पत्ति जब्त हुई थी या बेची गई थी उसे उन्हें वापिस देंगे।

जब कांग्रेसी दलों के नेताओं को गवर्नरों ने मन्त्रि-मण्डल बनाने के लिये आमन्त्रित किया तो उन नेताओं ने गवर्नरों से आश्वासन माँगा कि वे उनके संवैधानिक कार्यों में हस्तक्षेप न करें तथा उनके परामर्श को अपनी विशेष शक्तियों के प्रयोग द्वारा न गिरायें। इसके उत्तर में गवर्नरों ने कहा कि विशेष दायित्वों के सम्बन्ध में संविधान के उपबन्ध आदेशात्मक (mandatory) हैं। कीथ के शब्दों में : 'प्रत्येक गवर्नर को होने वाले मुख्यमन्त्री से यह कहना चाहिये था कि यदि मन्त्रिमंडल के कार्य संवैधानिक होंगे तो उसे अपनी विशेष शक्तियों के प्रयोग करने का प्रश्न ही न उठेगा, क्योंकि संविधान के प्राविधान मन्त्रियों द्वारा अल्पसंख्यकों पर जुल्म करने, रियासतों के हितों को हानि पहुंचाने, शान्ति और व्यवस्था के प्रति लापरवाही दिखाने तथा सार्वजनिक सेवाओं के सदस्यों के प्रति अन्याय करने की मनाही करते थे।' दिये गये उत्तरों से यह स्पष्ट हो गया कि ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रान्तों में उत्तरदायी शासन देने की बात धोखा मात्र थी। माँगा गया आश्वासन न मिलने पर कांग्रेसी दलों ने मन्त्रिमण्डल न बनाये और प्रान्तीय स्वराज की योजना आरम्भ में ही ६ प्रान्तों में असफल हुई।

उन प्रान्तों के गवर्नरों ने एक अन्य उपाय का सहारा लिया और अन्तरिम मन्त्रिमण्डलों (Interim Ministries) का निर्माण किया। इन मन्त्रिमण्डलों को बहुमत का विश्वास प्राप्त न था अतएव कुछ समय तक उन्होंने विधानमण्डलों के सत्र बुलाये बिना ही प्रशासन चलाया। इन मन्त्रिमण्डलों में कांग्रेस विरोधी दलों ने गठबन्धन किया था, यहाँ तक कि हिन्दू महासभाई और मुस्लिम लीगी भी इस अवसर पर मिल गये थे। विधानमण्डलों के सत्र न बुलाये जाना अधिक समय के

लिये सम्भव न था । महात्मा गांधी ने ११ अप्रैल को यह सुझाव रखा कि ३ न्यायाधीशो की पचायत इस प्रश्न पर निर्णय देने के लिये बैठाई जाय कि गवर्नर सविधान के अन्तर्गत रहते हुये मागा गया आश्वासन दे सकते है या नही । कुछ दिन पश्चात् गाँधी जी ने कहा कि कांग्रेस मन्त्री पदो को स्वीकार करने के लिये इच्छुक है । अतएव जब मत्रियों और गवर्नर में गम्भीर मतभेद पैदा हो जाय तो गवर्नर मन्त्रिमण्डल को हटादे या मन्त्री त्याग-पत्र दे दे । अन्त मे २१ जून को गवर्नर जनरल ने एक सन्तोषप्रद वक्तव्य दिया जिसमें कहा गया था : 'इस कथन मे कोई आधार नही है कि गवर्नर अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तीय प्रशासन मे जब चाहे हस्तक्षेप कर सकता है । गवर्नर के विशेष दायित्वो का विस्तार अत्यन्त सीमित है । यदि गवर्नर मन्त्रियों के परामर्श को गिरायेगा तो वह पार्लियामेट के प्रति उत्तरदायी होगा ।' इसके बाद कांग्रेस कार्य समिति के प्रस्ताव के अधीन कांग्रेसी दलो के नेताओं ने गवर्नरो के आमन्त्रण पर मन्त्री बनना स्वीकार कर लिया । कांग्रेस द्वारा ६ प्रान्तो मे मन्त्रिमण्डल बनाये जाने का प्रभाव यह पड़ा कि आसाम और पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त के मन्त्रिमण्डलो को त्याग-पत्र देना पडा और उन दोनो प्रान्तो में भी कांग्रेस ने कुछ थोडे से सदस्यो को कांग्रेस दल का सदस्य बनाकर अपने मन्त्रिमण्डल बना लिये ।

जब कांग्रेस ने मत्रिमडल बनाने का निश्चय किया तो मुस्लिम लीग ने अपने प्रतिनिधियो को उनमे लिये जाने की माग रखी जिससे कि मुस्लिम अल्पसख्यकों का वे प्रतिनिधित्व कर सकें । परन्तु इन प्रांतों मे कांग्रेस ने मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियो को मन्त्रिमण्डलो मे लेने के लिये यह शर्त लगाई कि वे कांग्रेस दल में सम्मिलित हो जाये और कांग्रेसी अनुशासन से बंध जायें । सगठन की सुदृढ़ता व सयुक्त उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के अनुसार ऐसी शर्त लगाना न्यायोचित था । कांग्रेसी दलो में जो मुसलमान सदस्य थे उन्हें भी तो मुसलमानो का प्रतिनिधित्व करने का अधिकार था । एक बात और भी थी, मुस्लिम लीग दलो से बाहर अन्य मुसलमान सदस्यो की सख्या अधिक थी । इससे भी बढकर यह बात थी कि कांग्रेस सदैव एक राष्ट्रीय सस्था रही है । यह साम्प्रदायिक दल की मांग को कैसे स्वीकार कर सकती थी ? परन्तु इस विषय मे मौ० आजाद का मत भिन्न था, जो बाद मे प्रकाशित हुआ । उनका कथन निम्नलिखित है -

> चौ. खलीकुज्जमा और नवाब इस्माइलखां उस समय यू.पी. के प्रमुख मुस्लिम लीगी नेता थे । जब मैं सरकार का निर्माण कराने के लिए लखनऊ आया तो मैंने उन दोनो से बातचीत की । उन्होने मुझे आश्वस्त किया कि वे केवल कांग्रेस के साथ सहयोग ही न करेंगे, वरन् कांग्रेस कार्यक्रम को पूर्ण समर्थन देंगे । उनके लिये यह आशा करना स्वाभाविक ही था कि नई सरकार में मुस्लिम लीग को कुछ भाग मिले । स्थानीय स्थिति ऐसी थी कि उनमें से कोई भी एक अकेले सरकार में सम्मिलित न हो

सकता था। या तो दोनों को लिया जाता अन्यथा एक को भी नही। अतएव मैंने उन्हें आश्वासन दिलाई कि दोनों को सरकार मे ले लिया जायेगा। यदि मन्त्रिमण्डल मे केवल सात सदस्य रहे तो दो मुस्लिम लीगी होंगे और शेष काग्रेसी। नौ सदस्यों के मन्त्रिमण्डल मे काग्रेस का बहुमत और भी निश्चित रहेगा। मुझ से बातचीत के बाद एक नोट तैयार किया गया कि मुस्लिम लीग दल काग्रेस के साथ मिलकर कार्य करेगा और काग्रेस के कार्यक्रम को स्वीकार करेगा। चौ० खलीकुज्जमा और नवाब इस्माइल खा दोनो ने उस आलेख पर हस्ताक्षर किये, और मैं लखनऊ से पटना चला गया, क्योंकि बिहार में मन्त्रिमण्डल बनाने के लिये मेरी उपस्थिति आवश्यक थी।

कुछ दिन बाद मैं इलाहाबाद वापस लौटा और बड़े खेद के साथ पता चला कि जवाहरलाल नेहरू ने चौ० खलीकुज्जमा और नवाब इस्माइल खा को लिख दिया था कि उनमे से केवल एक को ही मन्त्रिमण्डल मे लिया जा सकेगा। उन्होंने कह दिया था कि मुस्लिम लीगी दल यह निर्णय कर सकता था कि किस को लिया जाय, परन्तु मेरे उपरोक्त कथन के प्रकाश मे उनमे से कोई भी अकेले (मन्त्रिमण्डल मे) आने की स्थिति मे न था। अत: उन्होंने अपना खेद प्रकट किया और कहा कि वे जवाहरलाल के आमन्त्रण को स्वीकार करने मे असमर्थ थे। यह एक सबसे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण घटना थी। यदि यू० पी० लीग के सहयोग प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया गया होता, तो व्यवहार मे मुस्लिम लीग दल काग्रेस मे ही विलीन हो जाता। जवाहरलाल के निर्णय ने मुस्लिम लीग को यू० पी० मे एक नया जीवन प्रदान किया। राजनीति के सभी विद्यार्थी यह जानते है कि यू० पी० मे ही लीग को पुन: सगठित किया गया। मि० जिन्नाह ने स्थिति से पूरा लाभ उठाया और एक ऐसा अभियान आरम्भ किया जिसका अन्त पाकिस्तान मे हुआ।[3]

परिणाम यही रहा कि जब मुस्लिम लीग ने काग्रेस की शर्त न मानी तो काग्रेस ने एक-दलीय मन्त्रिमण्डल बनाये। जिन प्रातो में काग्रेसी मुसलमान थे वहां उन्हें मन्त्री बनाया गया, परन्तु उड़ीसा व बाद मे सी० पी० मे कोई काग्रेसी मुसलमान सदस्य न रहे अतएव इन प्रान्तो के मन्त्रिमण्डलो मे मुसलमानो का प्रतिनिधित्व न रहा। इस पर मुस्लिम लीगी दलो ने गवर्नरो द्वारा हस्तक्षेप करने की मांग की क्योंकि उनके मतानुसार इस प्रकार से गवर्नरो के विशेष दायित्व की पूर्ति न हो सकती थी। परन्तु गवर्नरो ने यह कहकर कि वे सयुक्त उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को तोडना ठीक न समझते थे, किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप करने मे मना कर दिया।

---

3 Azad, Maulana A. K., *India Wins Freedom*, pp. 160—61

कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल अपने पदों पर केवल दो वर्ष और कुछ माह के लिये रहे, क्योंकि उन्हें नवम्बर १९३९ में दूसरे विश्वयुद्ध के प्रश्न पर त्याग-पत्र देना पड़ा। परन्तु इस अल्पकाल में भी इन मन्त्रिमण्डलों ने बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया। आठों प्रान्तों में मन्त्रिमण्डलों ने राष्ट्र-निर्माण की बड़ी-बड़ी योजनाओं को स्वीकार करके उन्हें कार्यान्वित करने के सफल प्रयत्न किये। कांग्रेसी मन्त्रियों के उत्साह और त्याग का अनुमान इस बात से होगा कि उन्होंने केवल ५००) रु० मासिक वेतन स्वीकार किया जबकि अन्य प्रान्तों में यह वेतन ५, ६ हजार रुपये तक था। इन मन्त्रिमण्डलों ने अनेक लाभदायक कानून पास किये, जिनका उद्देश्य किसान, मजदूरों व दलित वर्गों की भलाई करना था। इन कानूनों में से मुख्य का लक्ष्य भूमि व्यवस्था का सुधार, किसानों के ऊपर ऋण के भार को कम करना, ग्राम सुधार, छोटे तथा कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन, अनुसूचित वर्गों की दशा में सुधार, अछूत कहे जाने वाले भाइयों के लिये मन्दिर प्रवेश, शिक्षा प्रसार, मद्य निषेध आदि रचनात्मक कार्यों को करना था। उस समय मन्त्रिमण्डलों के कार्यों का एक अति महत्वपूर्ण प्रभाव यह पड़ा कि देश के निर्माण सम्बन्धी कार्यों में जनता ने पूर्ण सहयोग दिया और अधिकांश व्यक्तियों में इन कार्यों के लिये बड़ा उत्साह था, जिसका अभाव आज दुख और चिन्ता का विषय बना है।

कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के सफल प्रयत्नों की सराहना देशवासियों ने ही नहीं वरन् विरोधी विदेशियों तक ने की। कुपलैंड के मतानुसार इन मन्त्रिमण्डलों ने किसानों को ऋण के फन्दे व साहूकारों के चंगुल से बचाने के लिये दृढ़ कार्यवाही की, उनकी भलाई के लिये बाजार की सुविधायें तथा दुर्भिक्ष काल में सहायता आदि के हेतु भी कानून बनाये। मन्त्रिमण्डलों के कृषि सम्बन्धी बनाये हुये कानूनों को साहसपूर्ण ढंग से सोचा गया और तेजी से कार्यान्वित किया गया। उन्हें इसमें उल्लेखनीय सफलता मिली। दूसरा मुख्य सुधार मद्य निषेध के सम्बन्ध में था। प्रारम्भिक शिक्षा की समस्या को हल करने के लिये भी दृढ़ कदम उठाये गये। बेसिक शिक्षा (अथवा वार्धा योजना) को प्राय सभी प्रान्तों में लागू किया गया। शिक्षा प्रसार के प्रति सार्वजनिक उत्साह बढ़ाने के लिये 'साक्षरता आन्दोलन' चलाये गये। समाजिक सेवाओं पर औसतन १४ प्रतिशत व्यय बढ़ाया गया जिसके लिये अन्य व्यय में बचत तथा नये करों का सहारा लिया गया। बिजली और कृषि योजनाओं को ऋण लेकर चालू किया गया। सभी कार्यों पर दृष्टि डालने में पता लगता है कि उनके लिये कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल उचित गर्व कर सकते थे। इनके नेताओं ने दिखा दिया कि वे आन्दोलन व बात करने के साथ अच्छा प्रशासन भी कर सकते थे। यह व्यापक रूप से विश्वास किया जाता था कि बहुत से मन्त्रिमण्डल उन कार्यों को, जिन्हें उन्होंने इतनी अच्छी तरह से आरम्भ किया था, चालू रखना चाहते थे। परन्तु उन्हें कांग्रेस की उच्च सत्ता के आदेशाधीन सकोच के साथ त्यागपत्र देना

पड़ा, जिसके लिये ब्रिटिश सरकार को भी दुःख हुआ।[4] ब्रिटिश सरकार के प्रवक्ताओं ने मन्त्रिमण्डलों की सफलताओं पर अपनी सराहना के उद्‌गार सार्वजनिक रूप से प्रकट किये।

मौरिस-जोन्स के अनुसार प्रान्तीय सरकारों ने विधायी तथा प्रशासनिक क्षेत्रों में जो कार्य किये उनसे अधिकतर ब्रिटिश प्रेक्षकों को आश्चर्य हुआ। सामाजिक क्षेत्र में बहुत से उपयोगी कानून बनाये गये, वित्तीय नीतियाँ भी बहुधा अपव्यय के विरुद्ध अथवा अनुदार रहीं और कानून तथा व्यवस्था बनाये रखने के क्षेत्र में सरकारें दृढ़ रहीं। सदस्यों और मन्त्रियों ने कभी कभी न्याय प्रशासन के क्षेत्र में हस्तक्षेप करने के प्रयत्न किये और मन्त्रियों ने सूचना पाने के लिये स्थानीय सरकारी अधिकारियों की अपेक्षा स्थानीय दलीय समितियों से सहायता प्राप्त की। इसके विपरीत यह बात महत्वपूर्ण है कि मन्त्रियों के लिये मन्त्रि-पदों पर काम करना एक नया अनुभव था और सरकारी अधिकारियों को भी ऐसे मन्त्रियों से आदेश पाने का नया अनुभव था। कुछ भी हो जैसे कूपलेंड ने लिखा है यह एक तथ्य अत्यधिक महत्वपूर्ण है : 'भारतीय राजनीति में अन्ततः कांग्रेस एक रचनात्मक शक्ति बन गई थी।' स्वयं वाइसराय ने उस समय कहा था कि सार्वजनिक क्षेत्र में मन्त्रियों का रिकार्ड विशिष्ट था।'[5]

कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के प्रशासनीय कार्यों का सुप्रभाव अन्य प्रान्तों के मन्त्रि-मण्डलों पर भी पड़ा। वे भी अपने प्रान्तों में बहुत से उपयोगी कार्य करने में सफल हो सके। पंजाब में युनियनिस्ट दल का मन्त्रिमण्डल सर सिकन्दर हयात खाँ (व उनके सहयोगी सर छोटू राम) के नेतृत्व में कई वर्ष तक स्थायी रहा। बंगाल में फजलुलहक ने कांग्रेसियों व मुस्लिम लीगियों को छोड़कर अन्य दलों के मेल से मन्त्रिमण्डल बनाया था, जिसके स्थान पर सन् १९४३–४४ में सर नाज़ीमुद्दीन ने लीगी मन्त्रिमण्डल बनाया। सिंध में भी ऐसा ही मन्त्रिमण्डल खाँ० ब० अल्लाह-बख्श के नेतृत्व में बना था किन्तु उसे आगे चलकर तोड़ दिया गया और वहाँ भी लीगी मन्त्रिमण्डल बना। बात यह थी कि जब तक ८ प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल पदारूढ़ रहे अन्य प्रान्तों के मन्त्रिमण्डलों में भी अधिक उलटफेर अथवा तोड़-फोड़ न हुई क्योंकि गवर्नरों ने उनके कार्यों में साधारणतया हस्तक्षेप नहीं किया। परन्तु जैसे ही कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने युद्ध में भाग लेने के प्रश्न पर मन्त्रीपदों से त्याग पत्र दिये तो मुस्लिम लीग को बड़ी प्रसन्नता हुई। गत २ वर्षों में कांग्रेसी

---

4 "Taken as a whole the record of its ministries was ore in which the Congress could take a reasonable pride. Its leaders had shown that they could act as well as talk, administer as well as agitate, and among them and their followers there was a genuine ardour for reform."

Coupland R., *India—A Restatement*.

5 "In any case, what Coupland calls the 'one outstanding fact remains' : 'The Congress had at last became a constructive force in Indian politics. The

कह कर हस्ताक्षर करा लिया कि वह अपने मन्त्रिमण्डल का पुनर्निर्माण करें, परन्तु त्यागपत्र देने के उपरान्त नया मन्त्रिमण्डल बनाने के लिये सर नाजिमुद्दीन खाँ, मुस्लिम लीगी दल के नेता, को आमन्त्रित किया गया और उनका मन्त्रिमण्डल कई वर्ष तक चला, क्योंकि गवर्नर जो भी प्रभाव सदस्यों पर डाल सकता था वह उनके पक्ष में डाला गया। इसी मन्त्रिमण्डल के कार्यकाल में बंगाल में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा जिसमें लगभग ५० लाख व्यक्ति भूख से तड़प-तड़प कर मर गये। सिन्ध के मुख्य मन्त्री खा० ब० अल्लाहबख्श ने मुस्लिम लीग के विरोधी राष्ट्रवादी मुसलमानों को संगठित करने में महत्वपूर्ण भाग लिया और १९४२ के अगस्त आन्दोलन के बाद उन्होंने सरकारी नीति के विरोध स्वरूप अपनी उपाधि को भी त्याग दिया। इस पर गवर्नर-जनरल के आदेशाधीन सिन्ध के गवर्नर ने उन्हें पदच्युत कर दिया और वहाँ भी लीगी मन्त्रिमण्डल बनाने में गवर्नर ने अपने प्रभाव का प्रयोग किया। तत्पश्चात् सिन्ध के मन्त्रिमण्डल में कई बार उलट-फेर हुआ। बंगाल और सिन्ध के पूर्वोक्त उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि गवर्नरों ने इन प्रान्तों के मन्त्रि-मण्डलों के निर्माण में अनुचित हस्तक्षेप किया। इस प्रकार का हस्तक्षेप गवर्नर इस कारण से कर सके कि इन प्रान्तों में मन्त्रिमण्डल बहुमत प्राप्त किसी एक संगठित दल के न थे तथा जनमत भी पूरी तरह से उनके साथ न था।

सन् १९३९ में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के त्यागपत्र के उपरान्त ६ प्रान्तों में तो कोई दूसरे मन्त्रिमण्डल बनाना सम्भव ही न था, अतएव गवर्नरों ने आपातकालीन व्यवस्था लागू की और सम्पूर्ण शासन अपने हाथों में सम्भाल लिया। अपने कार्य में सहायता के लिये उन्होंने कुछ परामर्शदाता नियुक्त किये। इन प्रान्तों में इस प्रकार का शासन सन् १९४६ के आरम्भ तक जारी रहा। परन्तु आसाम व पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के हट जाने पर गवर्नरों ने अपने प्रभाव के द्वारा अन्य मन्त्रिमण्डल बना लिये। इस हेतु कुछ सदस्यों ने, जिन्होंने कांग्रेस दलों में प्रवेश पा लिया था, विरोधियों से मेल कर लिया तथा कुछ कांग्रेसियों को समय-समय पर बन्दी रखा गया। फलस्वरूप, इन प्रान्तों में भी जब सन् १९४६ में नये चुनाव हुये तो कांग्रेस को पहले से भी अधिक स्थान मिले और कांग्रेस ने फिर से ८ प्रान्तों में मन्त्रिमण्डल बनाये जो सत्ता हस्तांतरित करने के समय तथा नये संविधान के लागू होने तक कार्य करते रहे।

कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के ऊपर कांग्रेसी कार्य-समिति के नियन्त्रण की नीति की आलोचना करते हुये कुपलैंड ने लिखा है कि केन्द्रीय कांग्रेस की एकात्मक नीति (Unitarian policy of Congress Centre) प्रान्तीय स्वराज के सिद्धान्त के विरुद्ध थी अर्थात् मन्त्रिमण्डलों को अपने पदों पर तभी तक रहना चाहिये था जब तक कि उन्हें बहुमत का विश्वास प्राप्त रहता। एक अन्य लेखक के अनुसार कांग्रेसी सदस्यों की वफादारी दल के प्रति थी, विधान सभाओं के प्रति नहीं।

इस प्रकार विधान सभायें कांग्रेस के उद्देश्यों की प्राप्ति का साधन थीं। सर परसीवल ग्रिफिथ ने लिखा है

> प्रान्तीय स्वराज्य को तोडा और मोडा गया तथा उत्तरदायी शासन की पद्धति के अधिकांश गुण लुप्त हुए। कांग्रेस हाई कमान के रुख ने दल की एकता और कदाचित् भारत की एकता की रक्षा की, परन्तु उसने प्रान्तों मे दलों के विकास को रोका। केन्द्र के हाथों मे शक्तियों के केन्द्रीभूत होने से भारतीय राजनीति में सत्ताधारी दृष्टिकोण उत्पन्न हुआ। प्रान्तो मे संसदीय जीवन के आवश्यक आदान-प्रदान में दूसरों के दृष्टिकोण के प्रति आदर और सहनशीलता का विकास होता, परन्तु इन गुणों का विकास उस समय के वातावरण में सम्भव न था, क्योंकि केन्द्रीय कांग्रेस समिति के ऊपर देश की सरकार का कोई उत्तरदायित्व न था।[6]

उपरोक्त आलोचना मे सैद्धान्तिक दृष्टि से कुछ सत्य का अंश अवश्य ही मानना पडेगा, किन्तु देश की तत्कालीन परिस्थितियों मे व्यवहारिक दृष्टिकोण का महत्व सैद्धान्तिक से अधिक रहना न्यायोचित था। कांग्रेस की उच्च सत्ता यह नियन्त्रण प्रान्तों मे अच्छे प्रशासन तथा देश के अधिक व्यापक हितों मे लागू कर रही थी। एक दूसरे अंगरेज लेखक ई० डब्लू० आर० लुम्बी ने इस प्रकार के नियन्त्रण को प्रजातन्त्र के सिद्धान्त का विरोधी बताते हुये भी कांग्रेस के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न किया है। कांग्रेस उस समय केन्द्रीय सरकार पर नियन्त्रण न पा सकती थी और स्वतन्त्रता के ध्येय की प्राप्ति के लिए निर्देशन की एकता का होना आवश्यक था, अतएव कांग्रेस अपने दृष्टिकोण को न्यायोचित ठहरा सकती थी। लुम्बी का यह कथन पूर्णतया सत्य है कि कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने सन् १९३५ के अधिनियम को तोडने के अपने घोषित लक्ष्य का पालन न करके अपने को सुधार कार्यों में लगा दिया।[7]

---

6 "Provincial autonomy became distorted and the system of responsible goverment lost much of its virtue. The attitude of the Congress High Command protected the unity of the party and perhaps of India but it prevented the development of political parties in the provinces.... The concentration of power at the centre bred an authoritarian approach to Indian politics. In the provinces, the necessary give and take of parliamentary life might have develoned tolerance and respect for views of others, but these qualities were not likely to grow in the rarefied atmosphere of a Congress Central Committee with no responsibility for the government of the country" Ibid, p. 67.

7 "Congress has frequently been criticised for this practice, which was certainly at variance with democracy since the Congress Provincial Governments were responsible not simply to their Legislatures, but also, and perphaps mainly, to the High Command. But Congress could urge in

कांग्रेसी तथा अन्य प्रांतो के मन्त्रिमण्डलो की तुलना करते हुए कुपलैंड ने लिखा है—इस बात के अतिरिक्त कि गैर-कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल अधिक लम्बे काल तक स्थायी रहे उनके कार्य कई बातो मे कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलो के कार्यक्रम के समान रहे। परन्तु इन दो प्रकार के प्रांतो के बीच मुख्य अन्तर संवैधानिक तन्त्र के चलाने के सम्बन्ध मे था। जबकि सभी कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल एक दलीय थे, सभी गैर-कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल मिले-जुले (Coalitions) थे। उसका मुख्य कारण निर्वाचन फल थे। इन प्रांतो मे इसी कारण सदैव ही चालें चली गई। सदस्य कभी इस ओर और कभी उस ओर हुये और मन्त्रिमण्डलो के सामने अनेक संकट आये। अकेले सिन्ध प्रान्त मे ही सन् १९३७ और १९४३ के बीच मन्त्रिमण्डल में ५ बार परिवर्तन हुए। सन् १९३५ के अधिनियम को प्रांतो मे विभिन्न रूप से कार्यान्वित किया गया। गैर-कांग्रेसी प्रांतो मे मन्त्रिमण्डल कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलो से एक अन्य सिद्धांत में भी भिन्न थे। उन प्रांतो मे संविधान के दो आधारभूत सिद्धांतो—उत्तरदायी शासन और प्रांतीय स्वराज-का पालन हुआ। मन्त्रिमण्डल अपने विधान-मण्डलो के प्रति उत्तरदायी रहे अन्य किसी के प्रति नही। उन्होने अपने पदों से बहुमत का विश्वास खो जाने पर ही त्याग-पत्र दिये। इस प्रकार जब तक कि सन् १९४२ में मि० जिन्नाह ने उन्हें मुस्लिम लीग के नियन्त्रण मे लाने के प्रयत्न किये, वे वाह्य नियन्त्रण से स्वतन्त्र रहे परन्तु कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल स्वतन्त्र न थे। अन्य मन्त्रियो के उत्तरदायित्व का क्षेत्र केवल प्रांतीय था अतएव प्रांतीय स्वराज वास्तविक स्वराज था।

अन्त मे हम यह मानते है कि प्रांतीय स्वराज की योजना ने प्रान्तों में पूर्ण उत्तरदायी शासन के विकास के लिये सुअवसर प्रदान किया। यदि गवर्नरों और मन्त्रिमण्डलो मे एक दूसरे के प्रति विश्वास व सहयोग की भावनायें विद्यमान रहती तो इस योजना को पर्याप्त सफलता मिलती। वास्तव में विभिन्न प्रांतो मे इस प्रकार का सहयोग और विश्वास जिस सीमा तक विद्यमान रहा उसी सीमा तक प्रांतीय स्वराज की योजना सफल हुई।

३. द्वितीय विश्व-युद्ध और संवैधानिक गतिरोध

३ सितम्बर १९३९ को वाइसराय ने यह घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार और जर्मनी के बीच युद्ध आरम्भ हो गया है और भारत में आपातकाल की स्थिति उत्पन्न हो गई है अर्थात् वाइसराय की घोषणा के परिणामस्वरूप भारत ब्रिटेन की ओर से युद्ध मे सम्मिलित हो गया है। इसके तुरन्त बाद ही केन्द्रीय एसेम्बली मे भारत सुरक्षा विधेयक (Defence of India Bill) पेश किया गया, और

---

justification that in as much as it was not possible for it to gain control of the Central Government, this unity of direction by the party machine was a necessary substitute besides fulfilling the essential purpose of ensuring that the great objective of independence should neither be lost sight of nor compromised."

Lumby, E. W. R., *Transfer of Power in India*, pp. 20–21.

२७ सितम्बर को वह केन्द्रीय विधानमण्डल के दोनो सदनो मे पास हो गया, जबकि केन्द्रीय विधानमण्डल की इन बैठको का कांग्रेस ने बहिष्कार कर दिया था। युद्ध मे भारतीय नरेशो ने जैसी कि उनसे आशा की जा सकती थी सभी प्रकार-सैनिको, धन व सामान-मे ब्रिटेन को युद्ध संचालन के लिये अधिक से अधिक सहायता देने का आश्वासन दिया। युद्ध मे भाग लेने के प्रश्न पर कांग्रेस कार्यसमिति ने गम्भीरतापूर्वक विचार करके एक महत्वपूर्ण वक्तव्य प्रकाशित किया जिसका सार निम्नलिखित है :

> कांग्रेस ने फासिस्टवाद और नाजीवाद के आदर्शों और व्यवहारिक रूप को बार-बार पूर्णतया अस्वीकार्य घोषित किया है। ...इसने इन वादों मे साम्राज्यवाद के बढ़े हुए रूप को देखा है, जिसके विरुद्ध भारतीय जनता वर्षो से सघर्ष कर रही है। अत कांग्रेस कार्यसमिति नि.संकोच नाजी जर्मनी के पोलैंड आदि देशो पर किये गये आक्रमणो की निन्दा करती है और जो उसका विरोध कर रहे है उनके प्रति सहानुभूति रखती है। .. कांग्रेस ने यह पहले से ही निर्णय किया हुआ है कि भारत के लिये युद्ध और शांति का प्रश्न भारतीयो द्वारा ही निश्चित होना चाहिये और कोई अन्य बाह्य लोग भारतीयो पर अपना निर्णय लागू नही कर सकते और न ही भारतीय अपने साधनो का प्रयोग साम्राज्य-वादी ध्येय के लिये प्रयुक्त होने का आज्ञा द सकत है। .. ब्रिटिश सरकार की घोषणा मे कहा गया है कि प्रजातन्त्र खतरे मे है और उसकी अवश्य रक्षा होनी चाहिये इस बात मे कार्यसमिति पूर्णतया सहमत है।... यदि युद्ध वर्तमान स्थिति (status qup), साम्राज्यवादी अधिकारो, उपनिवेशो में सन्निहित हितो और विशेषाधिकारो की रक्षा करने के लिये लड़ा जा रहा है तो भारत का इससे कोई सम्बन्ध नही। यदि ग्रेट ब्रिटेन प्रजातन्त्र को स्थिर रखने तथा विस्तृत बनाने के लिये युद्ध लड़ रहा है तो उसे अपने अधिकृत प्रदेशो मे साम्राज्यवाद का अन्त करना चाहिये, भारत में पूर्ण प्रजातन्त्र की स्थापना करनी चाहिये और भारतीयों को अपने देश का सविधान बनाने के लिये स्वभाग्य निर्णय का अधिकार मिलना चाहिये। ...अतएव कार्यसमिति ब्रिटिश सरकार को प्रजातन्त्र, साम्राज्यवाद और नई विश्व व्यवस्था के बारे में अपने युद्ध सम्बन्धी उद्देश्यो की घोषणा करने के लिये आमन्त्रित करती है 'विशेष रूप से यह घोषित करने के लिये भी कि ये उद्देश्य भारत में कैसे लागू होगे और उन्हें वर्तमान मे किस प्रकार कार्यान्वित किया जायेगा ? क्या उसमे साम्राज्यवाद का अन्त, भारत के प्रति स्वतन्त्र राष्ट्र जैसा व्यवहार जिससे उसकी नीति जनता की इच्छानुसार निर्धारित की जाये, सम्मिलित है ?

१८ सितम्बर को मुस्लिम लीग की कौंसिल ने अपने वक्तव्य में कहा कि यदि ब्रिटिश सरकार भारतीय मुसलमानों का पूर्ण प्रभावशाली और प्रतिष्ठामय सहयोग चाहती है तो मुसलमानों में सुरक्षा और सन्तोष की भावना उत्पन्न की जाये। साथ ही कांग्रेसी प्रान्तों में मुसलमानों की स्थिति का विशेष रूप से वर्णन किया गया और इस बात की आवश्यकता पर भी जोर दिया गया कि तत्कालीन संविधान में जो परिवर्तन किये जायें उनके बारे में मुसलमानों से परामर्श किया जाय तथा उनके लिये उनकी पूर्ण सहमति व स्वीकृति प्राप्त की जाय।

कांग्रेस व मुस्लिम लीग की कार्यसमितियों के वक्तव्यों के मिल जाने पर वाइसराय ने सभी दलों के नेताओं से भेंट करना आरम्भ किया और कुल ५२ व्यक्तियों को भेंट करने का अवसर मिला। १८ अक्तूबर को उसने अपना वक्तव्य निकाला जिसमें ये दो बातें स्वीकार की गई थी - (१) ब्रिटिश सरकार ने वाइसराय को यह कहने के लिये अधिकार दिया है कि युद्ध की समाप्ति पर वह अनेक व्यक्तियों से परामर्श करने के लिये अति इच्छुक होगी जिससे कि उनकी सहायता और सहयोग से भारत के संविधान में वाञ्छनीय सुधार किये जा सकें। (२) युद्ध के दौरान सरकार एक परामर्शदात्री समूह (Consultative Group) को, जिसमें कि छटे हुये भारतीय होंगे, आमन्त्रित करेगी। इसकी बैठक में वाइसराय सभापति रहेगा और इसके उद्देश्य युद्ध सचालन तथा युद्ध-कार्यों से सम्बन्धित प्रश्नों पर भारतीय लोकमत को सम्बद्ध करते रहेंगे।

उपरोक्त की आलोचना में एडवर्ड टॉमसन ने 'एनलिस्ट इण्डिया फौर फ्रीडम' नामक पुस्तक में लिखा है कि प्रथम का अर्थ पूर्व जैसी एक गोलमेज सम्मेलन करना हो सकता था, जिसकी कि अपमानजनक याद भारतीय भूले न थे। दूसरी बात अनावश्यक थी जैसा कि एक भारतीय सरकारी अधिकारी ने उसे बताया, 'हम इन परामर्शदात्री समूहों के बारे में सब जानते हैं। मैं एक ऐसे समूह का सदस्य हूँ जिसने अभी तीन दिन खोये हैं।' अवध की मुख्य कोर्ट के पुराने चीफ जस्टिस सर वजीर हसन ने लेखक से २१ अक्तूबर को कहा था—'भारतीय स्वतन्त्रता की समस्याओं के सम्बन्ध में ही नहीं वरन् बहुत से अन्तर्राष्ट्रीय संकटों के विषय में भी जिनका हल आक्रमण कर्त्ताओं के पक्ष में किया गया और जिनका ब्रिटिश सरकार की ओर से कोई विरोध न होने पर अन्त हो गया, मेरे अपने भाव तो ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के बारे में पूर्ण निराशा के है।'[8] जब वाइसराय के वक्तव्य

8 "We are not going to be caught in an unknown and dangerous adventure unless we know what the objective is and unless we can really control our policy. So long as we suspect the aims of the war are imperialistic we shall keep far away from it, and we shall thus serve not only ourselves but others who want to pull out this war from the fold—thus wrote Nehru......"

Thomson, E., *Enlist India for Freedom*, pp. 48–49.

पर पार्लियामेंट में वाद-विवाद हुआ तो ब्रिटिश सरकार गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी परिषद् में स्थायी विस्तार करके भारतीय जनमत को उसमें सम्बद्ध करने को तैयार हुई। परन्तु कांग्रेस कार्य समिति ने २२ अक्तूबर के प्रस्ताव में गवर्नर-जनरल के वक्तव्य को पूर्णतया असन्तोषप्रद बताया और उसने कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों को त्याग-पत्र देने का आदेश दिया। इस प्रकार युद्ध के प्रश्न पर ब्रिटिश सरकार की नीति के विरोध-स्वरूप कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों ने सहर्ष त्याग-पत्र दे दिये और ८ प्रान्तों में एक गम्भीर संवैधानिक गतिरोध उत्पन्न हो गया।

संवैधानिक गतिरोध को दूर करने के प्रयत्न—कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों ने त्याग-पत्र तो दे दिये, किन्तु कांग्रेस किसी प्रकार का संघर्ष चलाने की तनिक भी इच्छा न रखती थी, क्योंकि यूरोप की घटनायें साथी देशों के लिये बड़ी घातक हो सकती थीं। एक कारण और भी था, कांग्रेस के प्रति मुस्लिम लीग की शत्रुता से गम्भीर जटिलता पैदा हो गई थी। २२ दिसम्बर १९३९ को मुस्लिम लीग ने ८ प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों से छुटकारा पाने की खुशी में मुसलमानों से मुक्ति दिवस मनाने का आह्वान किया। इसके परिणामस्वरूप साम्प्रदायिक सम्बन्ध और भी बिगड़ गये। सन् १९४० की अप्रैल में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन रामगढ़ (बिहार) में हुआ। इस अवसर पर कांग्रेस ने फिर से घोषित किया कि भारतीय पूर्ण स्वतन्त्रता से कम कुछ भी स्वीकार न करेंगे। संविधान-निर्माण के लिये एक संविधान सभा की माँग की। उन दिनों यूरोप में युद्ध की स्थिति और भी बिगड़ गई और ब्रिटेन के सामने भयंकर संकट की सम्भावना आई। कांग्रेस इस सिद्धान्त में विश्वास न करती थी कि ब्रिटेन की कठिनाइयों को वह भारत के लाभ का अवसर समझे। अतः कांग्रेस ने केन्द्र में शीघ्र एक अस्थायी राष्ट्रीय सरकार, जो केन्द्रीय विधान-मण्डल के सभी निर्वाचित तत्वों की विश्वास-पात्र हो, बनाने की माँग रखी। जबकि यह दीखता था कि ब्रिटेन पर आक्रमण होने वाला है, ब्रिटिश सरकार ने ८ अगस्त १९४० को समझौते के लिये नये प्रस्ताव रखे।

८ अगस्त १९४० का प्रस्ताव—लार्ड लिनलिथगो ने अपने वक्तव्य में घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार भारतीयों की संविधान निर्माण सम्बन्धी माँगों से सहानुभूति रखती है और इस शर्त के अधीन माँग की पूर्ण अभिव्यक्ति देखने की इच्छा रखती है कि ब्रिटेन के भारत के साथ दीर्घकालीन सम्बन्ध से उत्पन्न हुये दायित्वों (obligations) की ब्रिटेन पूर्ति करेगा, क्योंकि ब्रिटिश सरकार उनके उत्तरदायित्व से नहीं बच सकती थी। अगस्त प्रस्ताव की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं :

(१) यद्यपि राष्ट्रीय एकता को रोकने वाले अन्तर (differences) अभी शेष हैं, फिर भी गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी परिषद् के विस्तार और युद्ध परामर्शदात्री परिषद् की स्थापना को अब आगे स्थगित नहीं किया जा सकता। (२) **अल्पसंख्यकों को आश्वासन**—ब्रिटिश सरकार

ने अपनी इस इच्छा को फिर से व्यक्त किया कि भारत में अल्पसंख्यकों की सम्मति को पूर्ण महत्व दिया जाये। सम्राट की सरकार किसी भी संवैधानिक परिवर्तन के बारे में ऐसी कल्पना नहीं कर सकती कि भारत में शान्ति और कल्याण के लिये ब्रिटेन के जो वर्तमान दायित्व है उन्हें किसी ऐसी शासन-पद्धति को हस्तांतरित किया जाये, जिसकी अधिकृत सत्ता (authority) को भारतीय राष्ट्रीय जीवन के बड़े और शान्तिपूर्ण तत्व स्वीकार न करें और न ब्रिटिश सरकार उन सत्वों पर ऐसी शासन सत्ता द्वारा किसी प्रकार की जबर्दस्ती में भागी हो सकती है। **(३) भारतीयों द्वारा अपना संविधान बनाने का अधिकार**—भारत की प्रतिरक्षा, अल्पसंख्यकों के अधिकारों, देशी रियासतों के साथ सन्धियों और भारत-मन्त्री की सेवाओं इत्यादि के प्रति ब्रिटिश सरकार के कर्त्तव्यों के अधीन भारतीयों को अपना संविधान बनाने की इच्छा के सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार ने कहा कि संविधान निर्माण मुख्यतः स्वयं भारतीयों की जिम्मेदारी होगी तथा भारतीय संविधान की उत्पत्ति भारतीय सामाजिक, आर्थिक एवं भारतीय जीवन की राजनीतिक रचना से होनी चाहिये। **(४) युद्ध समाप्ति पर संविधान सभा**—ऐसे समय में जबकि एक राष्ट्र (अर्थात् ब्रिटेन) अपने जीवन के लिये संघर्ष कर रहा है संवैधानिक प्रश्नों का निर्णय नहीं हो सकता, परन्तु युद्ध के उपरान्त भारतीयों की एक प्रतिनिधि सभा संविधान निर्माण के लिये बैठाई जायेगी तथा इस बीच में ब्रिटिश सरकार संविधान निर्मात्री सभा के रूप और कार्य प्रणाली के विषय में किसी भी प्रकार के समझौते पर पहुंचने के प्रत्येक प्रयत्न का स्वागत करेगी और उसमें सहायता देगी। **(५)** इस बीच में ब्रिटिश सरकार आशा करती है कि सभी दल और सम्प्रदाय युद्ध प्रयत्नों में सरकार को सहयोग प्रदान करेंगे और इस प्रकार साथ-साथ कार्य करने से भारत के लिये ब्रिटिश कॉमनवेल्थ में स्वतन्त्र व समान पद पाने के मार्ग को पक्का करेंगे।

उपरोक्त घोषणा ने भारत में कोई उत्साहपूर्ण प्रतिक्रिया पैदा नहीं की। इस योजना के मुख्य दोष ये थे—(१) इसमें समय की ऐसी सीमा निर्धारित न की गई थी, जिसके अन्दर भारत को उपनिवेश पद प्राप्त होता। (२) जबकि मुख्यतः स्वभाग्य-निर्णय का सिद्धान्त स्वीकार किया गया था यह स्वीकृति ऐसी शर्तों से घिरी हुई थी जिनके कारण यह पूर्णतया अवास्तविक बन गया था, क्योंकि उसमें ब्रिटेन के विभिन्न कर्त्तव्यों की पूर्ति की बात कही गई थी। (३) कार्यकारिणी परिषद् के विस्तार के सम्बन्ध में गवर्नर-जनरल और राजनीतिक दलों के नेताओं के बीच वार्तालाप की विफलता से भारतीयों के हृदय पर यह विचार जम गया था कि ब्रिटिश सरकार वास्तव में सत्ता हस्तांतरण नहीं करना चाहती।

श्री के० एम० मुन्शी के मतानुसार अगस्त प्रस्ताव द्वारा इन उद्देश्यों की प्राप्ति की आशा की जाती थी—(१) वाइसराय के मनचाहे शासन पर कार्यकारिणी परिषद् के विस्तार द्वारा उसे भारतीयता का रूप (facade) देना, (२) भारतीयों के हाथों में सत्ता हस्तांतरण न करने का उत्तरदायित्व काग्रेस और मुस्लिम लीग के आपसी मतभेदों पर डालना, और (३) भारत मे ऐसे तत्वो को प्रोत्साहित करके, जो राजनीतिक प्रगति का विरोध करते थे, एक प्रकार की विटो शक्ति देकर किसी भी प्रकार के समझौते पर पहुचना असम्भव बनाना। अत. अगस्त प्रस्ताव का प्रभाव निम्नलिखित रहा :

> ब्रिटिश सरकार ने केन्द्रीय सत्ता मे भारतीयों को साझी बनाने से इन्कार कर दिया और इसमें यह स्पष्ट सकेत था कि युद्ध के उपरान्त भी ब्रिटेन उन विभिन्न तत्वो के आपसी मतभेदो पर जोर देता रहेगा जिन्हें कि स्वय उसने उत्पन्न करके विकसित किया था। कूटनीतिक शब्दावली को हटाने पर यह स्पष्ट पता लगता था कि ब्रिटेन युद्ध काल मे तथा युद्ध के उपरान्त भी सत्ता हस्तातरण न करने के लिये दृढ निश्चित था। भारत बहुत समय तक भावी स्वतन्त्रता के वायदों पर धोखा खाता रहा था और अब उसकी पुरानी नीति के ऊपर विश्वास न कर सकता था। कूपलैंड यह बताना भूल गया था कि भारत मे एक मत न हो सकने की अयोग्यता पूर्णरूप से ब्रिटिश नीति का परिणाम था, जिसे ब्रिटेन ने केन्द्र में सत्ता हस्तातरण न करने के लिये अपनाया था।[9]

उपरोक्त उद्धरण अगस्त प्रस्ताव के प्रति मुख्यत काग्रेस के दृष्टिकोण को व्यक्त करता है। इसके विपरीत मुस्लिम लीग की प्रतिक्रिया सर्वथा भिन्न थी। लीग की कौंसिल ने विशेष रूप से अगस्त प्रस्ताव के उस भाग का स्वागत किया जिसकी काग्रेस ने निन्दा की थी, अर्थात् अल्पसख्यको को दिये गये आश्वासन का। परन्तु मुस्लिम लीग ने इस प्रस्ताव को स्वीकार अथवा अस्वीकार कुछ भी न किया। भारतीय उदार दली नेताओं ने ब्रिटिश सरकार से नीति का स्पष्टीकरण मांगा और यह भी मांग की कि भारत के लिये उपनिवेश पद शर्त-रहित हो तथा उसकी प्राप्ति के लिये समय की सीमा नियत की जाये। इस प्रकार काग्रेस के विरोधी दृष्टिकोण के कारण अगस्त प्रस्ताव निष्फल रहा। सन् १६४० मे मुस्लिम लीग का वार्षिक अधिवेशन लाहौर मे हुआ। इस अधिवेशन पर मुस्लिम लीग ने वह प्रस्ताव पास किया, जिसमें पाकिस्तान की मांग की गई थी। उस अवसर पर मि० जिन्नाह ने कहा :

> भारत की समस्या साम्प्रदायिक नहीं अन्तर्राष्ट्रीय है… हमारे सामने एक ही रास्ता खुला है कि हम भारत को स्वाधीन राज्यो मे विभक्त करके प्रमुख राष्ट्रों के लिये अलग गृह-देशों (Home-lands) का निर्माण करें।

9 Munshi, K. M., *Indian Deadlock*, pp. 59–7.

इस प्रकार आपसी समझौतो द्वारा अल्पसंख्यको के विषय मे मित्रतापूर्ण निपटारा होगा।' मि० जिन्नाह ने यह भी कहा कि मुसलमान 'राष्ट्र' शब्द की किसी भी परिभाषा से एक 'राष्ट्र' है और उनके अपने गृह-देश, राज्य सीमाये और राज्य होने आवश्यक है। इसके आगे उन्होंने कहा कि हिन्दुओ और मुसलमानो के दो भिन्न धार्मिक दर्शन, सामाजिक प्रथाये, और साहित्य है। इन दोनो राष्ट्रो को एक ही राज्य के अधीन बाधे रखना उसके लिये घातक होगा।

कांग्रेस देश के विभाजन के सर्वथा विरुद्ध थी; परन्तु ब्रिटिश सरकार यही कहती थी कि भारत के संविधान मे वह तभी कोई परिवर्तन कर सकेगी जब अल्पसंख्यको अर्थात् मुस्लिम लीग को भी वह स्वीकार हो। कांग्रेस के दृष्टिकोण की आलोचना करते हुये तत्कालीन भारतमन्त्री सर एल० एस० एमरी ने कहा था कि यदि कांग्रेसी नेता कांग्रेस को ऐसा राष्ट्रीय संगठन बना पाते जिसमे सभी सम्मिलित होते और यदि कांग्रेस भारतीय जीवन के सभी तत्वो की ओर से बोल सकती तो उनकी मागें चाहे कितनी बढी हुई क्यों न होती, तो ब्रिटेन के लिये समस्या बहुत भिन्न होती और उसको हल करना बहुत-सी बातो मे अधिक सरल होता।

सन् १९४० के नवम्बर मास मे कांग्रेस की ओर से एक अत्यन्त ही शान्तिपूर्ण व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन चलाया गया। उसका उद्देश्य युद्ध के प्रश्न पर कांग्रेस की नीति को न्यायोचित सिद्ध करना तथा किसी भी प्रकार से ब्रिटिश सरकार को युद्ध संचालन के कार्यो मे हानि पहुचाना न था। अतएव बहुत सोच-विचार के बाद छाटे गये कांग्रेसी सत्याग्रहियो को नियत समय और स्थान पर एक भाषण देना होता था। व्यवहार मे ये सत्याग्रही सभा के पूर्व ही बन्दी बना लिये जाते थे, क्योकि सभा की पूर्व सूचना सरकारी अधिकारियो को दे दी जाती थी। इस सत्याग्रह के प्रथम सत्याग्रही आचार्य विनोवा भावे थे। आन्दोलन कुछ माह तक अति शान्तिपूर्ण ढंग मे चला और हजारो सत्याग्रही बन्दी बने। ब्रिटिश सरकार ने जब यह देखा कि भारत के सम्प्रदायो के बीच कोई समझौता नही हुआ, उसने २२ जुलाई १९४१ को गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी परिषद् को विस्तृत करने के निश्चय को कार्यान्वित किया। परिषद् के विभिन्न विभागो में उलटफेर करके ५ नये विभाग बनाये गये और उन्हे भारतीय सदस्यों को सौंपा गया। वास्तव मे, अति महत्वपूर्ण विभाग जैसे—वित्त, गृह, व्यापार आदि यूरोपियन सदस्यों के ही अधीन पूर्ववत् बने रहे। इस अवसर पर नियुक्त किये गये ५ और पहले ३ भारतीयो को मिलाकर परिषद् के १३ सदस्यो मे अब ८ भारतीय हो गये। परिषद् के विस्तार को गवर्नर-जनरल ने वर्तमान और भविष्य के लिये बहुत ही महत्वपूर्ण बताया।[10] इस बीच

10 "The process of expansion, the transfer to non-official gentlemen of the highest standing and reputation in this country of great departments of State, with joint responsibility for all the business that comes before the

में जर्मनी ने सोवियत रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी थी, जिसके कारण युद्धस्थिति में एक बड़ा परिवर्तन हुआ। कांग्रेस की रूस और चीन के प्रति पहले ही सहानुभूति थी। ७ दिसम्बर १६४१ को जापान भी विश्व-युद्ध में कूद पड़ा। इन परिस्थितियों में भी जवाहरलाल नेहरू और श्री राजगोपालाचारी सरकार के साथ इस शर्त पर सहयोग करने को तैयार हुये कि देश में एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की जाये। कांग्रेस कार्यसमिति ने भी यह सम्मति प्रकट की कि अहिंसा की उच्च नीति सगठित हिंसा के मुकाबले में देश के लिये उपयुक्त न रहेगी। अतएव ३० दिसम्बर १६४१ को कार्यसमिति ने अपनी बारडोली की बैठक में महात्मा गांधी को कांग्रेस के नेतृत्व भार से मुक्त कर दिया। फिर भी उसने इस बात पर जोर दिया कि केवल स्वतन्त्र भारत ही देश की प्रतिरक्षा का दायित्व सभाल और युद्ध के तूफान का सामना कर सकता है। परन्तु मुस्लिम लीग ने, स्वतन्त्रता के प्रश्न पर बल देते हुये भारत को दो या अधिक प्रभुत्वपूर्ण राज्यों में विभाजित करने की माग की और अपनी शर्तों पर सरकार को अपना पूर्ण सहयोग प्रदान करने की भी बात कही।

इन्ही दिनों जापानी सेना तेजी से आगे बढ़ती हुई और सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्वी एशिया पर अपना आधिपत्य जमाती हुई वर्मा में आ पहुंची। परिणामस्वरूप युद्ध का खतरा भारत की पूर्वी सीमा के निकट आ पहुंचा। सुभाष चन्द्र बोस १६४१ में नजरबन्द थे, किन्तु अपने ही मकान पर। वह इस बीच में भेष बदलकर भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पार करके, जर्मनी होते हुये जापान पहुचे। वहां पर उन्होंने प्रवासी भारतीयों को सगठित किया, और जापान सरकार से भी उन्हें सैनिक तथा अन्य सहायता मिली। अतएव उन्होंने प्रवासी भारतीयों की एक सेना का निर्माण किया, जो आजाद हिन्द सेना कहलाई। सेना की कुछ टुकड़ियाँ जापानी सेना के आगे भारत की पूर्वी सीमा की ओर बढ़ रही थी। नेताजी का उद्देश्य इस सेना की सहायता से भारत को स्वतन्त्र करना था। इसका भारत की राजनैतिक स्थिति पर गहरा प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। इन परिस्थितियों में ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल ने भारत के साथ अन्तिम समझौता करने के विचार से भारतीय समस्या के हल हेतु अपने प्रस्तावों के प्रारूप के आधार पर सर स्टेफर्ड क्रिप्स को भारतीय नेताओं, मुख्यत कांग्रेस, के साथ समझौता करने के लिये भेजा।

४. क्रिप्स प्रस्ताव

सर स्टेफर्ड क्रिप्स ने जो प्रस्ताव मार्च १६४२ में भारतीय नेताओं के सामने रखे थे उन्हें युद्ध के उपरान्त नये संविधान के निर्माण तथा युद्धकालीन परिवर्तनों के सम्बन्ध में अग्र दो भागों में विभक्त किया जा सकता है.

Governor-General in Council was a step the significance of which is far greater than I sometimes think is realized. Its immediate importance is great. On the long term view it is likely to prove to be greater."

Lord Linnluing *speech at the Associated Chamber of Commerce, Calcutta Dec 16 1941.*

युद्ध के उपरान्त सम्बन्धी प्रस्ताव-(१) **ध्येय उपनिवेश पद**—भारत में स्वशासन की शीघ्रातिशीघ्र प्राप्ति के लिये ब्रिटिश सरकार का प्रस्ताव है कि एक नये भारतीय संघ की रचना के हेतु पग उठाए जायें। भारतीय संघ को पूर्ण उपनिवेश पद प्राप्त होगा और उसे इच्छानुसार ब्रिटिश कामनवेल्थ में सम्बन्ध विच्छेद की शक्ति भी प्राप्त होगी। (२) **संविधान निर्मात्री सभा**—युद्ध बन्द होने के तुरन्त बाद ही एक निर्वाचित सभा बैठाई जायेगी, जिसका मुख्य कार्य भारत के लिये नया संविधान बनाना होगा। इस संविधान निर्मात्री सभा का निर्वाचन आनुपाती प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार प्रान्तीय विधान सभाओं के सदस्यों द्वारा किया जायेगा और इस हेतु इन सभाओं के नये चुनाव कराये जायेंगे। इस संविधान निर्मात्री सभा में देशी रियासतों को भी अपने प्रतिनिधि भेजने के लिये आमन्त्रित किया जायेगा। संविधान सभा के सदस्यों की संख्या निर्वाचन मण्डल (electorate) की कुल संख्या का दशांश होगी। (३) **ब्रिटिश सरकार और नया संविधान**—इस संविधान निर्मात्री सभा द्वारा बनाये गये संविधान को ब्रिटिश सरकार निम्नलिखित शर्तों के आधीन स्वीकार करेगी और उसे व्यावहारिक रूप देगी—

(अ) **संघ में न सम्मिलित होने वाले प्रान्त (Non-acceding Provinces)**—जो प्रान्त नये संविधान को स्वीकार न करे उन्हें यह अधिकार होगा कि वे अपनी वर्तमान संवैधानिक स्थिति को स्थिर रखें और बाद में चाहने पर संघ में सम्मिलित हो सकें। यदि ऐसे प्रान्त आपस में सहमत हो जायें तो वे भी अपना संघ बना सकते हैं जिसे वही पद मिलेगा जो भारतीय संघ को; (आ) **भारत और ब्रिटेन के बीच संधि**—संविधान स्वीकृत हो जाने पर ब्रिटिश सरकार और भारतीय संविधान निर्मात्री सभा के बीच आपसी बातचीत द्वारा एक सन्धि की जायेगी, जिसमें ब्रिटिश हाथों से भारतीय हाथों में उत्तरदायित्वों को पूर्णतया हस्तांतरित किये जाने की व्यवस्था की जायेगी। इस सन्धि में धार्मिक व जातीय अल्पसंख्यकों की रक्षा के लिये ब्रिटिश सरकार के पूर्व वायदों के अनुसार विशेष रूप से व्यवस्था की जायेगी।

वर्तमान सम्बन्धी प्रस्ताव—उपरोक्त के अतिरिक्त वर्तमान के सम्बन्ध में अग्रलिखित प्रस्ताव रखे गये थे—(१) **ब्रिटिश सरकार का भारत की प्रतिरक्षा के लिये उत्तरदायित्व**—ब्रिटिश सरकार आवश्यक रूप से भारत की प्रतिरक्षा के लिये उत्तरदायी रहेगी और उसे विश्वव्यापी युद्ध के प्रयत्नों का अंश मानते हुये उस पर अपना नियन्त्रण व निर्देशन रखेगी। (२) ब्रिटिश सरकार स्वयं ही भारत के सैन्य, नैतिक और भौतिक साधनों को संगठित करेगी। (३) यह कार्य भारतीयों के सहयोग से किया जायेगा। ब्रिटिश सरकार भारत के प्रमुख वर्गों को अपने देश,

राष्ट्रमण्डल व साथी राष्ट्रों की परिषदों मे तुरन्त और प्रभावशाली भाग दिलाना चाहती है और इसके लिये उन्हें आमन्त्रित करती है। अन्त मे, ये प्रस्ताव आधारभूत सिद्धान्तो मे अपरिवर्तनशील बताये गये, जिन्हें पूर्ण रूप से स्वीकार अथवा अस्वीकार किया जा सकता था।

क्रिप्स प्रस्तावों की समालोचना—ब्रिटेन मे इन प्रस्तावो को भारतीय स्वतन्त्रता की घोषणा बताया गया, परन्तु वास्तव मे यह बात पूर्णतया असत्य थी। फिर भी इन प्रस्तावों द्वारा ब्रिटिश सरकार अगस्त १६४० के प्रस्तावों से कुछ आगे अवश्य बढ़ी थी जैसा कि अग्रलिखित बातो से स्पष्ट होगा—(१) इन्होंने भावी भारतीय संघ को ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से सम्बन्ध-विच्छेद करने की स्वतन्त्रता दी। (२) भारत के नये संविधान का निर्माण पूर्णतया भारतीय प्रतिनिधियो के हाथों मे सौपा जा रहा था यद्यपि ब्रिटेन द्वारा उसकी स्वीकृति कुछ शर्तों के आधीन होती। (३) जबकि अगस्त प्रस्ताव में भारतीय नेताओ को भारत के नये संविधान के सिद्धान्तो और उसके निर्माण के ढग पर विचार करने के लिये आमन्त्रित किया गया था, क्रिप्स प्रस्तावो में संविधान निर्मात्री सभा की योजना प्रस्तुत की गई। (४) ये प्रस्ताव अन्तर्कालीन सरकार के रूप के बारे मे भी अगस्त प्रस्तावों से कुछ आगे बढ़े। इन प्रस्तावों के सम्बन्ध मे कांग्रेस कार्यसमिति ने २ अप्रैल १६४२ को एक प्रस्ताव स्वीकार किया, जिसके महत्वपूर्ण अंश निम्नलिखित है—

> युद्ध के प्रति कांग्रेस का दृष्टिकोण—इसमे भाग लेने के लिये एक आवश्यक शर्त भारत की स्वतन्त्रता है, क्योंकि वर्तमान में स्वतन्त्रता की प्राप्ति से ही करोडो व्यक्तियों के हृदय में वह ज्वाला की ज्योति जगेगी जो उन्हे कार्य करने के लिये उत्साहित कर सकती है। केवल स्वतन्त्र भारत ही देश की प्रतिरक्षा का भार राष्ट्रीय आधार पर संभाल सकता है। क्रिप्स प्रस्तावो में भारत की भावी स्वतन्त्रता के साथ चुभने वाले प्राविधान व प्रतिबन्ध—संविधान सभा की रचना ऐसी होगी जिसमें जनता द्वारा स्वभाग्य निर्णय का अधिकार अप्रतिनिधिपूर्ण तत्वो द्वारा दूषित कर दिया गया है। देशी रियासतो की ६ करोड़ जनता का लेशमात्र भी ध्यान नही रखा गया है और उनके प्रति वस्तुओं जैसा व्यवहार किया गया है।
>
> **प्रान्तों को अलग रहने का अधिकार**—पहले से ही प्रान्तों के लिये संघ से अलग रहने के अधिकार को स्वीकार कर लेना भारतीय एकता पर एक गहरी चोट है और वैमनस्य का बीज है जिससे प्रान्तों मे कठिनाइयाँ बढेंगी और जिसके कारण यह भी कठिनाई आ सकती है कि देशी रियासतें संघ में सम्मिलित न हों। कांग्रेस भारतीय स्वतन्त्रता और एकता से बंधी है। फिर भी कार्य समिति किसी भाग की जनता को अपनी इच्छा के विरुद्ध संघ में सम्मिलित होने के लिये बल का प्रयोग

नहीं कर सकती।···प्रत्येक भूमिगत इकाई को भारतीय संघ में अधिकतम स्वाधीनता मिलनी चाहिये।

प्रतिरक्षा पर नियन्त्रण का प्रश्न—अभी तो ब्रिटिश सरकार के प्रस्ताव और अपूर्ण हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि उनके द्वारा वर्तमान ढांचे में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं होगा। यह कहा गया है कि हर अवस्था में भारत की प्रतिरक्षा के लिये ब्रिटिश सरकार उत्तरदायी रहेगी। समिति यह बात फिर से कहना चाहती है कि वर्तमान में भारतीयों द्वारा उत्तरदायित्व सम्भालने की एक आवश्यक शर्त यह है कि वे यह अनुभव करें कि वे स्वतन्त्र हैं और उन पर अपने देश की प्रतिरक्षा का भार है, अतएव वर्तमान में ही स्वतन्त्रता और पूर्ण उत्तरदायित्व मिलना चाहिये। इसके बिना ये प्रस्ताव अस्वीकार्य हैं।

उस अवसर पर जवाहरलाल नेहरू ने यह मत प्रकट किया था—'क्रिप्स प्रस्तावों का वास्तविक अर्थ यह है कि सरकार की वर्तमान बनावट पूर्णतया पूर्ववत् ही जारी रहेगी, वाइसराय की मनचाही शक्तियाँ स्थिर रहेंगी और हम में से कुछ उसके पीछे चलने वाले वर्दी पहने हुए सेवकों के समान होंगे और कैन्टीन आदि की देखभाल करेंगे।[4] कांग्रेस अपने लिए सत्ता नहीं चाहती, परन्तु हम चाहते हैं कि सम्पूर्ण भारतीय जनता स्वतन्त्रता व सत्ता प्राप्त करे। साम्प्रदायिक अन्तर बहुत सीमा तक ब्रिटिश शासकों द्वारा पैदा किये गये हैं। ब्रिटिश सत्ता हस्तान्तरण नहीं करना चाहती और सभी दलों ने क्रिप्स प्रस्तावों को अस्वीकार किया है। यह कहना कि महात्मा गांधी के विरोध के कारण कांग्रेस ने उन्हें अस्वीकार किया, पूर्णतया असत्य है। अधिकतर अन्य नेताओं की भांति उन्होंने भी उन्हें अस्वीकार किया है। यदि सम्पूर्ण राष्ट्र को भारत की प्रतिरक्षा के लिए तैयार करना है तो यह आवश्यक है कि भारतीयों को लड़ने के लिए कुछ मिले अर्थात् उनकी स्वतन्त्रता। भविष्य का कोई वायदा उन्हें प्रेरित नहीं कर सकता। वास्तव में, यही बात सबसे बड़े महत्व की थी। महात्मा गांधी ने इन प्रस्तावों के विषय में कहा था कि ये आगे की तारीख में भुनाया जा सकने वाला चैक (Post-dated

---

4 "The fact was that the British Government was not willing to transfer power whereas the Congress demanded a real and tangible advance towards complete independence. According to Mr. Sorenson, a member of the British Parliament, the Congress demanded "an initial pledge of complete responsibility for the formation of the Government. They felt that if they were to have a really responsible Central Government then, instead of the Viceroy acting as Prime Minister, they should have their own Prime Minister and that Prime Minister...should have the responsibility of forming a Government at the centre to act during the war period."

Chatterji, A, *The Constitutional Development of India: 1937—47* p, 93—4.

Cheque) था। इस वाक्यांश में किसी आलोचक ने ये शब्द और जोड़ दिये थे 'ऐसे बैंक के नाम जो टूटने वाला है।'

मुस्लिम लीग ने क्रिप्स प्रस्तावों के बारे में ११ अप्रैल को अपना निर्णय दिया। लीग कौंसिल ने इस बात पर सन्तोष प्रकट किया कि प्रत्यक्ष रूप से उसमें पाकिस्तान की स्थापना का सम्भावना स्वीकार को गई है, परन्तु खेद की बात है कि प्रस्तावों में कोई आधारभूत सुधार नहीं किया जा सकता। अतएव निम्नलिखित कारणों से ये प्रस्ताव स्वीकार्य नहीं—

(१) दो राष्ट्र एक संघ में नहीं रह सकते। मुसलमान सम्पूर्ण भारत के लिए एक ही संविधान सभा में भाग नहीं ले सकते। संविधान सभा में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व पृथक् निर्वाचन पद्धति द्वारा होना चाहिए, चूंकि संविधान सभा में निर्णय बहुमत द्वारा होंगे, इसलिए मुसलमान हिन्दुओं की दया पर निर्भर रहेंगे। प्रान्तों को संघ से अलग रहने का अधिकार प्राप्त नहीं है—(अ) प्रान्तों का इस प्रश्न पर निर्णय जानने का कोई सतोषजनक ढंग नहीं, (आ) प्रान्तीय विधान मण्डलों में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व अपर्याप्त है, सम्पूर्ण वयस्क जनसंख्या के जनमत (plebiscite) के मुस्लिम माँग विरुद्ध है। (३) देशी रियासतों को संघ में सम्मिलित होने अथवा न होने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। (४) भारत और ब्रिटेन के बीच संधि के प्राविधान अपर्याप्त हैं। (५) अन्तर्कालीन व्यवस्था के लिए कोई निश्चित प्रस्ताव नहीं है।

—:o:—

अध्याय ३

सत्ता का हस्तान्तरण

१. क्रिप्स प्रस्तावों की असफलता के उपरान्त

सर स्टैफर्ड क्रिप्स की असफलता के उपरान्त दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्ध पहले से भी अधिक बिगड़ गये। एक ओर भारतीयों के हृदयों में अंग्रेज शासकों के प्रति घृणा और कटुता बढ़ी और दूसरी ओर अंग्रेजों ने भारत के राष्ट्रवादियों को बदनाम करने के लिए अमरीका आदि देशों में यह झूठा प्रचार करना आरम्भ किया कि कांग्रेस व महात्मा गांधी का झुकाव धुरी शक्तियों की ओर था। इन परिस्थितियों में महात्मा गांधी ने विदेशी शासकों व देशवासियों के सामने एक नया विचार रखा।

भारत छोड़ो (Quit India)—महात्मा गांधी ने देशवासियों को एक नया नारा दिया 'अंग्रेजो भारत छोड़ो'। गांधी जी ने इस सुझाव को भारत ही नहीं अंग्रेजों के हित में भी बताया। महात्मा गांधी के इस सुझाव के आधारभूत सिद्धान्त का सार यह था—'भारत में ब्रिटिश शासकों का रहना जापान को भारत पर आक्रमण के लिए आमन्त्रण देना है। उनके भारत छोड़ने से यह आकर्षण हट जायेगा। भारत को ईश्वर के हाथों में छोड़ दो अथवा प्रचलित भाषा में अराजकता पर भारत को छोड़ दो। तदन्तर सभी दल आपस में या तो कुत्तों की तरह लड़ेंगे या जब वास्तविक उत्तरदायित्व उनके सामने होगा तो वे कोई न्यायोचित समझौता कर लेंगे।'[1] 'भारत छोड़ो' विषय पर गांधी जी के लेख और विचार 'हरिजन' तथा अन्य समाचार-पत्रों द्वारा व्यापक रूप से फैल गये। कांग्रेसी नेताओं ने सत्ता पाने के लिए एक अन्तिम और अति गम्भीर आन्दोलन की बात करनी आरम्भ की और उसके लिए संगठन को तैयार भी किया जाने लगा। भारत छोड़ो आन्दोलन अपनी चरम सीमा पर तब पहुंचा जबकि ८ अगस्त १९४२ को बम्बई में कांग्रेस महासमिति ने इस सम्बन्ध में अपना ऐतिहासिक प्रस्ताव स्वीकार किया जिसके महत्वपूर्ण अंशों का सार अग्रलिखित है—

---

1 "Leave India in God's hands or in modern parlance to anarchy, which may lead to internecine warfare for a time or to unrestrained dacoities. From these a true India will rise in place of the false one we see."

भारत में ब्रिटिश शासन का तुरन्त ही अन्त होना भारत तथा साथी देशों की सफलता के लिए अति आवश्यक है। इस शासन का जारी रहना भारत को निरन्तर गिरा रहा है और देश अपनी प्रतिरक्षा के लिए कमजोर होता जा रहा है। फासिस्टवाद के विरुद्ध सफलता पुराने उद्देश्यों, नीतियों व उपायों से चिपके रहने पर नहीं प्राप्त हो सकती। भारत की स्वतन्त्रता से ही ब्रिटेन और संयुक्त राष्ट्रों को आंका जायेगा। स्वतंत्र भारत इस सफलता को अवश्य प्राप्त कर सकेगा, क्योंकि यह अपने सभी साधनों को स्वतंत्रता के लिए तथा फासिस्टवाद, नाजीवाद और साम्राज्यवाद के आक्रमणों के विरुद्ध लगा देगा।...पराधीन भारत ब्रिटिश साम्राज्यवाद का चिन्ह बना हुआ है। परन्तु स्वतन्त्रता की प्राप्ति ही युद्ध के रूप को बदल सकती है, भावी वायदे नहीं। अतएव अखिल भारतीय कांग्रेस समिति अत्यधिक जोरदार शब्दों में भारत में ब्रिटिश सत्ता के हट जाने की मांग दोहराती है।

भारतीय स्वतन्त्रता की घोषणा पर एक स्थायी राष्ट्रीय सरकार बनेगी, जिससे सभी देश के प्रमुख दलों और समूहों का सहयोग प्राप्त हो। इसका प्रथम कर्तव्य भारत की प्रतिरक्षा करना होगा। यह एक संविधान सभा के लिये भी योजना निकालेगी। भारत का संविधान संघात्मक होगा, जिसमें इकाइयों को पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त होगी। भारत की स्वतन्त्रता के पीछे अन्य देशों व एशिया के राष्ट्रों की स्वतंत्रता आयेगी। भारत एक ऐसे विश्व संघ की सरकार की स्थापना के पक्ष में है जिसमें सभी स्वतन्त्र राष्ट्र सम्मिलित हों। ऐसे संघ की स्थापना के उपरांत निःशस्त्रीकरण व्यावहारिक हो।...यह समिति किसी भी प्रकार से चीन या रूस की प्रतिरक्षा को हानि न पहुंचाने के लिए चिन्तित है।... अतः ब्रिटेन और संयुक्त राष्ट्रों से फिर अपील करती है। यह मांग न माने जाने की अवस्था में समिति एक अत्यधिक व्यापक पैमाने पर महात्मा गांधी के नेतृत्व में अहिंसात्मक संघर्ष चलाने की विवश होकर आज्ञा देती है। यह भारतीयों से अपील करती है कि इस आन्दोलन का आधार अहिंसा हो और प्रत्येक व्यक्ति अपना मार्ग प्रदर्शन करे। जब भी सत्ता आयेगी वह सारी जनता की रहेगी।

जवाहरलाल नेहरू के मतानुसार उपर्युक्त संकल्प कोई धमकी न था। यह तो एक आमंत्रण और स्पष्टीकरण था। यह एक सहयोग करने का प्रस्ताव था। महात्मा गांधी ने चीन के तत्कालीन सर्वेसर्वा च्यांग काईशेक को भेजे गये अपने पत्र में लिखा था कि वे कोई पग जल्दबाजी में न उठायेंगे। परन्तु इस निश्चय के पास होने के तुरन्त बाद सरकार ने पहल किया और कांग्रेस के सभी बड़े नेताओं को बन्दी बना लिया। कांग्रेसी नेताओं व कार्यकर्ताओं की देशव्यापी गिरफ्तारियों

हुई और जनता के सभी नेता बन्दी बना लिए गये, किन्तु जनता ने सरकार की इस चुनौती का खुले विद्रोह द्वारा जवाब दिया। नेताओं की अनुपस्थिति में जनता ने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए अपूर्व उत्साह, त्याग और निर्भीकता का परिचय दिया। अनेक स्थानों पर विभिन्न प्रकार के क्रान्तिकारी कार्य किये गये, जिनमें तार काटना, रेलों की पटरी उखाड़ना इत्यादि मुख्य थे। सरकार का दमन-चक्र भी बड़े जोर से चला। सैंकड़ों स्थानों पर गोलियां चलाई गई। बहुत से नर और नारियों ने अपना जीवन बलिदान किया और बहुत बड़ी संख्या हताहत हुई। हजारों व्यक्तियों को बिना मुकदमा चलाये जेलों में बन्दी बनाया गया तथा उन्हें साधारण अपराधों व झूठे आरोपों के आधार पर अत्यधिक कठोर दण्ड दिया गया। कुछ स्थानों पर तो जनता के विद्रोह को शान्त करने के हेतु बमबारी तक की गई और कई क्षेत्रों से कुछ समय के लिये ब्रिटिश शासन का प्रायः अन्त ही हो गया। ऐसे समय में मुस्लिम लीग और साम्यवादी दल ने सरकार का साथ देकर देश के प्रति विश्वासघात किया। ई० डब्लू० आर० लम्बी ने मुस्लिम लीग की प्रतिक्रिया के बारे में लिखा है कि मि० जिन्नाह ने कांग्रेस की इस मांग की निन्दा की थी, जिसके अनुसार कांग्रेस वाइसराय की कार्यकारिणी परिषद् को एक मन्त्रिमण्डल का रूप देना चाहती थी और जिसके कारण क्रिप्स योजना विफल रही, क्योंकि कांग्रेस राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के नाम से सरकार पर अपना नियन्त्रण स्थापित करना चाहती थी जिसके फलस्वरूप मुसलमान और अन्य अल्पसंख्यक उसकी दया पर निर्भर रहते। अब लीग ने कांग्रेस के खुले विद्रोह की निन्दा की, क्योंकि सीधी कार्यवाही द्वारा कांग्रेस उसी उद्देश्य को प्राप्त करना चाहती थी, अतएव लीग ने सभी मुसलमानों से अपील की कि वे इस आन्दोलन से कोई सम्बन्ध न रखें। इस बीच में लीग ने ब्रिटिश सरकार को उसके युद्ध प्रयत्नों में मुसलमानों के पूर्ण सहयोग का आश्वासन दिया।[2]

लगभग दो वर्ष तक संवैधानिक गतिरोध को दूर करने के लिये कोई बातचीत अथवा प्रयत्न न हुआ। १३ फरवरी १९४३ को भारत सरकार ने एक पुस्तिका प्रकाशित की, जिसका नाम था 'सन् १९४२–४३ की अव्यवस्था के लिये कांग्रेस का उत्तरदायित्व' (**Congress Responsibility for the Disturbances, 1942–43**)। इसमें कांग्रेस और गांधी जी पर यह दोष लगाया गया था कि ९ अगस्त के बाद होने वाली व्यापक अव्यवस्था (गड़बड़) के लिये वे उत्तरदायी थे। १९ अप्रैल १९४२ के बाद दिये गये गांधी जी के भाषणों से अनेक उद्धरण देकर यह दिखाने का प्रयत्न किया गया था कि गांधी जी का आन्दोलन एक खुला विद्रोह था। नजरबन्दी की दशा में ही गांधी जी ने सरकार के आरोपों का उत्तर १५ जुलाई १९४३ को भेजा। उसके बाद भारत सरकार और गांधी जी के बीच पत्र-व्यवहार चला, जिसमें गांधी जी ने सरकार के आरोपों को गलत

2 Lumby, E. W. R., *Transfer of Power in India*, p. 33–4.

बताया और उल्टे सरकार पर आरोप लगाये तथा छानबीन के लिये एक निष्पक्ष न्यायाधिकरण बैठाने की माग की। सरकार ने इस बात पर जोर दिया कि जब तक अगस्त प्रस्ताव वापिस नही लिया जाता सरकार कोई पग न उठा सकेगी। उसके जवाब में गाधी जी ने कहा कि ऐसा निर्णय तो केवल अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ही ले सकती है। फिर भी सन् १९४४ मे गाधी जी को कारामुक्त किया गया। उन्होने छूटने के बाद शीघ्र ही मि० जिन्नाह से बम्बई मे उन्ही के निवास स्थान पर हिन्दू-मुस्लिम समझौते के लिये कई दिन तक वार्ता की जिसका आधार श्री राजगोपालाचारी का यह फार्मूला था . स्वतन्त्र भारत के सविधान के बारे में नीचे लिखी शर्तों के आधीन मुस्लिम लीग भारत के लिये स्वतन्त्रता की माग का अनुमोदन करती है और यह सक्रमणकाल के लिये अस्थायी सरकार निर्माण कार्य मे काग्रेस से सहयोग करेगी .

(१) युद्ध के उपरान्त भारत के उत्तर-पूर्व तथा उत्तर-पश्चिम मे मुस्लिम बहुसख्यक प्रदेशो की सीमा निश्चित करने के लिये एक आयोग नियुक्त किया जायेगा। इन प्रदेशो मे वयस्क अथवा अन्य व्यावहारिक मताधिकार के आधार पर भारत से अलग होने के प्रश्न पर जनमत कराया जायेगा। यदि बहुसख्या भारत से अलग एक प्रभुसत्तापूर्ण राज्य बनाने के पक्ष मे हुई तो उसके निर्णय को कार्यान्वित किया जायेगा; परन्तु सीमा स्थित जिलो को भारत या नये राज्य मे सम्मिलित होने का निश्चय करने का अधिकार रहेगा। (२) जनमत से पूर्व सभी दलों को अपने-अपने दृष्टिकोण का प्रचार करने की स्वतन्त्रता होगी। (३) यदि पृथक्करण हुआ तो दोनो राज्यो के बीच प्रतिरक्षा, व्यापार, सचार तथा अन्य ऐसे ही आवश्यक प्रयोजनो के लिये आपसी समझौते किये जायेंगे। (४) जनता का एक राज्य से दूसरे राज्य मे जाकर बसना उनकी स्वेच्छा पर निर्भर करेगा। (५) ये शर्ते तभी लागू होगी जबकि ब्रिटेन भारत को पूर्ण सत्ता सौप देगा।

निर्दल सम्मेलन (No-Party Conference)—गांधी-जिन्नाह वार्ता विफल रही और जनता मे फिर निराशा छा गई। उसके उपरान्त उसी वर्ष निर्दलीय नेताओं का एक सम्मेलन हुआ और उसने एक समिति बैठाई जो सप्रू समिति कहलाई। इस समिति में कई उच्च देशभक्त व विचारशील व्यक्ति सदस्य थे। इस समिति ने क्रिप्स प्रस्तावो के सम्बन्ध मे मुस्लिम लीग की पाकिस्तान के लिये मांग और प्रान्तों को भारतीय सघ से अलग रह सकने का अधिकार दिये जाने को अस्वीकार किया; किन्तु उन प्रस्तावो के संविधान निर्माण सम्बन्धी अश को इन सुधारों के साथ स्वीकार किया—(१) सविधान निर्मात्री सभा की कुल सदस्य सख्या १६० रहे और स्थानो का वितरण इस प्रकार हो—हिन्दू ५१, मुसलमान ५१, अनुसूचित जातियां २०, विशेष हित १६, सिक्ख ८ और भारतीय ईसाई ७, पिछड़े

हुये क्षेत्र और जन जातियाँ ३, आंग्ल भारतीय २, यूरोपियन १, पारसी १। इस प्रकार इसने सवर्ण हिन्दुओं और मुसलमानों के समान प्रतिनिधित्व (Parity of Representation) का नया विचार दिया जिसमें कि साम्प्रदायिक एकता बढ़े; परन्तु इसके साथ ही संयुक्त निर्वाचन प्रणाली की व्यवस्था पर बल दिया। (२) संविधान में मूल अधिकारों की विस्तृत घोषणा को सम्मिलित किया जाय यथा व्यक्ति की स्वतन्त्रतायें, प्रेस और संघ की स्वतन्त्रता, सभी नागरिकों को बिना किसी भेदभाव के समान नागरिक अधिकार, (३) पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता और (४) सभी सम्प्रदायों की भाषाओं और संस्कृति की रक्षा। इस प्रकार के अधिकारों का संविधान में परिगणन करना अति आवश्यक व देश हित में ही होता।

इस समिति ने संघीय विधानमण्डल के निचले सदन एसेम्बली में भी मुसलमानों और सवर्ण हिन्दुओं को समान प्रतिनिधित्व देने का प्रस्ताव रखा। इसने देश में विरोध का तूफान खड़ा कर दिया। सप्रू समिति की सिफारिश के अनुसार १५ करोड से अधिक सवर्ण हिन्दुओं को ८ करोड मुसलमानों के बराबर राजनैतिक अधिकार मिलते, इस प्रकार का अप्रजातान्त्रिक अधिकार एक समुदाय को दूसरे की कीमत पर दिया जाना न्यायोचित न था, साथ ही इससे मुसलमानों का हठीलापन और भी बढ़ता। जहाँ तक संघीय कार्यपालिका का सम्बन्ध है सप्रू समिति ने ये सुझाव दिये—(१) संघीय विधानमण्डल के प्रमुख तत्वों का मिला-जुला मन्त्रिमण्डल बने जो ब्रिटिश संसदीय प्रणाली के अनुसार उत्तरदायी हो या (२) व्यवहार में स्विस नमूने की कार्यपालिका बने। यदि पहले प्रकार के मिले-जुले मन्त्रिमण्डल की व्यवस्था सफल न हो तो फिर बाद में संघ तथा प्रान्तों दोनों में ही स्विस ढग की कार्यपालिकायें बनें। उन परिस्थितियों में एक दलीय मन्त्रिमण्डल का रहना सैद्धान्तिक दृष्टि से तो सर्वथा उचित था, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उसमें कठिनाइयाँ रहती—ऐसा स्वीकार किया जा सकता है। अन्त में, इस योजना का सबसे बड़ा दोष यह था कि संविधान सभा के बहुत से निर्णय ¾ के बहुमत से बँधे होते और यदि उन मामलों पर आवश्यक बहुमत एक या दूसरी ओर न होता तो ब्रिटिश सरकार के पंचाट (award) को स्वीकार किया जाता। इस समिति की सिफारिशों का किसी भी प्रमुख दल ने स्वागत न किया फिर भी समान प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त नेताओं के मन में घूमने लगा।

भूलाभाई देसाई-लियाकत पैक्ट—सन् १९४५ के अन्त तक युद्ध में साथी देशों ने अफ्रीका व यूरोपीय रणक्षेत्रों पर विजय पाली थी। अब ऐसा समय आ रहा था जबकि ब्रिटेन भारत के संवैधानिक विकास की समस्या पर ध्यान दे सकता था। देश के कुछ कांग्रेसी नेताओं में संवैधानिक गतिरोध का अन्त करने की चिन्ता थी। तत्कालीन केन्द्रीय एसेम्बली में कांग्रेस व मुस्लिम लीग दलों के नेताओं—भूलाभाई देसाई व लियाकत अली खाँ—के बीच एक प्रकार का समझौता हुआ। उसका सार यह था कि केन्द्र में एक **अस्थायी राष्ट्रीय सरकार** (Provisional

National Government) बनाई जाय जिसका आधार कांग्रेस व मुस्लिम लीग के बीच समान प्रतिनिधित्व हो अर्थात् दोनों में से प्रत्येक दल को ४० प्र० श० स्थान मिलें और शेष २० प्रतिशत स्थान अन्य दलों को दिये जायें जबकि इस पैक्ट के अनुसार केन्द्रीय सरकार सन् १९३५ के कानून के अन्तर्गत ही रहकर कार्य करती, किन्तु कांग्रेस और लीग में यह समझौता रहता कि कोई भी विधेयक गवर्नर-जनरल की शक्ति द्वारा लागू न किया जायगा यदि उसे सदन पास न करे। इस प्रकार *गवर्नर-जनरल की प्रतिषेध शक्ति को हटाने और सरकार को निर्वाचित विधान-मण्डल के प्रति उत्तरदायी बनाने की योजना सोची गई थी।*[3] परन्तु इस प्रकार की सरकार का निर्माण तभी हो सकता था जबकि सरकार भारतीयों को कुछ वास्तविक सत्ता सौंपने को तैयार होती। अतएव इसका भी कोई फल न निकला।

२. वेवेल योजना

१९४५ के आरम्भ में भारतीय सेना के भूतपूर्व सर्वोच्च सेनापति लार्ड वेवेल को ब्रिटिश सरकार ने भारत का गवर्नर-जनरल नियुक्त किया। ब्रिटिश साम्राज्य में यह सर्वोच्च पद उन्हें उत्तरी अफ्रीका में शत्रुओं पर विजय पाने के फलस्वरूप दिया गया था। नये गवर्नर-जनरल ने कार्य-भार सभालने के कुछ ही दिन बाद संवैधानिक गतिरोध को दूर करने के लिये प्रयत्न करना आरम्भ किया। वह इस सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार से परामर्श करने के लिये लन्दन गये। १४ जून को वहाँ से वापस आने पर उन्होंने अपने रेडियो द्वारा प्रसारित भाषण में घोषित किया कि ब्रिटिश सरकार ने उन्हें भारतीय नेताओं के सामने गतिरोध को दूर करने तथा भारत को स्वशासन के पथ पर आगे बढाने के उद्देश्य से कुछ प्रस्ताव रखने का अधिकार दिया है। यह बात स्पष्ट की गई है कि ब्रिटिश सरकार का इरादा भारत में कोई भी ऐसा परिवर्तन न करने का है जो प्रमुख भारतीय सम्प्रदायों की इच्छा के विरुद्ध हो, परन्तु ब्रिटिश सरकार इस बात के लिये तैयार थी कि यदि भारतीय राजनैतिक दल उनके सुझावों को मानकर जापान के विरुद्ध युद्ध को सफलतापूर्वक अन्त तक ले जाने तथा विजय के उपरान्त भारत के पुनर्निर्माण में सहयोग देने को उद्यत हों तो अन्तरिम काल में भी कोई पग आगे बढाया जा सकेगा। इस उद्देश्य

3 The following steps were proposed to be taken to end the political deadlock: "The Congress and the League would agree that they wauld join in forming an Interim Government in the centre consisting of (a) equal numbers of persons nominated by the Congress and the League in the Central Legislature, (b) representatives of the minorities, and (c) the Commander-in-Chief. While the Government would be formed and would function within the framework of the existing Government of India Act, it would be clearly understood between the Congress and League that any measure not passed by the House *should not be enforced or sought to be enforced by any of the* powers of the Governor-General. This would serve to eliminate in action the vote of the Governor-General and make the nominees responsible to the elected legislature."

मे ब्रिटिश सरकार गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी परिषद् की रचना में एक महत्व-पूर्ण परिवर्तन करने को तैयार है। प्रस्ताव रखा गया कि परिषद् का पुनर्निर्माण किया जाय और गवर्नर-जनरल भविष्य मे परिषद के सदस्यो को ताज द्वारा नामजद कराने के लिये भारत के केन्द्रीय व प्रान्तीय राजनैतिक जीवन के नेताओ मे से इस अनुपात मे छाटे कि उनमे प्रमुख सम्प्रदायो को सन्तुलित प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। इसमे सवर्ण हिन्दुओ व मुसलमानो के प्रतिनिधित्व की सख्या समान होनी न कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग की, जैसा कि भूलाभाई–लियाकत समझौते मे तय हुआ था। अतएव गवर्नर-जनरल ने भारतीय नेताओ को कार्यकारिणी परिषद् के पुनर्निर्माण के विषय मे परामर्श करने के हेतु आमन्त्रित करने का प्रस्ताव रखा। परिषद् मे गवर्नर-जनरल और सर्वोच्च सेनापति को छोड़ सभी सदस्य भारतीय होने थे, यहां तक कि परराष्ट्र-सम्बन्ध विभाग भी किसी भारतीय सदस्य के अधीन रहना।

एक दूसरा पग यह उठाया जाना था कि भारत मे ब्रिटेन का हाई कमिश्नर नियुक्त किया जाना। परिषद् को अपने कार्य वर्तमान सविधान के अन्तर्गत रहकर ही करने अर्थात् गवर्नर-जनरल की उसके निर्णयो को न मानने (Veto) की शक्ति बनी रहनी, परन्तु यह कहा गया था कि गवर्नर-जनरल अपनी इस शक्ति का प्रयोग ऐसे ढग से न करेगा जो न्यायोचित न ठहराया जा सके। पुनर्निर्मित परिषद् के मुख्य कृत्य अग्रलिखित होने—(१) जापान के विरुद्ध जब तक कि वह पराजित हो युद्ध का सचालन पूर्ण शक्ति से करना। (२) ब्रिटिश भारत के शासन को जब तक कि नया सविधान बनकर लागू हो, चलाना। (३) जब भी सरकार के सदस्य समझें कि समझौता सम्भव है, वे स्थायी सविधान के प्रश्न पर विचार करें। यह कार्य सबसे अधिक महत्वपूर्ण होगा। गवर्नर-जनरल ने अपने वक्तव्य मे यह भी स्पष्ट किया था कि यदि इस उद्देश्य के लिये बुलाया गया शिमला सम्मेलन असफल रहा तो वर्तमान पद्धति ही जारी रहेगी। साथ ही इन प्रस्तावो का देशी रियासतो पर कोई प्रभाव न पड़ा। शिमला सम्मेलन की सफलता के लिये यह आवश्यक था कि कांग्रेस के उच्च नेताओं को कारामुक्त किया जाय, अतएव ऐसे आदेश दिये गये।

वैवेल प्रस्तावों का देश के सभी राजनैतिक दलो ने स्वागत किया। कांग्रेस कार्यसमिति ने नये प्रस्तावा पर विचार किया। जनता के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझते हुये समिति भी उनकी स्वीकृति के पक्ष मे ही दिखाई पडती थी। परन्तु गांधी जी ने इन प्रस्तावो के विरुद्ध यह आक्षेप रखा कि इनमे सवर्ण हिन्दू (**Caste Hindus**) और अन्य हिन्दू का अन्तर किया गया तथा नव निर्मित होने वाली परिषद् मे साम्प्रदायिक आधार पर समानता रखी जानी थी। मुस्लिम लीग ने भी कुछ बातो पर स्पष्टीकरण चाहा, विशेष रूप मे अन्य सम्प्रदायों के प्रतिनिधियों

की ठीक-ठीक संख्या के बारे में। फिर भी प्रमुख दलों के नेताओं ने शिमला सम्मेलन में भाग लेने का निश्चय किया।

शिमला सम्मेलन—जुलाई १९४५ के आरम्भ में शिमला सम्मेलन आयोजित हुआ। सम्मेलन ने वेवेल प्रस्तावों में अन्तरिम सरकार के निर्माण सम्बन्धी साधारण सिद्धान्तों को स्वीकार किया। कांग्रेस ने अपने कुछ सिद्धान्तों को त्याग कर भी समझौते के लिये तत्परता दिखाई और एकमात्र राष्ट्रीय संगठन होने के दावे तक को छोड़ने का निश्चय किया। परन्तु मुस्लिम लीग ने अपने इस दावे को नहीं छोड़ा कि नई परिषद् में सभी मुस्लिम सदस्यों को नामजद करने का अधिकार केवल उसे ही हो। कांग्रेस अपने को राष्ट्रीय संगठन के स्थान पर साम्प्रदायिक संगठन कहलाना कभी पसन्द न कर सकती थी। अतः कांग्रेस इस बात पर अड़ी रही कि अपने द्वारा नामजद सदस्यों की सूची में वह एक मुसलमान का नाम अवश्य ही सम्मिलित करेगी। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि कांग्रेस के इस दावे का समर्थन गैर-लीगी मुस्लिम नेताओं ने भी किया, जिनमें कि पंजाब के मुख्य मंत्री सर खिजर हयात खाँ भी थे। कांग्रेस डा० जाकिर हुसैन जैसे प्रख्यात विद्वान को अपनी सूची में सम्मिलित करना चाहती थी और इसके परिणामस्वरूप मुसलमानों को एक अतिरिक्त प्रतिनिधि मिलता। परन्तु मुस्लिम लीग के नेताओं ने इस बात को स्वीकार न किया। जब गवर्नर-जनरल ने स्वयं भी यह कहा कि वह मुस्लिम लीग को ही सभी मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था नहीं स्वीकार कर सकते तो मि० जिन्नाह ने उनके प्रस्ताव अस्वीकार कर दिये। अन्त में सम्मेलन की असफलता की घोषणा स्वयं लार्ड वेवेल ने १५ जुलाई को की। सम्मेलन इस कारण से असफल रहा कि वेवेल ने परिषद् के पुनर्निर्माण के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव (नामों की सूची) रखा उसे भी मि० जिन्नाह ने अस्वीकार कर दिया। परन्तु वाइसराय ने सम्मेलन की असफलता के लिये अत्यन्त खेद प्रकट करते हुये उसकी असफलता का पूर्ण उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया।

सम्मेलन की समाप्ति पर मौ० अबुलकलाम आजाद ने, जो उस समय कांग्रेस के प्रधान थे, प्रेस सम्मेलन में बताया कि सम्मेलन की असफलता मुस्लिम लीग के हठपूर्ण रुख के कारण हुई।[४] बात यह थी कि जब मुस्लिम लीग ने वाइसराय के

---

4 "In the course of these informal talks the position taken up by Mr. Jinnah was that the Muslim League alone should nominate Muslim members in the new Executive Council, and that Congress would have no right to nominate any Muslim. The Congress found that such a position would be inconsistent with its basic national character. It was not merely a question of seats, but one affecting a fundamental principle. We were prepared to accomodate the Muslim League to the farthest possible extent, but Mr. Jinnah took up an uncompromising attitude."

Azad, Maulana A. K., *India Wins Freedom*, p. 115.

और एक बार फिर से प्रबल लोकमत विदेशी प्रशासन के विरुद्ध उठा। उन्ही दिनों पार्लियामेंट का एक शिष्टमण्डल, जिसमें प्रमुख राजनीतिक दलो के प्रतिनिधि सम्मिलित थे, भारत आया। उसका भारत में आने का उद्देश्य भारतीय समस्या का अध्ययन करना तथा तथ्यों का पता लगाना था। शिष्टमण्डल ने देश के विभिन्न भागो और नगरों का दौरा किया और अनेक व्यक्तियो से भेंट की। कुछ दिन के दौरे के पश्चात शिष्टमण्डल वापस लौट गया। उसके आने से भारतीयो के हृदय में संवैधानिक समस्या के सफल हल के बारे में फिर आशाएं उत्पन्न हुई।

पार्लियामेंटरी शिष्ट-मण्डल के चले जाने के उपरात १६ फरवरी १६४६ को सामुद्रिक सेना की विभिन्न टुकडियो मे एक प्रकार का विद्रोह हुआ। यह इस बात का सूचक था कि अब ब्रिटिश सरकार भारतीय सेना की सहायता से भारत पर अपनी सत्ता जारी न रख सकती थी, अतएव उसके लिये भारत छोडने का समय निकट आ गया था। अगले ही दिन ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री मेजर एटली ने एक महत्वपूर्ण घोषणा की। प्रधान मन्त्री ने अपनी घोषणा में भारत के स्वतन्त्र होने के अधिकार को माना और अपनी सरकार के इस दृढ निश्चय को व्यक्त किया कि वह भारतीयो की स्वतन्त्रता प्राप्ति मे सहायक होगी। इस घोषणा का सबसे अधिक महत्वपूर्ण अश वह था जिसके द्वारा प्रधान मन्त्री ने यह स्पष्ट किया कि उनकी सरकार किसी भी भारतीय अल्पसख्यक समुदाय को, वह कितना भी महत्वपूर्ण क्यों न हो, भारत की संवैधानिक प्रगति को रोकने का अधिकार न देगी, अर्थात किसी अल्पसख्यक सम्प्रदाय को 'विटो' का अधिकार न मिलेगा। भारतीय संवैधानिक समस्या का शीघ्र हल निकालने के उद्देश्य से प्रधान मन्त्री ने ३ सदस्यों के एक मंत्रिमण्डल मिशन को भारत भेजने की भी घोषणा की। उस मिशन के सदस्य ये थे—सर स्टेफर्ड क्रिप्स, लार्ड पैथिक लारेंस (तत्कालीन भारत मंत्री) और मिस्टर ए० वी० एलेक्जेण्डर। ब्रिटिश लोक सभा मे १५ मार्च को दिये गये भाषण में ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ने कहा .

"मुझे पूर्ण विश्वास है कि वर्तमान समय में राष्ट्रवाद का ज्वार भारत में ही नही वरन् सम्पूर्ण एशिया मे अधिक तेजी से बढ रहा है। वास्तव मे, मंत्रिमण्डल के सदस्यो को भारत भेजने का स्पष्ट कारण यह है कि ऐसे जिम्मेदार व्यक्तियो को भेजा जाय कि जो स्वय निर्णय कर सकें। यदि भारत ने कामनवेल्थ मे रहने का निर्णय किया तो यह निर्णय उसकी स्वतंत्र स्वेच्छा से होना चाहिये। कॉमनवेल्थ स्वतंत्र राष्ट्रो का एक स्वतंत्र सघ है। यदि दूसरी ओर भारत पूर्ण स्वतंत्रता के पक्ष मे निर्णय करता है तो हमारे मत मे उसे ऐसा करने का अधिकार है। हमारे लिये यह उचित होगा कि हम सक्रमण-काल मे होने वाले परिवर्तनो को सुगमतापूर्वक होने मे सहायता प्रदान करें। हमे अल्पसख्यको का बहुत ध्यान है और हम चाहते है कि अल्पसख्यक भय से मुक्त होकर रह सकें।

परन्तु दूसरी ओर हमे किसी अल्पसंख्यक सम्प्रदाय को बहुसंख्यक सम्प्रदाय की प्रगति पर 'विटो' का अधिकार नही दे सकते" ।[5]

३. केबिनेट मिशन योजना

मार्च १९४६ मे केबिनेट मिशन भारत पहुंचा और शीघ्र ही उसने दिल्ली मे प्रमुख दलो के नेताओ से वार्तालाप करनी आरम्भ की। सदस्यों ने यही प्रयत्न किया कि काग्रेस और मुस्लिम लीग मे कोई समझौता हो जाये। कुछ दिन बाद त्रिदलीय सम्मेलन शिमला मे चला। काग्रेस अपने असाम्प्रदायिक आधार को छोड़ने को तैयार न थी और मुस्लिम लीग ने अपने इस दावे पर बल दिया कि वह मुसलमानो की एकमात्र प्रतिनिधि सस्था थी, अत आन्तरिक सरकार के निर्माण के बारे मे कोई समझौता न हो सका, क्योकि काग्रेस अपनी ओर से दिये जाने वाले नामो की सूची मे मुस्लिम प्रतिनिधि भी सम्मिलित करना चाहती थी और मुस्लिम लीग के नेता मि० जिन्नाह किसी भी प्रस्ताव से सन्तुष्ट न हुये। यद्यपि केबिनेट मिशन दोनो प्रमुख दलो मे कोई समझौता न करा सका फिर भी शिमला सम्मेलन निष्फल न रहा, क्योकि उसके उपरान्त ही केबिनेट मिशन ने अपनी ओर से १६ मई १९४६ का प्रसिद्ध वक्तव्य प्रकाशित किया, जिसमे भारतीय गतिरोध को सुलझाने के लिये उसने अपने सुझावो का समावेश किया था। यह बड़े सौभाग्य की बात थी कि मिशन की योजना को आरम्भ मे दोनो प्रमुख दलो ने स्वीकार कर लिया। केबिनेट मिशन के वक्तव्य मे कहा गया था कि उन्होने मुस्लिम लीग की पाकिस्तान सम्बन्धी मॉग पर विचार किया, परन्तु वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि इससे साम्प्रदायिक समस्या हल न होगी और न ही वे यह न्यायोचित समझते थे कि पजाब, बगाल और असम के उन जिलो को, जिनमे हिन्दुओ की बहुसख्या थी, किसी प्रकार प्रभुसत्तापूर्ण पाकिस्तान राज्य मे सम्मिलित किया जाये। उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि भौगोलिक दृष्टि से भारत एक अखण्ड राज्य था।

इसके अतिरिक्त मिशन की राय मे अन्य महत्वपूर्ण बातें—प्रशासनिक, आर्थिक और सैनिक भी विचारणीय थी। काग्रेस ने एक ऐसी योजना का सुझाव दिया था जिसके अन्तर्गत प्रान्तो को पूर्ण स्वायत्तता (full autonomy) प्राप्त होती और केन्द्र के हाथ मे कम से कम विषय तथा वैदेशिक मामले, प्रतिरक्षा और

5 His main points were · (1) Cabinet Mission would make "the utmost endeavours to help India to attain the freedom as speedily and fully as possible", and (2) India must decide for herself, whether to remain in the Commonwealth or not He added · "But if she does so elect, it must be by her own free will The British Commonwealth and Empire is not bound together by chains of external compulsion. It is a free association of free peoples. If, on the other hand, she elects for independence, in our view she has a right to do so It will be for us to help to make the transition as smooth and easy as possible."

संचार रहते । उस योजना के अन्तर्गत, यदि प्रान्त बड़े पैमाने पर होने वाले आर्थिक और प्रशासनिक नियोजन में भाग लेना चाहते तो वे केन्द्र को अन्य ऐच्छिक विषय सौंप सकते थे । केबिनेट मिशन की राय मे वह योजना भी अनेक संवैधानिक कठिनाइयों और पेचीदगियों से पूर्ण थी । भारत की देशी रियासतों के विषय मे मिशन ने यह मत व्यक्त किया 'स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त ब्रिटिश ताज और देशी शासकों के बीच वे सम्बन्ध कायम न रह सकेंगे जो कि उस समय तक थे । ब्रिटेन अधिराजसत्ता (paramountcy) को न तो स्वयं रख सकेगा और न उसे नई सरकार को हस्तान्तरित कर सकेगा ।[6] केबिनेट मिशन ने कांग्रेस की उस योजना पर भी विचार किया जिसके अनुसार कांग्रेस एक भारतीय संघ बनाना चाहती थी, परन्तु केन्द्रीय संघ और स्वाधीन प्रान्तों के बीच कांग्रेस किसी भी प्रकार के प्रादेशिक संघ अथवा कुछ सामान्य प्रयोजनों के हेतु समूह संविधान के विरुद्ध थी । इसके आगे केबिनेट मिशन ने अपने उन प्रस्तावों को रखा जो उसके मत मे सभी दलों के आवश्यक दावों के प्रति न्यायपूर्ण थे । उसने निम्नलिखित सिफारिशें की :

(१) सम्पूर्ण भारत का, जिसमे ब्रिटिश भारत और देशी रियासते सम्मिलित है, एक संघ होना चाहिये । संघ को केवल वैदेशिक मामलो, प्रतिरक्षा व संचार के विभागो के साथ उनके प्रशासन के हेतु आवश्यक धनराशि प्राप्त करने की शक्तियाँ प्राप्त होनी चाहियें । (२) भारतीय संघ की अपनी कार्यपालिका हो और विधान-मण्डल भी । दोनो में ब्रिटिश भारत और देशी रियासतो के प्रतिनिधि सम्मिलित हों । (३) साम्प्रदायिक प्रश्नों पर अन्तिम निर्णय केवल सदन मे उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यो के बहुमत से ही नही वरन् दोनो प्रमुख सम्प्रदायों के उपस्थित और मतदान करने वाले प्रतिनिधियो के पृथक्-पृथक् बहुमत से हो । सभी विषय और अवशिष्ट शक्तियाँ प्रान्तों को सौंपी जायें । भारतीय रियासतें उन सब विषयों और अधिकारों को अपने आधीन रखेंगी जिन्हें वे संघ को न सौंपेंगी । (५) प्रान्तों को अपने पृथक् समूह बनाने की स्वतन्त्रता हो । समूहो के संविधानो मे पृथक् कार्यपालिकायें और विधान-मण्डल बनाने की व्यवस्था हो और प्रत्येक समूह को उन सामान्य विषयों के निर्धारण का अधिकार हो जिन्हे समूह विशेष में सम्मिलित प्रान्त, समूह के हाथों मे छोड़ने को तैयार हों । (६) भारतीय संघ और प्रान्तीय समूहों के संविधानों मे इस प्रकार की व्यवस्था होनी चाहिये कि उसके द्वारा कोई भी प्रान्त अपनी विधान

6 The Mission concluded this part of their statement with the categorical observation : "We are, therefore, unable to advise the British Government that the power which at present resides in British hand should be handed over to two entirely separate sovereign States."

सभा के बहुमत से प्रथम १० वर्ष पश्चात् और फिर प्रति १० वर्ष पश्चात् संविधान की धाराओं पर पुनर्विचार करने का प्रस्ताव पास कर सके।

केबिनेट मिशन की योजना में संविधान सभा की रचना का भी वर्णन था। उसकी कुल सदस्य संख्या ३८५ नियत की गई थी। उसके स्थान प्रान्तों और रियासतों में इस प्रकार वितरित किये जाने थे कि प्रति १० लाख की जनसंख्या के पीछे एक प्रतिनिधि चुना जाये। उसमें इन बातों की भी व्यवस्था थी—(अ) विभिन्न प्रान्तों के मुख्य सम्प्रदायों के कितने-कितने प्रतिनिधि होंगे। (आ) प्रत्येक प्रान्त से प्रत्येक सम्प्रदाय के प्रतिनिधियों का चुनाव उस प्रान्त की विधान सभा में उस सम्प्रदाय के प्रतिनिधियों द्वारा होगा। (इ) रियासतों का प्रतिनिधित्व भी जनसंख्या के आधार पर होगा, परन्तु उनके प्रतिनिधियों की छांट अथवा चुनाव का ढंग ब्रिटिश भारत से संविधान सभा के लिये चुने गये प्रतिनिधियों की वार्ता समिति (Negotiating Committee) और देशी रियासतों के नरेशों की ओर से बैठाई गई समिति के बीच आपसी वार्ता द्वारा निर्धारित किया जाये।

उपरोक्त के अतिरिक्त प्रस्तावित संविधान सभा अपनी इच्छा से कैसा भी संविधान बनाने के लिये स्वतन्त्र न थी और साथ ही अपने द्वारा बनाया गया संविधान वह स्वयं लागू न कर सकती थी अर्थात् वह प्रभुत्वपूर्ण संविधान सभा न होती। संविधान के आधारभूत सिद्धान्तों को तो योजना में ही दिया गया था, परन्तु संविधान सभा की कार्य-विधि पर भी प्रतिबन्ध लगाये गये थे। सत्ता का हस्तांतरण दो शर्तों के पूरा होने पर किया जाता। प्रथम, संविधान में अल्पसंख्यकों की रक्षा के हेतु पर्याप्त व्यवस्था, और दूसरे, संविधान सभा एवं सम्राट की सरकार के बीच सत्ता हस्तांतरण से उठने वाले मामलों के बारे में सन्धि का होना। इस प्रकार संविधान सभा द्वारा निर्मित संविधान पर ब्रिटिश सरकार को एक अर्थ में विटो शक्ति प्राप्त रहती है।

प्रतिनिधित्व की तालिका

'क' समूह

प्रान्त	साधारण	मुस्लिम	सिख	जोड़
मद्रास	४५	४	—	४९
बम्बई	१९	२	—	२१
यू० पी०	४७	८	—	५५
बिहार	३१	५	—	३६
सी० पी०	१६	१	—	१७
उड़ीसा	९	०	—	९
	१६७	२०	—	१८७

'ख' समूह

प्रान्त	साधारण	मुस्लिम	सिख	जोड़
पंजाब	८	१६	४	२८
पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त	०	३	०	३
सिन्ध	१	३	०	४
	९	२२	४	३५

'ग' समूह

प्रान्त	साधारण	मुस्लिम	सिख	जोड़
बंगाल	२७	३३	—	६०
आसाम	७	३	—	१०
	३४	३६	—	७०
ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों का जोड़	२१०	७८	४	२९२
देशी रियासतों के प्रतिनिधि				९३
कुल जोड़				३८५

पैरा १९ में संविधान सभा की कार्य-विधि का उल्लेख था। इस सम्बन्ध में मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) उपरोक्त प्रकार से चुने गये प्रतिनिधि यथासम्भव शीघ्रता से दिल्ली में इकट्ठे होंगे। (२) प्रारम्भिक बैठक में कार्यक्रम निर्धारित किया जायेगा, प्रधान और अन्य अधिकारियों को चुना जायेगा तथा नागरिकों, अल्पसंख्यकों, जनजातियों व असम्मिलित क्षेत्रों के अधिकारों के विषय में परामर्शदात्री समितियाँ नियुक्त की जायेंगी। (३) विभिन्न समूह अपने-अपने समूह में सम्मिलित प्रान्तों के संविधान को निर्धारित करेंगे और यह भी तय करेंगे कि क्या उन प्रान्तों के लिये कोई सामूहिक संविधान बने और यदि बने तो कौन-कौन से विषय समूह के हाथों में रहें। (४) उन समूहों और भारतीय रियासतों के प्रतिनिधि फिर से एकत्रित होकर संघ का संविधान बनायेंगे। (५) भारतीय संविधान सभा में यदि कोई सदस्य महत्वपूर्ण साम्प्रदायिक प्रश्न पेश करेगा तो उसकी स्वीकृति के लिये बैठक में उपस्थित सदस्यों का बहुमत आवश्यक होगा। (६) नवीन संवैधानिक व्यवस्था के लागू होने के उपरान्त किसी भी प्रान्त को यह अधिकार होगा कि वह उस समूह से बाहर हो

जाये जिसमें उसे रखा गया है। इस प्रकार का निर्णय नये संविधान के अन्तर्गत निर्वाचित नई प्रान्तीय विधान सभा कर सकेगी।

केबिनेट मिशन ने अपने १२ मई के वक्तव्य में देशी रियासतों के सम्बन्ध मे यह घोषणा पहले ही कर दी थी कि ब्रिटिश मंत्रिमण्डल किसी भी परिस्थिति में देशी रियासतो के ऊपर प्रयुक्त की जाने वाली अपनी अधिराज सत्ता (paramountcy) का हस्तातरण भावी भारतीय सरकार को न कर सकता है और न करेगा। परन्तु ब्रिटिश सरकार के लिये नई व्यवस्था में उस शक्ति के प्रयोग से सम्बन्धित कर्तव्यों का पालन करना भी सम्भव न रहेगा अर्थात् देशी रियासतें एक प्रकार से पुन. स्वतन्त्र हो जायेगी। सम्राट और देशी रियासतों के पारस्परिक सम्बन्धो का अन्त हो जायेगा और रिक्त स्थानों की पूर्ति देशी रियासतें ब्रिटिश भारत की भावी सरकार या सरकारो से समझौतो के आधार पर करेंगी। १२ और १६ मई के दोनो वक्तव्यो मे दी गई उपर्युक्त बातों का सम्बन्ध मंत्रिमण्डल की दीर्घकालीन योजना से था। परन्तु नये संविधान के लागू होने तक के संक्रमण काल मे एक अन्त.कालीन सरकार का निर्माण होना आवश्यक था। यह सरकार ऐसी होनी थी जिसे जनता का समर्थन प्राप्त होता। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वाइसराय ने विचार विनिमय शीघ्र ही आरम्भ किया, परन्तु केबिनेट मिशन के भारत से वापस लौटने के समय तक अन्त कालीन सरकार का निर्माण न हो सका, फिर भी उसके सदस्य इस आशा के साथ भारत से गये कि इस कार्य में शीघ्र ही सफलता मिलेगी। अन्त मे, केबिनेट मिशन ने भारतीय नेताओ का ध्यान परस्पर सद्-भावना और आदान-प्रदान की ओर दिलाते हुए यह आशा भी प्रगट की कि भारत स्वेच्छा से ब्रिटिश कामनवेल्थ का सदस्य बना रहेगा।

केबिनेट मिशन योजना के गुण और दोष—केबिनेट मिशन के प्रस्तावो में निम्नलिखित गुण थे—(१) उन्होने सम्पूर्ण भारत के लिये एक संघ-निर्माण की बात मानी, पाकिस्तान की माग को अस्वीकार किया अर्थात् भारत की अखण्डता को स्थिर रखा, (२) संविधान सभा की रचना प्रजातांत्रिक आधार पर की गई थी, क्योंकि उसमें प्रतिनिधित्व जनसंख्या के अनुपात से हुआ। देशी रियासतो अथवा अल्प-संख्यको को अपनी जनसंख्या के अनुपात से अधिक स्थान नही दिये गये थे। देशी रियासतो के प्रतिनिधियों के लिये नामजदगी व निर्वाचन दोनों ही प्रथाओ का प्रयोग रखा गया। संविधान सभा मे सभी सदस्य भारतीय रहे, क्योंकि यूरोपियनो को उसमें कोई स्थान नहीं दिया गया। (३) अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा के लिए कुछ विशेष संरक्षणों की भी व्यवस्था की गई। (४) ये प्रस्ताव एक प्रकार से समझौते पर आधारित थे, अतएव इनमें कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनो ही प्रमुख दलों के मुख्य दावों को न्यायोचित व न्यायपूर्ण स्थान दिया गया था। इसी कारण तो इन प्रस्तावो को दोनो दलो ने शीघ्र ही स्वीकार किया।

दोष—(१) प्रान्तों के समूहों के बारे में प्रस्ताव पूर्णतया स्पष्ट न थे; इसी कारण आगे चलकर इस प्रश्न पर कांग्रेस व मुस्लिम लीग में गहरा मतभेद उत्पन्न हुआ और अन्त में इस योजना के स्थान पर दूसरी योजना आई। (२) यद्यपि मुस्लिम अल्पसंख्यकों के अधिकारों के संरक्षण के लिये इसमें पर्याप्त से भी अधिक व्यवस्था थी फिर भी सिखों व अनुसूचित वर्गों आदि के लिये समुचित संरक्षणों की व्यवस्था न की गई थी। इसी कारण सिखों ने इस योजना का समर्थन नहीं किया। (३) इस योजना के अन्तर्गत संविधान निर्माण का क्रम बहुत ही दोषयुक्त था। आरम्भिक कार्यवाही के बाद संविधान सभा के सदस्य पहले अपने समूहों का संविधान बनाते और तब संघ का संविधान बनाया जाता। (४) इस योजना में प्रस्तावित संविधान-सभा प्रभुसत्तापूर्ण न थी। इसके द्वारा संविधान निर्माण का कार्य एक प्रस्तावित योजना व पूर्व निर्धारित सिद्धान्तों के अनुसार होना था। संविधान सभा की कार्य विधि पर भी प्रतिबन्ध लगे थे और इसका बनाया संविधान कुछ शर्तों के अधीन ब्रिटिश सरकार द्वारा स्वीकृत होने पर ही लागू होता। (५) इस योजना के अन्तर्गत बना संविधान भारी-भरकम व जटिल होता।

कांग्रेस व लीग की प्रतिक्रिया—केबिनेट मिशन के प्रस्तावों का प्रमुख दलों की ओर से कुछ मिश्रित व परिवर्तनशील स्वागत हुआ। मुस्लिम लीग ने सम्पूर्ण प्रस्तावों को स्वीकार करते हुये मि० जिन्नाह को अधिकार दिया कि वह इस सम्बन्ध में आवश्यक पग उठायें, परन्तु साथ ही इस बात पर भी बल दिया कि लीग भारतीय संघ से अलग होने के अवसर पर अपनी दृष्टि रखे। कांग्रेस कार्य-समिति ने २६ जून की बैठक में संविधान निर्माण सम्बन्धी योजना को स्वीकार किया, परन्तु समिति का यह मत था कि प्रान्तों के लिए समूहों में भाग लेना अनिवार्य न था। उसने अन्तःकालीन सरकार की नीति के सम्बन्ध में कुछ स्पष्टीकरण चाहा फिर भी उससे सन्तुष्ट न हुई। वास्तव में, कांग्रेस मुस्लिम लीग के समान प्रतिनिधित्व के सिद्धांत को स्वीकार न कर सकती थी। सिखों ने इस योजना को इस आधार पर अस्वीकार किया कि प्रांतों का प्रस्तावित अनिवार्य समूहीकरण उनके हितों के लिए घातक था। कांग्रेस कार्य समिति के निर्णय के सम्पुष्टिकरण के हेतु ६ जुलाई को कांग्रेस महासमिति की बैठक हुई, जिसमें कांग्रेस के नेताओं ने निम्नलिखित विचार व्यक्त किये :

> अन्तःकालीन सरकार की योजना मन्त्रिमण्डल मिशन और वाइसराय के ६ जून वाले वक्तव्य में प्रकाशित की गई। हमने इस प्रस्ताव को अस्वीकार किया, क्योंकि यह हमारी मांगों के अनुसार न था, फिर भी हमने १६ मई वाले वक्तव्य में प्रस्तावित संविधान निर्माण योजना को स्वीकार कर लिया। इस योजना में सबसे अधिक खतरनाक प्रस्ताव समूहीकरण के सम्बन्ध में है। इस सम्बन्ध में दिये गये पैराग्राफ का हमारा निर्वचन यह है कि प्रान्त आरम्भ में ही यह निश्चय करने के लिये

स्वतन्त्र है कि वे उस समूह मे सम्मिलित होना चाहते हैं या नहीं, जिसमें कि उन्हें रखा गया है। किसी भी प्रान्त को उसकी इच्छा के विरुद्ध किसी भी समूह में सम्मिलित होने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता।

(सरदार पटेल)

मन्त्रिमण्डल मिशन भारत को स्वतन्त्रता प्रदान करने नहीं वरन् कांग्रेस और लीग मे मध्यस्थता का दिखावा करने के लिये आया। ब्रिटेन ने ही कथित अन्तरों को जन्म दिया और अब भी उनसे लाभ उठाने का प्रयत्न कर रहा है। आज भारत के मुसलमानो में मुस्लिम लीग का अनुसरण करने वालो की सख्या चाहे बड़ी न हो परन्तु लीग अब भी ब्रिटिश जाति की मित्र है•••ऐसे दल के नेताओ के साथ काग्रेस का समझौता कैसे हो सकता है ? मुझे पूर्ण विश्वास है कि कांग्रेस, मुसलमानों के ऊपर जो लीग का प्रभाव है उसे सीधे सर्वसाधारण मे पहुच कर समाप्त कर सकती है।

(श्री जयप्रकाश नारायण)

समूहीकरण सम्बन्धी प्रस्तावों को स्पष्ट करते हुये सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने ब्रिटिश लोकसभा मे १८ जुलाई के भाषण मे बताया कि जहाँ तक प्रान्तों के प्रारंभ मे ही उन समूहो मे जिनमे कि उन्हे रखा गया है सम्मिलित होने या न होने का प्रश्न है हमने यह पूर्णतया स्पष्ट कर दिया था कि हमारी योजना की यह एक प्रति आवश्यक विशेषता है। परन्तु जब समूह के सविधान की रूपरेखा बन जाये और उसके अन्तर्गत अधिक व्यापक मताधिकार के आधार पर प्रान्तीय विधानमण्डल का निर्वाचन हो जाये तो कोई भी प्रान्त समूह से अलग हो सकेगा।

चूकि काग्रेस ने अन्त कालीन सरकार की योजना को अस्वीकार कर दिया तो वाइसराय ने एक अस्थायी सरकार (Caretaker Government) का निर्माण किया, जिसमें केवल सरकारी अधिकारियो को ही लिया गया। इस पर मि० जिन्नाह खिन्न हुये और उन्होंने वाइसराय पर वायदा भंग करने का आरोप लगाया। फलस्वरूप २६ जुलाई की बैठक में मुस्लिम लीग कौंसिल ने केबिनेट मिशन योजना के प्रति दी गई अपनी स्वीकृति को वापस ले लिया और साथ ही सीधी कार्यवाही का प्रस्ताव पास किया।[7] उसका भावार्थ निम्नलिखित था :

चूकि काग्रेस भारत मे स्वर्ण हिन्दुओ का राज्य स्थापित करने पर तुली है और चूकि हाल की घटनाओ ने यह दिखा दिया है कि न्याय नहीं,

7 "To-day we have also forged a pistol and are in a position to use it.... The League had sacrificed the full sovereignty of Pakistan at the altar of the Congress for securing independence for the whole of India. They had voluntarily delegated three subjects to the union, and by doing so did not commit a mistake. The League had displayed the highest statesmanship in making these concessions, in its anxiety to come to a peaceful settlement with the Congress party."

सत्तात्मक राजनीति भारतीय मामलों में निर्णायक कारण बनी है अत अब यह उचित है कि लीग के लिये मुस्लिम राष्ट्र के हेतु अब सीधी कार्यवाही करने का समय आ गया है जिससे कि पाकिस्तान की प्राप्ति हो और वह अपने न्यायपूर्ण अधिकारो को मनवा तथा अपनी मर्यादा को न्यायोचित सिद्ध कर सके और ब्रिटेन की वर्तमान दासता व भविष्य में स्वर्ण हिन्दू प्रभुत्व से बचा सके।

अन्तःकालीन सरकार—१२ अगस्त १९४६ को वाइसराय ने जवाहरलाल नेहरू को अन्तःकालीन सरकार बनाने के लिये आमन्त्रित किया और स्पष्ट कहा कि यदि मुस्लिम लीग उसमें सम्मिलित न हो तो उसके सहयोग के बिना ही यह कार्य किया जाये। १६ अगस्त को लीग ने **'सीधी कार्यवाही' (Direct Action)** दिवस मनाने के लिये नियत किया हुआ था। वाइसराय के इस निमन्त्रण से मुस्लिम लीग और भी चिढ गई। उस दिन विशेष रूप से कलकत्ते में हिन्दु-मुस्लिम दंगे अत्यन्त बडे पैमाने पर हुए और वहाँ पर सैंकडों व्यक्ति मारे गये, दूकानें लूटी गई अथवा उनमें आग लगाई गई। बंगाल मे मुस्लिम लीगी सरकार ने कानून और व्यवस्था बनाये रखने के लिये कोई पग नही उठाये। मौलाना आजाद ने उस दिन को सम्पूर्ण भारत के लिये 'काला दिवस' बताया है। इन घटनाओं के घटने के बाद कांग्रेस और लीग के बीच शान्तिपूर्ण समझौतों की आशा असम्भव हो गई। यह भारतीय इतिहास की दुखान्त घटनाओं मे से एक थी, मुस्लिम लीग को मन्त्रिमण्डल मिशन की योजना से हटने का अवसर मिल गया, बकि उसने उसे पहले स्वीकार कर लिया था।[8] २ सितम्बर को जवाहरलाल नेहरू ने मुस्लिम लीग का सहयोग न मिलने पर ५ राष्ट्रवादी मुसलमानो सहित नई अन्त.कालीन सरकार का निर्माण किया। इस सरकार ने सयुक्त दायित्व के सिद्धान्त के अनुसार जवाहरलाल के नेतृत्व में कार्यभार सम्भाला। सवैधानिक दृष्टि से जवाहरलाल नेहरू कार्यकारिणी परिषद् के उपप्रधान थे, क्योंकि यह महान् परिवर्तन भी १९१९ के अधिनियम के अन्तर्गत ही किया गया था। परन्तु लार्ड वैवेल मुस्लिम लीग के नेता मि० जिन्नाह् से इस सरकार मे लीगी सदस्यो की नामजदगी के लिये प्रयत्न करते रहे और १५ अक्तूबर को मि० जिन्नाह् ने लीग के प्रतिनिधियों को नामजद कर दिया। फलस्वरूप राष्ट्रवादी मुसलमान अलग हो गये। मुस्लिम लीगी प्रतिनिधियों ने जवाहर लाल के

8 "The 16th of August 1946 was a black day not only for Calcutta but for the whole of India. The turn that events had taken made it almost impossible to expect a peaceful solution by agreement between the Congress and the Muslim League. This was one of the greatest tragedies of Indian History and I have to say with the deepest regret that it had followed inexorably from the opportunity given to the Muslim League to reopen the whole question of political and communal settlement. Mr. Jinnah took full advantage of this mistake and withdrew from the Leagues early acceputance of the Cabinet Mission Plan" *Azad Maulana, A. K., op cit. pp. 159–60*

नेतृत्व तथा सयुक्त उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को न माना। सरकार का कार्य अब सुगम न रहा।

संविधान सभा—इस बीच में ब्रिटिश भारत मे संविधान सभा के सदस्यों का निर्वाचन पूर्ण हो चुका था। संविधान सभा की प्रथम बैठक नई दिल्ली में ९ दिसम्बर १९४६ को आरम्भ हुई। मुस्लिम लीग के सदस्यो ने उसका बहिष्कार किया। ११ ता० को डा० राजेन्द्र प्रसाद सविधान सभा के प्रधान निर्वाचित हुये। १३ ता० को जवाहरलाल नेहरू ने उद्देश्य प्रस्ताव (Objective Resolution) पेश किया जो २२ ता० को स्वीकृत हुआ। परन्तु मि० जिन्नाह संविधान-सभा की कार्यवाही अनिश्चित रूप से स्थगित कराना चाहते थे। अन्त.कालीन सरकार के कार्य मे मुस्लिम लीगी प्रतिनिधियों ने कठिनाइया और बाधायें डाली। ऐसी परिस्थितियो मे एक नया गतिरोध उत्पन्न हुआ। कांग्रेस और मुस्लिम लीग के दृष्टिकोण, समूह सम्बन्धी प्रस्तावो के बारे में एक दूसरे के सर्वथा विरोधी थे। अतएव उन प्रस्तावो के सम्बन्ध मे ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस और मुस्लिम लीग के नेताओ को लन्दन बुलाया और अपनी ओर से अन्तिम निर्वचन दिया जो मुस्लिम लीग के दृष्टिकोण के पक्ष मे था।

६ सितम्बर को ब्रिटिश सरकार ने एक वक्तव्य भी प्रकाशित किया जिसमें कहा गया था '१६ मई के वक्तव्य का अर्थ वही है जो केबिनेट मिशन का इरादा था अर्थात् प्रातो के लिए आरम्भ मे समूहो मे सम्मिलित होना अनिवार्य है। यदि कोई निर्वचन सम्बधी प्रश्न उठे तो उसका निर्णय सघीय न्यायालय द्वारा कराया जाय। इस सम्बन्ध में सम्राट की सरकार आशा करती है कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग इस बात को मानेंगे। जहाँ तक इस प्रश्न विशेष का सम्बध है सम्राट की सरकार ने कांग्रेस से उसके निर्वचन को मानने के लिए कहा है जिससे कि मुस्लिम लीग सविधान सभा के प्रति अपने रुख पर फिर से विचार कर सके। परन्तु यदि उस पर भी कांग्रेस इस प्रश्न को भी सघीय न्यायालय के सामने निर्वचन के लिए ले जाना चाहे तो इस कार्य को शीघ्र ही कर लिया जाये। यह उचित होगा कि इस बीच मे विभिन्न सैक्शनो के प्रतिनिधियों की बैठकें न की जायें।' परन्तु वक्तव्य का सबसे अधिक महत्वपूर्ण अंश वह था जिसमें कहा गया था कि, संविधान सभा का कार्य तब तक सफल न होगा, जब तक कि उसकी कार्यपद्धति के बारे में प्रमुख दल सहमत न हो। यदि सविधान सभा, जिसमे कि भारतीय जनता के एक बड़े भाग के प्रतिनिधि सम्मिलित न हो, कोई संविधान बनायेगी तो सम्राट की सरकार, जैसा कि कांग्रेस ने भी कहा है, उस संविधान को उन भागो पर जबर्दस्ती लागू करने की बात नही सोच सकती जो कि उसे मानने के लिए तैयार न हों।[9]

---

9 "There has never been any prospect of success for the Constituent Assembly except upon the basis of an agreed procedure. Should a constitu-

एक ग्रालोचक के ग्रनुसार ब्रिटिश सरकार ने उपरोक्त वक्तव्य द्वारा काग्रेस और ग्रन्त कालीन सरकार मे उसके प्रतिनिधियों की पीठ में पीछे से छुरा मारा। उसने मुस्लिम लीग को सविधान सभा का बहिष्कार करने के लिये उत्साहित किया। इस बहिष्कार और ग्रन्त कालीन सरकार के गतिरोध के कारण ब्रिटिश सरकार ने नई नीति की घोषणा की। ब्रिटिश प्रधानमत्री ने २० फरवरी १६४७ को एक महत्वपूर्ण घोषणा मे कहा 'ब्रिटिश सरकार का यह निश्चित इरादा है कि जिम्मेदार भारतीय हाथों में जून १६४८ मे पूर्व ही सत्ता का हस्तांतरण कर दिया जाय। सत्ता का हस्तातरण या तो सम्पूर्ण भारत की किसी भी केन्द्रीय सरकार या कुछ भागों की वर्तमान प्रान्तीय सरकारो को किया जायेगा।' मार्च १६४७ के ग्रारम्भ मे कांग्रेस कार्यसमिति ने निम्नलिखित ग्राशय का प्रस्ताव पास किया जिससे कि सत्ता हस्तांतरण सुगमतापूर्वक हो सके.

> 'यह ग्रावश्यक है कि इसके पूर्व ही ब्रिटिश सरकार व्यवहार मे ग्रन्तरिम सरकार को उपनिवेश सरकार के रूप मे मान ले, जिसे सेवाओं और प्रशासन पर प्रभावपूर्ण नियत्रण प्राप्त हो और वाइसराय सरकार का वैधानिक प्रमुख बने। केन्द्रीय सरकार को ग्रनिवार्य रूप से पूर्ण अधिकार व उत्तरदायित्व प्राप्त मत्रिमण्डल की भाँति कार्य करना चाहिए। काग्रेस ने पहले ही केबिनेट मिशन के १६ मई वाले वक्तव्य मे प्रस्तावित योजना को स्वीकार कर लिया था और ग्रब ब्रिटिश मत्रिमण्डल के ६ दिसम्बर १६४६ वाले वक्तव्य द्वारा उसके निर्वचन को भी स्वीकार कर लिया है। उसी के ग्रनुसार सविधान सभा ग्रपना कार्य कर रही है और इस उद्देश्य से विभिन्न उपसमितियाँ भी नियुक्त की गई है।'[10]

दूसरी ओर मुस्लिम लीग ने पजाब व पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त में ग्रपने मत्रिमण्डल बनाने का जोरदार प्रयत्न ग्रारम्भ किया, जिससे कि सत्ता हस्तातरण के समय उन प्रान्तो में उसकी सरकारें रहे। बगाल में पहले से ही मुस्लिम लीगी मत्रिमण्डल पदारूढ था। इन परिस्थितियो मे ब्रिटिश सरकार ने लार्ड मॉन्टबेटन को ग्रन्तिम वाइसराय बनाकर भारत भेजा और उसे ब्रिटिश हाथों मे जिम्मेदार भारतीय हाथों मे इस प्रकार से सत्ता हस्तातरित करने का कर्तव्य सौंपा कि भारत का भविष्य सुखमय व समृद्धिशाली हो।

---

tion come to be framed by a Constituent Assembly in which a large section of the Indian population had not been represented His Majesty's Government would not, of course contemplate—as the Congress have stated they would not contemplate—forcing such a constitution upon any unwilling parts of the country."

, British Government's Statement of Dec. 6, 1946.

10 Bannerjee, A. C., *Making of the Indian Constitution p. 435,*

४. लार्ड मॉन्टबेटन अथवा विभाजन योजना

लार्ड मॉन्टबेटन २४ मार्च १९४७ को दिल्ली आये। आते ही उन्होंने दोनों विरोधी प्रमुख दलों के बीच समझौता कराने का प्रयत्न किया। परन्तु पूर्व की भांति उनके प्रयत्न भी सफल न हो सके। अन्त में, लार्ड मॉन्टबेटन ने कांग्रेस व लीग के नेताओं की पूर्व स्वीकृति प्राप्त करके ३ जून को अपनी विभाजन योजना प्रकाशित की, जिसके उपरांत सत्ता हस्तान्तरण का कार्य शीघ्रता से हो सका व भारत की बिगड़ती हुई स्थिति सम्भल सकी। लार्ड मॉन्टबेटन ने ब्रिटिश सरकार की अन्तिम योजना का अपने एक ब्राडकास्ट भाषण में निम्न प्रकार स्पष्टीकरण दिया :

> जब मुस्लिम लीग ने भारत के विभाजन की मांग की, कांग्रेस ने उन्हीं तर्कों के आधार पर कुछ प्रान्तों के विभाजन की मांग की। मेरे विचार में इस तर्क की काट नहीं की जा सकती। तथ्य यह है, कोई भी पक्ष किसी ऐसे क्षेत्र को छोड़ने के लिए तैयार नहीं है जिसमें उनके सम्प्रदाय का बहुमत हो। मैं प्रान्तों के विभाजन का उन्हीं आधारभूत कारणों पर विरोधी हूँ, जिनके आधार पर मैं भारत के विभाजन का विरोधी हूँ।...जब एक बार यह निर्णय कर लिया जायेगा कि सत्ता का हस्तांतरण किस प्रकार हो तो सत्ता का हस्तान्तरण शीघ्रतम होगा, परन्तु संकट की स्थिति (dilemma) यह है कि यदि हम तब तक प्रतीक्षा करें जब तक कि सम्पूर्ण भारत के लिए एक संविधान सहमति द्वारा स्वीकार हो तो हमें बहुत समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी, विशेष रूप से यदि विभाजन का निर्णय किया जाय। इसके विपरीत यदि हम संविधान सभा द्वारा अपने कार्य की समाप्ति से पूर्व सत्ता सौंपे तो हमें देश को बिना संविधान के छोड़ना पड़ेगा। इस संकटपूर्ण स्थिति का हल, जो मैं रख रहा हूँ, यह है कि सम्राट की सरकार अब ब्रिटिश भारत की एक या दो सरकारों को सत्ता हस्तांतरित कर दे, उनमें से प्रत्येक को यथाशीघ्र उपनिवेश पद प्राप्त हो। मैं आशा करता हूँ कि यह आगामी कुछ ही महिनों में सम्भव हो सकेगा।...इस प्रकार उस व्यवस्था का मार्ग खुल गया है जिसके द्वारा सत्ता का हस्तातरण अधिकतर लोगों की आशाओं से पूर्व ही किया जा सकता है और साथ ही यह बात ब्रिटिश भारत की जनता पर छोड़ी जा सकती है कि वे अपने भविष्य का निर्णय करें, जो कि सम्राट की सरकार की घोषित नीति है।

विभाजन योजना की स्वीकृति के विषय में मौ० आजाद के विचारों का सारांश निम्न प्रकार है :

> यह रेकार्ड की जाने योग्य बात है कि सरदार पटेल भारत में प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने विभाजन योजना के पक्ष में मत परिवर्तन किया। शायद अन्तिम समय तक मि० जिन्नाह ने तो पाकिस्तान को सौदेबाजी का आधार

बनाया हुआ था, परन्तु पाकिस्तान के लिए लड़ने में वह अपनी सीमा से आगे निकल गये थे। कार्यकारिणी परिषद् के भीतर स्थिति ने सरदार पटेल को इतना दुखी और परेशान कर दिया था कि वह अब विभाजन में विश्वास करने लगे। सरदार पटेल ही मुस्लिम लीग को वित्त विभाग देने के लिए उत्तरदायी थे। अतः लियाकत अली के सामने अपनी विवशता के लिए वह अन्य किसी से अधिक खेदमय थे। जब लार्ड मॉन्टबेटन ने यह सुझाव दिया कि उस कठिनाई का हल विभाजन में पाया जा सकता है तो उन्होंने सरदार पटेल के मन में उसकी स्वीकृति को पढ़ लिया। जब सरदार पटेल को उस विषय में पक्का विश्वास दिला दिया तो लार्ड मॉन्टबेटन ने अपना ध्यान जवाहरलाल नेहरू पर लगाया। लार्ड और लेडी माउन्टबेटन ने उन्हें प्रभावित कर लिया, उन पर प्रभाव डालने वालों में श्री कृष्णा मेनन भी थे। मैंने अपने दोनों सहयोगियों को विभाजन के पक्ष में अन्तिम पग न उठाने के लिए बहुत समझाया बुझाया। परन्तु जब वे दोनों विभाजन के पक्ष में हो गये तो मैंने इस विषय में गांधी जी से प्रश्न किया और उन्होंने उत्तर दिया—'क्या प्रश्न पूछा है ? यदि कांग्रेस विभाजन को स्वीकार करना चाहती है, तो यह मेरे मृत शरीर पर ही हो सकता है। जब तक मैं जीवित हूँ मैं कभी भी भारत के विभाजन से सहमत न होऊंगा और न मैं कांग्रेस को ही ऐसा करने दूंगा।' परन्तु उसके बाद गांधी जी की लार्ड मॉन्टबेटन से भेंट हुई, और उनका मत भी बदल गया। मेरे विचार में ऐसा सरदार पटेल के प्रभाव के कारण हुआ।[11]

लार्ड मॉन्टबेटन द्वारा प्रस्तुत विभाजन योजना की महत्वपूर्ण बातें अग्रलिखित थीं—इस प्रश्न का उत्तर जानने के लिए कि आगे वर्णित प्रान्त वर्तमान संविधान सभा द्वारा अपना संविधान निर्माण कराना चाहते हैं या दूसरी नई व पृथक् संविधान सभा द्वारा यह विधि अपनाई जाय—बंगाल व पंजाब की विधान सभायें (यूरोपियन सदस्यों को छोड़कर) *अलग-अलग दो भागों में एकत्रित होंगी*, प्रत्येक में हिन्दू व मुस्लिम बहुसंख्यक जिलों के प्रतिनिधि होंगे और वे इस प्रश्न पर मतदान करेंगे कि प्रान्त का विभाजन हो या नहीं और यदि एक भाग ने भी साधारण बहुमत से विभाजन के पक्ष में निर्णय किया तो विभाजन होगा। सिंध की विधान सभा (यूरोपियनों को छोड़कर) *विशेष रूप से बुलाई गई बैठक में यह निर्णय* करेगी कि वह वर्तमान अथवा नई संविधान सभा में से किसमें सम्मिलित होना चाहती है। पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त की स्थिति असाधारण है। उसके ३ में से दो प्रतिनिधि पहले से ही वर्तमान संविधान सभा में भाग ले रहे हैं। परन्तु यह स्पष्ट

11 Azad, Maulana A. K., *op cit*, *pp*. *183–87*.

है कि उसकी भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि उसके बारे मे फिर से विचार किया जाय । तदनुसार वहाँ के वर्तमान मतदाताओं का इस प्रश्न पर जनमत संग्रह किया जाय कि वे वर्तमान अथवा नई संविधान सभा में से किसमे भाग लेना चाहते हैं। आसाम प्रधानतः गैर-मुस्लिम प्रान्त है, परन्तु उसके सिलहट जिले में मुसलमानों की बहुसंख्या है, अतएव सिलहट जिले के मतदाताओं का भी इस प्रश्न पर जनमत कराया जाय ।

यदि यह निर्णय हुआ कि बंगाल और पंजाब का विभाजन हो तो वहाँ पर प्रतिनिधियों के निर्वाचन फिर से होंगे । यथासम्भव शीघ्रता से विभाजन होने की दशा में उसके प्रशासन पर पड़ने वाले प्रभावों के बारे में बातचीत प्रारम्भ की जाय । उत्तर-पश्चिमी सीमा पर स्थित जन-जातियों से उत्तराधिकारी सरकार बातचीत द्वारा आपसी सम्बन्ध निश्चित करेगी। अन्त में, सम्राट की सरकार इस बात को स्पष्ट कर देना चाहती है कि उपरोक्त निर्णय केवल ब्रिटिश भारत के सम्बन्ध में है और सम्राट की सरकार की नीति देशी रियासतों के सम्बन्ध में वही है जिसे कि केबिनेट मिशन के १२ मई सन् १९४६ वाले वक्तव्य में घोषित किया गया था । जवाहरलाल नेहरू और मि० जिन्नाह के रेडियो द्वारा प्रसारित ३ जून वाले भाषणों के कुछ अति महत्वपूर्ण अंश नीचे दिये जाते हैं

> मेरे हृदय में कोई हर्ष की भावना नही जबकि मै आपसे इन प्रस्तावों को मानने की सिफारिश कर रहा हूँ, यद्यपि मेरे मन में कोई संशय नही कि यह मार्ग ठीक है । कई पीढ़ियों से हमने स्वतंत्र व अखण्ड भारत के लिए संघर्ष किया है । हममें से किसी के लिए भी यह सोचना कि भारत के कुछ भाग अलग रहें बड़ा दुखदायी है, तिस पर भी मुझे विश्वास है कि हमारा वर्तमान निर्णय वृहत् दृष्टिकोण से ठीक है । जिस अखण्ड भारत के लिए हमने प्रयत्न किये, उसमें किसी पर जबर्दस्ती के लिए कोई स्थान न होगा । हो सकता है कि इस प्रकार से हम अखण्ड भारत के ध्येय तक अन्य किसी मार्ग की अपेक्षा पहले पहुंच सकें, तब हमारी नींव अधिक सुदृढ़ और सुरक्षित रहेगी । (जवाहरलाल नेहरू) मैं प्रत्येक समुदाय और विशेषकर मुस्लिम भारत से शांति और व्यवस्था बनाये रखने की अपील करता हूँ । (मि० जिन्नाह)

तत्पश्चात् कांग्रेस महासमिति ने भी १४-१५ जून की बैठक में विभाजन के पक्ष में प्रस्ताव पास किया । इस अवसर पर विभिन्न नेताओं के भाषणों के निम्नलिखित अंशों से उनके मतों का अनुमान किया जा सकता है—

> मेरा यह मत रहा है कि १६ मई वाले वक्तव्य की योजना भारतीय समस्या का सर्वोत्तम हल थी । मैं नही सोचता कि वर्तमान निर्णय ठीक है, परन्तु कांग्रेस के सामने कोई अन्य मार्ग (विकल्प) न था ।[12] (मौ०

12 "In my speech I said cleary that the decision which the working Committee had reached was the result of a most unfortunate development.

आजाद) इस प्रस्ताव को स्वीकार करने का अर्थ ब्रिटिश सरकार और मुस्लिम लीग के सामने बुरी तरह हार मानना होगा। (पुरुषोत्तमदास टन्डन) यह समझना आवश्यक है कि तलवारों द्वारा भी अनिच्छुक भागों को भारतीय डोमिनियन में रख सकना सम्भव नहीं। यदि उन्हें जबर्दस्ती भारतीय संघ में रखा भी जा सके तो कोई प्रगति और नियोजन सम्भव न होंगे। हमें चीन से चेतावनी लेनी चाहिए। राष्ट्र में सघर्ष और आपसी झगड़ों के जारी रहने से देश की प्रगति रुक जायेगी।. भोले नागरिकों के कत्ल से तो विभाजन ही अच्छा है। (जवाहरलाल नेहरू) यदि हम १६ मई वाली योजना को स्वीकार कर लेते तो सम्पूर्ण भारत पाकिस्तान के मार्ग पर चला जाता। आज हमारे नियन्त्रण में भारत का ७५ से ८० प्रतिशत तक भाग है जिसे हम अपनी विशेष प्रकृति (genius) के अनुसार विकसित कर सकते हैं और सुदृढ बना सकते है। यह कहना कि हमने विभाजन योजना को भय के कारण स्वीकार किया है, असत्य है। हमने कभी भय को जाना नहीं। हमने स्वतन्त्रता के लिये कार्य किया और हम चाहते है कि देश का जितना अधिक भाग स्वतन्त्र व सुदृढ़ हो सके उतना ही अच्छा है। अन्यथा न अखण्ड हिन्दुस्तान होगा और न पाकिस्तान।[13] (सरदार पटेल)

६. भारतीय स्वतन्त्रता का अधिनियम, १९४७

भारत के विभाजन की योजना को कानूनी रूप देने के उद्देश्य से ब्रिटिश पार्लियामेंट ने जुलाई १९४७ में ही भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम पास कर दिया। यह एक छोटा-सा और सरल अधिनियम था जिसमे कुल १२ सैक्शन थे। अन्य सभी उठने वाले प्रश्नों का निर्णय उपनिवेशो के गवर्नर-जनरलों को अस्थायी

Partition was atragedy for India and the only thing that could be said in its favour was that we had done our best to avoid division, but we had failed. We must not however forget that the nation is one and its cultural life is and will remain one. Politically we had failed and were therefore dividing the country."

Ibid *pp. 196-97*

13 "I agreed to Pakistan as a last resort. We had five or six members in the Government, the Muslim League members. They had already established themselves as members who had come to partition the country. At that stage we agreed to partition, we decided that partition could be agreed upon on the terms that the Punjab should be partitioned—they wanted the whole of it—that Bengal should be partitioned—they wanted Calcultta and the whole of it. Mr. Jinnah did not want a truncated Pakistan, but he had to swallow it. We said that these two provinces should be partitioned. I made a further condition that in two months' time power should be transferred and an Act should be passed by Parliament in that time." (Sardar Patel) *C. A Debates, Vol. X, p. 49.*

आदेशो (Provisional Orders) द्वारा करने का अधिकार मिला था। इस अधिनियम के मुख्य सैक्शनों का संक्षिप्त आशय निम्नलिखित है :

सैक्शन १—१५ अगस्त से भारत और पाकिस्तान नाम के दो उपनिवेश (Dominions) स्थापित होंगे। सैक्शन २ से ४ तक में इन उपनिवेशों के भूमि क्षेत्रो का वर्णन है। सैक्शन ५—भारत के गवर्नर-जनरल की नियुक्ति सम्राट वहाँ के मन्त्रियो के परामर्श से करेंगे। पाकिस्तान मे कोई मन्त्री न होने के कारण वहाँ के गवर्नर-जनरल की नियुक्ति सम्राट उनके माने हुये नेताओं के परामर्श से करेंगे। सैक्शन ६ में दोनो उपनिवेशो की संसदों की शक्तियाँ वर्णित हैं। ब्रिटिश सरकार ने दोनो उपनिवेशो के शासन के सम्बन्ध में अपने सम्पूर्ण उत्तरदायित्व का अन्त कर दिया व देशी रियासतो पर से अपनी अधि-राजसत्ता (Paramountcy) त्याग दी। यह व्यवस्था भी की गई कि देशी रियासतो और उचित उत्तराधिकारी सरकारों के बीच समझौते किये जायें। सैक्शन ८ में नये उपनिवेशो के शासन के बारे में अस्थायी प्राविधान दिये है। सैक्शन ९ मे आवश्यकतानुसार गवर्नर-जनरलों को अस्थायी संवैधानिक आदेशो द्वारा वर्तमान संविधान मे परिवर्तन करने का अधिकार दिया गया है। सैक्शन १० सरकारी सेवाओं की स्थिति के बारे मे है। सैक्शन ११ से १३ तक भारतीय सेना, भारत में ब्रिटिश सेना आदि के बारे मे है।

उपरोक्त अधिनियम १५ अगस्त को लागू हुआ। सन् १९३५ के भारतीय अधिनियम में, जो आधारभूत कानून था, अस्थायी संवैधानिक आदेश द्वारा आवश्यक परिवर्तन किये गये। संशोधित अधिनियम मे आरक्षित विषयो, विशेष उत्तर-दायित्वों, आदेश-पत्रो, प्रवेश-पत्रों, भारत-मन्त्री के नियन्त्रण आदि से सम्बन्धित प्राविधानो के लिये स्थान न रहा। तत्कालीन केन्द्रीय विधान-मण्डल के स्थान पर संविधान सभा को उपनिवेश की पार्लियामेंट भी माना गया। अब विधान-मण्डल पर से पूर्व के सभी प्रतिबन्ध हटा लिये गये। न्यायपालिका के सम्बन्ध में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन उस समय नही हुये। इस प्रकार भारत पर ब्रिटिश शासन का पूर्णतः अन्त हुआ और स्वतन्त्र भारत का प्रारम्भ हुआ।[14]

विभाजन की प्रक्रिया—अन्त-कालीन सरकार ने एक उप-समिति नियुक्त की जिसे विभाजन समिति के नाम से पुकारा गया। आगे चलकर उसके स्थान पर एक विभाजन परिषद् (*Partition Council*) बनी जिसमें दोनों उपनिवेशों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे। सीमा निर्धारण के लिये एक सीमा आयोग नियुक्त किया गया, जिसके सभापति सर सिरिल रेडक्लिफ थे। विवाद-ग्रस्त सीमा सम्बन्धी प्रश्नों पर उसका निर्णय अन्तिम रखा गया। विभाजन के होने पर पश्चिमी पंजाब, उत्तर प्रदेश, दिल्ली, कलकत्ता आदि स्थानों पर मार-काट हुई और लाखों व्यक्तियों को

14 "The Indian Independence Act, 1947, closed the chapter of British rule in India and opened a new one of free India."

Chatterji, A., *The Constitutional Development of India - 1937-47*, p. 285

अपने पूर्वजो के घरो को छोड़कर शरण के लिय भागना पड़ा। लाखो व्यक्तियो ने उपनिवेशों की सीमायें पार की। विस्थापितो और शरणार्थियो की बड़ी भयंकर समस्या दोनों उपनिवेश सरकारों के सामने आई। देश में स्वतन्त्रता की प्राप्ति पर जो खुशी की लहर आई थी उसका स्थान चिता व क्रोध ने लिया। भारत सरकार ने इन लाखो व्यक्तियों की सुरक्षा व सहायता के लिये सभी आवश्यक व सम्भव पग उठाये और वह इस भीषण समस्या को हल करने मे सफल हुई।

५. भारत के विभाजन के बारे में विभिन्न मत और विचार

पाकिस्तान को स्थापना अर्थात् भारत के विभाजन के लिये उत्तरदायी कौन रहा? इस प्रश्न के उत्तर में विभिन्न मत अथवा दृष्टिकोण संक्षेप में निम्नलिखित हैं :

कांग्रेस का उत्तरदायित्व—मौलाना आजाद का विचार है कि जवाहरलाल नेहरू ने सन् १९३७ में चौधरी खलीकुज्जमां और नवाब इस्माइल खां को उत्तर प्रदेश के कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल में लीगी प्रतिनिधियो के रूप में न लेकर पहली गलती की। वे दोनों उत्तर प्रदेश के सर्वमान्य नेता थे और कांग्रेस के साथ सहयोग करने तथा उसके कार्यक्रम को स्वीकार करने को तैयार थे। जवाहरलाल उनमे से एक को लेने को तैयार थे, परन्तु उनमें से कोई भी एक अकेले मन्त्रि-मण्डल मे आने की स्थिति में न था। उनके मन्त्रि-मण्डल मे सम्मिलित होने के उपरान्त उत्तर प्रदेश में ही मुस्लिम लीग को पुनर्गठित किया गया और कुछ समय बाद पाकिस्तान की मांग उठी। सन् १९४६ मे सविधान सभा की प्रक्रिया के सम्बन्ध मे जवाहरलाल नेहरू ने दूसरी गलती की। जवाहरलाल नेहरू ने यह कहा कि कांग्रेस ने संविधान सभा में भाग लेने का निर्णय किया था और वह केबिनेट मिशन योजना को जैसे ठीक समझती वैसे संशोधित कर सकती थी। मुस्लिम लीग का दृष्टिकोण यह था कि समूह संविधान (Group Constitution) मिशन योजना का आवश्यक अंग था और उनमें कांग्रेस को कोई परिवर्तन करने का अधिकार न था। इस प्रश्न पर ब्रिटिश सरकार द्वारा दिया गया निर्वचन मुस्लिम लीग के पक्ष में रहा और उसके बाद यद्यपि कांग्रेस कार्य-समिति ने केबिनेट मिशन योजना के बारे में अपने रुख को कुछ संशोधित भी किया, परन्तु मुस्लिम लीग ने फिर से विभाजन की मांग पर बल दिया और अन्त में विभाजन होकर ही रहा। विभाजन योजना को भी पहले सरदार पटेल और बाद में जवाहरलाल नेहरू ने स्वीकार कर लिया। उसके बाद कांग्रेस कार्य समिति व गांधी जी ने भी अपनी स्वीकृति दे दी।[15]

के० के० अजीज का एक स्थल पर कथन इस प्रकार है :

> एक ओर मुस्लिम लीग और उसके मित्रों तथा दूसरी ओर कांग्रेसी मुसलमानों का वर्णन करने में कांग्रेस ऐसी भाषा का प्रयोग करती थी जिसका उद्देश्य मुसलमानो में विभाजन करना तथा विदेशियो को भ्रम में

15 Azad, Maulana A. K., *op. cit.*, pp 155-62.

डालना था। जब कांग्रेस कोई माँग रखती थी तो उसे भारतीय राष्ट्रवाद की आवाज कहा जाता था। जब मुस्लिम किसी वस्तु की माँग करते थे तो वह साम्प्रदायिकता थी। पाकिस्तान को भी साम्प्रदायिक राजनीति का शिशु कहा जाता था, (मुस्लिम) राष्ट्रीयता की माँग नही······ इसके विपरीत जो मुसलमान कांग्रेस में सम्मिलित होते थे उन्हे **'राष्ट्रवादी मुसलमान'** कहकर सम्मानित किया जाता था।

एक दूसरे स्थल पर उसने लिखा है

क्या कांग्रेस मुस्लिम राष्ट्रवाद के उदय और पाकिस्तान की रचना के लिये उत्तरदायी थी ? इस बारे में जानकार क्षेत्रो मे लगभग एक मत है कि मुस्लिम समस्या के बारे में कांग्रेस का रुख एक प्रमुख सहायक कारक रहा। प्रोफेसर कुपलेंड, लार्ड यूस्टेसी पर्सी, सर स्टैनले रीड, सर आइवर जैनिंग्स, सर फ्रांसिस टकर, आयन स्टीफेंस, प्रोफेसर रशब्रुक विलियम्स, पून्ड्रेल मून और भारतीय मामलो के अन्य योग्य निर्णायक इस बात से सहमत है कि कांग्रेस की 'अकड' (arrogance) और उस तरीके ने जिसके द्वारा कांग्रेस ने प्रान्तो में शासन सचालित किया उन सभी पूर्व धारणाओं को नष्ट कर दिया जिन पर कि मुसलमानो द्वारा सघ की स्वीकृति आधारित थी और इस प्रकार पृथक्करण की भावना को तीव्र बनाया। सर आइवर जैनिंग्स का विचार है कि सन् १९४५ मे भी हिन्दुओ और मुसलमानों के ढीले सघ (loose federation) के रूप मे सयुक्त भारत सम्भव हो सकता था यदि हिन्दू यह मान लेते कि मुसलमानों की इस्लामी आदर्शो के अनुसार पृथक् राज्य की माँग को पूरा करना है। कांग्रेस ने इस बात को देखने (मानने) से इन्कार किया, जिसके परिणामस्वरूप पाकिस्तान की रचना अवश्यम्भावी हो गई। उसका वर्तमान मत यह है कि यदि कांग्रेस मुसलमानो की और बातें मानने को तैयार हो जाती तो १९४० या १९४२ में समझौता हो सकता था।[16]

सितम्बर १९६७ मे दिल्ली मे 'जवाहरलाल नेहरू आज' विषय पर आयोजित यूनेस्को राउण्डटेबिल मे श्री आर० थापर ने कहा कि नेहरू ब्रिटिश को निकालने में उतावले हो रहे थे और यद्यपि वह भावात्मक दृष्टि से पाकिस्तान के विरुद्ध थे, किन्तु तुरन्त की विवशताओं का वह विरोध न कर सके। 'यह एक बड़ा गम्भीर भय था कि देरी के कारण नियन्त्रित न किया जा सकने वाला प्रतिवाद उत्पन्न होगा—साम्प्रदायिक, सामन्ती और धर्म-निरपेक्षीय—जिसका एक शक्ति-विहीन विदेशी शासक भी उप-महाद्वीप का और आगे उप-विभाजन करने मे अनुचित प्रयोग कर सकेगा।'

16 Aziz, K. K., *The Making of Pakistan, pp 190–91 & 203–4*

भारत स्थित ब्रिटेन के उच्च-आयुक्त जोन फ्रीमैन ने कहा कि दूसरे विश्व-युद्ध के बाद गांधी-मार्ग का अनुसरण करके सयुक्त केन्द्र को प्राप्त करना कठिन होता। शायद ऐसा करने मे अत्यधिक देरी हो चुकी थी। उन्होंने आगे कहा कि एकता को कायम रखा जा सकता था, यदि १९४२ मे क्रिप्स प्रस्तावो को स्वीकार कर लिया जाता। उस समय तक यह सम्भावना थी कि ब्रिटिश सयुक्त भारत को सत्ता सौंप देते, परन्तु जब एक बार अवसर निकल गया, एकता सम्भव न रही। ऐसी परिस्थितियों में 'नेहरू द्वारा उस स्थिति को स्वीकार करने हेतु कार्य पर जोर देना, जिसके साथ विभाजन जुडा था, शायद उतना ही अच्छा था जितना कि कोई अन्य मार्ग और सम्भवतया यह अधिक अच्छा था।'[17]

पाकिस्तान की रचना के बारे मे खालिद बिन सईद के निम्नलिखित विचार ध्यान देने योग्य हैं :

> बहुधा मुसलमानों का यह मत रहा है कि चूँकि हिन्दुओं का बहु-संख्यक समुदाय था, इसलिये उनकी ओर से सभी प्रकार की उदारता और दूरदर्शिता आनी चाहिये थी। इस बात पर भी बल दिया जाना चाहिये कि मुस्लिम पृथकता की भावना, जो कि कुरान मे प्रधान विषय है, एक समान शक्तिशाली कारक थी जिसने सामान्य भारतीय राष्ट्रवाद के विकास को रोका। इसके अतिरिक्त, भारत में मुस्लिम शासन की स्मृतिया केवल जीवित ही न रही, विशेष रूप से उच्च वर्गीय मुसलमानों में, वरन् उन्होंने उनका मुस्लिम जनसाधारण पर सदैव ही यह प्रभाव डालने के लिये प्रयोग किया कि भारत पर शासन कर लेने के बाद मुसलमानो को कभी भी हिन्दू बहुसंख्या द्वारा शासित होने का अवसर नही देना चाहिये।
>
> एक दूसरे लोकप्रिय मत द्वारा पाकिस्तान को एकमात्र कायदेआजम (महान नेता) मि० जिन्नाह की रचना समझा जाता है। उसके पक्के सकल्प और पूर्ण धर्मान्ध दुराग्रहता के कारण उप-महाद्वीप का विभाजन हुआ। कुछ तो यहाँ तक कहते हैं कि यदि जिन्नाह की मृत्यु पहले हो जाती, तो पाकिस्तान न होता। यह सच है कि जिन्नाह की इस प्रयोजन हेतु दृढ़-निश्चयता तथा अपूर्व सगठन शक्ति बहुत ही महत्वपूर्ण सहयोगी कारक थे, परन्तु मुसलमानों में इस्लामी राज्य के लिये तीव्र चेतना और उत्साह के बिना जिन्नाह पाकिस्तान की रचना न कर सकते थे। मौ० मुहम्मद अली और मौ० अबुल कलाम आजाद जैसे खिलाफत नेता और हाली, अकबर इलाहाबादी व इकबाल जैसे कवि मुस्लिम जन-साधारण में मुस्लिम चेतना उत्पन्न करने के लिये मुख्यतः उत्तरदायी थे।
>
> इनमें से प्रत्येक मत अकेले में पाकिस्तान की उत्पत्ति का अतिरंजित वर्णन है, क्योंकि उसकी स्थापना अनेक कारको के मेल से हुई। परन्तु

17 *Hindustan Times, Sep. 28, 1966.*

पाकिस्तान के अस्तित्व के लिये कदाचित प्रमुख कारण यह है कि भारत में हिन्दू और मुसलमान दोनों सभ्यताओं का कभी भी संगम नहीं हुआ है। वे एक दूसरे की ओर यहाँ और वहाँ बही है, परन्तु कुल मिलाकर उनकी धाराएँ पृथक बही हैं—कभी २ एक दूसरे के समानान्तर और कभी-कभी एक दूसरे के विपरीत।[18]

इस विषय में श्री प्रकाश ने लिखा है.—

मि० जिन्नाह कांग्रेस को एक विशुद्धत: हिन्दू निकाय समझते थे। वह उसे हिन्दू कांग्रेस कहा करते थे। वह ऐसे बहुत से विद्वान और अति आदरणीय मुसलमानों को भी ना-पसन्द करते थे जो कांग्रेस संगठन में नेतृत्व का स्थान रखते थे। '''यह उन सभी को स्पष्ट था जो कि देख सकते थे कि मि० जिन्नाह को ब्रिटिश का समर्थन और उत्साह-वर्द्धन भी प्राप्त था। उन्होंने मि० जिन्नाह को बिना भय साम्प्रदायिक विष डालने दिया जबकि उससे बहुत कम के लिये भी हिन्दू नेताओं को बन्दी बना दिया जाता था। वे कांग्रेस से घृणा करते थे, क्योंकि वह स्वतन्त्रता के लिये माँग कर रही थी और इसलिये वे मुस्लिम लीग का पक्ष लेते थे तथा उन्होंने इस साधारण सिद्धान्त के आधार पर कि 'शत्रु का शत्रु मित्र होता है' मि० जिन्नाह को अपना प्राय: मित्र बना लिया था।[19]

अधिकतर भारतीय राष्ट्रवादियों का, जिनमें मुसलमान भी सम्मिलित रहे, यह विचार था कि मुस्लिम साम्प्रदायिकता को, जिसके परिणामस्वरूप आरम्भ में पृथक निर्वाचनों की माँग उठी और बाद में द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ तथा भारत के विभाजन के लिये माँग की गई, अधिकांशत: ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने 'विभाजन करो और शासन करो' की नीति का अनुसरण कर प्रेरणा व उत्साह प्रदान किया था। इसका कारण खोजना अति सरल है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष चलाया, ब्रिटिश शासकों और राजनीतिज्ञों ने उसका प्रतिकारण (counter-poise) मुस्लिम लीग के रूप में खोज निकाला। मि० जिन्नाह, जो कि पहले एक राष्ट्रवादी थे, पक्के मुस्लिम लीगी और द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त के प्रतिपादक बन गये, क्योंकि उन्होंने अनुभव किया कि मुस्लिम लीग और उसके प्रधान की भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और उसके नेता, जवाहरलाल नेहरू, ने कोई परवाह न की जबकि कांग्रेस ने सन् १६३७ की प्रान्तीय स्वराज की योजना के अन्तर्गत कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों में मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियों को न लिया। जब मन्त्रिमण्डलों ने १६३६ में युद्ध के प्रश्न पर त्यागपत्र दिये तो मुस्लिम लीग ने ब्रिटिश शासकों का पक्ष लिया और उन्होंने उसके बदले में मुस्लिम लीग का दुराग्रही रुख अपनाने में उत्साह-वर्द्धन किया। निम्नलिखित उदाहरणों से पाठकों को साम्प्रदायिकता के विकास में ब्रिटिश योग का स्पष्ट पता लग जाना चाहिये :

18 Sayeed, Khalid B., *The political System of Pakistan*, pp. 5–8.
19 Prakasa, S., *Pakistan Birth and Early Days*, p. 17.

सन् १९३० में यू० पी० के एक ब्रिटिश अधिकारी (Mr. Plowden) ने एक पत्र में किसी को जो लन्दन में रहता था लिखा, जिसका-समाचार पत्रों को पता चल गया, कि भारतीय समस्या का केवल एक हल है और वह यह कि भारत का दो भागों—'हिन्दू और मुस्लिम'—में विभाजन किया जाय। इस बात पर दुख प्रकट करते हुए कि भारत में स्थिति नियन्त्रण से बाहर थी क्योंकि भारतीय नागरिक सेवा का भारतीयकरण हो गया था, उसने बढते हुये पूंजीवाद के विरुद्ध बड़ी शिकायत की, जो कि व्यापार और वाणिज्य में ब्रिटिश हितों की कीमत पर बढ़ रहा था। उसने कहा कि ऐसी निराशाजनक स्थिति के विरुद्ध एकमात्र उपचार देश का विभाजन था; यदि हिन्दू ब्रिटिश जाति के साथ व्यापारिक सम्बन्ध रखने के लिये इच्छुक न हों तो कराची वैसा ही काम करेगा जैसा उस समय बम्बई करता था।

लगभग उसी समय मि० कोटमैन नामक दूसरे अधिकारी ने भी अपनी सम्मति विभाजन के पक्ष में दी। इस बात का वर्णन डा० शौकतुल्लाह अन्सारी ने अपने ग्रन्थ (Pakistan-the Problem of India) में निम्न प्रकार किया है

> सन् १९३०—३१ में सुधार योजना पर विचार हो रहा था और प्रथम तथा द्वितीय गोलमेज सम्मेलन पर ऐसा लगता था कि मुसलमानों ने भारतीय सघ की स्थापना के पक्ष मे पक्का आश्वासन दे दिया था। जे० कोटमैन ने १९३२ में तीसरे गोलमेज सम्मेलन के अवसर पर लिखा कि सुदृढ संयुक्त भारत की रचना दिन–प्रतिदिन असम्भव होती जा रही है और उसके स्थान पर ऐसा लगता है कि उत्तर और पश्चिम मे एक ऐसे शक्तिशाली मुसलमानी राज्य की स्थापना की जा सकती है, जो निश्चय ही अपनी दृष्टि भारत की ओर से फेर ले और शेष मुस्लिम जगत की ओर लगाये, क्योंकि यह उसकी सीमा पर स्थित है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि मुस्लिम लीग को मुसलमानों के सभी महत्वपूर्ण समूह व नेता मुस्लिम मत का अधिकारपूर्ण प्रवक्ता नहीं मानते थे। जमियत-उल-उलेमा, सच्चे धार्मिक और धर्म-विद्या में विद्वान मुसलमानों का संगठन, पाकिस्तान की मांग के विरुद्ध था। जमियत के नेता सच्चे राष्ट्रवादी मुसलमान थे, जो भारत को ही अपना वतन (मातृदेश) मानते थे। जब मुस्लिम लीग ने सन् १९४० में पाकिस्तान की माग का प्रस्ताव पास किया तो अ-लीगी मुस्लिम संगठनों ने मिलकर आजाद मुस्लिम सम्मेलन (Azad Muslim Conference) बुलाया, जो अप्रैल १९४० में दिल्ली में हुआ। सम्मेलन ने भारत के विभाजन के विरुद्ध आवाज उठाई। सम्मेलन द्वारा पास किये गये मुख्य प्रस्ताव में कहा गया था कि यह सम्मेलन जो ऐसे भारतीय मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करने वाला है जो देश के लिये सम्पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करना चाहते है और जिसमें प्रत्येक प्रान्त के प्रति-

निधि सम्मिलित हुए है, मुस्लिम समुदाय व सम्पूर्ण देश के हितो को प्रभावित करने वाले सभी प्रश्नो पर पूर्ण तथा ध्यानपूर्वक विचार करने के बाद निम्नलिखित घोषणा करता है :

> भारत की भौगोलिक तथा राजनीतिक सीमायें एक पूर्ण देश के रूप मे रहेगी और वह इस रूप मे सभी नागरिको का, मूलवंश (race) और धर्म का ध्यान न करते हुये, सामान्य गृह-देश (home-land) है, और वे इसके साधनो के सयुक्त स्वामी है। देश के सभी निवासियों के सामान्य अधिकार और जीवन के प्रत्येक पहलू तथा कार्य-क्षेत्र मे उनके दायित्व एक समान है। भारतीय मुसलमान, इन अधिकारो और दायित्वों के कारण, नि सन्देह भारतीय राष्ट्र का सदस्य है।
>
> यह सम्मेलन स्पष्ट शब्दो मे तथा अपने पूर्ण बल के साथ यह घोषित करता है कि भारतीय मुसलमानो का ध्येय पूर्ण स्वतन्त्रता है, जिसके साथ उनके धर्म और साम्प्रदायिक अधिकार जुडे हैं, और वे इस ध्येय को यथा-सम्भव शीघ्रतम प्राप्त करना चाहते हैं। इस उद्देश्य से प्रेरित होकर उन्होने अतीत में बड़े त्याग किये है और उनसे बढकर त्याग करने के लिये सदैव तैयार है।

वास्तव मे यह सच है कि जमियत ने कभी भी मुस्लिम लीग द्वारा प्रतिपादित द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त को नही माना। इसने आरम्भ से ही सयुक्त भारतीय राष्ट्रवाद को अपना उद्देश्य बनाया। लीग और जमियत के बीच मतभेदो का यही केन्द्रीय आधार था। इस मूल और प्रवादपूर्ण विषय के बारे मे जमियत के दृष्टि-कोण को मौलाना हुसैन अहमद मदनी ने अपने ग्रन्थ **(मुत्तहिदा कौमियत और इस्लाम)** में जो दिल्ली से १९३८ मे प्रकाशित हुआ था, कुरान की आयतो व पैगम्बरी परम्पराओ के प्रकाश मे, पूर्ण रूप से स्पष्ट किया। उसके बाद जमियत उल-उलेमा के वार्षिक अधिवेशन पर, जो जून १९४० में जौनपुर (उ० प्र०) में हुआ, मौ० मदनी ने अपने प्रधान-पदीय अभिभाषण में कहा :

> हम, भारत के निवासियों में जहाँ तक हम भारतीय हैं, एक बात की मान्यता है और वह है हमारी भारतीयता, जो कि हमारे धार्मिक और सास्कृतिक भेदों के रहते हुये भी, अपरिवर्तनशील है। जैसे हमारे बाह्य रूप, व्यक्तिगत गुण और वैयक्तिक विशेषतायें, रग और कद के अन्तर हमारी सामान्य मनुष्यता पर प्रभाव नही डालते, वैसे ही हमारे धार्मिक और सास्कृतिक अन्तर अपने देश से हमारे सामान्य सम्बन्धो को प्रभावित नही करते। अतएव अन्य मिल्लतों (समाजो) और अ-मुस्लिम धार्मिक-सास्कृतिक समूहो की भांति, मुसलमानो का यह कर्तव्य है कि वे राष्ट्रीय हितो के लिये चिन्ता करें और उनकी प्राप्ति के लिये सघर्ष करें तथा उन बुराइयों के विरुद्ध लडें जो कि देश की उन्नति और समृद्धि में बाधा डालती है।

लीग और जमीयत के बीच उपरोक्त आधारभूत मतभेद के कारण जमीयत ने लीग की देश के लिये विभाजन की माग का जोरदार विरोध किया । इस विरोध का देवबन्द वैसे ही गढ़ बना जैसे कि अलीगढ पाकिस्तान के मुजाहिदों का प्रशिक्षण केन्द्र था । 'यह उल्लेख करना अर्थमय है कि भारत मे मुस्लिम शिक्षा के दो प्रमुख केन्द्रों के बीच जो अपने आरम्भ मे ही भारतीय मुसलमानों के राजनीतिक, बौद्धिक जीवन में दो भिन्न प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते थे, अन्त मे भारतीय उप-महाद्वीप मे मुसलमानो के अन्तिम भाग्य का निर्णय करने के लिये मुठभेड हुई । देवबन्द अपने इस सन्देह को कभी न मिटा सका कि अलीगढ और भारत मे ब्रिटिश शासन के बीच स्पष्ट और निश्चित रूप मे सहयोग था ।'[20]

उपरोक्त मतों व दृष्टिकोणों मे से प्रत्येक मे सत्य का कम या अधिक अंश है । इसमें कोई सन्देह नही कि भारतीय मुसलमानो के काफी बड़े समूह को अवि-भाज्य भारत में हिन्दू आधिपत्य के स्थापित होने का भय था । इस कथन में भी सत्य का अंश है कि बहुत से हिन्दुओ मे मुसलमानो के विरुद्ध भेद की नीति में विश्वास था और अब भी है । यह एक ऐसा तथ्य है जिसने मुसलमानो मे व्यापक रोष की भावना को पैदा किया और हिन्दू राष्ट्रवादियों ने भी इसे बुरा समझा । कुछ मात्रा में, यह बात भी सत्य है कि मुस्लिम व्यापारी और व्यवसायी यह सोचते थे कि वे अपने प्रतिद्वन्द्वी हिन्दुओ से सफलता के साथ प्रतिस्पर्धा न कर सकेंगे । शिक्षित मुसलमानो का भी ऐसा ही मत था, क्योंकि वे नागरिक सेवाओं मे केवल योग्यता के आधार पर प्रवेश नही पा सकते थे । इस प्रकार इन सभी कारको ने पाकिस्तान के लिये मांग में योग दिया और चूंकि इससे ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के ध्येयो को बल मिला । उन्होने उसे चतुर राजनीतिज्ञो की भांति उत्साह प्रदान किया ।

विभाजन के परिणाम—भारत ने स्वतन्त्रता को विभाजन की कीमत पर प्राप्त किया । विभाजन के कारण अनेक कठिनाइयां और भयंकर कटुता उत्पन्न हुई । स्वतन्त्रता प्राप्ति पर होने वाली खुशियां विभाजन के बाद अत्यन्त दुखद घटनाओ से रंज और दुख में बदल गई । भारत और पाकिस्तान में जो साम्प्रदायिक पागलपन फैला उसके परिणामस्वरूप लाखों व्यक्तियो को अपने पूर्वजों के घरबार छोड़कर सुरक्षा के लिए एक देश से दूसरे देश मे भागकर शरण लेनी पड़ी । लाखों की संख्या में निर्दोष व्यक्तियों को मारा गया और कई गुनी संख्या को अकथनीय कष्ट और कठिनाइयां सहन करनी पडी । यह सब कुछ तब हुआ जबकि दोनों देशो के नेताओ ने अपने-अपने देश में अल्पसंख्यको को पूर्ण सुरक्षा प्रदान करने का आश्वासन दिया था और विभाजन योजना को सहमतिपूर्ण समझौते मे स्वीकार किया था । विभाजन के समय—उसके पूर्व और बाद में—भारतीय उप-महाद्वीप मे हिंसा और अनियन्त्रित धर्मान्ध कट्टरता के आधुनिक काल में सबसे बुरे दृश्य सामने आये ।

20 Faruqi, Z. Hasan, *The Deoband School and the Demand for Pakistan*, pp 103—04.

सबसे बुरी घटनायें पजाब में घटीं। यह कहना कठिन है कि किस प्रकार गडवड आरम्भ हुई और उसके लिये कौन उत्तरदायी था ? पश्चिमी पजाब मे मुसलमानों ने हिन्दू और सिख अल्पसख्यकों के घरों और व्यक्तियों पर आक्रमण किये और पूर्वी पजाब में हिन्दुओ व सिखो ने मुस्लिम अल्प-सख्यकों पर अपना क्रोध उतारा। हजारो व्यक्तियों को मारा गया, बहुधा अत्यधिक पाशविक तरीको से। रेलगाडियो को पटरी से उतारा गया और उनकी सवारियो का कत्ले-आम किया गया। शरणार्थियो के समूहो को घेर कर मारा गया, घरो में आग लगाई गई और उनके निवासियों को गलियो में कत्ल किया गया। पजाब सीमा दल (Punjab Boundary Force) को तोड़ना पडा, क्योकि उसके सदस्य भी साम्प्रदायिक पागलपन से प्रभावित हो गये थे। जैसे ही दिल्ली से हजारो मुसलमान पाकिस्तान की ओर चले और हिन्दू शरणार्थियों की बड़ी सख्या दिल्ली की ओर आई, जो अपने साथ अत्याचारो के भयानक वर्णन भी लाई, दिल्ली मे भी, जो भारत का राजनीतिक केन्द्र है, अनेक दुखद घटनाये घटी।

दोनो देशों को करोडों विस्थापितो के पुनः स्थापन के लिये अरबों रुपये व्यय करने पडे और यह कठिन कार्य लगभग १५ वर्ष में जाकर पूरा हुआ। दोनों देशों के सामने विभाजन से उत्पन्न अन्य अनेक समस्यायें आईं। पजाब और बंगाल में पश्चिमी और पूर्वी सीमा के निर्धारण का कार्य बहुत दिन तक चला और सीमा-विवाद अभी तक चल रहे है। दोनो देशो को अपनी-अपनी सैनिक शक्ति मे अपूर्व वृद्धि करनी पड़ी और प्रतिरक्षा पर बढ़े व्यय का भार जनता को करो के रूप में सहन करना पड़ा तथा पड रहा है। दोनों देशों की अर्थ-व्यवस्था भी अस्तव्यस्त हुई; और उनके उत्पादन तथा व्यापार में भयंकर असन्तुलन पैदा हुआ। दोनों देशो के प्रशासन तत्र पर विभाजन के कारण और उससे उत्पन्न समस्याओ को हल करने मे असहनीय भार पडा। भारत और पाकिस्तान के बीच सीमा विवादो के अतिरिक्त नहरी पानी विवाद और वित्तीय लेनदारी व देनदारी के विवाद बहुत समय तक चले। जम्मू-कश्मीर रियासत के भारतीय संघ में प्रवेश करने पर भारत और पाक सेनाओ के बीच एक छोटा युद्ध तभी तय हुआ और सन् १९६५ मे दूसरी बार उसमे बडे पैमाने पर युद्ध हुआ। इन सबसे बढकर और अति दुर्भाग्यपूर्ण व खेदजनक बात यह है कि दोनों देशो में साम्प्रदायिक समस्या अभी तक कायम है, जिसके कारण पड़ोसी और पुराने साथी देश होने पर भी भारत और पाकिस्तान के बीच आपसी सम्बन्ध अभी तक शत्रुतापूर्ण है। पाकिस्तान अपनी सैनिक शक्ति बढाने में लगा है और भारत के शत्रुओ से सैनिक गठबन्धन करने मे भी। भारत को भी अपनी सैनिक शक्ति बढानी पड़ रही है। फलत. दोनो देशो में विकास की गति अति धीमी रही है।

—:o:—

अध्याय ४

भारत का संविधान-निर्माण और विशेषतायें

१. संविधान का निर्माण

यह तो पूर्वगामी अध्याय में बताया ही जा चुका है कि सन् १९४६ की केबिनेट मिशन योजना के अन्तर्गत प्रथम बार भारतीय संविधान के निर्माण हेतु एक निर्वाचित संविधान सभा (Constituent Assembly) बैठाई गई थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व ही उसमें कुछ प्रारम्भिक कार्यवाही पूरी की जा चुकी थी—विशेष रूप से प्रक्रिया नियमों और लक्ष्य प्रस्ताव (Objectives Resolution) के बारे में। इसके पूर्व कि हम स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त संविधान-निर्माण कार्य का वर्णन करें, यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम संविधान सभा में हुये प्रक्रिया और लक्ष्य प्रस्ताव से सम्बन्धित वाद-विवाद के कुछ पहलुओं का संक्षेप में विवेचन करें।

प्रक्रिया (Procedure)—केबिनेट मिशन योजना के पैरा १९ में संविधान सभा की प्रक्रिया को विहित किया गया था। प्रारम्भ में ही संविधान सभा की एक प्रारम्भिक बैठक नई दिल्ली में होनी थी, जिसमें साधारण कार्यक्रम का निर्णय, सभापति व अन्य अधिकारियों का निर्वाचन और अल्पसंख्यकों व मूल अधिकार आदि के बारे में परामर्शदात्री समितियाँ नियुक्त की जानी थीं। उसके बाद संविधान सभा के सदस्यों को प्रान्तीय और समूह (Group) संविधान बनाने के हेतु तीन सेक्शनों में विभक्त होना था। अन्त में, सभी सदस्यों—प्रान्तों व देशी रियासतों—का प्रतिनिधित्व करने वालों—को संघ संविधान (Union Constitution) को निर्मित करने के लिये फिर से एकत्रित होना था। प्रक्रिया सम्बन्धी मामलों को तय करने तथा संविधान सभा द्वारा पालन किये जाने वाले नियमों को विहित करने के लिये कांग्रेस ने जवाहरलाल नेहरू के सभापतित्व में एक विशेष समिति नियुक्त की थी, जिसने अपनी रिपोर्ट जुलाई १९४६ में प्रस्तुत की। उस समिति ने यह सुझाव दिया कि संविधान सभा अपने लिये, सेक्शनों के लिये और समितियों के लिये नियमों के निर्माण करने का पूर्ण अधिकार रखती थी।

इस प्रश्न पर प्राय: सभी कांग्रेसी और कुछ अन्य प्रतिनिधियों का यही मत था कि संविधान सभा ही सैक्शनों द्वारा की जाने वाली कार्यवाही के बारे में प्रक्रिया निर्धारित कर सकती थी। परन्तु कुछ मुस्लिम तथा अन्य सदस्यों ने यह मत अभिव्यक्त किया कि केबिनेट मिशन योजना द्वारा निर्धारित प्रक्रिया का ही पालन किया जाये, विशेष रूप से ऐसी परिस्थितियों में जबकि मुस्लिम लीग ने संविधान सभा में भाग लेना स्वीकार न किया था। इस प्रश्न पर हुये मतभेद के कारण कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच केबिनेट मिशन योजना की स्वीकृति के बारे में ऐसी खाई पैदा हो गई जो आगे पाटी न जा सकी। यहाँ पर उदाहरण के लिये पुरुषोत्तमदास टण्डन व मौलाना अबुलकलाम आजाद के मतों को उद्धृत किया जाता है। वे दोनों ही कांग्रेस के उच्च नेता थे, परन्तु इस प्रश्न के बारे में दोनों के दृष्टिकोणों में महत्वपूर्ण अन्तर रहा। पुरुषोत्तमदास टण्डन ने जवाहरलाल नेहरू के मत का समर्थन करते हुये संविधान सभा में कहा :

> इस सदन में हम ब्रिटिश सरकार के उन प्रस्तावों को नहीं स्वीकार कर सकते जिनके अनुसार भारत को सैक्शनों में बाँटा जाना है और प्रान्तों के संविधान-निर्माण के अधिकार को ऐसे व्यक्तियों के हाथों में देना है जो भारत का विभाजन करने पर तुले हैं। मैं ये बातें कहना नहीं चाहता, परन्तु मैं यह कहना अपना कर्तव्य समझता हूँ कि ब्रिटिश सरकार ने मुस्लिम लीग की ओर से जो बातें कही हैं उनमें ईमानदारी का अभाव है।
>
> किसी व्यक्ति ने ठीक कहा है कि लीग तो ब्रिटिश सरकार का मोर्चा है। पण्डित नेहरू ने कुछ दिन पूर्व कांग्रेस में कहा था कि लीग के वे सदस्य जो अन्तरिम सरकार में सम्मिलित हुये थे राजा के पक्ष की भाँति कार्य कर रहे थे। तथ्य यह है कि लीग को ब्रिटिश सरकार धोखा दे रही है। वे हमारे देशवासी हैं और हम सदा ही उनसे समझौता करने के लिये तैयार हैं। आज तो ब्रिटिश उनका अपने मोर्चे के रूप में *प्रयोग कर रहे है, जिसके पीछे से वे हम पर तीर फेंक रहे हैं।*[1]

---

1 "In this House, we cannot accept the British Government's proposals to divide India into sections and to give the right of framing constitution for provinces into the hands of persons who are bent upon dividing India. I do not like to say these things but I feel it my duty to say that the British Government shows a lack of honesty in assertions which it makes on behalf of the Muslim League.

Some body has rightly said that the League was the British Government's Front (morcha). Pandit Nehru said the other day in the Congress that the League members who had come in the Interim Government were acting as the King's Party. The fact is that the League is being duped by the British Government. They are our countrymen and our brethren and we are

इसके विपरीत मौलाना आजाद ने लिखा है—

जवाहरलाल नेहरू ने एक उत्तर में कहा कि कांग्रेस संविधान सभा में 'किन्ही भी समझौतो से बधे बिना और सभी परिस्थितियो का जैसे-जैसे वे उत्पन्न हों स्वतन्त्र रूप से मुकाबला करने के लिये' (Completely unfettered by agreements and free to meet all situations as they arise) प्रवेश करेगी। प्रैस प्रतिनिधियो ने आगे पूछा कि क्या उसका यह अर्थ था कि केबिनेट मिशन योजना को सशोधित किया जा सकता था। जवाहरलाल नेहरू ने बलपूर्वक उत्तर दिया कि कांग्रेस ने केवल सविधान सभा में भाग लेना स्वीकार किया था और वह केबिनेट मिशन योजना को जैसे चाहे वैसे सशोधित करने मे अपने को स्वतन्त्र समझती थी।

मैं यह बात अवश्य ही रिकार्ड पर लाऊँगा कि जवाहरलाल नेहरू का वक्तव्य गलत था। यह कहना ठीक न था कि कांग्रेस योजना को जैसे चाहती वैसे ही संशोधित करने के लिये स्वतन्त्र थी। तथ्य तो यह है कि हम इस बात पर सहमत हो गये थे कि केन्द्रीय सरकार सघात्मक होगी। केन्द्रीय विषयो की सूची में तीन अनिवार्य विषय रहेंगे। हम आगे इस बात पर भी सहमत हो गये थे कि तीन सैक्शन अ, ब और स होंगे जिनमे कि प्रान्तो को समूह-कृत किया जायेगा। इन मामलों को कांग्रेस समझौता करने वाले अन्य पक्षों की सहमति के बिना अकेले ही परिवर्तित न कर सकती थी। मुस्लिम लीग ने केबिनेट मिशन योजना को स्वीकार किया था, चूंकि वह अन्तिम सीमा थी जहाँ तक ब्रिटिश सरकार जा सकती थी।[2]

आगे चलकर भारत का विभाजन हो गया और सविधान सभा प्रभुत्वपूर्ण निकाय बन गई अर्थात् उसकी प्रक्रिया पर कोई प्रतिबन्ध न रहे। सविधान सभा ने सविधान निर्माण कार्य के विभिन्न पहलुओ के बारे में कार्य को गति से आगे बढाने के उद्देश्य से अनेक समितियाँ नियुक्त की। उन्हें मोटे रूप से दो समूहों मे रखा जा सकता है—(१) वे समितियाँ जिनका सम्बन्ध सविधान सभा के सगठन और कार्य संचालन से था यथा प्रक्रिया नियमो पर समिति, वार्ता समिति (Negotiating Committee), स्टीयरिंग समिति, कार्य समिति (Business Committee) आदि। (२) वे समितियाँ जिन्हे भारत के भावी संविधान के सिद्धान्तों पर विचार करने का कार्य सौंपा गया यथा परामर्शदात्री समिति, संघीय शक्ति समिति, सघीय संविधान समिति, प्रान्तीय सविधान समिति इत्यादि। सघीय

---

always prepared to come to an agreement with them. Today the British are using them as their (morcha) from behind which they are throwing arrows upon us." (Purshottam Das Tandon)

C. A. Debates, *Vol. I, p. 70.*

2 Azad, Maulana A. K., *India Wins Freedom, p. 155.*

संविधान समिति और प्रान्तीय संविधान समिति ने एक दूसरे के साथ घनिष्ठ सहयोग किया और संविधान के मुख्य भाग की उनके द्वारा रूपरेखा तैयार की गई।

परन्तु सभी समितियों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रारूप-मसौदा-समिति (Drafting Committee) थी। उसे संविधान सभा ने २९ अगस्त १९४७ को एक प्रस्ताव द्वारा नियुक्त किया था और उसमें सभापति (डा० बी० आर० अम्बेडकर तत्कालीन कानून मन्त्री) तथा ६ अन्य सदस्य थे। उसे संविधान सभा के कार्यालय द्वारा तैयार किये गये प्रारूप की ध्यानपूर्वक परीक्षा करने तथा उसमें आवश्यक संशोधनों के सुझाव देने का महत्वपूर्ण कार्य सौंपा गया था। संवैधानिक परामर्शदाता (Constitutional Adviser) द्वारा तैयार किये गये संविधान के प्रारूप पर विचार करने में प्रारूप समिति ने १४१ दिन लगाये और इस प्रकार से तैयार किये गये प्रारूप को उसने संविधान सभा के अध्यक्ष के समक्ष फरवरी १९४८ में प्रस्तुत किया। उस पर विचार करने के लिये अध्यक्ष ने संविधान सभा में अपनाई जाने वाली प्रक्रिया की रूपरेखा दी और संविधान सभा ने मुख्यत: उसी का पालन किया। संविधान सभा को विभिन्न अनुच्छेदों पर विचार करने में कितना समय देना पड़ा उसका अनुमान तो केवल एक उदाहरण से किया जा सकता है। प्रारूप संविधान के नागरिकता से सम्बन्धित अनुच्छेद ५ व ६ के बारे में संविधान सभा ने १३० संशोधनों पर विचार किया और उन पर ३ दिन तक वाद-विवाद चला। जब संविधान सभा ने प्रारूप संविधान पर विचार पूर्ण कर लिया तो उसे आवश्यक परिवर्तनों के लिये फिर से प्रारूप समिति के पास भेज दिया गया। उसने प्रारूप को संविधान सभा में हुये वाद-विवाद और उसके निर्णयों के प्रकाश में दोहराया। उसने जिन परिवर्तनों की सिफारिश की उन्हें निम्नलिखित चार श्रेणियों में रखा जा सकता है :

(१) अनुच्छेदों, उनके खण्डों (Clauses) और उप खंडों की संख्या फिर से डालना ;
(२) औपचारिक परिवर्तन करना ;
(३) विभिन्न अनुच्छेदों के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये आवश्यक परिवर्तन करना ; और
(४) कुछ अन्य आवश्यक संशोधन करना।

इस प्रकार से तैयार किये गये तीसरे प्रारूप को संविधान सभा के सामने ३ नवम्बर १९४९ को पेश किया गया। सभा ने उस पर तीन दिन तक विचार किया और उस अवसर पर भी उसने कई संशोधनों पर विचार किया। १९ नवम्बर १९४९ को उसका तीसरा वाचन आरम्भ हुआ जो नौ दिन तक चला। प्रारूप संविधान को संविधान सभा ने अन्तिम रूप में २६ नवम्बर १९४९ को स्वीकार किया। उसके अन्तिम रूप में संविधान में ३९५ अनुच्छेद और ८ अनुसूचियां रहीं।

इस प्रकार संविधान सभा ने संविधान के निर्माण में मान्य ब्रिटिश संसद प्रक्रिया को अपनाया, जिसका कि किसी भी कानून के बनाने में साधारणतया पालन होता है। उसके निर्माण में तीन मंजिलें (stages) मुख्य रहीं—समिति स्टेज, विचार स्टेज और तृतीय वाचन स्टेज।

२. लक्ष्य प्रस्ताव और प्रस्तावना

साधारणतया, संविधान निर्माता अपने लक्ष्यों को उसके प्रारम्भ में दे देते है; उस भाग को प्रस्तावना (Preamble) कहा जाता है। सन् १७७६ की अमरीकी स्वतन्त्रता की घोषणा (The Declaration of American Independence) में दो मुख्य आदर्शों का समावेश है—मनुष्यों की समता और उनके कुछ अनपहरणीय अधिकार। सन् १७८७ में निर्मित संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान की प्रस्तावना में घोषित किया गया है—'अधिक पूर्ण संघ का निर्माण करने, न्याय की स्थापना करने, आन्तरिक शान्ति को सुनिश्चित बनाने, सामान्य प्रतिरक्षा के लिये व्यवस्था करने, सामान्य कल्याण को प्रोत्साहन देने और अपने तथा आने वाली पीढ़ियों के स्वतन्त्रता के आशीर्वादों को प्राप्त करने के लिये।' सन् १७८९ में फ्रान्स द्वारा मनुष्य के अधिकारों की घोषणा (French Declaration of the Rights of Man) में भी मनुष्यों की समता और उनके लिये 'स्वतन्त्रता, सम्पत्ति, सुरक्षा तथा दमन के विरोध' सम्बन्धी प्रत्याभूत अधिकारों का उल्लेख है। आयर (Eire) के १९३७ में बने संविधान की प्रस्तावना में कहा गया है: 'बुद्धिमत्ता, न्याय और दानशीलता के उचित पालन का ध्यान रखते हुए सामान्य भलाई को प्रोत्साहन देना, जिससे कि व्यक्ति की गरिमा और स्वतन्त्रता को प्राप्त किया जा सके, सच्ची सामाजिक व्यवस्था प्राप्त की जा सके, अपने देश की एकता फिर से स्थापित की जा सके और अन्य राष्ट्रों के साथ सामन्जस्य स्थापित किया जा सके।'

भारत के संविधान निर्माताओं ने भी, जो कि उपरोक्त और अन्य सम्बद्ध प्रस्तावनाओं से प्रभावित हुये थे तथा साथ में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की भावना व गांधी जी की विचार धारा से भी प्रभावित थे, संविधान-निर्माण कार्य के प्रारम्भ में ही एक लक्ष्य प्रस्ताव (Objectives Resolution) स्वीकार किया, जिसे जवाहरलाल नेहरू ने १३ दिसम्बर १९४६ को संविधान सभा में प्रस्तुत किया था। यही प्रस्ताव कुछ संशोधनों के बाद संविधान की प्रस्तावना बना। कानूनी दृष्टि से प्रस्तावना संविधान का अंग नहीं होती, क्योंकि वह न्यायालयों द्वारा समर्थनीय नहीं है (non-justiciable) है। परन्तु न्यायालय प्रस्तावना का आवश्यकता पड़ने पर संविधान के अनुच्छेदों का निर्वचन करते समय सामान्य प्रयोजन (general purpose) के रूप में प्रयोग कर सकते हैं। लक्ष्य प्रस्ताव निम्नलिखित था :

'यह संविधान सभा अपने पक्के और पवित्र संकल्प की घोषणा करती है कि भारत एक स्वतन्त्र प्रभुत्वपूर्ण गणतन्त्र (Independent Soveriegn

Republic) बनेगा और वह उसके भावी शासन के लिये संविधान बनायेगी । जिसमें वे प्रदेश जो इस समय ब्रिटिश भारत में सम्मिलित है और वे प्रदेश जो भारतीय रियासतों में है और ऐसे भाग जो ब्रिटिश भारत व रियासतों के बाहर है और वे प्रदेश भी जो कि स्वतन्त्र प्रभुत्व सम्पन्न भारत में सम्मिलित होना चाहते है, सभी मिलकर संघ (union) बनायेंगे ; और

जिसमे प्रभुत्वसम्पन्न स्वतन्त्र भारत, उसके भागो और शासन के अगो की सभी शक्ति और सत्ता जनता मे प्राप्त हुये है ; और

जिसमे भारत के सभी लोगो के लिये अधिकार प्राप्त किये जायेंगे और प्रत्याभूत होंगे—

न्याय, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक ; पद और अवसर तथा कानून के समक्ष समता ,

विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, पूजा, व्यवसाय, संघ और कार्य की स्वतन्त्रता, कानून और नैतिकता के अधीन , और

जिसमे अल्पसंख्यको, पिछड़े हुए तथा जनजातीय क्षेत्रो, और दलित तथा अन्य पिछड़े हुये वर्गों के लिये पर्याप्त संरक्षणों की व्यवस्था की जायेगी , और

जिसमे गणतन्त्र के राज्य-क्षेत्र की अखण्डता को और न्याय एवं सभ्य राष्ट्रों के कानून के अनुसार भूमि, समुद्र व नभ पर उसकी प्रभुता को कायम रखा जायेगा, जिससे हमारा यह प्राचीन देश विश्व में अपना उचित तथा सम्मानित स्थान पा सके और विश्व शान्ति के प्रोत्साहन व मानव मात्र के कल्याण मे अपना पूर्ण व ऐच्छिक योग दे सके ।

उपरोक्त प्रस्ताव को पेश करते समय जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि वह एक संकल्प (resolution) से भी कुछ अधिक था ; वह एक प्रकार की शपथ (pledge) था और एक घोषणा भी । वह स्वतन्त्रता की घोषणा (declaration of independence) था और वह अपने देशवासियों के लिये एक शपथ भी था जिसे वे अपने संविधान में पूरा करना चाहते थे । वास्तव मे, उसमें भावी संविधान की आवश्यक बातें दी गई थी । एम० आर० जयकर ने प्रस्ताव को उस समय पेश किये जाने का कानूनी तथा व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि मे विरोध किया । उन्होंने कहा कि केबिनेट मिशन के १६ मई वाले वक्तव्य के अन्तर्गत संविधान सभा की प्रारम्भिक बैठक मे संविधान की आधारभूत बातें विहित नही की जानी चाहिये । वक्तव्य के अनुसार पहले तीनो संकलनो को समूह संविधान बनाने के लिये पृथक-पृथक एकत्रित होना चाहिये । इसके अतिरिक्त लक्ष्य प्रस्ताव में समूहों का कोई उल्लेख भी न किया गया था ।

प्रस्ताव में कहा गया था कि सत्ता 'जनता' में निहित होगी। कुछ सदस्यों ने सुझाव दिया कि 'जनता' के स्थान पर 'श्रम करने वाली जनता' रखा जाये। पुरुषोत्तम दास टन्डन ने इस सुझाव का विरोध करते हुये कहा ' मैं स्वयं किसानों का सेवक हूँ। उनके साथ काम करना मेरी उच्चतम शान है। 'जनता' शब्द बड़ा विस्तृत है और उसमें सभी जनता आ जाती है। अतः मेरी राय है कि उसके पूर्व कोई विशेषण न जोड़ा जाये।'[1]

संविधान की प्रस्तावना (Preamble)—भारतीय गणतन्त्र के संविधान के प्रारम्भ में निम्नलिखित प्रस्तावना है

"हम भारतवासी, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुसत्ता सम्पन्न प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य बनाने के लिये; उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिये; तथा उन सबमें व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने वाली बंधुता बढ़ाने के लिये, दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख २६ जनवरी १९४९ ई० को एतद् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।"

प्रस्तावना का महत्व—प्रस्तावना उसी प्रयोजन की पूर्ति करती है जिसकी पूर्ति पुस्तक की प्रस्तावना करती है।[2] साधारणतया प्रस्तावना में उन परिस्थितियों का वर्णन होता है जिनके कारण अधिनियम बनता है तथा उसमें अधिनियम के उद्देश्यों का भी वर्णन किया जाता है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना उन आदर्शों और लक्ष्यों की शानदार घोषणा है, जिन्हें भारतीयों ने अपने सामने रखा है और जिन्हें वे उस राजनीतिक ढांचे के द्वारा, जिसे उन्होंने जान-बूझ कर रचा है, प्राप्त करना चाहते हैं। प्रस्तावना में वर्णित लक्ष्य, संक्षेप में, न्याय, स्वतन्त्रता, समता व भ्रातृत्व की स्थापना तथा सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य की रचना है। इनके अतिरिक्त प्रस्तावना में उस स्रोत का भी उल्लेख है जहां से सरकारों को शक्तियां प्राप्त होंगी। प्रस्तावना में कहा गया है 'हम भारतवासी···इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं'। संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान की प्रस्तावना में भी ऐसे ही शब्दों का प्रयोग किया गया है। प्रस्तावना के बारे में दो विचार प्रमुख हैं : (१) यह स्पष्ट रूप से बताती है कि प्रभुता का स्रोत भारत की जनता है। यह कोई छोटा आदर्श नहीं वरन् एक जीवित वास्तविकता है। संघ और राज्यों की सरकार जनता के प्रतिनिधियों द्वारा संचालित हैं। आम चुनावों द्वारा

1 C. A Debates, *Vol I, pp. 59–72*

2 "Thus, the preamble, which walks before the constitution, indicates the source, the sanction, the pattern, the objects and the content of the constitutions."

Joshi, G. N.: *The Constitution of India, p 50.*

जनता की राजनैतिक शिक्षा में बड़ा योग मिला है। (२) इसमें भारत के लिये किसी निर्दिष्ट आर्थिक व्यवस्था को, जैसा कि सोवियत संघ में है, मार्ग अपनाने की बात नही दी गई है। यह हमारे संविधान का 'सबसे अधिक मूल्यवान भाग', 'संविधान की आत्मा' तथा 'संविधान की कुंजी' है।

प्रस्तावना में प्रयुक्त मुख्य शब्दों की व्याख्या—'सम्पूर्ण प्रभुसत्ता सम्पन्न' (Sovereign) का अर्थ उस सर्वोच्च शक्ति से है जो पूर्ण और अपने क्षेत्र में अनियन्त्रित होती है। 'वह राज्य सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न कहलाता है जहा पर उसके ही क्षेत्र में सर्वोच्च और पूर्ण शक्ति का, जो अन्य किसी को अपने से बढ़कर नहीं मानती, वास होता है।' अब भारत उसी प्रकार से स्वतन्त्र है जिस प्रकार कि ब्रिटेन, म० रा० अमरीका या कोई अन्य राज्य, अर्थात् भारत को आन्तरिक और बाह्य दोनो क्षेत्रो में पूर्ण प्रभुसत्ता प्राप्त हो गई है। स्वतन्त्रता शब्द का प्रयोग नकारात्मक रूप में नही वरन् सकारात्मक (positive) रूप में लिया जाना चाहिये। स्वतन्त्रता से आशय उन आवश्यक दशाओं की रचना है जिनमें रहकर नागरिकों का पूर्ण विकास सम्भव हो। प्रजातन्त्रात्मक (Democratic) शब्द के राजशास्त्र में अनेक अर्थ हैं। वर्तमान काल में प्रजातन्त्र के राजनीतिक पहलू के अतिरिक्त आर्थिक व सामाजिक पहलुओ पर भी समान बल दिया जाता है। राजनीतिक दृष्टि से प्रजातन्त्र वह होता है जहाँ स्वय प्रजा अपने प्रतिनिधियो द्वारा अपना शासन करती है। यहाँ पर प्रजातन्त्र का अर्थ विस्तृत रूप में लेना अधिक उचित होगा। प्रजातन्त्र केवल एक प्रकार की शासन-पद्धति ही नही वरन् वह व्यवस्था है जिसमें आर्थिक और सामाजिक प्रजातन्त्र भी सम्मिलित है। भारत में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का तो प्रश्न ही नही उठ सकता, अतएव इसमें हमें प्रतिनिधियात्मक प्रजातन्त्र को समझना चाहिये। गणराज्य (Republic) वास्तव में वह होता है जिसमें सत्ता राजा के हाथ में न होकर जनता के हाथ मे रहती है और जिसमे राज्य का अध्यक्ष निर्वाचित व्यक्ति होता है। म० रा० अमरीका मे गणराज्य से यही समझा जाता है कि इसकी शक्तियाँ प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में जनता से प्राप्त होती हैं। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि गणराज्य के साथ प्रजातन्त्रात्मक शब्द का प्रयोग क्यों किया गया है। इसका उत्तर बहुत सरल है। गणराज्य में प्रजातन्त्र के अतिरिक्त अधिनायक प्रणाली भी हो सकती है।

न्याय (Justice) का अर्थ है कि एक या कुछ व्यक्तियो की नही वरन् सर्वसाधारण की भलाई का लक्ष्य राज्य के सामने रहना चाहिये। सामाजिक क्षेत्र में भी धर्म, जाति, वंश, लिंग आदि किसी भी आधार पर व्यक्ति में राज्य की ओर से भेद-भाव नही होना चाहिये और आर्थिक क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति को अपने परिश्रम का उचित फल मिलना चाहिये। आर्थिक दृष्टि से व्यक्ति-व्यक्ति में कोई भेद नही मानना चाहिए। राजनीतिक क्षेत्र में भी व्यक्ति-व्यक्ति के बीच किसी प्रकार

का भेद-भाव नही होना चाहिए। **भ्रातृत्व** (Fraternity) का अर्थ है कि सभी व्यक्तियों मे बन्धुत्व की भावना हो। फ्रास के क्रातिकारियो ने स्वतन्त्रता व समता के साथ भ्रातृत्व पर समान बल दिया था, और सभी धर्म सब मनुष्यो को ईश्वर की सन्तान अर्थात् भाई-भाई मानते है। **स्वतन्त्रता और समता** (Equality) एक दूसरे के पूरक है। सक्षेप मे, समता का अर्थ **पद** (status) और **अवसर** (opportunity) की समता से है। आर्थिक क्षेत्र मे समता से अभिप्राय निर्धनता व सम्पत्तिशीलता के अन्तरो को दूर करना है। न्याय का उद्देश्य सामान्य हित की प्राप्ति है।

हमारे विचार मे भारत के सविधान के मुख्य आधारभूत सिद्धान्त (basic principles) ये है—(१) लोकप्रिय अथवा जनता मे निहित प्रभुता ((popular sovereignty), (२) नागरिको के मूल अधिकार, (३) राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्त, (४) सघवाद (federalism), (५) मन्त्रिमण्डलात्मक शासन प्रणाली, और (६) न्यायिक स्वतन्त्रता (judicial independence)। इन सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन उनसे सम्बन्धित अध्यायो में यथास्थान किया गया है। सविधान की प्रस्तावना मे वर्णित उच्च राजनीतिक आदर्शों और इन आधारभूत सिद्धान्तों के आधार पर उस दर्शन (philosophy) को समझा जा सकता है, जिस पर भारत का सविधान आधारित है।

३ संविधान की विशेषतायें

भारत के सविधान से देश मे सम्पूर्ण प्रभुसत्ता सम्पन्न प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य की स्थापना हुई है, जिसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है। अत. अब हम सविधान की अन्य प्रमुख विशेषताओं का आलोचनात्मक विवेचन करेंगे।

जनता का अपना संविधान—इसकी सर्वप्रथम स्पष्ट रूप से दीखने वाली विशेषता यह है कि यह सविधान देशवासियों द्वारा बना है, जबकि इसके पूर्व भारत के संविधान ब्रिटिश पार्लियामेंट ने बनाये थे और वही उनमे परिवर्तन भी कर सकती थी। भारत का सविधान अप्रत्यक्ष रूप से चुने गये जनता के प्रतिनिधियों ने प्रभुसत्ता प्राप्त सविधान सभा द्वारा निर्मित किया और इस प्रकार देशवासियो की एक अति दीर्घकालीन अभिलाषा पूर्ण हुई। सत्ता के हस्तातरण के उपरान्त कई कठिन सवैधानिक समस्याये जैसे साम्प्रदायिक बनाम सयुक्त निर्वाचन प्रणाली, देशी रियासतो का सघ में प्रवेश, एक भाषा आदि समस्याये सम्बन्धित हितो की सहमति से सतोषपूर्ण ढंग से हल हो गई। सविधान के निर्माण के समय इस आधार पर आलोचना की गई थी कि जिन लोगों ने सविधान बनाया उन्हे जनता ने प्रत्यक्ष रूप मे नही चुना था तथा वे अति सीमित मताधिकार के आधार पर चुनी हुई प्रान्तीय विधान सभाओं के सदस्यों द्वारा चुने गये थे। इस आलोचना मे सैद्धान्तिक दृष्टि से तो पूर्ण सत्य है, किन्तु यथार्थ में यह सारपूर्ण नही, क्योंकि उन परिस्थितियों में व्यस्क मताधिकार द्वारा संविधान सभा के सदस्यों का निर्वाचन कराने में अत्यधिक

देरी लगती जबकि देश की राजनीतिक स्थिति अति गम्भीर अवस्था में गुजर रही थी और देरी करने से उसके बिगड़ने की अधिक सम्भावना थी। व्यावहारिक दृष्टि से भी उन दिनों देश का राजनीतिक वातावरण ऐसा था कि कांग्रेस जिन प्रतिनिधियों को खड़ा करती वे ही चुने जाते, अतएव यथार्थ में संविधान सभा की रचना उससे अधिक भिन्न न होती। इसके अतिरिक्त संविधान में स्पष्ट रूप से कहा गया है—'हम भारतवासी'' इस संविधान को अधिनियमित व अंगीकृत करते हैं।' वास्तव में जब जनता में ही सर्वोच्च प्रभुसत्ता निहित है तो वह अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा संविधान में जब चाहे इच्छित संशोधन करा सकती है।

एक विस्तृत संविधान—प्रथम विशेषता के समान ही यह दूसरी विशेषता भी स्पष्ट है। हमारा संविधान अनेक देशों के संविधानों से बड़ा है। इसमें ३९५ अनुच्छेद (Articles) हैं, जिन्हें २२ भागों (Parts) में संग्रहित किया गया है और किसी-किसी भाग में तो कई-कई अध्याय (Chapters) भी है। संविधान के परिशिष्ट रूप में ८ अनुसूचियाँ (*Schedules*) भी दी गई हैं। कुछ अन्य देशों के संविधानों में क्रमशः इतने अनुच्छेद हैं—सं० रा० अमरीका के संशोधित संविधान में २१, कैनाडा १४७, आस्ट्रेलिया १२८, दक्षिणी अफ्रीका १५३, सोवियत संघ १४६। इस प्रकार हमारा संवैधानिक आलेख सं० रा० अमरीका के आलेख से कई गुना बड़ा है। इसके लिए निम्नलिखित कारण उचित और उत्तरदायी समझे जा सकते है

(१) जबकि सं० रा० अमरीका व आस्ट्रेलिया के संविधान केवल संघीय शासन की रूपरेखा देते है, हमारे संविधान में संघ व इकाईयों के शासन की विस्तृत रूपरेखा दी गई है। (२) भारतीय संघ की इकाइयाँ एक ही प्रकार की नहीं थी, अतएव उनकी विभिन्नताओं के कारण उनके क्षेत्र में भी विभिन्नतायें रहना आवश्यक था। (३) कुछ प्रदेशों जैसे जनजाति व अनुसूचित क्षेत्रों के लिए विशेष प्राविधानों को स्थान दिया गया है। (४) पिछड़ी हुई जातियों, अनुसूचित वर्गों व कुछ अल्पसंख्यकों (जैसे आंग्ल भारतीय) के लिए कुछ विशेष प्राविधानों द्वारा विशेष सुविधाओं की अस्थायी रूप से व्यवस्था की गई है। (५) संविधान में मूल अधिकार और निदेशक सिद्धान्तों का प्रगणन किया गया है। (६) संविधान में अनेक नई संस्थाओं आदि के लिए व्यवस्था की गई है, जैसे निर्वाचन आयोग, लोक-सेवा-आयोग, वित्त व भाषा-आयोग, नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक, महाधिवक्ता, इत्यादि। अन्त में, कुछ अस्थायी प्राविधान संक्रमण काल के लिए भी दिये गये है।

उपरोक्त के अतिरिक्त यदि हम देश की विशाल जनसंख्या और क्षेत्र का ध्यान करें तो हमें सर आइवर जेनिंग्स तथा उनके समान विचार करने वाले आलोचकों की इस आलोचना में कि हमारा संविधान अत्यधिक बड़ा व विस्तृत है, कोई सार

नही दीखता ।[3] साथ ही हमें यह भी नही भूलना है कि हमारे सविधान निर्माताओं ने इस कार्य को नये सिरे से नही किया । वे देश के सवैंधानिक विकास को नही भुला सकते थे, क्योंकि हमारा सविधान एक क्रमिक विकास का फल है । यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि सन् १९३५ का शासन अधिनियम भी लगभग इतना ही बडा व विस्तृत था ।

सर आयवर जेनिंग्स ने अपनी पुस्तक की भूमिका में लिखा है—'इगलैंड के सवैंधानिक वकील की विशेषता यह है कि वह कानूनी सिद्धान्तो की अपेक्षा सस्थाओं पर अधिक बल देता है । वह प्रजातन्त्र की प्राप्ति प्रजातन्त्रात्मक संस्थाओं की स्थापना द्वारा करता है । इगलेंड मे फ्रास की भांति कोई क्रांति नही हुई जिसके फलस्वरूप फ्रास में एक सर्वथा नया सविधान बना ।···इगलैंड के कानूनो मे तो परिवर्तनशील दशाओ के अनुसार परिवर्तन हुए है किन्तु उनका आधार 'कॉमन लॉ' रहा है । भारत ने भी उसी परम्परा को उत्तराधिकार मे पाया है । परन्तु साधारण रूप मे भारत मे सविधान अथवा सवैंधानिक कानूनों द्वारा प्रजातन्त्रात्मक सस्थाओ की स्थापना की गई है । वास्तव में इसका विस्तार और पेचीदगियाँ अधिक सीमा तक इस चिन्ता का परिणाम है कि राजनैतिक सस्थाओ का विनियमन सविधान द्वारा ही किया जाए, जबकि ब्रिटिश परम्परा का अनुसरण करने वाले अन्य देशो ने उनका विनियमन साधारण कानूनो द्वारा किया है । ऐसे सदर्भ मे मूल अधिकारो और निदेशक सिद्धान्तों का सविधान मे दिया जाना, ब्रिटिश परम्परा के अनुरूप नही है ।[4]

वर्तमान नमूनों पर आधारित संविधान (An adaptation from the existing Constitutional models)—इस कथन में पूर्ण सत्य है कि हमारे सविधान में विभिन्न सविधानो से अनेक बाते ली गई हैं । भारत का सविधान सीमित अर्थ मे ही सन् १९३५ के सविधान का सशोधित रूप कहला सकता है । यह सत्य है कि अनेक प्राविधानों की भाषा वही है जो कि १९३५ के सविधान में प्रयुक्त हुई थी, परन्तु हमें इस महान् अन्तर का ध्यान अवश्य ही रखना चाहिये कि चाहे अनेक बातो में स्वरूप वही हो उनका सार पूर्णतया भिन्न हो गया है । उदाहरण के लिए,

---

3 "Critics have decried a great deal out of this bulkiness of our Constitution. But we must not forget that our is a big country of 330 millions and we are making a Constitution for almost one fifth of humanity. Therefore there should be no wonder that our Constitution is bulky. Not only are we making a Constitution for a number of people for whom so far no other country has made any Constitution but our problems are varied and are different.... In an attempt to bring about that compromise between federalism and unitary form of Government, we had naturally to take recourse to certain articles which are responsible for increasing the bulk of our Constitution" (K M. Munshi)
C. A. Debates, *vol. VII, p. 273*

4 *Some Characteristics of the Indian Constitution.*

गवर्नर-जनरल का स्थान राष्ट्रपति ने ले लिया है, उसकी शक्तियाँ देखने में गवर्नर-जनरल जैसी ही विस्तृत है, इकाई राज्यों में गवर्नर भी है, किन्तु ये अब शासन के संवैधानिक अध्यक्ष रह गये है और उनकी शक्तियाँ वास्तविक नहीं है। दूसरे, अब भारतीय शासन पर भारत-मन्त्री जैसे विदेशी अधिकारी का कोई नियन्त्रण नहीं रहा। अब तो देश का शासन देशवासियों के हित में उनके निर्वाचित प्रतिनिधि ही चलाते है। तीसरे, भारतीय संघ का स्वरूप १९३५ के अधिनियम में प्रस्तावित संघीय योजना से सर्वथा भिन्न है। फिर भी इन बातो में वर्तमान संविधान के प्राविधान १९३५ के अधिनियम से काफी मिलते-जुलते हैं—संघ व राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध, विधान-मण्डलों के पदाधिकारी व उनके कार्य सचालन की पद्धति, लोक-सेवा-आयोग, न्याय-व्यवस्था, इत्यादि। यह स्वीकार करना भी उचित है कि हमारे संविधान निर्माताओं ने सन् १९३५ के संविधान से कई आधारभूत बातें ली है यथा संविधान का संघात्मक रूप, जिसमें संघ अति सुदृढ है, राज्यों के बीच विभिन्नता जो अब प्राय: समाप्त हो गई है, संसदात्मक पद्धति तथा आपत्तिकालीन प्राविधान। भारत के संविधान में संसदात्मक पद्धति पूर्णतया ब्रिटिश शासन पद्धति के अनुरूप है, परन्तु उसमे भी आवश्यक सुधार किये गये है।

हमारे संविधान में अनेक बातें कनाडा, आस्ट्रेलिया, आयरलैंड व सं० रा० अमरीका आदि देशो के संविधानो से ली गई हैं। भारतीय संघ का निर्माण बहुत कुछ कनाडा के संघ के समान हुआ है, क्योंकि दोनों देशो में संघ निर्माण के पूर्व एकात्मक शासन-प्रणाली प्रचलित थी। अवशिष्ट शक्तियाँ दोनों ही संघो में संघ को सौंपी गई हैं। समवर्ती सूचि (Concurrent List) जो कि सन् १९३५ के संविधान में भी थी, आस्ट्रेलिया से ली गई है। आयरलैंड के संविधान से हमारे संविधान निर्माताओं ने राज्यनीति के निदेशक सिद्धान्तों (Directive Principles of State Policy) का विचार लिया है और मूल अधिकारों का स्वरूप भी वहाँ के संविधान से प्रभावित है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना, सर्वोच्च न्यायालय का गठन, राष्ट्रपति की कुछ शक्तियाँ, उपराष्ट्रपति का स्थान व उसके कार्य तथा संशोधन प्रक्रिया सम्बन्धी प्राविधान बहुत कुछ सं० रा० अमरीका के संविधान से लिए गये हैं। उपराष्ट्रपति साधारणतया संघीय विधान-मण्डल के ऊपर वाले सदन का सभापति रहता है और आवश्यकतानुसार राष्ट्रपति के पद पर कार्य कर सकता है, किन्तु वह सं० राज्य अमरीका के उपराष्ट्रपति की भाँति शेष अवधि के लिए राष्ट्रपति नही बन सकता। उपराष्ट्रपति पद के उम्मीदवार के लिए स० राज्य अमरीका की भाँति वे ही अर्हतायें निर्धारित की गई है जो कि ऊपर वाले सदन के सदस्यों के लिए आवश्यक हैं। भारत के राष्ट्रपति को विधेयको पर अनुमति न देने, संसद मे भाषण देने, संदेश भेजने आदि की शक्तियाँ प्राप्त है। उसके विरुद्ध महाभियोग (Impeachment) की कार्यवाही भी हो सकती है। यद्यपि हमारे देश की न्यायपालिका सं० रा० अमरीका की भाँति दुहरी नहीं है, फिर भी सर्वोच्च न्यायालय का गठन

न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता, न्यायाधीशों को पदच्युत करना इत्यादि बातों का रूप नियमित करने वाले प्राविधान बहुत कुछ संयुक्तराज्य अमरीका के प्राविधानों के सदृश है।

हमारे संविधान निर्माताओं ने उसकी प्रत्येक धारा पर गम्भीर सोच-विचार तथा वादविवाद किया और उसे देश की परिस्थितियों तथा देशवासियों की इच्छाओं के अनुसार ढालने का अत्यन्त सफल प्रयत्न किया है। डा० एम० पी० शर्मा का यह विचार पूर्णतया सत्य व उपयुक्त है : "हमारे संविधान निर्माताओं का उद्देश्य एक मौलिक या अनोखा संविधान बनाना न था। वे चाहते थे कि व्यावहारिक दृष्टि से एक अच्छा व सफल संविधान बनाया जाए। तदनुसार उन्होंने विदेशी संविधानों से स्वतन्त्रतापूर्वक ऐसे प्राविधान लिये हैं जो वहाँ सफल सिद्ध हुये और जो अपने देश की दशाओं के लिये उपयुक्त समझे गये।"[5] इस विवेचन से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिये कि हमारे संविधान में कोई मौलिक बातें नहीं है। भारत का राष्ट्रपति संसद के दोनों सदनों और विभिन्न राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्यों से बने निर्वाचकमण्डल द्वारा निर्वाचित होता है, यह एक मौलिक विधि है। केन्द्र तथा इकाइयों में निर्वाचन आयोग के द्वारा सभी निर्वाचनों का संचालन भारतीय संविधान की दूसरी अनोखी विशेषता है। संविधान के संशोधन की प्रक्रिया में असीम कठोरता और अनुचित लचकता के बीच बुद्धिपूर्ण सन्तुलन की प्राप्ति की गई है।

एकता को सुदृढ़ बनाने वाले तत्त्व (Unifying Factors)—जबकि विदेशी शासकों ने देश में 'विभाजन करो और शासन करो' वाली नीति का अनुसरण करते हुये देशवासियों में धर्म, सम्प्रदाय तथा अन्य आधारों पर फूट डाली, **हमारे संविधान निर्माताओं ने देश की एकता को प्राप्त करने तथा राष्ट्रीयता को बढ़ावा देने का बड़ा सफल प्रयास किया है।** सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि यद्यपि स्वतन्त्रता की प्राप्ति के साथ देश का विभाजन हुआ फिर भी राष्ट्रीय सरकार ने देशी रियासतों की समस्या को हल कर लिया। 'भारत के राज्य-क्षेत्र में स्थित **५०० से अधिक देशी रियासतें,** जिन्हें एक प्रकार स्वतन्त्र घोषित कर दिया गया **था, सदैव के लिये भारतीय संघ की अविच्छिन्न अंग बन गई हैं।** इसके परिणाम-स्वरूप भारत का राज्य-क्षेत्र आज इतना विस्तृत है जितना कि सदियों से एक शासन के अन्तर्गत कभी नहीं रहा। दो वर्ष से भी कम समय में इन देशी रियासतों को संघ में सम्मिलित कर लिया गया। आधी से अधिक रियासतों का तो प्रान्तों में विलय हो गया, लगभग आधी रियासतों के समूहीकरण से सौराष्ट्र व राजस्थान जैसे रियासती संघ बने और शेष में से कुछ भारतीय संघ की स्वाधीन तथा कुछ केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रशासित इकाइयाँ बनी।

इतना ही नहीं देशी रियासतों की जनता को प्रान्तों जैसा प्रजातन्त्रात्मक शासन और एक समान मूल अधिकार भी प्राप्त हो गये हैं। **सम्पूर्ण देश के लिये**

5 *The Government of the Indian Republic, p. 24*

एकरूप नागरिकता, एकता व राष्ट्रीयता का सबसे महत्वपूर्ण आधार है। इसके अतिरिक्त एकता को सुदृढ़ बनाने के लिये केन्द्र को विभिन्न उपायों द्वारा अत्यधिक सुदृढ़ बनाया गया है। सम्पूर्ण देश के लिये केन्द्रीय सरकार अनेक महत्वपूर्ण विषयों पर कानून बना सकती है और आपत्तिकाल में तो एक प्रकार से सारा शासन ही एकात्मक रूप धारण कर सकता है। देश में एकरूप न्याय-व्यवस्था, अखिल भारतीय सेवायें, निर्वाचन आयोग आदि उपायो की एकता को सुदृढ़ बनाने के लिये अपनाया गया है। एकता के साथ राष्ट्रीयता की भावना को सुदृढ़ बनाने के लिये देशवासियों की एक राष्ट्रभाषा (हिन्दी) और संयुक्त निर्वाचन-प्रणाली को नये संविधान में स्थान मिला है। वास्तव में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व प्रणाली ने देश में अति विषैला वातावरण पैदा कर दिया था और इसी का दुष्परिणाम विभाजन रहा। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व राष्ट्र-भाषा के प्रश्न पर भयंकर प्रवाद चला। जबकि आयरलैंड व कनाडा में से प्रत्येक में दो राष्ट्रभाषायें है और स्विटजरलैंड में तीन राष्ट्रभाषायें है, भारत जैसे विशाल देश के लिये, जहाँ पर १४ प्रादेशिक भाषाओं को संविधान में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है एक भाषा को राष्ट्रभाषा घोषित किया जाना अति महत्वपूर्ण है।

सुदृढ़ केन्द्र वाला संघ (Strong Centre)—ऊपर यह बताया जा चुका है कि किन उपायो द्वारा भारतीय संघ में एक सुदृढ़ केन्द्र की स्थापना हुई है। यह सत्य है कि भारत में केन्द्रीय शासन की शक्तियाँ अत्यधिक विस्तृत है। भारतीय संविधान अपने स्वरूप और भावना में संघात्मक है; क्योंकि इसमें संघात्मक संविधान की सभी आवश्यक विशेषतायें विद्यमान है।[6] फिर भी हम यह मानेंगे कि संसार के अन्य संघों में भारतीय संघ बहुत-सी बातो में भिन्न है। जबकि स० रा० अमरीका में दोहरी नागरिकता, दोहरी न्याय व्यवस्था है और इकाई राज्यो के अधीन अपने-अपने संविधान है, हमारे संघ में इन सभी क्षेत्रों में एकता पर विशेष बल दिया गया है। अन्य संघ राज्यों में इकाई राज्यों का दर्जा समान होता है, इसी कारण स० रा० अमरीका व स्विटजरलैंड में इकाईयों को संघीय विधान-मण्डल के ऊपर वाले सदन में समान प्रतिनिधित्व प्राप्त है; परन्तु हमारे संविधान में भिन्न-व्यवस्था है। मूल संविधान में इकाई राज्यो को एक प्रकार से चार श्रेणियों में बाटा गया था, किन्तु राज्य पुनर्गठन से इकाई राज्यों का भिन्नतापूर्ण पद समान हो गया है और अब केवल कुछ संघीय क्षेत्र उनसे पृथक् है। इस विषय का विस्तारपूर्ण विवेचन अध्याय १० में किया गया है।

संसदात्मक शासन पद्धति (Parliamentary System)—भारत के संविधान ने संघ और राज्यों के क्षेत्र में संसदात्मक शासन पद्धति को अपनाया है। इस दृष्टि

---

6 "True, the sphere of Central Government is made exceptionally *wide*; but it only means that India has a federal form of Government with an exceptionally strong Centre, particularly in times of emergencies and crises." Palande, M. R., *Introduction to Indian Administration*, pp 130-131.

से हमारा संविधान अधिकांश में ब्रिटेन के संविधान से मिलता है और स० रा० अमरीका के संविधान से भिन्न है। संसदात्मक पद्धति में विधान-मण्डल को, जो जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है, कार्यपालिका के ऊपर सर्वोपरिता प्राप्त होती है, क्योंकि मन्त्रिमण्डल विधान-मण्डल के प्रति उत्तरदायी होता है। इसके विपरीत अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली में विधान-मण्डल और कार्यपालिका एक दूसरे से पृथक् और बहुत सीमा तक स्वतन्त्र होते हैं। भारत में संसदात्मक पद्धति को संविधान द्वारा अपनाया गया है, जबकि ब्रिटेन में इस पद्धति का आधार अभिसमय और राजनीतिक प्रथायें (Conventions and political usages) हैं। भारत के संविधान में राष्ट्रपति के पद और उनकी शक्तियों से यह भ्रम नहीं होना चाहिये कि हमारे देश में संसदात्मक पद्धति के साथ अध्यक्षात्मक पद्धति को मिलाने का प्रयत्न किया गया है। संसदात्मक पद्धति को निम्नलिखित कारणों से अपनाया गया है—

प्रथम, ब्रिटेन से दीर्घकालीन सम्बन्ध के फलस्वरूप ब्रिटिश शासन-पद्धति जैसी संस्थाओं की हमारे देश में नींव पड़ी और विकास भी हुआ, अतएव हमारे लिये अन्य किसी पद्धति का अपनाना सरल व सुगम न होता।[7] दूसरे, अग्रलिखित कारणों से संसदात्मक पद्धति को अध्यक्षात्मक से अधिक अच्छा समझा जाता है—(अ) इसमें विधान-मण्डल और कार्यपालिका के बीच सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध रहते हैं। (आ) इस पद्धति में कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रियों को विधान-मण्डल के सदस्यों के प्रति अपने उत्तरदायित्व को दिन-प्रति-दिन तथा समय-समय पर निभाना पड़ता है। मन्त्रियों से विधान-मण्डल के सदस्य प्रत्येक बैठक में प्रश्न पूछते हैं, आवश्यकतानुसार अविश्वास व निन्दा के तथा "काम रोको" प्रस्ताव पेश करते हैं और राज्य के प्रमुख द्वारा दिये गये भाषण पर वाद-विवाद भी करते हैं। निर्वाचनों के समय मन्त्रियों और विधान-मण्डल के सदस्यों की नीति व कार्यों पर निर्वाचक मण्डल अपना निर्णय देता है।

यह बात कि भारत के संविधान में संसदात्मक पद्धति को अपनाया गया है, संविधान के इन प्रावधानों से स्पष्ट होती है—(१) संघ और राज्यों में कार्यपालिका अध्यक्षों अर्थात् राष्ट्रपति और गवर्नरों को उनके कार्यों के पालन में परामर्श और सहायता देने के लिये मन्त्रि-परिषदों की व्यवस्था की गई है, और (२) मन्त्रि-परिषदों को सामूहिक रूप से अपने-अपने विधान-मण्डलों के प्रति उत्तरदायी बनाया गया है।

---

7 "I believe that the Parliamentary System is suited to our national genius and the extension of this democratic system right down to our Panchayats takes us back, to some extent, to our past period of history. Thus, in a sense, it has its roots in the past even though the modern forms of it may be new."

J. L. Nehru. : *Message to the First Issue of the Lok Sabha Journal, 1955*

व सुदृढ अवश्य बनाया जा सकता है। इस कारण एक आलोचक ने कहा है कि उनका महत्व उद्देश्यों और आकांक्षाओं के घोषणा-पत्र से अधिक नहीं है। वास्तव में, ये वे लक्ष्य, आदर्श तथा अवसर है जिनकी राज्यो को सभी नागरिकों के हित में पूर्ति करने का भरसक प्रयत्न करना चाहिये। संक्षेप में, ये वे बातें है जिनकी पूर्ति की आशा जनता राज्य से कर सकती है। उदाहरण के लिये कुछ निदेशक सिद्धान्त निम्नलिखित है -

(१) सभी नागरिकों, पुरुषों और स्त्रियों को जीवन निर्वाह के पर्याप्त साधनों के लिये समान अधिकार है,

(२) समुदाय के भौतिक साधनों का स्वामित्व और नियन्त्रण सब के सामान्य हित में वितरित होगा,

(३) ग्रामो में पचायतें संगठित की जायेंगी,

(४) संविधान के प्रारम्भ से १० वर्ष की अवधि के भीतर १४ वर्ष की आयु तक के बालकों के लिये नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था राज्य द्वारा की जायेगी, और

(५) राज्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए प्रोत्साहन देगा, इत्यादि।

भारत का संविधान किसी विशेष अर्थ-व्यवस्था से सम्बन्धित नहीं—भारत के संविधान के वित्तीय प्राविधान बहुत सीमा तक सन् १९३५ के अधिनियम से मिलते है। इसमें यह कहीं भी नहीं कहा गया कि भारत में राज्य समाजवाद अथवा साम्यवाद जैसी किसी विशेष अर्थ-व्यवस्था की स्थापना करना अपना उद्देश्य समझता है। परन्तु प्रस्तावना में वर्णित लक्ष्यों और आर्थिक व्यवस्था सम्बन्धी निदेशक सिद्धान्तों के विश्लेषण से दो बातें स्पष्ट है—प्रथम, भारतीय संविधान देश में आर्थिक प्रजातन्त्र की स्थापना करेगा; दूसरे राज्य समाजवादी व्यवस्था की दिशा में बढने का यथासम्भव प्रयत्न करेगा। जहाँ एक ओर हमारा संविधान किसी विशेष आर्थिक पद्धति के प्रति प्रतिज्ञाबद्ध नहीं अर्थात् पूंजीवादी, साम्यवादी अथवा समाजवादी किसी विशेष आर्थिक व्यवस्था से नहीं बंधा है, दूसरी ओर राज्य की आर्थिक व्यवस्था सम्बन्धी नीति निदेशक सिद्धान्तों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि राज्य समाजवादी दिशा में प्रगति करेगा, क्योंकि उनमें कहा गया कि राज्य देश के उत्पादन साधनों व सम्पत्ति के स्वामित्व का नियन्त्रण इस प्रकार करे कि अधिक से अधिक जनकल्याण कर सके और यह भी ध्यान रखे कि आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि जिससे धन और उत्पादन के साधनों का अहितकारी एकत्रीकरण न हो।

स्वतन्त्र न्यायपालिका तथा अन्य अभिकरण (Independent Judiciary and other Agencies)—स्वतन्त्रता की प्रथम शर्त स्वतन्त्र न्यायपालिका को समझा जाता है। न्यायपालिका ही नागरिकों के अधिकारों की संरक्षक होती है। इसके अतिरिक्त संघात्मक संविधान में तो इसका महत्व एक अन्य कारण से और भी

हो जाता है, क्योंकि यही संविधान के प्राविधानों का अधिकारपूर्ण और अन्तिम निर्वाचन कर सकती है तथा केन्द्र व इकाइयों के अधिकारों की सीमा में एक दूसरे के हस्तक्षेप को रोक सकती है। अतएव भारत के संविधान ने एक सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की है जो भारत का उच्चतम न्यायालय है। वास्तव मे, इसने पूर्व के संघीय न्यायालय का स्थान ले लिया है। भारतीय न्याय-व्यवस्था की एक विशेषता यह है कि संघ व राज्यों के न्यायालय अलग-अलग नही वरन् एक ही व्यवस्था में गुंथे हैं, जबकि संयुक्त राज्य अमरीका में न्यायालयो की दोहरी व्यवस्था है। संविधान के निम्नलिखित उपबन्धो द्वारा सर्वोच्च व उच्च न्यायालयों को स्वतन्त्र और निष्पक्ष बनाया गया है :

(१) राष्ट्रपति न्यायाधीशों की नियुक्ति सम्बन्धित न्यायालयो के न्यायाधिपतियो व न्यायाधीशों के परामर्श से करता है। (२) प्रत्येक न्यायाधीश के पद की सुरक्षा (Security of tenure) की संविधान मे गारण्टी है। (३) न्यायाधीशों के वेतन में विधान-मण्डल साधारणत. परिवर्तन नही कर सकते। (४) नियुक्ति के उपरान्त न्यायाधीश के विशेषाधिकारो, उपलब्धियों आदि में कोई अहितकर परिवर्तन नही किया जा सकता और न्यायालयो का कुल व्यय सरकारी कोष पर भारित होता है। (५) सर्वोच्च व उच्च न्यायालयों को अपने अधीन कर्मचारियों की नियुक्ति करने व अपनी कार्यवाही के सम्बन्ध मे नियम बनाने के अधिकार प्राप्त है। (६) न्यायाधीश पद-निवृत्ति पर किसी न्यायालय में वकालत नहीं कर सकते। (७) संघ अथवा राज्य किसी भी विधान-मण्डल में न्यायाधीशो के अपने कर्तव्य-पालन मे किये गये कार्यों पर कोई वाद-विवाद नही हो सकता।

स्वतन्त्र न्यायपालिका के अतिरिक्त अन्य स्वतन्त्र अभिकरणो मे ये महत्वपूर्ण है—(१) निर्वाचन आयोग संघ व राज्य विधान-मण्डलो तथा राष्ट्रपति व उपराष्ट्रपति के निर्वाचनो की सम्पूर्ण व्यवस्था करने की शक्तियाँ एक स्वतन्त्र निर्वाचन आयोग को सौंपी गई हैं। (२) नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक के अधीन संघ व राज्य सरकारो के सम्पूर्ण वित्त पर नियन्त्रण व उनके हिसाबों की जाँच पड़ताल के लिए एक पूरा विभाग खोला गया है। (३) लोक-सेवा-आयोग—संघ के राज्यों में विभिन्न सेवाओं के सदस्यो की भरती आदि के लिये लोक-सेवा-आयोगों की व्यवस्था की गई है।

विशेष उपबन्ध (Special Provisions)—यद्यपि संविधान में समता और धर्म-निरपेक्ष राज्य के उच्च आदर्शों को अपनाया गया है फिर भी कुछ पिछड़े हुये वर्गों तथा अल्पसंख्यको के लिये कुछ विशेष प्राविधानो द्वारा विशेष सुविधाएँ देने की अस्थायी रूप में व्यवस्था की गई है। जहाँ तक मूल अधिकारो का सम्बन्ध है धर्म जाति, लिंग, आदि किसी भी आधार पर नागरिको के बीच कोई भेद-भाव नहीं

किया गया है। परन्तु अनुसूचित वर्गों व जनजातियों के लिये संघीय राज्यों के विधान-मण्डलों में १० वर्ष की अवधि के लिये आरक्षित स्थानों (reserved seats) की व्यवस्था की गई थी। आंग्लभारतीय समुदाय को विधान-मण्डलों में प्रतिनिधित्व देने के लिये राष्ट्रपति व गवर्नर उनके कुछ प्रतिनिधियों को नामजद कर सकते है। इन सभी के लिये सरकारी नौकरियों में भी कुछ सुविधायें प्रदान की गई थी, जिन्हें १० वर्ष के लिये बढ़ा दिया गया। इनका उद्देश्य पिछड़े हुये वर्गों को शीघ्र ही अन्य नागरिकों के समान पद दिलाना है।

धर्म-निरपेक्ष राज्य (Secular State)—भारत के संविधान द्वारा एक धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना की गई है। भारत में विभिन्न धर्मों व सम्प्रदायों के प्रति राज्य की ओर से धार्मिक मामलों में कोई पक्षपात-पूर्ण नीति का पालन न किया जायेगा। यह लक्ष्य भारत की परम्परा व राष्ट्रीय आन्दोलन के घोषित लक्ष्यों तथा आधुनिक प्रगतिशील विचारधारा से पूर्णतया मेल खाता है। धर्म-निरपेक्ष राज्य का आधार-भूत सिद्धान्त यह है कि **राज्य की ओर से धार्मिक मामलों में तटस्थता की नीति का पालन किया जाय**। व्यवहार में किसी भी नागरिक को अपने धर्म के कारण कोई विशेषाधिकार प्राप्त न होगा अथवा अधिकार की कमी अनुभव न होगी। परन्तु धर्म-निरपेक्ष राज्य का यह अर्थ कभी नहीं कि राज्य अधार्मिकता अथवा नास्तिकवाद को बढ़ावा देगा। इस दृष्टि से भारत अनेक प्रगतिशील राज्यों से भी आगे है। इंगलैण्ड में अभी तक राज्य द्वारा स्थापित गिरजे के अनुयायियों को एक विशेष प्रकार की मान्यता प्राप्त है। पाकिस्तान ने तो एक प्रकार से इस्लामी गणराज्य की स्थापना की है।

भारत के संविधान ने **सभी नागरिकों को समान अधिकार, विश्वास की स्वतन्त्रता, धर्म के पालन व पूजा और धर्मप्रचार की स्वतन्त्रता प्रदान की है।** राज्य की ओर से किसी धर्म को कोई विशेष मान्यता प्रदान नहीं की गई है और न ही राज्य सरकारी कोष से किसी धर्म के प्रचार के लिए कोई धन-राशि व्यय करेगा। ये सभी प्राविधान उस आधुनिक विचारधारा के अनुसार है जो कि धर्म को एक वैयक्तिक मामला समझती है और जिससे राज्य का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति का अन्त कर दिया गया है और राज्य ने धार्मिक मामलों में तटस्थता अथवा उदासीनता की नीति अपनाई है। इस सम्बन्ध में हमें **लास्की** का यह विचार अति महत्वपूर्ण प्रतीत होता है कि यदि राज्य किसी धर्म विशेष को मान्यता देगा तो उसके अनुयायियों को किसी न किसी रूप में कोई विशेषाधिकार अवश्य ही प्राप्त हो जायेगा। कोई भी नागरिक सच्चे रूप में धार्मिक विश्वास की स्वतन्त्रता का उपभोग नहीं कर सकता जब तक कि राज्य धार्मिक मामलों में उदासीनता का रूख न अपनाये। किन्तु **सर आइवर जैनिंग्स** ने इस सम्बन्ध में कहा है: "एक सदस्य वाले निर्वाचन-क्षेत्रों का प्रभाव अनिवार्य रूप से यह होता है कि बहुसंख्यक दल को लाभ पहुचता है। ब्रिटेन में

विजयी बहुसंख्यक दल का प्रतिनिधित्व बढ़ जाता है।" एशिया में गम्भीर खतरा है कि मतदान साम्प्रदायिक आधार पर होगा और तदनुसार साम्प्रदायिक अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व अपर्याप्त होगा। सीलोन ने अपने संविधान में इस समस्या के विरुद्ध रक्षा की है जबकि भारत ने इसे महत्वहीन समझा है।

आगे चलकर 'भारतीय संघवाद' नाम के अध्याय में लेखक ने कहा है कि वास्तव में अल्पसंख्यकों के दावों पर ध्यान न देना भारतीय संघवाद की एक बड़ी विशेषता है। सन् १९४० तक भारत को स्वतन्त्रता न देने का आधार विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों व जातियों के विरोधी दावों का होना बताया जाता था। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप कांग्रेसी राजनीतिज्ञों ने जो सबसे बढ़कर राष्ट्रवादी थे, अल्पसंख्यकों के हितों और भावनाओं को न्यूनतम महत्व दिया है। सम्भवतः इतिहास हमें बतायेगा कि साम्प्रदायिक दावों को महत्व न देना पाकिस्तान की रचना का एक कारण था। वे देश जिनमें नागरिकों की वफादारी विभक्त रहती है सदैव ही एक कठिन भ्रमजाल (dilemma) में फंसे रहते हैं। साम्प्रदायिक दावों से समझौता कर लेना राज्यनीतिज्ञता की सीमा हो सकता है, क्योंकि इसके द्वारा बहुसंख्यकों को अल्पसंख्यकों का समर्थन प्राप्त हो जाता है। दूसरी ओर, साम्प्रदायिक दावों को मानने से वे सुदृढ़ होते हैं। भारत की संविधान सभा ने उन्हें महत्व न देने का निर्णय किया है। यदि यह साहसपूर्ण पग सफल हो गया तो इतिहास में इसका रेकार्ड उच्चतम नीतिज्ञता के निर्णय में रहेगा। यदि यह असफल रहा तो इतिहास में इसे राजनीतिक अन्धेपन का दूसरा दृष्टान्त माना जायेगा।

दुस्संशोध्यता और सुसंशोध्यता का अपूर्व मिश्रण (Mixture of Rigidity and Flexibility)—भारत का संविधान संघात्मक है और संघात्मक संविधान की एक विशेषता दुस्संशोध्यता मानी जाती है। अतएव भारत के संविधान में दुस्संशोध्यता तो होनी चाहिए और है भी। संविधान में संशोधन के लिए एक विशेष प्रक्रिया व विशेष बहुमत की व्यवस्था है। परन्तु इसके साथ ही संविधान में संशोधन करना अत्यन्त कठिन नहीं है। आपातकाल की उद्घोषणा के दौरान तो भारत का संविधान बिना किसी प्रकार के संशोधन के ही संघात्मक के स्थान पर एकात्मक का रूप धारण कर सकता है। वास्तव में हमारे संशोधन-निर्माताओं ने इन दोनों विशेषताओं का इतना अच्छा और बुद्धिपूर्ण मिश्रण किया है कि हमें दोनों का ही लाभ उठाने का अवसर मिलेगा। किसी भी पुराने संघात्मक प्रजातन्त्र में इस प्रकार की व्यवस्था नहीं पाई जाती कि वह आपातकाल में हमारे संविधान की भांति एकात्मक बन सकें, परन्तु आज की तेजी से बदलने वाली परिस्थितियों को देखते हुये ऐसी व्यवस्था का होना किसी वास्तविक खतरे का मुकाबला करने के लिये आवश्यक व उपयोगी प्रतीत होता है। भारत के संविधान में एक ओर दुस्संशोध्यता के दोष को कम किया गया है, तो दूसरी ओर इसमें कानूनी विवादों (Legalism) के दोष को भी कम किया गया है। ये दोष संयुक्तराज्य अमरीका

के सविधान मे विशेष मात्रा में पाये जाते है। अतएव हमारे सविधान निर्माताओ ने आस्ट्रेलिया के उदाहरण पर चलकर समवर्ती सूची की व्यवस्था की है और उसमें विषयों की सूची को पहले से अधिक विस्तृत किया गया है। समवर्ती सूची मे विवाह, तलाक, सम्पत्ति का उत्तराधिकार, सविदा (Contracts), अपराध, नाप और तोल आदि विषयो को सम्मिलित करके सम्पूर्ण देश के लिये एकरूप कानून बनाये जाने की व्यवस्था की गई है और आवश्यकतानुसार उन पर राज्य भी कानून बना सकते है।

परन्तु इस विषय में भी सर आइवर जैनिंग्स ने एक भिन्न मत प्रकट किया है। उन्होने अपनी पुस्तक मे लिखा है: "भारत में मुकदमेबाजी एक बडा उद्योग है। वकालत का पेशा ऐसा होता है जिसमें अत्यधिक सरलता से घुसा जा सकता है। इससे भी बढकर बात यह है कि वकालत का ही पेशा ऐसा है जिसके साथ राजनीतिज्ञ को मिलाया जा सकता है। इसी कारण वकील राजनीतिज्ञो ने भारत की राजनीति मे ससार के अन्य देशो की अपेक्षा अधिक भाग लिया है। इसने भारत के सविधान मे पेचीदगी को बढा दिया है। विभिन्न कारणो से भारत का सविधान सबसे अधिक पेचीदा हो गया है। परन्तु सविधान इसलिये बनाये जाते है कि शासन कार्य अधिक सुगमता से हो सके, सवैधानिक वकीलो को फीस दिलाने के लिये नही। जितने अधिक कानूनी विवाद होंगे शासन-कार्य उतना ही कठिन हो जायेगा। भारत ने कदाचित् हम (सवैधानिक वकीलो) में अत्यधिक विश्वास रखा है।"

५. संविधान की समालोचना

भारत के सविधान की सविधान सभा के अनेक सदस्यो तथा अन्य व्यक्तियों ने निर्माण करते समय तथा उसके उपरान्त विभिन्न दृष्टियों से आलोचना की। उनमे से कुछ मतो के ऊपर यहां विचार करना उपयुक्त होगा। सर्वप्रथम, कुछ लेखकों ने इसके विस्तार की आलोचना की है और उनमें सबसे प्रमुख सर आइवर जेनिंग्स जैसा संविधान शास्त्री है। इन लेखको के अनुसार संविधान में शासन के विभिन्न अंगों और विधियों के सम्बन्ध में विस्तृत उपबन्ध दिये गये हैं। अन्य देशो के सविधान से इसका आकार अत्यधिक बडा है। इस तथ्य मे सत्य का काफी अश है, परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नही लगाया जाना चाहिये कि सविधान का बड़ा आकार कोई दोष है। वास्तव में, सविधान का आकार बडा होने के कई कारण है, जिनमें से प्रमुख देश की राजनीतिक परिस्थितियां और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है। संविधान भारत जैसे विशाल देश के लिये बना है, इसमें सघ और विभिन्न श्रेणियो के राज्यो के शासन, उनके आपसी सम्बन्ध, भाषा, मूल अधिकार, अस्थायी उपबन्ध आदि अनेक आवश्यक बातों का समावेश किया गया है। इन प्रश्नो को प्रथाओ या आने वाली परिस्थितियो के ऊपर छोड़ देना भूल होती, साथ ही उनका निर्णय हो जाने से कई महत्वपूर्ण समस्याओं का निराकरण हो गया है। संयुक्तराज्य अमरीका का सविधान अति संक्षिप्त है, किन्तु उसमें अनेक बातें छूट गई है। ब्रिटेन का सम्पूर्ण

सविधान लिखित व अलिखित हमारे सविधान से छोटा नही समझा जा सकता। वहाँ प्रजातन्त्र की नीव अति सुदृढ़ और गहरी जम चुकी है और लोकमत के बल से वहाँ अधिकार, सामान्य कानून व ससदात्मक शासन से सम्बद्ध प्रथाओं का उचित पालन हो जाता है। इन बातो को भारत में विकास के लिये नही छोडा जा सकता था। इस सम्बन्ध में यह भी कहना उपयुक्त होगा कि भारत का सविधान सन् १९३५ के अधिनियम से आकार में बहुत अधिक बडा नही है।

आलोचना का दूसरा आधार यह है कि **सविधान एक प्रकार से विभिन्न संविधानो से ली गई बातों की खिचड़ी (Mixture) है।** ऐसे आलोचक शायद यह समझते है कि सविधान निर्माताओ ने विभिन्न देशो के सविधानों से भिन्न-भिन्न बाते पूरी तरह सोच-विचार कर नही ली है और उन्हें ठीक प्रकार से नही अपनाया है। यह बात तो सच है कि इस सविधान मे कई देशो के सविधानो में अनेक बातें ली गई हैं, किन्तु उन्हें अपने देश और परिस्थितियो के अनुकूल ढालकर ही सविधान मे स्थान दिया गया है। वास्तव में, सविधान निर्माताओं ने उन देशो के अनुभवो से लाभ उठाने का बडा ही बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य किया।[8] यही कारण है कि हमारे सविधान मे कुछ सिद्धान्तो का, जो ऊपर से विरोधी प्रतीत होते है, बहुत ही सुन्दर *मिश्रण हुआ है। हमारा सविधान सघात्मक है, किन्तु इसमें अनेक* लक्षण एकात्मक सविधान के है। इसमे ससदात्मक पद्धति अपनाई गई है किन्तु राष्ट्रपति को कुछ ऐसे अधिकार दिये गये है जो कि संसदात्मक पद्धति वाले देशो के प्रमुख को साधारणत प्राप्त नही होते। यह सविधान अपरिवर्तनशील है, किन्तु उसमे परिवर्तनशीलता (flexibility) का आधिक्य है। यदि आलोचक विचार करे तो इस निष्कर्ष पर पहुंचेगे कि जो भी बाते अन्य सविधानो मे ली गई है उनका अन्धानुकरण नही किया गया है, वरन् उन्हे अपने देश की परिस्थितियो व दशाओ के अनुकूल बनाया गया है और जहाँ कही भी सम्भव हो सका है उनमे प्रगतिशील सुधार भी किये गये है।

आलोचको का यह भी कहना है कि **भारत का सविधान सन् १९३५ के भारतीय शासन अधिनियम की नकल है।** यह सच है कि इसमे बहुधा उसी भाषा

---

8 "Undoubtedly it is true that the (Draft) Constitution has borrowed from other Constitutions and not only from the Act of 1935. But so long as the borrowings have been adapted to India's peculiar circumstances, they cannot in themselves be said to constitute a defect. Most modern Constitutions do make full use of the experience of other countries, borrow whatever is good from them and reject whatever is unsuitable. To profit from the experiences of other countries or from the past experience of one's own is the path of wisdom"

Rau, B. N., *India's Constitution in the Making*, p 361.

व शब्दावली का प्रयोग किया गया है जो समानान्तर उपबन्धों के विषय में सन् १९३५ के अधिनियम में मिलती है। अनेक उपबन्धों का रूप बहुत कुछ वैसा ही है, परन्तु इस संविधान को १९३५ के शासन की नकल कहना भ्रममूलक है। जबकि सन् १९३५ का अधिनियम विदेशी शासकों द्वारा अपनी सत्ता को बनाये रखने के हेतु भारतीयों पर थोपा गया था; भारत का संविधान भारतीयों ने बनाया है। जबकि उस संविधान में केवल बाहरी दिखावा और चातुर्यपूर्ण भाषा का प्रयोग था, अब उसके द्वारा सच्चे प्रजातन्त्र, उत्तरदायी शासन व एक व्यावहारिक संघ की स्थापना देश में हुई है। इन दोनों का अन्तर बहुत सीमा तक शरीर और आत्मा के बीच अन्तर के सदृश्य है। परन्तु यदि नकल का अर्थ संकुचित रूप में उन बातों से लें जो कि सन् १९३५ में संविधान के आधारभूत सिद्धान्त थे तो हम यह अवश्य मानेंगे कि भारत के संविधान में संसदात्मक पद्धति और संघात्मक रूप बहुत कुछ सन् १९३५ के संविधान से लिये गये हैं। कुछ व्यक्तियों के अनुसार इस आलोचना का आधार यही है कि हमारे संविधान निर्माताओं ने सन् १९३५ के संविधान के शासन सम्बन्धी मूल सिद्धान्तों को अपनाया है अर्थात् उन्होंने किसी नई शासन व्यवस्था को अपनाकर एक प्रकार के पूर्वगामी संविधान की ही नकल की है। इस दृष्टि से भारत का संविधान अवश्य ही बहुत सीमा तक नकल कहला सकता है।[9]

तीसरे, जब संविधान का निर्माण हो रहा था तो साम्यवादी और समाजवादी नेताओं ने इसकी इस आधार पर आलोचना की थी कि इसमें 'समाजवादी प्रजातन्त्र' की स्थापना का ध्येय नहीं अपनाया गया। संविधान सभा में जवाहरलाल नेहरू ने स्पष्ट रूप से कहा था कि भारत का संविधान किसी वाद से सम्बद्ध नहीं है, परन्तु इसके द्वारा देश में सुगमता से समाजवादी प्रजातन्त्र की स्थापना की जा सकती। संविधान के प्राक्कथन में दिये गये महान् आदर्शों—स्वतन्त्रता, समानता, भ्रातृत्व व न्याय तथा मूल अधिकारों और राजनीति के निदेशक सिद्धान्तों की पूर्ति सच्चे प्रजातन्त्र व समाजवादी व्यवस्था की स्थापना द्वारा ही हो सकेगी और उसी दिशा में संविधान को कार्यान्वित करने वाले देश के

---

9 "It will be noticed that its main framework is modelled on the pattern of the Government of India Act, 1935 ......Thus, we find that more than one hundred Articles of the Constitution are sub-statntial or verbatim re-productions of the Provisions of the Government of India Act, 1935. Moreover, some of the basic Principles of the Constitution dealing with the distribution of legislative powers, and finance and property are borrowed from the Government of India Act, 1935. It would, therefore, be evident that the Indian Constitution is not entirely an innovation but has its roots deep in the past."

• Sen. Sardar D K, *A Comperative Study of the Indian Constitution, V. I, p.51.*

प्रतिनिधि बढ़ रहे है। वास्तव मे, अविकसित देशों में प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली की सफलता बहुत सीमा तक आर्थिक न्याय और समाजवादी व्यवस्था पर निर्भर करती है। इस बात मे कोई सन्देह नही कि राज्य नीति के कई निदेशक सिद्धान्त कल्याणकारी (Welfare) राज्य की स्थापना की ओर स्पष्ट सकेत करते है। इन सिद्धान्तों को कार्यरूप मे परिणित करने का परिणाम बहुत कुछ समाजवादी व्यवस्था की स्थापना ही होगा। इसके पक्ष में यह बात भी कही जा सकती है कि सविधान की वर्तमान धाराओं के अधीन रहकर ही देश का शासन चलाने वाली राष्ट्रीय कांग्रेस ने देश में समाजवादी ढग का समाज (Socialist Pattern of Society) के ध्येय को अपनाया और उसकी पूर्ति की ओर देश बढ रहा है। इस दिशा मे उठाये गये कदमो को धीमा अवश्य ही कहा जा सकता है, किन्तु इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि पग निश्चित रूप मे दृढता के साथ उसी दिशा मे उठ रहे हैं। जैसा कि कुछ लोगों को भय था सम्पत्ति का अधिकार इस प्रगति मे बडी बाधा सिद्ध नही हुआ है, क्योंकि आवश्यकतानुसार उसमे सशोधन किया जा चुका है और समाजवाद की ओर बढने के लिये वर्तमान सरकारे दृढ-प्रतिज्ञ है।

चौथे, कुछ आलोचको ने सविधान की आलोचना इस आधार पर की है कि **इसमें मौलिकता की कमी है।** सविधान निर्माताओं का उद्देश्य मौलिक सविधान बनाना न था, उन्हें तो देश की दशाओं और परिस्थितियो को ध्यान मे रखकर एक ऐसा सविधान बनाना था जो कार्य-रूप में सफल सिद्ध हो और जिसके द्वारा कठिन समस्याओं का सन्तोषपूर्ण निराकरण हो जाये। इस उद्देश्य की पूर्ति में सविधान निर्माताओं को अपूर्व सफलता मिली है। देश की अनेक कठिन समस्याये धीरे-धीरे हल होती अथवा सुलझती जा रही है। राज्यो का पुनर्गठन, राज्य भाषा का निर्णय आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण है। यह भी स्वीकार किया जायेगा कि भारत के संविधान मे कुछ मौलिक बातो का समावेश हुआ है, जैसे राष्ट्रपति के निर्वाचन की पद्धति और निर्वाचन आयोग की व्यवस्था आदि।

पांचवे, डा० एम० पी० शर्मा के अनुसार इस सम्बन्ध मे भारत के सविधान की अन्य दो आधारों पर आलोचना की गई है। प्रथम, **कुछ आलोचक चाहते थे कि सविधान किसी प्राचीन भारतीय नमूने के सदृश होता और कुछ दूसरे आलोचक महात्मा गांधी के विचारों से प्रेरणा लेते हुये उसे स्वशासित ग्रामों और जिलों के गणराज्यों पर आधारित बनाना चाहते थे।** जहां तक प्राचीन भारतीय नमूने का सम्बन्ध है उसमें दो कठिनाइयां थी। प्रथम, प्राचीन भारत में एक नही वरन् अनेक नमूनो की शासन-पद्धतियां प्रचलित थी। दूसरे, हिन्दुओं की शासन-पद्धतियो का विकास हजार वर्ष से भी अधिक लम्बे काल तक रुका रहा। अतएव वे शासन-पद्धतियाँ वर्तमान परिस्थितियो और समस्याओं को हल करने में उचित मार्ग-दर्शन नही कर सकती थी। जहां तक गांधी जी की योजना का सम्बन्ध है, जिसमे कि पिरेमिड

सदृश संवैधानिक ढांचा होता; वह बहुत कुछ उस ढंग का संविधान होता जैसा कि कांग्रेस दल का संगठन हैं। जो संविधान एक दल के लिये उपयुक्त है वह देश के लिये भी उपयुक्त हो ऐसा आवश्यक नही। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि गाधी जी तो चाहते थे कि सत्ता नीचे से अर्थात् गांव पचायतो से ऊपर की ओर बहनी चाहिये, किन्तु हमारे संविधान मे सत्ता का बहाव ऊपर से नीचे की ओर को है। अत गाधी जी के दृष्टिकोण से सघ अति क्षीण होना चाहिये था, परन्तु वर्तमान काल की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में सुदृढ़ केन्द्र का होना अति आवश्यक समझा जाता है। साथ ही भारत के इतिहास से यह भी पाठ मिलता है कि केन्द्र कमजोर नही रहना चाहिये। इस प्रकार यद्यपि भारतीय सविधान गाधी जी के विचारो के अनुसार नही ढला है, फिर भी उसमें उनके विचारो को उपयुक्त स्थान देने का प्रयत्न किया गया है। अस्पृश्यता का निवारण, ग्राम-पचायतों का संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को प्रोत्साहन देने वाले विचारो के लिये सविधान मे महत्वपूर्ण स्थान है।

छठे, कुछ आलोचकों ने भारत के संविधान को वकीलों का स्वर्ग (Lawyers' paradise) कहा है। उनके मतानुसार भारतीय सविधान एक पेचीदा आलेख (Complicated document) है और उसकी भाषा न्यायालयों में प्रयुक्त की जाने वाली है। सविधान के प्राविधानों मे अनगिन अपवाद (Exception), शर्तें (Qualifications) और स्पष्टीकरण (Explanations) दिये गये है। इन आलोचको के दृष्टिकोण मे, इन उपबन्धों के लिये कुछ भी कारण क्यो न हो, ऐसे सविधान का समझना साधारण पाठक के लिये कठिन है। केवल अनुभवी सवैधानिक वकील ही इन उपबन्धो की बारीकियों को समझ सकते है। सविधान के निर्वचन की कठिनाइयो के कारण मुकदमेबाजी बढेगी, परन्तु सविधान के ऊपर ध्यानपूर्वक विचार करने से यह कहा जा सकता है कि सविधान की पेचीदगी का यह अर्थ नही हो सकता कि उसके कारण मुकदमे बढेगे। सयुक्तराज्य अमरीका के संविधान मे वाणिज्य सम्बन्धी धारा की भाषा बडी सरल है किन्तु उसके आधार पर निरन्तर मुकदमे चलते रहे हैं। श्री पायली के मतानुसार तो सविधान के बडे होने मे पेचीदगी कम हुई है और मुकदमेबाजी की सम्भावना भी कम हो गई है।[10]

सातवें, कुछ आलोचकों का मत है कि मूल अधिकार अति सीमित है और सविधान में राज्य नीति के सिद्धान्तों का सम्मिलित किया जाना अर्थहीन है। इस विषय का विस्तारपूर्ण विवेचन अगले अध्याय में किया गया है।

---

10 "The elaborate nature of the Indian Constitution, instead of enhancing the scope of litigation, has in fact helped to reduce it completely. The best example is that of Union-State relations."

Pylee, M V, *India's Constitution*, p. 9.

आठवें, कुछ आलोचकों के अनुसार भारत में वास्तविक संघ की स्थापना नहीं हुई है, क्योंकि केन्द्र को अत्यधिक शक्तिशाली बनाया गया है। यहाँ पर हम डी. के. सेन और पामर के मतों को देना उचित समझते हैं। सरदार डी. के. सेन के मतानुसार भारत में प्रजातन्त्र का रूप मिश्रित (Synthetic Democracy) है। उन्होंने लिखा है :

> भारतीय संविधान के उपबन्धों की परीक्षा करने से स्पष्ट पता लगता है कि उसमें समाविष्ट राजनीतिक संगठन का रूप प्रजातन्त्र की किसी भी मान्य श्रेणी के अन्तर्गत नहीं आता; इसके विपरीत यह तो एक वर्ण-संकर उपज प्रतीत होती है; यह उत्तरदायी शासन पद्धति के आवश्यक तत्वों और अध्यक्षात्मक शासन के तत्वों का अजीब मिश्रण है। संविधान में स्पष्ट रूप से व्याख्या की गई है कि संघ व राज्यों की मन्त्रि-परिषदें सामूहिक रूप से अपने-अपने विधान-मण्डल के प्रति उत्तरदायी होंगी। इसके साथ ही गणतन्त्र की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित है और उसका वह स्वयं प्रत्यक्ष रूप में या अधीन अधिकारियों के द्वारा *संविधान के अनुसार प्रयोग करता है। यह भी स्पष्ट रूप में कहा गया है* कि मन्त्रि-परिषद् का प्राथमिक कार्य राष्ट्रपति को उसके दायित्वों को पूरा करने में **'सहायता व परामर्श देना है'**। इसके आगे यह उपबन्ध है कि मन्त्रियों को राष्ट्रपति नियुक्त करता है और वे अपने पदों पर उसके प्रसाद पर्यन्त आसीन रहते हैं। राष्ट्रपति को आपातकाल का मुकाबला करने के लिये विस्तृत शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। इन सब उपबन्धों में सबसे अधिक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि वे राष्ट्रपति द्वारा संवैधानिक शक्तियों के प्रयोग पर कोई सीमा नहीं लगाते। भारतीय संविधान राष्ट्रपति की सत्ता पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाता। इसके विपरीत, संविधान में स्पष्ट व्यवस्था है कि प्रत्येक कार्यांग कार्य को राष्ट्रपति के नाम से किया जायेगा, परन्तु उसमें यह नहीं विदित किया गया कि प्रत्येक ऐसे कार्य को किसी उत्तरदायी मंत्री के हस्ताक्षर द्वारा अधिकृत किया जाय। जैसा कि प्रायः संसद पद्धति वाले राज्यों में *व्यवस्था है। अनुच्छेद ७७ के खण्ड (२) ने सम्पूर्ण मामले* को राष्ट्रपति के हाथों में सौंप दिया है। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि संविधान की भाषा के अनुसार राष्ट्रपति फिर से जीवित किये गये वाइसराय के समान सत्ता का अधिकारी है।[11]

---

11 "An examination of the Provisions of the Indian Constitution clearly shows that the pattern of political organization embodied in it does not come under anyone of these categories of democracy; on the contrary it appears to be a hybrid product, a cuvious mixture of the essential elements of the system of responsible Government and of the Presidential regime....

संक्षेप में, नॉर्मन डी० पामर के अनुसार भारत के संविधान ने भारत को एक प्रजातन्त्रात्मक धर्म-निरपेक्ष राज्य बनाया है, जिसमे आवश्यक रूप से सांसद पद्धति और संघात्मक संरचना स्थापित हुई है। व्यवहार में, इस साधारण निष्कर्ष के साथ कई शर्तें लगी है। शायद यह कहना अधिक परिशुद्ध होगा कि भारत मे प्रजातन्त्र वास्तविकता नही ध्येय है. दूसरे शब्दों में, कि भारत प्रजातन्त्र बन रहा (democracy-in-being) है और प्रजातन्त्रात्मक संस्थाओं के सफल विकास का भविष्य अभी अज्ञात है। भारत के नेता, ···, धर्म-निरपेक्ष राज्य की धारणा के प्रति भक्ति रखते है, परन्तु देश मे सुदृढ़ साम्प्रदायिक शक्तियाँ भिन्न दिशा में खींच रही है। यद्यपि भारत में आवश्यक रूप से सांसद पद्धति है, जो कि नेहरू के अनुसार आवश्यक परिवर्तनो के साथ अधिकांशत: ब्रिटिश नमूने पर ढाली गई है, उनमे से कुछ परिवर्तन जैसे राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियाँ और सर्वोच्च न्यायालय का भाग यह संकेत करते है कि भारत मे सांसद और अन्य रूपो का विचित्र मिश्रण है।[12]

निष्कर्ष—उपरोक्त विवेचन का यह अर्थ नही कि संविधान सभी दृष्टियो से दोष रहित अथवा सर्वोत्तम है, परन्तु यह अर्थ अवश्य है कि तत्कालीन भारत की दशाओ और परिस्थितियो मे श्रेष्ठतर संविधान बनना सम्भव न था। वास्तव में इस संविधान में आदर्श सिद्धान्तों व व्यावहारिक बातों का पूर्ण ध्यान रखा गया है और संविधान ऐसा है कि इसमे साधारण परिवर्तन व संशोधन तो अवश्य ही होते रहेंगे, परन्तु इसका स्वरूप बदल डालने वाले परिवर्तनो की आवश्यकता तब तक नही पड़ेगी जब तक भारत के नेता और जनता प्रजातन्त्रात्मक और शांतिपूर्ण ढंग से देश की समस्याओ को सुलझाने पर कटिबद्ध रहेंगे। वास्तव में, संविधान तो एक प्रकार का साधन है। इसके द्वारा देश की स्वतन्त्रता और सुरक्षा अक्षुण्ण रहे, देशवासियो का जीवन सुखी और समृद्धिशाली बन सके, दलित और पिछड़े हुए वर्गों के सदस्य भी स्वतन्त्रता और अधिकारो का उपभोग कर सकें तो इन उच्च

It would therefore appear that, according to the test of the Constitution, the President of India has the authority of a resurrected Viceroy."

Sen, Sardar D. K., '*A Comparative Study of the Indian Constitution*, pp 54–5.

12 "Briefly stated, the Constitution of India makes India a democratic secular State with what is essentially a parliamentary system and a federal structure. In practice, no doubt, this generalization must be qualified in many ways.... Although India has essentially a parliamentary system, patterned, as Nehru himself stated, largely after the British model, with necessary variations, some of the variations, such as the emergency powers of the President and the role of the Supreme Court, suggest a strange blending of parliamentry and non-parliamentary forms "

Kahin, M G. (ed): *Major Governments of India*, p 313

उद्देश्यों की पूर्ति से संविधान की सफलता सिद्ध हो सकेगी। परन्तु इस सम्बन्ध
यह ध्यान अवश्य ही रखना चाहिये कि संविधान के तन्त्र को चलाने वाले तो
देशवासी ही हैं। यदि उनमें कमियाँ बनी रही तो क्या सर्वश्रेष्ठ कहा जाने
वाला यह संविधान भी विफल हो जायेगा। केवल प्रजातन्त्रात्मक संविधान अपनाने
से प्रजातन्त्र की स्थापना होने वाली नहीं है। उसके लिये तो देशवासियों को उसके
योग्य बनना होगा, तभी प्रजातन्त्र और इच्छित समाजवादी व्यवस्था की स्थापना
का स्वप्न पूरा हो सकेगा।

—:०:—

अध्याय ५

नागरिकता, मूल अधिकार और निदेशक सिद्धान्त

१. नागरिकता

भारतीय नागरिकता की सर्वप्रथम विशेषता यह है कि भारत में सघात्मक पद्धति के अपनाने पर इकहरी नागरिकता (single citizenship) का आदर्श स्वीकार किया गया है। इसके विपरीत सयुक्तराज्य अमेरिका में दुहरी नागरिकता है अर्थात् वहाँ पर किसी भी इकाई राज्य का नागरिक अपने राज्य का नागरिक और संयुक्तराज्य अमेरिका दोनो का नागरिक होता है। सयुक्तराज्य अमेरिका की नागरिकता के लिये एकरूप कानून हैं, परन्तु उनके अतिरिक्त प्रत्येक इकाई राज्य के अपने-अपने विशेष कानून भी है। भारत में इकहरी नागरिकता के कारण नागरिकता के अधिकारों और विनियमन के लिए कानून बनाने की शक्ति केवल ससद को ही प्राप्त है। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि भारत मे राष्ट्रीयता (nationality) भी एक है। स्विट्जरलैंड में ३ राष्ट्रीयताओ के व्यक्ति रहते है और सोवियत सघ के सविधान ने तो लगभग २०० राष्ट्रीयताओं तथा उप-राष्ट्रीयताओ को मान्यता दी है। हमारे देश में रहने वाले निवासियो में धर्म और भाषाओ के आधार पर अनेक विविधतायें है; ऐसा होते हुए भी सम्पूर्ण भारतीय सघ के लिए इकहरी नागरिकता और राष्ट्रीयता का होना एकता की प्राप्ति के लिए एक बडा ही महत्वपूर्ण साधन सिद्ध होगा।[1]

भारतीय नागरिकता की दूसरी विशेषता यह है कि सविधान मे नागरिकता के सम्बन्ध में स्थायी प्राविधानो का अभाव है। इसमे तो केवल यह कहा गया है कि सविधान के प्रारम्भ होने पर किन-किन श्रेणियों के व्यक्तियो को भारतीय नागरिकता प्राप्त होगी। अतएव नागरिकता तथा देशीकरण को विनियमित करने के लिये अधिनियम बनाने की शक्तियाँ केवल ससद को प्राप्त हैं। अब स्थिति यह

---

1 "... there is one nationality throughout the Union Unlike Switzerland and the Soviet Union, the Indian Republic is not a pluri-national State." Sen, Sardar D K., *A Comparative Study of the Indian Constitution*, p 122.

है कि संविधान द्वारा किसी व्यक्ति को प्रदान किये गये नागरिकता के पद (status of citizenship) को संसद द्वारा बनाया गया साधारण कानून कुप्रभाव डाल सकता है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि संविधान सभा ने नागरिकता के पद को मूल अधिकार नहीं माना है। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा व्यक्त अग्रलिखित विचार से इस बात का समर्थन होता है : 'यद्यपि भारत के नागरिकों को संविधान के अनुच्छेद १९ में वर्णित मूल अधिकारों की प्रत्याभूति दी गई है, किन्तु नागरिकता का पद, जिस पर कि इन अधिकारों का अस्तित्व जारी रहना निर्भर करता है, स्वयं में मूल अधिकार नहीं है। ······यदि संसद के कानून द्वारा किसी व्यक्ति के आधारभूत नागरिकता के पाठ का वैध ढंग से पर्यावसन कर दिया जाय तो उस व्यक्ति का अनुच्छेद १९ के अन्तर्गत मूल अधिकारों के लिए कोई दावा न रह जायगा।'[2]

परन्तु इस विषय में सीरवाई का मत भिन्न है। नागरिकता के बारे में संसद की कानून बनाने की शक्ति 'संविधान के उपबन्धों के अधीन है (अनु० २४६) और अनुच्छेद ११ संसद को अनुच्छेद ५ से १० तक को किसी भी प्रकार से प्रभावित करने की शक्ति प्रदान करता है। सिद्धान्त रूप में 'नागरिकता' के बारे में विधि-निर्माण की शक्ति में नागरिकता को पूर्णतया उन्मूलित करने की शक्ति भी सम्मिलित है, परन्तु हमारे संविधान के सन्दर्भ में इस प्रकार की शक्ति का अस्तित्व नहीं है, क्योंकि नागरिकता की धारणा हमारे संविधान का मूलाधार है। प्रथम, कुछ मूल अधिकार केवल नागरिकों को ही प्रदान किये गये है, अ-नागरिकों को वे प्रदान नहीं किये जा सकते। दूसरे, कुछ सार्वजनिक पदों पर केवल नागरिक ही नियुक्त किये जा सकते है। अन्त मे, लोकसभा और राज्यों की विधान सभाओं के लिये निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर होते है; अर्थात् प्रत्येक ऐसा व्यक्ति जो भारत का नागरिक हो और जिसकी आयु २१ वर्ष से ऊपर हो मतदाता बनने का अधिकारी है।[3] सम्पूर्ण भारत में एक रूप और सामान्य नागरिकता (common citizenship) है; परन्तु सामान्य नागरिकता और सामान्य भारतीय अधिवास (common Indian domicile) मे अन्तर है। किसी राज्य मे स्थायी रूप से रहने वाले व्यक्तियों को उस राज्य का अधिवासी (domicile) कह सकते है; सरकारी सेवाओं में राज्य के अधिवासियों के लिये कुछ विशेष सुविधाओं की भी व्यवस्था है। सर्वोच्च न्यायालय के एक निर्णय मे कहा गया है : 'नागरिकता और अधिवास दो भिन्न अवधारणाओं का प्रतिनिधित्व करते है। नागरिकता का सम्बन्ध किसी व्यक्ति के राजनीतिक पद (political status) से है और अधिवास का उसके नागरिक अधिकारों (civil rights) से सम्बन्ध है। संविधान के अनुच्छेद ५ के अन्तर्गत, जिसमें नागरिकता की परिभाषा दी गई है, इस आधार पर उपबन्ध

2 See Ghosh, P. K., *The Constitution of India*, pp. 272-73.
3 Seervai, H. M., *Constitutional Law of India*, p. 125.

चना है कि नागरिता अधिवास से भिन्न है, क्योंकि उस अनुच्छेद के अन्तर्गत, अकेला अधिवास ही किसी व्यक्ति पर देश की नागरिकता का पद प्रदान करने के लिये काफी नही है।[4]

सविधान के अनुच्छेद ५ से लेकर ११ तक में नागरिकता सम्बन्धी उपबन्ध दिये गये है। अनुच्छेद ५ मे सविधान के प्रारम्भ पर नागरिकता की दशाओ को समाविष्ट किया गया है। अनुच्छेद ६ व ७ मे पाकिस्तान व भारत मे विभाजन से उत्पन्न समस्या को हल करने के लिये उपबन्ध दिये गये है। अनुच्छेद ८ में विदेशो मे रहने वाले भारतीयो को नागरिकता प्रदान करने वाला उपबन्ध दिया है। ऐसे मामलो के लिये जिनमे प्रवसन (migration) २६ जनवरी १९५० के बाद हुआ अनुच्छेद ९ में व्यवस्था की गई है। अनुच्छेद १० में सविधान के प्रारम्भ पर प्रदत्त नागरिकता के, ससद द्वारा निर्मित कानून के अधीन, जारी रहने के लिये व्यवस्था की गई है। अनुच्छेद ११ ने ससद को सविधान के प्रारम्भ के बाद नागरिकता के अर्जन (acquisition) और उसके पर्यवसान (termination) तथा उसके जारी रहने के बारे मे विधि-निर्माण की शक्ति प्रदान की है। इन्ही शक्तियों के अन्तर्गत ससद ने दिसम्बर १९५५ मे नागरिकता अधिनियम (Citizenship Act) पास किया। सक्षेप में, सविधान के अनुच्छेद ५ से लेकर ८ तक के अन्तर्गत सविधान के प्रारम्भ पर भारत मे ५ प्रकार से नागरिक बने, जिनका वर्णन निम्नलिखित है :

प्रथम श्रेणी में उन व्यक्तियो को नागरिकता प्रदान की गई जो मूलत. भारतीय है अर्थात् जो स्वय भारत में जन्मे या जिनके माता-पिता मे से कोई एक भारत में ही जन्मा था और जो यही के अधिवासी है। इसके साथ ही साथ उन व्यक्तियो को भी नागरिकता प्रदान की गई जो सविधान के आरम्भ होने के समय देश मे कम से कम ५ वर्ष से रह रहे थे। इस श्रेणी में देश के बहुसख्यक नागरिक आते है।

दूसरी श्रेणी मे वे व्यक्ति आते है जो पाकिस्तान से १९ जुलाई सन् १९४८ से पूर्व भारतीय राज्य-क्षेत्र मे आ गये थे और तब से सामान्यत: यही पर रह रहे है, परन्तु उनके बारे मे भी यह शर्त थी कि वे स्वय या उनक माता-पिता या दादा-दादी में से कोई अविभाजित भारत मे पैदा हुये हो। इस श्रेणी में वे हिन्दू और सिक्ख शरणार्थी सम्मिलित हो सके जो विभाजन के बाद शीघ्र ही एक निश्चित तारीख के पूर्व भारत मे आये थे। उन व्यक्तियों को बिना किसी जाँच या पंजीकरण (registration) के ही नागरिक मान लिया गया था और उन्हे नागरिकता प्राप्ति हेतु आवेदन-पत्र भी नही देना पडा।

4 "That place is properly the domicile of a person in which habitation is fixed without any present intention of removing therefrom."
Ibid., pp. 126-27.

तीसरी श्रेणी मे वे व्यक्ति आते है जो पाकिस्तान से १६ जुलाई सन् १९४८ के बाद भारत आये और जिन्होने यहाँ पर कम से कम ६ माह रहने के बाद उचित अधिकारी के सामने नागरिक बनने के लिये आवेदन-पत्र देकर सविधान लागू होने के पूर्व अपना नाम पजिकृत करा लिया था। इसका अर्थ यह हुआ कि इस श्रेणी में वे शरणार्थी सम्मिलित हो सके जिन्होने २५ जुलाई सन् १९४९ से पूर्व भारत में रहना आरम्भ कर दिया था।

चौथी श्रेणी मे वे व्यक्ति आते है जो १ मार्च सन् १९४७ के बाद भारत से पाकिस्तान चले गये थे और जिन्हें साधारणतः भारत की नागरिकता से वंचित कर दिया गया था। परन्तु इन व्यक्तियों में से जो व्यक्ति फिर से भारत मे वापिस आये व जिन्हें भारत सरकार की ओर से स्थायी रूप मे बसने के लिये कानूनी आज्ञा-पत्र प्राप्त हुये उन्हे भारतीय नागरिकता प्रदान की गई। इस प्राविधान के द्वारा उन मुसलमानों को भारत में लौट आने की सुविधा प्रदान की गई जो विभाजन के समय हिन्दू-मुस्लिम दगो के डर से भारत छोड़कर चले गये थे।

पाँचवी श्रेणी मे वे व्यक्ति आते हैं जिनका अपना जन्म या जिनके माता-पिता अथवा दादा-दादी का जन्म अविभाजित भारत मे हुआ, परन्तु जो साधारणतया, किसी विदेश मे रह रहे थे। ऐसे व्यक्ति भारत सरकार के उस देश में राजदूत अथवा वाणिज्य दूत प्रतिनिधि के समक्ष निर्धारित विधि के अनुसार अपना आवेदन-पत्र देकर भारत के नागरिक बन सके। इस प्राविधान द्वारा विदेशों में रहने वाले भारतीय उद्गम (origin) के व्यक्तियो को नागरिकता के अधिकार मिले। परन्तु कोई ऐसा व्यक्ति जिसने स्वेच्छा से किसी अन्य देश की नागरिकता प्राप्त कर ली थी भारत का नागरिक नही हो सकता।

आलोचना—सविधान सभा मे ही डा० पजाब राव देशमुख ने कहा था: "उपरोक्त उपबन्धो के कारण भारतीय नागरिकता का पाना सबसे सस्ता है। कोई भी व्यक्ति जिसका सयोग से भारत मे जन्म हुआ हो, चाहे उसके माता-पिता भारत में सैर करने के लिये ही आये हो, जन्म के आधार पर भारत का नागरिक बन जायेगा और इसी प्रकार उसकी सन्तान भी। साथ ही जो विदेशी भारत मे ५ वर्ष से निवासी रहे वे भी भारतीय नागरिकता प्राप्त कर सकते है, जबकि भारतीयो को उनके मातृ-देशो मे इस प्रकार के अधिकार १५–२० वर्ष के निवास काल के उपरान्त भी प्राप्त नही होते।" इस प्रकार ५ वर्ष के निवास काल के नियम के अन्तर्गत विदेशी पूजीपति भारतीय नागरिक बनकर अपने औद्योगिक अथवा व्यापारिक कार्यों में उससे अनुचित लाभ उठा सकते हैं, परन्तु इसमे भी अधिक उस उपबन्ध की कटु आलोचना की गई थी, जिसके द्वारा भारत छोडकर जाने वाले

मुसलमानों को फिर से भारत में स्थायी रूप से बसने की सुविधा प्रदान की गई। इस सम्बन्ध में यह कहा गया था कि जिन लोगों ने इस देश को खुली आंखों और गीत गाते हुये पाकिस्तान का नागरिक बनने के लिये छोड़ दिया था उन्हें किसी दशा में भारत लौटने और नागरिकता प्राप्त करने का अधिकार नहीं मिलना चाहिये था। इसके उत्तर में प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि यह उपबन्ध केवल उन व्यक्तियों के लिये रखा गया है जो आंसू बहाते हुये यहाँ से परिस्थितियों-वश जीवन-रक्षा के इरादे से चले गये थे अर्थात् वे राष्ट्रवादी मुसलमान जिन्हें कि उस समय देश से भागना पड़ा था।

नागरिकता अधिनियम, १९५५ (Citizenship Act,1955)—इस अधिनियम में निम्नलिखित प्रकार से नागरिकता के अर्जन (acquisition) की व्यवस्था की गई है :

(१) जन्मजात नागरिकता—साधारणतया २६ जनवरी, १९५० को या उसके पश्चात् भारत में पैदा हुआ प्रत्येक व्यक्ति, सिवाय उसके जिसका पिता भारत का नागरिक नहीं अथवा अन्य देशी शत्रु है, जन्म से भारत का नागरिक होगा। (१) उद्भव (descent) के आधार पर नागरिकता—यदि २६ जनवरी १९५० को या तत्पश्चात् भारत के बाहर पैदा हुये व्यक्ति का पिता उस व्यक्ति के जन्म के समय भारत का नागरिक है तो वह व्यक्ति अपने उद्भव के आधार पर भारत का नागरिक होगा। (३) रजिस्ट्रीकरण के आधार पर नागरिकता—इस अधिनियम के उपबन्धों और ऐसी शर्तों और निर्बन्धों के अधीन रहते हुये जैसे कि विहित (prescribe) किये जायें, विहित प्राधिकारी इस निमित्त आवेदन किये जाने पर किसी ऐसे व्यक्ति को भारत के नागरिक के रूप में रजिस्ट्रीकृत कर सकेगा, जो संविधान के बल पर या इस संविधान के अन्य उपबन्धों में से किसी के बल पर पहले से ही ऐसा नागरिक नहीं है जो इन कोटियों में से किसी कोटि के अन्तर्गत है—(क) वे भारतीय उद्भव के व्यक्ति जो साधारणतया भारत में निवास करते हैं और रजिस्ट्रीकरण के लिये आवेदन करने से ठीक ६ महीने पहले से इस प्रकार रहे हैं, (ख) वे भारतीय उद्भव के व्यक्ति जो अविभक्त भारत के बाहर किसी देश या स्थान के निवासी हैं, (ग) वे स्त्रियां जिनका भारत के नागरिकों से विवाह होना है या हो चुका है, (घ) उन व्यक्तियों के अव्यस्क बालक जो भारत के नागरिक है, आदि (४) देशीकरण (Nationalization) से नागरिकता—जहाँ पूरी आयु और सामर्थ्य के किसी व्यक्ति द्वारा, जो प्रथम अनुसूची में उल्लिखित किसी देश (राष्ट्रमण्डल के सदस्य राष्ट्र और आयरलैण्ड) का नागरिक नहीं है देशीकरण के प्रमाण-पत्र के अनुदान के लिये विहित रीति में आवेदन किया जाता है वहाँ यदि केन्द्रीय सरकार

का समाधान हो जाये कि आवेदन तृतीय अनुसूची (जिसमे देशीकरण के लिये अर्हताये दी गई है) के उपबन्धो के आधीन देशीकरण के लिये अर्ह है तो यह उसे देशीकरण का प्रमाण-पत्र अनुदत्त कर सकेगी। इस उपबन्ध मे यह भी व्यवस्था है कि यदि केन्द्रीय सरकार की सम्मति मे प्रार्थी ऐसा व्यक्ति है जिसने विज्ञान, दर्शन, कला, साहित्य, विश्व शान्ति या मानव उन्नति के लिये प्रतिष्ठित सेवा की है, तो वह तृतीय अनुसूची में वर्णित सभी या किन्ही भी शर्तों को छोड़ सकती है। जिन व्यक्तियों को देशीकरण का प्रमाण-पत्र प्रदान किया जाये, वे विहित निष्ठा की शपथ लेने के बाद प्रमाणपत्र प्राप्ति की तारीख से भारत के देशीकृत (Naturalized) नागरिक बन जायेंगे। (५) राज्य-क्षेत्र के निगमन (Incorporation of Territory) से नागरिकता—यदि कोई राज्य-क्षेत्र भारत का भाग बन जाता है तो केन्द्रीय सरकार राजकीय गजट मे अधिसूचित आदेश द्वारा, उन व्यक्तियो को उल्लिखित कर सकेगी जो उस राज्य क्षेत्र से अपनी ससक्ति (connection) के कारण से भारत के नागरिक होगे, और ये व्यक्ति उस आदेश मे उल्लिखित तारीख से भारत के नागरिक होगे।

नागरिकता का पर्यावसान (Tremination)—दो आधारो पर ऐसा हो सकता है—प्रथम, किसी भारतीय नागरिक द्वारा किसी अन्य देश की स्वेच्छापूर्वक नागरिकता के अर्जन से। दूसरे, अग्रलिखित आधारों पर नागरिकता से वंचित किये जाने पर—(क) रजिस्ट्रेशन या देशीकरण का प्रमाण-पत्र कपट, मिथ्या व्यवदेशन (false representation) या किसी सारवान तथ्य की छिपावट द्वारा प्राप्त किया गया, (ख) सविधान के प्रति अराजभक्ति, युद्ध काल में शत्रु के साथ विधि विरुद्ध व्यवहार, (घ) रजिस्ट्रीकरण या देशीकरण के पश्चात् ५ वर्ष के अन्दर किसी देश मे कम से कम दो वर्ष की अवधि के लिये दण्डित होना, (च) सात वर्ष की निरन्तर कालावधि में भारत से बाहर निवास। प्रत्येक व्यक्ति जो प्रथम अनुसूची मे उल्लिखित किसी राष्ट्रमण्डली देश का नागरिक है, उस नागरिकता के बल पर भारत मे राष्ट्रमण्डली नागरिक की हैसियत रखेगा। केन्द्रीय सरकार प्रथम अनुसूची में उल्लिखित किसी देश के नागरिकों को भारत के नागरिक के सब अधिकारो या उनमें से कोई पारस्परिकता (reciprocity) के आधार पर प्रदान करने के लिये उपबन्ध, राजकीय गजट मे अधिसूचित आदेश द्वारा बना सकेगी। भारत का नागरिकता अधिनियम अपने समान कानूनो मे अत्यधिक उदार है। इसके अन्तर्गत विदेशियो को भारत की नागरिकता प्राप्त करने मे कठिनाई नही होगी। परन्तु श्री पाइली के मतानुसार आधुनिक दशाओ और परिस्थितियों को देखते हुये इस आलोचना मे अधिक सार नही है।[५]

5 "The citizenship Act, on the whole, is one of the most liberal enactments of its kind anywhere. Not only does it provide for the acquisition of

२. मूल अधिकार—समता और स्वतन्त्रता के अधिकार

संविधान में मूल अधिकारों (Fundamental rights) का समावेश करने की आवश्यकता और वाछनीयता के बारे में संविधान सभा में कोई मतभेद न था। यह विचार भारतीय नेताओं को बहुत समय से अपील कर रहा था, क्योंकि यह प्रगतिशील प्रजातन्त्रात्मक विचार का प्रतिनिधित्व करता है तथा यह अल्पसंख्यकों के भयों को दूर अथवा शान्त करने का एक सुविधाजनक साधन भी है। अधिकारों का समावेश बहुत सोच-समझकर किया गया है। वे भारत की वर्तमान परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुकूल है। उनका उपभोग समुचित सीमाओं से प्रतिबन्धित किया गया है। संविधान सभा के सामने एक समस्या यह उठी कि किन अधिकारों को संविधान में सम्मिलित किया जाये और किन्हें न किया जाये। कुछ वामपंथी सदस्यों ने इस बात पर बल दिया कि मूल अधिकारों की सूची में आर्थिक अधिकारों को भी सम्मिलित किया जाये, परन्तु उनके दबाव का इस आधार पर सफलता-पूर्वक विरोध किया जा सका कि ऐसे अधिकार प्रदान करने से क्या लाभ होगा जिन्हें देश की वर्तमान तथा कुछ समय तक चलने वाली स्थिति में प्रत्याभूत न किया जा सके। इस कठिनाई को दूर करने में आयरलैण्ड के संविधान से सहायता मिली। अर्थव्यवस्था तथा शिक्षा आदि से सम्बन्धित कुछ अधिकारों की माँग को राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्तों (Directive Principles of State Policy) के अन्तर्गत संविधान में उचित स्थान दिया जा सका। भारत के संविधान द्वारा सात मूल अधिकार प्रदान किये गये हैं, जिनका सुविधा की दृष्टि से आलोचनात्मक विवेचन इस तथा अगले सेक्शन में किया गया है।

समता का अधिकार—इस अधिकार को अनुच्छेद १४ से १८ तक के अन्तर्गत पाँच प्रकार से प्रदान किया गया है। प्रथम, विधि के समक्ष समता (Equality before Law) है।[6] राज्य (State includes Government) कोई ऐसा अधि-

---

Indian citizenship in a compratively easy and simple manner, but it even recognises dual nationality under certain circumstances."

Pylee, M. V., *India's Constitution*, p. 71

6 According to the U. S. Supreme Court 'equal protection of laws' in the U. S. Constitution means the protection of equal laws, that is the laws that operate alike on all persons under like circumstances.

(a) Article 14 condemns discrimination not only by substantive law but by a law of procedure ;

(b) Article 14 forbids class legislation but does not forbid classification ;

(c) Permissible classification must satisfy two conditions, namely :

(i) It must be founded on intelligible differentia which distinguishes persons or things that are grouped together from others left out of the group, and,

(ii) the differentia must have a rational relation to the object sought to be achieved by the statute in question; etc.

Seervai, H. M. : *op. cit.*, pp. 195-97

नियम नहीं बना सकता जो किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समता के अधिकार की मनाही करे अथवा भारत राज्य क्षेत्र मे नागरिको को कानून के समान रक्षण से वंचित करे। सर आइवर जेनिंग्स के अनुसार विधि के समक्ष समता का अधिकार सभी व्यस्क नागरिको के लिये एक समान होना चाहिये, अर्थात् इसमें मूल जाति, धर्म, धन, सामाजिक पद अथवा राजनीतिक प्रभाव के आधार पर कोई भेद-भाव नहीं होना चाहिए। डी० डी० बसु के मतानुसार इस अधिकार के अन्तर्गत सभी नागरिकों को न्याय पाने का समुचित अधिकार मिलना चाहिये। आजकल यह अनुभव किया जाने लगा है कि यह अधिकार तब तक अपूर्ण है जब तक कि समाज के निर्धन सदस्यों को भी दीवानी और फौजदारी कार्यवाही के सम्बन्ध में दूसरों के समान कानूनी परामर्श पाने की सुविधायें प्राप्त न हों। इसी भाव को इंगलैण्ड में 'लीगल ऐड एडवाइसिज एक्ट, १९४९' के द्वारा क्रियात्मक रूप मिला। वर्तमान काल में भारत में कानूनी परामर्श बिना व्यय किये हुये उन फौजदारी मुकदमों में प्राप्त है जिनमे कि मृत्यु-दण्ड दिया जा सके, यह भी जब कि न्यायालय इस बात से सन्तुष्ट हो जाये कि अभियुक्त के पास वकील करने के लिये साधन नहीं है। ऐसे मुकदमों में न्यायालय राज्य की ओर से अभियुक्त के बचाव के लिये वकील की व्यवस्था करता है।

दूसरे, धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान आदि के आधार पर भेद-भाव करने की मनाई (Prohibition of discrimation on grounds of religion, race, caste, sex or place of birth)—अनुच्छेद १५ के अनुसार (१) राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल, धर्म, मूलवंश, जाति, जन्म-स्थान अथवा इनमें से किसी के आधार पर कोई विभेद न करेगा तथा (२) केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान अथवा इसमें से किसी के अधार पर कोई नागरिक (अ) दुकानों, भोजनालयों, सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश से अथवा (आ) पूर्ण या आंशिक रूप में राज्य निधि से पोषित या सर्वसाधारण के लिये समर्पित कुओं, तालाबों, स्नान घाटों, सड़कों व सार्वजनिक स्थानों के उपयोग के बारे मे किसी भी निर्योग्यता, दायित्व, निर्बन्ध अथवा शर्त के अधीन न होगा परन्तु इस अनुच्छेद के रहते हुये भी राज्य स्त्रियों और बालकों के लिये कोई विशेष उपबन्ध बना सकता है। साथ ही साथ इस अनुच्छेद की किसी बात से अथवा अनुच्छेद २९ की धारा २ से राज्य को सामाजिक और शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े हुये वर्गों अथवा अनुसूचित जातियों व जन-जातियों की उन्नति के लिये कोई विशेष उपबन्ध बनाने में किसी प्रकार की बाधा न होगी। सन् १९५१ के संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम ने राज्य के लिये यह संवैधानिक घोषित किया कि वह सार्वजनिक शिक्षा संस्थाओं में नागरिकों के पिछड़े हुये वर्गों, अनुसूचित जातियों व जन-जातियों के लिये सुरक्षित स्थानों (reserved seats) की व्यवस्था कर सकें और उनकी उन्नति के लिये अन्य आवश्यक उपबन्ध भी बना सके।

तीसरे, सार्वजनिक पदों की प्राप्ति के लिये अवसर की समता (Equality of opportunity in matters of public employment)—अनुच्छेद १६ के द्वारा राज्याधीन नौकरियों या पदों पर नियुक्ति के सम्बन्ध में सभी नागरिकों को अवसर की समता प्रदान की गई है। केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग उद्भव (descent), जन्म-स्थान अथवा इनमें से किसी के आधार पर किसी नागरिक के लिये राज्याधीन किसी नौकरी या पद के विषय में किसी प्रकार की न तो अपात्रता (disqualification) होगी और न किसी प्रकार का विभेद (discrimination) किया जायेगा। परन्तु उपरोक्त अनुच्छेद के रहते हुये भी (१) संसद को कोई ऐसा कानून बनाने में बाधा न होगी जो प्रथम अनुसूची में उल्लिखित किसी राज्य के अथवा उसके राज्य-क्षेत्र में स्थानीय या अन्य किसी प्राधिकारी (authority) के अधीन किसी प्रकार की नौकरी में या पद पर नियुक्ति के विषय में वैसी नौकरी या नियुक्ति के पूर्व उस राज्य की सीमा में निवास सम्बन्धी कोई अपेक्षा विहित करती हो। (२) साथ ही राज्य को नागरिकों के उन पिछड़े हुये वर्गों के पक्ष में जिनका प्रतिनिधित्व राज्य की राय में राज्याधीन सेवाओं में पर्याप्त नहीं है, नियुक्तियों या पदों के आरक्षण के लिये व्यवस्था करने में कोई बाधा न होगी।

चौथे, अस्पृश्यता का अन्त किया गया है और उसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध ठहराया गया है। अस्पृश्यता से उपजी किसी निर्योग्यता को लागू करना अपराध होगा, जो विधि के अनुसार दण्डनीय होगा। संविधान के प्रारम्भ होते समय ऐसे अपराधों के लिये कोई दण्ड विधान न था, किन्तु संसद द्वारा एक अधिनियम इस विषय में पास किया जा चुका है, जिससे एक बड़े अभाव की पूर्ति हो गई है। इस सम्बन्ध में पास किये गये अधिनियम की कुछ मुख्य बातें निम्नलिखित है :

(अ) यह केवल हिन्दुओं के लिये ही नहीं है ; (आ) यह अछूत कहे जाने वाले नागरिकों की सामाजिक अयोग्यताओं को दूर करता है, (इ) इसके अन्तर्गत आने वाले सभी अपराध विचारणीय (cognizable) और ऐसे होंगे जिन पर कोई सुलह न की जा सके (uncompoundable) तथा (ई) इसके अनुसार अपराधी को ५०० रुपये जुर्माने अथवा ६ माह की कारागार या दोनों दण्ड दिये जा सकते है।

पांचवे, सैनिक अथवा विद्या सम्बन्धी उपाधियों को छोड़कर अन्य कोई उपाधि राज्य द्वारा प्रदान न की जायेगी। इसके अतिरिक्त (अ) भारत का कोई नागरिक किसी विदेशी राज्य से कोई उपाधि स्वीकार नहीं करेगा ; (आ) कोई ऐसा व्यक्ति जो भारत का नागरिक नहीं है, किन्तु राज्य के अधीन लाभ या विश्वास के किसी पद को धारण किये है, किसी विदेशी राज्य से कोई उपाधि राष्ट्रपति की सहमति के बिना स्वीकार न करेगा ; और (इ) राज्य के अधीन लाभ या विश्वास

के पद पर आसीन कोई भी व्यक्ति विदेशी राज्य से किसी रूप मे कोई भेंट, उपलब्धि के पद राष्ट्रपति की सहमति के बिना स्वीकार न करेगा।

महत्व—समता के अधिकार से भारत के सभी नागरिकों को विधि के समक्ष समता का अधिकार मिला है। सरकारी नौकरियाँ पाने के लिये सभी को समान अवसर मिला है और पिछड़े हुये वर्गो के लिये कुछ आवश्यक तथा वांछनीय विशेष सुविधाओं की व्यवस्था भी की गई है। इसी अधिकार के अन्तर्गत अस्पृश्यता जैसे भयंकर कलक व अभिशाप को दूर किया गया है और इस प्रकार राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की एक महान् अभिलाषा की पूर्ति हुई है। वास्तव में, इस उपबन्ध द्वारा भारत की ६ करोड़ जनता को सामाजिक न्याय की प्राप्ति हुई है और हम यह कह सकते है कि अब देश में सामाजिक समता की स्थापना हुई है। किन्तु इस उपबन्ध को यथार्थ रूप देने के लिये केवल कानूनी व्यवस्था ही पर्याप्त न होगी। अतएव सभी विचारशील व्यक्तियों के लिए यह उचित है कि वे इस उपबन्ध को क्रियात्मक रूप दे और राज्य को अस्पृश्यता मिटाने मे पूर्ण सहयोग प्रदान करे। उपाधियो की प्रथा का अन्त करने की व्यवस्था आधुनिक प्रजातन्त्रात्मक विचारधारा के अनुकूल है। सयुक्तराज्य अमरीका, आयरलैंड, सोवियत सघ आदि राज्यों में उपाधियो की व्यवस्था नही है। भारत मे इस कुप्रथा के द्वारा विदेशी शासक अनेक देशवासियों को देशभक्ति के मार्ग से हटाकर राजभक्ति के मार्ग पर ले जाने में सफल होते थे। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि 'भारत रत्न', 'पद्म विभूषण' इत्यादि विभिन्न प्रकार के पदक है जो देश-सेवकों को उनकी विभिन्न क्षेत्रों में की गई सेवाओं के उपलक्ष में दिये जाते है। ये पूर्वकालीन उपाधियों से सर्वथा भिन्न है, क्योंकि सर, रायबहादुर, खान बहादुर आदि उपाधिया तो नाम के पूर्व अनिवार्य रूप से प्रयुक्त की जाती थी।[7]

स्वातन्त्र्य अधिकार—अनुच्छेद १९ से २२ तक नागरिको को विभिन्न प्रकार की स्वतन्त्रतायें प्रदान करते है। इनमे सबसे अधिक महत्वपूर्ण अनुच्छेद १९ है, जिसके द्वारा नागरिकों को निम्नलिखित स्वतन्त्रायें प्रदान की गई हैं :

(१) वाक् स्वातन्त्र्य, और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य।

(२) शान्तिपूर्ण और निरायुद्ध सम्मेलन।

---

7 "The right to eqality is a very important right and has expressly been referred to in the Preamble of the Constitution. Equality of status is ensured by means *of guarantee of equality before the law and equal protection* of the laws. Equality of opportunity has been expressly emphasised in Articles 15 and 6. The ageold inequality based on the vice of untouchability has been abolished and its practice has been made an offence punishable at law. Social equality is preserved by prohibition on conferment of any title other than that of a military or academic distinction."

Kagzi, M. C. J. : *The Constitution of India, p. 162.*

(३) संस्था या संघ बनाना।

(४) भारत राज्य-क्षेत्र के किसी भाग में निवास करने और बस जाने की स्वतन्त्रता।

(५) सम्पत्ति के अर्जन, धारण और व्यय की स्वतन्त्रता।

(६) कोई वृत्ति, उप-जीविका या कारोबार करने की स्वतन्त्रता।

उपर्युक्त अधिकार द्वारा दी गई स्वतन्त्रताओं को सीमित करने के लिये उसके कई अपवाद हैं, जिनमें ये मुख्य अग्रलिखित हैं। वाक् स्वतन्त्रता और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य की कोई बात अपमान लेख (libel), अपमान वचन (slander), न्यायालय के अपमान (Contempt of Court) से अथवा शिष्टाचार या सदाचार पर आघात करने वाले अथवा राज्य की सुरक्षा को दुर्बल बनाने या राज्य को उलटने की प्रवृत्ति वाले किसी विषय से जहाँ तक कोई वर्तमान विधि सम्बन्ध रखती हो वहाँ तक उसके प्रवर्तन पर प्रभाव अथवा सम्बन्ध रखने वाली किसी विधि को बनाने में राज्य के लिये बाधा न डालेगी। परन्तु सर्वोच्च न्यायालय द्वारा 'रमेश थापर बनाम मद्रास राज्य' नामक मुकदमे में इसकी टीका के फलस्वरूप यह अनुभव किया गया कि यदि वाक् स्वातन्त्र्य का उपयोग अपराध और हत्या को उत्साहित करने के लिये किया जाये तो भी राज्य उसे सीमाबद्ध न कर सकेगा। अतएव सरकार ने वाक् स्वातन्त्र्य व अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य के अधिकार को सीमित करने का क्षेत्र विस्तृत करने के इरादे से संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, १९५१ द्वारा इस प्रकार से संशोधित किया—'वाक् स्वातन्त्र्य व अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य की कोई बात वर्तमान कानून पर कोई प्रभाव नहीं डालेगी अथवा राज्य द्वारा किसी ऐसे कानून के बनाने में बाधा नहीं डालेगी जो कि इस अधिकार पर उचित प्रतिबन्ध (reasonable restrictions)[8] लगाता है, और जो प्रतिबन्ध राज्य की अखण्डता व सुरक्षा, विदेशों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध, सार्वजनिक व्यवस्था और नैतिकता के हित में हो अथवा न्यायालयों के अपमान या बदनामी से सम्बन्ध रखता हो या अपराध को प्रोत्साहन देने से सम्बन्ध रखता हो।' इससे स्पष्ट है कि वाक् स्वातन्त्र्य व अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य अधिकार पर कई नये आधारों पर प्रतिबन्ध लगाये जा सकते हैं, यथा विदेशों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध, सार्वजनिक व्यवस्था, अपराध को उत्साहित करना।[9]

---

8 The words 'reasonable restrictions' shall be construed as meaning such restrictions as the appropriate legislature deems reasonable.

9 The restrictions on the exercise of the right of free speech and expression can be in the interests of the (a) integrity and security of the state; (b) friendly relations with foreign states; (c) public order; (d) decency or morality; (e) contempt of court; (f) defamation; and (g) incitement to an offence.

यहाँ यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य मे ही प्रेस की स्वतन्त्रता सम्मिलित है। इसका उल्लेख पृथक् रूप से नही किया गया है। इसी की भाँति शान्तिपूर्ण और निरायुद्ध सम्मेलन के अधिकार की कोई बात इस अधिकार के प्रयोग पर सार्वजनिक व्यवस्था के हित में उचित प्रतिबन्ध जहाँ तक कोई वर्तमान कानून लगाता हो वहाँ तक उसके प्रवर्तन अथवा वैसे प्रतिबन्ध लगाने वाला कोई कानून बनाने में राज्य के लिये कोई बाधा न डालेगी। अबाध संचरण की स्वतन्त्रता तथा निवास और सम्पत्ति की स्वतन्त्रता पर भी सविधान सरकार को उचित प्रतिबन्ध लगाने की आज्ञा देता है। ऐसे, व्यवसाय अथवा जीविका सम्बन्धी स्वतन्त्रता पर संविधान के (प्रथम संशोधन) अधिनियम, १९५१ के अनुसार इस अधिकार की कोई बात किसी वर्तमान कानून पर अथवा राज्य पर अग्रलिखित बातो के सम्बन्ध में कानून बनाने में बाधा न डालेगी—(१) कोई वृत्ति, उप-जीविका व्यापार या कारोबार करने के लिये वृत्तिक या शिल्पिक योग्यता अथवा (२) राज्य द्वारा नियन्त्रित अथवा संचालित किसी सघ या सस्था द्वारा कोई व्यवसाय, व्यापार या उद्योग चलाने में, चाहे उसमे नागरिको का भाग थोडा भी न रखा जाये या केवल अश रूप मे रखा जाये। सक्षेप में, इसके फलस्वरूप किसी भी उद्योग या व्यापार का राज्य द्वारा पूर्ण अथवा आंशिक राष्ट्रीयकरण किया जा सकता है और बिना इस भय के कि उसके परिणामस्वरूप व्यक्तियो के व्यापार सम्बन्धी स्वतन्त्रता के अधिकार में हस्तक्षेप होने पर न्यायालय उसे अवैध घोषित कर सकेगे, परन्तु इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि अनुच्छेद ३१ के अधीन किसी की वर्तमान सम्पत्ति का अर्जन राज्य सार्वजनिक प्रयोजन के लिये केवल प्रतिकर (compensation) देकर ही कर सकता है।

अनुच्छेद २० के अनुसार कोई व्यक्ति तब तक दण्डित नही किया जा सकता जब तक कि अपराध करने के समय उसने किसी कानून का अतिक्रमण न किया हो और न वह उससे अधिक दण्ड का पात्र होगा जो उस अपराध के करने के समय उसे चालू कानून के अधीन दिया जा सकता था। इसके अतिरिक्त (१) कोई व्यक्ति एक ही अपराध के लिये एक बार से अधिक अभियोगित और दण्डित नही किया जा सकता तथा (२) किसी अपराध मे अभियुक्त को स्वय अपने विरुद्ध गवाही देने के लिये बाध्य नही किया जा सकता। उपरोक्त अनुच्छेद के प्रथम भाग का प्रभाव यह होगा कि राज्य ऐसा कानून नही बना सकता जो किसी बीती हुई घटना पर लागू हो सके। ऐसे कानूनो को अग्रेजी भाषा मे 'एक्स पोस्ट फेक्टो लॉज' (ex post fecto laws) कहते है। इस वर्ग में ऐसा कानून भी सम्मिलित समझा जाता है जो किसी अपराध के लिये अपराध किये गये समय चालू कानून से अधिक दण्ड कि व्यवस्था करने वाला हो। सयुक्तराज्य अमरीका का सविधान तो ऐसे कानून बनाने की स्पष्ट मनाई करता है।

निवारक निरोध (Preventive Detention)—इस सम्बन्ध मे अनुच्छेद २१ और २२ महत्वपूर्ण हैं। प्रथम के अनुसार किसी व्यक्ति को अपने प्राण अथवा दैहिक स्वाधीनता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर (**except in accordance with the procedure established by law**) अन्य प्रकार से वंचित न किया जायेगा। दूसरे अनुच्छेद के अनुसार किसी व्यक्ति को जिसे बन्दी बनाया गया है ऐसे बन्दीकरण के कारणो से यथाशक्ति शीघ्र अवगत कराये बिना हवालात में बन्द नही किया जायेगा और न अपनी रुचि के वकील से परामर्श करने तथा बचाव करने के अधिकार से वंचित किया जायेगा। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति जो बन्दी बनाया गया है या हवालात मे रखा गया है बन्दीकरण के स्थान से दण्डाधीश के न्यायालय तक यात्रा के लिये आवश्यक समय को छोड़कर ऐसे बन्दीकरण से २४ घण्टे के भीतर निकटतम दण्डाधीश के सामने पेश किया जायेगा और ऐसा व्यक्ति उक्त काल अवधि से आगे दण्डाधीश के प्राधिकार के बिना हवालात में न रखा जायेगा। किन्तु ये उपबन्ध तत्समय किसी विदेशीय शत्रु (enemy alien) व निवारक निरोध सम्बन्धी अधिनियम के अधीन बन्दी बनाये गये व्यक्तियो पर लागू न होंगे।

उपरोक्त के अतिरिक्त निवारक निरोध सम्बन्धी कोई कानून किसी व्यक्ति को ३ महीने से अधिक की अवधि के लिये नजरबन्दी का प्राधिकार तब तक न देगा जब तक कि (अ) ऐसे व्यक्तियो से जो उच्च न्यायालय के न्यायाधीश हैं या रह चुके है अथवा नियुक्त होने की अर्हता रखते है मिलाकर बनी मन्त्रणा मण्डली (**Advisory Board**) ने ३ महीने की अवधि की समाप्ति के पूर्व यह रिपोर्ट नही दी है कि ऐसे निरोध के लिये उसकी सम्मति मे पर्याप्त कारण है। उस पर भी किसी व्यक्ति को संसद निर्मित कानून द्वारा विहित की गई अवधि से आगे नजरबन्द नही किया जा सकता। साथ ही निवारक निरोध के कानून के अधीन दिये गये आदेश के अनुसार जब किसी व्यक्ति को नजरबन्द किया जायेगा तो आदेश देने वाला प्राधिकारी जितना शीघ्र हो सकेगा उस व्यक्ति को जिन आधारों पर वह आदेश दिया गया है उनको बतायेगा तथा उस आदेश के विरुद्ध अभ्यावेदन (**representation**) करने के लिये उसे शीघ्र से शीघ्र अवसर देगा। उपरोक्त से स्पष्ट है कि व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य के सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण सरक्षणो की व्यवस्था की गई है। जो व्यक्ति नजरबन्द किये जायेंगे उन्हे शीघ्रातिशीघ्र दण्डाधीश के सामने पेश किया जाना, नजरबन्दी के कारणों से अवगत कराने और वकीलो की राय लेने तथा पैरवी कराने की आवश्यक सुविधायें दी गई है। इस प्रकार अनुच्छेद २१ में किये गये उपबन्ध की कठोरता को काफी कम किया है।

निवारक निरोध कानून, १९५० के अन्तर्गत संघ तथा राज्य सरकारो को यह अधिकार दिया गया था कि यदि वे सन्तुष्ट होती या उन्हे विश्वास होता कि कोई व्यक्ति अग्रलिखित प्रकार के राज्य विरोधी कार्य करता है तो वे उसे नजर

बन्द कर सकती थी—(१) भारत की सुरक्षा, अन्य देशों के साथ भारत के सम्बन्ध तथा भारत की शान्तिपूर्ण स्थिति के विरुद्ध या (२) राज्य की शान्ति और सुरक्षा के विरुद्ध या (३) देश में आवश्यक सेवायें बनाये रखने के विरुद्ध। परन्तु इस कानून की धाराओं के विरुद्ध जनता में बडा असन्तोष फैला और सभी ओर से इसे अधिक उदार बनाने की माँग की गई। परिणामस्वरूप ससद ने निवारक निरोध (संशोधन) कानून, १९५१ में पास किया। इसके अनुसार सभी नजरबन्दों के मामले मन्त्रणा मण्डलो के सामने रखना आवश्यक बनाया गया। यह मण्डली १० सप्ताह के भीतर अपनी सिफारिशों की रिपोर्ट सरकार को देगी। यदि उसकी सम्मति में किसी व्यक्ति को नजरबन्द रखने का पर्याप्त कारण नही है तो सरकार को उस व्यक्ति को अवश्य छोड देना चाहिये। इस प्रकार मन्त्रणा मण्डली का निर्णय अन्तिम होगा और सरकार उसे मानने के लिये बाध्य है। निवारक निरोध कानून की अवधि कई बार बढ चुकी है।

समालोचना—स्वतन्त्रता सम्बन्धी उपरोक्त अधिकार मूल-अधिकार है और उनका सविधान मे प्रगणित किया जाना व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की प्रत्याभूति है। परन्तु यह सर्वविदित तथ्य है कि कोई भी अधिकार पूर्ण (absolute) अथवा असीमित नही होता। यह बात विशेष रूप मे स्वातन्त्र्य अधिकार के बारे में अधिक सत्य है। अतएव स्वातन्त्र्य अधिकार पर प्रतिबन्ध होते है तथा होने चाहिये। इस प्रश्न पर तो मतभेद नही हो सकता, किन्तु देखना यह है कि प्रतिबन्ध किस सीमा तक उचित एवं वाछनीय है। राज्य की सुरक्षा, सार्वजनिक नैतिकता के हित में किस सीमा तक आवश्यक प्रतिबन्ध लगाये जा सकते है। बेयर्ड[10] तथा ऑग और रे[11] आदि प्रसिद्ध विद्वान लेखकों के कथनो मे हमारे मत का समर्थन होता है। बर्क के सुन्दर शब्दों मे, "स्वतन्त्रता पाने के लिये उसका सीमित होना आवश्यक है, क्योंकि स्वतन्त्रता का अर्थ कभी स्वच्छन्दता (licence) नही हो सकता।"

परन्तु भारतीय सविधान द्वारा दिये गये स्वातन्त्र्य अधिकार के विभिन्न पहलुओ, उनके अपवादो व प्रतिबन्धो के ऊपर ध्यानपूर्वक विचार करने से कुछ बातें विशेष रूप से उल्लेखनीय प्रतीत होती है। प्रथम, हमारे सविधान में 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोडकर' वाक्यांश का प्रयोग किया गया है जो सयुक्त

10 "Freedom is relative, not absolute...No government could allow unrestricted liberty to persons who urge direct attempts to overthrow it by violence or the murder of its officials" —Beard

11 "Liberty is not licence, and rights are relative, not absolute. After all one of the main purposes of government is to prevent the safety and well being of the many from being jeopardized by one or a few. Freedom of speech or press does not carry with it any right to incite persons to crime or panic, to voice slander or to print libels, freedom of assembly does not entitle any group to interfere with public order and safety." —Ogg & Roy

राज्य अमरीका के सविधान मे प्रयुक्त 'विधि की उचित प्रक्रिया' (due process of law) से भिन्न है। विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया का अर्थ यह है कि किसी व्यक्ति की स्वतन्त्रता विधान-मण्डल द्वारा बनाये कानून के अनुसार छीनी जा सकती है चाहे विधान-मण्डल द्वारा बनाया गया कानून उचित अथवा अनुचित हो। इसके विपरीत विधि की उचित प्रक्रिया में 'उचित' शब्द का अर्थ न्यायालयों की सम्मति में न्यायोचित प्रक्रिया से है। इस अन्तर का सक्षेप मे आशय यह है कि भारतीय न्यायालय किसी कानून के औचित्य पर अपना निर्णय देने से वंचित कर दिये गये है। अतः इस सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय न्यायालयों का न होकर विधान-मण्डलों का ही रहेगा। ए० के० गोपालन बनाम मद्रास राज्य नाम के प्रसिद्ध मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर' शब्दों की अधिकारपूर्ण व्याख्या इस प्रकार की : 'इन शब्दों का अर्थ यह होता है कि जब विधान-मण्डल जीवन तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अपहरण के सम्बन्ध में कोई कानून बना देते हैं तो न्यायालय उन्हे अवैध नही घोषित कर सकते।'[12] इस मुकदमे मे निर्णय देते हुये सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति ने कहा था कि 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' शब्दो से सविधान ने विधान-मण्डलो को कानून बनाने या निश्चित करने का अन्तिम अधिकार दे दिया है।

दूसरे, निवारक निरोध के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि भारतीय सविधान के अनुसार नागरिकों को साधारण व असाधारण सभी परिस्थितियों मे नजरबन्द बनाया जा सकता है। अन्य प्रजातन्त्रीय देशो के सविधानों में ऐसी धारायें नहीं हैं। ब्रिटिश ससद अवश्य ही ऐसे कानून बनाने की शक्ति रखती है, किन्तु उसने युद्ध काल के अतिरिक्त कभी ऐसे कानून नही बनाये। भारतीय सविधान के अन्तर्गत निवारक निरोध युद्ध व शान्ति दोनों ही काल में प्रयुक्त हो सकता है। इस दृष्टि से इन प्राविधानों को न्यायोचित ठहराना अत्यधिक कठिन है।[13] परन्तु इसके पक्ष में यह युक्ति दी जा सकती है कि राज्य की सुरक्षा व सार्वजनिक व्यवस्था के हित मे ऐसे प्राविधानों का होना भारत की वर्तमान परिस्थितियों मे उचित है, क्योंकि इनके अभाव में भारत के शिशु प्रजातन्त्र को साम्यवादियों व सम्प्रदाय-

---

12 अमरनन्दी, भारत का संविधान, पृ० ८८—९।

13 "Preventive detention is, by nature, repugnant to democratic ideas and no such laws exist in the U. S. A. or in England in times of peace. At least it is not provided for in any constitution itself. Our Constitution has accepted preventive detention as a subject matter of peace time legislation as distinct from emergency legislation. In short, preventive detention is a normal feature of our Constitution ... The object of the framers of the Constitution in giving a constitutional status to preventive detention is to prevent anti-social and subversive elements from imperilling the welfare of the infant Republic."

Basu, D. D., *Commentaries on the Constitution of India.*

वादियो की हिंसक कार्यवाहियो से खतरा उत्पन्न हो सकता है। अतः यह प्राविधान राज्य की सुरक्षा व बचाव के लिये आवश्यक है। साथ ही इस बात पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिये कि विधान-मण्डलों की इस सम्बन्ध मे कानून बनाने की शक्ति की कठोरता को कम करने के लिये अनेक सरक्षणों की व्यवस्था की गई है।

अनुच्छेद (१६) (१) के अन्तर्गत सभी नागरिको को भाषण व अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता प्राप्त है। एक सरकारी सेवक ने प्रकाशित पुस्तिका में सरकार की आलोचना की जो उनके आचार सम्बन्धी नियमो (Code of Conduct) के विरुद्ध थी। इस कारण उसे पद से हटाने का आदेश जारी किया गया। किन्तु उसे कलकत्ता उच्च न्यायालय ने अवैध घोषित कर दिया, क्योंकि सम्बन्धित आचार नियम अनु० (१६) (१) का अतिक्रमण करता है। एक अन्य अवसर पर हावड़ा के पास एक भीड़ दफा १४४ तोड़ने के इरादे से आगे बढ़ रही थी, पुलिस ने उसे तित्तर-बित्तर होने का आदेश दिया। ऐसा न करने पर पुलिस ने भीड़ पर लाठी चलाई और भीड ने पुलिस पर ईंटें फेंकी। दण्डाधीश ने अपने निर्णय में भीड़ को रोकना उसके अबाध सचारण अधिकार के विरुद्ध बताया। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि भारत में अभी ब्रिटेन आदि देशो जैसी अच्छी प्रथाओ के पड़ने में समय लगेगा। वहाँ पर सरकार और सेवकों, जनता व पुलिस के आपसी सम्बन्धो मे विरोध की भावना नही है। सभी नागरिक वहाँ पर सच्ची नागरिकता की भावना से व्यवहार करते है और व्यवस्था बनाये रखने में पुलिस से पूर्ण सहयोग करते है जबकि भारत मे अभी तक विरोध की भावना शेप है। विरोधी दल भी अधिकारों के मनवाने पर अधिक बल देते है और अच्छी प्रथायें डालने मे सहायक नही होते। अतएव भारत मे पुलिस को इस क्षेत्र मे कुछ अधिक अधिकारों का दिया जाना वर्तमान परिस्थितियों में न्यायोचित समझा जा सकता है।

३. अन्य मूल अधिकार

शोषण के विरुद्ध अधिकार (Right against Exploitation)—अनुच्छेद २३ के अनुसार मानव का पण्य (traffic in human beings) और बेगार तथा इसी प्रकार के जबरदस्ती से कराये गये श्रम को निषिद्ध ठहराया गया है। इस प्राविधान का कोई भी उल्लघन अपराध होगा, जो विधि के अनुसार दण्डनीय होगा। परन्तु इस अनुच्छेद की किसी बात से राज्य को सर्वप्रथम प्रयोजन के लिये बाध्य सेवा लागू करने में बाधा न पड़ेगी। किन्तु ऐसी बाध्य सेवा लागू करने में केवल धर्म, मूल-वंश जाति या वर्ग या इनमें से किसी एक के आधार पर राज्य कोई विभेद न करेगा। अनुच्छेद २४ के अनुसार १४ वर्ष से कम आयु वाले किसी बालक को किसी कारखाने अथवा खान मे नौकर न रखा जायेगा और न किसी अन्य सकटमय नौकरी में लगाया जावेगा।

इसका महत्व यह है कि भारत मे बेगार की प्रथा बड़ी पुरानी थी, जिसका संविधान ने अन्त कर दिया है। अब किसी भी प्रकार की बेगार लेना अपराध है जिसके लिये कानून द्वारा अपराधियों को दड दिये जाने की व्यवस्था की जानी चाहिए। पहले अनेक देशों में दास प्रथा का प्रचलन था। यह विभिन्न रूपों में भारत म भी प्रचलित थी। किन्तु आधुनिक युग मे दास प्रथा को निन्दनीय समझा गया और उनका अन्त भी हुआ। सयुक्त राज्य अमरीका मे तो इस प्रश्न को लेकर एक भयकर गृह-युद्ध लडा गया। भारतीय सविधान ने सभी प्रकार की दास प्रथा और मानवो के पण्य को निषिद्ध ठहराया है। परन्तु राज्य सार्वजनिक प्रयोजन के लिये विना किसी प्रकार का भेद-भाव किये बाध्य सेवा लागू कर सकता है। एक दूसरी बात मे हमारा सविधान सयुक्त राज्य अमरीका आदि देशों के संविधान से आगे गया है; क्योंकि सविधान के अनुसार १४ वर्ष से कम आयु वाले बालकों को कारखानों द्वारा संकटमय कार्यों मे नौकर नही रखा जा सकता।

धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार (Right to Religious Freedom)— अनुच्छेद २५ के अनुसार सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य तथा इस भाग के दूसरे प्राविधानो के अधीन रहते हुये प्रत्येक व्यक्ति को अन्तःकरण की स्वतन्त्रता (Freedom of Conscience) का तथा धर्म के अबाध रूप से मानने आचरण करने और प्रचार करने का समान अधिकार है। परन्तु इस अधिकार से किसी ऐसे वर्तमान कानून के प्रवर्तन पर प्रभाव न पड़ेगा अथवा राज्य द्वारा ऐसा कानून बनाने मे बाधा न होगी—(अ) जो धार्मिक आचरण से सम्बद्ध किसी आर्थिक, वित्तीय, राजनीतिक अथवा अन्य किसी प्रकार की लौकिक क्रियाओं का विनियमन या निर्बन्धन करती हो; अथवा हिन्दुओ की सार्वजनिक धर्म सस्थाओ को हिन्दुओ के सभी वर्गों और विभागों के लिये खोलती हो। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उपबन्ध भी उल्लेखनीय हैं।

(१) कृपाण धारण करना तथा लेकर चलना सिख धर्म के मानने का अग समझा जायेगा। (२) उपरोक्त संदर्भ में हिन्दुओ में सिख धर्म, जैन या बौद्ध धर्म के अनुयायियो को भी सम्मिलित समझा जायेगा। अनुच्छेद २६ के अनुसार सभी व्यक्तियो को सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के अधीन रहते हुये अपने धार्मिक सम्प्रदाय या किसी विभाग की (अ) धार्मिक संस्थाओ की स्थापना, (आ) धार्मिक कार्यों सम्बन्धी विषयो के प्रबन्ध, (इ) जंगम और स्थावर सम्पत्ति (movable and immovable property) के अर्जन और स्वामित्व, तथा (ई) ऐसी सम्पत्ति के कानून अनुसार प्रशासन करने का अधिकार है।

उपरोक्त के अतिरिक्त अनुच्छेद २० के अनुसार किसी भी व्यक्ति को ऐसे कर देने के लिये बाध्य नही किया जा सकता, जिसकी आय किसी विशेष धर्म अथवा धार्मिक सम्प्रदाय की उन्नति या पोषण में व्यय करने के लिये विशिष्ट रूप

से विनियुक्त (specifically appropriated) कर दी गई हो। साथ ही अनुच्छेद २८ के अनुसार राज्य निधि से पूरी तरह से पोषित किसी शिक्षा संस्था में कोई धार्मिक शिक्षा न दी जायेगी। परन्तु यह बात ऐसी शिक्षा संस्थाओं पर लागू न होगी, जिनका प्रशासन तो राज्य करता हो, किन्तु जो किसी ऐसे धर्मस्व या न्यास (religious endowment or trust) के अधीन स्थापित हुई हों जिसके अनुसार उस संस्था में धार्मिक शिक्षा देना आवश्यक हो। इसके अतिरिक्त राज्य से अभिज्ञात अथवा राज्य से आर्थिक सहायता पाने वाली शिक्षा संस्था में पढ़ने वाले किसी व्यक्ति को ऐसी संस्था में दी जाने वाली धार्मिक शिक्षा में भाग लेने के लिये अथवा उसमें या उससे लगे स्थान में की जाने वाली धार्मिक उपासना में उपस्थित होने के लिये बाध्य न किया जायेगा, जब तक कि वह व्यक्ति स्वयं, यदि वह वयस्क है, अन्यथा उसका संरक्षक इसके लिये अपनी सहमति न दे दे।

महत्व—यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि हमारे संविधान निर्माताओं ने धर्म-निरपेक्ष राज्य के आदर्श को, जो आधुनिक प्रगतिशील विचारधारा के अनुकूल है, अपनाया है। धार्मिक स्वतन्त्रता का महत्व भारत में अन्य देशों से बढ़कर ही है, क्योंकि यहाँ पर विभिन्न धर्मों के अनुयायी बड़ी संख्या में रहते है और सभी धर्मावलम्बी धर्म को अपने वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन में बहुत महत्व देते है। यह बात भी पहले ही बतलाई जा चुकी है कि जहाँ तक धर्म का सम्बन्ध है राज्य किसी विशेष धर्म को कोई महत्व न देगा और राज्य की नीति सभी धर्मों के प्रति तटस्थता की रहेगी।[१४] किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि राज्य नास्तिकता को प्रोत्साहन देगा। इसका आधार यह है कि धर्म का सम्बन्ध व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन से है, जिससे राज्य का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। दूसरे शब्दों में, राज्य का एक राजनैतिक समुदाय के रूप में, व्यक्तियों के सामाजिक सम्बन्धों से सम्बन्ध है न कि व्यक्ति और उसके ईश्वर के बीच सम्बन्ध से। अन्तःकरण की स्वतन्त्रता का यही आशय है। अतएव धर्मनिरपेक्ष राज्य वह राज्य है जिसका अपना कोई धर्म न हो और जो नागरिकों के बीच धार्मिक आधार पर कोई विभेद न करे। ऐसे राज्य से किसी धर्म को कोई विशेष अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता और न ही किसी व्यक्ति को किसी धर्म विशेष को मानने या न मानने के

---

14 "It does not mean that secularism itself becomes a positive religion that the State assumes divine prerogatives.... We hold that no one religion should be given preferential status, or unique distinction, that no one religion should be accorded special privileges in national life or international relations for that would be a violtation of the basic principles of democracy and contrary to the best interests of relision and government. . . No person should suffer any form of disability or discrimination because of his religion but all alike should be free to the fullest degree in the common life. This is the basic principle involved in the separation of Church and State."

(S Radhakrishanan)

लिये कोई प्रोत्साहन दिया जा सकता। धर्म निरपेक्ष राज्य की विशेषतायें सक्षेप में इस प्रकार रखी जा सकती हैं : (१) राज्य अपने को किसी धर्म के अनुरूप नही बनायेगा अथवा किसी धर्म विशेष के द्वारा नियन्त्रित नही किया जायेगा। (२) प्रत्येक नागरिक को स्वेच्छा से कोई भी धर्म पालन करने अथवा नास्तिक रहने का अधिकार है, और राज्य की ओर से किसी भी धर्म के मानने वालों के प्रति पक्षपात नही किया जायेगा। (३) राज्य किसी भी नागरिक के विरुद्ध उसके धर्म या विश्वास के आधार पर कोई भेद-भाव नही बरतेगा। (४) प्रत्येक नागरिक को साधारण व सामान्य शर्तों के अधीन, सरकारी पद अथवा नौकरी पाने का सम अधिकार है।

इस दृष्टि से हमारा संविधान आयरलैंड, बर्मा आदि देशों के संविधानों से अधिक धर्म-निरपेक्ष है। आयरलैंड के सविधान में अधिकांश नागरिकों द्वारा माने जाने वाले रोमन कैथोलिक चर्च को विशेष मान्यता प्राप्त है। ऐसे ही बर्मा के संविधान के अनुसार राज्य, बर्मा सघ के अधिकाश नागरिको द्वारा मान्य बौद्ध धर्म के विशेष स्थान को स्वीकार करता है। वास्तव में, धार्मिक स्वतन्त्रता को प्रदान करने वाले अनुच्छेदों को सामूहिक रूप से धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार-पत्र कह सकते है। जहाँ एक ओर वे प्रत्येक भारतीय को अन्तःकरण की स्वतन्त्रता, धार्मिक उपासना आदि के अधिकार प्रदान करते है, दूसरी ओर उनके रहते हुये धार्मिक सुधार तथा सामाजिक कल्याण के कार्यों में बाधा नहीं पड़ेगी। राज्य धार्मिक कुरीतियों को दूर करने तथा ढोंग व पाखण्ड का अन्त करने के लिये आवश्यक कानून बना सकता है। राज्य कानूनों द्वारा पाखण्ड, धर्म के नाम पर स्वार्थ-सिद्धी व धर्म की आड़ में की जाने वाली राज्य विरोधी कार्यवाहियो को रोक सकता है। वास्तव में, भारत में धार्मिक स्वातन्त्र्य के अधिकार से अनेक बुराइयाँ पैदा हो सकती हैं, क्योंकि यहाँ धर्म को जीवन के प्रत्येक पहलू से सम्बन्धित किया गया है। अतएव यह आवश्यक है कि धर्म के सच्चे तत्वों को अनगिन धार्मिक रीतियों और प्रथाओं से अलग किया जाए। उदाहरण के लिये 'सती' या मानव बलि के अनेक रूपों, अस्पृश्यता, स्त्रियों पर लागू की जाने वाली बहुत-सी निर्योग्यतायें, बाल-विवाह, बहु-विवाह, देवदासी आदि कुप्रथाओं तथा अन्य धर्मों के अनुयायियों को काफिर या मलेच्छ समझना आदि घृणित बातों को धार्मिक स्वतन्त्रता के नाम पर सहन नही किया जाना चाहिये।[15] धर्माचरण के साथ-साथ हमारा सविधान धर्म के

15 "This provides that where there is conflict between religious practice and the need of social reform, religion must yield. As Dr. Ambedkar explained, the conception of religion in this country is so vast as to cover every aspect of life from birth to death. If the state were to accept this conception of religion, the country would come to stand-still in regard to reform. It may be expected that no sensible state, in the name of social reform, would affect the very essence of religion. The legislation would

प्रचार की स्वतन्त्रता भी प्रदान करता है। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि सोवियत सघ का सविधान सब नागरिकों को धर्माचरण के साथ धर्म विरोधी प्रचार की एक समान स्वतन्त्रता प्रदान करता है अर्थात् वहाँ पर धर्म के प्रचार की स्वतन्त्रता नही है।

धार्मिक स्वातन्त्र्य के अधिकार का आधार धार्मिक सहिष्णुता (tolerance) और सभी धर्मो के प्रति आदर की भावना है। कुछ वर्ष पूर्व एक भारतीय प्रकाशन को, जो कि अविभाज्य भारत में प्रकाशित पुस्तक का केवल नवीन तथा अमरीका मे प्रकाशित पुस्तक का ही भारतीय सस्करण था, देश में एक सम्प्रदाय के विरोध-प्रदर्शनों के कारण बाजार से हटा लिया गया। ये विरोध-प्रदर्शन धार्मिक सहिष्णुता के सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध थे, इस कारण ऐसा निर्णय भविष्य के लिये अच्छा उदाहरण सिद्ध न होगा। इससे धार्मिक विषयो पर विचार और मत प्रकाशन की स्वतन्त्रता के उपभोग पर कुप्रभाव पड़ने की सम्भावना है। इस सम्बन्ध मे कुछ अन्य बातें भी विचारणीय है। प्रथम, सविधान से यह स्पष्ट नही है कि धार्मिक स्वातन्त्र्य का अधिकार भारत के राष्ट्रिकों (Nationals) और विदेशियो को समान रूप से प्राप्त होगा या नही। अन्य देशो की प्रथाओं और सविधान की प्रस्तावना को ध्यान मे रखते हुये भारत सरकार विदेशियो के प्रति भेदपूर्ण व्यवहार कर सकती है। दूसरे, इस बात के काफी प्रमाण है कि भारत मे विदेशी धर्म प्रचारकों (missionaries) को बहुत स्वतन्त्रता मिली हुई है। परिणामस्वरूप कुछ विदेशी धर्म-प्रचारक उसका अनुचित प्रयोग कर सके है। हमारे देश मे ऐसी धर्म प्रचार सस्थाओं (missions) की सख्या १०० से ऊपर है जिन्हे विदेशो से खूब धन मिलता है। अकेले मध्य प्रदेश मे इन्होने ३–४ वर्षो मे १,२०० से अधिक व्यक्तियों को ईसाई बनाया। एक ओर तो अनेक प्रचारक भारतीय सस्कृति की आलोचना और निन्दा करते है और दूसरी ओर पिछड़े हुये वर्गों के सदस्यो को विभिन्न प्रकार के प्रलोभन देते है। ऐसे अनुचित कार्यों द्वारा भारत मे धर्म-परिवर्तन (conversion) का जारी रहना न्यायोचित और देश हित में नही हो सकता। अतएव सरकार को ऐसी गतिविधियो पर समुचित प्रतिबन्ध लगाने चाहिएँ।

सांस्कृतिक तथा शिक्षा सम्बन्धी अधिकार (Cultural and Educational Rights)—अनुच्छेद २६ के अनुसार भारत के राज्य-क्षेत्र अथवा उसके किसी भाग के निवासी नागरिकों के किसी समूह को, जिसकी अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति है, उसे बनाये रखने का अधिकार है; परन्तु राज्य द्वारा पोषित अथवा राज्य-कोष मे सहायता पाने वाली किसी शिक्षा सस्था मे किसी भी नागरिक को केवल धर्म, मूलवंश, जाति, भाषा तथा इनमे से किसी के आधार पर प्रवेश से

only touch questionable practices, dogmas and the life which stand in the way of the social progress of the country as a whole, *e. g.* the system of 'devadasis'."

Basu, D. D., *op cit*, *p. 193.*

वंचित नहीं किया जा सकता। अनुच्छेद ३० के अन्तर्गत धर्म या भाषा पर आधारित सभी अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षा संस्थायें खोलने और उनका प्रशासन करने का अधिकार है। इसके अतिरिक्त शिक्षा संस्थाओं को सहायता देने में राज्य किसी शिक्षालय के विरुद्ध इस आधार पर विभेद नहीं कर सकता कि वह धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक वर्ग के प्रबन्ध में है।

महत्व—अनुच्छेद २६ से सभी अल्पसंख्यकों को जो धर्म, सम्प्रदाय या भाषा आदि पर आधारित हो सकते हैं, अपनी संस्कृति के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता मिली है। वे अपनी विशेष भाषा या लिपि या संस्कृति को बनाये रख सकते है। किन्तु अनेक राष्ट्रवादी धर्म, सम्प्रदाय अथवा भाषा आदि पर आधारित संस्थाओं का अन्त करने अथवा कम से कम उन्हें राज्य द्वारा आर्थिक सहायता प्रदान न करने के पक्ष में है। परन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि भारत एक विशाल देश है, जिसमें विविध भाषायें, लिपियाँ व संस्कृति के विभिन्न रूप पाये जाते है। वास्तव में, भारत की विशेषता ही विविधता में एकता है। अतएव इन सभी के विकास के लिये संविधान में पर्याप्त प्रत्याभूति देना उचित ही है। संघात्मक राज्य का भी आधार विविधता व एकता का सम्मिश्रण है। हमारे सामने सोवियत संघ का भी ज्वलंत उदाहरण है, जहाँ पर इस प्रकार के अधिकार सभी राष्ट्रों व उप-राष्ट्रों को प्रदान किये गये हैं, और वहाँ के लोगों में एकता सुदृढ़ होती जा रही है। अतः जहाँ एक ओर विभिन्न अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षा संस्थायें स्थापित करने व उनका प्रशासन करने का अधिकार मिला है, दूसरी ओर किसी भी राज्य द्वारा पोषित अथवा राज्य-कोष से सहायता प्राप्त संस्था में अन्य वर्गों के विद्यार्थियों के प्रवेश पर कोई रोक नहीं लगाई जा सकती।

सम्पत्ति का अधिकार (Right to Property)—अनुच्छेद ३१ के अनुसार किसी व्यक्ति को उसकी सम्पत्ति से कानून के प्राधिकार के बिना वंचित नहीं किया जा सकता। साथ ही कोई स्थावर या जंगम सम्पत्ति ऐसे कानून के अधीन जो ऐसा अर्जन (कब्जा) करने का प्राधिकार देता है तब तक अर्जित नहीं की जा सकती जब तक कि वह कानून अर्जित की जाने वाली सम्पत्ति के लिये प्रतिकर का उपबन्ध न करे या उन सिद्धान्तों और रीतियों का उल्लेख न करे जिनसे प्रतिकर निर्धारित होना तथा दिया जाना है। इसके अतिरिक्त किसी राज्य के विधान-मण्डल द्वारा पास किया गया कोई ऐसा कानून तब तक प्रभावी नहीं हो सकता जब तक कि उसे राष्ट्रपति के विचार के लिये न रोका गया हो और उस पर राष्ट्रपति की अनुमति न मिली हो। परन्तु यदि संविधान के प्रारम्भ पर किसी राज्य विधान-मण्डल के सामने किसी लम्बित विधेयक (Pending Bill) को उसके द्वारा पास किये जाने के पश्चात् राष्ट्रपति के विचार के लिये रोक रखा गया हो और उस पर राष्ट्रपति की अनुमति मिल गई हो तो संविधान में इस अनुच्छेद के होते हुये भी इस प्रकार अनुमति प्राप्त कानून के विरुद्ध किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति न

की जा सकेगी कि वह प्रतिकर सम्बन्धी उपबन्धो का उल्लघन करता था। साथ ही राज्य का कोई कानून जो इस सविधान के प्रारम्भ से १८ माह से अधिक पहले बना हो, ऐसे प्रारम्भ से ३ माह के अन्दर राष्ट्रपति के सामने उसके प्रमाणन के लिये रखा जा सकता था तथा ऐसा होने पर लोक अधिसूचना (public notification) द्वारा राष्ट्रपति का प्रमाण मिलने पर किसी न्यायालय मे उसके विरुद्ध इस आधार पर आपत्ति नही उठाई जा सकी कि वह प्रतिकर सम्बन्धी उपबन्धो का विरोध करता था। सविधान की मूलधारा मे संविधान (प्रथम संशोधन) कानून, १९५१ के द्वारा निम्नलिखित दो अनुच्छेद और जोड़े गये :

> ३१ (क) अनुच्छेद ३१ के रहते हुये भी राज्य द्वारा निर्मित सम्पत्ति या तत्सम्बन्धी अधिकार प्राप्त करने वाला या उन्हें घटाने वाला कोई भी कानून इस आधार पर अवैध नही ठहराया जा सकता कि वह इसमे दी गई धाराओं का उल्लघन करता है अथवा अपहरण करता है या उन्हें सीमित करता है। ३१ (ख) कुछ कानूनों और नियमो की वैधता (Validation of certain Acts and Regulations)—साधारणत: ३१ (क) में दी गई बातो का विरोध किये बिना अनुसूची ९ मे दिये हुये कोई भी कानून और नियम अवैध नही समझे गये। उन्हे इस आधार पर अवैध नही ठहराया जा सका कि इस भाग मे दी हुई धाराओं और नियमों का वे उल्लंघन करते थे।

सक्षेप मे, अनुच्छेद ३१ (क) और (ख) का उद्देश्य यह था कि जमीदारी उन्मूलन या भूमि सुधार सम्बन्धी जो भी कानून विभिन्न राज्यो के विधान-मण्डलों ने बनाये उन्हे इस आधार पर कि वे कुछ मूल अधिकारो का अतिक्रमण करते थे अवैध घोषित न किया जा सका। वास्तव मे, सन् १९५० के बिहार भूमि सुधार कानून को उच्च न्यायालय ने इस आधार पर अवैध ठहराया था अतएव ऐसा सशोधन आवश्यक समझा गया था। इसी कारण इन अनुच्छेदो को सविधान के प्रारम्भ से ही (with retrospective effect) प्रभावी माना गया। इस प्रकार कानूनी बाधाओं के हट जाने पर जमीदारी उन्मूलन व भूमि सुधार सम्बन्धी कानून शीघ्रता से लागू करने मे बडी सुविधा मिली।

आलोचना—सर्वजनिक प्रयोजन के लिये प्रतिकर देकर सम्पत्ति की अर्जन सम्बन्धी धारायें काफी उलझी हुई है, परन्तु एक अच्छी बात यह है कि प्रतिकर व्यवस्था के विरुद्ध कोई कानूनी कार्यवाही नही की जा सकती। वास्तव में, प्रतिकर की राशि या मात्रा न्यायालयो के विचाराधीन नही रखी गई। दूसरे शब्दो मे, न्यायालय यह विचार करने से वंचित कर दिये गये हैं कि प्रतिकर उचित है या नही।[16] सयुक्त राज्य अमरीका और आस्ट्रेलिया के सविधानो मे न्यायोचित प्रतिकर

16 "The chief provision of the Amendment is that compensation under article 31 is no more a justiciable matter under the Constitution...Thus the

(fair compensation) की व्यवस्था है। इससे यह स्पष्ट है कि हमारा सविधान सम्पत्ति के अर्जन के हेतु विधान-मण्डल को ही अन्तिम अधिकार प्रदान करता है, किन्तु न्यायालय इस बात की जाच अवश्य ही कर सकते है कि कही प्रतिकर सम्बन्धी उपबन्ध संविधान पर धोखा मात्र (fraud on the Constitution) तो नही है अर्थात् जो प्रतिकर दिलाया गया है वह वास्तव में प्रतिकर है या केवल दिखावा। सम्पत्ति के अर्जन के सम्बन्ध में प्रतिकर की व्यवस्था करने वाली धाराओ का समाजवादी व साम्यवादी विचारधारा वाले प्रतिनिधियो ने कडा विरोध किया था। वे सर्वसाधारण के कल्याण के लिए देश में अबाध आर्थिक उन्नति के पक्ष में थे और उनके विचार में प्रतिकर की व्यवस्था एक बडी बाधा है। इसमे सन्देह नही कि प्रतिकर की व्यवस्था रहते हुए समाजवादी व्यवस्था की स्थापना मे देरी होगी और आर्थिक कठिनाइयाँ बाधा डालेंगी, किन्तु जिन आदर्शो से हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन प्रेरित रहा है उनको देखते हुए प्रतिकर की व्यवस्था करना न्यायोचित प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण बात तो यह है कि प्रतिकर कितना हो, इसका अन्तिम निर्णय जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियो के हाथ में छोडा गया है।

संवैधानिक उपचार का अधिकार (Right to Constitutional Remedies)—अनुच्छेद ३२ के अनुसार मूल अधिकारो को लागू करने के लिये सर्वोच्च न्यायालय द्वारा समुचित कार्यवाही करने के अधिकार की गारन्टी मिली है।[१७] इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये सर्वोच्च न्यायालय को ऐसे निदेश, आदेश या लेख जो भी समुचित हों, जारी करने की शक्ति दी गई है। सर्वोच्च न्यायालय की इन शक्तियो पर बिना प्रतिकूल प्रभाव डाले ससद कानून द्वारा किसी दूसरे को अपने क्षेत्राधिकार की सीमाओं के भीतर सर्वोच्च न्यायालय द्वारा प्रयोग की जाने वाली ऐसी सब अथवा किसी शक्ति का प्रयोग करने का अधिकार दे सकती है। साथ ही सविधान में अन्यथा उपबन्धित आवश्यकता को छोड़कर इस अनुच्छेद द्वारा दी गई गारण्टी

---

question of compensation is withdrawn from the field of judicial determination and placed exclusively at the will of the legislature...whatever might be the compelling reason for the adoption of such measure, the Fourth Amendment has brought about a major departure from the original intention of the framers of the Constitution."

Pylee M. V, *op. cit.; p. 130.*

17 "Article 32 provides a guaranteed remedy for the enforcement of the right conferred by Part III (of the Constitution) and this remedial right is itself made a fundamental right by being included in Part III. The court is thus constituted the protector and guarantor to fundamental rights and it can not, consistent with the responsibility so laid upon it, refuse to entertain applications seeking protection against infringements of such rights."

Supreme Court in Ramesh Thappar Vs. The State of Madras.

को निलम्बित (suspend) नहीं किया जा सकता। अतएव मूल अधिकारों की रक्षा के लिये सर्वोच्च न्यायालय में प्रार्थना-पत्र दिये जा सकते हैं और न्यायालय बन्दी-*प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध अधिकार-पृच्छा और उत्प्रेषण* आदि लेख जारी कर सकता है। इस प्रकार के अधिकार उच्च न्यायालयों को भी दिये गये हैं।

इस अधिकार का विशेष महत्व है। फ्रांस के पुराने संविधानों की यह विशेषता थी कि उनमें कुछ अधिकारों की तो घोषणा की गई, किन्तु उनके मनवाने के लिये उनमें व्यवस्था का अभाव था। भारत के संविधान ने ऐसी त्रुटि नहीं की है। इसने मूल-अधिकारों का प्रगणन करने के साथ-साथ उनके लागू करने की व्यवस्था की है। ऐसा किया जाना अति आवश्यक और उचित ही था, क्योंकि संवैधानिक-उपचार का अधिकार तो अन्य अधिकारों की आत्मा है। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा *चिरंजीलाल वाले मुकदमे में दिये गये निर्णय की अग्रलिखित बातों से इस अनुच्छेद का* महत्व स्पष्ट हो जाना चाहिये--(अ) इस अनुच्छेद का मुख्य उद्देश्य संविधान द्वारा प्रत्याभूत मूल अधिकारों को लागू करना है; (आ) इसका उद्देश्य मूल अधिकारों को लागू करना है, जिसकी आवश्यकता विधान-मण्डल अथवा कार्यपालिका किसी के भी कार्य के कारण उत्पन्न हो सकती है; और (इ) कोई भी व्यक्ति जिसे संविधान द्वारा प्रत्याभूत किसी भी मूल अधिकार में हस्तक्षेप की शिकायत हो, इस बात के लिये स्वतन्त्र है कि वह सर्वोच्च न्यायालय में उपचार हेतु जाय।

अनुच्छेद ३३ के अन्तर्गत संसद को शक्ति प्राप्त है कि वह कानून से यह निर्धारित कर सके कि इस भाग द्वारा दिये गये अधिकारों में से किसी का सशस्त्र सेनाओं के सदस्यों के लिये प्रयोग होने की अवस्था में उसका किस सीमा तक निर्बन्ध आदि लगाकर सुधार किया जाय, जिससे कि उनके कर्तव्यों का उचित पालन हो सके तथा उसमें अनुशासन सुनिश्चित रूप से बना रहे। इसके अतिरिक्त संशोधित अनुच्छेद ३४ के अनुसार संसद को यह भी अधिकार है कि जिन क्षेत्रों में सैनिक शासन (Martial law) लागू है उनमें किये गये कार्यों अथवा दिये गये दण्ड को वह कानून द्वारा (indemnify) उचित ठहरा सकती है। इसका प्रभाव यह होगा कि ऐसे क्षेत्रों में सैनिक शासन के दौरान मूल अधिकार प्रायः निलम्बित रहेंगे। अनुच्छेद ३५ में उन कानूनों के लिये व्यवस्था का वर्णन है, जिनका उद्देश्य *कुछ मूल अधिकारों के उपबन्धों को कार्य-रूप देना हो।* इसके अन्तर्गत संसद को इन विषयों के बारे में कानून बनाने की अनन्य शक्ति (exclusive power) प्राप्त है--संवैधानिक उपचार का अधिकार, सार्वजनिक नौकरी के हेतु निवास सम्बन्धी योग्यताओं को विहित करना, सशस्त्र सेनायें और सैनिक कानून। संसद को यह भी अनन्य शक्ति प्राप्त है कि वह मूल अधिकारों के अन्तर्गत बने कानूनों का उल्लंघन करने वाले अपराधों के लिये दण्ड विहित करे। संविधान के अनुसार इन सभी विषयों से सम्बन्धित बातों के लिये राज्यों को किसी प्रकार के भी कानून बनाने की मनाही की गई है। इन उपबन्धों का प्रयोजन स्पष्टतः इन विषयों के बारे में

सम्पूर्ण देश के लिये सामान्य स्तरों की स्थापना करना है; क्योंकि यदि राज्यों को इन विषयों के बारे में कानून बनाने के कुछ भी अधिकार प्रदान किये जाते तो वे इकहरी नागरिकता और राष्ट्रीय एकता की स्थापना में बाधक सिद्ध होते।

मूल अधिकारों का निलम्बित किया जाना (Suspension of fundamental rights)—जब देश में बाह्य आक्रमण या आन्तरिक अशान्ति के कारण राष्ट्रपति द्वारा आपातकालीन घोषणा का प्रवर्तन हो तो राष्ट्रपति के आदेश जारी करने पर अनुच्छेद १६ द्वारा प्रदान किये गये स्वतन्त्रता सम्बन्धी सभी अधिकार निलम्बित किये जा सकते है। साथ ही राष्ट्रपति मूल अधिकारो की प्राप्ति या रक्षा के लिये न्यायालय में प्रार्थना करने का अधिकार भी निलम्बित कर सकता है। ऐसा आदेश राष्ट्रपति द्वारा सम्पूर्ण भारत अथवा उसके किसी भाग के लिये जारी किया जा सकता है, परन्तु जितना शीघ्र सम्भव हो सकेगा ऐसा आदेश ससद के दोनों सदनो के सामने रखा जायेगा। ऐसी आपातकालीन उद्घोषणा के दौरान में अनुच्छेद १६ में दी गई कोई बात ऐसी विधि पर, जिसे राज्य बनाने के लिए-सक्षम हो पर सीमा न लगायेगी, परन्तु उद्घोषणा काल की समाप्ति पर ऐसा कोई भी कानून विरोध की सीमा तक अप्रभावी हो जायेगा।

समालोचना—कुछ आलोचकों का यह कथन है कि स्वतन्त्रता अधिकार को निलम्बित करना उसकी जड़ को काटना है तथा ऐसा करने से राज्य का रूप सर्वाधिकारवादी हो जायगा। परन्तु इस आक्षेप मे सत्य का अधिक अश नही है, क्योंकि स्वातन्त्र्य अधिकार को केवल बाह्य युद्ध अथवा व्यापक आतरिक अशाति से उत्पन्न होने वाले आपातकाल के दौरान ही निलम्बित किया जा सकता है। ऐसे काल में व्यक्ति की स्वतन्त्रता से राज्य की सुरक्षा का महत्व कहीं अधिक बढा हुआ मानना उचित है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति द्वारा इस सम्बन्ध मे निकाले गये आदेश को यथाशीघ्र ससद के दोनो सदनों में स्वीकृति के लिये रखा जाना आवश्यक है अर्थात् उस पर निर्वाचित प्रतिनिधियों की स्वीकृति मिलनी चाहिये। फिर भी इतना अन्तर अवश्य है कि भारत में यह शक्ति कार्यपालिका अर्थात् राष्ट्रपति में निहित है जो मन्त्रि-परिषद् के परामर्श से ही ऐसा कार्य करेगा, जबकि सयुक्त राज्य अमरीका व ब्रिटेन मे ऐसी शक्ति सीधे विधान-मण्डल में निहित है।

अनुच्छेद १३ का इस सम्बन्ध मे विशेष महत्व है। इसमें कहा गया है: (१) इस सविधान के ठीक आरम्भ होने से पहले भारत-राज्य क्षेत्र मे प्रवृत्त विधियाँ उस मात्रा तक शून्य होंगी जिस तक कि वे इस भाग के उपबन्धों से असगत हैं। (२) राज्य कोई ऐसी विधि नही बनायेगा जो इस भाग (भाग ३) द्वारा दिये गये अधिकारों को छीनती या न्यून करती हो और इस खण्ड के उल्लघन में बनी प्रत्येक विधि उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगी। (३) यदि प्रसंग से दूसरा अर्थ अपेक्षित न हो तो इस अनुच्छेद में—(क) भारत राज्य क्षेत्र विधि के समान प्रभावी अध्यादेश, आदेश, उपविधि, नियम, विनियम ''प्रथा 'विधि' के अन्तर्गत होगी।

(ख) भारत राज्य क्षेत्र में किसी विधानमण्डल या अन्य क्षमताशाली अधिकारी द्वारा इस संविधान के प्रारम्भ से पूर्वपारित अथवा निर्मित विधि जो पहले ही निरसित न हो गई हो, चाहे ऐसी कोई विधि या उसका कोई भाग उस समय पूर्णतया या विशेष क्षेत्रों में प्रवर्तन में न भी हो—'प्रवृत्त विधियों' के अन्तर्गत होगी।

उपरोक्त अनुच्छेद में 'संविधान के विरुद्ध' सिद्धान्त (doctrine of ultra vires) को समाविष्ट किया गया है। इस प्रकार का स्पष्ट उपबन्ध संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान में नहीं है। परन्तु चीफ जस्टिस मार्शल ने मारबरी बनाम मेडिसन वाले मुकदमे में इस सिद्धान्त को स्थापित कर दिया था। भारत के सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधिपति कानिया ने इस विषय में अपना मत निम्नलिखित शब्दों में अभिव्यक्त किया :

> अनुच्छेद १३ (१) और (२) का संविधान में सम्मिलित किया जाना, अधिक सावधानी बरती जाने का प्रतीक है। उनके अभाव में भी, यदि किसी मूल अधिकार में किसी भी विधि द्वारा हस्तक्षेप होता, तो न्यायालय को सदा ही यह शक्ति प्राप्त है कि वह उस विधि को, उस सीमा तक जहाँ तक कि वह अधिकार की सीमाओं का उल्लंघन (अतिक्रमण) करे, अवैध घोषित कर दे।[१८]

अनुच्छेद १४, १९, २१ और ३१ पर यदि हम एक साथ विचार करें तो यह निष्कर्ष निकलेगा कि भारत में अब विधि का शासन (Rule of Law) स्थापित हो गया है। विधि के शासन से ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमरीका में मुख्यतः दो बातें समझी जाती हैं—किसी भी व्यक्ति को उसके जीवन स्वातन्त्र्य अथवा सम्पत्ति से, सिवाय साधारण न्यायालयों में कानून उल्लघन के लिये अपराधी सिद्ध होने की दशा में, वंचित नहीं किया जा सकता; और (२) कोई भी व्यक्ति (ब्रिटेन में राजा के सिवाय) कानून से ऊपर नहीं होता अर्थात् सभी व्यक्ति, उनके पद व स्थिति का विचार किये बिना कानूनों का उल्लघन करने पर एक समान रूप से दण्ड के भागी होते है। नये संविधान में पूर्व विदेशी शासक, राजनैतिक कार्यकर्ताओं को बिना वारन्ट गिरफ्तार करा लेते थे और उन पर बिना मुकदमा चलाये ही उन्हें अनिश्चित अवधि के लिये बन्दी रखते थे। ऐसे व्यक्तियों के मकानों की तलाशी कराई जा सकती थी तथा उनकी डाक भी सेंसर की जाती थी। परन्तु अब ऐसी कोई भी अनुचित कार्यवाही अधिकृत अधिकारी की आज्ञा के बिना नहीं की जा सकती।

जब हम अपने संविधान में प्रगणित मूल अधिकारों की तुलना सोवियत संघ के संविधान में दिये गये अधिकारों से करते हैं तो हमें तीन बातों में अन्तर मिलता है। प्रथम तो यह कि कुछ महत्वपूर्ण अधिकारों जैसे हमें काम पाने के

18 Seevai, H. M., *op. cit.*, *p. 156.*

अधिकार, आराम और अवकाश के अधिकार, भौतिक सुरक्षा (material security) के अधिकार, शिक्षा के अधिकार आदि का हमारे सविधान मे अभाव है, जबकि इन्हें सोवियत सघ के सविधान मे महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। आज की आर्थिक कठिनाइयो के काल मे काम पाने आदि अधिकारों का अभाव बहुत ही खलता है, किन्तु इस सम्बन्ध में हमे यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि हमारे संविधान-निर्माता देश की वर्तमान परिस्थितियो मे तथा प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली को अपनाते हुये ऐसी व्यवस्था नही कर सकते थे। फिर भी इनमें से कुछ अधिकारो की पूर्ति करने की व्यवस्था उन्होंने राज्य-नीति के निदेशक सिद्धान्तो में सम्मिलित करके की है। दूसरे, सोवियत सघ में स्वातन्त्र्य अधिकार को छोड़कर जो व्यवहार में अत्यधिक सीमित है अन्य अधिकारो के समुचित उपभोग के लिये राज्य की ओर से व्यवस्था की जाती है। अभी हमारे देश मे ऐसी व्यवस्था करने का कोई बड़ा प्रयत्न नही हो सकता है। तीसरे, सोवियत संघ के संविधान में अधिकारों के समान ही अथवा उनसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान नागरिको के कर्त्तव्यो का है, किन्तु हमारे सविधान में उनका कोई उल्लेख नही है यद्यपि वे अधिकारो में ही निहित कहे जा सकते है, क्योंकि अधिकार और कर्त्तव्य एक ही वस्तु के दो पहलू हैं।[19]

४. राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्त

इन सिद्धान्तो का सविधान मे सम्मिलित किया जाना एक अनोखी विशेषता है, क्योकि इससे पूर्व ऐसे सिद्धान्तों का उल्लेख केवल आयरलेंड के सविधान में ही मिलता है। आयरलैंड के सविधान मे, जो सन् १६३७ मे बना, 'मूल अधिकारो' को 'नीति निदेशक सिद्धान्तो' से अलग रखने की योजना अपनाई गई। मूल अधिकारो को कुछ सीमा तक न्यायालयो द्वारा लागू किया जा सकता है, किन्तु निदेशक सिद्धान्तों को उनके द्वारा नही मनवाया जा सकता। मूल अधिकारो को सविधान की ४० से लेकर ४४ तक धाराओ में परिभाषित किया गया है और सामाजिक नीति के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में धारा ४५ है, जिसके आरम्भ में कहा गया है कि 'इस धारा में दिये गये सामाजिक नीति के सिद्धान्तों का उद्देश्य ससद का मार्ग प्रदर्शन करना है। कानूनो के बनाने में संसद को उनका ध्यान रखना चाहिये, किन्तु इनके विषय मे न्यायालय कोई कार्य नही कर सकते।'[20] धारा ४०-४४ के सम्बन्ध मे ऐसा प्राविधान नही जिसके द्वारा उनके सम्बन्ध मे न्यायालयो का अधिकार-क्षेत्र वर्जित हो। कुछ मूल अधिकारो की भाषा ऐसी है कि उन्हें न्यायालयो

19 सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के प्रसंग में 'मूल अधिकार और उनका संशोधन' विषय का विवेचन अध्याय ११ में किया गया है।

20 "The principles of social policy set forth in this article are intended for the general guidance of the Oireachtas (the Irish Parliament). The application of those principles in the making of law shall be the care of the Oireachtas exclusively and shall not be cognisable by any court under any of the provisions of this constitution."

Rau, B N., *India's Constitution in the Making*, p. 247

द्वारा मनवाया जा सकता है। उदाहरण के लिए धारा ४० (५) २० में व्यवस्था है कि सघ निर्माण और स्वतन्त्र रूप से एकत्रित होने के ढग को विनियमित करने वाले कानूनो मे ऐसे नियम न होगे जिनका आधार राजनैतिक, धार्मिक या वर्गीय भेद-भाव हो और धारा ४४ (३) ४० मे व्यवस्था है कि स्कूलों को सरकारी आर्थिक सहायता देने के सम्बन्ध मे बनाये गये कानूनो से विभिन्न धर्मों के अनुयायियो द्वारा सचालित सस्थाओं से कोई भेद न किया जायेगा। इन प्रत्याभूतियों का अतिक्रमण करने वाले कानून अवश्य ही असवैधानिक (ultra vires) घोषित किये जायेगे।

जबकि मूल अधिकार न्यायालयो द्वारा समर्थनीय (justiciable) हैं, निदेशक सिद्धान्तो को न्यायालयों द्वारा नही मनवाया जा सकता।'[21] अनुच्छेद ३७ मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि इस भाग (४) मे दिये गये उपबन्धो को किसी भी न्यायालय द्वारा बाध्यता न दी जा सकेगी किन्तु तो भी इसमे दिये हुए सिद्धान्त देश के शासन में मूलभूत (fundamental) है और विधि बनाने में इन सिद्धान्तों का प्रयोग करना राज्य का कर्त्तव्य होगा। सविधान मे सम्मिलित किये जाने से उन्हे एक विशेष महत्व ही नही वरन् एक प्रकार का पवित्र स्थान प्राप्त हुआ है, अतएव विभिन्न सरकारो को अपने-अपने क्षेत्र में उन्हें कार्यरूप मे परिणत करना ही चाहिए। श्री जी० एन० जोशी के मतानुसार "इन निदेशक सिद्धान्तों का विधान-मण्डलो को कानून बनाते समय और कार्यपालिकाओ को उन कानूनो को लागू करते समय ध्यान रखना चाहिए। ये उस नीति की ओर संकेत करते हैं जिनका अनुसरण संघ और राज्यों को करना चाहिए'''राज्य का अस्तित्व नागरिकों के लिए अच्छे जीवन की प्राप्ति है। भारत में अच्छे जीवन की प्राप्ति तभी सम्भव होगी जबकि राज्य इस भाग में दिये गये सिद्धान्तों को प्रभावी बनावे। यह एक प्रकार का घोषणा-पत्र, आदेश-पत्र व सदाचार के नियमो का सग्रह प्रतीत होता है, जिससे विधान-मण्डलो और कार्यपालिकाओ का मार्ग प्रदर्शन होना चाहिए '' ये अधिकतया ऐसे नैतिक *नियम (moral precepts) तथा सूत्र (maxim) है जिनके आशय के विरुद्ध* कोई आक्षेप नही हो सकता, किन्तु इनके पीछे कोई कानूनी शक्ति नही है। इनका प्रयोग राजनैतिक आलोचना के लिए किया जा सकता। ये किसी प्रकार के न तो कानूनी

---

21 "The Directive Principles of State Policy which are expressly made unenforceable by a court cannot override the provisions in part III which notwithstanding other provisions are made enforceable be appropriate writs, orders or directions under Article 32. The chapter on Fundamental Rights is sacrosanct and not liable to be abridged by any Legislative or Executive Act or order except to the extent provided in the appropriate Article in part III. The Directive Principles of State Policy have to conform to and run subsidiary to the chapter on Fundamental Rights" (Supreme Court)

Quoted by Basu, D D, *op. cit*, , 48

का सचालन इस प्रकार करेगा कि (अ) सभी नागरिकों–पुरुषों व स्त्रियों–को समान रूप से विकास के पर्याप्त साधन प्राप्त हों, (आ) देश के भौतिक साधनों का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार बटा होगा कि जिससे सामूहिक हित साधन हो, (इ) *आर्थिक व्यवस्था का सचालन* इस प्रकार हो कि धन और उत्पादन साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केन्द्रण न हो, (ई) पुरुषों और स्त्रियों दोनो को ही एक समान कार्य के लिए समान वेतन मिले, (उ) श्रमिक पुरुषो और स्त्रियों के स्वास्थ्य और शक्ति तथा बालको की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न हो तथा (ऊ) शैशव और किशोर अवस्था का शोषण व भौतिक और आर्थिक परित्याग (abandonment) न हो। यह अनुच्छेद ऐसा है जिसके विषय में कोई मतभेद नही होगा, परन्तु इसके (आ) और (इ) उप-भागो को कार्यरूप में परिणत करने मे अनेक कठिनाईयाँ आयेगी।

ग्राम पंचायतों का संगठन—अनुच्छेद ४० मे कहा गया है कि राज्य-ग्राम पचायतो का सगठन करेगा और उन्हें ऐसे अधिकार देगा जिससे कि वे स्वायत्त शासन की इकाइयो के रूप मे कार्य कर सकें। इसके महत्व के बारे में भी दो मत नही हैं। **काम व शिक्षा तथा कुछ विशेष अवस्थाओ मे सार्वजनिक सहायता पाने का अधिकार**—अनुच्छेद ४१ के अनुसार राज्य अपनी आर्थिक सामर्थ्य और विकास की सीमाओ के भीतर काम तथा बेकारी, बुढापा, बीमारी और अगहीन व अन्य अभाव की अवस्थाओं मे सार्वजनिक सहायता पाने के अधिकार को प्राप्त करने का यथाशक्ति प्रयत्न करेगा। राज्य काम की यथोचित् और मानवोचित दशाओ का तथा प्रसूति सहायता के लिए प्रबन्ध करेगा। अनुच्छेद ४३ के अनुसार राज्य कृषि, उद्योग व अन्य प्रकार के सभी श्रमिको को काम, निर्वाह, मजदूरी, शिष्ट जीवन-स्तर तथा अवकाश आदि के समुचित उपभोग की दशाओ को प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा तथा विशेष रूप से ग्रामो मे कुटीर-उद्योगो को वैयक्तिक अथवा सहकारी आधार पर बढाने का प्रयास करेगा।'[23]

अनुच्छेद ४४ मे कहा गया है कि भारत के समस्त राज्य क्षेत्र में नागरिको के लिए एक समान व्यवहार सहिता (Uniform Civil Code) बनाने का प्रयत्न करेगा। इसी उद्देश्य से हिन्दू संहिता विधेयक (Hindu Code Bill) पेश किया गया था जिसे अत्यधिक विरोध होने पर वापिस ले लिया गया। किन्तु सरकार उसके विभिन्न उपबन्धो को पृथक्-पृथक् कई विधेयकों के रूप में पास कराने में सफल हो

23 *From the Directive Principles of State Policy the future economic* Pattern of the country can easily be envisaged. Equal right of work, equal pay for equal work and adequate means of livelihood, both to men and women, are guaranteed undar the State Policy. The future State shall endeavour to make provision for full employment, old age pensions, sickness and disablement allowance in order that the haunting shadow of insecurity that darkens many lives be abolished "

Misra, B R. *Economic Aspects of the Indian Constitution*, pp 10-11.

राज्य को प्रयत्न करना चाहिये, (२) भावी विधान-मण्डलो व कार्यपालिकाओ के लिये कुछ विशेष आदेश जो यह बताते है कि उन्हे किस प्रकार अपनी शक्तियो का प्रयोग करना चाहिये, तथा (३) नागरिकों के कुछ ऐसे अधिकार जिन्हे न्यायालयों द्वारा नही मनवाया जा सकता।

अन्त में, प्रश्न यह उठता है कि इनकी यथार्थ में क्या उपयोगिता है? कुछ आलोचको का मत है कि चूकि ये राज्य पर अपनी पूर्ति के लिये कोई कानूनी बधन नही लगाते अतएव इनका संविधान में उल्लेख करना केवल दिखावा है अथवा इनके द्वारा सविधान के ऐसे आलोचको को, जिनके मत को उसमे समुचित स्थान नही मिला, चुप करने का प्रयत्न किया गया है। यह सत्य है कि कानूनी दृष्टि से इनकी उपयोगिता बहुत कम है, परन्तु इनका राजनैतिक महत्व बहुत है। यदि कोई सरकार इन्हे पूरा करने का यथाशक्ति प्रयत्न नही करे तो उसके विरुद्ध न्यायालय मे कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती, परन्तु ऐसी सरकार के विरुद्ध जनमत को जाग्रत करके एक प्रकार से जनता के न्यायालय में अपील की जा सकती है। ये वास्तव मे ऐसे सिद्धान्त हैं जो विभिन्न सरकारो व जनता को सदा ही स्मरण कराते रहेंगे कि उन्हे क्या करना चाहिये। इनका स्वरूप क्रांतिकारी है, किन्तु इनकी प्राप्ति संवैधानिक तरीके से होनी है। इनके होने से भारत का सविधान दोनो प्रकार की अतियो—सर्वहारावर्ग की अधिनायकशाही और पूजीवादी जनतन्त्र—के बीच का मार्ग अपना सकेगा।[24]

—:०:—

24 "The real importance of the directives is that they contain the positive obligations of the State towards its citizens. No one can say that these obligations are of an insignificant type, or that even if they are fulfilled, the pattern of society in India will still remain more or less the same. In fact they are revolutionary in character and yet to be achieved in a constitutional manner. Herein lies the real value of embodying these principles as an integral part of the constitution. Through the Directive Principles of State Policy the Constitution of India will steer clear of the two extremes—a proletarian dictatorship which destroys the liberty of the individual and a capitalist oligarchy which hampers the economic security of the masses."

Pylee, M. V., *op cit., p. 155.*

अध्याय ६

संघीय कार्यपालिका

१. राष्ट्रपति का निर्वाचन इत्यादि

राष्ट्रपति पद—राष्ट्रपति भारतीय गणतन्त्र का प्रमुख है और उसका पद सरकारी अधिकारियों में उच्चतम और सर्वाधिक सम्मानित है। वह राष्ट्र की एकता व अखण्डता का प्रतीक है। संवैधानिक दृष्टि से उसे अनेक शक्तियाँ प्राप्त हैं, विशेष रूप से उसकी आपातकालीन शक्तियाँ अति व्यापक और महत्वपूर्ण हैं। यहाँ पर विशेष रूप से उल्लेखनीय बात यह है कि वह संविधान के किसी प्राविधान द्वारा मन्त्रि-परिषद् का परामर्श मानने के लिये बाध्य नहीं है। वस्तुतः यह बात अभिसमय (convention) के विकास पर छोड़ दी गई है। ऐसी आशा है कि वह सभी प्राप्त शक्तियों का प्रयोग मन्त्रि-परिषद् के परामर्श से ही करेगा और गत वर्षों में ऐसा ही हुआ है। भारत के संविधान निर्माताओं ने संसदात्मक पद्धति अपनाकर कार्यपालिका और विधायिका के बीच सुगम सम्बन्ध स्थापित किया है, जिससे स्वतन्त्र भारत के सर्वतोन्मुखी पुनर्निर्माण कार्यों के सम्पादन में सुविधा रहे। साथ ही इस प्रकार की शासन पद्धति के आधार पर ही बीते युग मे संवैधानिक विकास हुआ है और भारतीयों को उसके कार्यान्वित रूप का पर्याप्त अनुभव है। अतः इस पद्धति का अपनाया जाना देश के हित में है।

राष्ट्रपति पद के अभ्यर्थी—राष्ट्रपति पद के लिये अभ्यर्थी में ये योग्यतायें होनी आवश्यक हैं—(१) वह भारतीय नागरिक हो, (२) उसने ३५ वर्ष की आयु पूर्ण कर ली हो, और लोक सभा के लिये अर्हतायें रखता हो। परन्तु ऐसा कोई व्यक्ति जो शासन के अधीन लाभ-पद पर आसीन हो, अभ्यर्थी नहीं बन सकता किन्तु यह प्रतिबन्ध स्वयं राष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति, गवर्नर, राजप्रमुख व मन्त्रियों पर लागू नहीं। पदासीन राष्ट्रपति पुनर्निर्वाचन के लिये खड़ा हो सकता है।

राष्ट्रपति का निर्वाचक-मण्डल द्वारा चुनाव—राष्ट्रपति का चुनाव एक निर्वाचक मण्डल द्वारा होता है, जिसमें (अ) संसद के सभी निर्वाचित सदस्य और (आ) राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य रहते हैं। परन्तु उसके चुनाव के सम्बन्ध में दो बातें विशेष है। एक तो यह कि निर्वाचन मे विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधित्व में एकरूपता (uniformity in the scale of representation), रहेगी दूसरे, संघ और राज्यो में प्रतिनिधियों के बीच समता *(parity of*

representation) होगी। इस कारण से राष्ट्रपति के निर्वाचन का फल मतो की साधारण गणना से निर्धारित नही होता वरन् मतो का एक प्रकार से मान या वजन निकाला जाता है जिसके लिये निम्नलिखित सूत्र है :

किसी राज्य की विधान सभा के सदस्य के मत का मूल्य

$$= \frac{\text{राज्य की जनसख्या}}{\text{विधान सभा के निर्वाचित सदस्यो की कुल सख्या}} \div १००० $$

उदाहरण के लिये मान लीजिए कि उत्तर प्रदेश की जनसंख्या ५ करोड़ है और विधान सभा के निर्वाचित सदस्यों की संख्या ४०० है तो प्रत्येक सदस्य का मत बराबर होगा

$$\frac{५०,०००,०००}{४००} \div १,००० = १२५$$

ससद सदस्य के मत का मूल्य=

$$\frac{\text{राज्यो की विधान सभाओ के सदस्यों के मतो का योग}}{\text{ससद के दोनो सदनो के निर्वाचित सदस्यो की कुल सख्या}}$$

मान लीजिये कि विधान सभाओं के सदस्यों के मत का योग ७,५०,००० है और संसद के निर्वाचित सदस्यों की सख्या ७५० है तो प्रत्येक सदस्य का मत

$$= \frac{७,५०,०००}{७,५००} = १०००$$

उपरोक्त से स्पष्ट है कि राष्ट्रपति का चुनाव एक पेचीदा ढग से होता है और वह एक प्रकार से जनता का अप्रत्यक्ष रूप से चुना गया (indirectly elected) प्रतिनिधि होता है। इस पद्धति को अपनाने के कारण स्पष्ट है। जनसख्या की दृष्टि से कुछ राज्यों में निर्वाचन-क्षेत्र अन्य राज्यों की अपेक्षा बड़े हैं अर्थात् किसी राज्य में प्रत्येक सदस्य ५० हजार व्यक्तियों का तथा दूसरे राज्य मे ६० या ७५ हजार व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करता है। अतः उनके मतों के मूल मे एकरूपता लाने के लिये पहला सूत्र रखा गया है। साथ ही विभिन्न राज्यों की विधान सभाओं के कुल सदस्य एक ओर और संसद के सदस्य दूसरी ओर अपने-अपने ढग से देश की सम्पूर्ण जनसख्या का प्रतिनिधित्व करते हैं, अतः उनके कुल मतो के योग का मूल्य समान रखना उचित है। इनके अतिरिक्त राष्ट्रपति का निर्वाचन गुप्त मतदान द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति को एकल संक्रमणीय मतदान प्रणाली के अनुसार होता है अर्थात् प्रत्येक मतदाता मत-पत्र पर १, २, ३, ४ लिखकर अपनी पसन्द (preference) को व्यक्त कर सकता है। यदि अभ्यर्थी केवल दो ही हों तो (दोनों को समान मत मिलने पर) एक को स्पष्ट बहुमत प्राप्त होगा, ऐसी अवस्था में निर्वाचन फल साधारण पद्धति के समान ही निर्धारित होगा, किन्तु यदि अभ्यर्थियो की संख्या दो से अधिक हो तो सम्भव है कि किसी को भी स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो, तो निर्वाचन फल निकालने के लिये कुल वैध मतो के योग मे दो का भाग देकर

वांछनीय समझा गया है कि राष्ट्रपति के चुनाव का आधार यथासम्भव लोकप्रिय रहे। वर्तमान पद्धति के अन्तर्गत दोनो ही प्रयोजनों की प्राप्ति हो सकेगी। राष्ट्रपति के चुनाव में ससद के अतिरिक्त राज्यों की विधान सभाओं के सदस्यो को भाग लेने का अधिकार इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि यदि केवल सद्न सदस्य ही उसके निर्वाचन मे भाग लेते तो साधारणतया वही व्यक्ति चुना जाता जिसे ससद में बहुमत प्राप्त दल चाहता।

सन् १९५२ मे हुये निर्वाचन मे ५ अभ्यर्थी थे और मतों की कुल सख्या (अवैध मतो को छोडकर) ६,०५,३८६ थी। विभिन्न अभ्यर्थियों को प्राप्त हुये मतो का ब्योरा निम्न प्रकार रहा—

नाम अभ्यर्थी	प्राप्त मतो की संख्या	कुल मतों का प्रतिशत
डा० राजेन्द्र प्रसाद	५,०७,४००	८४
श्री के० टी० शाह	९२,८२७	१५
श्री एल० जी० थाटे	२,६७२	१/२
श्री हरिराम	१,९५४	१/२
श्री के० टी० चटर्जी	५३३	

उस चुनाव मे निम्नलिखित राज्यों की विधान सभाओ के प्रत्येक सदस्य के मत का वजन (weight) निम्न प्रकार था—

नाम राज्य	निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या	प्रत्येक सदस्य के मतों की संख्या
उत्तर प्रदेश	४३०	१०१
मध्य भारत	[illegible]	७१
मैसूर	८०	५५
बम्बई	२१५	१०४
बिहार	३३०	११६
भोपाल	३०	२८

सन् १९६२ के मई मास में हुये चुनाव पर दृष्टिपात—निर्वाचक-मण्डल ११ मई के चुनाव मे डा० एस० राधाकृष्णन को भारत का दूसरा राष्ट्रपति चुना। चुनाव मे तीन उम्मीदवारो ने भाग लिया था; उन्हे प्राप्त हुये मतों का संक्षिप्त ब्योरा निम्नलिखित है—

निर्वाचक मण्डल के कुल सदस्यो की सख्या	३,९२०
निर्वाचन मे भाग लेने वालो की सख्या	३,०९४
डा० राधाकृष्णन के पक्ष मे मत देने वालो की सख्या	२,९३८

intended to emphasize that real power was vested by the Constitution in the Ministry and not in the President."

Rau, B N.. *India's Constitution in the Making*, p 375.

श्री हरिराम के पक्ष में मत देने वालों की संख्या ४१
श्री त्रिशूल के पक्ष में मत देने वालों की संख्या १३

पूर्व वर्णित फार्मूलों के अनुसार चुनाव में डाले गये कुल मतों में से डा० राधाकृष्णन, श्री हरिराम और श्री त्रिशूल को प्राप्त मतों की संख्या क्रमश: इस प्रकार रही—५,५३,०६७, ६,३४१ और ३,५५७। चौथे आम चुनाव पूर्ण हो जाने के बाद मई १९६७ में भारत के वर्तमान (तीसरे) राष्ट्रपति का चुनाव हुआ। इस चुनाव में भाग लेने वाले कुल उम्मीदवारों की संख्या १७ थी। उनमें से ९ उम्मीदवारों को कोई मत नहीं मिला। यथार्थ में चुनाव डा० जाकिर हुसैन, भूतपूर्व उपराष्ट्रपति और श्री सुब्बाराव, भारत के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधिपति, के बीच हुआ। डा० जाकिर हुसैन को कांग्रेस ने नामजद किया था और श्री सुब्बाराव को अन्य दलों ने। डा० जाकिर हुसैन को ४,७१,२४४ मत मिले और श्री सुब्बाराव को ३,६३,९७१ मत मिले। इस प्रकार सुविख्यात शिक्षा विशारद डा० जाकिर हुसैन भारत के राष्ट्रपति चुने गये। उनकी सफलता ने यह सिद्ध कर दिया कि भारत वास्तव में एक धर्म-निरपेक्ष राज्य है।

राष्ट्रपति की पदावधि व पदच्युति—राष्ट्रपति अपने पद ग्रहण करने की तारीख से ५ वर्ष तक अपने पद पर आसीन रहता है। वह चाहे तो इससे पूर्व ही उप-राष्ट्रपति को सम्बोधित त्याग-पत्र द्वारा अपना पद छोड़ सकता है। उसका पद अकाल मृत्यु से भी खाली हो सकता है तथा उसे संविधान के अतिक्रमण (violation) के लिये महाभियोग (Impeachment) की प्रक्रिया द्वारा उसके पद से हटाया जा सकता है। महाभियोग चलाने का अधिकार संसद में दोनों सदनों को है, जबकि संयुक्त राज्य अमरीका में ऐसी कार्यवाही निचले सदन द्वारा ही प्रारम्भ की जाती है। यदि एक चौथाई सदस्यों द्वारा १४ दिन के नोटिस के बाद संसद का कोई भी सदन कुल सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से महाभियोग का प्रस्ताव पास करे तो दूसरा सदन उसकी जाँच करेगा। राष्ट्रपति को ऐसा होने की अवस्था में अपनी सफाई देने का अधिकार है, किन्तु यदि उसके बाद जाँच करने वाला सदन कुल सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से उस प्रस्ताव को पास कर दे तो राष्ट्रपति को पदच्युत कर दिया जायगा।

रिक्त पद को भरना—जब पद अवधि के पूर्ण होने पर रिक्त होगा तो उसके रिक्त होने के पूर्व ही निर्वाचन सम्बन्धी कार्यवाही पूरी की जायगी। किन्तु राष्ट्रपति का पद मृत्यु, त्याग-पत्र अथवा पदच्युति के कारण रिक्त होने पर निर्वाचन यथा शीघ्र रिक्त होने की तारीख से ६ माह के भीतर किया जायगा और इस प्रकार से निर्वाचित राष्ट्रपति, अन्य प्रावधानों के अधीन अपने पद पर पद-ग्रहण की तारीख से ५ वर्ष तक पदासीन रहेगा। परन्तु मृत्यु, त्याग-पत्र या पदच्युति आदि कारणों से रिक्त हुए राष्ट्रपति पद पर नये निर्वाचन के पूर्ण होने तक उप-राष्ट्रपति कार्य करेगा। ऐसे ही यदि राष्ट्रपति की अनुपस्थिति या रोग

के कारण अपने कार्यों को करने में असमर्थ हो जाये तो उन्हें उप-राष्ट्रपति पूरा करेगा।

राष्ट्रपति के पद की शर्तें—राष्ट्रपति किसी विधायिका का सदस्य नहीं रह सकता। यदि वह निर्वाचन से पूर्व सदस्य रहा हो तो उसे पद-ग्रहण के दिन से ही अपनी सदस्यता से त्याग-पत्र देना पड़ेगा। ऐसे ही वह कोई अन्य लाभ का पद स्वीकार नहीं कर सकता। उसे निवास के लिए बिना किराये का सरकारी भवन (भव्य और विशाल राष्ट्रपति भवन) मिलता है और वेतन के अतिरिक्त अनेक उपलब्धियाँ व विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं। भारतीय शासन में राष्ट्रपति पद का वेतन सभी पदों से अधिक है। उसे १० हजार रुपये मासिक वेतन मिलता है और पद छोड़ने पर शेष जीवन के लिए १५ हजार रुपये वार्षिक पेंशन भी। उसकी यात्रा, अतिथि सत्कार, अधीन कर्मचारियों व अन्य कार्यों के लिए सरकार वर्ष में लगभग १५ लाख रुपये व्यय करती है। इन उपलब्धियों में वर्तमान राष्ट्रपति की पदावधि के दौरान में की गई कोई कमी उस पर प्रभावी नहीं होगी। संसद के ऐसे कानूनों का प्रभाव भावी राष्ट्रपति पर ही पड़ेगा। स्थायी तथा अस्थायी राष्ट्रपति को पद-ग्रहण के समय निम्नलिखित शपथ लेनी होती है :

> मैं शपथ लेता हूँ कि मैं श्रद्धापूर्वक भारत के राष्ट्रपति पद का कार्य पालन करूँगा तथा अपनी पूरी योग्यता से संविधान और कानून का **परिरक्षण** (preservation), **संरक्षण** (protection), **प्रतिरक्षण** (defence) करूँगा और मैं भारत की सेवा में निरत रहूँगा।

राष्ट्रपति की उन्मुक्तियाँ—वह अपने कार्यकाल में कर्तव्यों की पूर्ति के लिए जो भी कार्य करता है उसके लिए वह किसी न्यायालय के सामने उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। वह न तो गिरफ्तार किया जा सकता है और न कारागार में ही रखा जा सकता है। उसके पद की अवधि में उसके विरुद्ध दण्ड विधि की कोई प्रक्रिया लागू नहीं की जा सकती। राष्ट्रपति के विरुद्ध केवल व्यवहार न्यायालय (Civil Court) में कार्यवाही की जा सकती है, किन्तु वह भी दो मास पूर्व लिखित नोटिस देने के बाद। उसका किसी भी अन्य अधिकारी के सामने राजनैतिक उत्तरदायित्व नहीं है, उसके विरुद्ध तो केवल संविधान के अतिक्रमण के आरोप पर संसद ही महाभियोग की कार्यवाही कर सकती है।

२. राष्ट्रपति के कार्य और शक्तियाँ

भारत के राष्ट्रपति को विभिन्न प्रकार के महत्वपूर्ण कार्य करने पड़ते हैं इसी कारण उसे अनेक प्रकार की शक्तियाँ प्रदान की गई थीं। उसके विभिन्न कार्यों और शक्तियों को अध्ययन की सुविधा के लिए हम प्रथम दो समूहों में बांट सकते हैं—साधारण और आपातकालीन।

साधारण काल की शक्तियाँ

क्षमा आदि प्रदान करने की शक्तियाँ—राष्ट्रपति को राज्य के अध्यक्ष के रूप में ब्रिटेन के ताज की भाँति संघीय कानूनों के विरुद्ध किये गये अपराधों के लिए

दण्डित व्यक्ति को क्षमा कर देने अथवा उसके दण्ड को कम कर देने या बदल देने की शक्ति प्राप्त है। वह इन शक्तियों का प्रयोग तीन प्रकार के मामलो में कर सकता है, जो ये है : (१) उन सभी मामलों मे जहाँ दण्ड किसी सैनिक न्यायालय द्वारा दिया गया हो। (२) उन सभी मामलों मे जहाँ दण्ड ऐसे अपराधो के लिए दिया गया हो जो संघ की कार्यपालिका शक्ति के आधीन आते हों, और (३) उन सभी मामलो मे जहां मृत्यु-दण्ड मिला हो। प्रायः सभी देशों के सविधानो मे राज्य के प्रमुख को दण्डित अभियुक्त के दण्ड को क्षमा करने, परिहार अथवा कम करने की शक्ति दी गई है। इस शक्ति के द्वारा एक अर्थ मे राज्य का प्रमुख न्यायपालिका से ऊपर हो जाता है, किन्तु वह न्यायाधीशो की भाँति विधि के अनुसार कोई निर्णय नही देता। सर्वविदित कहावत 'न्याय में दया का पुट देना चाहिए (Justice should be tempered with mercy) के अनुसार वह दया की प्रार्थनाओं पर विचार करता है।

प्रशासनिक अथवा कार्यपालिका शक्तियाँ—सघ की सर्वोच्च कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति मे निहित है। वह उन शक्तियों का प्रयोग या तो स्वयं या अपने अधीन कर्मचारियो द्वारा कर सकता है। सघ के सभी अधिकारी उसके आधीन है। उसकी इन शक्तियो में बहुत-सी बाते आती है। प्रथम, सभी प्रकार के कार्य-पालिका सम्बन्धी कार्य राष्ट्रपति के नाम से किये जाते है और उसे सघीय शासन से सम्बन्धित सभी मामलों के विषय मे सूचना पाने का अधिकार है। प्रधान मन्त्री के लिए आवश्यक है कि वह राष्ट्रपति को मन्त्रि-परिषद् के सभी निर्णयों और प्रशासन सम्बन्धी इन सभी मामलो के विषय मे सूचना दे जिनके बारे में राष्ट्रपति ऐसी सूचना माँगे। राष्ट्रपति सघीय सरकार की कार्य-विधि के बारे मे नियम बनाता है और वही मन्त्रियो के बीच कार्य-विभाजन करता है। वह प्रधान मन्त्री से किसी मन्त्री द्वारा किये गये निर्णय को मन्त्रि-परिषद् के विचाराधीन रखवा सकता है।

दूसरे, **राष्ट्रपति को उच्च अधिकारियों की नियुक्ति व पदच्युति के महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त है**। राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री और उसके परामर्श से अन्य मन्त्रियो की नियुक्ति करता है। उनके अतिरिक्त वह महाधिवक्ता, नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक, सर्वोच्च व उच्च न्यायालयो के न्यायाधीशो, गवर्नरो, अनुसूचित वर्गों के लिए विशेष अधिकारी आदि की नियुक्तियाँ करता है। उच्च अधिकारियों के अति-रिक्त सघीय लोक सेवा-आयोग, वित्त आयोग, निर्वाचन आयोग, पिछड़े हुए वर्गों के लिए आयोग और भाषा-आयोग, आवश्यकता पड़ने पर अन्तर्राज्य परिषद् आदि की नियुक्ति भी राष्ट्रपति द्वारा ही की जाती है। इस प्रकार से नियुक्त अधिकारियो को राष्ट्रपति उनके पदों से हटा भी सकता है, परन्तु उच्च न्यायालयो व सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों तथा निर्वाचन-आयोग के सदस्यो व नियन्त्रक एव महालेखा परीक्षक को केवल एक विशेष विधि के अनुसार ही पदच्युत किया जा सकता है।

मन्त्रियों को भी यह प्रधान मन्त्री के परामर्श से ही पदच्युत करेगा, ऐसी आशा की जाती है। राष्ट्रपति व संघ सरकार के द्वारा नियुक्त अधिकारी अपने पदों पर राष्ट्रपति के प्रसाद काल तक ही आसीन रह सकते हैं।

तीसरे, भारत की प्रतिरक्षा सेनाओं की सर्वोच्च कमान राष्ट्रपति में निहित है, परन्तु इस शक्ति का प्रयोग कानून द्वारा विनियमित रहेगा और प्रतिरक्षा सेनाओं, युद्ध और शान्ति-सन्धि आदि के विषय में कानून बनाने की शक्तियां केवल संसद् को ही प्राप्त है। इससे स्पष्ट है कि भारत का राष्ट्रपति संसद् की स्वीकृति के बिना न तो युद्ध की घोषणा कर सकता है और न सेनाओं का ही प्रयोग कर सकता है। इस दृष्टि से उसकी सैन्य शक्तियां संयुक्तराज्य अमरीका के राष्ट्रपति से बहुत कम है, क्योंकि वह सेनाओं के सर्वोच्च सेनापति होने के नाते सेनाओं को युद्ध-स्थल पर भेजने तक की शक्ति रखता है।

चौथे, राज्य का अध्यक्ष होने के नाते राष्ट्रपति अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में देश का प्रतिनिधित्व करता है। वह विदेशों में स्थित भारतीय दूतालयों के लिये राजदूत व राजनयिक प्रतिनिधियों को नियुक्त करता है और विदेशों के राजदूतों व राजनयिक प्रतिनिधियों के प्रमाण-पत्रों को स्वीकार करता है। परन्तु जहाँ तक विदेशों से सन्धियां और समझौते करने का सम्बन्ध है बातचीत (negotiations) करने में यथार्थ में पहल मन्त्रियों और नाम के लिए राष्ट्रपति के हाथ में रहती है और इस सम्बन्ध में विधायी शक्ति संसद के हाथों में है अर्थात् संसद ही उसका सम्पुष्टिकरण (ratification) करती है और उनके अनुसार कार्यवाही होने के लिए आवश्यक कानून भी बनाती है।

पांचवे, राष्ट्रपति को विभिन्न प्रकार के नियम बनाने की भी शक्तियां प्राप्त है। वह संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक, सर्वोच्च न्यायालय के अधिकारियों व कर्मचारियों की नियुक्ति, नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक की प्रशासनिक शक्तियों, संघीय लोक सेवा-आयोग के सदस्यों की संख्या निर्धारण आदि के सम्बन्ध में नियम बनाता है और कुछ अन्य अधिकारियों के कुछ प्रशासनिक कार्यों अथवा निर्णयों के लिए राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक है, जैसे सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अपनी कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में बनाये गये नियमों तथा संघीय लोक सेवा-आयोग द्वारा किसी राज्य की आवश्यताओं की पूर्ति के सम्बन्ध में बनाये गये नियम इत्यादि। साथ ही राष्ट्रपति को राज्य सरकारों के सम्बन्ध में निदेशन, नियन्त्रण व समन्वय के अधिकार भी प्राप्त हैं।

अन्त में, राष्ट्रपति को विधायी क्षेत्र में भी कई प्रशासनिक शक्तियां प्राप्त हैं, जिनका संक्षिप्त वर्णन करना यहाँ आवश्यक है। वह संसद को आहूत (summon) करता है और उसी के द्वारा संसद का सत्रावसान (prorogation) भी होता है। वह किसी भी समय लोक सभा का विघटन (dissolution) कर सकता है। संसद के सत्रारम्भ पर राष्ट्रपति दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में

अभिभाषण (address) देता है। यह अभिभाषण ब्रिटेन में ताज के भाषण (speech from the throne) के समान है। इसमें सरकार की नीति का वर्णन होता है। अन्य अवसरों पर दोनों या किसी भी सदन को संदेश भेजने के अतिरिक्त वह उनकी बैठकों में भी भाषण दे सकता है। किसी विधेयक पर दोनों सदनों के बीच मतभेद उत्पन्न होने की अवस्था में वह उनकी संयुक्त बैठक भी बुला सकता है। राष्ट्रपति राज्य सभा के १२ सदस्यों तथा लोक सभा के कुछ सदस्यों को भी नामजद करता है।

विधायी शक्तियां (Legislative Powers)—संविधान में स्पष्ट लिखा है कि राष्ट्रपति संघीय विधायिका का एक आवश्यक अंग है यद्यपि वह संसद के किसी भी सदन का सदस्य नहीं होता। इस दृष्टि से उसकी स्थिति ब्रिटेन के ताज के सदृश ही है। जहां तक उसकी इस क्षेत्र में वास्तविक शक्ति का सम्बन्ध है, निम्नलिखित विषयों से सम्बन्धित विधेयक बिना उसकी सिफारिश के संसद में पेश नहीं किये जा सकते—(१) कोई भी विधेयक जिसका सम्बन्ध राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन करने से हो, (२) धन विधेयक, जिन विधेयकों में व्यय अन्तर्ग्रस्त हो और ऐसे कर सम्बन्धी विधेयक जिनका प्रभाव राज्य के हितों पर पड़ता हो। वही वार्षिक वित्त विवरण, पूरक विवरण, संघीय लोक सेवा-आयोग, नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक के विवरण, प्रतिवेदनों और अनुसूचित वर्गों के विशेष अधिकारी, पिछड़े हुए वर्गों के आयोग, वित्त-आयोग आदि के प्रतिवेदनों को भी संसद के सामने रखवाता है। दूसरे, **कोई भी विधेयक संसद द्वारा पास किये जाने पर अधिनियम तभी बनता है जबकि उस पर राष्ट्रपति की अनुमति** (assent) मिल जाती है। धन विधेयक को छोड़कर वह अन्य सभी विधेयकों को अपनी सिफारिश के साथ संसद को पुनर्विचार के लिए लौटा सकता है, परन्तु यदि विधेयक संसद द्वारा दूसरी बार संशोधन रहित अथवा सहित पास कर दिया जाता है तो राष्ट्रपति को उस पर अनिवार्य रूप से अनुमति देनी आवश्यक है। इस प्रकार उसकी प्रतिषेध शक्ति (veto) अन्तिम नहीं है। वह तो केवल किसी विधेयक के पास होने में देरी का कारण बन सकता है। इसके विपरीत स० रा० अमरीका में राष्ट्रपति की प्रतिषेध शक्ति वास्तविक तथा प्रभावशाली है, क्योंकि वहां पर राष्ट्रपति द्वारा अस्वीकृत विधेयक को दूसरी बार पास होने के लिए कांग्रेस के प्रत्येक सदन में $\frac{2}{3}$ का बहुमत प्राप्त करना आवश्यक है जो साधारणतया सम्भव नहीं है।

तीसरे, **राष्ट्रपति को संसद के विराम काल** (recess) **में अध्यादेश** (ordinance) **जारी करने की महत्वपूर्ण शक्ति प्राप्त है।** ऐसी आशा की जाती है कि वह अध्यादेश केवल मन्त्रि-परिषद् के परामर्श से ही उन परिस्थितियों का मुकाबला करने के लिए जारी करेगा, जिनमें कि तुरन्त कार्यवाही आवश्यक समझी जाए। संसद का सत्र आरम्भ होने पर प्रत्येक अध्यादेश संसद के सामने रखा जाता है। ऐसा न होने पर यह सत्रारम्भ की तिथि से ६ सप्ताह बाद प्रभावी न रहेगा,

किन्तु यदि संसद के दोनों सदन उसे अस्वीकार करने सम्बन्धी प्रस्ताव इस अवधि के पूर्व ही पास कर दें तो अध्यादेश तभी से प्रभावी न रहेगा। अध्यादेश केवल उन्हीं विषयों के सम्बन्ध में जारी किये जा सकते है जिन पर संसद कानून बना सकती है। इसके अतिरिक्त अण्डमान और निकोबार द्वीप समूहों के प्रशासन के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को विनियम (regulations) जारी करने की शक्ति भी प्राप्त है, ये विनियम संसद द्वारा पास किये गये कानूनों के ही समान लागू होंगे।

चौथे, राष्ट्रपति को राज्यों से सम्बन्धित विधि-निर्माण कार्य में भी कुछ महत्त्वपूर्ण शक्तियां व कार्य प्राप्त हैं। राज्यों के विधान-मण्डलों मे कुछ प्रकार के विधेयक उसकी पूर्व स्वीकृति के पश्चात् ही पेश किये जा सकते है यथा कोई भी ऐसे विधेयक जिनका उद्देश्य व्यापार, वाणिज्य अथवा अन्तर्राज्य सम्बन्धो पर प्रतिबन्ध लगाना हो। साथ ही राज्यो के विधान-मण्डलों द्वारा पास किये गये कुछ प्रकार के विधेयकों को गवर्नरों द्वारा राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त करने के लिए रोक रखना अनिवार्य है, जैसे वे विधेयक जो समवर्ती सूचि मे वर्णित विषयो से सम्बन्धित हो और संघीय कानून के विरुद्ध हो, राज्य द्वारा सम्पत्ति को बाध्य रूप से अर्जित करने सम्बन्धी विधेयक तथा कुछ विशेष प्रकार के कर लगाने वाले विधेयक।

वित्तीय शक्तियाँ (Financial Powers)—राष्ट्रपति को कुछ वित्त सम्बन्धी शक्तियाँ भी प्राप्त हैं। यह पहले ही बताया जा चुका है कि कोई भी धन-विधेयक संसद के सामने केवल उसकी सिफारिश पर ही पेश किया जा सकता है। उसे आकस्मिक निधि (Contingency Fund) पर भी नियन्त्रण प्राप्त है, क्योंकि किसी भी ऐसे व्यय के लिए जिसके सम्बन्ध मे संसद की पूर्व स्वीकृति प्राप्त न हो वह इस निधि से धन-राशि निकालने का अधिकार दे सकता है जिस पर कि बाद में संसद की स्वीकृति प्राप्त की जानी आवश्यक है। इसके अतिरिक्त वित्त-आयोग की सिफारिशों के आधार पर आय-कर से होने वाली आय मे विभिन्न राज्यों के भाग को वही निर्धारित करता है और ऐसे ही पटसन के निर्यात-कर की आय में से कुछ राज्यो को बदले मे क्या धन-राशि मिलनी चाहिये यह भी वही निर्धारित करता है। समय-समय पर वित्त-आयोग की नियुक्ति करना भी राष्ट्रपति का ही कृत्य है। अन्त मे, राष्ट्रपति ही भूतपूर्व राजाओं को दी जाने वाली धन-राशि (Privy Purses) में विभिन्न राज्यो को कितना योगदान करना है यह भी निर्धारित करता है।

आपातकालीन (Emergency) शक्तियाँ

भारत के संविधान मे आकस्मिक परिस्थितियों अर्थात् आपातो का निवारण करने के लिए राष्ट्रपति को विस्तृत शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। संविधान में तीन प्रकार के आपातों का अनुमान किया गया है जो इन परिस्थितियों से उत्पन्न हो *सकते है—(१) युद्ध या बाहरी आक्रमण अथवा आन्तरिक अशान्ति या उसकी*

खतरा होने पर, (२) राज्यो मे संवैधानिक तन्त्र विफल होने पर और (३) आर्थिक या वित्तीय सकट आने पर। तीनो ही प्रकार के आपात उत्पन्न होने की अवस्था में आपात की उद्घोषणा राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। प्रथम प्रकार के आपात की उद्घोषणा राष्ट्रपति द्वारा तब की जाती है जबकि वह यह समझे कि युद्ध, बाहरी आक्रमण या आन्तरिक अशान्ति के कारण गम्भीर आपात् से भारत की सुरक्षा को खतरा है। ऐसी उद्घोषणा राष्ट्रपति द्वारा वास्तविक घटना होने के पूर्व भी जारी की जा सकती है। बाद में दूसरी उद्घोषणा द्वारा आपात की उद्घोषणा का अन्त किया जा सकता है। ऐसी उद्घोषणा को ससद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखा जाना चाहिये। यदि ससद द्वारा वह स्वीकृत न हुई तो उसका २ माह की अवधि पूरी होने पर अन्त हो जाएगा। किन्तु ऐसा भी सम्भव है कि जिस समय यह उद्घोषणा जारी की जाये, उसके पूर्व ही लोक सभा विघटित हो चुकी हो या दो माह की अवधि मे उसका विघटन हो जाये। ऐसी अवस्था मे उस राज्य पर राज्य सभा की स्वीकृति प्राप्त की जायेगी और नई लोक सभा के निर्मित होने पर उसकी प्रथम बैठक के ३० दिन के भीतर या तो उस उद्घोषणा पर लोक सभा की स्वीकृति मिल जानी चाहिए अन्यथा उस अवधि के बाद उद्घोषणा का अन्त हो जायेगा।

उपरोक्त उद्घोषणा के परिणाम ये होंगे—(१) ससद को सम्पूर्ण भारत अथवा उसके किसी भी क्षेत्र के लिये सभी विषयो अर्थात् राज्य-सूची में दिये गये विषयों पर भी कानून बनाने की शक्ति मिल जायेगी और यदि राज्य में कोई कानून इनके विरोधी हुये तो राज्य के कानून विरोध की सीमा तक अमान्य होंगे। (२) सघ की कार्यपालिका को यह शक्ति मिल जायेगी कि वह राज्यो की कार्यपालिका को यह निदेश दे सके कि वे अपनी कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग किस प्रकार करेंगे। (३) राष्ट्रपति आदेश द्वारा यह निदेश दे सकता है कि सघ और राज्यो के बीच आय वितरण सम्बन्धी सभी या कोई भी उपबन्ध चालू वित्तीय वर्ष मे उसके निदेशानुसार सशोधित रहेगे, परन्तु ऐसा आदेश यथाशीघ्र ससद के दोनों सदनो के सामने रखा जायेगा। (४) सविधान की धारा १६ मे वर्णित व्यक्तियो की स्वतन्त्रतायें राज्य को कोई नया कानून बनाने अथवा उनके विरोध मे कोई कार्यपालिका कार्यवाही करने से नही रोक सकेंगी अर्थात् विचार प्रकट करने, भाषण देने, शान्तिपूर्वक सभा करने, संघ बनाने, देश मे अबाध रूप से आने-जाने इत्यादि की स्वतन्त्रतायें एक प्रकार से प्रतिबन्धित अथवा स्थगित हो जायेंगी। (५) राष्ट्रपति आदेश द्वारा यह भी उद्घोषणा जारी कर सकता है कि आपात काल मे अथवा नियत अवधि मे नागरिकों का न्यायालयो द्वारा मूल अधिकारो की प्राप्ति व रक्षा सम्बन्धी अधिकार-विलम्बित (suspended) रहेगा।

अनुच्छेद ३५५ के अनुसार यदि किसी राज्य का गवर्नर राष्ट्रपति के पास इस आशय की रिपोर्ट भेजे या अन्य स्रोत से राष्ट्रपति का यह समाधान हो जाये कि

उस राज्य में ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई है कि उसका शासन सविधान की धाराओं के अनुसार चलना सम्भव नहीं है तो राष्ट्रपति उस राज्य के सम्बन्ध में आपात की घोषणा जारी करने पर (१) कार्यपालिका के कोई भी अधिकार स्वयं धारण कर सकता है; (२) राज्य के विधान-मण्डल की शक्तियाँ ससद को हस्तान्तरित कर सकता है, किन्तु संसद को यह शक्ति मिली है कि वह उन विधायी शक्तियों को चाहे तो राष्ट्रपति को सौंप दे या उसे यह भी अधिकार दे दे कि वह उन्हें किसी अन्य प्राधिकारी (authority) को जिसे वह उपयुक्त समझे दे दे; (३) राज्य के उच्च न्यायालय की शक्तियों को छोड़कर अन्य कार्यवाही भी कर सकता है। दूसरी उद्घोषणा द्वारा इस प्रकार की उद्घोषणा का अन्त अथवा उसमें कोई भी परिवर्तन किया जा सकता है। इस प्रकार की उद्घोषणा की अवधि २ माह है, किन्तु ससद के दोनों सदनो की स्वीकृति मिलने पर यह अवधि ६ माह हो सकती है और बार-बार स्वीकृति मिल जाने पर ऐसी उद्घोषणा की अवधि अधिक से अधिक ३ वर्ष हो सकती है।

वित्तीय आपात (Financial Emergency)—जब कभी राष्ट्रपति यह समझे कि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई है जिससे भारत के वित्तीय स्थायित्व और साख (Financial Stability and Credit) को खतरा है तो वह ऐसे आपात की उद्घोषणा कर सकता है। इसका परिणाम यह होगा कि संघीय कार्यपालिका राज्यों को जैसे उचित समझे वित्त सम्बन्धी निदेश दे सकती है। इनमें यह बातें सम्मिलित हो सकती हैं—(अ) सर्वोच्च व उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों सहित सभी सरकारी पदाधिकारियों व कर्मचारियों के वेतनों व भत्तों में कमी करने का निदेश, और (आ) यह निदेश कि राज्यों के विधान-मंडलों द्वारा पास किये गये सभी धन अथवा वित्तीय विधेयक राष्ट्रपति द्वारा विचार के हेतु उसके पास भेजे जायेंगे।

राष्ट्रपति की अस्थायी (Temporary) तथा संक्रमणकालीन (Transitional) शक्तियाँ—अनुच्छेद ३६१ के अनुसार सविधान के पास होने तथा उसके लागू होने के मध्यकाल में गवर्नर-जनरल प्रथम और चौथी अनुसूचियों में आदेश द्वारा कुछ आवश्यक सशोधन कर सकता था और अनुच्छेद ३६२ के अनुसार उसे उस समय चालू सन् १९३५ के सविधान में अपने आदेशों द्वारा नये संविधान के लागू करने में आने वाली कठिनाइयों को दूर करने की शक्ति मिली थी। इसी श्रेणी में राष्ट्रपति की उन शक्तियों को भी गिना जा सकता है जो कि उसे निश्चित काल के लिए मिली जैसे सघ में हिन्दी को राजभाषा बनाने तथा कुछ अल्पसख्यकों के साथ विशेष व्यवहार सम्बन्धी शक्तियाँ। जहाँ तक राजभाषा का सम्बन्ध है १५ वर्ष की अवधि के दौरान मे राष्ट्रपति अंग्रेजी के अतिरिक्त शासन के कुछ विषयों में जिनको वह उचित समझे, हिन्दी को राजभाषा का स्थान दे सकता है। उसे भाषा-आयोग नियुक्त करने तथा उसकी सिफारिशों के अनुसार राजभाषा के पद पर हिन्दी की प्रतिष्ठा करने आदि के क्रम को निश्चित करने के अधिकार प्राप्त

है। आंग्ल भारतीय समुदाय के २ प्रतिनिधि संविधान के आरम्भ से १० वर्ष के काल में लोक सभा के सदस्य रूप में नामजद करने का अधिकार भी राष्ट्रपति को मिला था; अब उसकी अवधि बढ़ा दी गई है।

३. राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति

जहाँ तक राष्ट्रपति की संविधान में वर्णित शक्तियों का सम्बन्ध है उनकी सूची बहुत बड़ी है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि वह उन सभी शक्तियों का प्रयोग कर सके तो वह विश्व में सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य का प्रमुख बन जाये परन्तु जहां तक वास्तविकता का सम्बन्ध है उसे अपने कार्यों को करने में मन्त्रि-परिषद् का परामर्श लेना चाहिए, क्योंकि **वह संसदात्मक पद्धति वाले राज्य का अध्यक्ष है।** किन्तु यह भी सच है कि वह संविधान द्वारा मन्त्रियों के परामर्श को मानने के लिए बाध्य नहीं, अतएव यदि वह चाहे तो नाममात्र के अध्यक्ष से अवश्य ही अधिक शक्तिशाली बन सकता है। यथार्थ में उसकी स्थिति बहुत सीमा तक ब्रिटेन के राजा तथा फ्रांस के राष्ट्रपति के सदृश है, क्योंकि यदि वह कभी मन्त्रियों के परामर्श के विरुद्ध कार्य करने का निर्णय करेगा तो उसके और मन्त्रियों के बीच इतना तीव्र विरोध बढ़ सकता है कि लोकसभा में बहुमत के समर्थन से उसके ऊपर महाभियोग की कार्यवाही सफलतापूर्वक की जा सके, परन्तु इसका अर्थ यह कभी भी नहीं हो सकता कि राष्ट्रपति केवल नाममात्र का ही अध्यक्ष है। **बेजहॉट** के शब्दों में ब्रिटेन के राजा के समान, उसे ये तीन अधिकार तो प्राप्त है ही—सूचना पाने का अधिकार, चेतावनी देने का अधिकार और प्रोत्साहन देने का अधिकार। इन अधिकारों के प्रयोग द्वारा बुद्धिमान राष्ट्रपति शासन पर अपना प्रभाव अवश्य ही डाल सकता है।

राष्ट्रपति की शक्तियों के बारे में विभिन्न विधानशास्त्रियों के दो मत है जिसकी विवेचना की जानी आवश्यक प्रतीत होती है। **एक ओर तो वे लेखक हैं जो यह मानते हैं कि राष्ट्रपति को यद्यपि स्पष्ट शब्दों में मन्त्रियों का परामर्श मानने के लिये संविधान बाधित नहीं करता फिर भी संविधान में प्रयुक्त वाक्यांशों से यह स्पष्ट है कि उसे ऐसा करना ही होगा।** यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि उसे अपनी शक्तियों का प्रयोग संविधान के अनुसार (In accordance with the Constitution) करना है। इन शब्दों के प्रयुक्त होने का अर्थ यही है कि वह संवैधानिक शासक रहेगा। श्री सन्थानम ने अनुच्छेद ७४ (१) के इस प्राविधान पर विशेष बल दिया है कि प्रधान मन्त्री की अध्यक्षता में एक मन्त्रि-परिषद् होगी, जो राष्ट्रपति को उसके कार्यों के करने में सहायता व परामर्श (aid and advice) देगी।[२] यह एक स्पष्ट आदेश है और ये शब्द अत्यन्त व्यापक अर्थ में समझे जाने

---

[२] According to article 74 (1) it is the function of the Council of Ministers to advise the President over the whole of the central field. Nothing is left to his discretion or excepted from that field by this article. By way of contrast see article 163 which is the corresponding provision for Governors

चाहियें। डा० अम्बेडकर के अनुसार "राष्ट्रपति का स्थान वही है जो अंग्रेजी संविधान में ताज का है। वह राज्य का अध्यक्ष है न कि कार्यपालिका का। वह राष्ट्र का प्रतिनिधि है शासक नहीं। प्रशासन में उसका स्थान एक चिन्ह रूप (ceremonial device) या मोहर के समान है जिसके द्वारा राष्ट्र के निर्णयों को जाना जाता है।"[3] संविधान सभा में प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने भी ऐसा ही मत व्यक्त किया था :

> राष्ट्रपति के लिये हमने न्यूनाधिक ब्रिटिश राजा जैसा स्थान अपनाया है, उसका स्थान संवैधानिक राष्ट्रपति का है। मंत्री विधान-मंडल (संसद) के प्रति उत्तरदायी हैं और राष्ट्रपति को परामर्श देते है, जो उस परामर्श के अनुसार कार्य करने को बाध्य है।[४]

उपरोक्त बातो से स्पष्ट है कि राष्ट्रपति को राज्य का संवैधानिक अध्यक्ष बनाया गया है। जवाहरलाल नेहरू ने संघ-संविधान के सिद्धान्तों की रिपोर्ट (Report on the Principles of the Union Constitution) पर अपने भाषण में यह स्पष्ट किया था कि भारत में ब्रिटिश नमूने की कार्यपालिका को अपनाया जा रहा था और राष्ट्रपति को 'वास्तविक' (real) शक्तियाँ प्रदान करने का इरादा नही था। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि प्रारूप संविधान (Draft Constitution) के मौलिक रूप में एक अन्य अनुच्छेद और राष्ट्रपति को अनुदेशों की एक अनुसूची थी, जिनमे यह व्यवस्था की गई थी कि वह मंत्रियों के परामर्श पर ही कार्य करेगा। उन पर वाद-विवाद के दौरान कई सदस्यों ने उन्हें निकाले जाने का विरोध किया था। परन्तु अन्त में संविधान सभा ने डा० अम्बेडकर के इस आश्वासन पर उन्हे निकाल देने पर अपनी सहमति दी कि मन्त्रि-परिषद् के परामर्श को न मानने को संविधान का अतिक्रमण समझा जायगा, जिसके लिये राष्ट्रपति के विरुद्ध महा-

---

and which expressly exceptd certain matters in which the Governor is by or under the Constitution, required to act in his discretion. There is no such exception in the case of the President.

Ibid., *p. 379.*

3 "The President occupies the same position as the King under the English Constitution. He is the head of the State but not of the Executive. He represents the nation but does not rule the nation He is the symbol of the nation. His place in the administration is that of a ceremonial device or a seal by which the nation's decisions are made known."

B R. Ambedkar in the Constituent Assembly.

4 His position is that of a constitutional President. Then we come to the Ministers. They are of course responsible to the legislature and tender advice to the President, who is bound to act according to that advice"

C. A. Debates, vol. X, p. 988. Also see the similar view of Sardar Patel, Ibid., p. 580,Sir Alladi Krishnaswamy Aiyar, *Ibid., vol VII, p. 986.*

भियोग की कार्यवाही की जा सकेगी। इन बातों से संविधान-निर्माताओं का इरादा स्पष्ट है।

परन्तु इस विषय में एक मत नही है कि अनुच्छेद ७४ के खण्ड (१) द्वारा राष्ट्रपति पर यह दायित्व लागू होता है कि उसे मन्त्रि-परिषद् द्वारा दिये गये परामर्श और सहायता को मानना चाहिये। कुछ विचारकों का मत है कि संसद प्रजातन्त्र की यह साधारण प्रथा है, जिसमें कि राज्य के अध्यक्ष को साधारणतया मन्त्रि-परिषद् की सहायता और परामर्श को अवश्य ही मानना चाहिये। एक लेखक के मतानुसार अनुच्छेद ७४ (१) की भाषा को अनावश्यक (redundant) नही समझना चाहिए। उसका कथन है: 'मन्त्रि-परिषद् द्वारा इस प्रकार सहायता व परामर्श दिये जाने के कर्तव्य में राष्ट्रपति द्वारा उस सहायता व परामर्श को लिये जाने के तदनुरूपी कर्तव्य की पूर्वधारणा निहित है।'[5]

जहाँ तक सहायता व परामर्श वाक्यांश की शक्ति का सम्बन्ध है, यह कहा जा सकता है कि यदि इन शब्दों का अलग से अर्थ लिया जाय तो वह अर्थ यह होगा कि मन्त्रियो का कार्य परामर्श देना है और परामर्श को मानना या न मानना राष्ट्रपति का कार्य है। दूसरे शब्दो मे, 'इन शब्दो का अलग से यह अर्थ होगा कि सभी मामलो में निर्णय राष्ट्रपति का होगा। परन्तु यदि अनुच्छेद ७४ (१) को संविधान के अन्य उपबन्धो के साथ पढ़ा जाय, तो उससे यह अर्थ निकलेगा कि राष्ट्रपति को मन्त्रियो का परामर्श मानना जरूरी है। अनुच्छेद ७५ (३) मे कहा है कि मन्त्रि-परिषद् सामूहिक रूप में लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी है। संविधान में कोई ऐसा उपबन्ध नही है जो कि राष्ट्रपति को सरकार के कार्यों के लिये उत्तरदायी बनाने वाला हो, यद्यपि अनुच्छेद ५३ के अन्तर्गत संघ की कार्यकारी शक्ति राष्ट्रपति मे निहित बताई गई है। यह कहना अर्थहीन होगा कि मन्त्रि-परिषद् को लोकसभा के प्रति उत्तरदायी बनाया जाय और उसे अन्तिम निर्णय करने की शक्ति न प्रदान की जाय। स्वस्थ राजनीतिक सिद्धान्त यही है कि 'उत्तरदायित्व और शक्ति साथ-साथ चलें।' इसके आगे अनुच्छेद ७८ मे व्यवस्था की गई है कि प्रधान मन्त्री मन्त्रि-परिषद् के सभी निर्णयों की राष्ट्रपति को सूचना दे। निर्णय शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है कि मन्त्रि-परिषद् का कार्य केवल परामर्श देना ही नही वरन् निर्णय लेना है।[6]

दूसरी ओर अनेक लेखक यह मानते है कि हमारा राष्ट्रपति ब्रिटेन के राजा और चौथे फ्रांसीसी गणतन्त्र के अन्तर्गत राष्ट्रपति से अवश्य ही कुछ बातों में अधिक शक्तिशाली है। इस मत मे सत्य का अधिक अंश है, जैसा कि अग्रलिखित बातो से

5 Basu, K. K, Art. '*The President of India*' in *Modrn Review* September, 19'1.

6 Rout, Bishnu Chavan; Art. '*The President and Article 74 of the Constitution*', *Parliamentary Studies*, Feb–March, 1967.

स्पष्ट होगा। ब्रिटेन मे यह अभिसमय पड़ गया है कि राजा अथवा रानी के प्रत्येक आदेश पर किसी मन्त्री के प्रति-हस्ताक्षर होने आवश्यक हैं। ऐसा ही बन्धन फ्रांस, आयरलैंड,[7] जापान[8] व बर्मा[9] के संविधानों में भी है। परन्तु भारत के संविधान मे ऐसा कोई उपबन्ध नही है। ऊपर वर्णित पहले मत के समर्थकों के अनुसार यह बात अभिसमय के विकास पर छोड़ दी गई है। जबकि भारत का संविधान पूर्णतया लिखित है और उसमें कम महत्वपूर्ण बातों को भी सम्मिलित किया गया है, यह बात समझ में नही आती कि संविधान निर्माताओं ने इतनी महत्वपूर्ण बात को अलिखित क्यों छोड दिया? तथ्य तो यह है कि संविधान निर्माता राष्ट्रपति को एक रबड़ की मोहर मात्र नहीं बनाना चाहते थे।[10] यह स्पष्ट है कि भारत के राष्ट्रपति का स्थान पूरी तरह से ब्रिटेन के राजा के समान नहीं है। अतएव राष्ट्रपति किसी ऐसे कानूनी दायित्व (legal obligation) के अन्तर्गत नहीं है कि उसे प्रत्येक मामले में मन्त्रि-परिषद् की सहायता और परामर्श को मानना होगा। यदि किसी मामले मे राष्ट्रपति मन्त्रि-परिषद् के परामर्श के विरुद्ध कार्य करे तो भी उस कार्य की वैधता के विरुद्ध इस आधार पर न्यायालय में प्रश्न नही उठाया जा सकता। उसे कुछ ऐसी शक्तियाँ प्रदान की गई हैं जो कि संसदात्मक पद्धति वाले संविधान में राज्य के प्रमुख को प्राप्त नही होतीं। भारत के राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह संसद को अपना संदेश भेज सके। संदेश भेजने का व्यवहार में इसके अतिरिक्त क्या अर्थ हो सकता है कि वह किसी प्रश्न अथवा विधेयक विशेष पर मन्त्रि-परिषद् से भिन्न मत रखता है। ऐसे ही उसे यह शक्ति प्राप्त है कि वह संसद द्वारा पास किये गये विधेयकों को (धन विधेयकों को छोड़कर) अपने संदेश के साथ संसद को पुनर्विचार के लिए लौटा दे अथवा उस पर अनुमति न दे। इसका भी व्यवहार में यही अर्थ होगा कि वह मन्त्रि-परिषद् से भिन्न मत रखता है, क्योंकि संसद में कोई भी विधेयक बिना मन्त्रि-परिषद् के समर्थन के पास नहीं हो सकता।

---

7 "No power or function conferred on the President by law shall be exercisable or performable by him save only on the advice of the Government."

8 "The advice and approval of the Cabinet shall be required for all acts of the Emperor in matters of State, and the Cabinet shall be responsible therefore."

9 "The powers and functions conferred on the President by the Constitution shall be exercisable and performable by him on the advice of the Union Government."

10 "Hence it is impossible to believe that this omission in our Constitution was unconscious and not by design. The fact of the matter is that the Constitution makers did not want the President to be a rubberstamp, and an automation bound to put his seal on anything from the Ministry."

—Sinha, S. N., *Art in Thought*, *Feb. 25, 1961*

इन शक्तियों के प्रयोग द्वारा कोई भी प्रभावशाली व्यक्तित्व वाला राष्ट्रपति बड़ा शक्तिशाली बन सकता है, यद्यपि साधारण व्यक्ति ऐसा न करके प्रशासन में संसदात्मक पद्धति से सम्बन्धित अभिसमयो के विकास में अति सहायक होगा। इसी कारण कुछ लेखकों का कहना है कि यदि राष्ट्रपति की स्थिति फ्रांस के राष्ट्रपति के समान ही रखनी थी तो इस उद्देश्य से संविधान में स्पष्ट रूप से उपयुक्त प्राविधान देने मे कोई हानि न होती। इस प्रकार कानूनी मत (juristic view) के समर्थक कहते हैं कि अनुच्छेद ७४ मे यह नही लिखा है कि राष्ट्रपति को मन्त्रि-परिषद् का परामर्श मानना ही पड़ेगा।[11] भारत में जहाँ बहुसंख्या अशिक्षितो की है और जहाँ अभिसमयो के विकास मे थोडा समय लगेगा अच्छा यही होता कि बात यह अभिसमय के विकास के लिए न छोड़ी जाती, क्योकि यह सम्भव है कि राष्ट्रपति पद पर कभी कोई ऐसा सर्वमान्य राजनीतिक नेता आसीन हो जाय जिसे सर्वसाधारण का विश्वास प्राप्त हो और वह शक्ति के नशे मे आकर अपनी शक्तियो का प्रयोग कर बैठे, मन्त्रि-परिषद् को भी भंग कर दे और कुछ माह के लिए स्वेच्छाचारी शासक बन बैठे।

यदि राष्ट्रपति कभी मन्त्री-परिषद् के परामर्श को न माने तो मन्त्रि-परिषद् के लिये दो विकल्प हो सकते हैं। प्रथम, यदि राष्ट्रपति ने संविधान का कही अतिक्रमण किया है तो उसके विरुद्ध महाभियोग की कार्यवाही की जा सकती है, किन्तु इसके लिये ⅔ का बहुमत आवश्यक है जो सुगमता से मन्त्रि-परिषद् को प्राप्त न हो सकेगा, विशेष रूप से ऐसी परिस्थितियों मे जबकि विरोधी पक्ष सत्तारूढ दल का समर्थन न करे और सत्तारूढ़ दल का बहुमत बहुत अधिक न हो। दूसरे, मन्त्रि-परिषद् पद-त्याग करके गतिरोध उत्पन्न कर सकता है। ऐसी परिस्थिति मे राष्ट्रपति दूसरी मन्त्रि-परिषद् नियुक्त कर सकता है और ६ माह की अवधि तक वह उन मन्त्रियों द्वारा शासन कार्य चला सकता है यदि उन्हें बहुमत का समर्थन भी प्राप्त न हो। इस बीच मे यदि नये चुनाव हो तो यह आवश्यक नही कि पद-त्याग करने वाला दल ही अगली बार बहुमत प्राप्त करे। यह भी सम्भव है कि राष्ट्रपति ने मन्त्रि-परिषद् का परामर्श ऐसे विषय मे न माना हो जिस पर सत्तारूढ दल को बहुसंख्यक जनता का समर्थन न मिल सके।

डा० अम्बेडकर की राय में तो राष्ट्रपति के कोई विवेकीय कार्य (discretionary functions) नहीं हैं, उसके तो ब्रिटिश राजा की तरह कुछ परमाधिकार (prerogatives) है, यथा प्रधान मन्त्री की नियुक्ति और लोक सभा का विघटन। परन्तु अधिकतर लेखक इन्हें विवेकीय कार्य ही कहते हैं और मानते हैं कि ये

11 "The Constitution does not impose any legal obligation, that is to say, any obligation that can be enforced in the Courts—upon the President to act upon the advice of his ministers. The only question can be—whether and to what extent it requires him to do so as a matter of convention."

—Rau B N, *op cit.*, 375

संविधान के उचित संचालन पर बड़ा प्रभाव डाल सकते है। कुछ अन्य ऐसे असाधारण मामले हैं जिनके बारे में मन्त्रि-परिषद् का परामर्श या तो आवश्यक नही है, या निर्भर होने योग्य नही है, या पर्याप्त नहीं है या उपलब्ध नहीं है। ऐसे असाधारण मामलों में निम्नलिखित को सम्मिलित किया जा सकता है :

(१) ऐसे प्रधान मन्त्री की नियुक्ति या उसका पदस्थ किया जाना जो कि नेता न रहे।

(२) ऐसी मन्त्री-परिषद् का अपदस्थ किया जाना जिसने संसद (अर्थात् लोक सभा) का विश्वास खो दिया हो।

(३) ऐसी लोकसभा का विघटन करना, जिसके बारे में राष्ट्रपति को ऐसा प्रतीत हो कि उसने जनता का विश्वास खो दिया है।

(४) आपातकाल में सर्वोच्च सेनापति की शक्तियों का प्रयोग करना, जबकि मन्त्रि-परिषद् देश की प्रतिरक्षा करने में असफल रही हो।

(५) अनुच्छेद १४३ के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श करना, जबकि उसके तथा मन्त्रि-परिषद् के बीच किसी कानूनी या तथ्य के प्रश्न पर मतभेद हो।

उपरोक्त के अतिरिक्त ऐसा हो सकता है कि राष्ट्रपति मन्त्री-परिषद् के परामर्श की ऐसे मामलो मे भी परवाह न करे जैसे अल्पसंख्यकों के हितों का रक्षण, किसी राज्य मे जहां कि दूसरा दल पदारूढ़ हो संविधान को आपातकाल मे निलम्बित करने की शक्ति का प्रयोग, वित्त और निर्वाचन आयोगों की नियुक्ति, संघीय लोक सेवा आयोग के सदस्यो की नियुक्ति और सर्वोच्च तथा उच्च न्यायालयों की नियुक्ति। ये ऐसे मामले हैं जिनमे राष्ट्रपति को दलगत पक्षपात से बचना उचित है। इसके अतिरिक्त मन्त्री अपने पदो पर राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त रह सकते है। यदि राष्ट्रपति एक मन्त्रि-परिषद् को अपदस्थ करके एक दूसरी उपयुक्त मन्त्रि-परिषद् को नियुक्त कर सके, तो वह ऐसा कर सकता है यदि उसे यह विश्वास हो जाय कि नयी मन्त्रि-परिषद् लोक सभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त कर सकेगी।

ऐसे अवसरों पर जबकि राष्ट्रपति बहुत सोच-समझकर इन कार्यों को मन्त्रि-परिषद् के परामर्श के विरुद्ध करेगा हमे उसके व्यक्तित्व और उच्च सम्मान का भी ध्यान रखना चाहिये। संविधान के यथार्थ संचालन मे व्यक्तिगत बातों (personal factors) का बड़ा प्रभाव रहता है। सन् १९६० के नवम्बर मास मे भूतपूर्व राष्ट्रपति स्व० डा० राजेन्द्र प्रसाद ने इण्डियन लॉ इन्स्टीट्यूट की आधार-शिला रखते हुए इन्स्टीट्यूट से चाहा कि वह राष्ट्रपति की शक्तियों और कार्यों का अध्ययन करे और जांच करे कि वे किन बातों मे ब्रिटिश प्रभु की शक्तियों व कार्यों से भिन्न हैं।[१२] राष्ट्रपति के पूर्वोक्त भाषण के कुछ ही दिन बाद भूतपूर्व प्रधान

12 *Hindustan Times, Nov 29, 1960.*

मन्त्री, जवाहरलाल नेहरू, ने एक पत्रकार सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए कहा था कि भारत का राष्ट्रपति ब्रिटिश संविधान में राजा के समान है—राजनैतिक व संवैधानिक दोनों ही दृष्टियों से, किन्तु बिना दरबारी वातावरण के। राष्ट्रपति की शक्तियों के सम्बन्ध में डा० अम्बेडकर व जवाहरलाल नेहरू के अधिकारपूर्ण मत संविधान की भावना का स्पष्ट संकेत करते हैं। आरम्भ में डा० राजेन्द्र प्रसाद का भी ऐसा ही मत था, किन्तु ११ वर्ष के व्यावहारिक अनुभव के बाद राष्ट्रपति द्वारा ऊपर की गई माँग ने भारतीय कार्यपालिका के आधारभूत स्वरूप के प्रश्न को फिर से विचार और जाँच करने का महत्वपूर्ण विषय बना दिया।

जहाँ तक राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियों का सम्बन्ध है वे बहुत ही विस्तृत है और समान देशों में इतनी शक्तियों का प्रयोग कार्यपालिकाओं को करने के अधिकार नहीं मिले हैं। ब्रिटेन में नागरिकों के अधिकारों को निलम्बित (suspend) अथवा समाप्त करने का अधिकार संसद को प्राप्त है। संयुक्तराज्य अमेरिका की काग्रेस केवल बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Writ of Habeas Corpus) का अधिकार ही निलम्बित कर सकती है। इस प्रकार उन दोनों देशों में मूल अधिकार को निलम्बित करने की शक्ति कार्यपालिकाओं को प्राप्त नहीं है जबकि भारत में ऐसा है। यह सच है कि जब राष्ट्रपति आदेश जारी करेगा कि मूल अधिकारों के संरक्षण के लिए न्यायालय में प्रार्थना नहीं की जा सकती तो ऐसा आदेश संसद की स्वीकृति के लिए पेश किया जायेगा, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि भारतीय कार्यपालिका ऊपर वर्णित देशों से अधिक अधिकार प्राप्त है। श्री अमरनन्दी ने कहा है :

कभी ऐसी परिस्थिति भी आ सकती है जब राष्ट्रपति इन अधिकारों का प्रयोग मन्त्रि-परिषद् से बिना पूछे अपने निर्णय के अनुसार भी कर सकता है, और जब हम ध्यान में लाते है कि युद्ध अथवा आक्रमण की वास्तविक घटना के समय (अर्थात् केवल उसके खतरे पर) राष्ट्रपति आपात की घोषणा कर सकता है तो ऐसा लगता है कि वास्तविक गणतन्त्र में राष्ट्रपति को इतने निरंकुश अधिकार नहीं मिलने चाहियें। ...इस बात की कल्पना सहज ही की जा सकती है कि साधारण समय में नागरिकों को जो स्वतन्त्रता प्राप्त रहती है यदि वह संकटकाल में भी रहे तो कुछ समाजद्रोही व्यक्ति उसका लाभ उठाकर राज्य तथा नागरिकों की स्वतन्त्रता दोनों का नाश कर देंगे।[13]

फिर भी यह बात स्पष्ट है कि आकस्मिक संकट का निवारण करने के लिये केन्द्रीय कार्यपालिका को जो अधिकार दिये गये है वे एक तलवार की तरह है, जिससे नागरिकों की स्वतन्त्रता की रक्षा भी हो सकती है और नाश भी हो सकता

13 भारत का संविधान, पृष्ठ १२८-३०

है। इसलिये इस तलवार का उपयोग बहुत सावधानी के साथ करना चाहिए।[14] जहाँ तक राज्यों में सवैधानिक शासन की विफलता के कारण आपातकालीन घोषणा लागू करने का सम्बन्ध है, राष्ट्रपति अर्थात् संघीय कार्यपालिका को बहुत ही विस्तृत अधिकार प्राप्त हैं। किसी राज्य में ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई है, इस प्रकार की रिपोर्ट वहाँ के राज्यपाल से पाये बिना ही राष्ट्रपति दूसरे साधनों से प्राप्त सूचना के आधार पर, यदि उसका समाधान हो जाये कि वहाँ पर सवैधानिक शासन चलना कठिन हो गया है तो वह ऐसी उद्घोषणा करके वहाँ का शासन स्वयं धारण कर सकता है। अनुच्छेद ३६५ के अन्तर्गत तो संघीय कार्यपालिका को राष्ट्रपति उसे भी सवैधानिक शासन की असफलता मानकर वहा आपातकालीन घोषणा लागू कर सकता है। प्रथम और दूसरे प्रकार की आपातकालीन उद्घोषणायें लागू होने के उपरान्त राज्यों के शासन पर जो प्रभाव पड़ते हैं उनमें एक महत्वपूर्ण अन्तर है। अनुच्छेद ३५६ के अनुसार जबकि प्रथम सरकार की उद्घोषणा के फलस्वरूप सघीय अधिकारियों को राज्य के शासन पर अधिक विस्तृत नियन्त्रण के अधिकार मिलते हैं, दूसरी उद्घोषणा के परिणामस्वरूप राज्य के शासन को भग करके सम्पूर्ण शक्तियाँ सघ सरकार अपने हाथ में ले सकती है। यह व्यवस्था संघीय प्रणाली से मेल नहीं खाती।

उपरोक्त के अतिरिक्त हमें निम्नलिखित बातों का भी ध्यान रखना चाहिए:

(१) राष्ट्रपति के निर्वाचन के ढग से देश की शासन-पद्धति में उसके महत्व का अनुमान लगाया जाना चाहिये। प्रधान मत्री जवाहरलाल नेहरू और डा० अम्बेडकर ने सविधान सभा में कहा था कि राष्ट्रपति के निर्वाचन का ढग प्रत्यक्ष जैसा ही है।

(२) अपना पद ग्रहण करते समय राष्ट्रपति इस बात की शपथ लेता है कि वह सविधान का परिरक्षण, रक्षण और प्रतिरक्षण (preservation, protection and defence) करेगा। अतः उसे सविधान को कायम रखने के लिये किसी भी ओर से सविधान के अतिक्रमण के विरुद्ध उचित और आवश्यक कार्य करने का अधिकार है।

(३) राष्ट्रपति सम्मान का स्रोत है। भारत-रत्न, पद्मविभूषण, पद्मश्री आदि उपाधियों को वह स्वय प्रदान कर सकता है, यद्यपि प्रथा के अनुसार वह यह कार्य प्रधान मत्री के परामर्श से ही करता है।

(४) राष्ट्रपति राष्ट्र का प्रतीक अथवा चिन्ह है; और यह समझा जाता है कि वह दलगत राजनीति से ऊपर रहेगा। अतएव वह सकटकाल

---

14 "The provision of Emergency Powers leaves in the hands of the President a loaded gun which can be used both to protect and to destroy the liberty of citizens."

में राष्ट्रीय एकता को बनाये रखने के लिये राजनीतिक दलों के बीच मध्यस्थ का कार्य कर सकता है।

राष्ट्रपति की शक्तियों के उपरोक्त विवेचन से हम इन निष्कर्षों पर पहुंचते है—प्रथम, भारत का राष्ट्रपति केवल नाम-मात्र का कार्यपालिका अध्यक्ष नहीं है, उसे कुछ शक्तियाँ ऐसी प्राप्त हैं जो संसदात्मक पद्धति वाले देशो में अध्यक्ष को नही मिली होती। कभी ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती है, जबकि राष्ट्रपति अपनी शक्तियों का प्रयोग मन्त्रियो के परामर्श के विरुद्ध भी कर सकता है। उदाहरण के लिये, राष्ट्रपति वर्तमान मन्त्रि-परिषद् अथवा प्रधान मन्त्री के इस परामर्श के विरुद्ध भी कि लोक सभा को विघटित कर दिया जाए, कार्य कर सकता है। वह कह सकता है कि विघटन से मंत्रि-परिषद् को लाभ पहुंच सकता है, परन्तु ऐसा करना राष्ट्र के श्रेष्ठ हितो के विरुद्ध है, अतएव वह दूसरी मन्त्रि-परिषद् बना सकता है। दूसरे, यद्यपि भारत के राष्ट्रपति को कुछ शक्तियाँ संयुक्तराज्य अमरीका के राष्ट्रपति जैसी प्राप्त है, फिर भी वह उससे बहुत ही कम शक्तिशाली रहेगा। अतः भारत का राष्ट्रपति ब्रिटेन के राजा से कुछ अधिक शक्तिशाली है, संयुक्तराज्य अमरीका के राष्ट्रपति की शक्तियो से उसकी शक्तियाँ बहुत ही कम हैं। वास्तव में, उसका क्या स्थान रहेगा, यह बहुत सीमा तक आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो द्वारा भविष्य में निर्धारित होगा।

साराश यह है कि राष्ट्रपति केवल नाम मात्र का अध्यक्ष (figure-head) नही है। वह सविधान की अन्तिम सत्ता का मूर्तरूप है, जिसका प्रयोग तभी किया जा सकता है जबकि सवैधानिक शासन को खतरा उत्पन्न हो। भारत का राष्ट्रपति (मन्त्रि-परिषद् का) परामर्शदाता है, उसकी कार्यवाहियों पर रोक लगाने वाला ब्रेक है और पच है, किसी पक्ष का समर्थक नही। वह राज्य का अध्यक्ष है, किन्तु शासन का नही। वह राष्ट्र का चिन्ह और राज्य की एकता का मूर्तरूप है। वह राष्ट्रीय एकता का महान केन्द्र है, हमारी राजनीति और सामाजिक गतिविधियो का आलम्ब है, सैद्धान्तिक दृष्टि से उसमें अनेक शक्तियाँ निहित हैं परन्तु यथार्थ में वह उनमे से कुछ का ही प्रयोग करता है और वह भी बहुत ही कम तथा अनिवार्यतः सविधान के अनुसार। वह प्रजातन्त्रात्मक प्रक्रियाओ और रूपो का सर्वोच्च संरक्षण है और उसे सविधान के सरक्षण हेतु शक्तियाँ प्रदान की गई है।[15]

15 "To sum up, the President of India is to be an adviser, a brake, and arbiter and not a protagonist. He is the head of the State but not of the Government. He is the symbol of the Nation and the embodiment of the unity of the State. He is the supreme guardian of the democratic processes and forms and has been vested with powers of safeguarding the Constitution......"

Srivastava, V. N., Art: *'Indian Presidency'*, I. J. P. A., April–June, 1966, p. 35.

अन्त मे, चौथे आम चुनावो के बाद जब डा० जाकिर हुसैन राष्ट्रपति चु
गये तो कुछ कांग्रेस विरोधी तत्वो की ओर से यह विचार सामने आया कि देश क
स्वतन्त्र राष्ट्रपति (*Independent President*) की आवश्यकता है। दूसरे शब्द
में, राष्ट्रपति ऐसा व्यक्ति होना चाहिये जो आवश्यकतानुसार अपनी शक्तियों क
प्रयोग कर सके। व्यवहार मे इस विचार को क्रियात्मक रूप देने का परिणा
राष्ट्रपति को वास्तव में शक्तिशाली बनाना होगा, जो मन्त्री-परिषद् के परामर्श क
मानने के लिये बाध्य न हो। इस विचार के रखने वाले, हमारी सम्मति मे, भारत
में सांसद पद्धति के ऊपर राष्ट्रपति शासन-पद्धति को आरोपित करने की बात सोचते
है, जो व्यावहारिक नही हो सकती।

४. उप-राष्ट्रपति

निर्वाचन—भारत के सविधान में उप-राष्ट्रपति की व्यवस्था भी है। उप-
राष्ट्रपति का निर्वाचन ससद के दोनों सदनो की सयुक्त बैठक में होता है। यह
निर्वाचन भी आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत से तथा
गुप्त मतदान द्वारा होता है। इस पद पर चुने जाने वाले अभ्यर्थी मे ये अर्हतायें
होनी आवश्यक हैं— (१) वह भारत का नागरिक हो, (२) उसकी आयु कम से
कम ३५ वर्ष हो, और (३) उसमें वे सब योग्यतायें पाई जायें जो कि राज्य सभा
के सदस्यो के लिये विहित की गई हो। राष्ट्रपति पद के सम्बन्ध में दी गई अन्य
योग्यतायें व अयोग्यतायें इस पद के अधिकारी पर भी लागू होती हैं।

अवधि (term)—उप-राष्ट्रपति अपने पद पर ५ वर्ष तक रहता है, किन्तु वह
त्याग-पत्र द्वारा अपना पद अवधि से पूर्व हीं छोड़ सकता है, अथवा उसे राज्य सभा
के कुल सदस्यों के बहुमत द्वारा पास किये गये प्रस्ताव से, जिसे लोक सभा भी
स्वीकार कर ले, पदच्युत किया जा सकता है। ऐसे प्रस्ताव का नोटिस कम से कम
१४ दिन पूर्व दिया जाना आवश्यक है। सविधान मे यह बात स्पष्ट नही है कि
लोक सभा मे इस प्रस्ताव के पक्ष मे केवल उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यो
का अथवा कुल सदस्यो का बहुमत होना चाहिए। सम्भवतः व्यवहार मे पहली ही
अतः पर्याप्त समझी जाएगी। उप-राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग की व्यवस्था नही
है और इसकी आवश्यकता भी नही है। किन्तु उप-राष्ट्रपति अपने पद पर तभी तक
आसीन रहेगा जब तक की उसका उत्तराधिकारी उस पद को न सभाल ले। सविधान
में यह व्यवस्था है कि साधारणतः नये उप-राष्ट्रपति का निर्वाचन ५ वर्ष की अवधि
समाप्त होने के पूर्व ही पूर्ण होगा तथा त्याग-पत्र, मृत्यु अथवा पदच्युति आदि के
कारण पद के रिक्त होने की अवस्था में नये उप-राष्ट्रपति का निर्वाचन यथासम्भव
शीघ्र ही किया जायेगा। भारत मे राष्ट्रपति पद को भरने को व्यवस्था सयुक्तराज्य
अमरीका की व्यवस्था से *सर्वथा भिन्न है। वहाँ पर राष्ट्रपति को एक निश्चित*
अवधि (fixed term) के लिये चुना जाता है और यदि इस बीच में उसका पद
रिक्त हो जाता है तो उप-राष्ट्रपति उसके स्थान पर शेष अवधि के लिये राष्ट्रपति

बन जाता है, किन्तु भारत में उपराष्ट्रपति केवल अस्थायी रूप से ही राष्ट्रपति बन सकता है। स्थायी राष्ट्रपति का चुनाव यथासम्भव शीघ्र ही होना आवश्यक है। उपराष्ट्रपति को भी अपना पद धारण करने से पूर्व इस आशय की शपथ लेनी होगी है कि वह भारत के संविधान में सच्ची निष्ठा और श्रद्धा रखेगा और अपने कर्तव्यों को वफादारी के साथ पूरा करेगा। इस शपथ को या तो स्वयं राष्ट्रपति या उसके द्वारा नाम निर्देशित कोई अन्य व्यक्ति दिलाता है।

उसके कार्य—सं० रा० अमरीका के संविधान की भाँति हमारे संविधान में भी यह व्यवस्था है कि वह राज्यसभा का पदेन सभापति होता है। सभापति होने के नाते उसे सदन के सभापति की सभी साधारण शक्तियाँ प्राप्त हैं, जिनमें यह भी सम्मिलित है कि किसी विधेयक या प्रस्ताव के पक्ष और विपक्ष में समान मत आने पर वह अपना निर्णायक मत दे। किन्तु वह राज्य सभा का सदस्य नहीं होता है। किसी भी कारण से जब भी राष्ट्रपति का पद रिक्त हो, उपराष्ट्रपति उस पद पर तभी तक कार्य करेगा जब तक कि नया राष्ट्रपति उसे सभाले। साथ ही यदि कभी राष्ट्रपति रोग अथवा अनुपस्थिति के कारण अपने कर्तव्यों को पूरा करने में असमर्थ हो तो उपराष्ट्रपति ही उसके स्थान पर कार्य करेगा। जिस काल में उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति पद पर कार्य करेगा उसे वही उपलब्धियाँ व भत्ते आदि मिलेंगे जिनका कि राष्ट्रपति अधिकारी है। इस काल में वह राज्य सभा का सभापति नहीं रहेगा।

५. मन्त्रि-परिषद्

संविधान में मन्त्रि-परिषद् के सम्बन्ध में अग्रलिखित आशय के दो अनुच्छेद हैं। अनुच्छेद ७४ में बताया गया है कि राष्ट्रपति को उसके कार्यों को पूरा करने में **सहायता तथा परामर्श देने के लिये प्रधान मन्त्री की अध्यक्षता में एक मन्त्रि-परिषद् होगी।** इस प्रकार के परामर्श के विषय में किसी भी प्रकार की न्यायिक कार्यवाही न हो सकेगी। प्रधान मन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा और अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति प्रधान मन्त्री के परामर्श से होगी जो राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त पदासीन रहेंगे और मन्त्रि-परिषद् सामूहिक रूप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी रहेगी। अनुच्छेद ७५ के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा प्रत्येक मन्त्री को अपना पद धारण करने से पूर्व **पद और गोपनीयता** (*secrecy*) **की शपथ** दिलाई जायेगी। कोई भी ऐसा मन्त्री जो लगातार ६ माह तक संसद का सदस्य न हो इस अवधि के समाप्त होने पर मन्त्री न रह सकेगा। मन्त्रियों के वेतन और भत्तों को संसद निर्धारित करेगी और जब तक संसद ऐसा करे, दूसरी अनुसूची में दिये गये वेतन और भत्ते उन्हें मिलेंगे। यथार्थ में जैसे पहले भी बताया गया है वास्तविक कार्यपालिका तो मन्त्रि-परिषद् ही है। इसका स्वरूप ब्रिटेन के मन्त्रिमण्डल के नमूने पर ही है और इसमें संसदात्मक कार्यपालिका के सभी लक्षण विद्यमान हैं। मन्त्रि-परिषद् का अध्यक्ष प्रधान मन्त्री है, उसकी और अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा ही होती है। प्रधान मन्त्री के परामर्श से मन्त्रि-परिषद् सामूहिक रूप से लोक सभा के प्रति

उत्तरदायी है। इसका अर्थ यह निकला कि राष्ट्रपति मन्त्रियो को नियुक्त करने में स्वतन्त्र नही है। वह केवल ऐसे ही व्यक्ति को प्रधान मन्त्री बना सकता है जिसे लोक सभा के बहुसंख्यक सदस्यों का समर्थन प्राप्त हो। सामूहिक उत्तरदायित्व के कारण साधारणतया सभी मन्त्री एक ही साथ पद सभालते है अथवा पद-त्याग करते है। इनकी अवधि की कोई नियत सीमा नही है।

निर्माण—जहाँ तक प्रधान मन्त्री की छाँट का प्रश्न है, साधारणतया राष्ट्रपति को अपना विवेक प्रयोग करने का अवसर न मिलेगा, किन्तु कभी ऐसा सम्भव हो सकता है कि किसी दल का स्पष्ट बहुमत न होने तथा लोक सभा में कई दलो के होने पर राष्ट्रपति विवेक का प्रयोग करने में सफल हो जाए। कोई ऐसा व्यक्ति भी जो संसद का सदस्य न हो ६ माह के लिए मन्त्री नियुक्त हो सकता है, और अनुच्छेद ८५ (१) के अनुसार राष्ट्रपति को यह अधिकार प्राप्त है कि वह लोक सभा को गत सत्र की अन्तिम तिथि से ६ माह पूर्व आहूत न करे, अतएव ऐसा हो सकता है कि राष्ट्रपति ऐसे व्यक्ति को कुछ समय के लिये प्रधान मन्त्री बना दे जिसे लोक सभा के बहुमत का विश्वास प्राप्त न हो। फिर भी हमें मन्त्रि-परिषद् सम्बन्धी व्यवस्था को ब्रिटेन की प्रथाओ के प्रकाश मे ही समझना उचित है। ठीक स्थिति तो यही है कि बहुमत दल का, चाहे वह मिला-जुला (coalition) हो, नेता प्रधान मन्त्री बनेगा और वही अपने मन्त्रिमण्डल के सदस्यों की छाँट करेगा। परन्तु प्रधान मन्त्री को भी मन्त्रियो की छाँट में कई बातो पर ध्यान देना होता है: वह अपने दल के मुख्य और प्रभावशाली सदस्यों को नही भूल सकता, क्योंकि उनकी अप्रसन्नता से दल में असन्तोष और फूट पैदा होने का भय रहेगा, जहाँ तक हो सके मन्त्रि-मण्डल मे देश के विभिन्न भौगोलिक भागो का प्रतिनिधित्व होता है तथा मन्त्रि-मण्डल में देश के प्रमुख समुदायो (communities) का भी प्रतिनिधित्व होता है। मन्त्रि-मण्डल के निर्माण का आधार अत्यधिक विस्तृत होना चाहिए। इन सीमाओ के भीतर प्रधान मन्त्री अपने सहयोगियो की छाँट मे स्वतन्त्र है।

रचना (Composition)—इस सम्बन्ध मे पाठको को सर्वप्रथम मन्त्रि-मण्डल (Cabinet) और मन्त्रि-समुदाय (Ministry) में क्या अन्तर है, इसे समझना आवश्यक है। संघ के मन्त्रियों की कुल सख्या जून १९६२ मे ५१ थी, जो इन चार श्रेणियो मे विभक्त थी—(१) मन्त्रि-मण्डल (Cabinet) के सदस्य (प्रधान मन्त्री सहित) १८; (२) उपरोक्त पद (rank) के मन्त्री, परन्तु जिन्हे मन्त्रि-मण्डल की सदस्यता प्राप्त नही थी (Ministers of State) १२; (३) उप-मन्त्री (Deputy Minister) २१।

प्रथम श्रेणी के मन्त्रियों के समूह को ही मन्त्रिमण्डल (Cabinet) कहते हैं, जो शासन की नीति और कार्यक्रम को निर्धारित करने वाला मन्त्रणात्मक निकाय (deliberative body) है। दूसरी श्रेणी के मन्त्री अपनी उपलब्धियो और पद की दृष्टि मे प्रथम श्रेणी के मन्त्रियो के समान ही हैं, परन्तु मन्त्रिमण्डल की बैठको मे

[illegible] Cabinets of State [illegible] [illegible] [illegible] संसदीय सचिव (Parliamentary Secretaries) अर्थात् नीचे श्रेणी के मन्त्री भी हैं। वे मन्त्रियों के साथ लगे हुए होते हैं और उन्हें वे उनके कार्य में सहायता देते हैं अर्थात् वे अपने विभाग के सम्बन्ध में पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देते हैं तथा अपने विभाग की ओर से संसद के वाद-विवाद में भी भाग लेते हैं। वे भी इस प्रकार के [illegible] द्वारा उच्चतर श्रेणी के [illegible] मन्त्री बन सकते हैं। इससे मन्त्रिमण्डल और मन्त्रि-समुदाय का अन्तर प्रकट है अर्थात् रचना व संख्या की दृष्टि से मन्त्रि-समुदाय अथवा मन्त्रि-परिषद् अधिक बड़ा होता है, किन्तु कार्यों की दृष्टि से केवल मन्त्रि-मण्डल के ही सदस्यों को सामूहिक रूप से [illegible] अर्थात् नीति आदि निर्धारण के अधिकार प्राप्त हैं।

प्रधान मन्त्री का स्थान—वास्तव में मन्त्रिमण्डलात्मक शासन-पद्धति का आधार बहुमत प्राप्त दल होता है जो उसे सामान्य नीति और कार्यक्रम से एकरसता (homogeneity) प्रदान करता है, किन्तु एक सूत्र में बाँधने का कार्य प्रधान मन्त्री की महत्वपूर्ण स्थिति द्वारा ही पूर्ण होता है। हम प्रधान मन्त्री के पद के महत्व का वर्णन इन प्रचलित वाक्यांशों द्वारा कर सकते हैं: 'प्रधान मन्त्री अपने सहयोगियों में प्रथम' (primus inter pares) होता है। जॉन मोर्ले के शब्दों में उसे 'मन्त्रिमण्डल के महराब की आधार-शिला' (key-stone of the Cabinet arch) कह सकते हैं, क्योंकि मन्त्रिमण्डल और सम्पूर्ण मन्त्री-समुदाय में उसका स्थान सबसे अधिक महत्व-पूर्ण है। उसे एक लेखक के शब्दों में 'सितारों के बीच चाँद' भी कह सकते हैं। परन्तु जेनिंग्स ने उसे अपने ग्रंथ 'केबिनेट गवर्नमेंट' में इससे भी बढ़कर स्थान प्रदान किया है। वह केवल समान व्यक्तियों में प्रथम नहीं है जैसा कि हारकोर्ट ने कहा है, वह सितारों के बीच चाँद भी नहीं है; वह तो एक सूर्य है जिसके चारों ओर ग्रह घूमते हैं। कोई भी आम चुनाव साधारणतया प्रधान मन्त्री का चुनाव होता है। अनिश्चित मतदाता, जो चुनाव का निर्णय करते हैं न किसी दल और न किसी नीति का समर्थन करते हैं, वे तो एक नेता का समर्थन करते हैं। इस कथन में

सत्य का बड़ा अंश है और भारत में हुए गत चारों आम निर्वाचन इसकी सत्यता के प्रमाण है।

वही मन्त्रियों को छांटने तथा विभाग वितरण का कार्य करता है। उसके पदत्याग करने पर सम्पूर्ण मन्त्री-समुदाय का पदत्याग होता है। वह कभी भी किसी मंत्री से पदत्याग की मांग कर सकता है। वह मन्त्रिमंडल की बैठकों का सभापतित्व करता है। वह अपने अधीन विभागों के अध्यक्ष होने के साथ-साथ सभी विभागों के कार्यों की देख-रेख करता है और मन्त्रियों के बीच उत्पन्न होने वाले विरोध व मतभेदों को दूर करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार वह सभी विभागों के कार्यों में समन्वय (co-ordination) लाता है। अपने सहयोगियों के सम्बन्ध में प्रधान मन्त्री की यथार्थ में क्या स्थिति होगी ? यह बात नि सन्देह बहुत सीमा तक उसके व्यक्तित्व पर निर्भर करेगी, किन्तु इन कारणों से उसका स्थान अन्य मन्त्रियों में अवश्य ही बड़ा रहता है—(१) मन्त्रिमण्डल का सभापति होने, (२) लोक सभा का नेता होने, (३) बहुमत दल का नेता होने, (४) गवर्नर आदि उच्च अधिकारियों की नियुक्ति में परामर्श का अधिकार रखने (५) मन्त्रिमण्डल और राष्ट्रपति के बीच सचार का साधन होने, और (६) लोक सभा का विघटन कराने का परामर्श आदि देने। ब्रिटिश ताज इस सम्बन्ध में प्रधान मन्त्री के परामर्श को स्वीकार करता है। इसी कारण डायसी का यह कहना सत्य है कि विघटन कराने का अधिकार प्रधान मन्त्री की एक महत्वपूर्ण शक्ति है।[16] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारत में प्रधान मन्त्री का स्थान उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि ब्रिटेन में।

जहां तक विभागों के आन्तरिक प्रशासन का सम्बन्ध है, प्रत्येक मन्त्री को अपने विभाग से सम्बन्धित मामलों में निर्णय करने का अधिकार है। किन्तु यदि कोई मन्त्री ऐसा निर्णय करे जिसका प्रधान मंत्री समर्थन न करे और मंत्री भी अपने निर्णय पर अड़ा रहे तो उसे त्याग-पत्र देना पड़ सकता है। यदि कोई मन्त्री कभी अविवेकपूर्ण कार्य कर बैठे तो ऐसे अवसरों पर प्रधान मन्त्री क्षुब्ध सदन को शान्त कर सकता है। वास्तव में वह बहुमत दल व मन्त्री-समुदाय का प्रमुख प्रवक्ता होता है। उसके सभी वक्तव्य बड़े ही अधिकारपूर्ण होते हैं। उपरोक्त के अतिरिक्त प्रधान मन्त्री को कुछ विशेष अधिकार भी प्राप्त है। सभी विभागों के सचिव तथा अन्य स्वतन्त्र अभिकरणों (independent agencies) के अध्यक्षों की नियुक्ति या तो वह स्वयं करता है या उन्हें उसकी सहमति से नियुक्त किया जाता है। गवर्नर, उप-गवर्नरों, चीफ कमिश्नरों, राजदूतों अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के लिये प्रतिनिधियों आदि की नियुक्ति भी उसकी स्वीकृति से की जाती है। यदि संघ सरकार के किसी विभाग और राज्य सरकार के बीच में उठने वाले प्रश्नों पर कोई मतभेद हो तो सम्बन्धित मन्त्रि का कर्तव्य होगा कि वह उस विषय में प्रधान मन्त्री

16 "Dissolution has come to be a power in the hands of the Prime Minister—the a-peal from the legal to the political sovereign" —Dicey

को सूचित रखे। अन्त में, प्रधान मन्त्री को सरकारी कार्यों के अतिरिक्त सरकारी व सार्वजनिक समारोहों का उद्घाटन करना या उनमें भाग लेना होता है। उसे प्रति दिन मन्त्रियों, सरकारी अधिकारियों और अनेक गैर सरकारी व्यक्ति से भेंट करनी होती है। इन सब कारणों से उसके ऊपर कार्यों व दायित्वों का भार सबसे अधिक रहता है। मन्त्रियों को भी अपने विभागीय कार्यों के अतिरिक्त अनेक सरकारी व सार्वजनिक कार्यों में भाग लेना होता है। प्रधान मन्त्री तथा अन्य मन्त्री समय-समय पर देश के विभिन्न भागों तथा विदेशों का दौरा करते है।

पदारूढ प्रधान मंत्री की शक्तियाँ अंशतः उसके अपने व्यक्तित्व और प्रतिष्ठा तथा अंशतः दलीय समर्थन पर निर्भर करती है। परन्तु उसके अपने सहयोगियों से सम्बन्ध उन सारपूर्ण शक्तियों पर निर्भर करते है जो कि उसे संविधान से प्राप्त हैं। *प्रधान मंत्री सभी विभागों से सम्बन्धित महत्वपूर्ण मामलों में निर्णय देता है,* विभागों के बीच विवादों को तय करता है और सभी विभागों के कार्यों में समन्वय स्थापित करता है। 'प्रधान मंत्री' प्रधान मंत्री है और वह सरकार की नीति निर्धारित कर सकता है। अपने संविधान में तथा ब्रिटेन के संविधान में प्रधान मंत्री *सरकार के धुरे की कील (linchpin of government) है।*[17] *संसद पद्धति में* प्रधान मंत्री को सत्ता का स्रोत समझा जाता है। प्रायः वही केबिनेट के स्टीयरिंग व्हील का चालक (steersman) होता है। इस बात में कोई सन्देह नही है कि प्रधान मंत्री के अनेक कर्तव्य है और उसके कन्धों पर देश के शासन के भारी उत्तर-दायित्व भी है। *सफल प्रधान मंत्री में अनेक प्रकार के गुण होने चाहिये।* भारत के प्रथम प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरू में प्राय. सभी आवश्यक गुणों का अपूर्व मेल था। वास्तव में, प्रधान मंत्री का पद वही है जैसा कि उसपर आसीन व्यक्ति उसे बनाना चाहे और उसमे उसके लिये पर्याप्त योग्यता हो।

मन्त्रिमण्डल का कार्य संचालन—साधारणतया मन्त्रिमण्डल की सप्ताह में एक बैठक होती है, परन्तु आवश्यकतानुसार अधिक बैठके भी होती है। मन्त्रिमण्डल की बैठकों में अधिकतर निर्णय सर्वसम्मति अथवा बहुमत से किये जाते है। किसी भी मन्त्री को निर्णय होने के बाद उसके विरोध का अधिकार नही होता। यदि कोई मन्त्री निर्णय को स्वीकार नही करता तो उसे त्याग-पत्र देना होता है। मन्त्रि-मण्डल महत्वपूर्ण विषयों के सम्बन्ध में सदस्यों की समितियाँ भी बना देता है, जिनकी रिपोर्ट पर निर्णय किया जाता है। मन्त्रिमण्डल के सामूहिक रूप में मुख्य कार्य निम्नलिखित है—(१) महत्वपूर्ण प्रश्नों पर नीति का निर्धारण करना और उसे कार्यान्वित करने हेतु विधेयकों को स्वीकार करना; (२) विदेश नीति निर्धारित करना तथा संधियाँ करना। प्रत्येक मन्त्री वैयक्तिक दृष्टि से एक या अधिक विभागों का अध्यक्ष होता है। उसे सहायता देने के लिये अन्य मन्त्री होते हैं।

---

17 J L. Nehru's Speeches, *Vol (III). 1953-57, p 201.*

संक्षेप में, मन्त्रिमण्डल राष्ट्र की सर्वोच्च कार्यपालिका है, जो संसद द्वारा स्वीकृत नीति तथा विभिन्न कानूनों के अनुसार संघ के सम्पूर्ण प्रशासन पर नियन्त्रण रखती है। मन्त्रिमण्डल के महत्व का वर्णन ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के सम्बन्ध में प्रयुक्त किये जाने वाले कई वाक्यांशों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। बेजहॉट के अनुसार यह वह हाइफन या बकलस है जो कार्यपालिका और व्यवस्थापिका को जोड़ती है। लॉवेल के शब्दों में यह राजनीतिक महराब की आधारशिला है, मैरियट के शब्दों मे यह वह चूल (pivot) है जिसके चारों ओर सम्पूर्ण राजनीतिक तन्त्र घूमता है तथा रेम्जे म्यूर के मतानुसार यह राज्य रूपी जहाज का 'स्टीयरिंग व्हील' है। कुछ लेखकों के अनुसार मन्त्रिमण्डल संसद की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण समिति है। यह सच है कि इसके सदस्य संसद के सदस्य होते हैं, किन्तु इसे समिति नाम देना उचित नहीं; क्योंकि संसद के सामने वाले अधिकतर विधेयकों व प्रस्तावों के लाने में यही पहल करती है। अन्य सदस्यों के द्वारा प्रस्तुत विधेयकों व प्रस्तावों का पास होना या न होना बहुत सीमा तक इसी के रुख पर निर्भर करता है। इस प्रकार इसे विधि-निर्माण व वित्तीय मामलों में अत्यधिक पहल (initiative) का अधिकार प्राप्त है जो कि संसद की किसी समिति को प्राप्त नहीं होता।

मन्त्रिमण्डल की समितियाँ (Cabinet Committees)—जैसा कि अनेक पाठकों को ज्ञात है संघीय मन्त्रिमण्डल अपने कार्यों को अधिक अच्छे ढंग से संचालित करने के हेतु समितियों का प्रयोग करता है। इन समितियों के सदस्यों को केवल मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों में से ही छाँटा जाता है। इनका सम्बन्ध उच्च नीति सम्बन्धी प्रश्नों के निर्धारण से होता है। इस प्रकार की समितियाँ आर्थिक, संसदीय व कानूनी, पुनर्संस्थापन, भारी उद्योग, प्रतिरक्षा, विदेश सम्बन्ध व उच्च नियुक्तियों आदि मामलों के क्षेत्र में पहले से ही थी। इनके अतिरिक्त तीसरे आम चुनावों के उपरान्त इन तीन उच्च शक्ति प्राप्त समितियों का निर्माण प्रधान मन्त्री ने किया—(१) वैज्ञानिक मामलों से सम्बन्धित समिति—यह समिति भारत सरकार के वैज्ञानिक मामलों के, जिनमें विदेशों से टेक्निकल सहयोग भी सम्मिलित हैं, सम्बन्ध में नीति निर्धारित करती है, यह विदेशी वैज्ञानिक संस्थाओं का सहयोग भी प्राप्त करती है और देश में स्थित वैज्ञानिक संस्थाओं के कार्य में समन्वय लाती है। इस समिति के महत्व का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि जवाहरलाल नेहरू स्वयं इसके सदस्य रहे। (२) मानव शक्ति समिति (Man Power Committee)—यह समिति पंचवर्षीय योजना की पूर्ति के हेतु टेक्निकल तथा अन्य प्रचार के कुशल कार्य करने वालों के अभाव को दूर करने सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार व निर्णय करती है। (३) सूचना और ब्रॉडकास्टिंग विभाग के राष्ट्रीय महत्व को ध्यान में रखकर भी एक समिति बनाई गई है। परन्तु समितियों में सबसे अधिक महत्व आर्थिक मामलों से सम्बन्धित समिति का है, जिसमें राष्ट्रीय महत्व के सभी मामलों पर विचार किया जाता है। ये समितियाँ अपने क्षेत्र में आने वाले सभी

महत्वपूर्ण मामलों पर विचार करती है, किन्तु उन पर अन्तिम निर्णय मन्त्रिमण्डल के ही होते हैं।

मन्त्रिमण्डल का सचिवालय—मन्त्रिमण्डल का अपना पृथक् सचिवालय है। ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के सचिवालय की भाँति यह अग्रलिखित कार्य करता है—(१) प्रधान मन्त्री के निदेशानुसार मन्त्रिमण्डल की बैठकों के लिये कार्य-सूची (agenda) तैयार करना, (२) मन्त्रिमण्डल की कार्यवाहियों के लिये आवश्यक स्मृति-पत्रों व अन्य आलेखों को मन्त्रियों में घुमाना, (३) मन्त्रिमण्डल और उसकी समितियों की बैठकों के आहूत करने की सूचना देना, (४) मन्त्रिमण्डल और उसकी समितियों के निर्णयों का रेकार्ड रखना और उन्हें सम्बन्धित अधिकारियों में घुमाना तथा समितियों की रिपोर्ट तैयार करना, और (५) मन्त्रिमण्डल के आदेशों के अधीन मन्त्रिमण्डल के पत्रों और निर्णयों का रेकार्ड रखना। इस सचिवालय में एक सचिव और कई संयुक्त उप व सहायक सचिव, कुछ आर्थिक व आंकिक परामर्श-दाता तथा अनेक निम्न कर्मचारी कार्य करते हैं।

मन्त्रिमण्डल का सामूहिक उत्तरदायित्व (Collective Responsibility)—भारत के संविधान में स्पष्ट रूप से प्रधान मन्त्री के पद और मन्त्रिमण्डल के सामूहिक उत्तरदायित्व का उल्लेख है। सामूहिक अथवा संयुक्त उत्तरदायित्व का अर्थ सरल शब्दों में यही है कि मन्त्रिमण्डल के निर्णयों के लिये मन्त्रि-समुदाय के सभी सदस्य उत्तरदायी हैं। लोक सभा का विश्वास खो देने पर सम्पूर्ण मन्त्रि-समुदाय के सभी सदस्यों को त्याग-पत्र देना पड़ेगा। प्रधान मन्त्री के त्याग-पत्र का भी यही परिणाम होगा। मन्त्रिगण एक साथ तैरते अथवा डूबते हैं। इसका यह भी अभिप्राय है कि यदि मन्त्रिमण्डल की बैठक में निर्णय-विशेष का किसी मन्त्री ने विरोध किया हो तो भी संसद में तथा बाहर उसे उस निर्णय के पक्ष में बोलना व मत देना होगा, अन्यथा उसे त्याग-पत्र देना पड़ेगा। किन्तु यदि कभी कोई मन्त्री किसी प्रश्न पर अविवेक से मन्त्रिमण्डल के परामर्श बिना कोई ऐसा निर्णय कर बैठे जिसका संसद में घोर विरोध हो और मन्त्रिमण्डल उसके लिये केवल उसी मन्त्री को उत्तरदायी समझे तो केवल उसी अकेले मन्त्री को त्याग-पत्र देना पड़ेगा। मन्त्रिमण्डल द्वारा निर्धारित नीति से विरोध होने की दशा में विरोधी मन्त्री को त्याग-पत्र देना उचित है। राज्य पुनर्गठन के सम्बन्ध में बम्बई के प्रश्न पर श्री सी० डी० देशमुख ने अपना पद त्यागा। किन्तु मन्त्रिमण्डल में कोई विरोध न होते हुये भी अरियालुर की गम्भीर रेल दुर्घटना के परिणामस्वरूप स्व० लालबहादुर शास्त्री ने मन्त्री पद से त्याग-पत्र दिया था; क्योंकि उन्होंने यह अनुभव किया था कि दुर्घटना के लिये विभाग के अध्यक्ष के नाते वह स्वयं भी उत्तरदायी थे। उन्होंने अन्य मन्त्रियों के सामने एक उच्च उदाहरण रखा था और प्रधान मन्त्री ने इस सम्बन्ध में उनकी बहुत सराहना की थी। मन्त्रि-परिषद् का उत्तरदायित्व लोक-प्रिय सदन के प्रति है,

क्योंकि जनता उसे प्रत्यक्ष चुनाव द्वारा चुनती है।[18] संसद के प्रति उत्तरदायित्व को कई प्रकार से लागू किया जाता है, जिनमें ये मुख्य है—संसद के मन्त्रियो से प्रश्न पूछना, बजट पर वाद-विवाद, काम रोको प्रस्ताव, सरकार द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदनो पर वाद-विवाद तथा अविश्वास अथवा निन्दा का प्रस्ताव।

गोपनीयता का सिद्धान्त (Principle of Secrecy)—प्रत्येक मन्त्री को अपना पद ग्रहण करने के पूर्व गोपनीयता की शपथ लेनी होती है। मन्त्रिमण्डल की बैठकों की कार्यवाही पूर्णतया गोपनीय होती है और किसी भी मन्त्री को उसके सम्बन्ध मे कोई भेद नही खोलना चाहिए। इनके निर्णयों को उपयुक्त अवसर आने पर संसद व जनता के सामने रखा ही जाता है किन्तु इससे पूर्व कोई भी मन्त्री उनके विषय में किसी प्रकार की भी सूचना किसी अन्य व्यक्ति को देने पर दोषी होगा और उसे पद त्याग करना पड़ेगा। परन्तु यदि किसी प्रश्न पर मन्त्रिमण्डल के बहुमत निर्णय से किसी मन्त्री का विरोध इस सीमा तक है कि वह त्याग-पत्र दे दे तो उसे त्याग-पत्र स्वीकृत हो जाने पर अपने त्याग-पत्र देने के कारणों पर संसद में वक्तव्य देने का अधिकार होता है, जिसके द्वारा वह मन्त्रिमण्डल की गुप्त कार्यवाही को भी प्रकाश मे लाता है।

—:o:—

18 'In a Parliamentary system of Government, the executive is responsible to the legislature. As such, the Council of Ministers hold their offices not as a grace of the President (of literally during his pleasure) but because of the confidence of Parliament, which they enjoy...... There can be no conflict between the will of Parliament, the representative of the electorate and that of the President. If at all there arises such a conflict, the will of Parliament ought to prevail."

अध्याय ७

भारत की संसद

१. भारत की संसद

भारत के सविधान में लिखा है : संघ के लिए एक ससद होगी जो राष्ट्रपति और दो सदनों को मिलाकर बनेगी, जिनके नाम क्रमशः राज्य सभा और लोक सभा (Council of State and House of the People) होंगे। अब दोनो सदनों के नाम हिन्दी में ही राज्य सभा व लोक सभा स्वीकृत हो गये हैं। राष्ट्रपति ससद के किसी भी सदन का सदस्य नही होता, किन्तु वह उनका वैसे ही अनिवार्य अंग है जैसे कि ब्रिटेन में ताज (Crown) होता है।

राज्य सभा की रचना—सविधान के अनुसार इसमे अधिक से अधिक २५० सदस्य हो सकते है, जिनमें से १२ सदस्य, जिन्हें कि साहित्य, विज्ञान, कला, सामाजिक सेवा आदि में विशेष ज्ञान अथवा व्यावहारिक अनुभव प्राप्त हो, राष्ट्रपति द्वारा नामजद किये जाते हैं, शेष सदस्यों को चुना जाता है। प्रथम राज्य सभा में

राज्य	सदस्य संख्या	नाम राज्य या संघीय क्षेत्र	सदस्य संख्या
आंध्र प्रदेश	१८	पंजाब	७
असम	[illegible]	राजस्थान	१०
बिहार	२२	उत्तर प्रदेश	३४
गुजरात	११	प० बंगाल	१६
महाराष्ट्र	१६	जम्मू और काश्मीर	४
केरल	९	दिल्ली	४
मध्य प्रदेश	१६	हिमाचल प्रदेश	२
हरियाना	५	मनीपुर	१
मद्रास	१८	त्रिपुरा	१
मैसूर	१२	गोआ, दामन, द्यू	१
उड़ीसा	१०	पॉन्डीचेरी	१
		नागालैंड	१

कुल सदस्य—२२८

कुल सदस्यों की संख्या २०५ निर्वाचित + १२ नामजद थी। सन् १९५६ में राज्यों का पुनर्गठन होने के बाद संविधान के ७वें संशोधन अधिनियम के अनुसार राज्य सभा के कुल सदस्यों की संख्या २२० हो गई थी और वर्तमान राज्य सभा में १२ नामजद सदस्यों के अतिरिक्त अन्य सदस्यों की कुल संख्या २२८ है। विभिन्न राज्यों तथा संघीय क्षेत्रों के प्रतिनिधियों की संख्या पिछले पृष्ठ पर दी गई है :

निर्वाचित प्रतिनिधियों का चुनाव विभिन्न राज्यों की विधान सभायें अप्रत्यक्ष प्रणाली से करती है। संघीय क्षेत्रों के प्रतिनिधि क्षेत्रीय परिषदों द्वारा चुने जाते है। राज्य सभा के प्रतिनिधियों का चुनाव **आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति** (proportional representation) के **अनुसार एकल संक्रमणीय मत** (single transferable vote) **द्वारा होता है**। राज्य सभा के सदस्यों का कार्यकाल ६ वर्ष है और प्रति २ वर्ष बाद उसके ⅓ सदस्यों का निर्वाचन होता है। अतएव राज्य सभा एक स्थायी सदन है। इससे एक बात स्पष्ट है कि विभिन्न राज्यों को राज्य सभा में समान प्रतिनिधित्व प्राप्त नही है। यह संयुक्तराज्य अमेरिका और स्विटजरलैंड की व्यवस्था से भिन्न है। हमारे संविधान निर्माताओं ने प्रतिनिधित्व का आधार क्षेत्र, जनसंख्या और सामान्य महत्व को माना है। कुछ विचारकों के अनुसार यह संघात्मक सिद्धान्त से गिरना है। भारतीय संसद के उच्च सदन के अधिकांश सदस्यों का परोक्ष निर्वाचन होता है, जबकि संयुक्तराज्य अमेरिका और आस्ट्रेलिया की सीनेटों में उनका चुनाव प्रत्यक्ष ढंग से होता है, किन्तु भारत की राज्य सभा में नामजद सदस्य केवल १२ होते हैं जबकि कनाडा की सीनेट में सभी सदस्यों को गवर्नर-जनरल जीवन भर के लिए नामजद करता है और ब्रिटेन की लार्ड सभा के अधिकांश सदस्य तो वंशानुगत ही होते हैं।

लोक सभा की रचना—मौलिक संविधान में लोक सभा की रचना के सम्बन्ध में ये बातें दी हुई है—(१) कुल सदस्य संख्या ५०० से अधिक नही हो सकती, (२) विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधियों का अनुपात जनगणना के आधार पर एकरूप होना चाहिए, (३) संघीय (Union) क्षेत्रों से प्रतिनिधित्व के लिए संसद कानून बना सकती है और (४) यदि राष्ट्रपति यह समझे कि आंग्ल भारतीय समुदाय का लोक सभा में पर्याप्त प्रतिनिधित्व नही हुआ है तो वह उनके दो प्रतिनिधियों को नामजद कर सकता है। निर्वाचन के हेतु विभिन्न राज्यों को अपने भूमिगत निर्वाचन-क्षेत्रों में बांटा जाता है। इस सम्बन्ध में भारत का संविधान कहता है कि निर्वाचन-क्षेत्रों का परिसीमन (delimitation) इस प्रकार किया जाये कि प्रति ७½ लाख जनसंख्या के लिए कम से कम एक तथा प्रति ५ लाख जनसंख्या के लिए अधिक से अधिक एक सदस्य चुना जाये। इंग्लैंड में कॉमन-सभा के लिए ६० हजार और सोवियत संघ में संघ की सर्वोच्च सोवियत के लिए ३ लाख जनसंख्या के पीछे एक प्रतिनिधि चुना जाता है। ब्रिटेन और सोवियत संघ के निम्न सदनों के सदस्यों की कुल संख्या क्रमश: ६२५ और ६९२ है।

भारतीय संविधान में प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र से एक प्रतिनिधि वाली पद्धति (single member constituency system) को अपनाया गया है। ऐसी ही व्यवस्था ब्रिटेन में है, किन्तु फ्रांस में आनुपातिक प्रतिनिधित्व (proportional representation) प्रणाली प्रचलित है। हमारे संविधान निर्माताओं ने ब्रिटेन के नमूने को स्वीकार किया और देश-हित में भी यही है, क्योंकि इसके फलस्वरूप स्थायी मन्त्रिमण्डल के निर्माण की सम्भावना कई गुनी बढ़ जाती है। फ्रांस अपने मन्त्रिमण्डलों के अस्थायीपन के लिए काफी बदनाम रहा। इसके पक्ष में यह तर्क भी दिया जा सकता है कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली वहाँ सफल हो सकती है जहाँ कि मतदाता शिक्षित हों तथा निर्वाचन-क्षेत्र छोटे हों। भारत के संविधान में यह भी व्यवस्था है कि प्रत्येक जनगणना के उपरान्त परिसीमन आयोग (Delimitation Commission) संसद के आदेशानुसार विभिन्न निर्वाचन-क्षेत्रों के प्रतिनिधित्व में आवश्यक परिवर्तन करेगा, किन्तु ऐसे परिवर्तनों का प्रभाव वर्तमान लोक सभा पर नहीं पड़ेगा।

इस प्रकार की व्यवस्था ब्रिटेन के संविधान में नहीं है, परन्तु ऐसी ही व्यवस्था सं० रा० अमरीका में है। किन्तु वहाँ पर उसके साथ एक दोष सम्बद्ध है। सं० रा० अमरीका के प्रत्येक राज्य में निर्वाचन-क्षेत्रों का विभाजन उस समय का सत्तारूढ़ दल इस प्रकार से करता है कि आगामी चुनाव में उसके सदस्य अधिक चुने जा सकें और विरोधी दल को अपेक्षाकृत कम स्थान मिलें। इसी दोष को जैरीमैंडरिंग (Gerrymandering) कहते हैं। भारत में ऐसा दोष उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि निर्वाचन-क्षेत्रों का परिसीमन निर्वाचन आयोग की देख-रेख में और संसद की अन्तिम स्वीकृति के अधीन किया जाता है। संविधान के आरम्भ से लेकर १० वर्ष की अवधि के लिए अनुसूचित वर्गों और जन-जातियों के लिए विभिन्न राज्यों में उनकी जनसंख्या के अनुपात में स्थान आरक्षित रखे गये थे। ऐसे निर्वाचन-क्षेत्र दो प्रतिनिधियों को चुनते थे, अतएव ये निर्वाचन-क्षेत्र दो सदस्यों वाले थे। यह विशेष व्यवस्था पिछड़े हुये वर्गों के लिए (किन्तु साम्प्रदायिक आधार पर नहीं) और केवल १० वर्ष की अवधि के लिए की गई थी।

लोक सभा की रचना सम्बन्धी हुये संशोधन और वर्तमान लोक सभा की रचना—संविधान के दूसरे संशोधन अधिनियम, १९५२ के द्वारा अनुच्छेद ८१ के सेक्शन (१) (ब) में यह परिवर्तन हुआ है—'जनसंख्या के प्रति ७,५०,००० के लिए एक सदस्य से कम नहीं' शब्दों को हटा दिया गया है। संविधान के ८वें संशोधन अधिनियम, १९५९ से अनुच्छेद ३३४ को संशोधित किया गया और अनुसूचित वर्गों, जन-जातियों तथा आंग्ल-भारतीयों के लिए आरक्षित स्थानों की व्यवस्था आगामी १० वर्षों के लिए बढ़ा दी गई। इस संशोधन के बाद ही दो सदस्यों वाले निर्वाचन-क्षेत्रों का अन्त कर दिया गया और सभी निर्वाचन-क्षेत्रों को एक सदस्य वाला बनाया गया अर्थात् अब आरक्षित स्थानों के लिये एक सदस्य

वाले ही निर्वाचन-क्षेत्र है। १०वें सशोधन अधिनियम, १९६१ के अनुसार दादरा व नगर हवेली का प्रशासन राष्ट्रपति के अधीन किया गया तथा १२वे संशोधन अधिनियम से गोआ, डमन व ड्यू को भारतीय संघ मे एकीकृत कर ८वां संघीय क्षेत्र बनाया गया। राज्यों के पुनर्गठन के समय बने संविधान के ७वें सशोधन अधिनियम के अन्तर्गत लोक सभा की रचना इस प्रकार होगी—(१) विभिन्न राज्यों के भूमिगत निर्वाचन-क्षेत्रों द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों की संख्या ५०० से अधिक न होगी, (२) सघीय क्षेत्रों के प्रतिनिधियो की सख्या ३० से अधिक न होगी और उनके चुनाव की पद्धति ससद के कानून द्वारा विहित की जायेगी। वर्तमान लोक सभा (१९६७) में विभिन्न राज्यों और संघीय निर्वाचन-क्षेत्रों के प्रतिनिधियो की संख्या निम्न तालिका में दी गई है :

राज्य	सदस्य संख्या	राज्य या संघीय क्षेत्र	सदस्य संख्या
आन्ध्र प्रदेश	४१	केरल	१६
असम	१४	जम्मू-काश्मीर	६
बिहार	५३	दिल्ली	७
गुजरात	२४	हिमाचल प्रदेश	६
महाराष्ट्र	४५	मनीपुर	२
मध्य प्रदेश	३७	त्रिपुरा	२
मद्रास	३९	पांडीचेरी	१
मैसूर	२७	नागालैंड	१
उड़ीसा	२०	गोआ, डमन, ड्यू	२
पंजाब	१३	अण्डमान-निकोबार	१
राजस्थान	२३	चण्डीगढ़	१
हरियाना	९	लक्कादिव-मिनिकोय	१
उत्तर प्रदेश	८५	दादरा, नगर हवेली	१
प० बंगाल	४०	नेफा	१

वर्तमान (चौथे आम चुनाव के बाद बनी) लोक सभा में कुल सदस्यों की सख्या ५२३ है, जिसमें से विभिन्न राज्यों व सघीय क्षेत्रों द्वारा निर्वाचित सदस्यो की सख्या ५२० तथा राष्ट्रपति द्वारा नामजद सदस्यो की सख्या ३ है। नामजद सदस्यो मे आग्ल-भारतीय समुदाय तथा असम के जन-जाति क्षेत्रो के प्रतिनिधियो की संख्या क्रमशः दो और एक है।

लोक सभा के सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्ष रीति द्वारा और वयस्क मताधिकार के आधार पर होता है। भारत जैसे विशाल देश में यह सच्चे जनतत्र की स्थापना की ओर उठाया गया एक अत्यन्त ही साहसपूर्ण पग था जो सफल सिद्ध हुआ है। साथ ही पृथक् चुनावो के स्थान पर सयुक्त निर्वाचन-प्रणाली अपनाकर सविधान

निर्माताओं ने राष्ट्रीयता को सुदृढ़ करने के हेतु अत्यधिक महत्वपूर्ण निर्णय किया। भारत में मताधिकार के लिए वयस्क को २१ वर्ष का होना चाहिए जबकि सोवियत संघ में १८ वर्ष के नागरिकों को मताधिकार प्राप्त है। जिन व्यक्तियों पर किसी प्रकार की अयोग्यता लागू होती है, वे मतदाता नहीं रह सकते। साधारणतः उनके लिए वे ही अयोग्यतायें हैं जो कि आगे संसद के सदस्यों के सम्बन्ध में बताई गई हैं। सन् १९५१-५२ के आम चुनावों में लगभग १७·३ करोड़ मतदाता थे। मतदाताओं की संख्या १९५७ में १९·४ करोड़ हो गई थी और १९६२ के चुनाव के समय यह संख्या २१·६ करोड़ हो गई।

संसद के सदनों की अवधि—राज्यसभा एक स्थायी सदन है। इसके लगभग एक-तिहाई सदस्य प्रति दूसरे वर्ष अपने स्थान खाली करते हैं। प्रथम राज्य सभा के चुनावों के पश्चात् लाटरी द्वारा यह निश्चय किया गया कि कौन से एक-तिहाई सदस्य २ वर्ष, कौन से दूसरे तिहाई ४ वर्ष बाद अपने स्थान खाली करने को थे। अब सभी रिक्त स्थानों के लिए सदस्यों का चुनाव ६ वर्ष की अवधि के लिए होता है। अन्य कई देशों में भी उच्च सदन स्थायी होता है अथवा सदस्यों की अवधि निम्न सदन के सदस्यों से लम्बी होती है। साधारणतः लोक सभा की अवधि ब्रिटेन की कॉमन सभा की भाँति ५ वर्ष होगी और इसकी गणना लोक सभा की प्रथम बैठक की तिथि से की जायेगी। किन्तु आपातकालीन उद्घोषणा के दौरान लोक सभा की अवधि को संसद के प्रस्ताव द्वारा एक बार में एक वर्ष के लिये बढ़ाया जा सकता है और आवश्यकतानुसार इसकी पुनरावृत्ति की जा सकती है। परन्तु उद्घोषणा के समाप्त होने के उपरान्त यह अवधि ६ माह से अधिक नहीं बढ़ाई जा सकती। ब्रिटेन में कॉमन सभा की अवधि में कानून द्वारा कोई भी परिवर्तन करने का अधिकार है। वहाँ पर व्यवहार में सत्तारूढ़ मन्त्रिमण्डल ही निश्चय करता है कि कॉमन सभा का विघटन कब किया जाये, क्योंकि उसके उपरान्त शीघ्र ही नये चुनाव किये जाते हैं। ऐसा निश्चय मन्त्रिमण्डल अपने दलगत हित में चुनाव के लिए मुनासिब पाने अथवा विरोधी दल व जमानत के जोर दिये जाने पर ही करता है।

सदस्यों की अर्हतायें (Qualifications)—संसद के लिए उम्मीदवारों को (१) भारत का नागरिक होना आवश्यक है, (२) लोक सभा और राज्य सभा के लिए उम्मीदवारों की आयु क्रमशः २५ और ३० वर्ष होनी चाहिए, (३) उम्मीदवारों में वे सब योग्यतायें भी होनी चाहियें जो संसद उनके लिए कानून द्वारा विहित करे। कोई भी व्यक्ति संसद के दोनों सदनों अथवा संसद के किसी सदन व राज्य विधान-मण्डल का एक साथ सदस्य नहीं रह सकता। पूर्वोक्त अर्हताओं के होते हुये उम्मीदवारों में इनमें से कोई अनर्हता नहीं होनी चाहिए—(१) मन्त्री पद तथा संसद के किसी कानून द्वारा मुक्त (जिनमें अब अन्य श्रेणियों के मन्त्रियों के पद भी मुक्त हो गये हैं) पदों को छोड़कर भारत अथवा किसी राज्य सरकार के अधीन लाभ के पद पर होना, (२) किसी भी अधिकारपूर्ण न्यायालय

द्वारा पागल घोषित किया जाना, (३) दिवालिया (insolvent) होना, (४) संसद के द्वारा बनाये गये किसी कानून के अन्तर्गत अयोग्य ठहराया जाना, जैसे चुनाव के सम्बन्ध में भ्रष्टाचार व अवैध कार्यवाहियों के लिये दोषी होने पर होता है। वास्तव में, ससद द्वारा पास किये गये जन प्रतिनिधित्व अधिनियम के अन्तर्गत उम्मीदवारों के लिये कोई विशेष योग्यता विहित नहीं की गई है, केवल कुछ निर्योग्यताओं को उसमें बताया गया है। सदस्यों की योग्यता के विषय में हमारे प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने सविधान सभा में यह विचार प्रकट किया था :

मै तो विधान-मण्डलो के लिये कुछ अर्हतायें निर्धारित किया जाना चाहता हूँ। यह बात कुछ अनियमित है कि हम लोग ऊँची योग्यताओं पर बल दे जो कि कानून को लागू करते हैं और उन पर कोई भी योग्यता लागू न करें जो कानून बनाते है, सिवाय इसके कि वे चुने जायें। कानून बनाने वालों को बौद्धिक गुणो से युक्त होना ही चाहिये। साथ ही विचाराधीन विषयो पर सतुलित दृष्टिकोण, स्वतन्त्र रूप से कार्य करने की क्षमता और सदाचार होने चाहिये।

जन प्रतिनिधित्व अधिनियम १९५१ में दी गई कुछ अनर्हतायें निम्न प्रकार है

(१) भारतीय दण्ड विधान की धाराओ १७१ ई और एफ के अन्तर्गत किये गये अपराधो के लिये कारागार दण्ड प्राप्त व्यक्ति पर ६ वर्ष के लिये निर्योग्यता लागू होती है (२) चुनाव सम्बन्धी भ्रष्टाचार के अपराध में दण्डित व्यक्ति पर ६ वर्ष के लिये निर्योग्यता लागू होती है। ऐसे व्यक्तियो को चुनाव में एजेन्ट भी नही बनाया जा सकता। परन्तु ऐसी निर्योग्यताओ को लिखित कारण के आधार पर निर्वाचन आयोग हटा सकता है। भ्रष्ट प्रथाओ (corrupt practices) में ये अपराध सम्मिलित हैं (अ) किसी भी उम्मीदवार अथवा उसके समर्थक द्वारा किसी मतदाता अथवा दूसरे उम्मीदवार को घूस देना; (आ) स्वतन्त्र मतदान में हस्तक्षेप के लिये अनुचित प्रभाव (undue influence) डालना; (इ) मूलजाति, जाति, सम्प्रदाय, धर्म आदि के नाम पर मत माँगने के लिये अपील करना अथवा धार्मिक चिन्हों का प्रयोग करना; (ई) अन्य उम्मीदवारो के विषय में झूठी बातो को प्रकाशित करना, (उ) पोलिंग स्थान तक या वहाँ से मतदाताओं को वापस ले जाने के लिये सवारी का प्रबन्ध करना; (ऊ) चुनाव पर नियत राशि से अधिक व्यय करना; और (ए) सरकारी अधिकारियों या कर्मचारियो से सहायता पाना। जन प्रतिनिधित्व अधिनियम १९५१ द्वारा विभिन्न निर्वाचनो के सम्बन्ध में अधिकतम व्यय की धन-राशि इस प्रकार निर्धारित की गई : लोक सभा के लिये (अ) एक सदस्य वाले और दो सदस्य वाले निर्वाचन क्षेत्रों में क्रमश: २५ और ३५ हजार रुपये.

राज्य विधान सभाओं के लिये एक सदस्य और दो सदस्यों वाले निर्वाचन क्षेत्रों से ४ से ८ और ८ से १२ हजार रुपये तक जो राज्य के क्षेत्र के अनुसार बढ़ी हुई है ।

लोक सभा (तथा राज्य विधान-मण्डलों) के चुनावों में उठने वाले सभी विवादों का निर्णय उच्च न्यायालय द्वारा नियुक्त न्यायाधिकरण (tribunals) करते है । यदि किसी निर्वाचित व्यक्ति के निर्वाचन पर कोई भी प्रश्न उठाना हो तो केवल चुनाव पेटीशन द्वारा ही ऐसा हो सकता है । चुनाव पेटीशन निम्नलिखित आधारों पर दिये जा सकते है

(अ) कि चुनाव तिथि पर निर्वाचित उम्मीदवार चुनाव के लिये योग्य नही था अथवा उस पर कोई नियोग्यता लागू होती थी; (आ) कि स्वय जीते हुये व्यक्ति अथवा उसके एजेन्ट या समर्थक ने किसी प्रकार की भ्रष्ट प्रथा का पालन किया, (इ) कि किसी उम्मीदवार की नामजदगी का पत्र अनुचित ढग से अस्वीकार किया गया, इत्यादि । न्यायाधिकरण के निर्णय के विरुद्ध कुछ विशिष्ट दशाओं में उच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है । यदि किसी सदस्य को अयोग्य ठहरा दिया गया हो या उसने शपथ न ली हो तो उसे ससद की कार्यवाही में भाग लेने पर ५०० रुपये प्रतिदिन के हिसाब से जुर्माना देना होगा । कोई भी सदस्य अपना त्याग-पत्र सदन के अध्यक्ष को भेजकर अपना स्थान रिक्त कर सकता है । साथ ही यदि ससद का कोई सदस्य सदन की बैठक से बिना सदन की आज्ञा लिए लगातार ६० दिन तक अनुपस्थित रहता है तो सम्बन्धित सदन उसके स्थान को रिक्त घोषित कर सकता है ।

२. संसद का संगठन

सदनों के अधिकारी—राज्य सभा के कार्य-सचालन के लिए सभापति और एक उपसभापति होता है । भारत का उप-राष्ट्रपति इसका पदेन सभापति होता है । उप-सभापति का चुनाव जितना शीघ्र सम्भव हो सदन ही करता है । उप-सभापति का पद खाली हो जाता है (अ) यदि उसकी सदस्यता की अवधि समाप्त हो जाये, (आ) या वह स्वय त्याग-पत्र द्वारा पद-त्याग कर दे या (इ) सभा के तत्कालीन सदस्यो के बहुमत से पास किये गये प्रस्ताव द्वारा उसे पदच्युत किया जाय । परन्तु ऐसा प्रस्ताव पेश होने से पहले १४ दिन की पूर्व अधि-सूचना देनी आवश्यक है । जब कभी सभापति व उप-सभापति दोनो के ही पद खाली हो जायें तो उस समय राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त सभा का कोई भी सदस्य सभापति का पद ग्रहण करेगा । परन्तु यदि किसी बैठक में सभापति व उप-सभापति दोनो ही अनुपस्थित हों तो कोई ऐसा व्यक्ति जो ससद की प्रक्रिया द्वारा निश्चित किया गया हो, सभापति के रूप में कार्य करता है ।

लोक सभा—संगठित होने के बाद यथाशीघ्र अपने दो सदस्यों को अध्यक्ष (Speaker) और उपाध्यक्ष पदों के लिये चुनती है। उनके पद-त्याग व पदच्युति के सम्बन्ध में वही नियम हैं जो कि राज्य सभा के उप-सभापति के बारे में। परन्तु एक विशेषता यह है कि पुरानी लोक सभा के विघटन के बाद और नई लोक सभा की प्रथम बैठक के ठीक पहले तक वह अपने पद को खाली नहीं करेगा। साथ ही जब अध्यक्ष को उसके पद से हटाने के प्रस्ताव पर विचार किया जा रहा हो तो उसे उस कार्यवाही में भाग लेने, बोलने या मत देने का अधिकार नहीं है। जब कभी दोनों ही अध्यक्ष पद खाली हो जायें तो सदन का कोई भी ऐसा सदस्य अध्यक्ष पद पर कार्य करेगा जिसे राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाय। सभापति मण्डल अथवा नामिका (Panel of Chairmen) का सदस्य क्रमानुसार पद पर बैठेगा। लोक सभा द्वारा १९५६ में स्वीकृत प्रक्रिया नियम (९) के अनुसार यथास्थिति लोक सभा के प्रारम्भ पर या समय-समय पर अध्यक्ष सदस्यों में से अधिक से अधिक ५ सभापतियों के एक मण्डल को नामजद करेगा जिनमें से कोई एक अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष की अनुपस्थिति में, उनके कहने पर सभा में पदासीन होता है। ऐसा उचित ही है, क्योंकि अध्यक्ष या उपाध्यक्ष सदैव ही और सभी बैठकों में अधिकांश समय के लिये उपस्थित नहीं रह सकते।

अध्यक्ष के कार्य और उसकी शक्तियाँ—उसके कार्य व उसकी शक्तियाँ सामान्यत. वही है जो अन्य देशों में सभा के पदाधिकारी की होती हैं। ब्रिटेन की कॉमन सभा के अध्यक्ष की भाँति लोक सभा के अध्यक्ष को संविधान से एक विशेष शक्ति मिली है। आवश्यकता पड़ने पर वह यह निर्णय करता है कि विधेयक विशेष धन विधेयक है या नहीं। उसके प्रमुख कार्यों और शक्तियों का संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है :

(१) वह सदन के नेता के परामर्श से विभिन्न विषयों के सम्बन्ध में वाद-विवाद का समय निश्चित करता है और वह राष्ट्रपति के उद्घाटन के उत्तर में दिये जाने वाले सम्बोधन पर होने वाले भाषणों की भी काल सीमा निश्चित कर सकता है (२) वह सदन के नेता से परामर्श करके सदन का कार्यक्रम निश्चित करता है। (३) वही प्रश्नों को स्वीकार अथवा नियम विरुद्ध होने पर अस्वीकार करता है। (४) कोई भी सार्वजनिक महत्व के आवश्यक मामले पर विवाद करने के लिये पेश किया जाने वाला काम–रोको प्रस्ताव (adjournment motion) उसकी अनुमति मिलने पर पेश हो सकता है। (५) यदि उसकी आज्ञा से कोई विधेयक गजट में प्रकाशित हो जाता है तो उसे पेश करने के लिये किसी प्रस्ताव की आवश्यकता नहीं रहती। (६) प्रवर समितियों (select committees) के सभापतियों को वही नियुक्त करता है। (७) किसी विचाराधीन विधेयक पर वाद-विवाद स्थगित करने का प्रस्ताव उसकी

अनुमति से ही पेश हो सकता है; (८) किसी भी प्रस्ताव के ग्राह्य अथवा अग्राह्य होने का निश्चय वही करता है। (९) वह बजट सम्बन्धी भाषणों के लिये समय की सीमा निश्चित करता है। (१०) ससद और राष्ट्रपति के बीच सारा पत्र-व्यवहार उसके ही द्वारा होता है।

(११) ससद के सदस्यो को भाषण देने की अनुमति वही देता है और वह यह भी निर्णय करता है कि भाषणो का क्रम क्या होगा। (१२) वह प्रक्रिया सम्बन्धी विवादास्पद प्रश्नो (Points of Order) पर निर्णय देता है, जो अन्तिम होता है। (१३) सदन में शान्ति व सुव्यवस्था बनाये रखना उसका महत्त्वपूर्ण कार्य है। (१४) वह विभिन्न विधेयकों, प्रस्तावों आदि पर मतदान कराता है और उनका परिणाम घोषित करता है। (१५) यदि किसी सदस्य का आचरण अव्यवस्था उत्पन्न करने वाला हो तो वह उसे सदन से बाहर भेज सकता है। यदि कोई सदस्य उसकी आज्ञायें न माने व सदनो की कार्यवाही में लगातार बाधा डाले तो वह उसकी सदस्यता को निलम्बित (suspend) भी कर सकता है। (१६) यदि सदन में गम्भीर अव्यवस्था व अशान्ति उत्पन्न हो जाये तो वह उसका कार्य स्थगित या निलम्बित कर सकता है। (१७) वह दर्शको के प्रवेश का नियन्त्रण कर सकता है और उन्हें किसी भी समय बाहर जाने की आज्ञा दे सकता है। (१८) वह ससद की कार्यवाही से ऐसे शब्दो को अपने विवेकानुसार निकाल देने का आदेश दे सकता है जो उसकी समझ में अशिष्ट अथवा असंसदीय (unparliamentary) हो। (१९) जब वह कुछ कहने के लिये खड़ा होता है, उस समय अन्य सदस्यो को बैठ जाना आवश्यक है और कोई भी सदस्य सदन के बाहर नही जा सकता।

भारत, ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमरीका में अध्यक्ष पद सम्बन्धी परम्परायें—ब्रिटेन की लोक सभा के अध्यक्ष पद के सम्बन्ध में सबसे अधिक महत्वपूर्ण परम्परा उसकी निष्पक्षता (impartiality) है। इस पद पर चुने जाने के बाद अध्यक्ष राजनीति से पूर्णतया अलग हो जाता है।[1] हरमन फाइनर के मतानुसार, "जितना मनुष्य से सम्भव है, सभा के नियम और व्यवहार उसके निजी मत की स्थापना के बिना ही सजीव हो उठते है।" ऑग के शब्दो में, "सभा भवन के अन्दर ही नही अपितु बाहर भी अंग्रेजी स्पीकर दलबन्दियो की छाया मात्र से अलग रहता

---

1 "From the moment the man occupies the chair of the Speaker he is expected to shake off and leave behind all parties. Once invested with the wig and gown of office he has no longer any political opinions and must administer exactly the same treatment to his political friends and opponents."

(Bryce)

है। सार्वजनिक रूप से दलगत प्रश्नों पर वह अपना मत कभी नहीं व्यक्त करता, वह अपने दल की सभा में कभी नहीं आता, उसका दल के पत्रों से कोई सम्पर्क नहीं, वह राजनीतिक क्लबों में कभी पांव भी नहीं रखता, वह अपने पुनर्निर्वाचन के लिये भी अभियान नहीं करता।" इसी कारण वहाँ के अध्यक्ष को अधिक आदर प्राप्त है और वह नाम ही **"गौरव और निष्पक्षता"** का पर्यायवाची बन गया है। ब्रिटेन में तो यह परम्परा यहाँ तक पड़ गई है कि नये निर्वाचनों के समय उसके निर्वाचन क्षेत्र से विरोधी दल अपना उम्मीदवार भी खड़ा नहीं करता और उसके पुनर्निर्वाचन पर वही फिर से अध्यक्ष चुना जाता है, चाहे इस बार बहुमत विरोधी दल का हो। **हरमन फाइनर** के अनुसार, "इसके सर्वथा विपरीत स० रा० अमरीका के प्रतिनिधि सदन का अध्यक्ष निष्पक्ष नहीं होता। आजकल भी वह बहुमत दल के नेताओं में से एक होता है। सन् १९११ के पूर्व तो वह सरकार की विधायी शाखा का दलीय नेता होता था।" वह वाद-विवाद में भाग लेता है, वह मतदान करता है और उसके स्थान के लिये चुनाव समर्थ होता है'''वह बहुमत दल का माना हुआ प्रतिनिधि होता है, और बहुधा दलीय मन्त्रणाओं में भाग लेता है।"

भारत के संविधान में अध्यक्ष की स्थिति को निष्पक्ष और स्वतन्त्र बनाये रखने के लिए निम्न तीन उपबन्ध दिये गये हैं :

(१) उसका वेतन और भत्ते संघ (अथवा राज्य) की संचित निधि पर भारित है। [अनु० ११२ (३)]

(२) उसे केवल समान मत आने की दशा में ही मत देने का अधिकार है। [अनु० १०० (१)]

(३) उसे उसके पद से केवल सदन के संकल्प ही द्वारा जो कि विशेष बहुमत में पास किया गया हो, हटाया जा सकता है। (अनु० ९४)।

भारत में अध्यक्ष की स्थिति ब्रिटेन और सं० रा० अमरीका के अध्यक्षों के कुछ बीच में है। भारत में अभी तक यही परम्परा पड़ी है कि अध्यक्ष सम्भावना के अन्दर पूर्णतया निष्पक्ष रहे, जहाँ तक हो सके दल के विचार विनिमयों और निश्चयों से अलग रहे, किन्तु वह अपने दल से अध्यक्ष बनने पर भी सम्बन्ध विच्छेद नहीं करता। फिर भी चुनाव के बाद लोक सभा का अध्यक्ष दल की बैठकों में भाग नहीं लेता और न ही वह पुस्तकालय अथवा लॉबी में सदस्यों से मिलता है। उपाध्यक्ष अपने दल की राजनीति में भाग लेता है, किन्तु दोनों ही सक्रिय दलगत राजनीति से दूर रहते हैं। यही परम्परा राज्यों में चल रही है। वास्तव में इसका आरम्भ सन् १९३५ के संविधान के अन्तर्गत बने विधान-मण्डलों में हुआ। यू० पी की विधान सभा के अध्यक्ष **पुरुषोत्तमदास टण्डन** ने उस समय अपने पद सम्बन्ध में अपना मत निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया था :

'मैं कॉमन सभा के आचारों में विश्वास नहीं करता। मैं फ्रांस, संयुक्त राज्य और उन अन्य राज्यों के आचारों में विश्वास करता हूँ जो

अध्यक्ष को राजनीति मे भाग लेने की अनुमति देते है। यदि वह ऐसा नही करता तो आप एक तृतीय कोटि के व्यक्ति या एक कामचलाऊ व्यक्ति अथवा एक न्यायकर्त्ता को पा सकते है, किन्तु एक प्रभावशाली राजनीतिज्ञ को नही।"

परन्तु अध्यक्ष के लिये सदन के बाहर सक्रिय दलबन्दी से सम्बद्ध रहते हुये सदन के भीतर पूर्णतया निष्पक्ष होना एक अत्यन्त कठिन कार्य है। लोक सभा के प्रथम अध्यक्ष जी० वी० मावलंकर ने कहा था 'भारतीय अध्यक्ष पूर्णतया निर्दलीय व्यक्ति रहेगा, अर्थात् वह दल की बैठको व प्रवादो मे भाग नही लेगा। परन्तु अध्यक्ष बन जाने पर वह अपने राजनीतिक सम्बन्ध का अन्त नही कर देगा। अत मैं कांग्रेसी हूँ।' यह स्पष्ट करते हुए कि उन्होने दल के आधार पर चुनाव क्यों लडा, उन्होने कहा था · 'हमे अभी राजनीतिक दलो का विकास करना है और अध्यक्ष पद सम्बन्धी स्वस्थ अभिसमयो का भी जिसका सिद्धान्त यह है कि जब कोई व्यक्ति एक वार अध्यक्ष बन जाता है, कोई भी दल निर्वाचन-क्षेत्र तथा सदन मे उसके चुनाव का विरोध नही करता। विना तदनुरूपी अभिसमय के अध्यक्ष से यह आशा करना कि वह दलों से पूर्णतया सम्बन्ध विच्छेद करले, विरोधी आशायें रखना होगा।'[2] यदि पुरुषोत्तम दास टण्डन और मावलकर जैसे महान् पुरुष ऐसा करने मे सफल भी हो सके तो यह वात अन्य साधारण व्यक्तियों के बारे मे सच नही हो सकती। इसके अतिरिक्त विरोधी दल वालो को ऐसे अध्यक्षो की पूर्ण निष्पक्षता मे विश्वास होना कठिन है।

सन् १९५१ मे भारतीय विधान-मण्डलो मे अध्यक्षो के एक सम्मेलन मे यह प्रस्ताव स्वीकार किया गया था कि ब्रिटेन की भाँति उनका निर्वाचन निर्विरोध हो। उस समय राष्ट्रीय कांग्रेस की ओर से जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि इस वात की क्या गारन्टी है कि उनका विरोध न किया जायेगा। मावलकर ने इस सम्बन्ध मे अन्य दलो के नेताओं से इस प्रश्न पर पत्र-व्यवहार किया परन्तु कोई फल नही निकला। प्रथम आम चुनाव मे अधिकतर राज्यों मे कांग्रेस को बहुमत मिला

---

2 Declaring and affirming his party attachment, Speaker Mavalanker said :..."But the Indian Speaker acting as such will be absolutely a non party-man, meaning thereby that he keeps aloof from party deliberations and controversies; he does not cease to be a politician merely by the fact of his being a Speaker...I, therefore, continue to be Congressman."

In order to explain why he contested the election on a party label, he said : "We have yet to evolve political parties and healthy conventions about Speakership, the principle of which is that, once a Speaker, he is not apposed by any party in the matter of his election, whether in the consitituency or in the House so long as he 'wishes to continue as a Speaker. To expect the Speakr to be out of parties altogether without the corresponding convention is perhaps entertaining contradictory expectations."

More, S. S., *Practice and Procedure Indian Parliament*, p. 79.

और प्रयत्न यही किया गया कि पुराने अध्यक्षों को अध्यक्ष बनाया जाए, परन्तु परिस्थितियों के अनुसार यह अनिवार्य रूप से न हो सका। इस प्रश्न को मावलंकर ने कांग्रेस कार्य समिति के विचारार्थ रखा, जिसने अप्रैल १९५४ में यह प्रस्ताव पास किया—"कार्य समिति ने जी० वी० मावलंकर के इस आशय के पत्र पर, कि अध्यक्ष पदों का चुनाव निर्विरोध हो ऐसी परम्परा डाली जाये, विचार किया और अनुभव किया कि वर्तमान में इस प्रश्न में अन्य दलों के अन्तर्ग्रस्त होने के कारण यह परम्परा डालना सम्भव नहीं।"

हमें आशा यही करनी चाहिये कि ऐसी परम्परायें पड़ें। जब तक ऐसा हो अध्यक्षों को डा० राधाकृष्णन की इस युक्ति का अक्षरशः पालन करना चाहिये : "मैं किसी दल का नहीं हूं अर्थात् मैं सभी दलों का हूं। मेरा प्रयास संसदीय जनतन्त्र की उच्च परम्पराओं का निर्वाह करना और प्रत्येक दल के प्रति न्याय और निष्पक्षता बरतना होगा जिसमें किसी के प्रति दुर्भाव न हो और सभी के प्रति सद्भाव रहे।" सन् १९५३ में हुये अध्यक्षों के सम्मेलन (Speaker's Conference) के अवसर पर उद्घाटन भाषण में लोक सभा के तत्कालीन अध्यक्ष ने कहा था कि जब तक विधान-मण्डल कार्यपालिका के विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रता को प्रकट न कर सके प्रजातन्त्र अथवा संसदीय शासन के लिये कोई आशा नहीं की जा सकती। अध्यक्ष और विधान-मण्डल के सचिवालय की स्वतन्त्रता वास्तविक प्रजातान्त्रिक निकायों के रूप में विधान-मण्डलों के अस्तित्व के लिए अति आवश्यक है।[3]

भारत में अध्यक्ष-पद सम्बन्धी अभिसमयों के बारे में विशेष रूप से उल्लेखनीय बात यह है कि हमारे देश में लोकसभा के अतिरिक्त राज्यों की विधान सभायें भी हैं। अतएव स्वस्थ अभिसमय सभी अध्यक्षों के बारे में डाले जाने चाहिएँ। यहाँ यह बात भी ध्यान देने की है कि चौथे आम चुनावों के बाद कई राज्यों में कांग्रेस बहुमत प्राप्त करने में असफल रही; ऐसे राज्यों में पुराने विरोधी दलों ने मिलकर गैर-कांग्रेसी अध्यक्ष चुने और मन्त्रिमंडल भी बनाये। संयुक्त मोर्चे (United Front) के मन्त्रिमण्डल के कार्यकाल में पश्चिमी बंगाल की विधान सभा के अध्यक्ष ने सब परम्परायें तोड़कर और निष्पक्षता का लेश मात्र भी ध्यान न रखते हुए मन्त्रिमण्डल का साथ दिया और गवर्नर तक के आदेशों का पालन न किया। फलस्वरूप पश्चिमी बंगाल में राष्ट्रपति-शासन लागू हुआ। कुछ भिन्न परिस्थितियों में पंजाब विधान

---

3 "Unless Parliament is in a position to assert its independence against the executive, there can be no hope of real democracy or Parliamentary Government, and it becomes more difficult where members are organised as parties...The independence of the Speaker and the Legislative Secretariat is therefore a matter very vital and essential for the proper discussion, freedom of speech and free expression of opinion, but for the very existence of legislatures as really democratic bodies and not really handmaids to the executive."—(Speaker of the Lok Sabha in 1951.)

Morris Jones : *Parliament in India, pp. 271-272.*

आचरण के लिए दण्ड दे सकता है जो संसदीय कदाचार में गिने जायें। सदन अपने सदस्यों तथा बाहरी व्यक्तियों को अपने अधिकारों का अति-क्रमण करने पर दण्ड भी दे सकता है।

लोक सभा की प्रक्रिया के नियम २४४ के अनुसार कोई भी सदस्य अध्यक्ष की सहमति से कोई ऐसा प्रश्न उठा सकता है जिसमें या तो किसी सदस्य के या सदन के या उसकी किसी समिति के विशेषाधिकार का भंग अन्तर्ग्रस्त हो। अनुमति प्राप्त विशेषाधिकार प्रश्न पर सदन स्वयं विचार कर सकता है अथवा उसे विशेषा-धिकार समिति को सौंप सकता है। प्रक्रिया नियम २४६ के अनुसार 'यथास्थिति' लोक सभा के प्रारम्भ पर या समय-समय पर अध्यक्ष एक विशेषाधिकार समिति को नामजद करता है, जिसमें १५ से अधिक सदस्य नहीं हो सकते। इस समिति का मुख्य कार्य यह है कि वह अपने सामने आये प्रश्नों पर विचार करके यह निर्णय करे कि उनमें से किसी भी मामले में सदन के विशेषाधिकारों का अतिक्रमण हुआ है अथवा नहीं। अपने निर्णय की रिपोर्ट और क्या कार्यवाही की जाये, इस आशय की सिफारिशें यह समिति सदन को पेश करती है। आवश्यकता पड़ने पर सदन विशेष तदर्थ समिति (Special ad hoc committee) भी किसी सदस्य के आचरण की जाँच करने के लिये नियुक्त कर सकता है और सदन को उसकी सिफारिश पर उस सदस्य के विरुद्ध कार्यवाही का भी अधिकार है। ऐसी एक समिति सन् १९५१ में एक सदस्य के बारे में नियुक्त की गई थी, जिसे उस सदस्य को बम्बई की एक फर्म से व्यापारिक सम्बन्धों के बारे में जाँच का कार्य सौंपा गया था। उस समिति ने सर्वसम्मति से यह रिपोर्ट दी कि उस सदस्य का कार्य सदन की प्रतिष्ठा के लिए अपमानजनक था, किन्तु जब संसद उस पर विचार कर रही थी तो उस सदस्य ने त्याग-पत्र दे दिया, फिर भी सदन ने यह प्रस्ताव पास किया कि उस सदस्य को संसद की सदस्यता से वंचित किया जाये।

संसद के सत्र व उसकी बैठकें (Sessions of Parliament and its sittings)—संसद के वर्ष में कम से कम दो सत्र होने आवश्यक हैं; क्योंकि संसद के बीच सत्र की अन्तिम बैठक और आगामी सत्र की प्रथम बैठक के बीच ६ माह से अधिक का अन्तर नहीं होना चाहिए। राष्ट्रपति जहाँ और जिस समय उचित समझे संसद अथवा उसके एक सदन को आहूत (summon) कर सकता है। दोनों सदन अपनी बैठकें जब चाहें स्थगित (adjourn) कर सकते हैं, और अगली बैठक की तिथि निश्चित कर सकते है। परन्तु संसद का सत्रावसान (prorogation) सदैव सत्र के अन्त में केवल राष्ट्रपति के आदेश से ही होता है। राष्ट्रपति ही संसद अर्थात् लोक सभा का विघटन (dissolution) कर सकता है। ब्रिटेन में कॉमन सभा के विघटन का निश्चय पूर्णरूप से मन्त्रिमण्डल और प्रधान मन्त्री की इच्छा पर होता है, क्योंकि ताज कॉमन सभा को प्रधान मन्त्री के परामर्श पर ही विघटित कर सकता है। भारत में ब्रिटेन की परम्परा अपनाई जायेगी, ऐसा आवश्यक नहीं है

अर्थात् कभी राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री के परामर्श के अनुसार लोकसभा को विघटित न करे, ऐसा सम्भव हो सकता है, विशेष रूप से ऐसी परिस्थितियों में जबकि दूसरा मन्त्रिमण्डल बनाया जा सके। प्रत्येक नये सदस्य को सदन में स्थान ग्रहण करने से पूर्व संविधान के प्रति निष्ठा की शपथ लेनी होती है।

सभी प्रश्नों पर, उनको छोड़कर जिनके विषय में संविधान में अन्य व्यवस्था है, संसद के दोनों सदनों अथवा उनकी संयुक्त बैठक में अध्यक्ष के अतिरिक्त उपस्थित तथा मत देने वाले सदस्यों के बहुमत से निश्चय होता है। किसी प्रश्न के पक्ष और विपक्ष में समान मतदान की अवस्था में अध्यक्ष अपना निर्णायक मत (casting vote) देता है। दोनों सदनों की कार्यवाही के सचालन के लिये आवश्यक है कि उसकी बैठक में कुल सदस्यों की संख्या का १/१० उपस्थित हों। यदि बैठक के दौरान गणपूर्ति (quorum) न हो तो अध्यक्ष बैठक को स्थगित (adjourn) अथवा निलम्बित (suspend) कर सकता है। साधारणतया संसद का कार्य हिन्दी या अंग्रेजी में किया जा सकता है, परन्तु यदि कोई सदस्य इन दोनों भाषाओं में अपने विचार व्यक्त न कर सके तो सदन का अध्यक्ष उसे अपनी मातृ-भाषा में बोलने की अनुमति दे सकता है। यदि संसद ने कानून द्वारा कोई दूसरी व्यवस्था न की तो संविधान के प्रारम्भ के १५ वर्ष बीतने पर संसद की कार्यवाही केवल हिन्दी में ही होगी।

राष्ट्रपति का विशेष अभिभाषण—निर्वाचन के पश्चात् सत्र की प्रथम बैठक में तथा वर्ष के प्रथम सत्र की पहली बैठक में राष्ट्रपति दोनों सदनों की संयुक्त बैठक को सम्बोधित करता है। परन्तु अनुच्छेद ८७ (१) के अन्तर्गत मूल प्राविधान, जिसमें अब संशोधन हो चुका है, इस प्रकार था : प्रत्येक सत्र के आरम्भ पर राष्ट्रपति दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में सम्बोधन करेगा और संसद को उसमें आहूत किये जाने का कारण बतायेगा। इस अभिभाषण की रचना मन्त्रिमण्डल के द्वारा की जाती है और इसमें उसकी नीति का ही वर्णन होता है। प्रत्येक सदन की प्रक्रिया के नियमों में ऐसे अभिभाषण पर सबसे पहिले वाद-विवाद करने की व्यवस्था की जानी आवश्यक है। वाद-विवाद मन्त्रिमण्डल की ओर से किसी सदस्य के इस प्रस्ताव पर, कि राष्ट्रपति को भाषण के लिए धन्यवाद दिया जाये, होता है। विरोधी दल के प्रतिनिधि उस पर संशोधन पेश कर सकते है और उसकी आलोचना भी करते हैं। मन्त्रिमण्डल के समर्थक उसका उत्तर देते है। साधारणतया वह प्रस्ताव पास हो जाता है। यदि कभी यह पास न हो तो इसका अर्थ यह होगा कि सदन को मन्त्रिमण्डल में विश्वास नही है।

उपरोक्त प्रक्रिया ब्रिटेन में प्रचलित ताज के भाषण (Speech from the Throne) के ही अनुरूप है। राष्ट्रपति को यह भी अधिकार है कि वह जब उचित समझे सदनों की संयुक्त अथवा अलग-अलग बैठकों में भाषण दे सकता है और सदस्यों को इस प्रयोजन के लिए उपस्थित होने का आदेश भी दे सकता है।

राष्ट्रपति संसद को अपने सन्देश भी भेज सकता है। जब कभी इस प्रकार का सन्देश संसद को प्राप्त होगा तो जहाँ तक सम्भव होगा शीघ्र ही संसद उस सन्देश पर अथवा संदेश द्वारा जिस विषय की ओर संकेत किया गया हो उस विषय पर विचार करेगी। संघ के प्रत्येक मन्त्री और महान्यायवादी को यह अधिकार मिला है कि वह संसद के किसी भी सदन की संयुक्त बैठक या संसद की उन समितियों की, जिसका उसे सदस्य बनाया जाये, कार्यवाहियों में भाग लेने का अधिकार है। परन्तु मन्त्री केवल उसी सदन में मतदान का अधिकारी होता है जिसका कि वह सदस्य हो और महान्यायवादी संसद सदस्य न होने के कारण मतदान नहीं कर सकता।

कार्य-संचालन—प्रत्येक सदन में सदस्यों की उपस्थिति का एक रजिस्टर रहता है, जिसमें सदस्यगण अपना स्थान ग्रहण करने से पूर्व हस्ताक्षर करते हैं। पहला घण्टा प्रश्नोत्तर को दिया जाता है। उसके बाद सदन के लिए नियत कार्य-सूची के विभिन्न विषयों को क्रमवार विचार के लिए लेता है। इनका क्रम साधारणतया यह रहता है—काम रोको प्रस्ताव, संकल्प, अविश्वास का प्रस्ताव, वाद-विवाद के लिए अन्य प्रस्ताव, विधायी तथा वित्तीय कार्य। अन्य कार्यों में समय-समय पर मन्त्रियों द्वारा नीति सम्बन्धी वक्तव्य देना तथा सदन की मेज पर पत्रों और आलेखों को रखना सम्मिलित है। काम-रोको प्रस्ताव, संकल्प और प्रश्नों के सम्बन्ध में आवश्यक विवेचन आगे के पृष्ठों में दिया गया है। अतएव यहाँ पर वाद-विवाद बन्द करने की विधियों के विषय में कुछ बताना उचित होगा। किसी भी विचाराधीन विषय पर चल रहे वाद-विवाद का अन्त कराने के लिए प्रस्ताव (closure motion) पेश किया जा सकता है। ऐसा प्रस्ताव कोई भी सदस्य पेश कर सकता है और यदि सदन उसे स्वीकार कर ले तो वाद-विवाद का अन्त हो जाता है और उस विषय पर मतदान करा लिया जाता है। कभी-कभी किसी विषय पर वाद-विवाद के लिए समय की सीमा पहले से निर्धारित कर दी जाती है। अतएव जब विचाराधीन विषय पर हो रहे वाद-विवाद के लिए नियत समय समाप्ति पर होता है तो चाहे उस विषय के कुछ या अधिक पहलुओं पर वाद-विवाद हो पाया हो, तभी उस प्रस्ताव पर सदन मतदान करता है। इसे गिलोटिन (guillotine) कहते हैं। इस समय लोक सभा की कार्यवाही संचालित करने के लिये ३८९ नियम हैं। इनके अतिरिक्त अध्यक्ष द्वारा दिये गये १२३ निर्देश भी हैं। ये सब मिलाकर संसदीय प्रक्रिया की आधारशिला कहला सकते हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त बहुत से रूलिंग, दृष्टान्त (precedents) और अभिसमय (conventions) भी हैं।

३. संसद की शक्तियाँ

संसद की शक्तियों का विवेचन अग्रलिखित श्रेणियों के अन्तर्गत किया जा सकता है :

विधायी शक्तियाँ (Legislative Powers)—संसद को उन सभी विषयों पर कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है जिनका प्रगणन संघ और समवर्ती (concurrent) सूचियों में किया गया है तथा अवशिष्ट विषयों पर भी। संघीय क्षेत्रों के लिए संसद को सदैव ही सभी विषयों पर कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है। स्वशासित राज्यों के लिए राज्य-सूची में दिये गये विषयों पर संसद आपातकालीन उद्घोषणाओं के दौरान में कानून बना सकती है। इसके अतिरिक्त दो अन्य विशेष प्रक्रियाओं द्वारा भी ऐसा किया जा सकता है। प्रथम, जब कभी दो या अधिक राज्यों के विधानमण्डल प्रस्ताव पास करके संसद से किसी विषय विशेष के बारे में कानून बनाने की प्रार्थना करें। दूसरे, जब कभी राज्य सभा ⅔ के बहुमत से यह प्रस्ताव पास करे कि राष्ट्रीय हित में संसद को कोई कानून बनाना चाहिए। इस सम्बन्ध में एक विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि हमारी संसद ब्रिटेन की संसद की भाँति प्रभुसत्तापूर्ण नहीं है। इसका कारण स्पष्ट है। भारत का संविधान संघात्मक है और उसके द्वारा संघ व राज्यों के विधान-मण्डलों के बीच शक्तियों का विभाजन हुआ है। इसका यह भी अर्थ हुआ कि भारत का संविधान सर्वोपरि (supreme) है और यदि कभी संसद कोई ऐसा कानून बना दे जो संविधान का अतिक्रमण करने वाला हो तो सर्वोच्च न्यायालय उसे पुनरवलोकन (Judicial Review) की कार्यवाही द्वारा अवैध घोषित कर सकता है। इस दृष्टि से भारत की संसद सं० रा० अमरीका की कांग्रेस से मिलती है।

राष्ट्रीय वित्त पर नियन्त्रण (Control over national finance)—संसद का दूसरा मुख्य कार्य संघीय वित्त पर पूर्ण नियन्त्रण रखना है। सभी कर सम्बन्धी प्रस्ताव तथा अनुदानों की मांगें संसद (लोक सभा) द्वारा स्वीकृत होने पर ही प्रभावी होती है, क्योंकि संविधान के अनुसार 'विधि के प्राधिकार (authority) के सिवाय न तो कर लगाया जायगा और न इकट्ठा किया जायगा, तथा संघ की संचित निधि में कोई धन विधि के अनुकूल तथा संविधान में दिये गये प्रयोजनों और रीति से अन्यथा विनियुक्त (appropriate) नहीं किया जायगा।' संसद ही अनुमान और सार्वजनिक लेखा समिति को नियुक्त करती है तथा नियन्त्रण व महालेखा परीक्षक की रिपोर्ट पर भी विचार कर उचित कार्यवाही करती है।

कार्यपालिका का नियन्त्रण—संविधान के अनुसार संघीय कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रिमण्डल संसद (व्यवहार में लोक सभा) के प्रति उत्तरदायी होता है। लोक सभा के बहुमत का विश्वास खो देने पर मन्त्रिमण्डल पदासीन नहीं रह सकता। यदि लोक सभा में मन्त्रिमण्डल द्वारा प्रस्तुत विधेयक पास नहीं होता अथवा लोक सभा मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध निन्दा का प्रस्ताव पेश कर देती है, या लोक सभा मन्त्रियों द्वारा पेश की गई अनुदानों की माँगों में से किसी को अस्वीकार कर देती है या कोई काम रोको प्रस्ताव (adjournment motion) पास कर देती है तो मन्त्रिमण्डल को त्याग-पत्र देना पड़ता है। सदनों का प्रत्येक बैठक के आरम्भ

में सामान्यत पहला घण्टा प्रश्नो के उत्तर देने में व्यय होता है। प्रश्नों के द्वारा सदन मन्त्रियों के कार्यों की जाँच व आलोचना करते हैं। इन विभिन्न उपायों द्वारा मन्त्रिमण्डल की खुली आलोचना होती है और सच्ची अथवा कल्पित शिकायतो को भी सदनों मे खोलकर रखा जाता है।

अन्य कार्य—ससद को संविधान मे सशोधन करने की महत्वपूर्ण शक्ति प्राप्त है। यह राष्ट्रपति पर महाभियोग की कार्यवाही चला सकती है तथा कुछ विशेष सीमाओं के अधीन सर्वोच्च और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशो को पदच्युत करने के लिए राष्ट्रपति को सम्बोधन पेश कर सकती है। संसद के दोनो सदन संयुक्त बैठक मे उपराष्ट्रपति का निर्वाचन करते हैं और उसे बहुमत द्वारा पास किये गये प्रस्तावो के आधार पर पदच्युत भी कर सकते हैं। ससद के सभी निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिये निर्वाचक मण्डल (Electoral College) के सदस्य भी होते है।

विभिन्न प्रकार के विधेयक—यह तो अधिकांश व्यक्ति जानते है कि संसदीय पद्धति वाले देशो मे सदनो का अधिकाश समय मन्त्रियों द्वारा प्रस्तुत विधेयको, प्रस्तावो व बजट आदि के विचार मे लगता है। मन्त्रियो द्वारा पेश किये गये विधेयक, प्रस्ताव व बजट आदि सभी को सामूहिक रूप मे सरकारी कार्य (Official business) कहते है। गैर-सरकारी सदस्यो की ओर से पेश किये जाने वाले विधेयक व प्रस्ताव को, जिनके पास होने की सम्भावना बिना मन्त्रिपक्ष के समर्थन के 'नहीं' समान ही होती है, गैर-सरकारी कह देते है। यह अन्तर ब्रिटेन मे प्रचलित सरकारी विधेयको (Government Bill) और व्यक्तिगत सदस्यो के विधेयकों (Private Member's Bills) जैसा ही है। दूसरे, हमे धन व वित्त विधेयको (Money and Financial Bills) तथा अन्य विधेयकों के बीच का अन्तर भी जानना चाहिये। कोई भी विधेयक धन विधेयक होता है यदि उसमें निम्नलिखित मे मे एक भी बात पाई जाय :

(१) कोई नया कर लगाना, कोई कर खत्म करना, किसी भी कर मे परिवर्तन करना अथवा उसका नियमन करना, (२) ऋण उधार लेना, (३) सचित निधि व आकस्मिक निधि की देख-रेख तथा उनमे से धन निकालना या उसमें धन जमा करना, (४) भारत की सचित निधि मे से धन का विनियोग (appropriation) करना, (५) किसी व्यय को सचित निधि पर भारित व्यय घोषित करना तथा ऐसे व्यय की राशि को बढाना इत्यादि। यदि किसी विधेयक के सम्बन्ध में मतभेद हो जाये कि वह धन विधेयक है या नही तो इस सम्बन्ध मे लोक सभा के अध्यक्ष का निर्णय अन्तिम होगा।

लोक सभा और राज्य सभा की सापेक्ष शक्तियां—विनियोग विधेयक (Appropriation Bill) तथा वित्तीय विधेयक (Finance Bill) या कर सम्बन्धी

विधेयक **वित्तीय विधेयकों** की श्रेणी मे आते है। सभी ऐसे विधेयको का आरम्भ लोक सभा मे ही हो सकता है। लोक सभा को ही अनुदानों की मांगों पर मतदान करने अर्थात् स्वीकृति देने का अधिकार प्राप्त है। वित्तीय मामलों मे राज्य सभा की शक्तियां अति सीमित हैं, जिसकी विस्तृत विवेचना आगे के पृष्ठों मे की गई है। धन और वित्तीय विधेयकों को छोडकर कोई भी अन्य विधेयक ससद के किसी भी सदन मे आरम्भ हो सकता है। यदि कोई ऐसा विधेयक जिसे एक सदन ने पास कर दिया हो और दूसरे सदन के पास भेजा गया हो (अ) दूसरे सदन द्वारा अस्वीकृत कर दिया जाता है, या (आ) दोनो सदन उस विधेयक मे किये जाने वाले सशोधन के बारे मे अन्तिम रूप मे सहमत न हो सके, या (इ) दूसरे सदन को विधेयक मिले ६ माह से अधिक बीत गये हो और विधेयक पास न हुआ हो तो उनके मतभेद को दूर करने के हेतु राष्ट्रपति दोनो सदनो की सयुक्त बैठक बुला सकता है। ६ माह का समय गिनते समय ४ या उससे अधिक दिन तक लगातार सदनो के स्थगित होने या सत्रावसन होने के काल को उसमे नही गिना जायेगा। सयुक्त बैठक मे भी विधेयक बहुमत द्वारा पास होता है, अतएव यह कहा जा सकता है कि उसमे जनप्रिय सदन के सदस्यों की इच्छानुसार निर्णय होगा, क्योंकि उसमे उनकी सख्या दूसरे सदन के सदस्यो से लगभग दो-गुनी होती है। ऐसा विधेयक दोनो सदनो द्वारा एक ही रूप मे पास होने पर राष्ट्रपति की अनुमति के लिये भेजा जाता है। दोनो सदनो की शक्तियो की तुलना करते समय पाठकों को निम्नलिखित बातो का भी ध्यान रखना चाहिए

(१) राज्य सभा को सरकार के कार्यों से सम्बन्धित उन सभी मामलो के बारे मे, जिन्हे सदन मे विचार हेतु लाया जा सकता है, पूर्ण सूचना प्राप्त करने का अधिकार है। परन्तु इसे मन्त्रि-परिषद् के विरुद्ध निन्दा-प्रस्ताव पास करने की शक्ति नही मिली है। (२) राज्य सभा को राज्यो के एकमात्र प्रतिनिधि होने के नाते दो अनन्य शक्तियाँ (exclusive power) भी प्राप्त है। प्रथम, अनुच्छेद २४९ के अनुसार सदन ⅔ के बहुमत मे यह घोषित कर सकता है कि राष्ट्रीय हित में ससद को राज्य सूची के अमुक विषय पर कानून बनाना चाहिए। दूसरे, राज्य सभा अखिल भारतीय सेवाओ की स्थापना अथवा रचना के लिये प्रस्ताव पास कर सकती है। इन उपबन्धो से स्पष्ट है कि राज्य सभा शासन-तन्त्र का एक आवश्यक अग है, केवल दिखावे मात्र का दूसरा सदन नही।[५] परन्तु

---

5 "These provisions make the Council an important part of the government machinery and not an ornamental super-structure or an inessential adjunct. It was not designed to play the humble role of an unimportant adviser - not an occasional check on hasty legislation."

Pylee, M. V, *India's Constitution*, p 198

जिन्होंने सयुक्त राज्य अमरीका की सीनेट की शक्तियों का अध्ययन किया है, वे यह स्वीकार करेंगे कि सीनेट की तुलना में राज्य सभा की शक्तियाँ बहुत कम है।

इस विषय में कुछ प्रवाद रहा है कि राज्य सभा राज्यो की प्रतिनिधि है या नही ? प्रो० पन्त का कथन है : 'राज्य सभा की सहमति में सघांतरित राज्यों (constituent states) की सहमति निहित है, क्योकि राज्य सभा उनकी प्रतिनिधि है।'[6] परन्तु प्रो० के० वी० राव का मत भिन्न है; उनके मतानुसार राज्य सभा के सदस्य न तो राज्यो के ही प्रतिनिधि हैं और न राज्य विधान-मण्डलों के। ...राज्य सभा की रचना को देखते हुये तो इसका नाम राज्य-परिषद् (Council of State) होना चाहिये था न कि राज्यों की परिषद् (Council of States)।[7] मौरिस-जोन्स ने दोनो सदनो के बीच विरोध के विषय मे लिखा है।[8] यह सच है कि उनकी शक्तियों और स्थिति के बारे मे कुछ प्रवाद चला, परन्तु अभी तक दोनों सदनो के बीच कोई गम्भीर मतभेद पैदा नही हुआ है। वास्तव मे, राज्य सभा ने किसी भी राष्ट्रीय महत्व के विधेयक के पास होने मे कोई बाधा नही डाली है। इसने जनता के किसी एक समूह अथवा किसी राज्य या राज्यों के समूह के हितो का अनुमोदन नही किया है। इसने लोक सभा को सभी महत्वपूर्ण कार्यों मे सहयोग प्रदान किया है।[9]

४. संसद की प्रक्रिया

विधायी प्रक्रिया के विभिन्न स्टेज और तीन वाचन-विधेयक का पुरस्थापन (Introduction)—कुछ विषयों से सम्बन्धित विधेयक राष्ट्रपति की पूर्व सहमति के बाद ही पेश किये जा सकते है यथा राज्यों की सीमाओं मे परिवर्तन करने वाले विधेयक। साधारणतया किसी विधेयक को पेश करने की आज्ञा प्राप्त करने के लिये एक माह का नोटिस देना चाहिये। यदि कोई सदस्य किसी विधेयक को पेश करना चाहता है तो उसे सदन की आज्ञा (leave to introduce) लेनी होती है। सामान्यत: यह आज्ञा मिल जाती है, लेकिन कभी न मिले ऐसा भी हो सकता है। आज्ञा मिलने पर विधेयक पेश करने वाला सदस्य, यदि विधेयक महत्वपूर्ण हुआ, तो

---

6 Lal, A. B., (ed), *Indian Parliament*, p. 16.

7 "So the members of the Council of States are the representatives of neither the State governments nor the State Legislatures ...Considering the composition of the council and the functions given to it, and the predominently unitary character of India constitution, the name 'Council of State' would have been more appropriate."

Rao, K. V., *Parliamentary Democracy of India*, pp. 34-35.

8 Morris-Jones, *op. cit.*, p. 256.

9 Tiwary U. K., *The Making of the Indian Constitution*, p. 240.

उसकी मुख्य बातों के सम्बन्ध में एक भाषण भी दे सकता है। इसी स्टेज पर कोई विरोधी सदस्य भी अपने कुछ विचार व्यक्त कर सकता है। यही विधेयक का प्रथम वाचन कहलाता है और इसके बाद उसे सरकारी गजट में प्रकाशित किया जाता है। परन्तु जब कभी अध्यक्ष किसी विधेयक को पेश करने की आज्ञा प्राप्त करने के पूर्व ही प्रकाशित करने की आज्ञा दे दे तो उस प्रकार के प्रस्ताव की आवश्यकता नहीं रह जाती।

द्वितीय वाचन (Second Reading)—इसके बाद एक निश्चित दिन विधेयक का द्वितीय वाचन आरम्भ होता है। उस दिन विधेयक का प्रस्तावक इन तीन में से कोई भी एक प्रस्ताव रखता है—(१) विधेयक प्रवर समिति (Select Committee) को विचारार्थ सौंप दिया जाये, या (२) उस पर जनमत जानने के लिये उसे प्रसारित किया जाये (circulated for eliciting public opinion), या (३) उस पर तत्काल ही विचार किया जाये। साधारणतया अति आवश्यक सरकारी अथवा विवाद रहित विधेयकों को छोड़कर अन्य विधेयकों पर तत्काल विचार नहीं किया जाता। समाज-सुधार सम्बन्धी विधेयक बहुधा जनमत जानने के लिये प्रसारित किये जाते हैं, किन्तु अधिकतर विधेयकों पर विचार करने के हेतु प्रवर समितियाँ बना दी जाती हैं।

इनमें से कोई सा भी प्रस्ताव पेश होने पर सदन में विधेयक के मूल सिद्धान्तों पर वाद-विवाद होता है। उस समय विस्तार की बातों पर विवाद नहीं होता और न ही कोई संशोधन पेश किया जाता है। उसके उपरान्त विधेयक तीसरी स्टेज में आता है, जिसे समिति-स्टेज कहते हैं। प्रवर समिति में विधेयक का प्रस्तावक तथा कुछ अन्य सदस्य होते हैं। कभी-कभी जनमत के लिये प्रसारित किये जाने के उपरांत भी विधेयकों को प्रवर समितियों को सौंपा जाता है। प्रवर समिति विधेयक की प्रत्येक धारा पर अत्यन्त सूक्ष्म रूप से विचार करती है और आवश्यकतानुसार उसमें संशोधन करती है। इसके उपरान्त निश्चित दिन प्रस्तावक का विधेयक सदन के सामने प्रवर समिति की रिपोर्ट पर विचार किये जाने का प्रस्ताव पेश करता है। उसके स्वीकार हो जाने पर सदन में विधेयक के संशोधित रूप की एक-एक धारा पर विस्तारपूर्वक विचार होता है। इस समय विचाराधीन अनुच्छेद या उसके खण्ड पर सदस्य अपने संशोधन पेश करते हैं। पहले संशोधनों पर वाद-विवाद होता है और उन पर मत लिया जाता है तब संशोधित अनुच्छेदों पर मत लिया जाता है। इस प्रकार विधेयक के एक-एक अनुच्छेद को स्वीकार अथवा अस्वीकार किया जाता है। यही विधेयक का सबसे महत्वपूर्ण स्टेज होता है। इसे पार करने पर विधेयक पास हुआ समझा जा सकता है।

तृतीय वाचन (Third Reading) अन्त में, उस विधेयक को किसी निश्चित दिन सदन के विचारार्थ लाया जाता है। यह वाचन मुख्यतः औपचारिक (formal) ही होता है; क्योंकि इस स्टेज पर विधेयक में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन

नहीं किया जा सकता। केवल विधेयक के अस्पष्ट शब्दों को अधिक स्पष्ट तथा उसमें अन्य भाषा सम्बन्धी सुधार किये जा सकते हैं। इस स्टेज पर सदन का मत फिर से लिया जाता है। इसके उपरान्त सदन का अध्यक्ष उसे यह प्रमाणित करके कि यह पास हो गया है दूसरे सदन को भेज देता है। उसमें भी सामान्यतः वही प्रक्रिया उस विधेयक के सम्बन्ध में लागू की जाती है। इस प्रकार दोनों सदनों में पास होने पर उसे राष्ट्रपति की अनुमति के लिये भेजा जाता है। सदनों के बीच मतभेद होने की अवस्था में तथा राष्ट्रपति की अनुमति न मिलने पर क्या होता है, ये बातें पहले ही बताई जा चुकी हैं।

विधेयक का व्यपगत होना (Lapsing of Bills)—इस सम्बन्ध में ये बातें उल्लेखनीय हैं : (१) संसद के सत्रावसान के कारण लम्बित विधेयक (pending bill) व्यपगत (lapse) नहीं होता है, (२) राज्य सभा में लम्बित विधेयक जिसे लोक सभा ने पास न किया हो, लोक सभा के विघटन पर व्यपगत नहीं होता। परन्तु ऐसा विधेयक जो लोक सभा में लम्बित है अथवा जो लोक सभा के पास होने पर राज्य सभा में लम्बित है लोक सभा के विघटन पर व्यपगत हो जाता है।

धन-विधेयकों के सम्बन्ध में विशेष प्रक्रिया (Special procedure in relation to Money Bills)—जैसा कि पहले बताया जा चुका है धन-विधेयक राज्य सभा में पेश नहीं किया जा सकता। कोई भी ऐसा विधेयक लोक सभा में पास हो जाने पर राज्य सभा में उसकी सिफारिश के लिये भेजा जाता है। राज्य सभा को ऐसा विधेयक अपनी सिफारिशों के साथ १४ दिन के भीतर भेज देना चाहिये। यदि इस अवधि के भीतर राज्य सभा ऐसा नहीं करती तो वह विधेयक लोक सभा द्वारा पास हुये रूप में ही दोनों सदनों द्वारा पास हुआ समझा जाता है। परन्तु यदि राज्य सभा इस बीच में विधेयक को अपनी सिफारिशों सहित लोक सभा को लौटा देती है तो उन सिफारिशों को स्वीकार या अस्वीकार करना लोक सभा की इच्छा पर निर्भर करता है। इसके बाद वह विधेयक दोनों सदनों द्वारा पास समझा जाता है और उसे राष्ट्रपति की अनुमति के लिये भेजा जाता है, जो उसे देनी ही होती है। ब्रिटेन की लार्ड सभा धन-विधेयकों को एक मास तक रोक रख सकती है, किन्तु राज्य सभा को यह अधिकार केवल १४ दिन के लिये मिला है। राज्य सभा को उसमें कोई संशोधन करने का भी अधिकार नहीं, वह तो केवल उसके सम्बन्ध में कुछ सिफारिशें ही कर सकती है, जिनको मानना लोक सभा की इच्छा पर निर्भर है। इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति की शक्ति भी 'नहीं' के बराबर है। अतएव इन विधेयकों पर लोक सभा के निर्णय एक प्रकार से अन्तिम ही होते हैं।

वित्तीय प्रक्रिया (Financial Procedure)—इस प्रक्रिया में ये बातें प्रमुख हैं—(१) वार्षिक वित्तीय (आय-व्यय) विवरण (Annual Financial Statement), (२) अनुदानों की माँग (Demands for Grants), (३) विनियोग अधिनियम (Appropriation Act) और अन्य वित्तीय अधिनियम (Financial Acts)।

वार्षिक वित्तीय विवरण—प्रत्येक वर्ष राष्ट्रपति संसद मे संघ सरकार का आय-व्यय सम्बन्धी विवरण अर्थात् आय-व्ययक (Budget) रखवाता है। इसमे वर्ष की अनुमानित आय-व्यय का विवरण होता है। अनुमानित व्यय में दो प्रकार के व्यय कि रकमें अलग-अलग दिखाई जाती है—व्यय की वे रकमें जो संचित निधि पर भारित होती हैं (Charged upon the Consolidated Fund) तथा अन्य व्यय की रकमे। प्रथम श्रेणी मे निम्नलिखित खर्चे सम्मिलित होते है

(१) राष्ट्रपति का वेतन, उसके भत्ते तथा उसके पद से सम्बन्ध रखने वाले अन्य खर्चे, (२) संसद के दोनों सदनों के अध्यक्ष व उपाध्यक्षों के वेतन और भत्ते, (३) ऋण चुकाने के सम्बन्ध मे व्यवस्था (interest and sinking fund charges), (४) सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन, उनके भत्ते व पेंशन इत्यादि (५) कोई भी वह व्यय जिसे संविधान अथवा संसद कानून द्वारा ऐसा घोषित कर दे तथा सर्वोच्च न्यायालय के संगठन का पूरा व्यय, रियासतों के राजाओं की दी जाने वाली निजी थैलियां (privy purses) और संघीय लोक सेवा-आयोग का पूरा व्यय।

उपरोक्त श्रेणी मे सम्मिलित खर्चों के ऊपर सदन मे मतदान नही होता, किन्तु उस पर वाद-विवाद हो सकता है। अनुदानों की मांग व अन्य खर्चों की अनुमानित मागे अनुदानों की मांगों के रूप मे लोक सभा मे रखी जाती है। लोक सभा को इनमे से किसी भी मांग को घटाने या अस्वीकार करने की शक्ति प्राप्त है, किन्तु उसमे वृद्धि नही की जा सकती। यह व्यवस्था ब्रिटेन मे प्रचलित प्रथा के अनुकूल है। अनुदान की मांग केवल राष्ट्रपति की सिफारिश पर ही लोक सभा मे रखी जा सकती है।

बजट पर साधारण वाद-विवाद (General discussion)—वार्षिक वित्त विवरण (बजट) पेश किये जाने के कुछ ही समय बाद संसद के दोनों सदनों में आय-व्यय के प्रस्तावों पर साधारण वाद-विवाद होता है। इसके लिये दो-तीन दिन दिये जाते है। इन दिनों वाद-विवाद आय सम्बन्धी प्रस्तावों के मूल सिद्धान्तो अथवा उनकी नीति पर होता है। इस दौरान मे आय-व्यय सम्बन्धी विस्तार की बातो पर विचार नही होता और न किसी प्रकार का कटौती प्रस्ताव (token cut) पेश किया जा सकता है। यदि कोई सदस्य किसी माग को अपर्याप्त अथवा आवश्यकता से अधिक समझता है तो वह उस पर वाद-विवाद करने के उद्देश्य से ही ऐसा प्रस्ताव रखता है। साधारणतया ऐसे प्रस्तावों पर वाद-विवाद के उपरान्त मतदान नही होता क्योंकि यदि स्वीकार भी कर लिया जाय तो उससे मांग पर विशेष प्रभाव नही पड़ता। वास्तव में कटौती प्रस्तावों द्वारा विरोधी सदस्य उस माग से सम्बन्धित विभाग के प्रशासन की कमियों को खोलकर तीव्र आलोचना

करते है। परन्तु कभी-कभी ऐसे प्रस्ताव बडी सख्या मे पेश किये जाते है, तब अध्यक्ष उनमें से कुछ को वाद-विवाद के लिये छाँटता है और शेष पर वाद-विवाद नही किया जाता। जब लोक सभा मे सभी मागो पर मतदान हो चुकता है तब उन मागो को सचित निधि पर भारित व्यय की राशियों सहित एक विधेयक के रूप में सदन के सामने पेश किया जाता है। यही विधेयक विनियोग-विधेयक अर्थात् व्यय-विधेयक कहलाता है। इस प्रकार की व्यवस्था 'भारत के सविधान' के पूर्व न थी, किन्तु यह ब्रिटेन में प्रचलित है। इस अधिनियम के पास होने पर शासन को सचित निधि के विभिन्न खर्चों के लिये धन-राशि व्यय करने का अधिकार मिलता है।

अन्य अनुदान (Other grants)—प्रतिवर्ष जो साधारण अनुदान होते है उनके अतिरिक्त आवश्यकता पडने पर राष्ट्रपति पूरक अथवा अधिक अनुदान (supplementary or excess grants) की माँगें भी सामने रखवाता है। उनके सम्बन्ध मे भी इसी प्रक्रिया का पालन किया जाता है। इस प्रकार लोक सभा को अग्रिम (Advance) अनुदान और अपवाद (exceptional) अनुदान देने का भी अधिकार है। इसमें लेखानुदान (vote of account) महत्वपूर्ण है, जिसे ब्रिटेन की प्रक्रिया से अपनाया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि उपरोक्त अनुदान की माँग तथा आय व्यय के ऊपर ससद द्वारा विचार पूर्ण होने से पूर्व ही सरकार के आवश्यक खर्चों के हेतु वित्तीय वर्ष के प्रारम्भिक कुछ काल के लिए एक बडी धन-राशि पेशगी अनुदान के रूप मे स्वीकार कर दी जाती है। फलस्वरूप आय-व्यय प्रक्रिया को ३१ मार्च से पूर्व पूर्ण करना आवश्यक नही रहा। केवल ऐसी पेशगी की माँग स्वीकार हो जानी चाहिए। ऐसी माँग वजट पेश होने के वाद किसी सदन के सामने रखी जा सकती है।

करो की स्वीकृति और वित्त विधेयक (Finance Act)—विनियोग-अधिनियम के पास होने के वाद वजट के दूसरे भाग अर्थात् आय अथवा कर सम्बन्धी प्रस्तावो पर सदन विचार करता है। कुछ कर स्थायी होते है जिन पर संसद प्रति-वर्ष विचार नही करती। जिन कानूनो द्वारा कर लगाये जाते है उनके अन्तर्गत कार्यपालिका उनकी दरो को घटाने अथवा वढ़ाने सम्बन्धी कार्यवाही करती है। अन्य करो जैसे आय-कर (income tax), आयात-निर्यात कर (customs duties), उत्पादन महसूल (excise duties) की दरें प्रतिवर्ष ससद द्वारा ही निर्धारित की जाती है। अगले वर्ष के लिए सभी कर सम्बन्धी प्रस्तावों को एक विधेयक के रूप मे ससद के सामने पेश किया जाता है। यही विधेयक वास्तव मे आय विधेयक होता है। जबकि विनियोग अधिनियम मे व्यय-सम्बन्धी रकमो को सम्मिलित किया जाता है, सभी नये कर सम्बन्धी प्रस्तावो को वित्तीय विधेयक मे सामूहिक रूप मे ससद के विचारार्थ रखा जाता है। उसके पास होने पर ही नये कर सम्बन्धी प्रस्ताव

प्रभावी होते हैं। नये कर सम्बन्धी प्रस्ताव वर्ष में किसी समय भी लाये जा सकते हैं, उन्हें भी वित्तीय विधेयक के रूप में पास किये जाने पर लागू किया जाता है। उसके पास होने पर नये कर आरोपित (impose) तथा संग्रहित (collect) किये जाते हैं।

भारत और अन्य देशों की वित्तीय प्रक्रिया में महत्वपूर्ण अन्तर

इस सम्बन्ध में मुख्य बातें ये हैं—(१) ब्रिटेन में अनुमान और वार्षिक वित्त विवरण केवल कॉमन सभा में पेश किये जाते है, जबकि भारत में वार्षिक वित्त विवरण दोनो सदनों में रखा जाता है। अनुमानों पर दोनो ही सदनों में वाद-विवाद हो सकता है, किन्तु अनुदानों की माँगें केवल लोक सभा में ही पेश की जाती है। (२) ब्रिटेन में अनुमान बजट के पेश किये जाने अथवा वित्त मन्त्री के बजट भाषण में पूर्व ही रखे जाते है, परन्तु भारत में वार्षिक वित्त विवरण रखा जाने के बाद ही अनुमानो पर विचार किया जाता है। (३) ब्रिटेन की कॉमन सभा में वित्तीय प्रस्तावों पर पूर्ण सदन की समितियो में विचार हो जाने के उपरान्त ही होता है व्यय तथा आय सम्बन्धी प्रस्तावों पर विस्तृत विचार क्रमश: पूर्ति समिति (Committee of Supply) और मार्गोपाय समिति (Committee of Ways of Means) में होता है जो दोषपूर्ण है, क्योंकि इन समितियो में संसद के कुछ सदस्य ही होते हैं। संयुक्त राज्य अमरीका में काँग्रेस के दोनो सदनों के अधिकार वित्तीय मामलो में समान है। साथ ही उन दोनो सदनो को माँगी हुई रकमो में वृद्धि करने की शक्ति भी प्राप्त है।

५. संसद की समितियाँ

आधुनिक विधान-मण्डल अपने बढ़ते हुये कार्यों को बहुत सीमा तक समितियों की सहायता से पूरा करते है। सभी देशों में समितियों का प्रयोग बढ़ रहा है। फरवरी सन् १९५६ में 'ब्यूरो ऑफ पालियामेंट स्टडीज' के तत्वाधान में संसदीय शासन पर शिक्षण सम्मेलन आयोजित हुआ था। उस अवसर पर स्वर्गीय जवाहर लाल नेहरू ने यह मत प्रकट किया कि आजकल संसद के बहुत से कार्यों को समितियो को सौंप दिया जाय, जिससे कम समय के भीतर अधिक संतोषजनक व प्रभावशाली ढंग से संसद अपना कार्य पूरा कर सकें। संसद के समय की बचत के साथ-साथ हमारी सम्मति में समिति व्यवस्था के अन्तर्गत विधि निर्माण कार्य पर नियन्त्रण संसद के सदस्यों का रहता है न कि बाह्य विशेष ज्ञान प्राप्त व्यक्तियो का। ये समितियाँ विधेयकों पर विस्तार के साथ वाद-विवाद करती है, वे सभी प्रकार की गवाहियों, रेकार्डों या गवाहों को बुलवा सकती है और आवश्यकतानुसार छानबीन भी कर सकती है। उनकी बैठको की कार्यवाही प्रायः गुप्त रहती है। इन बैठको में कभी-कभी सरकार विरोधी दल की कुछ उचित बातो को स्वीकार कर लेती है, जबकि संसद में दोनों पक्ष प्रत्येक बात पर लड़ते रहते हैं। संसद अपने अधिकांश विधेयकों पर रिपोर्ट प्रवर समितियों (select committees) के द्वारा प्राप्त

करती है। कोई भी प्रवर समिति विशेष रूप से किसी विधेयक पर विस्तृत विचार करके सदन को रिपोर्ट देने के लिये नियुक्त की जाती है। प्रत्येक ऐसी समिति के सदस्यों की सख्या और सदस्यता का निर्णय प्रस्तावक के प्रस्ताव पर सदन ही करता है। विधेयक का प्रस्तावक तथा कानून मन्त्री ऐसी समिति के सदस्य अवश्य ही होते हैं। प्रवर समितियों के सभापतियों की नियुक्ति सदन का अध्यक्ष करता है।

याचिका समिति (Committee on Petitions)—समिति में कुल १५ सदस्य होते है, जिन्हें सदन का अध्यक्ष उसके कार्य प्रारम्भ होने पर नामजद करता है। लोक सभा की प्रक्रिया के नियमो के अनुसार सदन जनता द्वारा प्रेषित याचिकाओं पर भी विचार करती है। ये—(अ) लोक सभा के समक्ष लम्बित कार्य अथवा (आ) सामान्य हित के किसी विषय से सम्बन्धित हो सकती है, किन्तु सामान्य हित का विषय ऐसा नही होना चाहिये जिसका सम्बन्ध राज्य विधानमण्डल से हो। प्रत्येक याचिका सदन को सम्बोधित की जानी चाहिए, और उसे कोई भी सदस्य पेश करता है या सचिव सदन को प्रतिवेदित करता है। इन पर विचार करने के हेतु एक याचिका समिति की भी व्यवस्था है। प्रक्रिया नियम १८१ के अनुसार यथा स्थिति, लोक सभा के आरम्भ पर, या समय-समय पर अध्यक्ष एक याचिका समिति का नाम निदेशित करता है, जिसमे १५ से कम सदस्य नही हो सकते। इस प्रकार से नियुक्त की गई समिति तब तक बनी रहती है जब तक कि दूसरी नई समिति नियुक्त हो जाय। समिति के सदस्यों में ही समिति का सभापति अध्यक्ष द्वारा नियुक्त किया जाता है। किन्तु यदि डिप्टी स्पीकर उस समिति का सदस्य हो तो वही उसका सभापति नियुक्त किया जायेगा। यह समिति प्रत्येक ऐसी याचिका की जाँच करेगी जो इसे सौंपी जाय। समिति इस सम्बन्ध मे अपनी रिपोर्ट सदन को देगी, जिसमें याचिका के विषय सम्बन्धी तथ्य, उस पर हस्ताक्षर करने वालों की सख्या और यह भी बताया जायेगा कि नियमो के अनुसार है या नही तथा उसे प्रसारित किया गया है या नही।

लोक-सेवा समिति (Committee on Public Accounts)—इसमें ससद के अधिकतम २२ सदस्य होते है जिनमे से १५ लोकसभा और ७ राज्य सभा के होते है। सदस्यो का चुनाव आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार होता है और यह प्रतिवर्ष संसद के प्रथम सत्र के आरम्भ मे नियुक्त की जाती है। लोक सभा की प्रक्रिया नियम २४१ (१) अनुसार यह समिति भारत सरकार के व्यय के लिए लोक सभा द्वारा अनुदत्त राशियो का विनियोग दिखाने वाले लेखो, भारत सरकार के वार्षिक वित्त लेखो और लोक सभा के सामने रखे गये ऐसे अन्य लेखों की जाँच करती है। भारत सरकार के विनियोग लेखे और इनमे नियन्त्रक महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन की छानबीन करते समय लोक लेखा समिति का यह कर्त्तव्य होगा कि वह अपना समाधान कर ले—(क) कि लेखों मे व्यय के रूप मे दिखाया धन उन सेवा प्रयोजनों के लिये विधिवत् उपलब्ध और लगाये जाने योग्य था जिसमें वह

लगाया गया है या भारित किया गया है, (ख) *कि व्यय उस प्राधिकारी के अनुसार* है जिसके वह अधीन है, (ग) कि पुनर्नियोग समक्ष प्राधिकारी द्वारा निर्मित नियमों के अन्तर्गत इस सम्बन्ध मे किये गये उपबन्धो के अनुसार किया गया है।

लोक सेवा समिति का यह भी कर्त्तव्य होगा कि (क) *राजकीय निगमो,* व्यापार तथा निर्माण योजनाओ और परियोजनाओं की आय तथा व्यय दिखाने वाले लेखा विवरणो की तथा सन्तुलन पत्रों (balance sheets) अर्थात् लाभ तथा हानि के ऐसे लेखो के विवरणो की जॉच करना, जिन्हे तैयार करने की राष्ट्रपति ने अपेक्षा की हो या जो कि किसी खास निगम, व्यापार सस्था या परियोजना के लिए वित्त व्यवस्था विनियमित करने वाले सविहित नियमो के उपबन्धों के अन्तर्गत तैयार किये गये हो और उन पर नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन की जॉच करना, (ख) स्वायत्तशासी तथा अर्धस्वायत्तशासी निकायो की आय तथा व्यय दिखाने वाले लेखा विवरणो की जॉच करना, जिसका लेखा परीक्षण नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक द्वारा राष्ट्रपति के निदेशो के अन्तर्गत या ससद की किसी सविधि के अनुसार किया जा सके, और (ग) उन मामलो मे नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन पर विचार करना, जिनके सम्बन्ध मे राष्ट्रपति ने उससे किन्ही प्राप्तियो की लेखा परीक्षा करने की या अन्य किसी भी प्रकार के लेखो की परीक्षा करने की अपेक्षा की हो। *समद की समिति द्वारा इस प्रकार की जॉच किया जाना* कार्यपालिका के ऊपर एक रोक का काम करता है। इसकी रिपोर्ट मे राष्ट्रीय व्यय मे हुई अनियमितताओं का उल्लेख होता है। यद्यपि उनमे सुधार नही हो पाता, क्योकि ये सब बाते व्यय हो चुकने के बाद होती हैं, फिर भी यह एक बड़ा ही उपयोगी कार्य है, क्योकि इन सब बातो मे सरकारी विभागो को एक प्रकार की चेतावनी मिल जाती है, जिसके फलस्वरूप वे भविष्य मे सुधार का प्रयत्न कर सकते है। इसकी रिपोर्ट सदन के सामने विचारार्थ आती है और इस प्रकार सार्वजनिक लेखो सम्बन्धी कमियाँ सबके सामने आती है।

प्राक्कलन समिति (Estimates Committee)—इस समिति मे लोक सभा के ३० सदस्य होते है, जिनका चुनाव १ वर्ष की अवधि के लिये आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति से होता है। इसकी नियुक्ति भी प्रतिवर्ष प्रथम सत्र के आरम्भ में की जाती है। इस समिति के कार्य ये है—(क) प्राक्कलनो मे सम्बन्धित नीति से सगत क्या मितव्ययतायें, सगठन मे सुधार, कार्यपटुता या प्रशासनिक सुधार किये जा सकते हैं—*इस सम्बन्ध मे प्रतिवेदन करना।* (ख) *प्रशासन मे कार्यपटुता और* मितव्ययता लाने के लिए वैकल्पिक नीतियों का सुझाव देना। (ग) प्राक्कलनो मे अन्तर्निहित नीति की सीमा मे रहते हुये धन ठीक ढंग से लगाया है या नही इसकी जॉच करना। (घ) प्राक्कलन किस रूप मे ससद मे उपस्थित किये जायेंगे इसका सुझाव देना। इसका कार्य भी बडा महत्वपूर्ण है और इसकी रिपोर्ट भी सदन के विचारार्थ रखी जाती है। कुछ वर्ष पूर्व इस समिति ने यह सिफारिश की थी कि जहाँ

तक सम्भव हो सके राजकीय भारत इलेक्ट्रौनिक्स कम्पनी के डायरेक्टरों में सरकारी अधिकारियों के स्थान पर उद्योगपतियों व वैज्ञानिकों को रखा जाय। इसने अपनी ६ वर्ष पुरानी इस सिफारिश को फिर दोहराया कि जाँच करके उन अधिकारियों का उत्तरदायित्व ठहराया जाय जिन्होंने सरकारी समान (disposals) को बाजार भावों से कम कीमत पर बेचा, जिसके कारण सरकार को घाटा हुआ।

लोक सभा की अन्य समितियाँ[११]—इनमें से विशेष रूप से उल्लेखनीय ये है—

नियम समिति—*सभा की प्रक्रिया और कार्य सचालन के विषयों पर विचार करने और इन नियमों में ऐसे सशोधन तथा वृद्धियों की सिफारिश करने के लिये जो आवश्यक समझी जायें, एक नियम समिति होती है। इसमें सभापति सहित १५ सदस्य होते है, जिन्हे लोक सभा का अध्यक्ष नामजद करता है और वह स्वय इसका पदेन सभापति होता है। इस प्रकार की समिति सयुक्त राज्य अमरीका मे भी होती है।*

कार्य-मन्त्रणा समिति—लोक सभा के प्रारम्भ पर या समय-समय पर अध्यक्ष इस समिति को नियुक्त करता है। इसके सदस्यो की सख्या १५ से अधिक नही हो सकती और वह स्वय ही इसका भी सभापति होता है। इसके मुख्य कार्य ये है—(अ) ऐसे सरकारी विधेयको के प्रक्रम या प्रक्रमो तथा अन्य सरकारी कार्यों पर विचार के लिये समय के बटवारे की सिफारिश करना जिन्हे अध्यक्ष सदन के नेता के परामर्श से समिति को सौंपे जाने का निदेशक दे, (आ) इसे प्रस्थापित समयसूची मे यह दर्शाने की शक्ति प्राप्त है कि विधेयक के विभिन्न प्रक्रम तथा अन्य सरकारी कार्य किस-किस समय पूरे होगे, (इ) यह ऐसे अन्य कृत्य भी करती है जो अध्यक्ष द्वारा समय-समय पर इसे सौंपे जाये।

गैर सरकारी सदस्यों के विधेयकों तथा सकल्पों सम्बन्धी समिति—इसमें १५ सदस्य से अधिक नही होते। इसके सदस्यों को अध्यक्ष नामजद करता है और वे एक वर्ष तक पद धारण करते हैं। *इसका सभापति अध्यक्ष द्वारा समिति के सदस्यो मे से ही नामजद होता है और इसके मुख्य कृत्य ये हैं—(अ) गैर सरकारी सदस्यों के सब विधेयकों की उनके पुरस्थापित किये जाने के बाद तथा सभा मे उन पर विचार किये जाने के पूर्व जाच करना और उन्हें, उनके स्वरूप, अविलम्ब-नीयता तथा महत्व के अनुसार दो वर्गों 'क' 'ख' मे रखना;* (आ) यह सिफारिश करना कि गैर-सरकारी विधेयको मे प्रत्येक विधेयक के प्रक्रम या प्रक्रमो पर चर्चा के लिये कितना समय बाटा जाना चाहिये ; और (३) गैर-सरकारी सदस्यो के सकल्पों और सम्बन्धित विषयों की चर्चा के लिये समय सीमा की सिफारिश करना।

---

११ *विभिन्न समितियों तथा प्रक्रिया सम्बन्धी नियमों के लिए* 'लोक सभा के प्रक्रिया तथा कार्य-संचालन सम्बन्धी नियम' देखिये।

सरकारी आश्वासन सम्बन्धी समिति—मन्त्रियो द्वारा समय-समय पर सभा के अन्दर दिये गये आश्वासनो, प्रतिज्ञाओं, वचनों आदि की छानबीन करने के लिये और इन बातो पर प्रतिवेदन देने के लिये एक समिति है जिसके कार्य ये है—ऐसे आश्वासनो, प्रतिज्ञाओं, वचनो आदि का कहाँ तक परिपालन किया गया है, तथा (ख) जहाँ परिपालन किया गया है, ऐसा परिपालन उन प्रयोजनों के लिये आवश्यक न्यूनतम समय के भीतर हुआ है या नही। इस समिति में भी १५ से अधिक सदस्य नहीं हो सकते। इन सदस्यों को अध्यक्ष १ वर्ष की अवधि के लिये नामजद करता है।

समिति व्यवस्था पर कुछ विचार—ऊपर वर्णित अनेक समितियाँ (प्रवर समितियों को छोड़कर) १ वर्ष की अवधि के लिये ब्रिटेन की सत्रकालीन (sessional) समितियों के समान हैं। एक विशेष विचारणीय बात यह कि यद्यपि भारत में पश्चिमी देशों की संसदात्मक पद्धति को अपनाया है, किन्तु लोक सभा ने उन देशों की भांति स्थायी (standing) समितियो की व्यवस्था नही की है, जबकि ब्रिटेन में ६, सं० रा० अमरीका में १६ और फ्रास मे १८ स्थायी समितियां है। लोक सभा ने ऐसी समितियों के प्रयोग को आवश्यक नही समझा है। एक अन्य उल्लेखनीय बात यह है कि सं० रा० अमरीका की भाति लोक सभा की समितियों की शक्तियाँ बहुत ही कम है। वहाँ पर समितियाँ प्रतिवर्ष हजारो विधेयकों का अन्त कर देती हैं। इस दृष्टि से लोक सभा की समितिया ब्रिटेन की समितियों से अधिक मिलती-जुलती है। अन्त में, लोक लेखा समिति का अध्यक्ष, भारत मे विरोधी दल का नेता नही होता जैसा कि ब्रिटेन में है।

६. प्रक्रिया सम्बन्धी अन्य उल्लेखनीय बातें

सविधान के उपबन्धो के अधीन प्रत्येक सदन को अपनी प्रक्रिया और कार्य-सचालन के विषय में नियम बनाने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। दोनो सदनों की सयुक्त बैठक तथा उनके बीच सचार के हेतु राष्ट्रपति राज्य सभा के सभापति व लोक सभा के अध्यक्ष के परामर्श से नियम बनाने का अधिकार रखता है। संयुक्त बैठक का सभापति लोक सभा का अध्यक्ष होता है, उसकी अनुपस्थिति में राष्ट्रपति द्वारा बनाये नियमो के अनुसार जिस व्यक्ति को अधिकार प्राप्त हो वह सभापतित्व करता है। वित्तीय कार्यवाही समय के भीतर ही पूरी हो जाये, इस सम्बन्ध में नियम बनाने तथा दोनो सदनों की सयुक्त बैठक की प्रक्रिया व कार्य-सचालन के नियमन का अधिकार राष्ट्रपति को है और इस सम्बन्ध में बनाया गया कोई भी नियम, यदि वह सामान्य प्रक्रिया के नियमो के विरुद्ध हो, कायम रहेगा।

सामान्य प्रक्रिया के कुछ उल्लेखनीय नियम अग्रलिखित है—**(१) जबकि सदन को बैठक हो रही हो, सदन में उपस्थित सदस्यों के बारे में नियम हैं—** (अ) प्रत्येक सदस्य सदन में भीतर आते व सदन से बाहर जाते समय शिष्ट व्यवहार (decorum) रखेगा, (आ) अनियमित ढग से सदन में एक ओर से दूसरी ओर नही

जायेगा, (इ) सदन के कार्य से सम्बन्धित कागजो को छोड़कर अन्य पुस्तक, समाचार-पत्र आदि न पढ़ेगा। (ई) शान्ति रक्खेगा, (उ) दूसरे सदस्यो के बोलते समय शोर तथा बेढंगे तरीके से उनके भाषण मे रुकावट न डालेगा। (२) **बोलने के सम्बन्ध में नियम**—जब कोई सदस्य बोलने के लिये खड़ा होता है तो अध्यक्ष उसका नाम लेकर पुकारेगा। यदि एक साथ एक से अधिक सदस्य बोलने के लिये खड़े हो तो जिस सदस्य का नाम पहले लिया जाये वह बोलेगा। (३) **सम्बोधित करने का ढंग**—प्रत्येक सदस्य अपने स्थान से ही अपने विचार प्रकट करेगा, खड़ा होकर बोलेगा और अध्यक्ष को सम्बोधित करके भाषण देगा, परन्तु बिमार अथवा कमजोरी की दशा मे अध्यक्ष किसी को बैठे ही बोलने की आज्ञा दे सकता है। (४) **प्रश्न अध्यक्ष के द्वारा पूछे जा सकते है।** (५) **भाषणों का क्रम आदि**—(अ) जब प्रस्ताव का प्रस्तावक बोल चुके तो अन्य सदस्य उस पर अध्यक्ष की आज्ञा के बिना, कोई भी सदस्य, सिवाय प्रस्तावक के जिसे उत्तर देने का अधिकार होता है, किसी प्रस्ताव पर एक बार से अधिक नही बोलेगा (६) **जब अध्यक्ष खड़ा होता है**—(अ) उसकी बात को सभी सदस्यों को शान्ति के साथ सुनना चाहिए, (आ) प्रत्येक सदस्य को जो बोल रहा हो, या बोलने के लिये खड़ा हो अध्यक्ष के खड़े होते ही, तुरन्त बैठ जाना चाहिये, (इ) कोई भी सदस्य अध्यक्ष के बोलते समय अपना स्थान नही छोड़ेगा।

प्रश्न (Questions)—संसद की कार्यवाही में प्रश्नो का बड़ा महत्व है। दोनों सदनों की प्रत्येक बैठक के प्रारम्भ मे एक घण्टा प्रश्नोत्तर के लिए नियत है। सभी मन्त्रालयो (विभागो) के सम्बन्ध मे प्रश्न पूछे जाते है। परन्तु सभी प्रश्नोत्तरों की सुविधा के हेतु तीन समूहो मे बांट दिया गया है। प्रत्येक समूह मे आने वाले विभाग मे से सम्बन्धित बातों के विषय में प्रश्न उसके लिये नियत दिनों मे ही पूछे जाते है। प्रश्न के लिये निश्चित पूर्व सूचना दी जानी आवश्यक है, जिससे कि उसका उत्तर तैयार किया जा सके। जो प्रश्न निश्चित नियमों के विरुद्ध होते है उन्हें पूछने की आज्ञा नही मिलती। प्रश्नों के सम्बन्ध में कुछ नियम निम्न प्रकार है—

(१) कोई ऐसा प्रश्न नही पूछा जा सकता जिसका उद्देश्य वाद-विवाद या तर्क हो अर्थात् उनका उद्देश्य मुख्यतः शीघ्र सूचना पाना होना चाहिए; (२) कोई ऐसा प्रश्न नही पूछा जाना चाहिए जो हाल ही में पूछे गये प्रश्न के समान हो, (३) प्रश्न का सम्बन्ध किसी न्यायाधीन व दण्डाधीन के आचरण मे नही होना चाहिये। (४) कोई भी सदस्य किसी दिन तीन से अधिक प्रश्न नही पूछ सकता। प्रश्नों के उत्तर सम्बन्धित विभागीय अधिकारी तैयार करते है, किन्तु वे मन्त्रियों द्वारा ही दिये जाते है। परन्तु मन्त्री सभी प्रश्नो का उत्तर दें, उन पर कोई ऐसा बन्धन नही होता। सदन मे प्रश्नों के उत्तर लिखित रूप मे भी दिये जाते

है, विशेष रूप से जबकि उनकी संख्या इतनी अधिक होती है कि प्रश्नोत्तर कार्य एक घण्टे में समाप्त नहीं होता। इन लिखित उत्तरों को उस दिन की कार्यवाही के छपे पत्रों में सम्मिलित कर लिया जाता है।

संकल्प (Resolution)—संकल्प गैर सरकारी सदस्यों द्वारा पेश किये जाते हैं, उनको पेश करने से पूर्व २५ दिन की सूचना दी जाती है और वे निश्चित क्रम के अनुसार ही पेश किये जा सकते हैं। लोक सभा की प्रक्रिया के नियम १६० के अनुसार संकल्प राज्य की घोषणा अथवा सिफारिश के रूप में हो सकेगा या ऐसे रूप में हो सकेगा, जिससे कि सरकार के किसी काम अथवा नीति का सभा द्वारा अनुमोदन या अननुमोदन अभिलिखित किया जाये या कोई सन्देश दिया जाये या किसी कार्यवाही के लिये अनुरोध या प्रार्थना की जाये या किसी विषय अथवा स्थिति पर सरकार द्वारा पुनर्विचार के लिये ध्यान आकर्षित किया जाये या किसी अन्य रूप में जो अध्यक्ष उचित समझे। संक्षेप में, इनका उद्देश्य सरकार से किसी कार्य विशेष को करने या किसी विषय के सम्बन्ध में प्रस्तावित नीति ग्रहण करने की सिफारिश करना होता है। संकल्प के पेश होने पर अन्य सदस्य संशोधन पेश कर सकते है। प्रत्येक संकल्प का स्वीकार अथवा अस्वीकार होना सरकारी रूख के ऊपर निर्भर करता है। संकल्प पास हो जाने पर भी सरकार उसे मानने के लिये बाध्य नहीं होती।

काम रोको प्रस्ताव (Adjournment motions)—ऐसे प्रस्ताव का सम्बन्ध किसी भी अविलम्ब सार्वजनिक महत्व के मामले (matter of urgent public importance) अथवा हाल में घटी सार्वजनिक महत्व की घटना या स्थिति पर विचार करना होता है। यदि किसी ऐसे प्रस्ताव का सम्बन्ध किसी निश्चित, आवश्यक तथा सार्वजनिक महत्व के मामले से नहीं होता तो अध्यक्ष उसे अनियमित ठहरा कर पेश होने से रोक देता है। इसके अतिरिक्त यदि प्रस्ताव में उठाया गया मामला संघ सरकार के क्षेत्र से सम्बन्धित नहीं होता अर्थात् किसी राज्य सरकार के क्षेत्र से सम्बन्ध रखता है अथवा ऐसे मामले से सम्बन्धित होता है जो न्यायालय के विचाराधीन हो तो भी उन्हें पेश करने की आज्ञा नहीं दी जाती। ऐसे प्रस्तावों पर सदन प्रश्नोत्तर काल के उपरान्त ही विचार करता है। प्रस्ताव के विषय पर सरकार तथा विरोधी दल के सदस्य अपने-अपने विचार रखते है। वास्तव में उन प्रस्तावों का उद्देश्य सरकार के प्रशासन की आलोचना करना होता है। यदि ऐसा प्रस्ताव पास हो जाये तो मन्त्रि-परिषद् को त्याग-पत्र दे देना चाहिये।

सदन में वाद-विवाद के लिये अन्य अवसर भी मिलते है—उनमें से एक आधे घन्टे वाद-विवाद का अवसर (Half an hour discussion) भी है। यदि कोई प्रश्नकर्त्ता दिये गये उत्तर के मिलने के बाद कुछ आगे वाद-विवाद चाहता है तो वह आधे घण्टे के लिये उसके सदस्यों से प्रार्थना कर सकता है। ऐसी प्रार्थना के लिये ३ दिन की अधिसूचना आवश्यक है, साथ ही उस प्रार्थना पर अन्य २

सदस्यों के हस्ताक्षर भी होने चाहिये। इसमें सम्बन्धित प्रक्रिया की विशेषता यह है कि वाद-विवाद के लिये सदन के सम्मुख कोई स्पष्ट और निश्चित प्रस्ताव (specific motion) नहीं होता। इसी से मिलता हुआ एक दूसरे प्रकार का अवसर 'अविलम्ब सार्वजनिक महत्व के मामलों पर अल्प समय के लिये 'वाद-विवाद' (discussion on matters of urgent public importance for short duration) की प्रक्रिया द्वारा मिलता है। यह प्रक्रिया पूर्व वर्णित प्रक्रिया के ही समान है, अन्तर केवल यह है कि इसके लिये कोई अधिसूचना आवश्यक नहीं है, न इसके लिये कोई विशेष दिन नियत होता है और इसके लिये २½ घण्टे तक का समय मिल सकता है।

गोपनीय बैठक (Secret Session)—सदन के नेता द्वारा प्रार्थना की जाने पर अध्यक्ष कोई दिन या उसका भाग सभा की गोपनीय बैठक के लिए नियत कर सकता है। जब ऐसी बैठक होती है तो बाहरी व्यक्तियों को सभा भवन, सभा कक्ष या दीर्घाओं में रहने की अनुज्ञा नहीं होती। **सदस्यों का बाहर चला जाना तथा निलम्बन**—अध्यक्ष किसी सदस्य को, जिसका व्यवहार उसकी राय में घोर अव्यवस्थापूर्ण हो, तत्काल सभा भवन से बाहर चले जाने का निदेश दे सकता है और ऐसे सदस्य को, तुरन्त बाहर जाना होता है। यदि अध्यक्ष आवश्यक समझे तो वह उस सदस्य का नाम ले सकता है (Naming the member) जो अध्यक्ष पीठ के प्राधिकार की अपेक्षा करे या जो हठपूर्वक और जान-बूझकर सभा के कार्य में बाधा डालकर सभा के नियमों का दुरुपयोग करे। यदि किसी सदस्य का इस प्रकार नाम लिया जाय तो वह तुरन्त प्रस्ताव रखेगा कि उस सदस्य को सत्र के अवशिष्ट काल तक सभा की सेवा से निलम्बित किया जाय। परन्तु सभा किसी भी समय, प्रस्ताव किये जाने पर, सकल्प पास कर सकती है कि ऐसा निलम्बन समाप्त किया जाये। **नियमों का निलम्बन**—कोई सदस्य अध्यक्ष की सम्मति से प्रस्ताव कर सकता है कि सभा के समक्ष किसी प्रस्ताव विशेष पर किसी नियम का लागू होना निलम्बित कर दिया जाय और यदि प्रस्ताव स्वीकृत हो जाये तो वह प्रासंगिक नियम उस समय के लिये निलम्बित कर दिया जायेगा।

अधीनस्थ विधान (Subordinate legislation)—इस प्रकार के विधान[12] की आवश्यकता दो कारणों से पड़ती है। प्रथम, विधान-मण्डल के पास समय का अभाव और दूसरे, विधायकों को विधान की विस्तृत बातों के बारे में, विशेष ज्ञान (expert knowledge) न होना। संसद द्वारा पास किये गये अधिनियमों की विभिन्न धाराओं के अन्तर्गत प्रशासन अधिकारियों को विनिमय (regulations),

---

12 "Delegated legislation has been defined as the exercise of minor legislative power by subordinate authorities and bodies in pursuance of the statutory authority given by parliament itself"

I J P. A. *Vol II. No. 3. p. 278.*

नियम, उप-नियम (sub-rules), उप-विधि (by-laws) आदि बनाने का अधिकार है, जैसा कि अन्य देशों में भी होता है। संविधान के उपबन्धों या संसद द्वारा किसी अधीनस्थ प्राधिकारी को प्रत्यायोजित वैधानिक कृत्यों के अनुसरण में बनाये गये प्रत्येक विनियम, नियम, उप-नियम, उपविधि आदि को सभा के नियमों के अनुसार सभा के समक्ष रखा जाता है। एक **अधीनस्थ विधान समिति** इस बात की छानबीन करने के लिए होती है कि क्या संविधान द्वारा प्रदत्त या संसद द्वारा प्रत्यायोजित विनियम, नियम, उप-नियम, उपविधि आदि बनाने की शक्तियों का प्रयोग ऐसे प्रत्यायोजन के अन्तर्गत उचित रूप से किया जा रहा है। इस समिति में १५ से अधिक सदस्य नहीं होते। उन्हें अध्यक्ष द्वारा एक वर्ष की अवधि के लिए नामजद किया जाता है। इसको सभापति अध्यक्ष द्वारा समिति के सदस्यों में से ही नियुक्त किया जाता है। ३१ दिसम्बर सन् १९५३ ई० को लोक सभा के अध्यक्ष ने अधीनस्थ विधान' के लिए एक समिति की नियुक्ति की थी, जिसने उसके विभिन्न 'पहलुओं' पर विचार किया। उस समिति ने बताया है कि संसद के विभिन्न कानूनों में अधीनस्थ विधान सम्बन्धी ४ प्रकार के उपबन्ध मिलते है

(१) जहाँ पर सरकार बिना किसी अन्य औपचारिक कार्यवाही के नियमों को बनाकर देती है, (२) जहाँ पर सरकार नियमों को बनाकर लागू कर सकती है, परन्तु उनके प्रकाशित होने पर उन्हें संसद के सम्मुख रखना आवश्यक है, (३) जहाँ पर बताये गये नियमों को संसद के सम्मुख इस हेतु रखा जाता है कि निश्चित अवधि के भीतर यदि संसद चाहे तो उनमें सुधार कर दे, और (४) जहाँ पर नियमों के प्रारूप को प्रकाशित करने के पूर्व संसद के सम्मुख रखा जाता है और जिनमें संसद चाहने पर सुधार कर सकती है।

७. संसद के कार्यों पर एक दृष्टि

गत २० वर्षों में भारत की संसद ने अनेक महत्वपूर्ण कानून पास किये हैं और देश के विकास तथा पुनर्निर्माण के लिए सराहनीय कार्य किया है। संसद के कार्यों में सर्वप्रथम स्थान देश में समाजवादी व्यवस्था कायम करने के ध्येय को स्वीकार किया जाना है। समाजवादी व्यवस्था कायम करने तथा कल्याणकारी राज्य के ध्येय की प्राप्ति के उद्देश्य हेतु संसद ने आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक सभी क्षेत्रों में अनेक आवश्यक और महत्वपूर्ण कानून बनाये है तथा निश्चित किये हैं। आर्थिक क्षेत्र में संसद ने ३ पंचवर्षीय योजनायें स्वीकार की और उनकी पूर्ति के लिए संघ व राज्य सरकारें विभिन्न निर्माण-कार्य कर रही हैं। देश का उत्पादन बढ़ाने, उद्योगों का विकास करने और मालिकों तथा मजदूरों के बीच अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने के लिए संसद ने समय-समय पर उचित निर्णय किये हैं। इसी क्षेत्र में राष्ट्रीयकरण सम्बन्धी महत्वपूर्ण कानून भी रखे जा सकते हैं। सामाजिक क्षेत्र में संसद ने हिन्दू कोड बिल के मुख्य उपबन्धों से सम्बन्धित कई

कानून बनाये है, यथा विशेष विवाह कानून, हिन्दू विवाह और तलाक कानून, हिन्दू उत्तराधिकार कानून आदि। अस्पृश्यता निवारण के उद्देश्य से **अस्पृश्यता सम्बन्धी अपराधों का कानून, १९५५ (The Untouchability Offences Act, 1955)** बना है। उच्च शिक्षा के विस्तार तथा स्तर को उठाने के उद्देश्य से संसद ने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (University Grants Commission) की रचना की है। राजनैतिक क्षेत्र मे ससद का सबसे महत्वपूर्ण कार्य राज्यो के पुनर्गठन सम्बन्धी निर्णय है।

ससद के सदस्यो ने अपने व्यवहार, भाषण, वाद-विवाद के स्तर से यह सिद्ध कर दिया है कि भारत मे प्रजातन्त्र प्रणाली और संसदात्मक पद्धति की जड़े गहरी जम गई है, यद्यपि कभी-कभी सदनों में अशोभनीय व अवाछनीय घटनायें भी हुई है। प्रजातन्त्र को राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र मे सफल बनाने के लिए जो प्रयत्न भारत की ससद ने किये है, उनकी देशवासियो ने ही नही वरन् विदेशियो ने भी प्रशसा की है। वास्तव मे ससद पर इन दो कठिन कार्यों की पूर्ति का दायित्व था—नये कानूनो के निर्माण का भारी भार और भावी ससदों तथा राज्य विधान-मण्डलो के मार्ग प्रदर्शन के लिए स्वस्थ्य अभिसमयों और प्रथाओ को डालना। ससद के सदस्यो ने अपने शिष्ट व्यवहार से संसद की कार्यवाही को सुगमता व शीघ्रता से चलाने की अच्छी प्रथा को डाला। ससद के समय पर केवल आगे के स्थानो पर बैठने वालो का ही एकाधिकार नही, वरन् पीछे बैठने वालो ने भी उसकी कार्यवाही मे समुचित भाग लिया। इसके अतिरिक्त विरोधी पक्ष के सदस्यो ने संसद द्वारा बनाये कानूनों पर अपने विचारो और मतो से समुचित प्रभाव डालने मे सफलता पाई।

संसद के महत्वपूर्ण कार्य—उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ससद का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य कानून बनाना है और उसे पूरा करने में भारत की ससद ने सराहनीय सफलता पाई है। यह सच है कि विधेयक तैयार करने का कठिन और महत्वपूर्ण कार्य सार्वजनिक अधिकारियों द्वारा सम्बन्धित मन्त्रालयो मे किया जाता है किन्तु उनमें अन्तर्ग्रस्त प्रश्नों और उनके आधारभूत सिद्धातों पर ससद के सदनो मे गम्भीरतापूर्वक तथा विस्तारपूर्वक वाद-विवाद अति महत्वपूर्ण है। ससद का दूसरा कार्य कार्यपालिका पर नियन्त्रण रखना है। इस कार्य की पूर्ति भी भारत की ससद ने अभी तक भली प्रकार की है। पहली ससद मे सत्तारूढ़ दल (कांग्रेस) का भारी बहुमत या और बहुमत अभी तक कायम है, किन्तु क्रमशः विरोधी पक्ष भी सुदृढ हुआ है। विरोधी पक्ष के सदस्य विशेष रूप से सरकार के गलत कार्यों की आलोचना करते रहते है और कभी-कभी तो सरकार के समर्थक भी सरकारी नीतियो तथा कार्यों की आलोचना करते हैं। सदस्यगण मन्त्रियो से प्रत्येक बैठक मे प्रश्न पूछते है और उनके द्वारा विभिन्न प्रकार की सूचना प्राप्त करते है तथा प्रशासन की कमियो को खोलकर रखते हैं।

'काम रोको प्रस्ताव' तथा अन्य प्रस्तावों द्वारा संसद के सदस्य सार्वजनिक महत्व के प्रश्नो पर विचार करते रहे हैं और सरकारी नीति पर उसका कम या अधिक प्रभाव पड़ा है। बजट तथा अनुदानों की मांग (Demands for grants) के सम्बन्ध में लोक सभा में सरकार की वित्तीय नीति तथा प्रशासन के प्राय. सभी कार्यों पर खुलकर वाद-विवाद होता है। यद्यपि सार्वजनिक अथवा सहकारी निगमे (Public Corporations) एक प्रकार से स्वशासित निकाय (autonomous bodies) है, फिर भी उनकी रचना सम्बन्धी कानून संसद ने बनाये है और उनके कार्यों के बारे में सदस्यगण प्रश्नों द्वारा अपने विचार तथा मत अभिव्यक्त करते रहते हैं। महालेखा परीक्षक और लोक लेखा समिति की रिपोर्ट के आधार पर संसद सरकार के सभी वित्तीय कार्यों की आवश्यकतानुसार आलोचना करती है तथा सुधार हेतु आवश्यक सुझाव देती है। ऐसे ही संघीय लोक-सेवा आयोग की रिपोर्ट भी प्रतिवर्ष संसद के सामने आती है और सरकार की सार्वजनिक अधिकारियों सम्बन्धी कार्यवाहियों की भी आलोचना होती रहती है।

संसद का तीसरा महत्वपूर्ण कार्य जनता की शिकायतो को व्यक्त करना (ventilation of grievances) है। यह कार्य मुख्यत: प्रश्नो के द्वारा किया जाता है, कभी-कभी कामरोको प्रस्तावो का भी इस उद्देश्य से प्रयोग हुआ है। इस कार्य की पूर्ति में विपक्षी दल के सदस्यो का भाग विशेष रूप से महत्वपूर्ण रहता है। संसद में विरोधी पक्ष काफी सुदृढ नही रहा है, फिर भी विरोधी पक्ष के नेताओ और सदस्यों ने इस कार्य के करने में कोई कमी नहीं की है।[13] संसद के दो अन्य कार्य भी महत्वपूर्ण हैं और उनके करने में भी संसद काफी सफल रही है। प्रथम, संसद एक सार्वजनिक प्लेटफार्म (public forum) है। उसके सदनो में दिये गये भाषण तथा वक्तव्य और उनमें होने वाले वाद-विवाद को सुनने के लिये दर्शक गैलरियाँ बहुधा भरी रहती है और दर्शक देश के प्राय. सभी कोनों से संसद की कार्यवाही देखने आते है। इसके अतिरिक्त संसद की कार्यवाही की विस्तृत तथा संक्षिप्त रिपोर्टें सभी समाचार-पत्रो में प्रकाशित होती है, जिन्हें प्रतिदिन लाखों व्यक्ति पढते है। मौरिस-जोन्स ने इस सम्बन्ध में लिखा है:

> भारत में संसद को सार्वजनिक प्लेटफार्म कहा जा सकता है। सन १९५३ में बजट पर ७२ दिन के वाद-विवाद के दौरान में दर्शक गैलरियो में प्रवेश के लिये ५० हजार टिकट वितरित किये गये थे और कोई ऐसा

---

13 "Parliament in India, as Parliament in England, has become the grand inquisition of the nation. While it is in session, members can find appropriate occasions for openly criticizing the government and ventilating individual and collective grievances. More important than this ventilation is the fact that the government is offered an opportunity of meeting charges against it publicly when the defence of its policy is subject to challenge."
Sharma, S. R., *Parliamentary Government in India pp. 68-9.*

संकेत नहीं है जिससे यह प्रकट होता हो कि जनता की दिलचस्पी कम हुई है। विभिन्न प्रकार के समाचार-पत्रों का विश्लेषण करने पर अवश्य ही यह विदित होगा कि समाचार-पत्र जनता की इस दिलचस्पी को मानते है और उसे प्रोत्साहित भी करते है। भारत के समाचार पत्रों में संसदीय कार्यवाही को, अधिकतर अंग्रेजी समाचार-पत्रो में, अधिक महत्व दिया जाता है।"

चौथे, संसद ने नेताओं की छांट (selection of leaders) मे भी योग दिया है। जहां तक सत्तारूढ दल का सम्बन्ध है अधिकतर मन्त्रि राष्ट्रीय आन्दोलन के अग्रणी नेता रहे हैं। परन्तु मन्त्रि-परिषद् का निर्माण करते समय प्रधान मन्त्री ने सदस्यों की संसदीय कार्य करने की योग्यता का अवश्य ही ध्यान रखा है। गत वर्षों मे संसद के सदनों में अच्छा कार्य करने वाले सदस्यों को प्रायः सभी दलो के नेतृत्व में उपयुक्त स्थान मिला है।

अन्त मे, संसद की कुछ आधारो पर आलोचना की गई है। प्रथम, संसद के अनेक सदस्य सुयोग्य तथा अपने निर्वाचन-क्षेत्रों के सच्चे प्रतिनिधि नही होते। शिक्षा के प्रसार् के साथ-साथ संसद के सदस्यों की योग्यता में वृद्धि अवश्य ही होगी और निर्वाचक सोच-समझकर ही अपना मत डालेंगे। दूसरे, सन् १९६७ के पूर्व तक विरोधी पक्ष का भाग उतना महत्वपूर्ण नहीं रहा जितना कि होना चाहिए था। वर्तमान लोकसभा मे विरोधी पक्ष काफी सुदृढ़ है, किन्तु वह विभिन्न दलों से मिलकर बना है, जिनके कार्यक्रमो और दृष्टिकोणों मे कोई साम्यता नहीं है। इसी कारण विरोधी पक्ष का भाग प्रभावी नही रहा है। तीसरे, कुछ समय से बहुत थोड़े से सदस्यों का सदनों मे व्यवहार संसद की मान्य प्रथाओं के विरुद्ध तथा उनसे गिरा हुआ रहा है। राजनीतिक समस्याओ को असंसदात्मक उपायों द्वारा हल करने के प्रयत्नों को रोका जाना आवश्यक है; क्योकि उनके प्रयोग से सांसद प्रजातन्त्र की सफलता मे बडी बाधा उत्पन्न होने का भय है।

—:०:—

अध्याय ८

राज्यों का शासन

१. संघान्तरित राज्य

स्वतन्त्रता के पूर्व भारत दो भागों में विभाजित था—'ब्रिटिश भारत' और 'भारतीय भारत'। ब्रिटिश भारत में पूरी तरह से ब्रिटिश शासन था और ब्रिटिश भारत को शासकों ने प्रशासन की सुविधा के विचार से कई प्रान्तों में बाँटा हुआ था। भारतीय भारत में सभी देशी रियासतें, जिनकी संख्या ६०० के लगभग थी, सम्मिलित थीं। इनमें देशी राजाओं और नवाबों का भिन्न-भिन्न प्रकार का शासन था और सभी देशी राजे व नवाब ब्रिटिश अधिराज सत्ता (Paramountcy) के अधीन थे। सन् १९३५ के भारतीय शासन अधिनियम के अनुसार सम्पूर्ण देश के लिए एक संघात्मक संविधान की व्यवस्था की गई थी, परन्तु संघ का निर्माण देशी राजाओं तथा ब्रिटिश ताज की स्वीकृति पर निर्भर था। देशी राजाओं के संघ में सम्मिलित न होने तथा दूसरे विश्व-युद्ध के छिड़ जाने के कारण संघात्मक योजना भारत में लागू न हो सकी। स्वतन्त्रता-प्राप्ति पर एक प्रकार से देशी राज्यों को भी स्वतन्त्रता दे दी गई, परन्तु बदली हुई परिस्थितियों में देशी नरेशों ने बुद्धि से काम लिया और छोटी देशी रियासतों का या तो प्रान्तों में विलीनीकरण (merger) हो गया या उनमें से बहुत-सी रियासतों के संघ बन गये। इन संघों और रियासतों ने भारतीय संघ में प्रवेश करने का निर्णय किया। इस प्रकार सम्पूर्ण भारत के लिए एक संघीय संविधान के निर्माण का कार्य सफलतापूर्वक हो सका।

भारत के संविधान के अनुसार भारत अनेक राज्यों का संघ (Union of States) है। भारत के संविधान में सभी प्रान्तों तथा देशी रियासतों व उनके संघों को अब एक ही नाम 'राज्य' (State) देना उचित समझा गया है, क्योंकि उन सभी में प्रजातन्त्रात्मक शासन-प्रणाली लागू हुई है। संयुक्त राज्य अमरीका में सम्मिलित विभिन्न इकाइयाँ भी राज्यों के नाम से पुकारी जाती हैं, परन्तु संविधान के प्रारम्भ पर भारतीय संघ में सम्मिलित राज्य पूरी तरह से एक प्रकार के नहीं थे, अतः उन्हें विभिन्न वर्गों में बाँटा गया था। **'भारतीय संघ इन राज्यों का एक अविच्छिन्न संघ'** है अर्थात् किसी भी राज्य को अब संघ से बिना संसद की स्वीकृति के अलग होने (secession) का अधिकार नहीं है। भारतीय संघ में संविधान लागू होने के समय प्रथम अनुसूची में वर्णित अग्रलिखित राज्य सम्मिलित हुये—

भाग 'क'—उत्तर प्रदेश, पंजाब, बिहार, पश्चिमी बंगाल, असम, उड़ीसा, मद्रास, बम्बई और मध्य प्रान्त। ये पुराने ब्रिटिश काल के प्रान्त थे, जिनमें गवर्नर शासन का अध्यक्ष होता था और जिनमें राज्य का प्रमुख गवर्नर ही रहा। भाग 'ख'—हैदराबाद, जम्मू और कश्मीर, मध्य भारत, मैसूर, पटियाला एवं पूर्वी पंजाब की रियासतों का संघ, राजस्थान, सौराष्ट्र और ट्रावनकोर कोचीन। इनमें से कुछ तो पुरानी बड़ी रियासतें थीं तथा शेष रियासतों के संघ। उनमें गवर्नर के स्थान पर राज-प्रमुख राज्य के अध्यक्ष बने। भाग 'ग'—अजमेर, बिलासपुर (इसे आगे हिमाचल प्रदेश में मिला दिया गया), दिल्ली, कच्छ, त्रिपुरा, भोपाल, कुर्ग, हिमाचल प्रदेश, विन्ध्य प्रदेश और मनीपुर। इनमें से कुछ तो पुराने चीफ कमिश्नरों के प्रान्त थे और कुछ देशी रियासतें व उनके छोटे संघ थे। उनका प्रमुख चीफ कमिश्नर अथवा लेफ्टिनेन्ट गवर्नर कहलाया। भाग 'घ'—उनमें केवल अण्डमान और निकोबार द्वीप-समूह थे। यहाँ पर भी एक चीफ कमिश्नर होता था। आगे चलकर पांडेचेरी और गोआ, डामन ड्यू भी भारतीय संघ के अंग बने। भाग 'क' व 'ख' के राज्यों का तो पद संघ में सम्मिलित राज्यों की इकाइयों जैसा था अर्थात् उन्हें आन्तरिक शासन के अधिकार संविधान में प्राप्त थे। परन्तु अन्य राज्यों और क्षेत्रों को वे अधिकार प्राप्त थे जो उन्हें संसद ने प्रदान किये अथवा वे संघ सरकार द्वारा अधिशासित थे।

भारत की संसद को कानून बनाकर नये राज्यों को संघ में सम्मिलित करने तथा नये राज्य स्थापित करने का अधिकार है। इसके अतिरिक्त संसद को अग्र-लिखित अधिकार भी हैं—संसद कानून बनाकर (१) नये राज्य की रचना कर सकती है, चाहे नया राज्य किसी राज्य के क्षेत्र को अलग करके बनाया जाये अथवा दो राज्यों को मिलाकर, (२) किसी भी राज्य का क्षेत्रफल बढ़ा सकती है, (३) किसी भी राज्य का क्षेत्रफल कम कर सकती है और (४) किसी राज्य का नाम बदल सकती है। परन्तु इस सम्बन्ध में कार्य करने से पूर्व इन शर्तों का पूरा होना आवश्यक है—पहली, इस प्रकार का कोई भी विधेयक राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना पेश नहीं किया जा सकता। दूसरी, यदि विधेयक के प्रस्तावों का सम्बन्ध राज्यों की सीमाओं तथा नामों से हो तो उन प्रस्तावों के प्रभावित होने वाले राज्यों के विधान-मण्डलों के मत को उस विधेयक के पेश करने से पूर्व उन प्रस्तावों के सम्बन्ध में जान लेना आवश्यक है।

राज्यों का पुनर्गठन—स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय विभाजन से उत्पन्न होने वाली कठिन समस्याओं को हल करने के विचार से इकाइयों के पुनर्गठन की समस्या को सरकार ने टालने का प्रयत्न किया। किन्तु दक्षिणी प्रदेशों के कुछ नेताओं ने राज्यों को भाषायी आधार पर फिर से गठित करने के लिए चल रहे आन्दोलन को जोरदार बनाया। सन् १९५३ में आंध्रवासियों के आन्दोलन ने उग्र व हिंसात्मक रूप धारण किया, जिसके फलस्वरूप २ अक्तूबर को आंध्र-प्रदेश का निर्माण हुआ।

आंध्र के निर्माण के परिणामस्वरूप केरल, कर्नाटक, महाराष्ट्र व पजाबी सूबे की माँग के समर्थकों ने आन्दोलन को आगे बढाया और अन्त में भारत सरकार ने राज्य के पुनर्गठन की समस्या का सतोषजनक व स्थायी हल निकालने के विचार से २९ दिसम्बर १९५३ को एक उच्च शक्ति प्राप्त **राज्य पुनर्गठन आयोग** (States Recognisation Commission) नियुक्त किया।

राज्य पुनर्गठन आयोग ने यह मत प्रकट किया कि कोई भी ऐसा परिवर्तन न किया जाये, जो वर्तमान स्थिति में निश्चित सुधार न करे और जिससे सम्बन्धित प्रदेशों की जनता और सम्पूर्ण राज्य का हित साधन न हो। दूसरे, आयोग ने यह विचार व्यक्त किया कि देश का प्रशासनिक और राजनीतिक सगठन राज्य की एकता पर आधारित हो और राष्ट्रीय हित में हो। तीसरे, आयोग ने यह निश्चित मत प्रकट किया कि न तो यह सम्भव है और न वाछनीय ही कि राज्यों का पुनर्गठन केवल भाषा या सस्कृति जैसे किसी भी अकेले आधार पर किया जाये। अतएव आयोग ने इस समस्या पर सन्तुलित दृष्टि से विचार करने पर निम्नलिखित बातों पर ध्यान रखने का सुझाव दिया .

(१) समान भाषा को प्रशासनिक कुशलता व सुविधा के लिए एक महत्वपूर्ण आधार माना जाये; किन्तु प्रशासनिक, आर्थिक और राजनीतिक सभी बातों का ध्यान रखा जाय; (२) एक भाषी अथवा बहुभाषी राज्यों में विभिन्न भाषायें बोलने वालों में जो समूह है, उनको आपसी लिखा-पढी, शिक्षा व सस्कृति सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति का आश्वासन दिया जाये, (३) जिन राज्यों में सतोषजनक दशायें विद्यमान है और आर्थिक, राजनीतिक व प्रशासनिक विचारों का सतुलन मिश्रित राज्यों (Composite State) के पक्ष में हो, उन्हे जारी रखा जाये, (४) इस विचार से कि अमुक प्रदेश किसी समुदाय विशेष का स्वाभाविक देश (homeland) है, खण्डन किया जाये; क्योंकि भारत में सविधान के अन्तर्गत सभी नागरिकों को समान अधिकार और अवसर की समता प्रदान किये गये है; (५) एक भाषा और एक राज्य का सिद्धान्त स्वीकार नही किया जा सकता, क्योंकि एक ही भाषा बोलने वाले भी कई राज्य हैं और (६) राज्य आर्थिक दृष्टि से पृथक् अस्तित्व बनाये रखने योग्य हों।

राज्य पुनर्गठन आयोग इस निष्कर्ष पर पहुचा कि राज्यों के पुनर्गठन के लिए उपयुक्त समय आ गया था और उस काम मे देरी करना अनुचित होता, यद्यपि अनेक व्यक्तियों ने राय प्रकट की थी कि कुछ समय के लिए इस समस्या का हल स्थगित किया जाना उचित था। हमारे विचार मे आयोग का निष्कर्ष सर्वथा उचित था और भारत सरकार ने उसकी सिफारिशों पर उचित कदम उठाये। उसके बाद केन्द्रीय व राज्य सरकारों ने रिपोर्ट पर विचार किया और भारत सरकार ने आयोग

की अधिकतर सिफारिशों के विषय में अपने निर्णय १६ जनवरी १९५६ को घोषित किये। उन निर्णयो की घोषणा से महाराष्ट्रियों में बम्बई को महाराष्ट्र से पृथक् रखने के कारण अत्यन्त असन्तोष उत्पन्न हुआ और उन्होंने बम्बई को महाराष्ट्र में मिलाने के लिये एक बड़ा ही उग्र व व्यापक आन्दोलन चलाया जिसके परिणाम-स्वरूप कुछ हिंसापूर्ण घटनायें घटी। भारत सरकार ने बम्बई तथा पंजाबी सूबे की मांग पर बहुत सोच-विचार किया; पंजाब की समस्या का कुछ संतोषजनक हल निकल आया, किन्तु बम्बई की समस्या बहुत समय तक विकट ही बनी रही।

सरकार के निर्णयो को वैधानिक रूप देने के लिये राज्य-पुनर्गठन विधेयक को, जिसका कि प्रारूप राज्य सरकारों की सम्मति जानने के हेतु पहले ही उनके पास भेज दिया गया था, गृह-मन्त्री ने १६ मार्च १९५६ को संसद के दोनों सदनों में प्रस्तुत किया। उस पर कुछ दिनों तक सदस्यों ने पक्ष तथा विपक्ष में अपने-अपने विचार प्रकट किये। अन्त में, उस पर विस्तृत रूप से विचार करने के लिये गृह-मन्त्री के सभापतित्व में दोनों सदनो के सदस्यो की एक संयुक्त प्रवर समिति नियुक्त हुई, जिसकी रिपोर्ट पर जुलाई के अन्त में संसद में विचार होना आरम्भ हुआ। राज्यों के पुनर्गठन से सम्बन्धित कानून व पश्चिमी बंगाल और बिहार के बीच कुछ सीमा-क्षेत्रों के तबादले का कानून शीघ्र ही पास हो गये। उसके बाद पहली नवम्बर १९५६ को राज्यो का पुनर्गठन हुआ। वह दिन स्वतन्त्र भारत के इतिहास में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण दिवस रहेगा, क्योकि उस दिन वर्तमान भारत के नये राजनीतिक मानचित्र का श्रीगणेश हुआ। उस दिन भारतीय संघ में १४ राज्य और ६ संघीय क्षेत्र (Union Territories) रह गये। सन् १९६० में बम्बई राज्य को महाराष्ट्र व गुजरात दो राज्यों में बांटा गया। १९६१ में नागालेंड का पृथक् राज्य बना और १९६६ के अन्त में पंजाब का विभाजन होने पर हरयाना पृथक् राज्य बना। विभिन्न राज्यों के सम्बन्ध में आवश्यक सूचना अग्र पृष्ठ पर दी हुई तालिका में दी गई है।

२. राज्यों की कार्यपालिका

राज्यपाल (गवर्नर)

राज्यो की कार्यपालिका के मुख्य अंग गवर्नर और उसकी मन्त्रि-परिषदें हैं। गवर्नर शासन का संवैधानिक अध्यक्ष है और वास्तविक कार्यपालिका मन्त्रि-परिषद् है। संविधान में स्पष्ट रूप से यह व्यवस्था की गई है कि गवर्नर को उसके सभी कार्यों के करने में, सिवाय उन बातों के जिन्हें वह अपने विवेकानुसार कर सकता है, मन्त्रि-परिषद् सहायता और परामर्श दे। राज्य की कार्यपालिका शक्ति गवर्नर को सौंपी गई है, जिसका प्रयोग वह संविधान के अनुसार स्वयं अथवा अधीन अधिकारियों के द्वारा करता है। राज्य की कार्यपलिका शक्ति का विस्तार संविधान के प्राविधानों के अधीन उन सभी मामलों तक विस्तृत है जिनके विषय में राज्य के विधान-मण्डल को कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है :

राज्य का नाम	राजधानी	क्षेत्रफल वर्ग मील में	जनसंख्या १० लाख की इकाई में
आंध्र प्रदेश	हैदराबाद	११०,२५०	३२.२
असम	शिलांग	८४,९२४	८.०
बिहार	पटना	६७,८३०	३८.६२
महाराष्ट्र	बम्बई	११९,२००	३.१६
गुजरात	अहमदाबाद	७३,०००	१.६२
जम्मू और कश्मीर	श्रीनगर	१२,७८०	४.४
केरल	त्रिवेन्द्रम	१४,९८०	१५.६
मध्य प्रदेश	भोपाल	१७१,२००	२६.१
मद्रास	मद्रास	५०,१७०	३०.०
मैसूर	मैसूर	७२,७३०	१९.०
उड़ीसा	कटक	६०,१४०	१४.६
पंजाब	चण्डीगढ़	५०.३२५ कि. मी.	११.१
हरयाना	चण्डीगढ़	४३,८६१ कि. मी.	७ ५
राजस्थान	जयपुर	१३२,३००	१३.०
उत्तर प्रदेश	लखनऊ	११३,४१०	६३.०
प० बंगाल	कलकत्ता	३२,२७६	२६.२
नागालैंड	कोहिमा	६,२३६	३ ६६

गवर्नर की नियुक्ति (Appointment)—किसी भी ऐसे व्यक्ति को गवर्नर नहीं बनाया जा सकता जो भारतीय नागरिक न हो और जिसकी आयु ३५ वर्ष से कम हो। भारत मे गवर्नर की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। इसके विपरीत संयुक्त राज्य अमरीका के राज्यों में गवर्नरों को साधारण मतदाताओं द्वारा चुना जाता है और संघ सरकार का उनकी नियुक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं होता। आस्ट्रेलिया में गवर्नर की नियुक्ति ताज द्वारा उपनिवेश (Dominion) मन्त्रिमण्डल के परामर्श के अनुसार की जाती है और कनाडा में प्रान्तो के लेफ्टिनेन्ट गवर्नरों की नियुक्ति उपनिवेश मन्त्रिमण्डल के परामर्श से वहाँ का गवर्नर-जनरल करता है। संविधान के प्रारूप में इस सम्बन्ध में दो विकल्प दिये गये थे—(१) उसका राज्य की विधान सभा के लिये मतदाताओं द्वारा सीधा चुनाव किया जाय, (२) राष्ट्रपति द्वारा उसे उन चार व्यक्तियों की सूची (panel) में से नियुक्त किया जाय जिसका चुनाव राज्य का विधान-मण्डल आनुपाती प्रतिनिधित्व की एकल संक्रमणीय पद्धति द्वारा करे। प्रथम विकल्प का स्वीकार किया जाना उचित न था क्योंकि साधारण मतदाताओं द्वारा चुने गये गवर्नर और मुख्य मन्त्री का साथ-साथ सुगमतापूर्वक कार्य कर सकना व्यावहारिक न रहता। कुछ लेखकों के अनुसार दूसरा विकल्प सर्वोत्तम होता, क्योंकि उसमे राष्ट्रपति और राज्य के विधान-मण्डल का सहयोग रहता तथा वह उस दोष मे रहित होता जिसकी वर्तमान व्यवस्था मे बहुत सम्भावना है अर्थात् अब राष्ट्रपति

उसकी नियुक्ति संघीय मन्त्रिमण्डल के परामर्श के अनुसार राजनीतिक पक्षपात के आधार पर कर सकता है। साथ ही चूंकि वर्तमान गवर्नर राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त होते है, अतएव यदि कभी राज्य और संघ सरकार के बीच किसी प्रश्न पर गम्भीर मतभेद उत्पन्न हो जाय तो यह भय हो सकता है कि वहाँ का गवर्नर राज्य के मामलों में हस्तक्षेप कर सकेगा जो राज्यो की स्वाधीनता के सिद्धान्त के विरुद्ध होगा।

कनाडा के संविधान मे सुदृढ केन्द्र की व्यवस्था है और वहाँ गवर्नर-जनरल सभी प्रान्तीय गवर्नरो को नियुक्त करता है। भारत के संविधान के अन्तर्गत भी कनाडा के नमूनों को अपनाया गया है। परन्तु वर्तमान व्यवस्था के पक्ष में दो बातें है, जिन्हें व्यवहार मे भी अपना लिया गया है। प्रत्येक राज्य में गवर्नर उस राज्य से बाहर का निवासी होता है। अत वह राज्य की स्थानीय राजनीति से ऊपर रहेगा। साथ ही उसकी नियुक्ति के प्रश्न पर राज्य के विधान-मण्डल के विभिन्न दलो मे आपसी मतभेद न रहेगा। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान देने की बात है कि संघ की सुदृढ़ता अर्थात् प्रान्तीयता के ऊपर एकता स्थिर रखने में वर्तमान गवर्नर अधिक सहायक सिद्ध होगे। राज्य की कार्यपालिका और संघ सरकार के बीच इस प्रश्न पर कोई मतभेद न हो इस उद्देश्य से यह प्रथा डाली गई है कि भारत का प्रधान मन्त्री गवर्नर की नियुक्ति के प्रश्न पर सम्बन्धित राज्य के मन्त्रिमण्डल से मन्त्रणा करके राष्ट्रपति को ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति के लिये परामर्श दे जिसे उस राज्य के नेता सहर्ष स्वीकार कर लें।

गवर्नरो की नियुक्ति अथवा छाट का प्रश्न अब विशेष रूप से महत्वपूर्ण हो गया है, क्योंकि चौथे आम चुनावो के बाद कई राज्यों मे गैर-कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बने (और आगे भी ऐसा होता रहेगा) जबकि संघ में अभी तक कांग्रेस दल की ही सरकार है राष्ट्रपति गवर्नर की नियुक्ति प्रधान मंत्री के परामर्श से करता है और प्रधान मंत्री स्वराष्ट्र (गृह) मत्री से परामर्श करता है। यदि संघ (केन्द्र) और सम्बन्धित राज्य में भिन्न दलो के मन्त्रिमण्डल रहे तो गवर्नरों की छाट करना कठिन हो जायेगा। हमारे विचार मे पूर्वोक्त अभिसमयो (प्रथाओ) के अतिरिक्त संघ सरकार को दो और बातो का ध्यान रखना चाहिये। प्रथम, चुनावो में पराजित राजनीतिक नेताओं को गवर्नर नही बनाना चाहिये। दूसरे, गवर्नरो की नियुक्ति में उनके राजनीतिक दल से सम्बन्ध की अपेक्षा योग्यता का अधिक ध्यान रखना चाहिए। यदि उनकी छाट का क्षेत्र राजनीतिक से बढाकर योग्यता, प्रशासनिक अनुभव, निष्पक्षता आदि तक विस्तृत कर दिया जायेगा तो इस विषय मे संघ व राज्य के बीच गम्भीर मतभेद नही होगा।

बिहार मे १९६७ के अन्त मे जबकि संयुक्त विधायक दल का मन्त्रिमण्डल पदासीन था, संघ सरकार ने श्री नित्यानन्द कानूनगो को राज्य का गवर्नर नियुक्त किया। इस विषय में मुख्य मंत्री से मंत्रणा कर ली गई थी और उन्होंने नियुक्ति

का विरोध नहीं किया था। परन्तु मुख्य मन्त्री ने यह चाहा था कि नया गवर्नर अपना पद लगभग २ माह पश्चात् धारण करे, क्योंकि इस बीच में विधान सभा का अधिवेशन किया जाना था। सघ सरकार ने मुख्य मत्री की इस बात को स्वीकार नही किया, राज्य के मुख्यमत्री ने नये गवर्नर से असहयोग न करने की बात कही, परन्तु ऐसा अवसर नही आया। उस अवसर पर स्वराष्ट्र मत्री श्री चव्हाण ने लोक सभा मे कहा कि केन्द्र ने यह अभिसमय डाला है कि मुख्यमत्री से मन्त्रणा की जाये, परन्तु मुख्यमत्री को इस मामले मे प्रतिषेध (veto) का अधिकार नही दिया जा सकता, क्योंकि गवर्नर की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। मुख्यमत्री द्वारा गवर्नर से सहयोग न करने की बात लेशमात्र भी स्वीकार नही की जा सकती। उस विषय मे सघ सरकार ने राज्य सरकार को चेतावनी दी कि ऐसा करना राज्य में सवैधानिक तत्र की विफलता समझा जायेगा।

सेवा की शर्तें—गवर्नर अपने पद पर राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त आसीन रहता है, किन्तु वह अपना पद त्याग-पत्र द्वारा खाली कर सकता है। इन प्राविधानो के अधीन वह सामान्यतः अपने पद पर पद-ग्रहण की तिथि से ५ वर्ष तक आसीन रहता है, परन्तु वह अपने पद भार से तभी मुक्त होता है जबकि उसका उत्तराधिकारी उसे ग्रहण कर ले। गवर्नर किसी विधान-मण्डल का सदस्य नही रह सकता अर्थात् यदि किसी ऐसे सदस्य को इस पद पर नियुक्त कर दिया जाये तो उसके लिये अपनी सदस्यता से त्याग-पत्र देना अनिवार्य है। साथ ही वह कोई अन्य लाभ के पद को भी स्वीकार नही कर सकता। जबकि सविधान लागू होने के पूर्व विभिन्न गवर्नरो के वेतन असमान और अत्यधिक थे अब प्रत्येक गवर्नर को ५,००० रुपये मासिक वेतन मिलता है। किसी गवर्नर की उपलब्धियों (emoluments) में उसके कार्यकाल में कोई कमी नही की जा सकती। गवर्नर को बिना किराये का भव्य निवास स्थान (राजभवन) मिलता है और अनेक भत्ते भी दिये जाते हैं। सन् १९५० में, उदाहरण के लिये, उत्तर प्रदेश के गवर्नर को अंगरक्षको, निवास-गृह, यात्रा और अन्य भत्तो के रूप मे क्रमश: ९० हजार, ३५ हजार, १ लाख ६ हजार और ३० हजार रु० वार्षिक मिले। इसके अतिरिक्त गवर्नरो को अपने कार्यकाल मे बिना किराये सरकारी रेलवे सैलून, हवाई जहाज, मोटरकार इत्यादि प्रयोग करने की सभी सुविधायें प्राप्त है। प्रत्येक गवर्नर को अपना पद-ग्रहण करने पर राज्य के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति अथवा उसकी अनुपस्थिति में ज्येष्ठ न्यायाधीश के सामने अपने पद की विहित शपथ लेनी पडती है। राष्ट्रपति को यह महत्वपूर्ण शक्ति भी प्राप्त है कि यदि किसी राज्य के गवर्नर का पद अकस्मात् ही रिक्त हो जाये तो वह उस समय जैसा उचित समझे उसके कर्त्तव्यो के पालन हेतु आवश्यक व्यवस्था करता है।

---

1 *Hindustan Times, November 17, 1967.*

गवर्नर के कार्य और अधिकार—सविधान के अनुसार गवर्नरो को अपने सभी कार्यो में केवल उनको छोड़कर जिन्हें वह विवेकानुसार करने का अधिकार रखता है मन्त्रि-परिषद् से सहायता तथा परामर्श लेना आवश्यक है, किन्तु सिवाय असम के गवर्नर के अन्य किसी गवर्नर को कोई भी कृत्य अपने विवेकानुसार करने का अधिकार नही मिला है और असम के गवर्नर को भी अपने विवेकानुसार केवल ये कार्य करने का अधिकार मिला है—(२) वह छठी अनुसूचि के भाग 'व' में वर्णित कबीले वाले क्षेत्रो का प्रशासन अपने विवेकानुसार राष्ट्रपति के प्रतिनिधि रूप मे करेगा, (२) उसी अनुसूची के पैरा ९ में लिखा है कि यदि कभी राज्य सरकार और जिला परिषद् के बीच खानो से प्राप्त होने वाली आय (mining royalty) के सम्बन्ध मे विवाद उठ खडा हो तो उसका निर्णय गवर्नर अपने विवेकानुसार करेगा। सविधान के ७वें संशोधन अधिनियम के अन्तर्गत पजाब और आन्ध्र के प्रादेशिक समितियो की व्यवस्था की गई है। उनके कारण शासन कार्य के नियमो तथा राज्य की विधान सभा के प्रक्रिया नियमों में आवश्यक परिवर्तन के लिये राष्ट्रपति गवर्नर के विशेष दायित्व की व्यवस्था भी कर सकता है। राज्य के क्षेत्र में गवर्नर के कार्य प्रायः वही है जो कि राष्ट्रपति के संघीय क्षेत्र में हैं। इस बात मे थोडा सा अन्तर यह है कि गवर्नर को सेना सम्बन्धी और कूटनीतिक कार्य नही मिले है, क्योंकि इनकी उसे आवश्यकता ही नही है। गवर्नर को कोई आपात-कालीन शक्तियां भी प्राप्त नही है। साथ ही यह स्पष्ट है कि गवर्नर के कार्यों का क्षेत्र केवल राज्य सीमा तक ही विस्तृत है। अध्ययन की सुविधा के लिये हम गवर्नर के कार्यों को निम्नलिखित शीर्षको के अन्तर्गत रख सकते है—

प्रशासनिक कार्य—राज्य कार्यपालिका के सभी कार्य गवर्नर के नाम से होते है और वह राज्य शासन के कार्य-सचालन तथा मन्त्रियो के बीच कार्य वितरण के हेतु नियम बनाता है। वही मुख्य मन्त्री की नियुक्ति करता है और मुख्य मन्त्री के परामर्श से अन्य मन्त्रियो की नियुक्ति करता है। राज्य के महाधिवक्ता व लोक सेवा-आयोग के सभापति और अन्य सदस्यो की नियुक्ति भी उसी के द्वारा होती है। जिन राज्यों मे विधान परिषदो की व्यवस्था है वहाँ के गवर्नर अपनी-अपनी विधान परिषद् के कुछ सदस्यों को नामजद करते है। साथ ही यदि किसी राज्य का गवर्नर यह समझे कि चुनावो द्वारा आग्ल भारतीय समुदाय का विधान सभा में पर्याप्त प्रतिनिधित्व नही हुआ है तो वह समुदाय के १ या २ प्रतिनिधियो को विधान सभा का सदस्य नामजद कर सकता है। राज्य के प्रशासन का प्रमुख होने के नाते वह विधान-मण्डल के सत्र को आहूत कर सकता है, उसका सत्रावसान (prorogation) कर सकता है और आवश्यकता पड़ने पर विधान सभा का विघटन भी कर सकता है। वह प्रत्येक वर्ष के प्रथम सत्र के आरम्भ में विधान-मण्डल की बैठक में भाषण देता है और समय-समय पर विधेयको के सम्बन्ध मे सदेश भी भेज सकता है।

विधायी कार्य—वह राज्य विधान-मण्डल का आवश्यक अंग होता है, क्योकि कोई भी विधेयक जिसे विधान-मण्डल पास कर दे उसकी अनुमति के बिना कानून नही बन सकता। वह धन और वित्त विधेयको को छोड़कर अन्य विधेयको पर अपनी अनुमति न दे, उसे ऐसा अधिकार है। साथ ही वह उन्हें अपने सुझावों सहित विधान-मण्डल को पुनर्विचार के लिये भी लौटा सकता है, परन्तु यदि इस प्रकार से लौटाया हुआ विधेयक या वह विधेयक जिस पर उसने अनुमति न दी हो विधान-मण्डल फिर से मौलिक अथवा सशोधित रूप मे पास करके उसके पास भेजता है तो वह उस पर अनुमति अनिवार्यत. देगा। गवर्नर कुछ विशेष विधेयको को राष्ट्रपति की स्वीकृति के हेतु रोक सकता है। उसे विधान-मण्डल के विराम काल मे (during the recess) अध्यादेश जारी करने का भी अधिकार है, परन्तु ऐसा प्रत्येक अध्यादेश विधान-मण्डल की बैठकें फिर से आरम्भ होने के ६ सप्ताह बाद अथवा उससे पूर्व ही, यदि विधान-मण्डल इस आशय का प्रस्ताव पास कर दे, प्रभावी न रहेगा।

अन्य कार्य—प्रतिवर्ष गवर्नर को भी विधान-मण्डल के सामने वार्षिक वित्त विवरण रखवाना होता है। इस विवरण मे उस वर्ष के लिये आय और व्यय के अनुदान दिये जाते है। अनुदानो की सभी मागें भी उसकी सिफारिश पर ही विधान सभा मे पेश की जाती है। उसी के द्वारा पूरक मागे पेश कराई जाती है, किन्तु वह धन और वित्त विधेयको पर अपनी अनुमति अवश्य ही देता है, क्योकि वे तो पेश ही उसकी सिफारिश पर किये जाते है। गवर्नरो को राज्य के कानूनो के उल्लंघन के सम्बन्ध मे दण्डित व्यक्तियो के दण्ड को कम करने, हल्का करने तथा क्षमा करने आदि के भी अधिकार प्राप्त है।

संघ सरकार के अभिकर्ता (Agent) के रूप में—विभिन्न अवसरो पर गवर्नर को राष्ट्रपति के अनुदेश (instructions) प्राप्त करने पड़ते है और वह उनका पालन भी करता है, चाहे उनका मुख्य मत्री के परामर्श से कुछ विरोध भी हो। जैसा कि श्री के० एम० मुन्शी ने कहा है 'गवर्नर सवैधानिक औचित्य का रक्षक है तथा वह कडी है जो कि राज्य को केन्द्र से बांधती है। इस प्रकार वह भारत की एकता को सुनिश्चित करता है।' डा० बी० आर० अम्बेडकर के अनुसार गवर्नर कुछ बातो को रोके रखता है जिससे कि वह राष्ट्रपति को ऐसा अवसर प्रदान करे कि वह यह देख सके कि इन नियमों का, जिनके अन्तर्गत राज्य सरकारो को संविधान के अनुसार कार्य करना चाहिये, पालन होता है।' अनुच्छेद २१३ के अन्तर्गत अध्यादेश (ordinance) जारी करने के पूर्व गवर्नर को निम्नलिखित दशाओ में राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त करनी होती है ; यदि

(क) वैसे ही उपबन्ध अन्तर्विष्ट रखने वाले विधेयक को विधान-मण्डल में पुन.स्थापित किये जाने के लिए राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति की आवश्यकता होती ; अथवा

(ख) वैसे ही उपबन्ध अन्तर्विष्ट रखने वाले विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित करना वह आवश्यक समझता ; अथवा

(ग) वैसे ही उपबन्ध अन्तर्विष्ट रखने वाले राज्य के विधान-मण्डल का अधिनियम इस संविधान के अधीन तब तक प्रभाव्य होता जब तक कि राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित रखे जाने पर उसे राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त न हो चुकी होती।

अनुच्छेद २०० के अन्तर्गत गवर्नर राज्य के विधान-मण्डल द्वारा पारित किसी विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित रख सकता। इसी अनुच्छेद के दूसरे परन्तुक के अन्तर्गत गवर्नर को कुछ विधेयकों को राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित रखना ही है। ऐसा करने में उसे अपने ही विवेक का प्रयोग करना है, यह मन्त्रिमण्डल के परामर्श अधीन नहीं है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण केरल का शिक्षा विधेयक है जिसे राज्य के गवर्नर ने राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित रखा। अनुच्छेद ३५६ के अन्तर्गत गवर्नर राष्ट्रपति को यह प्रतिवेदन दे सकता है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें कि राज्य का शासन संविधान के उपबन्धों के अनुसार नहीं चल सकता। जब किसी राज्य में आपातकाल की घोषणा के परिणाम-स्वरूप राष्ट्रपति शासन स्थापित हो जाता है, तो गवर्नर पूर्णतया राष्ट्रपति का अभिकर्ता बन जाता है और वह उन विधायी, कार्यकारी और वित्तीय शक्तियों का प्रयोग करता है जो कि उसे संघ सरकार द्वारा प्रदान की जाये। किसी भी राज्य में अनुसूचित या जनजातीय क्षेत्रों के प्रशासन के बारे में तो गवर्नर राष्ट्रपति के अभिकर्ता के रूप में कार्य करता ही है। उनके प्रशासन के बारे में गवर्नर राष्ट्रपति को वार्षिक प्रतिवेदन भेजता है और राष्ट्रपति से प्राप्त निदेशों को कार्यान्वित करता है।

असम में जनजातीय क्षेत्रों के प्रशासन के बारे में गवर्नर के संघ सरकार के प्रति कुछ विशेष उत्तरदायित्व (special responsibilities) हैं। आंध्र प्रदेश (और पंजाब के विभाजन के पूर्व उस राज्य में भी) में प्रादेशिक समिति (Regional Committees) के मामले में अनुच्छेद ३७१ (१) में राष्ट्रपति को शक्ति मिली है कि वह आदेश द्वारा ऐसी समिति की स्थापना के लिये व्यवस्था करे और उनके कार्य-संचालन के लिये नियम बनाये। साथ ही राज्य के गवर्नर का यह विशेष उत्तरदायित्व है कि वह इन समितियों द्वारा उचित रूप में कार्य करने की व्यवस्था करे। राष्ट्रपति गवर्नरों के वार्षिक सम्मेलन बुलाता है, जिनमें ऐसे मामलों पर वाद-विवाद होते हैं जो संघ व राज्य सरकारों के लिये सामान्य हित के हैं। उनके निर्णयों को गवर्नर ही कार्यान्वित करते हैं। प्रत्येक गवर्नर राष्ट्रपति को अपने राज्य के बारे में पाक्षिक प्रतिवेदन भेजता है, जिसमें महत्वपूर्ण मामलों का उल्लेख तथा उनके बारे में उसका मत व सुझाव दिये होते हैं।

गवर्नर की वास्तविक स्थिति (Real position)—साधारणत गवर्नर राज्य के शासन का संवैधानिक अध्यक्ष है और उसकी शक्तियाँ वास्तविक नहीं हैं, परन्तु राज्य शासन में उसका स्थान सबसे अधिक सम्मानित और प्रतिष्ठित होता है। वह दलगत राज्य नीति से ऊपर होने के कारण निष्पक्ष होता है। सदैव ही आवश्यकतानुसार राज्य के शासक (अर्थात् मन्त्रीगण) उससे जिन मामलों में चाहे परामर्श प्राप्त कर सकते हैं। यह समझा जाता है कि वह ऐसे मामलों के विषय में जिन पर तीव्र मतभेद हो निष्पक्षतापूर्वक विचार करने की स्थिति में होता है और अपने मन द्वारा वह उनके निर्णयों पर प्रभाव डाल सकता है। यद्यपि बहुत कुछ तो गवर्नर के व्यक्तित्व पर निर्भर करता है फिर भी राज्य शासन की ढिलमुल व परिवर्तनशील राजनीति में वह स्थायित्व एवं स्थिरता लाने की स्थिति में होता है। यदि गवर्नर अच्छे व्यक्तित्व वाला और कार्यशील व्यक्ति हो तो वह विरोधी पक्ष और मन्त्रि-मण्डल के बीच बहुत से मतभेदों को दूर कराने में सहायक सिद्ध हो सकता है।[2] गवर्नर का शासनतन्त्र को सुगम और सुचारु बनाने में बड़ा महत्व है। श्री पायली के अनुसार गवर्नर मन्त्रिमण्डल को सूझ वाला परामर्शदाता है, जो राज्य की अशान्त राजनीति में शान्त वातावरण पैदा कर सकता है।[3]

तीव्र गति से बदलने वाली राजनीति में गवर्नर राज्य सरकार में शक्ति प्राप्त करने के लिये विभिन्न संघर्ष-शील तत्वों पर अपने सद्परामर्श से स्वस्थ और प्रभावी असर डाल सकता है।[4] श्री श्रीप्रकाश के मतानुसार केन्द्र ने राज्य सरकारों (मंत्रिमण्डलों) से सीधा सम्बन्ध बढ़ाकर गवर्नरों के महत्व को कम कर दिया है और मंत्रिमंडलों के निर्माण में भी गवर्नरों की अपेक्षा सीधे केन्द्रीय सरकार से मन्त्रणा की जाने लगी है। फिर भी, यदि गवर्नर योग्य है, जब कभी भी राज्य में ऐसी गम्भीर स्थिति पैदा हो जो कि राज्य की सुरक्षा व सरकार के लिये खतरा पैदा करे, वह कैसा भी संवैधानिक अध्यक्ष क्यों न हो, उसे अपने विवेक का प्रयोग

---

2 "If the Governor were an active and good Governor, he could by means of getting in touch with the opponents of the party in power, reconcile them to a good number of measures and generally make the administration run smoothly . The functions of the Governor shall be to lubricate the machinery of Government, to see that all the wheels are going well by reason not of his interference, but of his friendly intervention "

Sen, P. K. : *Constitution Assembly Debates.*

3 "A sagacious councillor and adviser to the Ministry, one who can throw oil on the troubled waters" of the state politics.

Pylee M. V. . *India's Constitution, p. 234.*

4 "In times of quick-changing politics, a Governor whose position is unshakable except by the pleasure of the appointing authority, namely the President, can bring to bear a wholesome, effective influenceupon what may be warring elements contending for power in the state Government."

Narba rirao, C. V., Art. *Power of the President of India, Indian Review, Feb 1961*

करना चाहिये और छोटे-छोटे मामलो मे बार-बार केन्द्रीय सरकार के परामर्श व मार्गदर्शन पर निर्भर नही रहना चाहिये ।[5]

श्री के० एम० मुंशी के मतानुसार ऐसा समय आ सकता है जबकि संकट काल मे मुख्यमन्त्री विभिन्न दलों के बीच सामजस्य स्थापित करने मे असफल रहे, विशेष रूप से जबकि विधान-मण्डल में अनेक दल हों। ऐसे समय मे गवर्नर से मन्त्रियों को बहुत ही अधिक सहायता मिल सकती है, वे उससे सभी प्रकार की गुप्त सूचना व सलाह प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि उसका सम्पर्क सभी दलों से होता है। स्वर्गीय डा० अम्बेडकर ने उसके स्थान का महत्व 'कार्य' और 'कर्त्तव्य' (function and duty) में अन्तर समझाते हुये इस प्रकार बताया है : जबकि गवर्नर को स्वयं कोई भी कार्य नही करना होता और उसे मन्त्रियो के निर्णय को अस्वीकार करने की कोई शक्ति प्राप्त न होगी उसका यह कर्तव्य होगा कि वह महत्वपूर्ण मामलों के विषय मे मन्त्रिमण्डल को नेक सलाह दे। ऐसा कार्य गवर्नर किसी दल के प्रतिनिधि के रूप मे नही वरन् सम्पूर्ण जनता के प्रतिनिधि रूप में करेगा जिससे कि राज्य में निष्पक्ष, विशुद्ध और कुशल प्रशासन की स्थापना हो।

यद्यपि गवर्नरों को विवेकीय शक्तियां प्रदान नहीं की गई है, फिर भी ऐसे अवसर आ सकते है जब वे अपने विवेक (discretion) का प्रयोग कर सकते हैं। ऐसे अवसरों मे हम इन्हे गिन सकते है—(१) मुख्य मन्त्री की छांट ; (२) मन्त्रि-परिषद् को अपदस्थ करना ; (३) विधान सभा का विघटन ; (४) मुख्यमन्त्री से सूचना प्राप्त करना ; (५) मुख्यमन्त्री से यह कहना कि वह किसी ऐसे मामले को जिस पर किसी मन्त्री ने निर्णय कर लिया हो किन्तु जो मन्त्रिमण्डल (Cabinet) के सामने न आया हो, मन्त्रिमन्डल के सामने रखे ; (६) किसी विधेयक पर अनुमति न देना और उसे पुनर्विचार के लिये वापिस भेजना ; (७) राज्य के विधान मण्डल द्वारा पारित विधेयक को राष्ट्रपति की अनुमति के लिये रोके रखना ;

---

5 "By slow degrees,, however, the centre started keeping direct relations with the State Governments. It forgot the Governors whom it had created The newspaperreading public read almost every day that various State Ministers were going to Delhi for advice and guidance.... Far from being consulted as to the persons who should constitute the ministries, Governors are not even informed as to who are being thought of as Ministers. All such matters are decided after consultations directly with Delhi."

"To my mind, it is clear that a Governor if he is worthy of his salt, must come very prominently in the picture whenever there is any serious situation that might threaten the safety of the State and its Government. I do not know what else he is there for however consitutional he might be. It is no use always going up to the centre for advice and guidance in all great and small matters."

Prakasa. S., *State Governors in India* pp. 21 & 43-4.

(८) कुछ मामलों के बारे मे अध्यादेश जारी करने से पूर्व राष्ट्रपति का अनुदेश (instruction) प्राप्त करना, और (६) राष्ट्रपति को आपातकाल की उद्घोषणा के विषय में परामर्श देना। आपातकाल की घोषणा लागू रहने के दौरान में गवर्नर राज्य की कार्यपालिका का वास्तविक अध्यक्ष बन जाता है। ऐसा होना सर्वथा न्यायोचित है; क्योंकि उसे राज्य की स्थिति के विषय में सबसे अधिक ज्ञान होता है। परन्तु ऐसी स्थिति में भी वह राष्ट्रपति के अभिकर्त्ता (agent) के रूप में कार्य करता है। इन सभी बातों से यह स्पष्ट है कि गवर्नर केवल नाममात्र का अध्यक्ष नहीं है वरन् वह एक ऐसा अधिकारी है जो राज्य के शासन मे महत्वपूर्ण भाग ले सकता है।[3]

गवर्नर से सम्बन्धित कुछ विचारणीय बातें—अति सीमित विवेकीय क्षेत्र के अतिरिक्त ऐसा अवसर आ सकता है कि जब गवर्नर को राष्ट्रपति के समक्ष सविधान के उल्लंघन (breach of the constitution) के बारे में प्रतिवेदन प्रस्तुत करना पड़े। जवाहरलाल नेहरू ने १६५८ में कहा था: 'स्पष्ट है कि गवर्नर सरकार (मंत्रि-परिषद्) के निर्णय को नही गिरा सकता है, परन्तु उसका परामर्श सदैव ही उपलब्ध रहता है। यदि किन्हीं अत्यधिक महत्वपूर्ण मामलो में, गवर्नर यह सोचे कि संविधान का उल्लंघन होने को है तो वह उसके बारे में राष्ट्रपति को लिखकर भेज सकता है। सन् १६५० में सुनील कुमार बोस बनाम मुख्य सचिव, पश्चिमी बगाल सरकार वाले मुकदमे में उच्च न्यायालय ने भी यह निर्णय दिया था: 'वर्तमान सविधान के अन्तर्गत गवर्नर मन्त्रियो के परामर्श के बिना कार्य नही कर सकता। सन् १६३५ के भारतीय शासन अधिनियम के अन्तर्गत गवर्नर की स्थिति भिन्न थी। वह अपने विवेक मे कुछ कार्य कर सकता था, अर्थात् किसी मत्री से बिना परामर्श मागे हुये कुछ कार्य वह अपने व्यक्तिगत निर्णय के क्षेत्र में कर सकता था अर्थात् मत्रियों से मत्रणा करने के बाद, परन्तु वह इस बात के लिये बाध्य न था कि वह उनका परामर्श माने।' मध्य-प्रदेश के एक भूतपूर्व गवर्नर, पटस्कर, ने भी १६५८ मे कहा था: 'अब गवर्नर शासन नहीं करता, परन्तु वह सविधान का रक्षक (watchdog of the constitution) है। उसका कार्य सब बातें सुनना, सावधानीपूर्वक देखरेख करना और शासक दल तथा सभी को परामर्श देना है।

जहां तक गवर्नर श्री धर्मवीर, द्वारा पश्चिमी बंगाल के मुख्य मंत्री को अपदस्थ करने का प्रश्न है, उसने यह कार्य सविधान के अनुच्छेद १६४ (१) के अन्तर्गत किया, जिसमें कहा गया है कि 'मुख्यमंत्री गवर्नर द्वारा नियुक्त किया

---

3 "Governor is neither a figurehead nor a rubber-stamp but a functionary designed to play a vital role in the administration of the affairs of the State."

Ibid, *p. 238*.

जायेगा और अन्य मत्री गवर्नर द्वारा मुख्यमंत्री के परामर्श पर नियुक्त किये जायेंगे तथा मत्री गवर्नर के प्रसाद पर्यन्त अपना पद धारण करेंगे। परन्तु श्री पवित्र घोष का मत है कि सविधान का अनुच्छेद १६४ (१) व (२) गवर्नर को मन्त्रि-परिषद् को अपदस्थ करने का विवेकीय शक्ति प्रदान नही करता। इस अनुच्छेद के अन्तर्गत गवर्नर किसी मंत्री या कुछ मन्त्रियो को अपदस्थ कर सकता है, परन्तु सम्पूर्ण मन्त्रि-मण्डल को नही कर सकता।'[6] श्री धर्मवीर ने मुख्यमत्री, अजय मुकर्जी, के मन्त्रिमडल को इस आधार पर अपदस्थ किया कि उसने बहुमत का समर्थन खो दिया था। गवर्नर ने मुख्यमत्री को परामर्श दिया था कि वह शीघ्र ही विधान-सभा का अधिवेशन बुलाये, किन्तु मुख्यमत्री ने राज्य के अध्यक्ष के परामर्श को नही माना।[7]

जहाँ तक यह प्रश्न है कि गवर्नर को विधान सभा के विघटन की शक्ति कहाँ तक है, यह कहा जा सकता है कि भारत के सविधान में उन परिस्थितियो को पारिभाषित करने वाला कोई उपबन्ध नही है, जिनमे कि गवर्नर ऐसा कर सकता है। यह उसके ऊपर निर्भर करता है कि वह विघटन के लिये मना कर दे जबकि ऐसी माँग किसी पराजित दलीय नेता ने की हो, यदि वह राज्य का प्रशासन चलाने के हेतु वैकल्पिक मत्री-परिषद् को नियुक्त कर सके। अन्य परिस्थितियों में भी गवर्नर यह विचार कर सकता है कि क्या वैकल्पिक मन्त्रि-मडल बनाया जा सकता है, जबकि मुख्य मत्री को अपने सहयोगियो का विश्वास प्राप्त न रहे चाहे उसी दल का बहुमत कायम रहे। ऐसी परिस्थिति में मुख्य मत्री द्वारा विघटन की माग करना अनुचित होगा, अच्छा तो यह रहे कि दल अपना दूसरा नेता चुन ले। वास्तव में, विघटन की शक्ति निर्वाचक-मण्डल की शक्ति है। यह कानूनी प्रभु के विरुद्ध राजनीतिक प्रभु के सामने अपील करना है। इस शक्ति के प्रयोग में गवर्नर (व राष्ट्रपति) को बहुत ही सावधानी और न्याय-प्रियता का परिचय देना चाहिये। गवर्नर (व राष्ट्रपति) की स्थिति खेलने वाली टीमो के बीच निर्णायक (umpire) जैसी है।[8]

मन्त्रि-परिषद्

प्रत्येक राज्य में गवर्नर को उसके कृत्यो के पालन मे सहायता तथा परामर्श देने के लिये एक मन्त्रि-परिषद् होती है। मन्त्रि-परिषद् जो भी परामर्श गवर्नर को देती है उसकी जाच करने का अधिकार न्यायालयों को प्राप्त नही है। गवर्नर मुख्य मन्त्री की नियुक्ति करता है और अन्य मन्त्रियो की नियुक्ति भी मुख्यमन्त्री के

---

6 Ghosh, P. K., Art. *'Position of Governor in relation to his Council of Ministers', I. J. P. S., Oct-Dec. 1967.*

7 Suda J. P, Art. *'The Role of the State Governor, I. J P. S., Jan-March 1968.*

8 Misra R. N Art. *Governor and Dissolution of the Legislative Assembly' I. J. P. S., Oct.-Dec. 1967.*

परामर्श से वही करता है। संविधान के अनुसार मन्त्री अपने पदों पर गवर्नर के प्रसाद पर्यन्त रहते है, परन्तु वास्तव में वे तभी तक रहते है जब तक कि उन्हें राज्य विधान सभा के बहुमत का विश्वास प्राप्त रहे अथवा जब तक मुख्यमन्त्री स्वयं त्याग पत्र न दे अथवा वह किसी मन्त्री को अलग न करे। कुछ राज्यों—बिहार, उडीसा और मध्य प्रदेश के मन्त्रि-मण्डलों की रचना के विषय में संविधान मे एक विशेष प्राविधान यह है कि इनमें से प्रत्येक राज्य मे एक मन्त्री जन-जाति प्रदेशों की जनता के कल्याण के लिए नियुक्त किया जाये। उस मन्त्री को अनुसूचित अथवा पिछडे हुये वर्गों के कल्याण का कार्य या अन्य कार्य भी सौंपा जा सकता है। इसके अतिरिक्त मन्त्रियों की संख्या अथवा श्रेणियो के विषय में संविधान मे कोई विशेष प्राविधान नही है। यदि कोई मन्त्री राज्य के विधान-मण्डल का सदस्य न हो तो वह अधिक से अधिक ६ माह तक अपने पद पर रह सकता है। प्रत्येक मन्त्री को पद ग्रहण करने से पूर्व अपने पद की शपथ तथा गोपनीयता की शपथ लेनी होती है। मन्त्रियों को राज्य के विधान-मण्डल द्वारा पास किये गये कानून में निर्धारित वेतन और भत्ते मिलते है। विभिन्न राज्यो के मन्त्री-समुदायों (Ministries) अथवा मन्त्रि-परिषदो में साधारणतया मन्त्रियों की तीन श्रेणियां हैं—केबिनेट के सदस्य, उप-मन्त्री तथा संसदीय सचिव। अब कुछ राज्यों मे संघीय मन्त्रि-परिषद् की भांति केबिनेट के सदस्य, राज्य-मन्त्री (Ministers of State) तथा उपमन्त्री नियुक्त किये गये है। अतएव मन्त्रिमण्डल (Cabinet) और मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) के बीच अन्तर राज्यों में भी उसी प्रकार मिलता है जैसे कि संघ सरकार के सम्बन्ध मे है। मन्त्रियो के बीच विभागो का वितरण करने का अधिकार संविधान के अनुसार गवर्नर को है, किन्तु यथार्थ मे यह कार्य मुख्य मन्त्री द्वारा ही किया जाता है। राज्य कार्यपालिका के सभी कार्य गवर्नर के नाम में किये जाते हैं; परन्तु गवर्नर द्वारा निकाले गये आदेशों अथवा अन्य सरकारी पत्रों पर निर्धारित नियमो के अनुसार सम्बन्धित मन्त्रियों के हस्ताक्षर भी होते है।

मुख्यमंत्री का स्थान—उसका स्थान राज्य की मन्त्रि-परिषद् मे मुख्यत. वही है जो कि संघीय मंत्रि-परिषद् में प्रधानमंत्री का होता है। वह अपने सहयोगियों से अवश्य ही कुछ ऊपर होता है। उसी के परामर्श से उनकी नियुक्ति होती है, वही उनमें विभागों का वितरण करता है, वह उनसे त्याग-पत्र मांग सकता है अथवा अपना त्याग-पत्र देकर फिर से नया मंत्रिमण्डल बना सकता है। वह मन्त्रिमण्डल की बैठकों का सभापतित्व करता है। वह मन्त्रियो और गवर्नर के बीच संचार का साधन है। वह सभी मंत्रियों के अधीन विभागों के कार्यों की देख-रेख करता है और मंत्रियों के बीच उत्पन्न होने वाले मतभेदों को दूर करके सम्पूर्ण प्रशासन में समन्वय भी लाता है।

मन्त्रिमन्डल के मुख्य कार्य और शक्तियां—मन्त्रिमण्डल के मुख्य कार्य और उनसे सम्बन्धित शक्तियां अग्रलिखित है—(१) राज्य-शासन की नीति और कार्य-

क्रम का निर्धारण, (२) उसे विभिन्न विधेयकों द्वारा विधान-मण्डल के सामने पेश करके कानूनी रूप दिलाना, (३) वार्षिक वित्त वितरण अर्थात् बजट तैयार करना, और (४) प्रत्येक मन्त्री व्यक्तिगत रूप से एक या अधिक विभागों का अध्यक्ष होता है। राज्यों में मंत्रिमण्डल के कार्य प्रायः वही हैं जो संघीय मन्त्रि-परिषद् के हैं, अतः उनका विस्तृत विवेचन यहाँ देना आवश्यक नहीं है।

मन्त्रिमण्डल का सामूहिक उत्तरदायित्व (Collective Responsibility)—राज्य की मन्त्रि-परिषद् सामूहिक रूप से राज्य की विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होती है अर्थात् मंत्रिमण्डल के प्रत्येक निर्णय को सभी मंत्रियों का समर्थन मिलना आवश्यक है। साथ ही यदि कभी किसी मंत्री के विरुद्ध निन्दा अथवा अविश्वास का प्रस्ताव ऐसे निर्णय अथवा नीति के बारे में पास हो जाये, जिसे सम्पूर्ण मंत्रिमण्डल ने स्वीकार किया हो तो सम्पूर्ण मन्त्रि-परिषद् को ही त्याग-पत्र देना होगा।

राज्यों के महाधिवक्ता—प्रत्येक राज्य में एक महाधिवक्ता की व्यवस्था भी है। राज्य के शासन में उसका स्थान संघ के महान्यायवादी के अनुरूप है। महाधिवक्ता की नियुक्ति गवर्नर करता है। इस पद पर नियुक्त होने वाले व्यक्ति में वे सभी योग्यतायें होनी आवश्यक हैं जो कि उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के लिये विहित हैं। वह राज्य सरकार को उन सभी कानूनी मामलों में परामर्श देता है और वे सभी कानूनी कार्य करता है जो कि उसे सौंपे जायें। उसे वे कार्य भी करने होते हैं जो कि उसे संविधान अथवा राज्य के अन्य कानूनों द्वारा सौंपे गये हों। वह अपने पद पर गवर्नर के प्रसाद पर्यन्त रहता है और उसे वही वेतन व भत्ते आदि मिलते हैं जो कि गवर्नर उसके लिये निर्धारित करे। उसे राज्य के सभी न्यायालयों में सुने जाने का अधिकार है। साथ ही वह राज्य विधान-मण्डल का सदस्य नहीं होगा।

३. राज्यों के विधान-मण्डल

प्रत्येक राज्य में एक विधान-मण्डल है और गवर्नर उसका आवश्यक अंग है। प्रत्येक राज्य में प्रत्यक्ष रूप से चुने हुए जनता के प्रतिनिधियों का एक सदन है, जिसे विधान-सभा कहते हैं। जिन राज्यों में दूसरा सदन है उसे 'विधान-परिषद्' कहते हैं। संसद को यह अधिकार प्राप्त है कि वह राज्यों में विधान-परिषद् की स्थापना अथवा उनका अन्त कर दे, यदि सम्बन्धित राज्य की विधान सभा उपस्थित व मतदान करने वाले सदस्यों के $\frac{2}{3}$ बहुमत से इस आशय का प्रस्ताव पास करे। संसद द्वारा इस प्रकार का पास किया हुआ कानून संविधान के सम्बन्धित प्रावधानों में संशोधन अवश्य करेगा, किन्तु उसे संशोधन रूप में न लिया जायेगा, अर्थात् ऐसे विधेयक को संसद में पास होने के लिये विशेष बहुमत की आवश्यकता नहीं है।

विधान सभाओं की रचना—आंग्ल-भारतीय समुदाय के नामजद सदस्यों को छोड़कर अन्य सभी सदस्यों का मतदाताओं द्वारा सीधा चुनाव होता है। चुनाव के लिये प्रत्येक राज्य को भौगोलिक आधार पर अनेक निर्वाचन क्षेत्रों में इस प्रकार

विभाजित किया जाता है कि ७५ हजार जनसंख्या को एक से अधिक प्रतिनिधि प्राप्त न हो। इस नियम का अपवाद केवल असम के स्वाधीन जिलों (Autonomous Districts) और शिलौंग की छावनी व म्युनिसिपैलटी के लिये है। संविधान में विधान सभाओं के सदस्यों की अधिकतम व निम्नतम सीमायें क्रमशः ५०० और ६०० रखी गई हैं। साथ ही यह उपबन्ध भी है कि प्रत्येक नई जनगणना के उपरान्त निर्वाचन-क्षेत्रों में संसद की इच्छानुसार जनसंख्या के आधार पर आवश्यक परिवर्तन किया जायेगा, परन्तु इसका प्रभाव तत्कालीन संसद के विघटन के पूर्व नहीं पड़ेगा। निम्न तालिका में विभिन्न राज्यों की विधान सभाओं के कुल निर्वाचित सदस्यों की वर्तमान (१९६७ की) संख्या दी गई है—

राज्य का नाम	कुल स्थान	राज्य का नाम	कुल स्थान
आन्ध्र	२ ७	हरयाना	८१
असम	१२६	पंजाब	१०४
बिहार	३१८	राजस्थान	१८४
गुजरात	१६८	उत्तर प्रदेश	४२५
मध्य प्रदेश	२९६	पं० बंगाल	२८०
मद्रास	२३४	केरल	१३३
महाराष्ट्र	२७०	उड़ीसा	१४०
मैसूर	२१६	जम्मू-कश्मीर	७५+२५[१]

सभी राज्यों में निर्वाचन-क्षेत्र एक प्रतिनिधि वाले है, किन्तु प्रारम्भ में अनुसूचित वर्गों और कबीलों के लिये जिन निर्वाचन-क्षेत्रों में आरक्षित स्थान थे, जिनसे दो-दो प्रतिनिधि चुने जाते थे। यह विशेष व्यवस्था-संविधान के प्रारम्भ से १० वर्ष की अवधि के लिये की गई थी, जिसे अब १० वर्ष आगे के लिये बढ़ा दिया गया है, किन्तु निर्वाचन-क्षेत्र अब एक सदस्य वाले ही है। विधान सभा के चुनाव के लिये व्यस्क मताधिकार और संयुक्त निर्वाचन-प्रणाली अपनाई गई है। इस प्रकार प्रत्येक साधारण मतदाता राज्य की विधान सभा तथा लोक सभा के प्रतिनिधियों के निर्वाचन में भाग लेता है। फलत. राज्यों की विधान सभाओं में भारतीय राष्ट्र के अनेक भावी नेता मूल्यवान प्रशिक्षण व अनुभव प्राप्त कर रहे है। उनमें से अधिकतर व्यक्ति पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त वर्ग से, जिसका अब तक देश के राजनीतिक जीवन पर प्रभुत्व (domination) रहा है, भिन्न प्रकार के राजनीतिक नेता है। जैसा कि देखा गया है, वे पाश्चात्य शिक्षा व संस्कृति से कम प्रभावित (less westernized) हैं, उनका सामाजिक व्यवहार कम चमक वाला है, अंग्रेजी बोलने

१ पाकिस्तान अधिकृत प्रदेश के लिए नियत स्थान।

व समझने मे उन्हे सुविधा नही है अथवा अपने राज्यों की सीमाओं से बाहर की दुनियाँ मे वे असुविधा अनुभव करते है, उन पर जातियों व स्थानीय हितो और परम्पराओ का अधिक प्रभाव है किन्तु यह सब कुछ होते हुये भी वे 'वास्तविक भारत' के अधिक सच्चे प्रतिनिधि है (more representative of the 'real India') ।[10]

विधान परिषदों की रचना—मौलिक सविधान के अनुसार किसी भी विधान परिषद् के सदस्यो की कुल सख्या उस राज्य की विधान सभा के कुल सदस्यो के ¼ से अधिक तथा ४० से कम नही हो सकती थी, किन्तु राज्यो के पुनर्गठन के बाद सविधान में सशोधन किया गया और यह अश कि ¼ से अधिक नही हो सकती निकाल दिया गया है, जिसके परिणामस्वरूप विधान-परिषदो के सदस्यो की सख्या बढा दी गई है। जहाँ तक सदस्यो की निम्नतम सीमा का सम्बन्ध है, जम्मू और कश्मीर की विधान परिषद् मे केवल ३६ सदस्य है। इसका कारण यह है कि उस राज्य मे अपना सविधान है, जिसके अनुसार वहाँ की विधान सभा और विधान परिषद् के सदस्यो की सख्या नियत हुई है। जब तक ससद कानून द्वारा कोई अन्य व्यवस्था न करे विधान परिषद् के सदस्यो का निर्वाचन निम्नलिखित ढग से होगा :

जहाँ तक हो सके ⅓ सदस्य राज्य की म्युनिसिपैलटियो, जिला बोर्डो और ससद के कानून द्वारा बताई गई स्थानीय शासन की अन्य संस्थाओं के सदस्यो द्वारा चुने जायेंगे। इसी प्रकार 1/12 सदस्य विभिन्न विश्वविद्यालयो के तीन वर्ष पुराने स्नातको (graduates) अथवा समान योग्यता वाले रजिस्टर्ड व्यक्तियो द्वारा चुने जायेंगे; (२) इसी प्रकार 1/12 सदस्य राज्य की उस सभी शिक्षा सस्थाओ के ३ वर्ष पुराने शिक्षको द्वारा चुने जायेंगे जो माध्यमिक स्कूल से नीचे न हो, (३) इसी प्रकार लगभग ⅓ सदस्य राज्य की विधान सभा के सदस्यो द्वारा चुने जायेंगे जो स्वय विधान सभा के सदस्य न होगे, और (४) शेष सदस्यो को राज्य का गवर्नर ऐसे व्यक्तियो मे से नामजद करेगा जिन्हे कि साहित्य, विज्ञान, कला, समाज सेवा और सहकारी आन्दोलन का विशेष ज्ञान अथवा व्यावहारिक अनुभव प्राप्त हो। प्रथम तीन श्रेणियों के सदस्यो का चुनाव ससद द्वारा निर्धारित भौगोलिक निर्वाचन-क्षेत्रो से किया जाता है। उनका निर्वाचन गुप्त मतदान और आनुपाती प्रतिनिधित्व की एकल संक्रमणीय मत-प्रणाली द्वारा होता है। चौथी श्रेणी के सदस्यों का चुनाव भी आनुपाती प्रतिनिधित्व की एकल सक्रमणीय मत-प्रणाली द्वारा होता है।

अगले पृष्ठ पर दी गई तालिका मे विभिन्न राज्यो की विधान परिषदो की रचना दिखाई गई है :

---

10 Palmer, N. D., *The Indian Political System*, p. 145.

राज्य का नाम	वि० सं० द्वारा निर्वाचित	गवर्नर द्वारा नामजद	स्था० संस्थाओं द्वारा निर्वाचित	शिक्षकों द्वारा निर्वाचित	स्नातकों द्वारा निर्वाचित	कुल संख्या
बिहार	३४	१२	३४	८	८	९६
पंजाब	१८	८	१७	४	४	५१
महाराष्ट्र	३०	१२	२१	७	८	७८
मद्रास	२१	९	२१	६	६	६३
आन्ध्र प्रदेश	३१	१२	३१	८	८	९०
उत्तर प्रदेश	३९	१२	३९	९	९	१०८
पं० बंगाल	२७	९	२७	६	६	७५
मैसूर	२१	९	२१	६	६	६३
मध्य प्रदेश	३१	१२	३१	८	८	९०
जम्मू-कश्मीर	२२	६	६	२	०	३६

दूसरे सदन की स्थापना के सम्बन्ध में कुछ विचार—दूसरे सदन के पक्ष में साधारणतया ये तर्क दिये जाते है—(१) यह विधि-निर्माण में जल्दबाजी पर एक रोक लगाता है; (२) इसके द्वारा अल्पसंख्यकों, विभिन्न पेशों व आर्थिक समूहों और वर्गों को प्रतिनिधित्व दिया जा सकता है तथा (३) सभी बड़े क्षेत्रों वाले राज्यों मे ऐसे सदन उपयोगी सिद्ध हुये है। इनके विरोध मे ये तर्क दिये जाते है—(१) साधारणतया इनकी रचना जनतन्त्रीय आधार पर नहीं होती; (२) कानून निर्माण में अकारण ही देर लगती है और अधिक व्यय होता है; और (३) फ्रेंच लेखक अबेसिये के अनुसार यदि वे निचले सदन से सहमत होते है तो दूसरा सदन व्यर्थ है, परन्तु यदि वे सहमत नही होते तो वे अप्रिय और शैतानी युक्त होते है। इन सैद्धांतिक कारणों के प्रकाश मे हमे राज्यो की विधानों परिषद् पर विचार करना चाहिये। प्रथम तो जिन राज्यो मे इनकी स्थापना की गई है वे क्षेत्र और जनसंख्या में अनेक स्वतन्त्र देशों से बड़े है। दूसरे, उनका रखना या न रखना पूर्णत जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियो की इच्छा पर आधारित है। तीसरे, उनकी रचना का आधार यथासम्भव जनतन्त्रीय सिद्धान्त है। अतएव उनकी स्थापना न्याय-संगत और जनमत के अनुकूल है।

सदस्यों की योग्यतायें—किसी भी अभ्यर्थी (candidate) को (१) भारत का नागरिक होना चाहिये। (२) उसे उच्च व निम्न सदनो के लिये क्रमशः कम से कम २५ और ३५ वर्ष की आयु का होना चाहिए और (३) उसमें संसद के कानून द्वारा विहित अन्य योग्यतायें भी होनी चाहियें अथवा कोई निर्योग्यता (disqualification) नही होनी चाहिये। (४) किसी भी राज्य के विधान-मण्डल का सदस्य उसी राज्य का ऐसा निवासी हो सकता है जिसका नाम मतदाताओं की सूची में

हो। कोई भी व्यक्ति एक ही समय मे दोनों सदनों अथवा राज्य के विधान-मण्डल व ससद का सदस्य नही हो सकता। कोई भी ऐसा व्यक्ति चुनाव मे भाग नही ले सकता जो कि मन्त्री पद आदि को छोडकर अन्य किसी लाभ के पद पर हो। प्रत्येक सदस्य को चुने जाने पर गवर्नर अथवा उसके द्वारा नियुक्त अधिकारी के सामने एक शपथ लेनी होती है। सदस्यो को वेतन और भत्ते आदि राज्य विधान-मण्डल के कानून के अनुसार मिलते है। सदस्यो को कुछ विशेषाधिकार (privileges) भी प्राप्त है, जिनमे भाषण की स्वतन्त्रता व विधान-मण्डल के सत्र के दौरान दीवानी कार्यवाही के फलस्वरूप बन्दी न बनाया जा सकना प्रमुख है।

विधान-मण्डल का संगठन—विधान सभा की अवधि ५ वर्ष है और इस अवधि के पूर्ण होने पर वह अपने आप विघटित हो जाती है। इस अवधि को ससद आपातकालीन घोषणा के दौरान एक बार में १ वर्ष के लिये बढ़ा सकती है, किन्तु ऐसी बढी हुई अवधि आपात की उद्घोषणा के समाप्त होने के उपरान्त ६ माह से अधिक नही हो सकती। विधान-परिषद् (राज्य सभा की तरह) एक स्थायी सदन होता है, किन्तु जहां तक हो सके इसके ⅓ सदस्य प्रति दो वर्ष मे सदस्यता से अलग हो जाते है।

विधान-मण्डल के अधिकारी—जिस प्रकार प्रत्येक विधान सभा अपने सदस्यो में से एक को अध्यक्ष और दूसरे को उपाध्यक्ष (Speaker and Deputy Speaker) चुनती, है उसी प्रकार विधान परिषद् एक सभापति और उप-सभापति चुनती है। उनके सामान्यतः कार्य और अधिकार वही है जो कि ससद के समानान्तर अधिकारियों के है। उनके पद की अन्य शर्तें भी लगभग वही है जो कि ससद के समानान्तर अधिकारियों की है। किन्तु राज्य सभा और विधान परिषद् के सभापति के चुनाव और पदच्युति में महत्वपूर्ण अन्तर है। विधान परिषद् का सभापति केवल उसके द्वारा ही चुना अथवा पद से हटाया जा सकता है, जबकि उप-राष्ट्रपति राज्य सभा का पदेन सभापति होता है। राज्य विधान-मण्डल के अधिकारियों के वेतन और भत्ते राज्य विधान मण्डल के कानूनो द्वारा निर्धारित होते है। विधान सभा और विधान-परिषद् के अध्यक्षो के अधिकारों मे महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि विधान सभा का 'स्पीकर' विवादग्रस्त विधेयकों के विषय मे यह निर्णय करता है कि विधेयक विशेष धन विधेयक है या नहीं। सदनों को साधारणतया वही विशेषाधिकार प्राप्त हैं जो ससद को है, जैसे सदन की कार्यवाही से बाहरी व्यक्तियो को निकालना, सदन व समितियों में हुये वाद-विवाद पर रिपोर्टों को प्रकाशित करने अथवा प्रकाशित न होने देने का अधिकार, सदन के भीतर कार्यवाही के विषय मे नियम बनाना, इत्यादि। सदस्यों को ससद के सदस्यो की भांति भाषण की स्वतन्त्रता आदि के विशेष अधिकार प्राप्त हैं।

कार्य संचालन (Conduct of business)—सदन की कार्यवाही के लिये गणपूर्ति (quorum) १० सदस्य या सदन के सदस्यो की कुल सख्या का $\frac{1}{10}$ में

जो भी अधिक हो, वही होती है। सदन में प्रत्येक निर्णय बहुमत द्वारा होता है, केवल उन विधेयकों को छोड़कर जिनके बारे में संविधान ने कोई अन्य व्यवस्था की हो। अध्यक्ष या सभापति प्रथम बार अपना मत नहीं देता, परन्तु किसी प्रश्न पर दोनों ओर समान मत आने की अवस्था में उसे निर्णायक मत (Casting Vote) देने का अधिकार है।

राज्य विधान मण्डल की शक्तियाँ

विधायी—यह उन सभी विषयों पर कानून बना सकती है जो राज्य तथा समवर्ती सूची में दिये गये हैं, परन्तु समवर्ती सूची के किसी भी विषय पर बना राज्य का कानून उस विषय पर संघ द्वारा कानून बनाने की दशा में उस सीमा तक अवैध हो जाता है जिस सीमा तक वह संघ के कानून के विरुद्ध (repugnant) हो अर्थात् विरोध की दशा में मान्यता संघ के कानून को मिलती है। इसके अतिरिक्त राज्य विधान-मण्डल की विधायी शक्तियों पर निम्नलिखित सीमायें भी हैं :

(१) आपातकालीन उद्घोषणा के दौरान संसद राज्य की सूची के सभी विषयों पर कानून बना सकती है; (२) राज्य सभा में यदि राज्य सूची के किसी विषय के बारे में ⅔ के बहुमत से यह प्रस्ताव पास हो जाये कि राष्ट्रीय हित में संसद को उस विषय पर कानून बनाना चाहिये तो संसद ऐसा कर सकती है, (३) गवर्नर के लिये अग्रलिखित से सम्बन्धित विधेयकों को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिये रोक रखना आवश्यक है—(अ) जो विधेयक सम्पत्ति अर्जित करने के बारे में हों, संसद के कानून द्वारा जीवन के लिए जो आवश्यक वस्तुयें घोषित की गई हों उनकी खरीद और बिक्री पर कर लगाने वाला विधेयक, (आ) समवर्ती सूची के किसी ऐसे विषय से सम्बन्धित विधेयक जिस पर कि संघ का कानून पहले से हो। (४) कुछ विधेयकों पर राज्य विधान-मण्डल में पेश होने के पूर्व राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक है तथा वे विधेयक जो सार्वजनिक हित में राज्य की सीमा में होने वाले व्यवसाय और आगमन पर रोक या प्रतिबन्ध लगावें। (५) राष्ट्रपति यह उद्घोषणा कर सकता है कि राज्य विशेष में संवैधानिक शासन विफल हो गया है, जिसके फलस्वरूप राज्य विधान-मण्डल के सब अधिकार संसद को प्राप्त हो जाते हैं।

वित्त पर नियन्त्रण—विधान-मण्डल, मुख्यतः विधान सभा को राज्य के वित्त पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त है। यह जनतन्त्रात्मक परम्परा व उत्तरदायित्व के सिद्धान्तों के अनुकूल है। राज्य का विधान-मण्डल ही सब कर सम्बन्धी प्रस्तावों को कानूनी रूप देता है, विधान सभा खर्चों की मांगों को स्वीकार करती है और विधान-मण्डल द्वारा विनियोग अधिनियम पास होने पर ही सरकार संचित निधि से व्यय के हेतु धन निकाल सकती है। वित्तीय क्षेत्र में विधान-मण्डल की शक्तियों पर कोई

सीमायें नहीं, सिवाय इसके कि कुछ खर्चे सचित निधि पर भारित होते है और उन पर मतदान नही होता।

अन्य कार्य—राज्यों में उत्तरदायी शासन होने के कारण मन्त्री समुदाय अपनी नीति और कार्यक्रम के लिये विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होता है। यदि विधान सभा के बहुमत से कोई निन्दा अविश्वास या काम रोको प्रस्ताव पास हो जाये तो मन्त्रि-समुदाय को पद-त्याग करना पड़ता है। मन्त्रियो को अपने विभागीय कार्यों के विषय मे पूछे गये प्रश्नो के उत्तर देने होते हैं। विरोधी सदस्य प्रशासन की कमियो की खुलकर आलोचना करते रहते है और मन्त्रियो को उनकी आलोचना का समुचित उत्तर देना होता है। राज्य की विधान सभा के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के चुनाव मे भाग लेते है। उन्हें सविधान के सशोधन करने वाले कुछ विशेष प्रकार के विधेयकों पर जिनका सम्बन्ध राज्यो की शक्तियों व अधिकारो मे परिवर्तन से हो, **सम्पुष्टिकरण (ratification)** की कार्यवाही मे भाग लेने का अधिकार है। सभी राज्यो मे विधान-मण्डल अपना कार्य अनेक स्थायी तथा प्रवर समितियो की सहायता से करते है। साधारणतया विधान सभाओ की समितियाँ लोक सभा की समितियो के समान हैं। अतएव यहाँ पर उनके विस्तृत विवेचन की आवश्यकता नही है। प्रत्येक विधान-मण्डल का अपना सचिवालय है, जिसमें विधान सभा तथा विधान परिषद् के अधिकारी व कर्मचारी पृथक्-पृथक् है। विभिन्न प्रकार के कार्यों के विषय मे विधान-मण्डलो की प्रक्रियायें अधिकाशतः संसद की प्रक्रियाओं के समान है।

विधायी प्रक्रिया—कोई भी विधेयक (सिवाय धन और वित्त विधेयक के) किसी भी सदन मे आरम्भ किया जा सकता है। कोई विधेयक तभी पास समझा जाता है, जबकि दोनो सदन उसे एक ही मौलिक अथवा सशोधित रूप मे स्वीकार करते है। दोनो सदनों के बीच मतभेद को दूर करने की व्यवस्था इस प्रकार है: जब कोई विधेयक विधान सभा पास करके विधान परिषद् को भेजे और परिषद् (अ) उसे अस्वीकार कर दे, (आ) या उसे परिषद् के सामने आने के उपरान्त तीन महीने बीत गये हो और वह पास न हुआ हो, (इ) या परिषद् उसे ऐसे सशोधन के साथ पास करे जिससे विधान सभा सहमत न हो तो विधान सभा उसे फिर से सशोधन सहित या रहित उसी सत्र अथवा आगामी सत्र में पास कर सकती है। दूसरी बार जब उस विधेयक को परिषद् के पास भेजा जाये और परिषद् (१) या तो उसे अस्वीकार कर दे, (२) या विधेयक को परिषद् के सामने आने के उपरान्त १ माह बीत जाये और वह पास न किया जाये, (३) या परिषद् उसे ऐसे सशोधन के साथ पास करे जिससे विधान सभा सहमत न हो तो वह विधेयक दोनो सदनो द्वारा उस रूप मे पास समझा जायेगा जिसमे कि विधान सभा ने उसे दूसरी बार पास करके भेजा था चाहे वह विधेयक का मौलिक रूप हो या सशोधित रूप।

इस प्रकार जब विधेयक विधान-मण्डल द्वारा पास हो जाता है तो उसे गवर्नर के पास उसकी अनुमति के लिये भेजा जाता है। गवर्नर उस पर अनुमति दे सकता है, या विशेष प्रकार का होने पर वह उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिये रोक सकता है, या अपने सुझाये संशोधनों सहित वह उसे विधान-मण्डल को पुनर्विचार के लिये लौटा सकता है या वह उस पर अनुमति न दे। किन्तु किसी भी ऐसे विधेयक को जिसे लौटाया गया हो या जिस पर अनुमति न मिली हो विधान-मण्डल दूसरी बार मौलिक अथवा संशोधित रूप में पास करके गवर्नर के पास भेजे तो उसे उस पर अनुमति देनी होती है। विधेयकों के व्यपगत (lapse) होने के बारे में संविधान में यह व्यवस्था है कि कोई विधेयक सदन अथवा सदनों के सत्रावसान पर व्यपगत नहीं होगा। ऐसे ही कोई विधेयक जो विधान परिषद् में लम्बित (pending) हो विधान सभा के विघटन पर व्यपगत नहीं होगा यदि विधान सभा ने उसे पास नहीं किया हो, किन्तु यदि कोई विधेयक विधान सभा में लम्बित है या जिसे विधान सभा ने पास कर दिया है किन्तु परिषद् में लम्बित है वह विधान सभा के विघटन पर व्यपगत हो जायेगा।

धन विधेयकों के विषय में भिन्न प्रक्रिया—संक्षेप में, यह प्रक्रिया वैसी है जैसी की संसद में। फिर भी इस सम्बन्ध में मुख्य बातें ये है—धन विधेयक को परिषद् में आरम्भ नहीं किया जा सकता, जब ऐसा विधेयक विधान सभा में पास हो जाता है तो उसे परिषद् में भेजा जाता है, जिसे विधेयक को १४ दिन के भीतर अपनी सिफारिशों सहित वापस भेजना होता है। इन सिफारिशों में से सभी या किसी को भी स्वीकार करना या न करना विधान सभा की इच्छा पर निर्भर करता है; परन्तु विधेयक को इसके बाद उस रूप में पास समझा जायगा जिसमें कि उसे विधान सभा अन्तिम रूप में स्वीकार करती है। यदि १४ दिन के भीतर विधेयक को परिषद् वापिस नहीं भेजे तो भी वह विधान सभा द्वारा स्वीकृत रूप में पास समझा जाता है। ऐसे विधेयक पर गवर्नर भी अपनी अनुमति अवश्य ही देता है।

वित्तीय प्रक्रिया—प्रतिवर्ष विधान-मण्डल के सामने वार्षिक वित्त विवरण, जिसमें उस वर्ष की आय और व्यय के अनुमान दिये होते है, रखा जाता है। व्यय के विवरण में पृथक् रूप से—(क) वे धन-राशियां दिखाई जाती है जो राज्य की संचित निधि पर भारित होती है और (ख) व्यय की अन्य रकमें। प्रथम श्रेणी में ये व्यय आते हैं—(१) गवर्नर की उपलब्धियां व भत्ते और उसके पद से सम्बन्धित अन्य व्यय, (२) विधान-मण्डल के सदन या सदनों के अध्यक्षों और उपाध्यक्षों के वेतन और भत्ते, (३) ऋण भार और उससे सम्बन्धित अन्य खर्चे, (४) उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन और भत्ते, (५) राष्ट्रपति द्वारा निर्धारित पुराने नरेशों की निजी थैली के लिये आवश्यक धन-राशि, (६) अन्य खर्च जो संविधान अथवा राज्य विधान-मण्डल के कानून द्वारा ऐसे घोषित किये जायें, इत्यादि। इन खर्चों पर मतदान नहीं हो सकता, किन्तु उन पर वाद-विवाद हो सकता है। अन्त

मे, सभी खर्चों को विधान सभा के सामने **अनुदानों की मांग** (Demand for Grant) के रूप मे रखा जाता है। विधान सभा उनमें से प्रत्येक माग को मतदान द्वारा स्वीकार करती है, या उसमें से कमी कर सकती है या उसे अस्वीकार कर सकती है, किन्तु वह किसी भी माग मे वृद्धि नही कर सकती।

जब सब मागे स्वीकृत हो जाती है तो उन सभी को एक विधेयक के रूप में फिर से विधान-मण्डल के सामने पेश किया जाता है। इस स्थिति में मांगों अथवा उनकी रकमो के सम्बन्ध मे कोई सशोधन पेश नही किया जा सकता है। यह विधेयक पास होने पर विनियोग अधिनियम (Appropriation Act) कहलाता है। सचित निधि से इसी की धाराओ के आधार पर व्यय के हेतु धन निकाला जाता है। आवश्यकतानुसार गवर्नर विधान-मण्डल के सामने पूरक वित्तीय विवरण पेश करवाता है और विधानसभा उसके फलस्वरूप अनुपूरक या अधिक अनुदान की माँगे स्वीकार करती है। राज्य की विधान सभा पेशगी अनुदान (Vote on account) भी दे सकती है। इन सभी मांगो के बारे में भी उपरोक्त प्रक्रिया का पालन किया जाना आवश्यक है। कर-सम्बन्धी सभी प्रस्तावों को एक वित्त विधेयक के रूप में पेश किया जाता है। **वित्त अधिनियम** (Finance Act) के पास होने पर सरकार नये कर लगाने अथवा वसूल करने का अधिकार पाती है। इन विधेयको को गवर्नर के पास अनुमति के लिए भेजा जाता है, किन्तु उन पर अनुमति अवश्य ही दी जाती है, क्योकि ये सभी उसकी सिफारिश पर ही विधान-मण्डल के सामने पेश किये जाते हैं।

साधारण प्रक्रिया—सविधान के प्राविधानो के अधीन विधान-मण्डल के सदन अपने-अपने कार्य सचालन तथा प्रक्रिया के नियम बनाते हैं। दो सदन वाले राज्य मे गवर्नर दोनो सदनो के अध्यक्ष के परामर्श से उनके बीच सचार सम्बन्धी नियम बनाता है। राज्य का विधान-मण्डल वित्तीय कार्य को समय के भीतर पूरा करने के प्रयोजन से सदन अथवा सदनों की प्रक्रिया व कार्य सचालन को कानून द्वारा नियमित कर सकता है और उसके प्राविधान, यदि वे किन्ही नियमों के विरुद्ध हो मान्य होते है। विधान-मण्डल मे कार्यवाही राजभाषा (हिन्दी और अंग्रेजी) या राज्य की भाषा में होती हैं। यदि कोई व्यक्ति इसमे से किसी भी भाषा में नही बोल सके तो उसे अध्यक्ष अपनी मातृभाषा में बोलने की आज्ञा दे सकता है।

—:o:—

अध्याय ६

जम्मू-कश्मीर, नागालैण्ड, संघीय क्षेत्र और असम के भीतर स्वायत्तपूर्ण राज्य

१. जम्मू-कश्मीर का शासन

विभाजन के उपरान्त कुछ असाधारण परिस्थितियों में रियासत के शासक, महाराजा हरिसिंह, ने जम्मू-कश्मीर की रियासत को भारतीय शासन अधिनियम की शर्तों के अन्तर्गत २७ अक्तूबर १६४७ को भारतीय संघ में प्रविष्ट किया।[1] इसी कारण भारत के संविधान में जम्मू-कश्मीर राज्य के लिये विशेष व्यवस्था की गई है, जैसा कि अनुच्छेद ३७० के विश्लेषण से स्पष्ट होगा। इस व्यवस्था से सम्बन्धित प्राविधान संविधान के भाग २१ में दिये गये हैं, जिसका शीर्षक "अस्थायी" संक्रमणकालीन और विशेष प्राविधान' (Temporary, Transitional and Special Provisions) है। यद्यपि आरम्भ में इस राज्य के बारे में संघ सरकार का अधिकार-क्षेत्र बहुत प्रतिबन्धित था, किन्तु क्रमिक रूप से उस राज्य का भारतीय संघ में अखिल भारतीय सेवाओं, सर्वोच्च न्यायालय, और निर्वाचन आयोग आदि के बारे में एकीकरण हो गया है।

इस राज्य का अपना संविधान है, जिसे वहाँ की निर्वाचित संविधान सभा ने बनाया। भारतीय संघ में जम्मू-कश्मीर ही अकेला राज्य एक अपवाद है, जिसे अपना संविधान बनाने का अधिकार मिला; परन्तु यह सब कुछ उन विशेष परिस्थितियों के कारण ही हुआ, जिनका वर्णन अध्याय २० में किया गया है। राज्य का नव-निर्मित संविधान पूरी तरह से २६ जनवरी १६५७ को लागू हुआ। महाराजा हरिसिंह की मृत्यु के पश्चात् उनके पुत्र, युवराज करण सिंह, को भारत सरकार ने महाराजा के रूप में मान्यता प्रदान की। कुछ समय पूर्व तक राज्य का अध्यक्ष 'सदरे-रियासत' कहलाता था, यद्यपि उनका निर्वाचन राज्य का विधान मण्डल करता था और राज्य की मन्त्रि-परिषद् के परामर्श पर उसे भारत का

1 जम्मू-कश्मीर विवाद का संक्षिप्त वर्णन अध्याय २० में दिया गया है।

राष्ट्रपति मान्यता प्रदान करता था। सदरे-रियासत का पद अधिकार और शक्तियों की दृष्टि से अन्य राज्यों के गवर्नर के ही समान था। अब सदरे-रियासत के स्थान पर राज्य का अध्यक्ष गवर्नर ही कहलाने लगा है। राज्य की मन्त्रि-परिषद् का प्रमुख पहले प्रधानमन्त्री कहलाता था, किन्तु अब वह भी मुख्य मन्त्री कहलाता है। राज्य में दो सदन वाला विधान-मण्डल है—विधान-परिषद् में ३६ सदस्य हैं और विधान सभा में ७५, किन्तु विधान सभा में इन सदस्यों के अतिरिक्त पाकिस्तान अधिकृत कश्मीरी प्रदेश के लिये भी २५ सदस्यों की व्यवस्था है। राज्य के लोक-सभा में ६ प्रतिनिधि है, जिनका कुछ समय पूर्व तक राज्य की विधान सभा ही निर्वाचन करती थी और राष्ट्रपति उन्हीं को नामजद कर देता था। परन्तु अब उनका प्रत्यक्ष चुनाव होने लगा है। १९६७ के चुनाव में ६ स्थानों में से ५ कांग्रेस को और एक नेशनल कान्फ्रेंस को मिले। राज्य दो प्रांतों—जम्मू और कश्मीर, में बटा है और राज्य में केवल चार जिले हैं। राज्य का अपना झण्डा है, परन्तु भारत के राष्ट्रीय झण्डे को उचित मान प्राप्त है।

राज्य के संविधान में भारत के सविधान के अनुच्छेद ३६८ के अनुसार, जिस मे सविधान के सशोधन की प्रक्रिया दी गई है, सशोधन नही किया जा सकता। इस अनुच्छेद को जम्मू-कश्मीर राज्य को लागू करने में अग्रलिखित परन्तुक जोड़ दिया जायेगा, 'परन्तु यह और भी कि कोई ऐसा सशोधन जम्मू और कश्मीर राज्य के सम्बन्ध में तब तक प्रभावी न होगा जब तक कि वह अनुच्छेद ३७० की धारा (१) के अधीन राष्ट्रपति के आदेश द्वारा लागू न कर दिया जाय।' यहां यह भी उल्लेखनीय है कि भारत के सविधान के भाग ४ मे प्रगणित राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्त' जम्मू-और कश्मीर राज्य को लागू न होगे। राज्यो की विधान-सभाओ मे अनुसूचित आदिम जातियो के लिये रक्षित स्थानो सम्बन्धी अनुच्छेद ३२२ भी जम्मू और कश्मीर राज्य को लागू नही होगा।

अनुच्छेद २४६ के अन्तर्गत संसद को सघ-सूची में प्रगणित विषयो में से किसी के बारे मे विधि बनाने की अनन्य शक्ति प्राप्त है; परन्तु जम्मू और कश्मीर को लागू होने में इस अनुच्छेद के खण्ड १, २, व ३ में 'किसी बात के होते हुये भी' शब्द, कोष्ठक और अक तथा खण्ड २, ३ और ४ लुप्त कर दिय जायेगे। अवशिष्ट विधान शक्तियो से सम्बन्धित अनुच्छेद २४८ और राष्ट्रीय हित में राज्य-सूची मे सम्मिलित किसी विषय के बारे मे विधि बनाने की ससद की शक्ति से सम्बन्धित अनुच्छेद २४९ भी जम्मू और कश्मीर राज्यो को लागू न होंगे। यदि आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में हो तो राज्य सूची मे सम्मिलित विषयो के बारे मे विधि बनाने की ससद की शक्ति से सम्बन्धित अनुच्छेद २५० में 'राज्य सूची में प्रगणित विषयो मे से किसी के बारे में' शब्दो के स्थान पर 'सघ-सूची मे प्रगणित न किये गए विषयो के बारे मे भी शब्द जम्मू और कश्मीर को लागू होने में रख दिये

जायेंगे। कुछ इसी प्रकार के अपवाद अनुच्छेद २६१, २५३ २५४, २५५, २५६ और २६१ बारे में भी है।

जम्मू और कश्मीर राज्य के सम्बन्ध में अस्थायी उपबन्ध-अनुच्छेद ३७०[2]— (१) इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी—

(क) अनुच्छेद २३८ के उपबन्ध जम्मू और कश्मीर राज्य के सम्बन्ध में लागू न होंगे;

(ख) उक्त राज्य के सम्बन्ध में विधि बनाने की संसद की शक्ति—

(१) संघ-सूची और समवर्ती सूची में के जिन विषयों को राज्य की सरकार से परामर्श करके राष्ट्रपति उन विषयों को तत्सस्थानी विषय घोषित कर दे जो भारत डोमिनियन में उस राज्य को शामिल करने वाली प्रवेश-लिखित में उल्लिखित ऐसे विषय है जिनके बारे में डोमीनियन विधान-मण्डल विधि बना सकता है उन विषयों तक, तथा

(२) उक्त सूचियों में के जिन अन्य विषयों को उस राज्य की सरकार की सहमति से राष्ट्रपति आदेश द्वारा उल्लिखित करे उन विषयों तक सीमित होगी। व्याख्या—इस अनुच्छेद के प्रयोजनों के लिये राज्य की सरकार से अभिप्रेत है वह व्यक्ति जिसे राष्ट्रपति १९४८ की मार्च के पांचवे दिन निकाली गई महाराजा की उद्घोषणा के अधीन तत्समय पदस्थ मन्त्रि-परिषद् की मन्त्रणा के अनुसार कार्य करने वाला जम्मू और कश्मीर का महाराजा तत्समय अभिज्ञात करता है,

(ग) अनुच्छेद १ के और इस अनुच्छेद के उपबन्ध उस राज्य के सम्बन्ध में लागू न होंगे।

(घ) इस संविधान के उपबन्धों में से ऐसे अन्य उपबन्ध ऐसे अपवादों और रूप भेदों के साथ उस राज्य के सम्बन्ध में लागू होंगे जैसे कि राष्ट्रपति[3] आदेश उल्लिखित करे;

परन्तु ऐसा कोई आदेश, जो उपखण्ड (क) की कडिका (२) में अथवा उस खण्ड के उपखण्ड (घ) के दूसरे परन्तुक में निर्दिष्ट सहमति, उस राज्य के लिये

---

2 इस अनुच्छेद द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए राष्ट्रपति ने जम्मू और कश्मीर राज्य की संविधान सभा की सिफारिश पर यह घोषणा की कि १७ नवम्बर, १९५२ से उक्त अनुच्छेद इस रूप भेद के साथ प्रवर्तनीय होगा कि उसके खण्ड (१) की व्याख्या के स्थान पर अग्रलिखित व्याख्या रख दी गई है, अर्थात् व्याख्या—इस अनुच्छेद के प्रयोजनों के लिये राज्य की सरकार से वह व्यक्ति अभिप्रेत है जो राज्य का तत्समय पदारूढ मन्त्रि-परिषद् की मन्त्रणा पर कार्य करने वाले जम्मू और कश्मीर के सदरे रियासत के रूप में राज्य की विधान-सभा की सिफारिश पर राष्ट्रपति द्वारा तत्समय अभिज्ञात है।'

(विधि मन्त्रालय आदेश संख्या सी. ओ. ४४ तारीख १५ नवम्बर १९५२)

3 विधि मन्त्रालय आदेश संख्या सी. ओ. ४८ ता० १४ मई १९५४ भारत सरकार के असाधारण गजट के साथ पृष्ठ ८२१ पर प्रकाशित संविधान (जम्मू और कश्मीर राज्य को लागू होना) आदेश १९५४ देखिये।

संविधान बनाने के प्रयोजन वाली संविधान सभा के बुलाये जाने से पहले दी जाय तो उसे ऐसी सभा के समक्ष ऐसे निश्चय के लिये रखा जायेगा जैसा कि वह उस पर ले। (३) इस अनुच्छेद के पूर्ववर्ती उपबन्धों में किसी बात के होते हुये भी राष्ट्रपति लोक-अधिसूचना द्वारा घोषित कर सकेगा कि यह अनुच्छेद ऐसी तारीख से प्रवर्तन हीन, अथवा ऐसे अपवादों और रूप-भेदों के सहित ही प्रवर्तन में होगा जैसे कि वह उल्लिखित करे; परन्तु ऐसी अधिसूचना को राष्ट्रपति द्वारा निकाले जाने से पहले खण्ड (२) में निर्दिष्ट उस राज्य की संविधान-सभा की सिफारिश आवश्यक होगी।

जम्मू और कश्मीर के बारे में जनसंघ की नीति—जनसंघ ने भारत में राज्य के प्रवेश के निर्णय का अर्थात् राज्य की संविधान सभा द्वारा किये गये सम्पुष्टीकरण का स्वागत किया। जम्मू और कश्मीर भारत का अविभाज्य भाग है और उसका भारत के साथ एक हो जाना स्थायी और वापिस न लौटने वाला निर्णय है। कश्मीर में किसी भी प्रकार के जनमत की बात करना तर्कहीन और अनावश्यक है। जनसंघ का यह मत है कि राज्य में पाकिस्तान का कोई कानूनी पद (locus standi) नहीं है। वह आक्रमणकर्ता है और उसके साथ ऐसा ही व्यवहार किया जाना चाहिये। युद्ध-बन्दी की रेखा के साथ-साथ राज्य का विभाजन करना कायरतापूर्ण और राष्ट्र-विरोधी है। जनसंघ जम्मू और कश्मीर के लिये पृथक् संविधान के विरुद्ध है, क्योंकि पृथकता और भारत व कश्मीर के बीच द्वैतता की भावना बनाये रखने से जम्मू और कश्मीर राज्य में विभाजनात्मक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलेगा।

२. नागालैंड

यह भारतीय संघ के अन्तर्गत १६वाँ राज्य बना, जिसकी शासन-पद्धति अन्य सभी राज्यों से भिन्न है। ऐसी स्थिति के लिये विशेष कारण हैं। इस राज्य में भारत की पूर्वी सीमा पर स्थित नागा पहाड़ियाँ व त्वेनसांग क्षेत्र सम्मिलित है, जो असम राज्य के ही अंग थे। इसका कुल क्षेत्रफल १६,४८८ वर्ग किलोमीटर है और जनसंख्या ४ लाख से भी कम है। राज्य की राजधानी कोहिमा (Kohima) है। कई वर्ष से यहाँ पर कुछ नागाओं ने एक पृथक् स्वतन्त्र राज्य की माँग की थी, जिसका नेता फिजो था और जो अब ब्रिटेन का नागरिक बन गया है। स्वतन्त्र राज्य की स्थापना के समर्थकों के विरुद्ध कड़ी कार्यवाही की गई और उन्होंने जंगलों में छुपकर अपनी शत्रुतापूर्ण गतिविधियाँ जारी रखी, किन्तु प्रदेश की अधिकांश जनता ने भारतीय संघ में रहकर ही स्वशासन प्राप्ति का मार्ग अपनाया। अगस्त १९५७ में नागा लोगों का एक बड़ा सम्मेलन (Naga People's Convention) हुआ, जिसमें विभिन्न नागा जन-जातियों के लगभग २,००० प्रतिनिधियों ने भाग लिया। परन्तु छुपकर कार्य करने वाले नागाओं ने उसमें भाग नहीं लिया। सम्मेलन में एक मसौदा समिति द्वारा तैयार किये गये एक प्रारूप संविधान (*Draft*

Constitution) को स्वीकार किया गया। उसका सार भारतीय संघ के अन्तर्गत एक पृथक् नागा राज्य की स्थापना था। उस प्रारूप संविधान के आधार पर नागा नेताओं और संघ सरकार के बीच सन् १९६० में वार्ता हुई जिसके परिणामस्वरूप भारत सरकार ने नागाओं के प्रदेश के लिये पृथक् राज्य की स्थापना की माँग स्वीकार कर ली। नये राज्य के लिये 'नागालैंड' नाम स्वीकार किया गया और उसकी रचना राष्ट्रपति द्वारा जारी किये गये नागालैंड क्षेत्रीय उपबन्धों (Territorial Provisions) विनियमों के अन्तर्गत ८ फरवरी १९६१ में हुई। उनके अन्तर्गत नागालैंड में एक अस्थायी नागालैंड परिषद् (Provisional Nagaland Council) को राज्य के शासन का कार्य सौंपा गया था। उन विनियमों के अन्तर्गत नागा जन-जातियों द्वारा निर्वाचित ४५ सदस्यों का एक अन्तरिम निकाय (Interim Body) स्थापित किया गया था। उनके अतिरिक्त गवर्नर को परामर्श देने के लिये ५ सदस्यों की एक कार्यकारिणी परिषद् भी नियुक्त की गई। असम का गवर्नर ही नागालैंड का गवर्नर था। कार्यकारिणी परिषद् गवर्नर को वित्त और सार्वजनिक व्यवस्था के मामलों को छोड़कर अन्य सभी मामलों के प्रशासन में परामर्श व सहायता देती थी। उसके अतिरिक्त प्रत्येक गाँव के लिये गाँव परिषद्, रेन्ज के लिये रेन्ज परिषद् और जन-जाति (tribe) के लिये जन-जाति परिषद् स्थापित की गई थी।

अगस्त १९६२ में प्रधानमन्त्री ने लोकसभा में नागालैंड राज्य विधेयक (The State of Nagaland Bill, 1962) और संविधान का १३वाँ संशोधन विधेयक प्रस्तुत किये। उन दोनों विधेयकों को पेश करते समय प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू, ने अपने भाषण में कहा था कि वे दोनों नागा जन-सम्मेलन और भारत सरकार के बीच सन् १९६० में हुये समझौते के परिणाम थे। १३वें संशोधन अधिनियम (Thirteenth Constitution Amendment Act, 1962) ने नागालैंड नाम के १६वें राज्य के लिये व्यवस्था की। इस संशोधन अधिनियम तथा नागालैंड राज्य अधिनियम ने नागाओं के लिये कुछ विशेष उपबन्धों की भी व्यवस्था की। उनके अनुसार, संविधान में किसी भी व्यवस्था के रहते हुये, नागाओं की धार्मिक व सामाजिक प्रथाओं, नागाओं के प्रथागत कानून व प्रक्रिया, नागरिक व दण्डात्मक न्याय के प्रशासन, जिसमें कि नागाओं के प्रथागत कानूनों के अनुसार निर्णय अन्तर्ग्रस्त हो, और भूमि व उसके साधनों के स्वामित्व व हस्तातरण आदि के बारे में भारतीय संसद का कोई भी कानून नागालैंड राज्य को तब तक लागू न होगा जब तक कि नागालैंड की विधान सभा प्रस्ताव पास करके ऐसा निर्णय न करे।

संशोधन अधिनियम ने गवर्नर के कुछ विशेष दायित्वों (Special Responsibilities) के लिये भी व्यवस्था की। जनवरी १९६४ में राज्य की विधान सभा के लिये चुनाव पूर्ण हुये और मुख्य-मन्त्री सहित एक ८ सदस्यों की

मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) का निर्माण हुआ। विधान सभा में अध्यक्ष सहित कुल ४२ सदस्य रहे। असम और नागालैंड के लिये एक ही गवर्नर है और एक ही उच्च न्यायालय तथा महाधिवक्ता (Advocate General) है। लोकसभा में नागालैंड का केवल एक ही प्रतिनिधि है, जिसका अब प्रत्यक्ष चुनाव होने लगा है। परन्तु नागालैंड के बहुत से कबीले अभी तक इस व्यवस्था से भी पूर्ण सन्तुष्ट नहीं हुये है और वे छुपकर अपनी सरकार व प्रशासन चला रहे हैं। उनके प्रतिनिधियों व भारत सरकार के बीच कई बार वार्ता हो चुकी है, परन्तु उसका अभी तक कोई सन्तोषजनक परिणाम नहीं निकला है। भारत सरकार व नागालैंड के छुपकर काम करने वाले कबीलों के बीच हिंसक कार्यवाहियों को रोकने तथा व्यवस्था बनाये रखने के हेतु बार-बार युद्ध-बन्दी की अवधि बढ़ाई जा रही है। भारत सरकार नागाओं को भारतीय संघ के अन्तर्गत किसी भी प्रकार का स्वायत्तपूर्ण राज्य देने के लिये तैयार है, किन्तु छुपकर काम करने वाले नागा नेता स्वतन्त्र और प्रभुत्व सम्पन्न राज्य की मांग कर रहे है। इन नेताओं ने पाकिस्तान तथा चीन से शस्त्रों व सैनिक प्रशिक्षण आदि की सहायता भी प्राप्त की है।

३. संघीय क्षेत्र

संवैधानिक उपबन्ध—संघीय राज्य-क्षेत्रों के बारे में वर्तमान संवैधानिक उपबन्धों को संविधान के **(सप्तम संशोधन)** अधिनियम, १९५६ धारा १७ द्वारा मूल शीर्षक 'प्रथम अनुसूची के भाग (ग) में के राज्य' के स्थान पर रखा गया। उनसे सम्बन्धित अनुच्छेद केवल ४ है—२३९ से २४२ तक जो भाग ८ में दिये गये है। संवैधानिक उपबन्ध निम्न प्रकार हैं—

२३९ **(१)** संसद की विधि द्वारा अन्यथा उपबन्धित अवस्था को छोड़कर, प्रत्येक संघीय क्षेत्र का प्रशासन राष्ट्रपति द्वारा किया जायेगा तथा वह इस बारे में उस मात्रा तक, जितनी की वह उचित समझे, अपने द्वारा ऐसे नाम से, जैसा कि वह उल्लिखित करे, नियुक्त किये जाने वाले प्रशासक के द्वारा कार्य करेगा।

(२) भाग ६ में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुये भी राष्ट्रपति किसी राज्य के राज्यपाल को किसी पार्श्वस्थ संघीय क्षेत्र का प्रशासक नियुक्त कर सकेगा और जहां कोई राज्यपाल इस प्रकार नियुक्त किया गया है वहां वह ऐसे प्रशासक के रूप में अपने कृत्यों को अपनी मन्त्रि-परिषद् से स्वतन्त्र रूपेण करेगा।

२४० (१) राष्ट्रपति (क) अण्डमान और निकोबार द्वीप, (ख) लक्कादीव, मिनिकोय और अमनिदीव द्वीप, (ग) दादरा और नगर हेवली, (घ) गोआ, डामन और ड्यू, और (च) पॉण्डिचेरी संघीय क्षेत्र की शान्ति, उन्नति और सुशासन के लिये विनिमय बना सकेगा।

परन्तु जब अनुच्छेद २३९ (क) के अन्तर्गत किसी निकाय की गोआ, डामन और ड्यू या पॉण्डिचेरी क्षेत्र के लिये विधान-मण्डल के रूप में रचना की जाय,

राष्ट्रपति उस क्षेत्र की शान्ति, उन्नति और सुशासन के लिये विधान-मण्डल की प्रथम बैठक के लिये नियत तारीख से कोई विनियम न बनायेगा।[4]

(२) इस प्रकार बना हुआ कोई विनियम संसद निर्मित किसी अधिनियम या किसी वर्तमान विधि का, जो उस संघीय क्षेत्र में उस समय लागू है, निरसन (repeal) या संशोधन कर सकेगा और राष्ट्रपति द्वारा प्रख्यापित होने पर उसका उस क्षेत्र में लागू संसद निर्मित अधिनियम जैसा ही बल और प्रभाव होगा।

२४१ (१) संसद विधि द्वारा संघीय क्षेत्र के लिये उच्च न्यायालय गठित कर सकेगी अथवा (ऐसे किसी क्षेत्र) में से किसी न्यायालय को इस संविधान के प्रयोजनों में से सब या किसी के लिये उच्च न्यायालय घोषित कर सकेगी।

(२) खण्ड (१) में निर्दिष्ट प्रत्येक उच्च न्यायालय के सम्बन्ध में भाग (६) के अध्याय (५) के उपबन्ध, ऐसे रूप भेदों और अपवादों के अधीन रहकर, जैसे कि संसद विधि द्वारा उपबन्धित करे, वैसे ही लागू होंगे जैसे कि वे इस संविधान के अनुच्छेद २१४ में निर्दिष्ट किसी उच्च न्यायालय के सम्बन्ध में लागू होते है।

(३) इस संविधान के उपबन्धों के, तथा इस संविधान के द्वारा या अधीन समुचित विधान-मण्डल को दी गई शक्तियों के आधार पर उस विधान-मण्डल द्वारा निर्मित किसी विधि के उपबन्धों के अधीन रहते हुये प्रत्येक उच्च न्यायालय, जो संविधान (सप्तम संशोधन) अधिनियम, १९५६ के प्रारम्भ से ठीक पहले किसी संघीय क्षेत्र के सम्बन्ध में क्षेत्राधिकार का प्रयोग करता था, ऐसे प्रारम्भ के पश्चात् उस क्षेत्र के सम्बन्ध में वैसे क्षेत्राधिकार का प्रयोग करता रहेगा।

(४) इस अनुच्छेद की कोई बात किसी राज्य के उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार को किसी संघीय क्षेत्र या उसके भाग पर विस्तृत करने या उससे अपवर्जित करने की (to extend or exclude) संसद की शक्ति का अल्पीकरण (derogate) नहीं करती।

२४२ (कोड़गू Coorg) संविधान (सप्तम संशोधन) अधिनियम, १९५६ धारा २९ और अनुसूची द्वारा निरसित (repealed) है।

संघीय क्षेत्रों का निर्माण व पुनर्निर्माण

संविधान के प्रारम्भ पर भारतीय संघ की इकाइयों में भाग 'स' में दस छोटे-छोटे राज्य ये थे—अजमेर, बिलासपुर, भोपाल, कुर्ग, दिल्ली, हिमाचल प्रदेश कच्छ, मनीपुर, त्रिपुरा और विंध्य प्रदेश। भाग 'द' में केवल बंगाल की खाड़ी में स्थित अण्डमान और निकोबार द्वीपसमूह थे। राज्य पुनर्गठन आयोग (States Reorganisation Commission) ने अपनी रिपोर्ट में विभिन्न बातों का ध्यान रखते हुए १६ राज्यों और ३ केन्द्र द्वारा अधिशासित क्षेत्रों (Centrally administered territories) की रचना के लिए सिफारिश की थी। तीन क्षेत्रों के

4 Inserted by sec 5 of the Constitution (Twentieth Amendment) Act, 1962.

नाम ये थे—दिल्ली, मनीपुर और अन्डमान व निकोबार द्वीप समूह। इस प्रकार भाग 'स' में सम्मिलित राज्यों को अन्य राज्यो मे मिला दिया गया, क्योकि वे इतने छोटे थे कि उनमे प्रजातन्त्रात्मक प्रयोग अत्यन्त खर्चीला सिद्ध होता।

आयोग ने पुनर्गठन योजना में संघ के अन्तर्गत केवल दो ही प्रकार की इकाइयो के लिए व्यवस्था की—(१) वे राज्य जो भारतीय सघ की प्राथमिक इकाइयाँ अथवा सघांतरित राज्य (Constituent States) कहलाये और जिन्हे सविधान द्वारा अपने-अपने राज्य-क्षेत्र मे स्वायत्ततापूर्ण शासन प्राप्त हुआ। (२) क्षेत्र (Territories), जिन्हे सामरिक महत्व का समझा गया या जिनका अन्य बातो का ध्यान रखते हुए किसी दूसरे राज्यो में मिलना इष्टकर न समझा गया, अतएव वे केन्द्र द्वारा अधिशासित इकाइयाँ रही। राज्यों के पुनर्गठन के बाद सघीय क्षेत्रों की गिनती मे वृद्धि हुई और इस समय उनकी सख्या दस है। उनके नाम व क्षेत्र और उनकी जनसख्या राजधानी व प्रमुख भाषा सम्बन्धी जानकारी निम्न तालिका मे दी गई है :

नाम क्षेत्र	क्षेत्र वर्ग मील में	१९६१ की जनसंख्या	राजधानी	भाषा
१. अन्डमान व निकोबार द्वीप	३,२१५	६३,४३८	पोर्ट ब्लेयर	बंगाली
२. दिल्ली	५७३	२,६४४,०५८	दिल्ली	हिन्दी, उर्दू पंजाबी
३. हिमाचल प्रदेश[५]	१०,८७९	१३,४८,९८२	शिमला	हिन्दी, पहाड़ी
४. लक्कादीव, मिनिकोय, और अमिनीदीव द्वीप	११	२४,१०८	कोजीकोडे	मलयालम
५. मनीपुर	८,६२८	७७८,३१८	इम्फाल	मनीपुरी
६. पॉन्डीचेरी	१८३	३१,६०,०००	पान्डीचेरी	तमिल और फांसीसी
७. त्रिपुरा	४,०३६	११,४१,४६२	अगरतला	बंगाली, त्रिपुरी
८. दादरा और नगर हवेली	४८९ किमी	५७,९६३	सिलवासा	गुजराती
९. गोआ, डामन और ड्यू	१,४२६	६,२६,६६७	पंजिम	पुर्तगाली और मराठी
१०. नेफा	३१,४३६		शिलांग	असमी
११. चंडीगढ़	११४'४८ किमी	१,१९,८८१	चंडीगढ़	हिन्दी, पंजाबी

५. हिमाचल प्रदेश के वर्तमान क्षेत्र और जनसंख्या की निश्चित जानकारी नहीं है। ये आँकड़े पंजाब के पुनर्गठन से पूर्व के हैं।

सन् १९६६ में पंजाब को पंजाब व हरयाना में पुनर्गठित किया गया और पंजाब के कुछ पहाड़ी क्षेत्रों को हिमाचल प्रदेश में मिलाया गया। क्षेत्र बट जाने के कारण हिमाचल प्रदेश वाले उसे संघान्तरित राज्य का पद दिये जाने की मांग कर रहे हैं।

४. संघीय क्षेत्रों की वर्तमान प्रशासन व्यवस्था

(अ) संघीय क्षेत्र जिनमें विधान सभायें व मन्त्रि-परिषदे नहीं हैं

दिल्ली —इसके प्रशासन का उत्तरदायित्व सीधा संघीय संसद पर है। इसका प्रशासन संघ सरकार के स्वराष्ट्र मंत्री (Home Minister) द्वारा किया जाता है। इस क्षेत्र का मुख्य प्रशासक चीफ कमिश्नर था। उसके अतिरिक्त एक परामर्शदात्री परिषद् थी, जो स्वराष्ट्र मन्त्री को परामर्श देती थी। सन् १९५७ के म्युनिसिपल कार्पोरेशन कानून के अनुसार सम्पूर्ण दिल्ली क्षेत्र—शहरी व ग्रामीण—के लिए (नई दिल्ली म्युनिसिपल कमेटी और दिल्ली छावनी को छोड़कर) एक निगम (Corporation) की स्थापना हुई है। निगम की स्थापना ७ अप्रैल १९५८ को हुई। इसे बम्बई निगम के नमूने पर बनाया गया है। इसमें ८० सदस्य और ६ एल्डरमैन सम्मिलित हैं। निगम के कर्त्तव्यों का क्षेत्र काफी विस्तृत है। उसमें ये विषय आते हैं—चिकित्सा और सार्वजनिक स्वास्थ्य, प्रारम्भिक और बेसिक शिक्षा, सड़कें, पानी की व्यवस्था, परिवहन, बिजली की व्यवस्था, अग्नि सेवायें इत्यादि। निगम का प्रमुख पदाधिकारी मेयर होता है जो प्रति वर्ष सदस्यों द्वारा चुना जाता है। निगम की एक स्थायी समिति (Standing Committee) तथा अन्य समितियाँ है। वैतनिक अधिकारियों में सबसे महत्वपूर्ण पद कमिश्नर का है। अन्य अधिकारियों में डिप्टी कमिश्नर, चीफ इंजीनियर, स्वास्थ्य अधिकारी, शिक्षा अधिकारी जनरल मैनेजर-परिवहन, इत्यादि हैं। निगम का केन्द्रीय कार्यालय बहुत अधिक बड़ा हो गया था और नागरिकों को उससे सम्पर्क रखने में कठिनाई होती थी, अतएव दिल्ली क्षेत्र को कई जोन में बाट दिया गया है और प्रत्येक क्षेत्र का कार्यालय अलग बना दिया गया है। दिल्ली के जन नेता वर्तमान प्रशासन व्यवस्था से पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं है। उन्होंने अन्य संघीय क्षेत्रों की भाँति दिल्ली के लिए भी विधान सभा और मन्त्रि-मण्डल की माँग की किन्तु उसे स्वीकार नहीं किया गया।

सन् १९६६ के दिल्ली प्रशासन अधिनियम (Delhi Administration Act, 1966) के अन्तर्गत दिल्ली क्षेत्र के लिए एक मेट्रोपॉलिटन कौन्सिल (Metropolitan Council) की रचना हुई है, उसमें कुल सदस्य ६१ है, जिनमें ५६ निर्वाचित हैं और ५ नामजद। इस कौंसिल को कुछ विधायी कार्य सौंपे गये हैं। उप-गवर्नर (Lt.-Governor) को उसके कार्यों में सहायता व परामर्श देने के लिये ४ कार्यकारी पार्षद (Executive Councillors) और उनका अध्यक्ष, मुख्य पार्षद भी नियुक्त हुए हैं। दिल्ली का अपना पृथक उच्च न्यायालय भी स्थापित हुआ है; परन्तु उसका अधिकार-क्षेत्र हिमाचल प्रदेश के संघीय क्षेत्र तक विस्तृत है।

अन्डमान व निकोबार द्वीप समूह—ये द्वीप बंगाल की खाड़ी में स्थित हैं और घने वनों से घिरे हैं। यहाँ के निवासी बहुत पिछड़े हैं और इनकी जनसंख्या भी बहुत कम है। सम्पूर्ण क्षेत्र का प्रशासन एक चीफ कमिश्नर के अधीन है। प्रशासन की राजधानी पोर्ट ब्लेयर है, जिसमें एक म्युनिसिपैलिटी है।

लक्कादिव, मिनीकोय आदि द्वीप समूह—ये अरब सागर में स्थित है। इनका कुल क्षेत्रफल और जनसख्या बहुत ही कम है। इनका प्रशासन एक संघ सरकार द्वारा नियुक्त प्रशासक करता है।

दादरा और नगरहवेली—ये दोनों छोटे क्षेत्र चारों ओर भारतीय सीमा से घिरे (enclaves) पुर्तगाल सरकार के अधीन प्रदेश थे, जिन्हें वहा के निवासियो ने गोआ के स्वतन्त्र होने से पूर्व ही स्वतन्त्र घोषित कर दिया था। इन क्षेत्रों को भारतीय सघ में ११ अगस्त १९६१ को वहाँ की जनता तथा वरिष्ठ पचायत की प्रार्थना पर एकीकृत कर दिया गया। अब उनका प्रशासन सघ सरकार द्वारा एक सघीय क्षेत्र के रूप मे होता है।

नेफा (North East Frontier Agency-NEFA) *का प्रशासन*—प्रशासन हेतु नेफा कमिश्नरियों मे बँटा है। कमिश्नरियों और उनके मुख्य स्थानो के नाम इस प्रकार है—(१) कामेंग सीमा कमिश्नरी-बोमडिला; (२) सुवन-सिरी सीमा कमिश्नरी-जायेरी; (३) सियाँग सीमा कमिश्नरी-आलोंग; (४) लोहित सीमा कमिश्नरी-तेजु; (५) तिराप सीमा कमिश्नरी-खोनसा। प्रत्येक कमिश्नरी का कार्यभारी एक राजनैतिक अधिकारी (Political Officer) है। उनके अतिरिक्त क्षेत्रो के लिए अतिरिक्त अधिकारी भी है और प्रत्येक कमिश्नरी उप-कमिश्नरियो मे विभाजित है। राजनैतिक अधिकारियो की सहायता के लिये चिकित्सा अधिकारी, कृषि अधिकारी, शिक्षा निरीक्षक आदि भी है।

चन्डीगढ़—पजाब के विभाजन के उपरान्त हरयाना राज्य बना और चन्डीगढ को भारत सरकार ने सघीय क्षेत्र बनाया। उसमें पजाब व हरयाना दोनो *की राजधानियाँ, अ०भा० मैडिकल इन्सटीटयूट तथा विश्वविद्यालय आदि स्थित है।* चन्डीगढ का लोकसभा मे एक प्रतिनिधि है।

(आ) विधान सभाओं वाले संघीय क्षेत्रों का प्रशासन

इस प्रकार के सघ सरकार के आधीन स्वशासन प्राप्त सघीय क्षेत्र मे है—(१) हिमाचल प्रदेश, (२) मनीपुर, (३) त्रिपुरा, (४) पॉन्डीचेरी, और (५) गोआ डामन-ड्यू। पहले तीन क्षेत्र तो भारतीय सघ मे पहले से ही सम्मिलित थे। इनके लिए सन् १९५६ में राज्यों के पुनर्गठन के बाद सघ की पार्लियामेंट द्वारा पारित एक कानून के अन्तर्गत एक-एक क्षेत्रीय परिषद् (Territorial Council) की स्थापना की गई थी। इन परिषदो, की स्थापना १९५७ में हुई थी। हिमाचल प्रदेश, मनीपुर व त्रिपुरा की परिषदो, के सदस्यों की सख्या क्रमशः ४१, ३० और ३० थी। इनकी शक्तियाँ अति सीमित, किन्तु स्थानीय शासन की सस्थाओं से काफी अधिक थी। गोआ, डामन-ड्यू पर १९६१ तक पुर्तगाल सरकार का शासन रहा। देश की स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से ही भारत सरकार ने इन क्षेत्रो को शान्तिपूर्वक ढंग से स्वतन्त्र कराने के सभी सम्भव प्रयत्न किये, किन्तु वे असफल रहे। विवश होकर भारत सरकार ने दिसम्बर १९६१ मे पुलिस कार्यवाही हेतु सेना को इन क्षेत्रो मे

घुसने का आदेश दिया। शीघ्र ही इन क्षेत्रों पर भारतीय सेना ने अधिकार कर लिया
और इनकी जनता ने इस पग का हार्दिक स्वागत किया। २० दिसम्बर १९६१ को
ही इन क्षेत्रों को भारतीय संघ में एकीकृत कर लिया गया। आरम्भ में वहाँ पर
सैनिक शासन रहा, बाद में साधारण नागरिक प्रशासन स्थापित हुआ, जिसका प्रमुख
एक लेफ्टिनेण्ट गवर्नर बनाया गया। पान्डीचेरी भारत के स्वतन्त्र हो जाने के बाद
तक फ्रांसीसी सरकार के अधीन रहा। फ्रांस की सरकार के साथ भारत सरकार
का एक समझौता हो जाने के बाद पान्डीचेरी और अन्य फ्रांसीसी बस्तियों का
प्रशासन १ नवम्बर १९५४ में स्वतन्त्र भारत सरकार ने सम्भाला। मई सन् १९५६
में इन बस्तियों को एक संधि द्वारा फ्रांस की सरकार ने भारत को सौंप दिया और
अब फ्रांसीसी पार्लियामेंट ने भी उस संधि की सम्पुष्टि कर दी। इनके प्रशासन
हेतु संघ सरकार ने एक चीफ कमिश्नर नियुक्त किया। उसको परामर्श व
सहायता देने के लिए ६ पार्षद (Councillors) थे और ४० निर्वाचित सदस्यों की
एक सभा भी थी।

संघीय क्षेत्रों में नई प्रजातन्त्रात्मक प्रशासन व्यवस्था—सितम्बर १९६२ में
भारत की संसद ने **१४वां संशोधन** पास किया। उसके बाद २१ फरवरी १९६३ को
स्वराष्ट्र मन्त्री ने लोकसभा में संघीय क्षेत्रों में विधान सभायें व मन्त्रि-मण्डल स्थापित
करने के उद्देश्य से एक विधेयक पेश किया। विधेयक पेश करते समय स्वराष्ट्र मन्त्री
ने कहा था कि नई प्रशासन व्यवस्था पूर्वकालीन भाग 'ग' के राज्यों से मिलती-जुलती
होगी। ४ मई को लोकसभा ने संघीय क्षेत्रों का विधेयक (Union Territories
Bill) पास कर दिया, जिसे बाद में राज्य-सभा ने भी पास किया और वह कानून
बन गया। स्वराष्ट्र मन्त्री ने २९ जून को यह घोषणा की कि संघीय क्षेत्रों में प्रथम
जुलाई से नई प्रशासन व्यवस्था लागू होगी। अतः प्रथम जुलाई १९६३ से हिमाचल
प्रदेश, मनीपुर और त्रिपुरा की क्षेत्रीय परिषदें, विधान सभाओं में परिणत हो गई
और ऐसे ही पॉन्डीचेरी की निर्वाचित सभा भी विधान सभा कहलाने लगी। हिमा-
चल प्रदेश और मनीपुर में से प्रत्येक क्षेत्र में ३-३ मन्त्रियों के मन्त्रि-मण्डल बने;
त्रिपुरा के मन्त्रि-मण्डल में २ मन्त्री और २ उपमन्त्री सम्मिलित किए गये और
प्रत्येक क्षेत्र के इन मन्त्रियों में से एक मन्त्री मुख्य मन्त्री बना। पॉन्डीचेरी के मन्त्रि-
मण्डल में मुख्य मन्त्री सहित ६ मन्त्री रखे गये (क्योंकि वहाँ पहले से ही ६ परा-
मर्शदाता थे)। पॉन्डीचेरी की विधान-सभा की अवधि अगस्त १९६४ तक बढ़ा
दी गई। अब गोआ-डामन-ड्यू में भी अन्य क्षेत्रों की भांति एक विधान-सभा
बन गई है। हिमाचल प्रदेश और इस क्षेत्र का सर्वोच्च अधिकारी लेफ्टिनेन्ट गवर्नर
कहलाता है।

इस सम्बन्ध में बने कानून के मुख्य उपबन्ध इस प्रकार है—(१) हिमाचल
प्रदेश, मनीपुर, त्रिपुरा, गोआ-डामन-ड्यू व पॉन्डीचेरी में से प्रत्येक क्षेत्र के लिए
एक विधान-सभा बनी है। प्रत्येक क्षेत्र की विधान-सभा में प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा

भरे जाने वाले स्थानों की कुल संख्या हिमाचल प्रदेश के लिये ४० और अन्य क्षेत्रों के लिये ३० है। (२) विधान-सभा की अवधि, यदि उसे पहले ही विघटित न कर दिया जाय, ५ वर्ष है। (३) यदि किसी विधान सभा द्वारा पारित किसी भी कानून का कोई भी प्राविधान पार्लियामेंट द्वारा बनाये गये किसी कानून से असगत (repugnant) हो तो पार्लियामेंट का बनाया हुआ कानून चाहे पहले बना हो या बाद मे, प्रभावी रहेगा और सघीय क्षेत्र की विधान सभा द्वारा बनाया गया कानून असंगति की सीमा तक अवैध हो जायेगा। (४) प्रत्येक क्षेत्र का प्रशासन प्रति वर्ष वित्तीय वर्ष के लिए वार्षिक वित्तीय विवरण विधान-सभा में रखवाता है, परन्तु उस पर राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति प्राप्त की जाती है। (५) किसी भी क्षेत्र की विधान-सभा सघ की एक या अधिक भाषाओं को क्षेत्र के सरकारी प्रयोजनों के लिए राजभाषा के रूप में अपना सकती है। (६) प्रत्येक क्षेत्र मे प्रशासक को उसके कार्यों में सहायता व परामर्श देने के लिए मन्त्रि-परिषद् है। (७) मनीपुर के सघीय क्षेत्र के लिए एक स्थायी समिति (Standing Committee) भी है, जिसमें इस समय उसके पहाड़ी निर्वाचन-क्षेत्रों के विधान सभा मे सभी प्रतिनिधि सम्मिलित है।

विभिन्न संघीय क्षेत्रों के प्रशासन की रूपरेखा निम्न तालिका मे दिखाई गई है—

क्षेत्र का नाम	सर्वोच्च अधिकारी	मन्त्रियों की संख्या	विधान सभा के सदस्यों की संख्या
गोआ-दामन-डयू	लेफ्टिनेन्ट गवर्नर	३	३०
हिमाचल प्रदेश	लेफ्टिनेन्ट गवर्नर	५ (उपमन्त्री ४)	६३
मनीपुर	प्रशासक	३ (उपमन्त्री २)	३२
पॉन्डीचेरी	लेफ्टिनेन्ट गवर्नर	४	३०
त्रिपुरा	मुख्य आयुक्त	२ (उपमन्त्री ३)	३०

५. असम के भीतर स्वायत्तपूर्ण राज्य

कई वर्षों से असम के कुछ पहाड़ी जिलों के प्रतिनिधि भारतीय सघ के भीतर एक पृथक राज्य की माग कर रहे थे। इस पेचीदा समस्या को हल करने के लिए असम के पुनर्गठन की योजना पर बहुत समय से विचार हो रहा था। ११ सितम्बर को भारत सरकार ने असम के भीतर एक स्वायत्तपूर्ण राज्य (Autonomous State within the State of Assam) गठित करने के निर्णय की घोषणा की, जिसमे आरम्भ में गारो, खासी और जोवाई (जैन्ता) पहाड़ियों को सम्मिलित किया जायेगा। मिकिर और उत्तरी काचर पहाड़ियो के स्वायत्तपूर्ण जिलों को बाद मे अपनी-अपनी जिला परिषदों, के २/३ के बहुमत से नये राज्य में सम्मिलित होने का विकल्प दिया गया है। इस योजना की मुख्य बातें निम्नलिखित है :

स्वायत्तपूर्ण राज्य की विधान सभा और एक मंत्रि-परिषद् होगी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत सामान्य हित के कुछ विषयों को छोड़कर, राज्य-सूची मे दिये

गये अन्य सभी विषयों को नये राज्य को हस्तान्तरित कर दिया जायेगा। असम के पहाडी क्षेत्रों का उन सहित जिन्हें स्वायत्तपूर्ण राज्य में गठित किया जा रहा है, असम की विधानसभा में वर्तमान की भांति प्रतिनिधित्व जारी रहेगा। असम मन्त्रि-मंडल के मन्त्रियों का चयन करते समय स्वायत्तपूर्ण राज्य के क्षेत्रों तथा अन्य पहाडी क्षेत्रों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व दिया जायेगा। स्वायत्तपूर्ण राज्य और अन्य पहाडी क्षेत्रों के असम विधानसभा में प्रतिनिधियों तथा कुछ अन्य सदस्यों से मिलकर एक स्थायी समिति (Standing Committee) बनेगी, जो सामान्य हित के विषयों के प्रशासन के बारे में असम सरकार को परामर्श देगी। इस योजना में एक ही गवर्नर, उच्च न्यायालय और लोकसेवा आयोग की व्यवस्था है। असम राज्य की विद्युत शक्ति बोर्ड का अधिकार-क्षेत्र स्वायत्तपूर्ण राज्य में जारी रहेगा। अखिल भारतीय सेवाओं और कुछ उच्चतर राजकीय सेवाओं के संयुक्त संवर्ग (Joint cadres) रहेंगे। असम और स्वायत्तपूर्ण दोनों ही राज्यों की राजधानी शिलोंग में रहेगी।

जिससे कि सम्पूर्ण उत्तर-पूर्वी प्रदेश की सुरक्षा और उसके विकास के लिए एकीकृत और समुचित पहुंच अपनाई जा सके, एक उत्तर-पूर्वी परिषद् (North-Western Council) की रचना की जायेगी। उसमें असम व नागालैंड का गवर्नर सभापति रहेगा, असम, नागालैण्ड और स्वायत्तपूर्ण राज्यों के मुख्य मंत्री, प्रत्येक राज्य का एक-एक अन्य मंत्री और प्रदेश में सम्मिलित संघीय क्षेत्रों के मुख्य मंत्री इसके सदस्य होंगे। परिषद् के निर्माण का उद्देश्य यह है कि अन्तर्राज्यीय संचार, सामान्य सिंचाई, शक्ति, बाढ़-नियन्त्रण परियोजनाओं और कृषि उत्पादन के लिए समन्वित योजनाओं, प्रादेशिक खाद्य, आत्म-निर्भरता और प्रदेश के सन्तुलित औद्योगिक विकास के प्रति एकीकृत और समन्वित पहुंच को अपनाया जा सके। यह प्रदेश के लिए सामान्य हित के अन्य मामलों पर भी विचार-विमर्श करेगी और उपयुक्त पगों का सुझाव देगी, जिनमें संस्थागत व्यवस्थायें भी सम्मिलित रहेंगी। परिषद् की सहायता के लिए एक समिति होगी, जो कि प्रदेश की सुरक्षा और सार्वजनिक व्यवस्था को उसके सामरिक महत्व की दृष्टि से प्रभावी रूप में समन्वित करेगी।

स्वायत्तपूर्ण राज्य को उन विषयों के बारे में कर लगाने की शक्ति भी प्राप्त रहेगी जो कि उसे सौंपे गये हैं, जिनमें भूमिकर, कृषि आयकर, आबकारी महसूल, खनिज अधिकारों पर कर, वस्तुओं और यात्रियों पर कर तथा मनोरंजन कर सम्मिलित रहेंगे। स्वायत्तपूर्ण राज्य की कार्यपालिका शक्ति उन विषयों तक विस्तृत रहेगी जो कि उसे सौंपे गये हैं और वह गवर्नर में निहित रहेगी। गवर्नर स्वायत्तपूर्ण राज्य की मंत्रि-परिषद् के परामर्श और सहायता के अनुसार कार्य करेगा।

———

अध्याय १०

संघ और राज्यों के बीच सम्बन्ध

भारत का सविधान सघात्मक है, किन्तु इसमें अनेक ऐसी विशेषताये भी है जिनके कारण इसे एकात्मक की ओर झुका हुआ बताया जा सकता है। चूंकि सविधान का रूप सघात्मक है, अतएव यह आवश्यक है कि सघ और राज्य सरकारो के अधिकार-क्षेत्र अलग-अलग हो तथा उनमे आपसी सम्बन्ध भी हो। यह सच है कि विभिन्न राज्य अपने-अपने क्षेत्र मे स्वाधीन है। फिर भी सम्पूर्ण देश मे शान्ति और सुरक्षा का उत्तरदायित्व अन्तिम रूप मे सघ सरकार पर ही है। सघ शासन की सफलता विभिन्न सरकारो के आपसी सहयोग पर निर्भर करती है।[1] सघ और राज्यो मे आपसी सम्बन्धो का मुख्यत. तीन शीर्षको के अन्तर्गत विवेचन किया जाएगा।

१. प्रशासनिक सम्बन्ध

यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि भारत के सविधान के अन्तर्गत आपातकालीन उद्घोषणा के दौरान भारतीय शासन का रूप एकात्मक जैसा ही हो जाएगा, परन्तु साधारण काल मे भी राज्यो के ऊपर सघ सरकार अपने नियत्रण का प्रयोग कर सके,इस प्रकार के तरीके (techniques) सविधान मे अपनायें गए है। श्री डी० डी० बसु के मतानुसार सघ सरकार राज्यो पर निम्नलिखित प्रकार से अपने नियन्त्रण का प्रयोग कर सकती है

(१) राज्य सरकारो को निदेश देना,

(२) सघीय कृत्यो को राज्य सरकारो को सौपना,

(३) अखिल भारतीय सेवायें, और

(४) आर्थिक सहायता देना।

निदेश देना—यह ढग सन् १९३५ के भारतीय शासन अधिनियम मे लिया गया है। इस प्रकार की व्यवस्था सयुक्त राज्य अमरीका के सविधान मे नही है। आपातकालीन अवस्था के अतिरिक्त सघ राज्य सरकारो को इन मामलो मे

1 "Any federal scheme involves the setting up of dual governments and division of powers. But the success and strength of the federal policy depends upon the maximum of co-operation and co-ordination between the governments." (D. D. Basu.)

है कि यह अनुच्छेद ३६५ के अन्तर्गत उस राज्य मे निदेशों का उचित पालन न किये जाने पर आपातकालीन उद्घोषणा लागू करके शासन को अपने हाथ मे ले सकता है ।

यदि किसी ऐसी नदी के पानी के उपयोग, वितरण या नियन्त्रण के बारे में जो कि एक से अधिक राज्यों की सीमा में बहती हो, कभी कोई विवाद उठे तो ऐसे विवादों का न्यायिक निर्णय (adjudication) कराने के लिए ससद कानून बना सकती है । यदि कभी भी राष्ट्रपति को ऐसा प्रतीत हो कि एक अन्तर्राज्य परिषद् (Inter-State Council) की स्थापना से सार्वजनिक हितों की पूर्ति होगी तो वह निम्नलिखित कार्यों को करने के लिए ऐसी परिषद् की स्थापना कर सकता है .

(१) राज्यों के बीच उत्पन्न होने वाले विवादों की जाँच करना और उनके बारे मे सलाह देना, (२) ऐसे विषयों की विवेचना अथवा छानबीन करना जिसमे एक से अधिक राज्यो का सामान्य हित हो, या (३) ऐसे ही किसी विषय के बारे में सिफारिश करना या नीति में अधिक अच्छा समन्वय लाना । जब कभी ऐसी परिषद् की स्थापना करना उचित समझा जायेगा राष्ट्रपति ही उसके सगठन और कर्तव्यों का निर्धारण करेगा । इस प्रकार की अन्तर्प्रान्तीय परिषद् के निर्माण की व्यवस्था सन् १९३५ के सविधान में भी थी ।

सविधान के अन्तर्गत ससद ने कानून द्वारा दो प्रमुख भारतीय सेवाये निर्मित हुई हैं—**भारतीय प्रशासन सेवा** (Indian Administrative Service) और **भारतीय पुलिस सेवा** (Indian Police Service) । इन सेवाओं के सदस्यों की भर्ती और उनकी सेवा की शर्तों पर पूर्ण नियन्त्रण ससद अर्थात् सघ सरकार का है । इन सेवाओ के अनेक अधिकारी सभी राज्यो में उच्च पदों पर रहते है और उनके द्वारा सघ सरकार उन राज्यो के प्रशासन पर काफी नियन्त्रण रखती है । सघ सरकार विभिन्न राज्यो को विभिन्न कार्यों या योजनाओ को पूरा करने के लिए आर्थिक सहायता (Grant-in-aid) भी देती है, फलस्वरूप वह इन कार्यों के करने के सम्बन्ध मे उन्हें आवश्यक निदेश व आदेश भी देती रहती है । अन्त में, राज्य पुनर्गठन के फलस्वरूप विभिन्न राज्यों को कुछ जोनल परिषदो (Zonal Councils) में रखा गया है ।

३. विधायी सम्बन्ध

विधायी सम्बन्धो को भली प्रकार से समझने के लिए हमें सर्वप्रथम शक्तियो के वितरण को जानना होगा । स० रा० अमरीका मे शक्तियों का वितरण अग्र-लिखित आधारो पर किया गया है—(१) कुछ प्राविधानों द्वारा सघ की शक्तियो का प्रगणन किया गया है; (२) कुछ प्राविधानो द्वारा सघ को कुछ कार्य करने की मनाही की गई है; (३) कुछ प्राविधानो द्वारा राज्यो को कुछ कार्य करने की मनाही की गई है; और (४) अवशिष्ट शक्तियो को राज्यों में निहित समझा गया

ment) पर कर, गाडियो, नावो व पशुओं पर कर, व्यापार कर राज्य में स्थित सभी न्यायालयो का अधिकार-क्षेत्र, स्टाम्प फीस इत्यादि, कुल संख्या ६८।

समवर्ती सूची—फौजदारी कानून और प्रक्रिया, राज्य की सुरक्षा मे सम्बन्धित कारणो पर निवारक निरोध (preventive detention), सार्वजनिक व्यवस्था बनाये रखना, जनता के जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओ और सेवाओ को चालू रखना विवाह और तलाक, ठेके और साझेदारी, दिवाला निकालना, दीवानी प्रक्रिया, पागलपन, जानवरो पर निर्दयता को रोकना, मजदूर सघ, आर्थिक और सामाजिक नियोजन, सामाजिक सुरक्षा और बीमा, मजदूरों का कल्याण, विस्थापितों को सहायता व पुनर्वास, जीवन सम्बन्धी आकडे इकट्ठे करना, दान और दान की संस्थायें कीमत पर नियन्त्रण, कारखाने, बिजली, समाचार-पत्र, पुस्तके और छापेखाने इत्यादि, कुल योग ४७।

विधायी शक्तियो का वितरण—ससद और राज्यो के विधान-मण्डल उपरोक्त सूचियो मे प्रगणित विषयो पर किस सीमा तक कानून बना सकते है इन बातो की विस्तृत विवेचना सम्बन्धित अध्यायो मे की जा चुकी है, फिर भी यहाँ उनका सक्षिप्त विवरण देना आवश्यक प्रतीत होता है। ससद को सम्पूर्ण देश के लिये साधारण काल मे सघ व समवर्ती सूची में दिये गये सभी विषयो पर कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है। आपातकाल में ससद सम्पूर्ण देश के लिये तीनो सूचियो के सभी विषयो पर कानून बना सकती है। स्वशासित राज्यो के लिये ससद आपातकाल को छोडकर अर्थात् साधारण काल मे केवल इन विशेष परिस्थितियो मे कानून बना सकती है—(१) जबकि राज्य सभा २/३ के बहुमत से यह प्रस्ताव पास करे कि राष्ट्रीय हित मे ससद को राज्य सूची के अमुक विषय पर कानून बनाना चाहिये। (२) जब एक से अधिक राज्यो के विधान-मण्डल प्रस्ताव पास करके ससद से यह प्रार्थना करें कि वह उनके लिये विषय-विशेष पर कानून बना दे।

यदि समवर्ती सूची के किसी विषय पर राज्य के विधान-मण्डल और ससद द्वारा बनाये गये कानून मे विरोध हो तो मान्यता ससद के कानून को मिलेगी। केवल ससद ही अवशिष्ट विषयो पर कानून बनाने की शक्ति रखती है। इसके अतिरिक्त ससद को यह शक्ति प्राप्त है कि वह देश अथवा किसी भाग के लिये कोई ऐसा कानून बनाये जो किसी सधि, समझौते या अभिसमय (convention) जो कि किसी विदेश या विदेशो के साथ किया गया हो या किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन, सघ आदि द्वारा जो निर्णय किया गया हो, उनको कार्य-रूप देने के लिये आवश्यक हो। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यदि किसी राज्य मे सवैधानिक शासन की विफलता के कारण आपातकालीन उद्घोषणा लागू की

जाये तो राज्य विधान-मण्डल के सभी कार्य या तो ससद स्वयं पूरा करती है या वह राष्ट्रपति को अथवा उसके द्वारा नियुक्त किसी अधिकारी को वे सब कार्य सौप सकती है। साथ ही कुछ विशेप प्रकार के विधेयको को राज्य विधान-मण्डल द्वारा पास हो जाने पर राज्य का गवर्नर राष्ट्रपति की अनुमति के लिये रोक सकता है तथा कुछ विशेप विधेयक राज्य के विधान-मण्डलो मे राष्ट्रपति की पूर्व सहमति पर ही पेश किये जा सकते है।

श्री के० सन्तानम के अनुसार कुछ ऐसे विषय हैं जो राज्य सूची में आते है, किन्तु जिन पर केन्द्र ने अधिकार कर लिया है। उदाहरण के लिये, अजायबघर राज्यीय मामलो में सम्मिलित है, किन्तु सविधान के प्रारम्भ से ही ये सस्थायें—राष्ट्रीय पुस्तकालय, भारतीय अजायबघर, इम्पीरियल वार म्युजिम, विक्टोरिया मेमोरियल और ऐसी ही सस्थाये जिन्हे सघ सरकार सहायता दे और राष्ट्रीय महत्व की सस्थायें घोषित करे, सघ सरकार के अधीन है और रहेगी। ऐसे ही शिक्षा और विश्वविद्यालय राज्यीय विषय है, किन्तु कई विश्वविद्यालय सघ सरकार के अधीन है। इसके अतिरिक्त दो विषय ऐसे है जिनके द्वारा सघ सरकार राज्यो पर अधिक नियन्त्रण रख सकेगी—प्रथम, चुनाव और दूसरा, लेखो की जाच। अन्य सघीय सविधानो के अन्तर्गत सघीय सस्थाओ के चुनावो को सघ सरकारें विनियमित करती है, किन्तु भारत मे राज्यो के चुनावो को भी ससद के नियन्त्रण के आधीन रखा गया है। इसी प्रकार राज्यो के लेखो की जांच-पड़ताल को भी केन्द्रीय विषय बनाया गया है।

३. वित्तीय सम्बन्ध

भारत के सविधान मे वित्तीय प्राविधान न्यूनाधिक सन् १६३५ मे भारतीय शासन अधिनियम जैसे ही है। आय के साधन सघ और राज्यो के बीच वितरित कर दिये गये है, किन्तु राज्यो को अपने आय स्रोतो से प्राप्त आय के अतिरिक्त सघ से द्वारा कुछ आरोपित करो की आय मे से भी भाग दिया जाता है। सघ की आय के प्रमुख स्रोत ये है—आयात-निर्यात कर, शराब व अफीम आदि नशीली वस्तुओ को छोड़कर देश मे बने तथा खाने वाले पदार्थों जैसे तम्बाकू कर (excise) महसूल, कारपोरेशन कर (tax on capital value of companies), कृषि भूमि को छोड़कर अचल सम्पत्ति पर कर (estate duty), आय-कर, रेलो, जहाजो व हवाई जहाजो द्वारा ले जाये जाने वाले माल व यात्रियो पर सीमा-कर (terminal tax), रेलों के किरायो और भाडो पर कर, स्टॉक एक्सचेन्जो व

2. "Lastly, there are two items which I would like to call 'control items' one is about elections...but here elections to the State legislatures also have been put under the control of Parliament. Similarly, audit even of States has become a central item."

Santhanam, K., *Union State Relations*, p. 19.

बाजारो में हुये भावी सौदो पर स्टाम्प महसूल के अतिरिक्त कर, एक्सचेन्ज बिलो, चैको, रुक्को, लदान बिलो, हुण्डियो, बीमा पॉलिसियों, हिस्सो के हस्तान्तरण इत्यादि पर स्टाम्प फीस, समाचार-पत्रो की बिक्री और खरीद तथा उनमे प्रकाशित विज्ञापनो पर कर।

• राज्यो के मुख्य आय स्रोत ये हैं—भूमि-कर, कृषि आय पर कर, नशीली वस्तुओं पर महसूल, बिजली की खपत पर कर, गाडियो, पेशो, व्यापारो आदि पर कर, मनोरजन कर, जुए और घुडदौड आदि पर कर स्टाम्प फीस, समाचार-पत्रों मे प्रकाशित विज्ञापनो को छोडकर अन्य विज्ञापनो पर कर, सड़को व आन्तरिक जल-मार्गों पर से जाने वाले माल व यात्रियो पर कर, पशुओं और नावो पर कर, मार्ग-कर (tolls), प्रति व्यक्ति-कर (capitation taxes), राज्य सरकारों के पूर्वोक्त पृथक् आय-स्रोतो के अतिरिक्त कुछ ऐसे कर है, जिन्हें सघ सरकार आरोपित और इकट्ठा (levy and collect) करती है जिससे कि उनके सम्बन्ध में एकरूपता बनी रहे परन्तु जिनकी पूरी आय राज्यो को दे दी जाती है। साथ ही कुछ ऐसे कर भी है जिन्हे सघ सरकार आरोपित तथा इकट्ठा करती है, परन्तु जिनसे होने वाली आय मे सघ व राज्य सरकारे दोनो ही भाग पाती हैं। इस प्रकार के करो का सक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है

(१) भारत सरकार सघ सूची मे वर्णित दवाइयो और शृंगार की वस्तुओं पर स्टाम्प व उत्पादन (excise) महसूल लगाती है, परन्तु उन्हें इकट्ठा राज्य सरकारें करती है। प्रतिवर्ष इनसे जो आय जिस राज्य द्वारा इकट्ठा की जाती है वह उसे मिल जाती है। (२) कुछ ऐसे कर तथा महसूल हैं जिन्हे सघ सरकार आरोपित और इकट्ठा करती है, परन्तु जिनकी कुल आय ससद के कानून के अन्तर्गत निर्धारित अनुपात के अनुसार विभिन्न सम्बन्धित राज्यो मे बाँट दी जाती है। इस श्रेणी मे ये कर व महसूल आते हैं—कृषि भूमि को छोडकर अन्य सम्पत्ति कर, उत्तराधिकार कर, अचल सम्पत्ति पर कर (estate duty), रेलो, जहाजों व हवाई जहाजो द्वारा ले जाये जाने वाले माल और यात्रियो पर सीमा-कर, रेलो के किरायो और भाडो पर कर, समाचार-पत्रो की खरीद और बिक्री तथा उनमे प्रकाशित विज्ञापनो पर कर, (३) कुछ ऐसे कर भी है जिन्हें सघ सरकार आरोपित तथा इकट्ठा करती है—जैसे आय कर, परन्तु जिसकी आय का एक बड़ा भाग वित्त-आयोग की सिफारिशो के आधार पर भारत सरकार विभिन्न राज्यो में एक निर्धारित प्रतिशत के अनुपात में बाँट देती है। गत वर्षों मे आय कर से होने वाली आय का आधा भाग विभिन्न राज्यो मे बाँटा जाता था, किन्तु प्रथम वित्त-आयोग ने उसका ५५ प्रतिशत राज्यो मे बाँटने की सिफारिश की, जिसे भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया। (४) वित्त-आयोग की सिफारिश के

अनुसार दियासलाई, तम्बाकू, वनस्पति पर उत्पादन करों (Union Excise) की कुल आय का ४० प्रतिशत विभिन्न राज्यों में बांटा जाता है। ये उन करो में आते है जिन्हें आरोपित और इकट्ठा भारत सरकार करती है, किन्तु उनका जितना भाग सघ सरकार उचित समझे राज्य सरकारों में संसद के कानून के अनुसार विभाजित कर देती है।

पटसन और उसके बने माल पर निर्यात कर के बदले में अनुदान (Grant in lieu of customs)—भारत की सचित निधि से असम, बंगाल, बिहार और उड़ीसा अर्थात् पटसन उत्पादन करने वाले राज्यो को निर्धारित ढंग के अनुसार पटसन और उसके बने माल पर निर्यात कर के बदले में अनुदान दिये जाते है।

संघ द्वारा कुछ राज्यों को दिये जाने वाले अन्य अनुदान आदि—संसद यह निर्धारित करती है कि भारत की संचित निधि से उन राज्यों को जिन्हें आर्थिक सहायता की आवश्यकता हो क्या अनुदान दिये जाये। ऐसे राज्यों को उन विकास योजनाओ की पूर्ति के लिए जिन्हे संघ सरकार ने अनुसूचित कबीलों के कल्याण, उनके प्रशासन स्तर को ऊँचा उठाने आदि के लिए स्वीकार किया हो। संघ सरकार उन योजनाओं पर होने वाले पूरे व्यय अथवा भाग को सम्बन्धित राज्यों को अनुदान रूप मे दे सकती है। ये अनुदान मूल व्यय (capital) अथवा प्रतिवर्ष होने वाले व्यय (recurring expenditure) के रूप में हो सकते है। असम के कबीले वाले प्रदेशों के प्रशासन के लिये भी विशेष अनुदान की व्यवस्था सविधान में की गई है। सविधान मे यह भी व्यवस्था है कि ससद में ऐसे विधेयक, जिनका प्रभाव उन करो पर पडता हो जिनकी आय में राज्यो का हित हो, राष्ट्रपति की सिफारिश के उपरान्त ही पेश किये जा सकते है। संघ और राज्य सरकारें अपने-अपने विधान-मण्डलों द्वारा समय-समय पर निर्धारित सीमाओं के अधीन अपनी-अपनी संचित निधियों की सुरक्षा (security) पर ऋण ले सकती है। सविधान में यह भी व्यवस्था है कि ससद द्वारा निर्धारित सीमाओं के अधीन सघ सरकार राज्यों को ऋण दे सकती है।

वित्त आयोग (Finance Commission)—संविधान के प्रारम्भ होने के २ वर्ष के भीतर और उसके बाद प्रति ५ वर्ष मे या उसके पूर्व ही जैसा राष्ट्रपति उचित समझे वित्त-आयोग की नियुक्ति की जाने की व्यवस्था है। वित्त-आयोग में एक सभापति और ४ सदस्य होते है, जिन्हें राष्ट्रपति नियुक्त करता है। वित्त-आयोग राष्ट्रपति से इन विषयों के सम्बन्ध मे सिफारिशें करता है—(१) किन करों या महसूलों को संघ और राज्यो के बीच अथवा केवल राज्यों के बीच ही बांटना है, (२) भारत की संचित निधि से विभिन्न राज्यों को दिये जाने वाले अनुदानों के सम्बन्ध मे सिद्धान्तों का निर्धारण, तथा (३) स्वस्थ वित्तीय पद्धति के हित मे राष्ट्रपति द्वारा जो मामले वित्त-आयोग को सौंपे जायंगे। वित्त-आयोग की

सिफारिशों को राष्ट्रपति अनिवार्यतः एक व्याख्यात्मक स्मृति-पत्र के साथ संसद के दोनों सदनों के सामने रखवाता है।

प्रथम वित्त-आयोग ने, जो सन् १९५१ में नियुक्त हुआ था, आय-कर से प्राप्त होने वाली धन-राशि में राज्यों का भाग ४० के स्थान पर ५५ प्रतिशत कर दिया था। दूसरे वित्त-आयोग ने राज्यों के भाग को ५५ से बढ़ाकर ६० प्रतिशत कर दिया। अनुच्छेद २७५ के अन्तर्गत संघ द्वारा राज्यों को दी जाने वाली राशि में भी वृद्धि की सिफारिश दूसरे वित्त-आयोग द्वारा की गई थी। **श्री के० सन्तानम** के अनुसार वित्तीय सम्बन्धों के बारे में दो बातें उल्लेखनीय हैं। प्रथम, राष्ट्रीय विकास परिषद् (National Development Council) के एक निर्णय द्वारा राज्यों ने स्वेच्छा से कपड़े, चीनी और तम्बाकू पर बिक्री-कर लगाने का अधिकार केन्द्र को प्रदान कर दिया है, जिसके बदले में संघ सरकार उन्हें अन्य प्रकार से धन देती है। दूसरे, कर जांच आयोग (Taxation Inquiry Commission) की सिफारिश के अनुसार संविधान में संशोधन किया गया है और अनुच्छेद २६९ के अन्तर्गत अन्तर्राज्य बिक्री-कर को भी जोड़ दिया गया है, अर्थात् इस प्रकार के कर केन्द्र द्वारा लगाये व एकत्रित किये जाते हैं, किन्तु उनसे होने वाली आय राज्यों में बाँट दी जाती है।[3]

वित्त-आयोग के कार्य का मुख्य गुण उसका निष्पक्ष और वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण है, जो संघात्मक पद्धति की वित्तीय व्यवस्था में स्थिरता लाने वाली शक्ति है। यह वित्त के वितरण से सम्बन्धित प्रश्नों को संघ व राज्यों के राजनीतिक दबावों और प्रवादों से ऊपर उठाता है। वास्तव में, आयोग तो संघ व राज्यों के बीच टक्कर-रोक का कार्य करता है, वित्त के भूखे राज्यों को संघ पर राजनीतिक दबाव डालने से रोकता है; और साथ ही राज्यों को उनकी आवश्यकता का ध्यान रखते हुए यथासम्भव अधिक से अधिक वित्त दिला देता है।[4]

संघ और राज्यों के वित्तीय क्षेत्र के पारस्परिक सम्बन्धों की उपर्युक्त विवेचना से हम इन निष्कर्षों पर पहुंचेंगे—प्रथम, वित्तीय व्यवस्था भारतीय संघ की अन्य व्यवस्थाओं से मेल खाती है, अर्थात् इस क्षेत्र में भी केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति है।

---

3 Ibid., *pp. 37–8.*

4 "The chief merit of the work of the commission lies in its impartial and objective outlook as a steadying force in the finances of the federal system and its ability to take the question of distribution of finances out of the works of federal-state political pressures and controversies. In fact, *the commission acts as a buffer between the Union and the States,* checking the clamorous, finance hungry States bent upon applying their political pressure on the Union, and; at the same time, making the latter give as much as possible to the needy states."

Pylee, M. V., *India's Constitution*, *pp. 322–23.*

यह पूर्णत: सत्य है, कि संघ सरकार की स्थिति वित्तीय दृष्टि से राज्य सरकारों की अपेक्षा कहीं अधिक सुदृढ़ता व स्थायित्व से पूर्ण है, और ऐसा होना देश के नियोजित विकास के लिए अति आवश्यक है।[5] दूसरे, भारत के संविधान निर्माताओं ने अन्य संघात्मक संविधानों के दोषों से बचने का प्रयत्न किया है। हमारे संविधान में उस सिद्धान्त का पालन नहीं हुआ है जिसके अनुसार सभी प्रत्यक्ष कर राज्यों और अप्रत्यक्ष-कर संघ को सौंपे जाने चाहियें। वास्तव में करों अर्थात् आय-स्रोतों का वितरण कुशल प्रशासन व उपयुक्तता पर आधारित है। अत: यह व्यवहारिक है। राज्यों को पर्याप्त साधन प्राप्त हो सकें, इसलिए संघ सरकार द्वारा उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान की जाने की व्यवस्था की गई है।

४. भारत का नियंत्रक व महालेखा परीक्षक

प्रजातन्त्र शासन प्रणाली में वित्त पर नियन्त्रण विधान-मण्डल का होता है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि राष्ट्रीय वित्त पर संसद और विभिन्न राज्यों के वित्त पर वहाँ के विधान-मण्डलों को पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त है अर्थात् अपने-अपने क्षेत्र में सम्बन्धित विधान-मण्डल को सभी करों को लगाने व इकट्ठा करने तथा संचित निधियों से व्यय के हेतु धन निकालने के अधिकार प्राप्त हैं। विधान-मण्डल जिन प्रयोजनों के लिए जितनी धन-राशि अनुदान के रूप में स्वीकार करते है वे धन-राशियाँ उन्हीं प्रयोजनों के लिए निर्धारित सीमाओं के अधीन व्यय की जाये यह देखना भी विधान-मण्डलों का अति महत्वपूर्ण कार्य और अधिकार है। अतएव यह आवश्यक है कि सरकारी आय और व्यय की समुचित रूप से जाँच-पड़ताल की जाय और उसके लिए आवश्यक संगठन की व्यवस्था भी हो। इसी हेतु संविधान में एक ऐसे स्वतन्त्र विभाग और उसके अधिकारियों की व्यवस्था की गई है जिससे कि उनके कार्य में सरकार हस्तक्षेप न करें तथा वे अपना कार्य निष्पक्षता व निडरतापूर्वक कर सकें। इस विभाग का उच्चतम अधिकारी नियन्त्रक महालेखा परीक्षक (Controller and Auditor General) कहलाता है।

नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक की नियुक्ति आदि—उसकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है और उसे उसी प्रक्रिया द्वारा पदच्युत किया जा सकता है जो कि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के लिए विहित है। अपना पद ग्रहण करने से पूर्व उसे एक विहित शपथ लेनी होती है। उसे संसद के कानून द्वारा नियत वेतन व भत्ते मिलते है। वर्तमान पदाधिकारी को ४,००० रु० मासिक वेतन मिलता है। उसकी सेवा, छुट्टी, पेंशन आदि की वही शर्तें है जो कि उसके पूर्वाधिकारी के लिए

5. Thus, the financial provisions of the constitution have on the whole avoided the pit falls of other federal constitutions.... Viewing the Union State relationships in the financial field as a whole, one finds that it is in harmony with the general nature of the Indian federalism, namely, the tendency for centralisation. The Union Government is financially stabler and stronger than the State Governments."

Ibid., pp 323-24.

थी। किसी भी ऐसे पदाधिकारी के कार्यकाल के दौरान उसके वेतन, भत्तों व सेवा की शर्तों मे कोई ऐसा परिवर्तन नही किया जा सकता जिसका प्रभाव उसके अहित मे हो। अपने पद से निवृत्त होने पर वह भारत अथवा राज्य सरकार के अन्तर्गत कोई अन्य पद नही पा सकता। संवैधानिक उपबन्धों व संसद के कानून के अधीन नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक के परामर्श से राष्ट्रपति उसकी प्रशासनिक शक्तियो तथा उस विभाग के अधीन कर्मचारियों की सेवा आदि की शर्तों को निर्धारित करता है। उसके सभी प्रशासनिक व्यय, वेतन व भत्ते आदि भारत की संचित निधि पर भारित है।

उसके कर्तव्य व शक्तियां—उसकी शक्तियों और कर्तव्यों को ससद ने कानून द्वारा निर्धारित किया है। सघ और राज्यो के हिसाव इस प्रकार से रखे जाते है जैसा कि नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक राष्ट्रपति की स्वीकृति से निर्धारित करे। नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदनो को राष्ट्रपति ससद के प्रत्येक सदन में रखवाता है। ऐसे ही प्रत्येक राज्य के हिसाव और जांच की रिपोर्ट सम्बन्धित राज्य के गवर्नर द्वारा राज्य विधान-मण्डल के सामने रखवाई जाती है। यह स्पष्ट है कि सम्पूर्ण देश के हिसावों की जाँच आदि के लिए संघ-द्वारा संगठित एक ही व्यवस्था है। इस सम्बन्ध मे सविधान के अनुच्छेदो १४८ से १५१ तक के पद अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उपरोक्त से विश्लेषण से यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक का सम्बन्ध में वह सर्वोच्च अधिकारी है। सघ व राज्य के लेखो के रखने व उसकी जांच के स्वतन्त्र है, क्योकि उसे ससद के दोनो सदनो मे $\frac{2}{3}$ के बहुमत द्वारा समर्थित प्रस्ताव से ही सिद्ध सदाचार अथवा अक्षमता के आधार पर पद से हटाया जा सकता है। साथ ही उसके द्वारा तैयार कराई गई लेखो की जांच रिपोर्टों को सम्बन्धित विधान-मण्डलो में विचार हेतु रखना कार्यपालिकाओ के लिये आवश्यक है। इस प्रकार वह अपने कर्तव्यो का पालन बिना भय और पक्षपात के कर सकता है। परन्तु जीवन बीमा निगम के लेखों को उसके अधिकार-क्षेत्र से बाहर रखा गया है। इंगलैंड मे भी उसके समान अधिकारी होता है, किन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से यदि वहां की ससद चाहे तो उसके पद का अन्त कर सकती है, ऐसा कभी किया जा सकेगा इसकी लेशमात्र भी सम्भावना नही। परन्तु भारत सरकार तो सविधान से बंधी है, अतएव उसके पद का केवल संविधान के संशोधन द्वारा ही अन्त किया जा सकता है।

५. संघ व राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों पर नियोजन का प्रभाव

आयोजना आयोग की रचना के पूर्व नियोजन कार्य अत्यन्त अल्प पैमाने पर किये जा रहे थे। यह कहना उचित है कि भारत में वास्तविक नियोजन का प्रारम्भ नियोजन आयोग की रचना के साथ हुआ। यद्यपि समवर्ती सूची मे 'सामाजिक और आर्थिक नियोजन' का विषय सम्मिलित है, नियोजन के सम्बन्ध मे ससद ने कोई कानून नही बनाया है। यथार्थ में नियोजन कार्य अभी तक कम या अधिक

रूप मे अनौपचारिक स्तर पर सचालित हो रहा है। यदि कोई राज्य यह कहे कि नियोजन आयोग सवैधानिक सस्था नही है, अतएव वह उसके निर्णयों को मानने के लिए बाध्य नही है, तो भारत सरकार उसे विवश नही कर सकती। भारत सरकार पचवर्षीय योजना (राज्यो की सहमति) से स्वीकार करती है और राज्यो को अनेक योजनाओ की पूर्ति के लिए आवश्यक आर्थिक सहायता देती है - इसी कारण राज्य नियोजन आयोग के निदेशो को स्वीकार करते हैं।

राज्यो का पूर्ण सहयोग प्राप्त करने के उद्देश्य से आयोजन आयोग ने एक राष्ट्रीय विकास परिषद् (National Development Council) की स्थापना का विचार किया। इस परिषद् के अस्तित्व का आधार कोई कानून अथवा सविधान नही है। श्री के० सतानम के अनुसार, सवैधानिक दृष्टि से, 'राष्ट्रीय विकास परिषद्' का स्थान सम्पूर्ण भारतीय सघ की एक सर्वोपरि-केबिनेट के समान है; यह एक ऐसी केबिनेट है जो भारत सरकार और राज्य सरकारो के लिए कार्य करती है।'[6] जहाँ तक योजनाओ को कार्य-रूप देने का प्रश्न है, विभिन्न राज्य उन्हें कार्यान्वित करते हैं, किन्तु सघ सरकार के विभिन्न मन्त्रालय राज्य सरकारो के समानान्तर मन्त्रालयो को विभिन्न प्रकार से प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिए भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय ने प्रारम्भिक शिक्षको के वेतन मे वृद्धि के लिए महत्वपूर्ण पहल किया। भारत सरकार के मन्त्रालय समय-समय पर सम्मेलन बुलाते है और उनके निर्णयो को कार्यान्वित कराने मे महत्वपूर्ण योग देते हैं। अतएव श्री के० सन्तानम के मतानुसार नियोजन ने भारत के सघात्मक रूप को समाप्त कर दिया है और हमारे देश का शासन अनेक बातो मे एकात्मक पद्धति के समान चल रहा है।'[7] यह सच है कि नियोजन ने भारतीय सघ के सघात्मक रूप को बहुत कुछ एकात्मक रूप दे दिया है, किन्तु हमारे विचार मे यह सर्वथा सत्य नही है कि राष्ट्रीय विकास परिषद् एक सर्वोपरि केबिनेट है और नियोजन के कारण सघात्मक रूप का अनेक बातो मे प्राय: अन्त हो गया है। सितम्बर १९६२ मे टी० टी० कृष्णमाचारी ने एक भाषण मे **'संघीय केन्द्र बनाम राज्य'** विषय पर बोलते हुए कहा था :

'जो शक्ति इस समय राष्ट्र ने अपने आन्तरिक प्रबन्ध व बाह्य समृद्धि के सम्बन्ध मे प्राप्त की है, वह सघीय शासन की शक्ति से उत्पन्न हुई है। इस बड़े परिणाम की प्राप्ति मे इस बात से इकार नही किया जा सकता कि केन्द्र व राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धो मे, कुछ राजनीतिक असन्तुलन (political imbalance) पैदा हुआ है। आयोजन आयोग ने

---

6 "The position of the National Development Council has come to approximate to that of a super-Cabinet of the entire India federation, a Cabinet functioning for the Goverment of India and Governments of all the states."
Santhanam K., *op. cit.*, p. 44.

7 "Planning has superseded the federation and our country is functioning almost like a unitary system in many respects."
Ibid., p. 55.

तो कुछ सीमा तक केन्द्र से राज्यों को ऋण व अनुदान आदि देने का कठिन कार्य अपने हाथ में ले लिया है। आयोजन आयोग द्वारा राज्यों के परामर्श से योजना बनाने की प्रक्रिया संघीय राज्य में एक विध्यात्मक तत्व (positive element) है, अस्तु मेरा मत है कि आयोजन आयोग केन्द्र की उस प्रधान शक्ति को जो वह राष्ट्र के साधनों के अन्तिम नियन्त्रण के रूप में रखता है कुछ कम करने अथवा उसके दोषों को दूर करने में सहायता करता है।'[8]

जिन लोगों को राज्य-स्वायत्तता (state autonomy) के पवित्र सिद्धान्त से भावनात्मक प्रेम है, वे राज्य-क्षेत्र में केन्द्रीय अधिकरणों द्वारा संघात्मक हस्तक्षेप को रोकना चाहेंगे; परन्तु उन्हें यह भी सोचना चाहिए कि ऐसा हस्तक्षेप कल्याण-कारी राज्य के ध्येयों को आगे बढाने में सहायक हुआ है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि सामुदायिक विकास (Community Development) के क्षेत्र में सम्पूर्ण देश में एक ऐसा प्रशासनतंत्र स्थापित हो सका है, जो कि कल्याणकारी राज्य के लिए आवश्यक है।' तथ्य तो यह है कि शासन के क्षेत्र में विस्तार एक सर्वव्यापी है।

ये 'बड़े शासन' (big government) के दिन हैं। संयुक्त राज्य अमरीका में, जो कि संघ का आदर्श नमूना है, हम देखते हैं कि १९३३ से प्रशासनिक केन्द्री-करण की दिशा में प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। उस देश में, प्रो० ब्हाइट के शब्दों में शक्ति वाशिंगटन की ओर काफी मात्रा में कूच कर रही है। हमारा यहाँ यह कहने का अभिप्राय नहीं है कि राज्यों को नगरपालिकाओं के पद पर गिरा देना चाहिए और उनके हाथों में कोई पहल न छोड़ा जाय, परन्तु विकास कार्यों को राष्ट्रीय पैमाने पर आगे बढ़ाने के लिए समन्वय और एकीकरण की बहुत आवश्यकता है, जिससे कि सीमित साधनों का अधिक से अधिक उपयोग किया जा सके।

६. जोनल परिषदें और अन्य परिवर्तन व परिणाम

इसके अतिरिक्त पुनर्गठित राज्यों और संघीय क्षेत्रों को ५ जोन में विभाजित करने तथा उनके लिये स्थायी जोनल परिषदें (Zonal Councils) स्थापित करने का भी इस विधेयक में प्रस्ताव था। राज्य पुनर्गठन अधिनियम १९५६ के अन्तर्गत निम्नलिखित जोन बने हैं : (१) उत्तरी जोन—पंजाब, राजस्थान, जम्मू और कश्मीर, दिल्ली तथा हिमाचल प्रदेश। (२) केन्द्रीय जोन—उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश। (३) पूर्वी जोन—बिहार, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा, असम, मनीपुर और

8 "I maintain, therefore, that the Planning Commission helps to mitigate and soften the undoubtedly dominant power that the Centre holds as ultimate controller that distributes the resources of the nation."

Indian Express, Sep. 9, 1962.

(४) पश्चिमी जोन—बम्बई और मैसूर । (५) दक्षिणी जोन—आन्ध्र, मद्रास केरल ।

जोनल परिषदों की रचना—प्रत्येक जोनल परिषद् में सदस्य इस प्रकार हैं: (१) राष्ट्रपति द्वारा नामजद कोई एक संघीय मंत्री साधारणतया गृहमंत्री, (२) प्रत्येक जोन में सम्मिलित प्रत्येक राज्य का मुख्य मंत्री और प्रत्येक ऐसे राज्य के गवर्नर द्वारा नामजद अन्य दो मंत्री, (३) जोन में सम्मिलित होने वाले [illegible] क्षेत्र का राष्ट्रपति द्वारा नामजद एक प्रतिनिधि और उसका [illegible] लेफ्टिनेन्ट गवर्नर तथा (४) पूर्वी जोन में जनजातीय क्षेत्रों का [illegible] द्वारा नामजद एक प्रतिनिधि। प्रत्येक परिषद् का एक [illegible] कि परिषद् द्वारा निर्धारित किसी शहर में स्थापित किया [illegible] परिषद् का सभापति उस परिषद् में संघ सरकार का प्रतिनिधि [illegible] इन परिषदों के सदस्यों के अतिरिक्त कुछ परामर्शदाता [illegible] (अ) नियोजन आयोग का एक सदस्य, (आ) जोन में सम्मिलित [illegible] और (इ) प्रत्येक ऐसे राज्य का विकास कमिश्नर अथवा [illegible] अन्य अधिकारी सम्मिलित हैं।

राज्य पुनर्गठन अधिनियम, १९५६ की धारा [illegible] निम्नलिखित हैं :

(१) प्रत्येक जोनल परिषद् एक परामर्शदात्री [illegible] किसी भी ऐसे मामले पर विचार कर सकेगी [illegible] कुछ या सभी राज्य या संघ व कोई राज्य [illegible] वह केन्द्रीय सरकार तथा सम्बन्धित राज्य [illegible] उचित कार्यवाही करने का परामर्श देगी। [illegible] विशेष रूप से इन विषयों पर विचार [illegible] (अ) आर्थिक और सामाजिक नियोजन [illegible] भी मामला जिसका सम्बन्ध राज्य [illegible] मामला जिसका सम्बन्ध राज्य पुनर्गठन [illegible] वाले किसी प्रश्न से हो। यदि [illegible] राज्यों व पड़ोसी जोन के बीच [illegible] अधिनियम के अन्तर्गत सम्बन्धित [illegible] हो सकेगी। इन बैठकों की [illegible] नियम और विनियम बनायेगी।

इन परिषदों की रचना के [illegible] क्षेत्रों के बीच और दूसरी ओर [illegible] में अधिक घनिष्ठ सहयोग के [illegible] सरकार के स्वराष्ट्र मंत्री को [illegible]

तथा सम्मेलनों की अपेक्षा अधिक जल्दी और आसानी से मामलों को निपटा सकती है।'[10]

७. भारतीय संघ का रूप

अधिकतर आलोचकों का यह प्रश्न अति महत्वपूर्ण है—**'क्या भारत का संविधान वास्तव में संघात्मक है?'** इसका उत्तर विभिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से दिया है। अतएव इस विषय की विस्तृत विवेचना की जानी आवश्यक प्रतीत होती है। सर्वप्रथम, प्रश्न यह उठता है कि संघ किसे कहते है? संघात्मक राज्य में एक साथ दो शासन पाये जाते हैं—सम्पूर्ण राज्य के लिए एक संघीय अथवा केन्द्रीय शासन और संघ की विभिन्न इकाइयों का अपने-अपने क्षेत्र में सीमित शासन। इसमें दोनों शासनों को अपनी शक्तियाँ एक लिखित और अपरिवर्तनशील संविधान से प्राप्त होती है और किसी एक की इच्छा से शक्तियों के वितरण मे परिवर्तन नही किया जा सकता। इस प्रकार संघीय तथा विभिन्न राज्य सरकारों का अपना स्वतंत्र व पृथक् अस्तित्व होता है। इसी बात को हम दूसरे शब्दों में कह सकते है कि उनका पृथक् कानूनी व्यक्तित्व होता है।

संसार के विभिन्न संघों मे शक्तियों का वितरण भिन्न-भिन्न प्रकार से है। कुछ मे केन्द्र को अधिक शक्तियाँ प्रदान की गई है तो कुछ में इकाई राज्यों की शक्तियाँ अधिक है। शक्ति वितरण कैसा भी हो राज्य का रूप संघात्मक ही रहता है, यदि एक शासन अपने अस्तित्व व उचित कार्य-संचालन के लिए दूसरे पर निर्भर नही करता। इस प्रकार विभिन्न विद्वान लेखकों के अनुसार संघात्मक शासन की तीन विशेषतायें होती हैं—(१) दोनों ही सरकारों का सम्बन्ध सीधे नागरिकों से होता है, इसी कारण कुछ संघ राज्यों मे दूहरी नागरिकता की व्यवस्था पाई जाती है; (२) किसी भी सरकार के संगठन मे कोई भी अंग दूसरी सरकार की इच्छा पर निर्भर नही रहना चाहिए, अर्थात् उनकी शक्तियों मे केवल दूसरी सरकार की इच्छा पर महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं होना चाहिए; और (३) संविधान को सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति के रूप में सर्वोपरि मानना आवश्यक है। अतः संविधान की धाराओं के अंतिम निर्वचन (interpretation) या संवैधानिक विवादों के अन्तिम निर्णय के हेतु ऐसे राज्य में एक स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायालय की स्थापना होनी आवश्यक है। यह न्यायालय वास्तव मे संविधान का संरक्षक (guardian) होता है, क्योंकि इसे विभिन्न सरकारों के किसी भी ऐसे कानून को जो संविधान की धाराओं के विरुद्ध हो, अवैध (unconstitutional) घोषित करने की शक्ति प्राप्त होती है।

उपरोक्त बातों को ध्यान मे रखकर हमे यह देखना है कि भारत के संविधान में संघात्मक लक्षण कहाँ तक विद्यमान हैं। विभिन्न लेखकों ने यह स्वीकार किया है कि भारत के संविधान में ये संघात्मक लक्षण मिलते हैं—(१) संघ सरकार तथा

10 Pylee. M. V., *Constitutional Government in India* p. 599.

राज्यों को स्वतन्त्र कानूनी पद और व्यक्तित्व प्राप्त है। प्रत्येक को अपने-अपने क्षेत्र में विधायी व कार्यपालिका शक्तियाँ प्राप्त है। संविधान मे शक्तियों का वितरण तीन सूचियो के अन्तर्गत किया गया है। (२) दोनों ही सरकारो का सम्बन्ध सीधे नागरिकों मे है और नागरिकों की निष्ठा दुहरी है, यद्यपि हमारे देश मे नागरिकता दुहरी नही वरन् इकहरी है। (३) संविधान द्वारा एक सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना हुई है। (४) संविधान में संशोधन की प्रक्रिया अपरिवर्तनशील है; क्योंकि कोई भी एक सरकार मनचाहा संशोधन, जिसका कि शक्तियो के वितरण पर प्रभाव पडता हो, नही कर सकती। इन लक्षणों के कारण यह स्वीकार किया गया है कि भारत के संविधान में संघात्मक संविधान की मुख्य विशेषतायें मिलती है, अतः यह संविधान संघात्मक है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि संविधान स्वरूप और भावना (form and spirit) दोनो में ही संघात्मक है, क्योंकि जहाँ तक भावना का सम्बन्ध है सामान्यतः भारत में शासन व्यवस्था संघात्मक ही रहेगी। परन्तु यह आक्षेप कि केन्द्र अत्यधिक दृढ है किस सीमा तक सत्य से पूर्ण है, यह देखने के लिये हमें संविधान के एकात्मक लक्षणों पर विचार करना होगा। निम्नलिखित बातों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि भारत का संविधान संघात्मक संविधान से न्यूनाधिक भिन्न है—

(१) संविधान में केवल इकहरी नागरिकता की व्यवस्था है, जबकि स० रा० अमरीका में दुहरी नागरिकता है। (२) इसमें स० रा० अमरीका की भाँति न्यायालय तथा अन्य प्रशासिक अभिकरण (agencies) दुहरे न होकर संघ और राज्यो के लिये एक दूसरे से गुंथे हुए (integrated) हैं, यथा न्यायालय, निर्वाचन आयोग, अखिल भारतीय सेवायें, नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक का विभाग, इत्यादि। (३) आपातकाल की उद्घोषणा के फलस्वरूप संविधान का स्वरूप एकात्मक ही हो जायेगा। (४) साधारण काल में भी संसद राज्य सूची के विषयों पर विशेष प्रक्रिया द्वारा कानून बना सकती है। अनुच्छेद २४९ के अनुसार यदि राज्य सभा ⅔ के बहुमत से यह प्रस्ताव पास करे कि राष्ट्रीय हित में संसद को राज्य सूची के किसी विषय पर कानून बनाना चाहिये तो संसद ऐसा कर सकेगी। (५) अनुच्छेद २५३ के अन्तर्गत संसद को यह शक्ति प्राप्त है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों व समझौतों को कार्यरूप में परिणित करने के लिये राज्य-सूची के विषय पर भी कानून बना सकती है। (६) भारत के संविधान में ही संघ और राज्यो के शासनों की व्यवस्था है, इसके विपरीत सं० रा० अमरीका व स्विट्जरलैण्ड के इकाई राज्यों के संविधान अलग-अलग हैं। (७) राज्यों के गवर्नरों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है और उन्हें साधारणतया आपातकाल मे संघीय कार्यपालिका के निर्देश व आदेशों का पालन करना होता है।

(८) अन्य संघात्मक राज्यों—सं० रा० अमरीका व स्विट्जरलैंड—में विभिन्न इकाइयों को संघीय विधान-मण्डल के दूसरे सदन में समान प्रतिनिधित्व प्राप्त है, किन्तु भारत के संविधान में उनके प्रतिनिधित्व के आधार भिन्न हैं।

(९) विभिन्न राज्यों की सीमाओं में अनुच्छेद २ व ३ के अन्तर्गत (राज्यों की इच्छा जानने के उपरान्त) संसद के कानून द्वारा परिवर्तन किये जा सकते हैं। अनुच्छेद १६९ के अनुसार संसद किसी राज्य में विधान-परिषद् की रचना अथवा उसका अन्त कर सकती है। (१०) कार्यपालिका क्षेत्र में स्पष्ट बताया गया है कि प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग इस प्रकार से किया जायेगा कि संघीय कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग में कोई बाधा न पड़े। संघ सरकार राष्ट्रीय अथवा सैनिक महत्व के संचार साधनों के निर्माण व सम्मान तथा राज्य में रेल-मार्गों की रक्षा आदि के लिये राज्य सरकारों को निदेश दे सकती है। यदि कोई राज्य इन निदेशों का पालन ठीक प्रकार से न करे तो राष्ट्रपति के लिये यह वैध होगा कि वह यह निश्चय कर ले कि राज्य विशेष का शासन संविधान के अनुसार नहीं हो सकता, अतः वह उस राज्य का प्रशासन आपातकालीन उद्घोषणा द्वारा अपने हाथ में ले सकता है। (११) वित्तीय क्षेत्र में कई प्रकार के कर और महसूल संघ सरकार द्वारा लगाये व वसूल किये जाते हैं, जिनकी आय का पूरा या अंश राज्य सरकारों को संसद के कानूनों के अनुसार दिया जाता है। वित्त आयोग इस सम्बन्ध में सिफारिश करता है और आयोग की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा ही की जाती है। (१२) विधायी क्षेत्र में अनुच्छेद २०० और २०१ के अनुसार कुछ विशिष्ट प्रकार के विधेयकों को गवर्नर द्वारा राष्ट्रपति की अनुमति के लिये रोका जाना आवश्यक है।

उपरोक्त विशेषताओं के कारण विभिन्न लेखकों ने भारत के संविधान के बारे में भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किये हैं, जिनमें से कुछ का उल्लेख यहां किया जाता है। जी० एन० जोशी के मतानुसार, 'संघ वस्तुतः एक संघात्मक राज्य नहीं वरन् अर्द्ध संघात्मक (quasi federal) राज्य है, जिसमें कई प्रति सारपूर्ण तत्व एकात्मकता के हैं। यद्यपि वह स्वरूप में संघात्मक है, वह अन्य संघात्मक संविधानों के विपरीत समय और परिस्थितियों की आवश्यकताओं के अनुसार एकात्मक और संघात्मक दोनों ही है।'[11] प्रो० व्हीयर के अनुसार संघात्मक राज्य की न्यूनतम आवश्यकता यह है कि स्वतः संघ और प्रादेशिक सरकारों के मध्य नियन्त्रण में कुछ विषय, चाहे वह एक ही हो, अवश्य होने चाहियें। चूंकि भारत का संविधान इस शर्त को पूर्णतया पूरी नहीं करता अतः वह इसे संघात्मक स्वीकार करने को

11 Joshi, G. N., *The Constitution of India*, p 34.

तैयार नहीं। परन्तु चूंकि साथ ही साथ इसमे कई महत्वपूर्ण संघात्मक विशेषतायें हैं, अतः वह भी इसे अर्द्ध संघात्मक (quasi federal) बताता है। प्रो० केनेडी का, जो संघात्मक संविधान की न्यूनतम आवश्यकताओं के बारे में अधिक उदार मत रखता है, कथन है : 'सिद्धान्तों को अलग करके वास्तव में जिन प्रश्नों का निर्णय होना चाहिए, ये हैं—क्या राष्ट्रीय और प्रांतीय सरकारों का आपसी सम्बन्ध प्रमुख और प्रतिनिधि (principal and delegate) जैसा है ? जिन शक्तियों का वे अपने क्षेत्रों में प्रयोग करती हैं, उनका वास्तविक और ठीक-ठीक क्या स्वरूप है ? यदि हम प्रो० केनेडी के मतानुसार भारत के संविधान पर विचार करें तो हमें उसे संघात्मक मानना पड़ेगा, क्योंकि राष्ट्रीय और राज्य सरकारों के बीच के सम्बन्ध प्रमुख और प्रतिनिधि जैसे नहीं है। दोनों को अपना-अपना पद और उनकी शक्तियाँ संविधान से प्राप्त हुई है।

डा० ए० के० घोषाल के इस मत में कि भारत के संविधान में संघात्मक सिद्धान्त का समावेश अति अल्प है, सत्य का बहुत अंश है। किन्तु यह कहना कि भारत के संविधान में राज्य सरकारों की स्थिति स्थानीय शासन की संस्थाओं जैसी है, निराधार है। एलेक्जेन्ड्रोविज के अनुसार भारतीय संघ किसी अन्य संघ के समान नहीं है, यद्यपि संघ की रचना ऊपर से की गई है, राज्य वास्तविक संसदात्मक शासन के अधिकारों का उपभोग करते है, केन्द्र अथवा उनके बीच शक्तियों का वितरण कैसा भी हो। यद्यपि केन्द्र में विरोधी पक्ष का निर्माण धीरे से हो रहा है तथापि राज्यों में कुछ तेजी से हुआ है। साथ ही जनता की मांग पर भाषायी राज्यों का निर्माण हुआ है। इन बातों के विकास का प्रभाव संघीय संतुलन पर राज्यों को सुदृढ़ बनाने वाला रहा है। अतएव भारत को अर्द्ध-संघात्मक राज्यों के वर्ग में रखना न्यायोचित नहीं है।[12] परन्तु सिद्धान्त और व्यवहार दोनों ही दृष्टियों से भारत का संविधान संघात्मक होने के साथ-साथ एकात्मक की ओर झुका हुआ मानना उपयुक्त होगा।

आगे प्रश्न यह उठता है, कि क्या अति सुदृढ़ केन्द्र भारत के हित में है ? अधिकतर विचारक और लेखक इस बात से सहमत है कि सुदृढ़ केन्द्र की व्यवस्था भारत के हित में है। आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों पर विचार करने में यह स्पष्ट होता है कि भारत की एकता अखण्ड रहनी चाहिये। एकता बनाये

---

12 "India is a case *suigeneris*. Though the federation was created *from above, the local States enjoy the rights of real parliamentary* government whatever the distribution of powers between them and the centre..... The impact of developments on the federal balance is such that it tends to *streng*then the position of local States *vis-a-vis* the centre, the more so as the pressure of linguistic communities called for redrawing the *federal map* of India. It hardly justifies the classification of India as a quasi-federation."

Alexandrowicz. C. H. *Constitutional Development in India*, pp. 159-170.

केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण के बीच का मार्ग है। सोलह राज्यों का अस्तित्व ही अत्यधिक केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति पर प्रतिबन्ध का कार्य कर रहा है।[3]

आपातकाल में राज्यों की स्थिति—आपातकालीन उपबन्धों का संक्षिप्त विवेचन राष्ट्रपति की शक्तियों के सम्बन्ध में अध्याय ६ में किया जा चुका है। सैद्धान्तिक दृष्टि से विश्लेषण करने पर, यह स्पष्ट है कि अनुच्छेद ३५२, ३५६ या ३६० के अन्तर्गत आपातकाल की उद्घोषणा संघवाद के सिद्धान्तों का प्रत्यक्ष रूप में न मानना है और राज्यों को संघ की सीधी अधीनता में रखा गया है। यह बात आपातकालीन उपबन्धों को लागू करने से और भी स्पष्ट हो जाती है। अब तक अनुच्छेद ३६० (वित्तीय आपात) के अन्तर्गत कोई कार्य नहीं किया गया है। अनुच्छेद ३५२ (वाह्य आक्रमण के खतरे से उत्पन्न आपात सम्बन्धी उपबन्ध) को सन् १९६२ में चीनी आक्रमण के समय लागू किया गया था, जो सन् १९६७ तक चला। अनुच्छेद ३५६ (राज्य में संवैधानिक तन्त्र के विफल होने की दशा में आपात सम्बन्धी उपबंध) को विभिन्न राज्यों में अनेक वार लागू किया जा चुका है। इस अनुच्छेद के अन्तर्गत राष्ट्रपति द्वारा आपात की उद्घोषणा किये जाने के बाद राज्य में राष्ट्रपति शासन स्थापित किया जाता है। चौथे आम चुनावों के बाद तो इस उपबन्ध का कई राज्यों में प्रयोग हुआ है। राष्ट्रपति शासन लागू करने के बारे में राजनीतिक नेताओं व दलों के मत भिन्न-भिन्न रहे हैं, विशेष रूप से इस कारण से कि संघ में एक दल का शासन है और राज्यों में दूसरे दलों की मिली-जुली सरकारें बनी।

चूंकि संघ में दलीय शासन है, अतः यह सोचा जाना स्वाभाविक है कि संघ सरकार इस उपबन्ध को लागू करने में पूर्णतया निष्पक्ष नीति का अनुसरण नहीं कर सकती। यह आशा की जाती है कि राष्ट्रपति संवैधानिक दृष्टि से तटस्थ और निष्पक्ष रहेगा, परन्तु उसका भी अवश्य ही राजनीतिक अतीत रहा है और उसका निर्वाचन भी दलीय समर्थन के आधार पर होता है। इन कारणों से, वह दलीय प्रभाव से पूर्णतया उन्मुक्त नहीं रह सकता। इस विषय में डा० डैश का निष्कर्ष अग्र प्रकार है—

3 "No doubt, economic and social planning has made Indian Central Government very strong, but it is exactly due to the federal character of the constitution that centralisation which in the logic of economic planning has not been able to reach its logical conclusion. Federalism is a check, a moderating influence over the tendency of centeralisation involved in economic planning. Federalism is working as a half-way house between execessive centralization and decentralization. The very existence of sixteen States with some powers of their acts as a restraining influence over excessive centralization, and often gives scope to variation in Plan implementation." (C. P. Bhambri.)

Haqqi, S. A. H (ed), *Union State Relations in India*, p. 174.

यद्यपि भारत का संविधान अपने संघात्मक उपबन्धों में निश्चित ही केन्द्रीकृत है। उसमें सम्मिलित आपातकालीन उपबन्ध और एकरूप राष्ट्रीय दलों के सन्दर्भ में उनका लागू किया जाना केन्द्रीकरण की मात्रा को अत्यधिक बढ़ाता है। यह बात स्वयं में अनिष्ट-सूचक नहीं है, क्योंकि आधुनिक काल में सभी संघ न्यूनाधिक केन्द्रीकृत हैं। वास्तविक खतरा इस प्रश्न के उत्तर में है—क्या इसका प्रयोग दलगत लाभ के लिए किया जा सकता है? अन्य देशों में ऐसा हुआ है और उसके परिणाम घातक रहे हैं। जिन पर संविधान को क्रियात्मक रूप देने का भार है, उन्हें अपनी नीति और कार्यों में अपने राष्ट्र के भावी विकास का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए।[14]

चौथे आम चुनावों के बाद उत्पन्न स्थिति में संघ-राज्य सम्बन्ध—सन् १९६७ के आम चुनावों के पूर्व तक संघ तथा राज्यों में प्रायः एक ही दल कांग्रेस—की सरकारें रहीं। साधारणतया संघ व राज्य सरकारों के बीच गम्भीर मतभेद पैदा ही नहीं हुए। जब कभी कोई मतभेद पैदा भी हुआ, उसे कांग्रेसी नेता दूर करने में सफल हो जाते रहे। परन्तु सन् १९६७ के बाद स्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गया। संघ में कांग्रेस सरकार बनी रही और कई राज्यों में विरोधी दलों की एक दलीय तथा मिली-जुली सरकारें बनीं। कई राज्यों में गवर्नरों और मन्त्रि-परिषदों के दृष्टिकोणों में मतभेद पैदा हुए। गवर्नरों को मन्त्रि-मण्डल और विधान-मण्डल भी भंग करने पड़े और राष्ट्रपति शासन लागू हुआ। विरोधी दलों की राज्य सरकारों को, उदाहरण के लिए केरल सरकार को, यह शिकायत रही है कि संघ सरकार गैर-कांग्रेसी सरकारों के प्रति विभेद की नीति का अनुसरण कर रही है।

इस विषय में यह बात ध्यान देने की है कि हमारा संविधान इस पूर्व धारणा के आधार पर नहीं बना कि एक ही राजनीतिक दल केन्द्र व राज्यों में शासन करेगा। संविधान का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से पता लगता है कि उसमें केन्द्र व राज्यों के बीच शक्ति-वितरण के सम्बन्ध में विस्तारपूर्ण उपबन्ध किये गये हैं। समवर्ती सूची के विषयों के बारे में भी संघ व राज्यों के विधान-मण्डलों द्वारा निर्मित कानूनों में उचित समायोजन की व्यवस्था की गई है। इसका अर्थ यह है कि जब तक संघ व राज्य सरकारें अपने-अपने क्षेत्र में संवैधानिक उपबन्धों के अनुसार कार्य करेंगी, उनके बीच संघर्ष होने की सम्भावना कम से कम रहेगी। परन्तु यह कहा जा सकता है कि संवैधानिक उपबन्धों के बारे में मतभेद पैदा हो सकते हैं। गत वर्षों में मतभेदों को दूर करने के लिये कुछ प्रक्रियायें विकसित हुई

---

14 "Our conclusion is that even though the Constitution of India is professedly centralised in its federal provisions, the Emergency Provisions therein and their practical application in the context of monolithic national parties impart an overdose of centralism. This is not by itself ominous, for all federations in modern times are more or less centralised. The real danger lies in answer to the question, can it be used for party advantages." (S. C. Dash). *Ibid*, p. 73.

है, यथा जोनल परिषदें, मुख्य मन्त्रियों और केन्द्रीय मन्त्रियों के सम्मेलन और राज्य अधिकारियों की बैठकें। मतभेदों को दूर करने के लिये संवैधानिक उपबन्ध भी है, जैसे अन्तर्राज्य परिषद् (Inter-State Council) की स्थापना। संघ और राज्यों के बीच विवाद का निर्णय सर्वोच्च न्यायालय द्वारा भी कराया जा सकता है। आवश्यकता पड़ने पर राष्ट्रपति किसी सार्वजनिक महत्व के प्रश्न से सम्बन्धित कानूनी या तथ्यगत बात के बारे में सर्वोच्च न्यायालय से कानूनी परामर्श मांग सकता है।

सविधान मे विधायी सूचियो को बहुत सोच-समझकर बनाया गया है। सविधान के क्रियात्मक रूप से अभी तक कोई ऐसा महत्वपूर्ण कारण पैदा नही हुआ है, जिसके कारण इन सूचियो में सशोधन की आवश्यकता पड़ी हो। जहां तक विभिन्न करो व महसूलों से प्राप्त आय के वितरण का प्रश्न है, इस कार्य को समय-समय पर नियुक्त किये गये वित्त आयोग (Finance Commission) पूर्ण न्याय और निष्पक्षता के साथ करते रहे है। वित्त आयोग एक संवैधानिक और अर्द्ध-न्यायिक निकाय है, जिसकी सिफारिशो को सघ सरकार स्वीकार करती रही है। ऐसा कोई कारण समझ में नहीं आता जिसके परिणामस्वरूप संघ व राज्यों के बीच उत्पन्न मतभेदो को सन्तोषप्रद ढंग से हल न किया जा सके। भारत के सविधान में सघवाद और केन्द्रीकरण के बीच सन्तुलन रखने का सुन्दर प्रयास किया गया है। राष्ट्रीय एकता, सुरक्षा और नियोजित आर्थिक विकास की मांग है कि भारतीय सघ का झुकाव केन्द्र के पक्ष में रहे, जैसा कि है।

—:o:—

अध्याय ११

भारतीय न्यायपालिका

१. न्यायपालिका की विशेषतायें

भारत की न्यायपालिका की सबसे अधिक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि "संघात्मक संविधान के होते हुये भी भारत में सभी न्यायालय, सर्वोच्च से लेकर निम्नतम न्यायालय तक एक ही पद्धति में संघटित (गुंथे हुये) है।"[1] जैसा कि सर्व-विदित है संयुक्त राज्य अमरीका में न्यायपालिका के दो पृथक अंग हैं अर्थात् वहाँ पर न्यायालयों की दूहरी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत संघीय कानूनों और राज्यों के कानूनों के उल्लघन से उत्पन्न होने वाले मुकदमों के लिये संघीय न्यायालयों में चोटी पर एक सर्वोच्च न्यायालय है, उसके नीचे १० प्रादेशिक न्यायालय है और प्रत्येक ऐसे न्यायालय के नीचे लगभग ८–६ जिला न्यायालय है तथा प्रत्येक राज्य के अपने न्यायालय है। इसके विपरीत भारत में न्यायपालिका की चोटी पर सर्वोच्च न्यायालय है जिनके नीचे प्रत्येक राज्य में एक उच्च न्यायालय है और उसके नीचे अनेक जिला व अधीन न्यायालय है। इस प्रकार देश के सभी न्यायालय एक-दूसरे से विभिन्न स्तरों पर एक ही लड़ी के अंग है और सभी न्यायालयों को संघीय व राज्य विधान-मण्डलों के बनाये गये कानूनों के अनुसार न्याय-प्रशासन के अधिकार प्राप्त है।

भारतीय न्यायपालिका की दूसरी विशेषता यह है कि वर्तमान सर्वोच्च न्यायालय ने पूर्वकालीन संघीय न्यायालय का स्थान ले लिया है और अब वह वास्तव मे सर्वोच्च न्यायालय है, क्योंकि उससे आगे अपील की व्यवस्था नहीं है। राज्यों के

---

1 "One of the striking features of our judicial system is its single, unified and integrated character. Although...our constitution is quasi-federal, our system of courts is, generally speaking, hierarchically organized one upon another with the Supreme Court of India at its apex."

Banerjee, D. N. *Some Aspects of the Indian Constitution, p. 153.*

Also See : "While the political organization of the Indian Republic is primarily federal in character its judicial organization is purely unitary. In other words, the Indian Constitution does not recognize the duality of judicial machinery..."

Sen, D. K., *A Comparative Study of the Indian Constitution, pp. 275–76.*

उच्च न्यायालयो और अधीन न्यायालयों के सगठन और अधिकारों में भी कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नही हुये है। इसकी तीसरी विशेषता यह है कि न्यायपालिका को स्वतन्त्र और निष्पक्ष बनाये रखने के लिये संविधान में आवश्यक उपबन्धों की व्यवस्था की गई है। इस सम्बन्ध में मुख्य उपबन्ध निम्न प्रकार है:

(१) न्यायाधीशों की योग्यताओं के विषय में कठोर शर्तों को संविधान मे ही दिया गया है और उच्च न्यायालयों तथा सर्वोच्च न्यायालयो के न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध मे राष्ट्रपति को सम्बन्धित न्यायालयो के मुख्य न्यायाधिपतियो से परामर्श लेना आवश्यक बताया गया है; (२) न्यायाधीशो को प्रायः आजीवन कार्यकाल के लिये नियुक्त किया जाता है और उनके कार्यकाल में उनकी सेवा की शर्तों को उनके अहित में बदला नही जा सकता; (३) न्यायाधीशो के वेतन आदि उनके पदो के महत्व के अनुकूल रखे गये है; और (४) इन्हे सिद्ध कदाचार के आधार पर ही पद से हटाया जा सकता है।

भारतीय न्यायपालिका की **तीसरी विशेषता** यह है कि हमारे देश की न्याय-पद्धति ब्रिटेन से प्रभावित होने के कारण उससे मिलती-जुलती है। हमारे देश मे सभी व्यक्तियो के लिये एक ही प्रकार के कानून और न्यायालय हैं। इस दृष्टि से भारत मे 'विधि के शासन' (System of Rule of Law) की पद्धति को अपनाया गया है, जो फ्रांस की न्याय-पद्धति से भिन्न है। फ्रास में प्रशासन अधिकारियों के लिये पृथक् कानून और न्यायालय है और वहाँ प्रशासनिक कानून (Administrative Law) की पद्धति कायम है। भारतीय न्यायपालिका की **चौथी विशेषता** यह है कि हमारे देश मे प्रधानतः दो प्रकार के न्यायालय है—दीवानी और फौजदारी (civil and criminal)। इनके अतिरिक्त केवल भूमिकर सम्बन्धी मुकदमो के लिये माल के न्यायालय (Revenue Courts) है। अन्य देशो की तरह हमारे यहाँ विशेष न्यायालयों यथा सैनिक, तलाक, वसियत व नाविक सेना आदि का अभाव है। अन्त में, यद्यपि भारत के सविधान मे एक *निदेशक सिद्धान्त के अनुसार* न्यायपालिका का कार्यपालिका से पृथक्करण होना चाहिये, किन्तु नीचे के स्तरों पर अभी तक ऐसा नही हो पाया है, यद्यपि इस दिशा मे सभी राज्य प्रयत्नशील हैं।

२. सर्वोच्च न्यायालय

महत्व—राजशास्त्र के सभी विद्यार्थी यह जानते है कि सघात्मक संविधान मे एक सबसे ऊँचे, स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्यायालय का होना एक आधारभूत आवश्यकता है। सघात्मक सविधान मे संघ और इकाई राज्यो के बीच सविधान द्वारा शक्तियो का विभाजन किया जाता है। ऐसे राज्यो मे दो सरकारें अपने-अपने क्षेत्र में स्वाधीन होती है अर्थात् सविधान की धारा के अनुसार उनके बीच एक प्रकार की कानूनी सन्धि या सविदा (contract) होता है। यदि दोनो सरकारो के

बीच किसी प्रकार का अधिकार-क्षेत्र अथवा संविधान की धाराओं के निर्वचन के सम्बन्ध में कोई विवाद उठता है तो उसका निर्णय कोई स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्यायालय ही कर सकता है। एकात्मक संविधान वाले राज्य में ऐसी समस्या नहीं उठती, क्योंकि स्थानीय निकायों अथवा प्रादेशिक विधान-मण्डलों आदि को जो भी शक्तियाँ प्राप्त होती है वे सब केन्द्रीय सरकार द्वारा सौंपी हुई होती है, अतः वही उनमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन तथा मतभेदों का निर्णय भी कर सकती है। ऐसी ही व्यवस्था भारत में सन् १६३५ के शासन अधिनियम के आरम्भ तक थी।

भारत का सर्वोच्च न्यायालय संयुक्त राज्य अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय के समान ही उच्चतम संघीय न्यायालय (Highest Federal Court) है। यह एक अर्थ में संविधान का संरक्षक (guardian) है, क्योंकि इसका सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह है कि यह संघ अथवा राज्यों की सरकारों को संविधान का अतिक्रमण (violation) न करने दे।[2] सर्वोच्च न्यायालय को संविधान की धाराओं का अन्तिम निर्वचक (Ultimate interpreter of the Constitution) भी कह सकते है, क्योंकि इस सम्बन्ध मे इसके निर्णय अन्तिम होंगे। सर्वोच्च न्यायालय को भारत के सभी न्यायालयों के ऊपर अधीक्षण की सामान्य शक्तियाँ प्राप्त हैं। संविधान के उपबन्धों का ठीक से पालन हो, यह देखना भी सर्वोच्च न्यायालय का कर्त्तव्य है, और जहाँ आवश्यक हो यह उनकी व्याख्या भी कर सकता है।[3] उसे प्राथमिक अपीलीय और परामर्शदात्री तीनों ही प्रकार का अधिकार-क्षेत्र प्राप्त है।

सर्वोच्च न्यायालय की रचना व गठन—संयुक्त राज्य अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय में ९ न्यायाधीश होते है जिनकी नियुक्ति राष्ट्रपति सीनेट की सहमति से कर करता है। उनकी पद-निवृत्ति (retirement) की कोई आयु सीमा नही है, परन्तु कोई भी ऐसा न्यायाधीश जो लगातार १६ वर्ष तक पदासीन रह चुका हो ७० वर्ष की आयु पर अपने सक्रिय कर्त्तव्यों से छुट्टी पाने की प्रार्थना कर सकता है, किन्तु उसे वेतन जीवन भर मिलता रहता है। भारत के सर्वोच्च न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधिपति और जब तक संसद अधिक न्यायाधीशों के लिये व्यवस्था न करे ७ न्यायाधीश रहेंगे, अर्थात् संसद इस संख्या में वृद्धि कर सकती है। सन् १६६२

2 "This Court has no more important function than that which devolves upon it, the obligation to preserve inviolate the constitutional limitations upon the exercise of authority, Federal and State, to the end that each may continue to discharge harmoniously with the other, the duties entrusted to it by the constitution." (The Supreme Court of U. S. A.)

3 "As the court itself has pertinently observed, this court has general powers of judicial superintedence over all courts in India and it is the ultimate interpreter and guardian of the Constitution. It has a duty to see that its provisions are faithfully observed and, where necessary to expound them."

Sen, D. K., *op. cit*, p. 269.

के आरम्भ में मुख्य न्यायाधिपति के अतिरिक्त सर्वोच्च न्यायालय में १३ न्यायाधीशों और एक अस्थायी न्यायाधीश थे। सभी न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है। इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति सर्वोच्च तथा उच्च न्यायालयों के जिन न्यायाधीशों को उपयुक्त समझे उनसे परामर्श करता है, किन्तु मुख्य न्यायाधिपति को छोड़कर अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति के विषय में मुख्य न्यायाधिपति से परामर्श करना आवश्यक है। ये सभी न्यायाधीश ६५ वर्ष की आयु तक अपने पदों पर आसीन रहते हैं। इस न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त होने वाले व्यक्तियों में ये योग्यतायें होनी चाहिये—(१) वह भारत का नागरिक हो, (२) वह ५ वर्ष तक किसी उच्च न्यायालय का न्यायाधीश रह चुका हो या कम से कम १० वर्ष तक किसी एक या अधिक उच्च न्यायालयों में एडवोकेट रह चुका हो या राष्ट्रपति की सम्मति में वह कानूनशास्त्र अथवा न्यायशास्त्र का प्रख्यात विद्वान हो। मुख्य न्यायाधीश को ५,००० रु० तथा प्रत्येक अन्य न्यायाधीश को ४,००० रु० मासिक वेतन मिलता है। प्रत्येक न्यायाधीश को बिना किराये का सरकारी निवास-स्थान तथा भारत में यात्रा करने का न्यायोचित भत्ता भी मिलता है। प्रत्येक न्यायाधीश को पद-ग्रहण करने पर विहित शपथ लेनी होती है, जिनका आशय यह है कि वह भारत में संविधान के प्रति सच्ची निष्ठा रखेगा और वह अपने पद के कर्त्तव्य का बिना भय, पक्षपात, अनुराग व द्वेष भाव के वफादारी, श्रेष्ठ योग्यता व ज्ञान के अनुसार पालन करेगा।

पदच्युति (removal) के सम्बन्ध में संवैधानिक व्यवस्था इस प्रकार है—कोई भी न्यायाधीश त्याग-पत्र द्वारा पद त्याग कर सकता है। किसी भी न्यायाधीश को इस प्रकार से पदच्युत किया जा सकता है—सर्वोच्च (तथा उच्च) न्यायालय का कोई भी न्यायाधीश तब तक पदच्युत नहीं किया जायेगा जब तक कि राष्ट्रपति ऐसा आदेश न निकाले, किन्तु ऐसा आदेश राष्ट्रपति तभी देगा जबकि संसद का प्रत्येक सदन कुल संख्या के २/३ के बहुमत से यह पास करे कि अमुक न्यायाधीश को सिद्ध कदाचार (proved misconduct) या अयोग्यता के आधार पर हटाया जाये और इस उद्देश्य से राष्ट्रपति के पास सम्बोधन (Address) भेजा जाये। इससे यह स्पष्ट है कि संसद ऐसा प्रस्ताव पास करने से पूर्व उसके बारे में जाँच करायेगी, साथ ही यह आवश्यक नहीं कि राष्ट्रपति उसके प्रस्ताव को मान ही ले। इसके विपरीत आयरलैंड में विधान-मण्डल को केवल हटाये जाने के कारणों का वर्णन करना होता है।[4] किन्तु वहाँ के राष्ट्रपति को उसके प्रस्ताव को मानना आवश्यक है।

---

4 "The provisions for the removal of a judge of the Supreme Court are based on the analogous provisions of the Irish Constitution. There are, however, important differences between two sets of provisions. The Indian Constitution provides for investigation and proof of misbehaviour and

कार्यवाहक मुख्य न्यायाधिपति तथा तदर्थ (ad hoc) न्यायाधीशों की नियुक्ति आदि—जब कभी मुख्य न्यायाधिपति अनुपस्थित हो या उसका पद रिक्त हो, चाहे किसी भी कारण से हो, तो उसके कर्त्तव्यों का पालन किसी ऐसे अन्य न्यायाधीश द्वारा किया जायेगा जिसे कि राष्ट्रपति उस प्रयोजन से नियुक्त करे। ऐसे ही यदि किसी समय न्यायालय की कार्यवाही जारी रखने के लिये गणपूर्ति की कमी हो तो मुख्य न्यायाधिपति राष्ट्रपति की पूर्व सहमति से तथा सम्बन्धित उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति के परामर्श से उस न्यायालय के किसी न्यायाधीश से ऐसी बैठकों में तदर्थ न्यायाधीश के रूप मे उपस्थित होने की प्रार्थना कर सकता है, परन्तु ऐसा न्यायाधीश भी वही व्यक्ति बनाया जा सकता है जिसमें सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश होने की योग्यतायें मिलती हों। इसी प्रकार के मुख्य न्यायाधीश सर्वोच्च न्यायालय के पेंशन प्राप्त न्यायाधीशों को भी नियुक्त (co-opt) कर सकता है। जबकि तदर्थ न्यायाधीश के प्रति उपलब्धियों आदि के सम्बन्ध मे सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश जैसा ही व्यवहार होगा, कार्यवाहक न्यायाधीशों को राष्ट्रपति द्वारा निर्धारित उपलब्धियाँ मिलेंगी। सर्वोच्च न्यायालय एक **अभिलेख न्यायालय (Court of Record)**[5] है और उसे ऐसे न्यायालय की सभी शक्तियाँ प्राप्त है जिनमें न्यायालय के अवमान (contempt) के लिये दण्ड देना भी सम्मिलित है। सर्वोच्च न्यायालय का केन्द्रीय स्थान नई दिल्ली है और इसका अपना नव-निर्मित भवन है, परन्तु समय-समय पर मुख्य न्यायाधिपति की स्वीकृति से राष्ट्रपति इसकी बैठकें अन्य स्थानों पर भी करने का निश्चय कर सकता है।

सर्वोच्च न्यायालय का अधिकार-क्षेत्र

प्राथमिक अधिकार-क्षेत्र (Original Jurisdiction)—केवल सर्वोच्च न्यायालय को ही अग्रलिखित प्रकार के विवादों के विषय में प्राथमिक अधिकार-क्षेत्र प्राप्त हैं—(१) जो विवाद भारत सरकार तथा किसी अन्य राज्य सरकार के बीच उठे। (२) जिस विवाद मे भारत सरकार और एक या अधिक राज्य सरकारें एक ओर हों तथा अन्य कोई एक या अधिक राज्य दूसरी ओर हों; और (३) जब

incapacity should be stated The Irish President has to accept the resolutions and remove the Judge from office while the Indian President is not bound to accept the resolutions of the Indian Parliament."

Santhanam, K., *Constitution of India, p. 106.*

5 "A Court of Record is a court whose acts and proceedings are enrolled for a perpetual memorial and testimony. The records are of such high authority that their truth cannot be questioned in any court, though the Court of Record itself may amend clerical slips and errors. A Court of Record has power to fine and imprison for contempt of its authority..."

Basu, D. D., *Commentary on the Indian Constitution p. 418.*

कभी दो या अधिक राष्ट्रों के बीच में कोई ऐसा विवाद उठे जिसमें कि कानून या[6] तथ्य का कोई प्रश्न अन्तर्ग्रस्त हो और जिसके ऊपर किसी कानूनी अधिकार का अस्तित्व या विस्तार निर्भर हो।

अपीलीय अधिकार-क्षेत्र (Appellate Jurisdiction)—यदि कोई उच्च न्यायालय यह प्रमाणित करे कि अमुक मामले में संविधान के निर्वचन सम्बन्धी कानून का सारमय प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है (*involves substantial point of law*), जो उच्च न्यायालय के निर्णय, आदेश (decree) आदि से दीवानी अथवा फौजदारी या अन्य कार्यवाही के फलस्वरूप उठे तो ऐसे मामले की अपील सर्वोच्च न्यायालय में की जा सकेगी। यदि किसी मामले में उच्च न्यायालय अपील करने की आज्ञा न दे तो सर्वोच्च न्यायालय अपील करने की विशेष आज्ञा प्रदान कर सकता है। जब इस प्रकार से प्रमाण-पत्र अथवा आज्ञा मिल जाती है तो उस मामले में सम्बन्धित कोई भी पक्ष इस आधार पर कि उस मामले का निर्णय गलत हुआ है या किसी अन्य आधार पर सर्वोच्च न्यायालय में अपील कर सकता है। दूसरे, उच्च न्यायालय के निर्णय अथवा आदेश के विरुद्ध किसी भी ऐसे दीवानी के मामले में सर्वोच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है यदि :

(१) उच्च न्यायालय यह प्रमाणित करे कि उनमें कम से कम २० हजार रुपये की मालियत का प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है; या (२) वह ऐसा उपयुक्त मामला है, जिसमें कि सर्वोच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है। तीसरे, फौजदारी कार्यवाही के फलस्वरूप किसी उच्च न्यायालय द्वारा दिये गये किसी निर्णय अथवा दण्ड के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है, यदि (१) उच्च न्यायालय ने अपील में किसी अभियुक्त की मुक्ति (acquital) के आदेश को पलट दिया हो और उसे मृत्यु दण्ड दिया हो; या (२) उच्च न्यायालय ने किसी मामले को अधीन

---

6 "*What is a question of law?* A question of law is to be distinguished from a question of fact." But question of law and of fact are sometimes difficult to disentangle. We may properly appreciate what is a question of law for the present purpose only with reference to illustration: (a) The proper legal effect of proved effect; (b) Whether any evidence has been offered on the one side or the other; (c) Misdirection on a point of law in dealing with evidence *e.g.* as to onus of proof; (d) The nature of the plaintiff's title; (e) The construction of a document; (f) The legal inference from a document; (g) The admissibility of any piece of evidence; (h) Whether there is or is not evidence to support a finding.

The following have been held to be points of fact: (i) whether a fact has been proved when evidence for and against has been received; (ii) Whether a statutory presumption has been rebutted; (iii) The effect to be given to a document is a question of fact, where there is no question as to the construction thereof. Ibid: *p. 435.*

न्यायालय से हटाकर स्वय अभियुक्त को मृत्यु-दण्ड प्रदान किया हो; या (३) उच्च न्यायालय यह प्रमाणित करे कि अमुक मामला ऐसा उपयुक्त मामला है जिसकी अपील सर्वोच्च न्यायालय मे की जा सकती है।

उपरोक्त के अतिरिक्त सर्वोच्च न्यायालय को यह भी अधिकार है कि वह किसी भी अन्य न्यायालय या न्यायाधिकरण के, उनको छोड़कर जो सशस्त्र सेनाओं के द्वारा या उनसे सम्बन्धित कानून के अन्तर्गत स्थापित किये गये हो, निर्णय अथवा आदेश (decree) आदि के विरुद्ध भी अपील करने की आज्ञा प्रदान कर सकता है। सर्वोच्च न्यायालय को अपने निर्णय या आदेश पर पुनरवलोकन (review) की शक्ति भी प्राप्त है। ससद चाहे तो सघीय सूची मे प्रगणित विषयों के सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय को शक्तियाँ व अधिकार-क्षेत्र भी प्रदान कर सकती है।[7] साथ ही विशेष समझौते द्वारा भारत सरकार और कोई भी राज्य सरकार यदि ससद कानून द्वारा ऐसी व्यवस्था कर दे, सर्वोच्च न्यायालय को अन्य अधिकार-क्षेत्र व शक्ति भी प्रदान कर सकती है। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा घोषित कानून भारत राज्य-क्षेत्र में स्थित सभी न्यायालयो मो मानना होगा। ससद द्वारा बनाये कानून के प्राविधानो के अधीन सर्वोच्च न्यायालय को किसी भी व्यक्ति को उपस्थित होने का आदेश, किसी भी आलेख (document) की खोज या पेशी करने या छानबीन करने का आदेश देने की भी शक्ति प्राप्त है। सविधान के अनुच्छेद १४४ के अनुसार सभी नागरिक और न्यायिक अधिकारियों को इस प्रकार से कार्य करना है कि वे सर्वोच्च न्यायालय के कार्यों में सहायक हो और उसके निर्णयो को जिन पर नागरिक के अधिकार निर्भर करते है लागू करें।

इस दृष्टि से सर्वोच्च न्यायालय की शक्तियाँ इगलैंड के उच्चतम अपीलीय न्यायालय से अधिक है। दीवानी मामलो में वहाँ 'कोर्ट ऑफ अपील' के निर्णयो की अपील लार्ड सदन मे कोर्ट आफ अपील अथवा लार्ड सदन की आज्ञा से ही की जा सकती है, परन्तु भारत के सर्वोच्च न्यायालय में किसी भी ऐसे मामले की अपील

7 *Art. 138*-Enlargement of the Jurisdiction of the Supreme Court— "The enlargement of powers contemplated here may be in relation to the original or appellate jurisdiction of the Supreme Court. Parliament may thus enact that an appeal shall lie to the Supreme Court from any judgment, decree or final order of a High Court, if the High Court certifies that the case involves a substantial question of a law as the interpretation of a law passed by the Union Legislature. Similarly, the treaty making power belongs to the union as part of the subject of 'Foreign Affairs.' Parliament can, therefore, invest the Supreme Court of the Union with jurisdiction upon all matters arising out of treaties, including extradition between the Union and foreign states." Shukla, V. N., *The Constitution of India*.

की जा सकती है, जिसके बारे में उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि उसमें २० हजार रुपये की मालियत से अधिक का प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है। इसके अतिरिक्त फौजदारी के मामलों में 'कोर्ट मार्शल' के निर्णयों के विरुद्ध भी अपील की जा सकती है जबकि मुकदमों-न्यायालय यह प्रमाणित करे कि उसमें असाधारण सार्वजनिक महत्त्व का प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है और यह भी कि सार्वजनिक हित में उसकी अपील की जाय। इसके विपरीत भारत के सर्वोच्च न्यायालय को विशेष आज्ञा प्रदान करने पर किसी भी मामले की अपील सुनने के असीमित अधिकार प्राप्त हैं।

परामर्शदात्री अधिकार-क्षेत्र (Consulting Jurisdiction)—यदि कभी भी राष्ट्रपति को ऐसा प्रतीत हो कि किसी कानून या तथ्य के प्रश्न पर सर्वोच्च न्यायालय की सम्मति ली जानी आवश्यक है तो वह उस प्रश्न पर सर्वोच्च न्यायालय की सम्मति मांग सकता है और सर्वोच्च न्यायालय उसके सम्बन्ध में आवश्यक सुनवाई के उपरान्त अपनी सम्मति का प्रतिवेदन राष्ट्रपति को देगा, किन्तु न्यायालय ऐसा करने के लिये बाध्य नहीं है और इसकी सम्मति को अन्य न्यायालय भी कानूनी रूप में स्वीकार करने को बाध्य नहीं हैं।

सर्वोच्च न्यायालय संविधान के संरक्षक के रूप में—जबकि ब्रिटेन में संसद सर्वोपरि है सं० रा० अमरीका में संविधान सर्वोपरि है। इसका तात्पर्य यह है कि संसद तथा राज्यों के विधान-मण्डल, यदि कभी कोई ऐसा कानून बनायें जो संविधान के विरुद्ध हो तो सर्वोच्च न्यायालय उसे अवैध घोषित करने की शक्ति रखता है, यदि संविधान में इस आशय का कोई प्राविधान स्पष्ट रूप से नहीं दिया गया है। परन्तु इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जबकि सं० रा० अमरीका में सर्वोच्च न्यायालय कांग्रेस के बनाये कानूनों का परीक्षण इस दृष्टि से तो करता ही है कि अमुक कानून कांग्रेस की शक्तियों की सीमा के बाहर है या नहीं। इसके अतिरिक्त वह कानून का परीक्षण संविधान के आदर्शों तथा कानूनों के न्यायोचित होने के बारे में अपनी सम्मति के अनुसार भी करता है[8] अतः वहाँ पर वास्तव में विधायी नहीं वरन् न्यायिक सर्वोपरिता की स्थापना हुई है।

इसके विपरीत ब्रिटेन में विधायी सर्वोपरिता (legislative supremacy) है। भारत में सर्वोच्च न्यायालय की स्थिति कुछ इन दोनों के बीच की है। कुछ भी हो हमारे संविधान ने सर्वोच्च न्यायालय को विभिन्न अनुच्छेदों १३,३२,२२६ आदि के अन्तर्गत न्यायिक पुनरवलोकन का अधिकार प्रदान किया है, किन्तु

8 "The Supreme Court has come to examine the validity of laws not only from the stand-point of legislative powers, but also from the stand-point of its own opinion about the 'ideals' of the constitution, and the reasonableness of laws." (Cardozo)

Quoted by Brogan in *'Government of the People'*, Ch XXVII.

न्यायोचित विधि (due process of law) की अनुपस्थिति में न्यायिक पुनरवलोकन का अधिकार सं० रा० अमरीका की तुलना में सीमित है। हमारे सविधान में उस स्थान पर 'कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया' (except in accordance with the procedure etablished by law) का प्रयोग हुआ है।[9] जैसा कि गोपालन बनाम मद्रास राज्य नामक मुकदमे में जस्टिस दास ने कहा था :

> भारत में न्यायपालिका की स्थिति इंगलैंड और सं० रा० अमरीका के न्यायालयों के कुछ बीच की है। हमारा सविधान अंग्रेजी संविधान के विरुद्ध विधायी अधिकारियों पर न्यायालय की सर्वोपरिता को मानता है, परन्तु यह सर्वोपरिता अति सीमित है, क्योंकि यह उसी क्षेत्र तक परिमित है जहाँ पर कि विधान मण्डलो की विधायी शक्तियो पर वैधानिक सीमायें लगी है।...परन्तु सं० रा० अमरीका के संविधान के प्रतिकूल विधायी अधिकारियो पर सभी बातों में हमारा सविधान न्यायालयो की सर्वोपरिता को स्वीकार नही करता, क्योंकि संवैधानिक सीमाओ के प्रतिबन्धित क्षेत्र के बाहर ससद और राज्य विधान-मण्डल अपने-अपने विधायी क्षेत्र मे सर्वोपरि है और उसे अधिक व्यापक क्षेत्र में अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय की भाँति महत्वपूर्ण भाग प्राप्त नही है।[10]

इसके अतिरिक्त किसी सविधि (कानून) को केवल इस आधार पर अवैध घोषित नही किया जा सकता कि वह न्यायालय की सम्मति मे स्वतन्त्रता या सविधान की भावना मे से किसी सिद्धान्त का अतिक्रमण करता है जब तक कि वे सिद्धान्त सविधान में समाविष्ट न हो। किसी सविधि की सवैधानिकता पर निर्णय देते हुये, न्यायालय को कानून की बुद्धिमत्ता या बुद्धिहीनता उसके

---

9 "...the express'on 'procedure established by law' must mean procedure prescribed by the law of State...To read the word 'law' as meaning rules of natural justice will lead one in difficulties because the rules of natural justice as regards procedure, are nowhere defined and in my opinion, the Constitution cannot be read as laying down a vague standard. This is particularly so when in omitting to adopt 'due process of law' it was considered that the expression 'procedure established by law' made the standard specific." (Chief Justice Kania.)

10 "Instead of judicial supremacy we have the doctrine of legislative supremacy, subject to constitutional limitations. Though the Supreme Court will nullify an act which is in clear contravention of a constitutional limitation it will not assume the role of suppressing or correcting the law passed by the Legislature under any theory of 'Natural Rights of justice; 'ideals of the constitution.' In India, the position of the Judiciary is somewhere between the courts in England and the United States..."

Basu. D. D., *op. cit., pp. 404-405.*

न्याय और अन्याय से कोई सम्बन्ध नहीं।[11] इस विषय पर हम एक और दृष्टि से भी विचार कर सकते हैं। कुछ लेखकों ने अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय की इस आधार पर आलोचना की है कि वह एक प्रकार का तीसरा विधायी सदन बन गया है। हमारा संविधान सर्वोच्च न्यायालय को इस प्रकार के विस्तृत अधिकार प्रदान नहीं करता, अतएव हमारा सर्वोच्च न्यायालय इस दोष से रहित रहेगा। यह उचित ही है कि सर्वोच्च न्यायालय संविधान की धाराओं के निर्वचन के रूप में नये कानूनों की रचना नहीं कर सकेगा। परन्तु कुछ विचारकों ने भारतीय स्थिति की आलोचना करते हुये कहा है कि भारत में विधायी अत्याचार (legislative tyranny) की पर्याप्त सम्भावना है। कुछ इस प्रकार की प्रवृत्ति उत्पन्न भी रही है कि कानूनों के निर्वचन का अधिकार कार्यपालिका अधिकारियों को प्रदान किया जाय। कुछ राज्य सरकारों ने उच्च न्यायालयों की स्वतन्त्रता को पसन्द नहीं किया है और उन्होंने न्यायालयों के निर्णयों को स्वीकार करने में सद्भावना की कमी दिखाई है और वे अधीन न्यायालयों पर अपना नियन्त्रण बढ़ाने का प्रयत्न कर रही हैं। उदाहरण के लिये, संविधान के अनुच्छेद ३१ को संविधान द्वारा एक बार कुछ कम प्रभावी बनाया गया और आगे चलकर उसके स्थान पर एक अन्य धारा जोड़ी गयी जिसके द्वारा उसके अन्तर्गत उठने वाले मुकदमों को न्यायालयों के अधिकार-क्षेत्र से बाहर कर दिया गया। इस प्रकार बहुमत प्राप्त दल संविधान में चाहे जब संशोधन करा सकता है। सन् १९५० में सर्वोच्च न्यायालय ने कानूनों के इस पहलू पर विचार किया और माननीय न्यायाधीश इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि ऐसे विधायी अत्याचारों के विरुद्ध नागरिकों की रक्षा केवल सुदृढ़ और बुद्धिपूर्ण जनमत के निर्माण में है।

सर्वोच्च न्यायालय (तथा उच्च न्यायालयों) को विभिन्न प्रकार के लेख (writs) तथा बन्दी प्रत्यक्षीकरण (habeas corpus) आदि भी जारी करने की शक्ति प्राप्त है। इस दृष्टि से सर्वोच्च और उच्च न्यायालयों का अधिकार-क्षेत्र समवर्ती (concurrent) है। सर्वोच्च न्यायालय के अधिकारियों व कर्मचारियों की नियुक्ति मुख्य न्यायाधिपति अथवा उसके द्वारा निर्देशित न्यायाधीश या पदाधिकारी करता है। परन्तु राष्ट्रपति को नियम बनाकर यह आवश्यक ठहराने की शक्ति प्राप्त है कि कोई ऐसा व्यक्ति जो न्यायालय से पहले सम्बन्धित न थो न्यायालय से

---

11 "A Statute cannot be declared unconstitutional merely because in the opinion of the Court it violates one or more of the principles of liberty or the spirit of the constitution, unless such principles and that spirit are found the terms of the constitution.

In pronouncing on the constitutional validity of a statute, the Court is not concerned with the wisdom or unwisdom, the justice or unjustice of the law." See rvais, H. M., *Constitutional Law of India, p. 56.*

सम्बन्धित किसी भी पद पर संघीय लोक सेवा-आयोग के परामर्श से नियुक्त किया जायेगा।

सर्वोच्च न्यायालय की कार्य-प्रणाली—सर्वोच्च न्यायालय को अपनी कार्य-प्रणाली तथा व्यवहार के विनियमन के लिये व्यापक शक्तियाँ प्राप्त है। परन्तु किसी भी ऐसे प्रश्न का निर्णय करने के लिये, जिसमे संविधान के निर्वाचन से सम्बन्धित कानून का कोई महत्वपूर्ण प्रश्न अन्तर्ग्रस्त हो, कम से कम ५ न्यायाधीशों की बेंच बैठेगी। अन्य मामलो की सुनवाई एक या अधिक न्यायाधीश करेंगे जैसा कि नियमो द्वारा विहित किया जाये। न्यायालय के सभी निर्णय न्यायाधीशों के बहुमत से किये जाते है, किन्तु कोई भी न्यायाधीश यदि वह बहुमत निर्णय से सहमत न हो अपना पृथक् निर्णय (dissenting judgement) दे सकता है। सभी निर्णयो और सम्मतियो को खुले न्यायालय में दिया जाता है। इन बातो से एक बात स्पष्ट है, वह यह है कि भारत के संविधान मे सर्वोच्च न्यायालय से सम्बन्धित उपबन्ध अन्य किसी भी देश के संविधान की अपेक्षा अधिक विस्तृत (comprehensive) है।

३. सर्वोच्च न्यायालय और मूल अधिकारों का संशोधन

मार्च १९६७ मे सर्वोच्च न्यायालय ने एक अति महत्वपूर्ण निर्णय में घोषित किया कि संविधान मे समाविष्ट मूल अधिकारो मे संसद के कानून द्वारा कोई कमी नही की जा सकती। दूसरे शब्दो में, मूल अधिकारो मे परिवर्तन या संशोधन करने की शक्ति संसद को प्राप्त नही है। इस सम्बन्ध मे संविधान के निम्नलिखित दो अनुच्छेदो के निर्वचन के बारे मे विभिन्न मत है।

अनुच्छेद १३ (२)—राज्य ऐसी कोई विधि नही बनायेगा जो इस भाग (भाग ३) द्वारा दिये अधिकारो को छीनती या न्यून करती हो और इस खंड के उल्लंघन मे बनी प्रत्येक विधि उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगी।[12]

अनुच्छेद ३६८—इस संविधान के संशोधन का सूत्रपात उस प्रयोजन के लिये विधेयक को संसद के किसी सदन में पुन: स्थापित करके ही किया जा सकेगा तथा जब प्रत्येक सदन द्वारा उस सदन की समस्त सदस्य-संख्या के बहुमत से तथा उस सदन के उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यो के दो-तिहाई से अन्यून बहुमत से वह विधेयक पारित हो जाता है तब वह राष्ट्रपति के समक्ष उसकी अनुमति के लिये रखा जायेगा तथा विधेयक को ऐसी अनुमति दी जाने के पश्चात् विधेयक के निबन्धनो के अनुसार संविधान संशोधित हो जायेगा।[13]

---

12 Art. 13 (2) The State shall not make any law which takes away or abridges the rights conferred by this part and any law made in contravention of this clause shall, to the extent of the contravention, be void.

13 Art. 368. An amendment of this constitution may be initiated only by the introduction of a Bill for the purpose in either House of Parliament,

परन्तु यदि ऐसा संशोधन—

(क) अनुच्छेद ५४, ५५, ७३, १६२ या २४१ में, अथवा

(ख) भाग ५ के अध्याय ४ भाग ६ के अध्याय ५ या भाग ११ के अध्याय १ में, अथवा

(ग) सातवीं अनुसूची की सूचियों में से किसी में, अथवा

(घ) ससद के राज्यो के प्रतिनिधित्व में, अथवा

(ङ) इस अनुच्छेद के उपबन्धो में, कोई परिवर्तन करना चाहता है तो ऐसे उपबन्ध करने वाले विधेयक को राष्ट्रपति के समक्ष अनुमति के लिये उपस्थित किये जाने के पहले उस सशोधन ···के लिये उन विधान-मण्डलों से पारित सकल्पों द्वारा अनुसमर्थन भी उपेक्षित होगा।

सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय मे निहित बातों का प्रभाव बड़ा ही दूरगामी सिद्ध होगा। इस निर्णय के परिणामस्वरूप कई प्रश्न उठते हैं। क्या ससद सविधान मे संशोधन करने के लिये प्रभुत्वपूर्ण (sovereign) नही है ? इस निर्णय का न्यायपालिका पर मूल अधिकारो के सरक्षक के रूप मे क्या प्रभाव पड़ेगा ? क्या यह निर्णय संविधान को इतना दुस्संशोध्य बना देगा कि जन इच्छा द्वारा कोई भी सुगम परिवर्तन न किया जा सकेगा ? विभिन्न प्रश्नो के उत्तर दो विरोधी मतो के अनुसार दिये गये है। श्री के० एम० मुन्शी ने जो कि संविधान सभा के भी सदस्य थे, कहा वताते है कि वे यह न सोचते थे कि मूल अधिकार संसद की दया पर निर्भर रहेंगे। परन्तु एन० सी० चटर्जी, एक प्रतिष्ठित वकील, ने राष्ट्रपति से अपील की कि संसद की प्रभुता के मामले को सन्देह से ऊपर उठाया जाये। जबकि अधिकतर विचारवान् व्यक्ति इस बात से प्रसन्न हुये है कि नागरिकों के मूल अधिकारों में ससद सशोधन या कमी नहीं कर सकती, अनेक व्यक्तियों के मन में यह भय उत्पन्न हो गया है कि सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय प्रगतिशील विधायन के मार्ग मे बाधक सिद्ध होगा।

सरल शब्दो मे, सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के बाद ससद की प्रभुता का निर्वचन इस प्रकार होगा—अनुच्छेद ३६८ तो केवल सविधान मे सशोधन करने की प्रक्रिया विहित करता है; यह स्पष्ट रूप में यह नही कहता कि संसद को संविधान में संशोधन करने का पूर्ण अधिकार है। सर्वोच्च न्यायालय ने आगे कहा कि सविधान मे सशोधन करने की प्रक्रिया अन्य विधि-निर्माण से भिन्न नहीं है अर्थात् सवैधानिक विधि और साधारण विधि के बीच कोई अन्तर नही है। यदि सशोधन

---

and when the Bill is passed in each House by a majority of total member-ship of that House and by a majority of not less than two thirds of the members of that House present and voting, it shall be presented to the President for his assent and upon such assent being given to the Bill, the constitution shall stand amended in accordence with the terms of the Bill; ...

भी साधारण विधि है तो यह अनुच्छेद १३ (२) के अन्तर्गत आ जाता है, जो कि राज्य को संविधान के भाग ३ द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारो को छीनने या उनमें कमी करने की मनाई करता है। सर्वोच्च न्यायालय का यह निर्णय उसके सन् १९६२ और १९६५ में दिये गये अपने निर्णयों से भिन्न है, जिनमें कि सर्वोच्च न्यायालय ने यह मत प्रकट किया था कि संविधान का संशोधन भिन्न है और (साधारण) विधि नहीं है।

सन् १९६७ के निर्णय के साथ सर्वोच्च न्यायालय ने सन् १९५१, १९५५ और १९६४ में किये गये क्रमशः संविधान के प्रथम, चौथे और सत्रहवें संशोधनों को भी अवैध घोषित किया। परन्तु न्यायालय ने यह कहा कि ये संशोधन भविष्य में भी (निर्णय देने की तारीख २७ फरवरी १९६७) के बाद भी वैध और लागू रहेंगे। तथ्य यह है कि पहले के तीनो संशोधनो का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। जब पटना उच्च न्यायालय ने बिहार के भूमि सुधार कानून (Land Reforms Act) को सम्पत्ति के अधिकार के विरुद्ध अवैध घोषित किया था तो प्रथम संशोधन किया गया था, जिसने भूमि सुधार अथवा जमीदारी उन्मूलन सम्बन्धी कई कानूनों को वैध बनाया था और उन्हे नवी अनुसूची में रखकर न्यायालयों की पहुंच से बाहर कर दिया था। चौथे संशोधन ने सात अन्य कानूनों को जोड़ा और सत्रहवें संशोधन ने सूची को ६४ तक पहुंचा दिया। उनके विषयो में भी भिन्नता रही; कुछ का सम्बन्ध भूमि के अर्जन से था तो कुछ का उद्योगो के विनियमन से। अब सर्वोच्च न्यायालय ने मत प्रकट किया है कि उसके प्रथम व चौथे संशोधनो पर किये गये पूर्व निर्णय, जिनके अनुसार संसद को मूल अधिकार छीनने की शक्ति मिली थी, गलत थे। यहाँ यह स्मरणीय है कि संविधान सर्वोच्च न्यायालय को अपने निर्णयों को दोहराने का अधिकार देता है। जब १९५१ में संसद ने प्रथम संशोधन अधिनियम शकरी-प्रसाद के मामले के परिणामस्वरूप पास किया, वास्तव मे, तभी मूल अधिकारो (सम्पत्ति के अधिकार) में कमी होनी शुरू हुई। उस समय मुख्य न्यायाधिपति पतांजली शास्त्री ने कहा था कि संसद को अनुच्छेद ३६८ के अन्तर्गत संविधान के किसी भी उपबन्ध में संशोधन करने की शक्ति प्राप्त थी। उनके मतानुसार अनुच्छेद १३ (२) (जो कि राज्य को कोई भी ऐसा कानून बनाने की मनाई करता है जो मूल अधिकारों को छीनने वाला या कम करने वाला हो) और अनुच्छेद ३६८ के बीच विरोध था। उन्होने उसे दूर करने के लिये यह मत प्रकट किया कि अनुच्छेद १३ (२) में कानून (law) शब्द केवल साधारण कानूनो तक विस्तृत होगा, उसमें सवैधानिक कानून (constitutional law) अर्थात् संविधान के संशोधन, जिन्हें पास करने के लिये विशेष विधि और विशेष बहुमत आवश्यक है उसके विस्तार से बाहर रहेंगे। परन्तु १९६७ वाले निर्णय मे मुख्य न्यायाधिपति सुब्बाराव ने घोषित किया कि अनुच्छेद १३ (२) और ३६८ के बीच कोई विरोध नही रहेगा, यदि यह अर्थ लिया जाय कि अनुच्छेद १३ (२) राज्य को मूल अधिकारों मे कमी करने

की मनाई करता है और अनुच्छेद ३६८ राज्य को सविधान में, अधिकार छीने बिना अथवा अधिकारों में कमी किये बिना, सशोधन करने की शक्ति प्रदान करता है। उनके विचार मे अनुच्छेद ३६८ केवल सविधान के सशोधन की प्रक्रिया विहित करता है। अतएव सविधान के संशोधन की शक्ति को अनुच्छेद २४५, २४६ और २४८ के अन्तर्गत ससद की साधारण विधायी शक्ति में खोजना चाहिये। परिणाम-स्वरूप सविधान का संशोधन साधारण कानून की श्रेणी मे ही आ जाता है और इसलिये वह अनुच्छेद १३ (२) के अधीन है। इसके पक्ष मे श्री के० सन्थानम का मत निम्न प्रकार है :

> यह सच है कि सविधान जनता के लिए है। कोई भी संविधान ऐसा नही होता कि उसमें सशोधन न किया जा सके। परन्तु साथ ही किसी देश की राजनीतिक पद्धति के लिये उसका सविधान उसी प्रकार है जैसे कि शरीर के लिये अस्थि पंजर। सविधान मे संशोधनों के बार-बार होने से भारत के राजनीतिक जीवन मे स्थायित्व और शक्ति आने मे बाधा पड़ी है। अतः यह आवश्यक है कि सविधान में यथासम्भव कम-से कम सशोधन हों। सविधान मे संशोधन के लिये अनुच्छेद ३६८ संशोधन प्रक्रिया को विहित करता है। उसके अतिरिक्त अन्य अनुच्छेदों में साधारण कानूनी प्रक्रिया द्वारा भी सशोधन किये जा सकते है, उदाहरण के लिये अनुच्छेद ३ और ४। अनुच्छेद ३ के अनुसार संसद् साधारण बहुमत से राज्यो की सरचना (क्षेत्र व नाम) में कैसा भी पुनर्गठन कर सकती है। स्वयं अनुच्छेद ३६८ मे दो प्रक्रियायें दी गई है। साधारणतया संविधान के किसी भी अनुच्छेद में प्रत्येक सदन के बहुमत और उपस्थित तथा मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के २/३ बहुमत से किया जा सकता है। कुछ विशिष्ट अनुच्छेदों के लिये तथा राष्ट्रपति का निर्वाचन और सघ व राज्यो के बीच शक्तियों के वितरण से सम्बन्धित विधेयक पर आधे राज्यों के विधान-मण्डलों द्वारा सम्पुष्टिकरण भी आवश्यक है।

इस सम्बन्ध मे मै उन लोगों से सहमत नहीं हूँ, जो यह तर्क देते है कि चूँकि ससद् मूल अधिकारों में सशोधन नही कर सकती तो उनमें सशोधन करने की कोई विधि नही। आस्ट्रेलिया, आयरलैंड और स्विटजरलैंड में सवैधानिक संशोधनो का जनता द्वारा सम्पुष्टिकरण होता है। भारत के सविधान की प्रस्तावना के अनुसार जनता प्रभु है, वह लोक-निर्णय (referendum) द्वारा सशोधन कर सकती है। अवशिष्ट शक्ति (residuary power) द्वारा संसद् इस प्रकार के लोक-निर्णय के लिये प्रक्रिया विहित कर सकती है। यह भी तर्क दिया जाता है कि प्रभुत्वपूर्ण ससद् के सविधान मे सशोधन के अधिकार को सर्वोच्च

न्यायालय द्वारा नही छीना जाना चाहिये। यह तर्क गलत है, क्योकि भारत मे ससद् सर्वोपरि नही है। सविधान तथा सर्वोच्च न्यायालय द्वारा इसकी शक्तियाँ सीमित है।[14]

दूसरी ओर के पक्ष में कई बातें कही जा सकती है। प्रथम, स्वयं सविधान मे व्यवस्था है कि कुछ मूल अधिकारों को विशिष्ट परिस्थितियो मे निलम्बित किया जा सकता है। इस व्यवस्था के परिणामस्वरूप यह स्वीकार नही किया जा सकता कि मूल अधिकार अपरिवर्तनशील हैं।

राजनीतिक दृष्टि से कोई भी ऐसा पग जो कि ससद् की प्रभुता को कम करने वाला हो, स्वीकार नही हो सकता। ससद् विशेष रूप से लोकसभा जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है। जिससे कि केवल वहुमत दल अकेले ही मूल अधिकारो में सशोधन न कर सके, ऐसे संशोधन के लिये २/३ का वहुत उसके पक्ष में होना आवश्यक है। संविधान और कानूनो को सामाजिक परिवर्तनों और समुदाय की परिवर्तनशील आवश्यकताओ के अनुसार वदलना चाहिये। व्यक्ति के मूल अधिकार उसी सीमा तक मूल हैं जब तक कि वे सामान्य हित के अनुकूल रहे।

तीसरे, यह सुझाव देना कि जब कभी मूल अधिकारो में सशोधन करना आवश्यक हो सविधान सभा को आहूत किया जाय, व्यावहारिक नही है। इस सम्बन्ध मे यह वात ध्यान देने योग्य है कि यदि कभी इस विधि को अपनाया भी जाय तो हो सकता है कि इस प्रकार से वनाये गये कानून को इस आधार पर अवैध घोपित कर लिया जाय कि कोई निकाय (ससद्) किसी ऐसे दूसरे निकाय (सविधान सभा) की रचना नही कर सकती जिसकी शक्तियाँ रचना करने वाले निकाय से अधिक हों। यदि ससद् को कुछ वातों में सविधान का संशोधन करने की शक्ति प्राप्त नही है, तो वह किसी ऐसे दूसरे निकाय की कैसे रचना कर सकता है जिसे उन वातो के वारे में सविधान में संशोधन का अधिकार दिया जाय। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि यदि सविधान-निर्माता ऐसा विचार रखते तो वे संविधान में ही इस प्रकार की व्यवस्था कर देते। इस प्रकार मूल अधिकारों में संशोधन करने की कोई विधि नही रह जाती। फलतः सामाजिक प्रगति के लिए एक ही विकल्प रह जाता है, वह है वर्तमान व्यवस्था को हिंसा द्वारा उखाड़ फेंकना।[15]

---

14 Santhanam, K., Art. '*Amending the Constitution*', *Hindustan Times*, *Aug 3, 1967.*

15. "So we are left with the position that there is no known constitutional process modifying rights to private property in any manner whatsoever. Even if we accept the mode hypothesised by the Court, an unpatient public opinion pressurised by social forces may not be tolerant of the delays which are inherent in the process and may want to make a short cut by passing the labyrinth of legal niceties. Must then force be the midwife of

चौथे, साधारण कानून और सवैधानिक कानून में अन्तर है। प्रायः सभी राज्यों के संविधानों में संविधान से सम्बन्धित कानून व संशोधन पास करने के लिये विशेष बहुमत या प्रक्रिया की व्यवस्था होती है (सिवाय ब्रिटेन को छोड़कर जहाँ की संविधान अधिकांशतः अलिखित है)। स्वयं सर्वोच्च न्यायालय के पूर्वगामी निर्णयों में इस अन्तर को स्वीकार किया गया है। सन् १९६७ का निर्णय केवल एक के बहुमत से दिया गया है, क्योंकि ५ के विरुद्ध ६ ने उसके पक्ष में मत दिया है। हो सकता है कि सर्वोच्च न्यायालय भविष्य में इस निर्णय पर फिर से विचार करे और उसे पलट दे। संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान में मूल अधिकारों की व्यवस्था ही संविधान के प्रथम दस संशोधनों द्वारा हुई है। वहाँ की कांग्रेस उनमें आवश्यकतानुसार संशोधन भी कर सकती है। अन्य राज्यों में भी लगभग ऐसी ही व्यवस्था है।

अन्त में, सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष सन् १९६६ में एक समान मामले में बहस करते हुये श्री कन्हैया लाल मिश्रा, एडवोकेट जनरल, उत्तर प्रदेश ने जो तर्क दिये थे उनका सार नीचे देना उपयुक्त समझते हैं :

> अनुच्छेद ३६८ में दी गई शक्ति का स्वरूप प्रभुत्व जैसा है, अतः उस शक्ति पर कोई निहित सीमायें नहीं लगाई जा सकती। संशोधन (amendment) कानून (law) से भिन्न है। मेरा कहना यह है कि संविधान का निर्वचन इस प्रकार से नहीं करना चाहिये कि उसका एक-मात्र विकल्प क्रान्ति रह जाय। ऐसी स्थिति पैदा न की जाय कि देश की प्रगति रुक जाय और प्रगति में बाधा हो क्रान्ति की प्रेरक बन जाय। जो बात आज मूलभूत है वह कल अथवा १० वर्ष बाद मूलभूत न रहे, ऐसा सम्भव है। यदि मूल अधिकार संशोध्य नहीं है, तो कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं। यदि जनता की आवश्यकता सच्ची है, तो क्या न्यायाधीशों को संविधान का निर्वचन इस प्रकार से नहीं करना चाहिये कि वह प्रयोजन पूरा हो ?

श्री मिश्रा ने कहा कि अनुच्छेद ३६८ की भाषा संशोधन की शक्ति को सम्मिलित करने हेतु काफी व्यापक है। यही अनुच्छेद वह मार्ग है जिसके द्वारा जन-इच्छा को प्रकट किया जा सकता है। महाधिवक्ता ने कहा कि राष्ट्र के जीवन में वह स्थिति उत्पन्न हो सकती है जबकि देश के हित में संविधान (अर्थात् संशोधन सम्बन्धी उपबन्धों) का संशोधन आवश्यक हो। तब संसद् की उस बुरी दशा की कल्पना कीजिये जबकि

---

social progress and a violent overthrow of the existing order the only alternative ?"

Sharma, B. F , Art. *'Society, Individual and Fundamental Rights'*, *Foreign and Indian Review, July 1, 1967.*

वह यह देखेगी कि उसे संशोधन करने की शक्ति प्राप्त नहीं है। श्री मिश्रा ने आगे तर्क दिया कि अनुच्छेद १३ (२) में कानून शब्द में संवैधानिक कानून सम्मिलित नहीं है। अतः संविधान में संशोधन करने की शक्ति सीमित नहीं है।[16]

४. न्यायपालिका और विधायिका के बीच अधिकार-क्षेत्र सम्बन्धी संघर्ष

सन् १९६४ में उत्तर प्रदेश की विधान सभा और उच्च न्यायालय के बीच अधिकार क्षेत्र सम्बन्धी एक संघर्ष पैदा हो गया था, जिसका अन्तिम निर्णय सर्वोच्च न्यायालय ने उच्च न्यायालय के पक्ष में दिया। इस मामले के तथ्य संक्षेप में, निम्न प्रकार थे :

गोरखपुर के एक समाजवादी कार्यकर्ता श्री केशव सिंह ने विधान सभा के अध्यक्ष को सम्बोधित एक पत्र भेजा, जिसमें ऐसी बातें लिखी थी कि जिन्हें सदन की प्रतिष्ठा को हानि पहुँचाने वाली समझा गया तथा उसके आचरण को सदन के एक सदस्य के विशेषाधिकार (privilege) का उल्लंघन माना गया। सदन ने पत्र लिखने वाले को सदन में भर्त्सना हेतु उपस्थित होने का आदेश दिया और उसी दिन (मार्च १४, १९६४ को) उसे सदन की मानहानि के लिये ७ दिन के बन्दीपन का दण्ड दिया। श्री सिंह के वकील ने उच्च न्यायालय की डिवीजन बेंच में बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Writ of Habeas Corpus) के लेख को अनुच्छेद २२६ के अन्तर्गत जारी करने की मांग की। दो न्यायाधीशों ने लेख-याचिका (write-petition) को स्वीकार किया और श्री सिंह को १९ मार्च को (६ दिन के बन्दीपन के बाद) जमानत पर छोड़ने का आदेश दिया।

२१ मार्च को विधान सभा के एक सदस्य ने विधान सभा में सदन के विशेषाधिकार के उल्लंघन का प्रस्ताव (a motion of breach of privilege of the house) प्रस्तुत किया। उसमें यह तर्क दिया गया कि श्री सिंह और उनके वकील ने न्यायालय के समक्ष लेख-याचिका पेश करके और उसके द्वारा विशेषाधिकार के मामले में सदन की सत्ता को चुनौती दी तथा न्यायाधीशों ने विधान सभा

16 Mr Misra submitted that the language of Article 368 was wide enough to include the power of amendment. This Article alone was the avenue through which the sovereignty of the people could speak ..The Advocate General said that in the life of a nation a situation might arise when in the interest of the country amendments of the constitution might become necessary. Imagine then the sad plight of a Parliament if it found it had no power to amend the Constitution Mr Misra proceeded with his argument that the word 'law' in Article 13 (2) did not include Constitutional Law Therefore be argued that the power to amend was not limited

. . . ..

Hindustan Times, Nov. 19, 1956

के आदेश के विरुद्ध श्री सिंह को जमानत पर छोड़कर सदन का अपमान किया। सदन में उस प्रस्ताव को १९ के विरुद्ध १२६ के बहुमत से स्वीकार करते हुये श्री सिंह को फिर से बन्दी बनाये जाने और बन्दीपन की शेष अवधि पूरी करने का आदेश दिया तथा दोनो न्यायाधीशों व श्री सिंह के वकील को सदन के सामने उसके अपमान के लिये उपस्थित होने का आदेश दिया।

उसके बाद दोनों न्यायाधीशों ने इलाहाबाद उच्च न्यायालय में लेख-याचिका पेश की, जिसे न्यायालय की पूर्ण बेंच ने सुना और एक अन्तरिम आदेश पास किया कि विधान सभा के २१ मार्च वाले प्रस्ताव को क्रियात्मक रूप दिये जाने से रोका जाय तथा न्यायाधीशों के विरुद्ध बन्दीपन के आदेश न जारी किये जायें। उसी समय विधान सभा के अध्यक्ष ने बन्दीपन के आदेशों पर हस्ताक्षर किये और सदन के मार्शल को उन्हें बन्दी बनाकर सदन के सम्मुख पेश किये जाने का आदेश दिया। २५ मार्च को सदन ने प्रस्ताव पास किया जिसने दोषी व्यक्तियों को सदन में अपना स्पष्टीकरण पेश करने का अवसर प्रदान किया, और जिसमें कहा गया कि उनके विरुद्ध सदन के अपमान के लिये कार्यवाही क्यों न की जाय, परन्तु गिरफ्तारी के वारन्ट वापस ले लिये। कमिश्नरी के आयुक्त को अध्यक्ष व उच्च न्यायालय के आदेश क्रियात्मक रूप देने के लिये भेजे गये, उसने अध्यक्ष को सूचित किया कि वह विरोधी आदेशों के कारण कानूनी परामर्श लेगा।

उसके बाद इस विषय में संघ की संसद् में जोरदार वाद-विवाद हुआ। संघीय सरकार ने एटॉर्नी-जनरल से परामर्श किया और उसके परामर्श के अनुसार राष्ट्रपति ने अनुच्छेद १४३ के अन्तर्गत उस मामले के बारे में सर्वोच्च न्यायालय की राय मांगी। सर्वोच्च न्यायालय ने उस मामले की सुनवाई के लिए सभी उच्च न्यायालयों, विधान सभाओं, राज्यों के एडवोकेट-जनरलों और एटॉर्नी-जनरलों को नोटिस जारी किये। राज्य की विधान सभा की ओर से सर्वोच्च न्यायालय में मुख्य पैरवी श्री एच. एम. सीरवाई, महाराष्ट्र के एडवोकेट-जनरल ने की। सारा मामला मुख्यतः अनुच्छेद १९४ (३) के निर्वचन पर केन्द्रित था, जिसका सम्बन्ध राज्यों के विधान-मण्डलों के विशेषाधिकारों के विस्तार से है। श्री सीरवाई ने कहा कि अनुच्छेद १९४ (३) के अनुसार विधान मण्डल के विशेषाधिकारों व शक्तियों को समय-समय पर पारिभाषित करने की शक्ति विधान मण्डल को प्राप्त है और जब तक ऐसा किया जाय उसके विशेषाधिकार वही रहेंगे जैसे कि ब्रिटिश कॉमन सभा के संविधान के प्रारम्भ पर थे। अतः यदि उस शक्ति का प्रयोग करते हुये सदन ने सदन का अपमान करने वाले व्यक्ति या व्यक्तियों के विरुद्ध गिरफ्तारी के आदेश जारी किये तो उनके बारे में न्यायालय में कोई प्रश्न नहीं उठाया जा सकता। उच्च न्यायालयों की ओर से मामले को भूतपूर्व एटॉर्नी-जनरल ने प्रस्तुत किया। प्रारम्भ में तो उन्होंने विरोधी पक्ष के तर्क का खण्डन किया और कहा कि अनुच्छेद १९४ द्वारा भारत के संविधान के अनुच्छेद २२६ के अन्तर्गत उच्च न्यायालयों को प्राप्त व्यापक शक्तियों पर प्रति-

वन्ध लगता है। उन्होने कहा कि यह नही सोचा जा सकता कि भारतीय सविधान, जिसने कि न्यायपालिका के अधिकारो की रचना की, कभी भी अनुच्छेद १९४ मे वर्णित शक्तियों; विशेपाधिकारों तथा उन्मुक्तियों को नागरिको के मूल अधिकारों के ऊपर रखेगा। उन्होंने कहा कि भारत का सविधान सघात्मक है अतः उसमें न्यायिक पुनरव लोकन (Judicial Review) के लिये व्यवस्था है और न्यायपालिका की शक्तियाँ भी स्पष्ट रूप में सीमित हैं। सविधान में विधान मण्डल की शक्तियों पर भी प्रतिवन्ध लगाने वाले उपवन्ध हैं। उन्होने यह भी तर्क दिया कि अनुच्छेद १९४ (३) का उपवन्ध न्यायालयो के अनुच्छेद २२६ के अन्तर्गत अधिकार-क्षेत्र को वर्जित नही करता, अतः विधान-मण्डल के विशेपाधिकार मूल अधिकारो के अधीन है।

सर्वोच्च न्यायालय ने १ के विरुद्ध ६ के बहुमत से निर्णय दिया कि इलाहाबाद उच्च न्यायालय श्री केशव सिह की याचिका को सुनने और उसे अन्तरिम जमानत स्वीकार करने के लिये सक्षम था तथा ऐसा करने में दोनो न्यायाधीश विधान सभा के अपमान के लिये दोपी नही थे। विरोध में मत देने वाले न्यायाधीश के मतानुसार उ० प्र० की विधान सभा को भारत के सविधान के अन्तर्गत, किसी भी व्यक्ति के विरुद्ध सदन का अपमान करने के लिये गिरफ्तारी का आदेश देने का अधिकार है और यह भी कि विधान मण्डल के विशेपाधिकार मूल अधिकारों के अधीन नहीं हैं। राष्ट्रपति द्वारा उठाये गये प्रश्नों पर न्यायाधीशों के बहुमत ने निम्नलिखित मत दिया —

(१) उच्च न्यायालय की लखनऊ वैन्च श्री सिंह की याचिका की सुनवाई करने के लिये सक्षम थी।

(२) श्री सिंह ने वैन्च में याचिका देकर, उसके वकील ने उस याचिका को पेश करके और दोनो न्यायाधीशों ने उसकी सुनवाई कर श्री सिंह को जमानत पर छोड़कर सदन का कोई अपमान नही किया।

(३) उ० प्र० विधान सभा यह आदेश जारी करने के लिये सक्षम नही थी कि श्री सिंह के वकील और दोनो न्यायाधीशो को सदन के सम्मुख पेश किया जाये।

(४) इलाहाबाद उच्च न्यायालय की पूर्ण वैन्च दोनों न्यायाधीशों और वकील की याचिका सुनने तथा उस पर अन्तिम आदेश जारी करने के लिये सक्षम थी।[17]

५. राज्यों में उच्च न्यायालय

प्रत्येक स्वाधीन राज्य में एक उच्च न्यायायलय है, जो अभिलेख न्यायालय है और उसे न्यायालय के अपमान के लिये दण्ड देने का अधिकार है। प्रत्येक न्याया-

17 Ghoshal, A. K Art., *Jurisdictional Conflict between the Legislature and the Judiciary,' I. J. P S, Jan–March 1965.*

लय में एक मुख्य न्यायाधिपति तथा उतने न्यायाधीश रहते हैं जितनी कि संख्या राष्ट्रपति समय-समय पर आवश्यक समझकर नियत करे। उच्च न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा भारत के मुख्य न्यायाधिपति, राज्य के गवर्नर तथा (मुख्य न्यायाधिपति को छोड़कर अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति के समय) राज्य के मुख्य न्यायाधिपति के परामर्श से की जाती है। प्रत्येक न्यायाधीश अपने पद पर ६० वर्ष की आयु तक आसीन रहता है। १५वें संशोधन अधिनियम, १९६३ के द्वारा यह आयु-सीमा ६२ वर्ष कर दी गई है। परन्तु कोई भी न्यायाधीश (१) त्याग-पत्र द्वारा अपना पद अवधि से पूर्व ही त्याग सकता है, (२) उसे राष्ट्रपति द्वारा सर्वोच्च न्यायलय के न्यायाधीश की तरह पदच्युत भी किया जा सकता है, अथवा (३) वह अपना पद सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त होने पर या किसी दूसरे उच्च न्यायालय मे स्थानान्तरित होने पर खाली कर सकता है।

नियुक्ति के लिये योग्यतायें—कोई व्यक्ति उच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त नही हो सकता यदि वह (१) भारत का नागरिक नही हो, (२) भारत के राज्य क्षेत्र की सीमा में १० वर्ष तक न्यायिक पद पर आसीन न रहा हो या राज्य के उच्च न्यायालय अथवा अन्य उच्च न्यायालयों मे १० वर्ष तक एडवोकेट न रहा हो। प्रत्येक न्यायाधीश को अपना पद ग्रहण करने से पूर्व विहित शपथ लेनी आवश्यक है। प्रत्येक न्यायाधीश को ३,५०० रु० मासिक वेतन व भत्ते मिलते हैं किन्तु मुख्य न्यायधिपति का मासिक वेतन ४,००० रु० है।[१८] राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधिपति के परामर्श से किसी न्यायाधीश को एक न्यायालय मे भारत के राज्य-क्षेत्र मे स्थित दूसरे न्यायालय मे स्थानातरित कर सकता है। जब कभी मुख्य न्यायाधिपति का पद किसी कारण से रिक्त हो जाये तो उसके कर्त्तव्यों का पालन कोई भी ऐसा अन्य न्यायाधीश करेगा जिसे राष्ट्रपति इस प्रयोजन के लिये नियुक्त करे। किसी भी राज्य के उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधिपति राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति से किसी भी ऐसे व्यक्ति से, जो किसी उच्च न्यायालय का न्यायाधीश रह चुका हो, उस राज्य के उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में कार्य करने की प्रार्थना कर सकता है और ऐसे न्यायाधीश को वही उपलब्धियां प्राप्त होंगी जो कि राष्ट्रपति उसके लिये निर्धारित करे।

उच्च न्यायालय का अधिकार-क्षेत्र

साधारणतः प्रत्येक उच्च न्यायालय के अधिकार क्षेत्र की सीमा उस राज्य की सीमा है, जिसमें कि वह स्थित है, परन्तु संसद कानून द्वारा किसी उच्च न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र के विस्तार में वृद्धि कर सकती है। वर्तमान न्यायालयों

---

१८ राज्य पुनर्गठन के बाद मे विभिन्न उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के वेतनों मे अन्तर कर दिया गया है।

का अधिकार क्षेत्र तथा न्यायाधीशों की शक्तियां वही है जो कि उच्च न्यायालयों को संविधान के प्रारम्भ के समय प्राप्त थी। एक महत्वपूर्ण अन्तर केवल यह हुआ है कि अब उच्च न्यायालयों का अधिकार-क्षेत्र भूमिकर व उसकी वसूली से सम्बन्धित माल के मामलों तक विस्तृत हो गया है अर्थात् इस सम्बन्ध मे संविधान लागू होने के पूर्व जो प्रतिबन्ध उच्च न्यायालयों के अधिकार-क्षेत्र पर था वह अब हटा दिया गया है।

नीचे की तालिका मे उच्च न्यायालयो के नाम, क्षेत्रीय अधिकार-क्षेत्र और उनके मुख्य स्थान दिये गये है—

संख्या	नाम	क्षेत्रीय अधिकार-क्षेत्र	मुख्य स्थान
१	इलाहाबाद	उत्तर-प्रदेश	इलाहाबाद, लखनऊ में बैन्च
२	आन्ध्र-प्रदेश	आन्ध्र-प्रदेश	हैदराबाद
३	असम और नागालैंड	असम और नागालैंड	गोहाटी
४	बम्बई	महाराष्ट्र	बम्बई, नागपुर में बैन्च
५	कलकत्ता	पं० बंगाल, अंडमान निकोबार द्वीप समूह	कलकत्ता
६	गुजरात	गुजरात	अहमदाबाद
७	जम्मू और कश्मीर	जम्मू और कश्मीर	श्रीनगर और जम्मू
८	केरल	केरल लक्कादिव, मिनीकॉय और अमिनीदिव	अर्नेक्यूलम, त्रिवेन्द्रम में बैन्च
९	मध्य प्रदेश	मध्य प्रदेश	जबलपुर, इन्दौर और ग्वालियर में बैन्च
१०	मद्रास	मद्रास और पॉण्डीचेरी	मद्रास
११	मैसूर	मैसूर	बंगलौर
१२	उड़ीसा	उड़ीसा	कटक
१३	पटना	बिहार	पटना
१४	पंजाब	पंजाब, हरयाना और चण्डीगढ़	चण्डीगढ़
१५	राजस्थान	राजस्थान	जोधपुर
१६	दिल्ली	दिल्ली और हिमाचल प्रदेश	शिमला में बैन्च

प्राथमिक अधिकार-क्षेत्र—उच्च न्यायालय को दीवानी व फौजदारी दोनों ही प्रकार के मामलों में विशेष रूप से अपने स्थानीय क्षेत्र के लिये प्राथमिक अधिकार-क्षेत्र प्राप्त हैं। वे सभी दीवानी मामले जो खफीफा अदालत (Small Causes Court) नहीं सुन सकती उच्च न्यायालय में ही प्रारम्भ होते हैं। इसी प्रकार से फौजदारी के वे सभी मुकदमें जिनकी सुनवाई अन्य स्थानों पर सैशन्स कोर्ट में होती है उच्च न्यायालय द्वारा सुने जाते हैं।

अपीलीय अधिकार-क्षेत्र—उनका अपीलीय अधिकार-क्षेत्र भी दोनों ही प्रकार के मुकदमों तक विस्तृत है। दीवानी मुकदमों की अपीलें, यदि उनमें कम से कम ५,००० रु० की मालियत का प्रश्न अन्तर्ग्रस्त हो, उच्च न्यायालय में जा सकती हैं। फौजदारी मुकदमों की अपीलें उच्च न्यायालय में तभी जा सकती हैं जबकि उनमें कानून का कोई महत्वपूर्ण प्रश्न अन्तर्ग्रस्त हो। प्रत्येक ऐसे मुकदमे में दिये हुये दण्ड का अनुसमर्थन (confirmation) उच्च न्यायालय द्वारा होना आवश्यक है, जिसमे कि सैशन्स कोर्ट ने अभियुक्त को मृत्युदण्ड दिया हो।

अन्य अधिकार-क्षेत्र—प्रत्येक उच्च न्यायालय को अपने क्षेत्र में निर्देश, आदेश व लेख जारी करने का भी अधिकार है। इनमे विभिन्न प्रकार की रिटें आती हैं, जिन्हें नागरिकों के मूल अधिकारों को मनवाने के सम्बन्ध में जारी किया जाता है।

अधीक्षण (Superintendence) आदि की शक्तियां—प्रत्येक उच्च न्यायालय को राज्य में स्थित सभी आधीन न्यायालयों पर अधीक्षण की शक्तियां प्राप्त हैं। यह (१) इन न्यायालयों से हिसाब का लेखा (returns) मांगता है, (२) उनकी प्रक्रिया के सामान्य नियमों को बनाता व जारी करता है, तथा (३) उन फार्मों (forms) को निर्धारित करता है जिनमें हिसाब व अन्य रेकार्ड रखे जाते है, परन्तु अधीक्षण की इन शक्तियों का विस्तार सशस्त्र सेनाओं द्वारा अथवा इनसे सम्बन्धित कानूनों के अन्तर्गत बनाये न्यायालयों व न्यायाधिकरणों तक विस्तृत नहीं है। यह भी व्यवस्था है कि जब उच्च न्यायालय को यह समाधान हो जाय कि किसी अधीन न्यायालय में कोई ऐसा मुकदमा लम्बित (pending) है जिसमें सविधान के निर्वचन से सम्बन्धित कानून का कोई सारमय प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है तो वह या तो उसका स्वयं निर्णय करेगा या उस कानूनी प्रश्न का निर्णय करके उसी आधीन न्यायालय को अन्तिम निर्णय लिये के लौटा देगा।

उच्च न्यायालय के अधिकारी व कर्मचारीगण की नियुक्ति—इनकी नियुक्ति मुख्य न्यायाधिपति अथवा उसके द्वारा निर्देशित अन्य न्यायाधीश या पदाधिकारी करता है, परन्तु गवर्नर ऐसा नियम बना सकता है कि उन व्यक्तियों की इन पदों पर नियुक्ति, जिनका उच्च न्यायालय से पहले कोई सम्बन्ध न रहा हो, राज्य लोक-सेवा आयोग के परामर्श से की जाय। इन अधिकारियों व कर्मचारियों की सेवा की

शर्तें भी नियुक्ति करने वाले अधिकारी द्वारा निर्धारित की जाती है, परन्तु ये राज्य विधान-मण्डल द्वारा इस सम्बन्ध में बनाये कानून के अनुसार ही होगी।

६. अन्य महत्वपूर्ण बातें

अधीन न्यायालय—प्रत्येक राज्य मे जिला न्यायाधीशो (District Judges) की नियुक्ति, स्थानीयकरण (posting), स्थानान्तर (transfer) और पदोन्नति (promotion) इत्यादि गवर्नर द्वारा उच्च न्यायालय के परामर्श से होते है। ऐसा व्यक्ति, जो सघ अथवा राज्य की नौकरी में नही है, जिला न्यायाधीश के पद पर तभी नियुक्त हो सकता है जबकि वह कम से कम ७ वर्ष तक एडवोकेट या प्लीडर रहा हो और उच्च न्यायालय ने उसकी इस पद पर नियुक्ति के लिये सिफारिश की हो। जिला न्यायाधीश, खफीफा अदालत का मुख्य न्यायाधीश, चीफ प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट, सैशन्स जज, अतिरिक्त व सहायक जज, इत्यादि एक ही श्रेणी मे आते है। न्याय-पालिका की सेवाओ मे जिला न्यायाधीशो को छोडकर अन्य अधिकारियों की नियुक्ति गवर्नर अपने बनाये हुये नियमो के अनुसार करता है। इन नियमो को वह राज्य में लोक सेवा आयोग तथा उच्च न्यायालय के परामर्श से बनाता है। जिला न्यायालय तथा उसके अधीन न्यायालय उच्च न्यायालय के अधीन होते है। उच्च न्यायालय के नियत्रण मे जिला न्यायाधीश के नीचे के अधिकारियों की नियुक्ति, पदोन्नति तथा छुट्टी लेना आदि भी आते है।

अधीन न्यायालयों का संगठन—प्रत्येक जिले अथवा जिलो के समूह के लिये 'जिला व सैशन्स कोर्ट' होती है जिसका प्रधान जिला व सैशन्स जज होता है। बड़े क्षेत्र वाले न्यायालयो में उसके अतिरिक्त एक या अधिक अतिरिक्त जज भी होते हैं। दीवानी के क्षेत्र में जिला न्यायालय के नीचे सिविल जजों की अादलतें और उनके नीचे मुन्सिफो की अदालते है। इनके अतिरिक्त कुछ जिलो के केन्द्रीय स्थानो में खफीफा अदालते (Small Causes Courts) भी होती है। फौजदारी क्षेत्र मे सैशन्स कोर्ट के नीचे प्रथम, द्वितीय व तृतीय श्रेणियो के दण्डाधीश होते है। हाकिम इलाका (Sub-divisional Officers) प्रथम श्रेणी के दण्डाधीश होते है। अनेक अवैतनिक (Honorary) दण्डाधीशो की अदालतें भी होती हैं। नीचे के स्तर पर सरकारी दण्डाधीश प्रशासनिक व न्यायिक दोनो ही प्रकार के कृत्य करते है, परन्तु सभी राज्यो मे इस दोष को अब दूर करने के प्रयत्न हो रहे है। प्रत्येक जिले मे दीवानी व फौजदारी अदालतों के अतिरिक्त माल की अदालते भी होती है। इनमें सबसे छोटी अदालत तहसीलदार की होती है, सबसे ऊपर बोर्ड ऑफ-रेवेन्यू होती है।

न्यायालयों की स्वतन्त्रता—भारत मे न्यायपालिका उसी अर्थ मे स्वतन्त्र है, जैसे कि ब्रिटेन में। न्यायालयो के ऊपर कार्यपालिकाओ का नियत्रण नहीं है और न ही विधान-मण्डल साधारण रूप से उनके कार्यों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप कर सकते

है। न्यायपालिका की स्वतंत्रता की रक्षा के हेतु संविधान में अनेक उपबन्ध दिये गये हैं, जिनका उल्लेख प्रथम खण्ड में किया जा चुका है। उनकी स्वतंत्रता बनी रहे इस उद्देश्य से यह भी उपबन्धित है कि उनके अधिकारियों व कर्मचारीगण की नियुक्ति व उनकी सेवा की शर्तों पर नियंत्रण न्यायाधीशों का ही रहेगा। उन्हें विधान-मण्डलों व कार्यपालिकों के हस्तक्षेप से अलग रखने के हेतु उनका सम्पूर्ण व्यय संचित निधि पर भारित होता है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि उच्च न्यायालयों के संगठन आदि में राज्य की सरकारों का भाग 'नहीं' तुल्य है।

महाधिवक्ता—यहाँ यह भी उल्लेख करना आवश्यक है कि प्रत्येक राज्य में एक महाधिवक्ता (Advocate General) भी होता है, जिसके कार्य राज्य में वैसे ही है जैसे कि भारत के महान्यायवादी (Attorney-General of India) के संघ सरकार के बारे में हैं। उसके पद से सम्बन्धित संवैधानिक उपबन्ध निम्न प्रकार है :

> अनुच्छेद १६५ (१) उच्च न्यायालय के न्यायाधीश नियुक्त होने की अर्हता रखने वाले व्यक्ति को प्रत्येक राज्य का राज्यपाल राज्य का महाधिवक्ता नियुक्त करेगा। (२) महाधिवक्ता का कर्त्तव्य होगा कि वह उस राज्य की सरकार को ऐसे विधि सम्बन्धी विषयों पर मंत्रणा दे तथा ऐसे विधि रूप दूसरे कर्त्तव्यों का पालन करे जो राज्यपाल उसे समय-समय पर भेजे या सौंपे तथा उन कृत्यों का निर्वहन करे जो उसे इस संविधान अथवा अन्य किसी तत्समय प्रवृत्त विधि के द्वारा या अधीन दिये गये हो।
>
> (३) महाधिवक्ता राज्यपाल के प्रसाद-पर्यन्त पद धारण करेगा तथा राज्यपाल द्वारा निर्धारित पारिश्रमिक पायेगा।

विधि आयोग ने इस बात पर ध्यान दिलाया है कि न्यायाधीशों के वेतन अपर्याप्त है, वे इतने कम है कि अच्छे वकील न्यायाधीश बनने की अपेक्षा वकालत करना ही अधिक पसन्द करते है। इसके अतिरिक्त न्यायाधीश अपने पदो के लिये उचित ऊँचा जीवन स्तर भी कायम नहीं रख सकते, यहाँ तक कि वे अपनी सन्तान की शिक्षा और विवाह आदि दायित्वों को कठिनाई से ही पूरा कर पा सकते है।[19] संविधान के पन्द्रहवें संशोधन अधिनियम के अनुच्छेद १२४ और २१७

---

19 "The Law Commission drew a sombre picture of the inadequate judicial salaries, citing the statistical data furnished by 'a leading member of the Bombay Bar,' and adding that his view was endorsed by an experienced chief justice who thought that a judge's salary was ...'wholly unattractive' not only as the amount was far smaller than what the practi-

में उपखण्ड जोड़कर यह स्पष्ट किया है कि न्यायाधीशों की आयु के विषय में कोई विवाद उठे तो राष्ट्रपति मुख्य न्यायाधिपति की मंत्रणा से उसका अन्तिम निर्णय करेगा।[20]

—:o:—

---

tioner can easily earn at the Bar but it is also inadequate for maintaining a decent standard of living and discharging one's obligations to one's children as regards their education and marriage "

Seervai. H. M., *op cit*, *p. 1009.*

20 Art. 124 (2A) : "The age of a judge of Supreme Court shall be determined by such authority and in such manner as Parliament may by law provide". Art. 217 (3): "If any question arises as to the age of the judge of a High Court, the question shall be decided by the President after consultation with the Chief Justice of India and the decision of the President shall be final".

Constitution (Fifteenth Amendment) Act, 1963 inserted sub-Art. (2A) in Art, 124 and inserted with retrospective effect sub-Art. (3) in Art. 217.

अध्याय १२

संविधान के अन्य महत्वपूर्ण पहलू

१. राजभाषा

स्वतन्त्र भारत मे राज-भाषा का स्थान किस भाषा को मिले ? इस प्रश्न पर गहरा मतभेद पैदा हुआ। भारत विभाजन के फलस्वरूप उर्दू समर्थकों का पक्ष अति क्षीण पड़ गया; फिर भी वे हिन्दी के बजाय हिन्दुस्तानी को राज्य भाषा बनाना चाहते थे। साथ ही दक्षिण भारत के अधिकतर प्रतिनिधि हिन्दी को राज्य-भाषा का स्थान दिये जाने के पक्ष में न थे, क्योंकि वहाँ पर हिन्दी बोलने व समझने वालों की संख्या नगण्य थी। उच्च शिक्षित वर्ग अंग्रेजी को ही राज-भाषा बनाने के पक्ष में था। दक्षिण के अ-हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेश भी अंग्रेजी को कायम रखना चाहते थे। ऐसी परिस्थितियों में संविधान निर्माताओं ने राज्य-भाषा की समस्या को शान्तिपूर्ण ढंग और सहृदयता से सुलझाया। हिन्दी को राज्य-भाषा स्वीकार किया गया; किन्तु वर्तमान राज-भाषा अंग्रेजी का स्थान तुरन्त ही हिन्दी न ले सकती थी। परिवर्तन को सुगमतापूर्वक लाने के उद्देश्य से अंग्रेजी का प्रयोग १५ वर्ष की अवधि के लिये स्वीकार किया गया।[1] साथ ही यह भी निश्चय किया गया कि राज-भाषा हिन्दी बन जाने से प्रादेशिक भाषाओं के महत्व पर कोई प्रभाव न पड़ेगा। अतः संविधान में उनके उचित विकास का भी विशेष ध्यान रखा गया है। कुछ अन्य देशों मे राज-भाषा एक ही नहीं वरन् दो या तीन भी है, किन्तु भारत के संविधान में हिन्दी को सम्पूर्ण देश की राज-भाषा माना गया है। इसका कारण और महत्व स्वयं स्पष्ट है। भारत में एकता को सुदृढ़ बनाने तथा साम्प्रदायिकता व प्रान्तीयता की भावनाओं को न बढ़ने देने के उद्देश्य से ही एक भाषा को राज-भाषा (Official language) के रूप में स्वीकार किया गया है और वास्तव में वही

---

1 "The question of language presented one of the most difficult problems to Constituent Assembly There was a large group of representatives from the Hindi speaking areas who were anxious that from the very beginning the Indian Republic should start with its own indigenous language. On the other hand, the representatives from the non-Hindi speaking areas were no less anxious that the transition from English to the Indian official language should be gradual and painless."

Santhanam, K. : *Constitution of India*, p. 270.

राष्ट्र-भाषा (National language) बनेगी इसमें अब कोई सन्देह नहीं। संविधान में संघ और राज्यों की राज-भाषा के सम्बन्ध में विस्तृत उपबन्ध दिये गए हैं, जिनका संक्षिप्त वर्णन यहाँ पर किया जाता है।

संघ की भाषा (Language of the Union)—संघ की राज-भाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी होगी, परन्तु संघ के राजकीय कार्यों में भारतीय अंकों के अन्तर्राष्ट्रीय रूप का प्रयोग होगा अर्थात् अंक अंग्रेजी के रहेंगे। इन उपबन्धों के रहते हुए संविधान के प्रारम्भ से १५ वर्ष तक संघ के उन सभी कार्यों के लिए अंग्रेजी भाषा का प्रयोग होगा जिनके लिए संविधान प्रारम्भ के पूर्व अंग्रेजी भाषा प्रयुक्त की जाती थी। परन्तु राष्ट्रपति इस अवधि की समाप्ति के पूर्व ही आदेश द्वारा संघ के राजकीय कार्यों में से किसी के लिए अंग्रेजी के साथ-साथ हिन्दी तथा भारतीय अंकों के अन्तर्राष्ट्रीय रूप के साथ-साथ देवनागरी रूप के प्रयोग करने का अधिकार दे सकेगा। इस प्रकार हिन्दी अंग्रेजी का स्थान क्रमिक रूप में निश्चित अवधि तक ले सकेगी।

प्रादेशिक भाषायें (Regional Language)—प्रत्येक राज्य का विधान-मण्डल राज्य के सभी या विशिष्ट कार्यों के लिए एक या अधिक प्रादेशिक भाषाओं अथवा हिन्दी को राज-भाषा स्वीकार कर सकता है। अनेक राज्यों ने हिन्दी अथवा प्रादेशिक भाषाओं को अपनी राज-भाषा मान लिया है। जब तक राज्य का विधान-मण्डल अन्यथा निर्धारित न करे तब तक उस राज्य में अंग्रेजी भाषा का प्रयोग उन सभी राजकीय कार्यों के लिए होता रहेगा, जिनके लिये संविधान प्रारम्भ होने से पूर्व अंग्रेजी का प्रयोग होता था। संघ और राज्यों के बीच अथवा राज्यों में आपसी पत्र-व्यवहार अथवा संचार (communication) के लिए जिस भाषा का प्रयोग संविधान के प्रारम्भ पर होता था उसी भाषा का प्रयोग होता रहेगा, परन्तु संघ की अधिकृत राज-भाषा का ही प्रयोग संघ और राज्यों के बीच लिखा-पढ़ी के लिए होगा। यदि दो या अधिक राज्य समझौते द्वारा हिन्दी को आपसी पत्र-व्यवहार की भाषा बनाना चाहें तो वे ऐसा कर सकते हैं, अर्थात् उनके बीच में होने वाली लिखा-पढ़ी के लिए हिन्दी का प्रयोग अभी हो सकता है जबकि हिन्दी संघ की राज-भाषा १५ वर्ष की अवधि तक बन पाएगी। इस विषय में भी अल्प-संख्यकों के हितों का ध्यान रखा गया है। यदि किसी राज्य में अल्पसंख्यकों की संख्या काफी हो और राष्ट्रपति उनकी इस मांग से सन्तुष्ट हो जाये कि वे अपनी भाषा को भी पूरे राज्य अथवा उस के किसी भाग के लिये राजकीय भाषा बनाना चाहते हैं तो राष्ट्रपति उस राज्य को इस आशय का आदेश दे सकता है। ऐसा आदेश मिलने पर वह राज्य आदेश में बताए क्षेत्रों के लिये उनकी भाषा को भी राज-भाषा के रूप में स्वीकार करेगा।

सर्वोच्च व उच्च न्यायालयों आदि की राज-भाषा—जब तक संसद कानून द्वारा अन्य व्यवस्था न करे तब तक (१) सर्वोच्च व उच्च न्यायालयों की सब

कार्यवाही तथा (२) सघ व राज्य विधान-मण्डलो मे पेश किए जाने वाले विधेयकों और पास हुए कानूनों, अध्यादेशों, नियमों इत्यादि की अधिकृत पाठ (authorised text) *अंग्रेजी मे ही होगी। किसी राज्य का गवर्नर राष्ट्रपति की अनुमति से राज्य* के उच्च न्यायालय की कार्यवाही राज्य की राज-भाषा में होने की अनुमति दे सकता है, *किन्तु यह बात उच्च न्यायालय की कार्यवाही, निर्णयों,* आदेशों व डिक्रियों के बारे में लागू न होगी। यदि किसी राज्य का विधान-मण्डल अंग्रेजी के स्थान पर विधेयको, अधिनियमो व अध्यादेशों के लिए अन्य भाषा (राज्य की भाषा) के प्रयोग को विहित करता है तो भी उनका *अंग्रेजी में गवर्नर द्वारा अधिकृत अनुवाद* ही अधिकृत पाठ समझा जायेगा।

भाषा आयोग और संसदीय समिति (Language Commission and Parliamentary Committee)—*सविधान के प्रारम्भ से ५ व १० वर्ष बाद राष्ट्रपति द्वारा भाषा आयोग नियुक्त किए जायेंगे। प्रथम भाषा आयोग की नियुक्ति ७ जून १९५५ को की गई थी, जिसमे २१ सदस्य थे और स्व० श्री बी० जी० खेर उसके सभापति थे। इस आयोग को इन विषयों के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को अपनी* सिफारिश देनी थी—(१) सघ के राजकीय कार्यों के लिए हिन्दी का प्रगतिशील प्रयोग, (२) सघ के सभी या विशिष्ट राजकीय कार्यों के लिए अंग्रेजी भाषा के प्रयोग पर प्रतिबन्ध, (३) सविधान के अनुच्छेद ३४८ में वर्णित सभी या कुछ प्रयोजनो के लिए भाषा का प्रयोग, (४) अंको का रूप, और (५) अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को राज्य-भाषा बनाने के सम्बन्ध मे समय-क्रम तैयार करना इत्यादि। सविधान के अनुसार सभी प्रादेशिक भाषाओ के प्रतिनिधियो को इस आयोग में *लिया गया था। इस आयोग को अपनी सिफारिशें देने से पूर्व इन बातों का उचित* ध्यान रखना था—भारत के औद्योगिक, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक विकास तथा अ-हिन्दी भाषा-भाषियो के नौकरियो के सम्बन्ध मे दावे और हित। इसके अतिरिक्त ससद के ३० सदस्यो की *एक समिति बनाई जायेगी जिसमें क्रमशः लोक सभा* व राज्य सभा के २० और १० सदस्य होगे। यह समिति भाषा आयोग की सिफारिशों पर अपना मत राष्ट्रपति के समक्ष रखेगी।

खेर आयोग की मुख्य सिफारिश यह थी :'आयोग के मत मे सविधान के *बुद्धिपूर्ण और विस्तृत उपबन्धो को कार्यान्वित किया जाना* चाहिए', *किन्तु* दो सदस्यो ने भिन्न मत प्रकट किया। उनके अनुसार अंग्रेजी का स्थान पूर्णतया हिन्दी को दिलाने के कार्य की अन्तिम तिथि १९६५ से आगे बढानी चाहिए थी। आयोग का अन्य सिफारिशें निम्नलिखित थी :

(१) *भारतीय भाषाओ की एक राष्ट्रीय अकादमी की स्थापना की* जाये जिसका उद्देश्य सविधान के उपबन्धों के अनुसार सघीय और प्रादेशिक भाषाओ का विकास करना हो, (२) हिन्दी ही, शिक्षा, प्रशासन और सार्वजनिक जीवन का साधारण माध्यम रहे, *किन्तु क्योंकि हिन्दी*

और प्रादेशिक भाषाओं में कोई आपसी विरोध नहीं है अतएव उन सभी का साथ-साथ विकास होना उचित है, (३) शिक्षा-पद्धति को इस प्रकार से सुधारा जाए कि विभिन्न प्रदेशों से प्रादेशिक भाषाओं के द्वारा शिक्षा दी जाने के साथ-साथ हिन्दी को भी बढ़ाया जाए। अ-हिन्दी भाषी प्रदेशों में माध्यमिक स्टेज की कक्षाओं में हिन्दी का अध्ययन अनिवार्य बनाया जाए, साथ ही अंग्रेजी को पढ़ाने की भी व्यवस्था की जाए। सभी विश्वविद्यालयों में ऐसी व्यवस्था हो कि जो विद्यार्थी हिन्दी माध्यम द्वारा परीक्षायें देना चाहें वे दे सकें, (४) रेल, डाक, तार, एक्साइज व आय-कर विभागों में स्थायी रूप से हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का प्रयोग जारी रहे अर्थात् अन्तर्राज्य लिखा पढ़ी के लिए इन क्षेत्रों में हिन्दी का प्रयोग किया जाये और विभिन्न प्रदेशों में सार्वजनिक मामलों के लिए प्रादेशिक भाषाओं का प्रयोग हो, और (५) सरकार को चाहिए कि ऐसे संरक्षणों की व्यवस्था हो जिससे कि विभिन्न प्रदेशों के निवासियों द्वारा सरकारी पद पाने के अवसरों पर संक्रमणकाल में कुप्रभाव न पड़े।

संसदीय समिति (Parliamentary Committee)—भाषा आयोग की रिपोर्ट के बाद संविधान में दिये गए उपबन्ध के अनुसार एक संसदीय समिति नियुक्त की गई थी, जिसमें लोक सभा व राज्य सभा के क्रमशः २० और १० सदस्य थे। इस समिति ने भाषा आयोग की सिफारिशों पर राष्ट्रपति के सामने अपना मत रखा। उस पर विचार करके राष्ट्रपति ने २७ अप्रैल १९६० को एक निदेश जारी किया।

राष्ट्रपति का निदेश—इसमें यह आदेश दिया गया है कि (१) सन् १९६५ के बाद भारतीय संघ की प्रमुख राज भाषा हिन्दी हो जाएगी और अंग्रेजी सहकारी (associate) भाषा के रूप में जारी रहेगी। परन्तु इस काल में अंग्रेजी के प्रयोग पर कोई प्रतिबन्ध न लगेंगे; (२) संघ सरकार हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों में स्थित अपने कार्यालय के लिए भरती होने वाले व्यक्तियों के लिए हिन्दी का समुचित ज्ञान अनिवार्य बना सकती है, (३) उच्च केन्द्रीय तथा अखिल भारतीय सेवाओं के लिए होने वाली परीक्षाओं में कुछ समय बाद हिन्दी को भी परीक्षा का माध्यम बनाया जाये। कुछ समय से भाषा के प्रश्न पर फिर से सार्वजनिक प्रवाद (public controversy) चल रहा है। अ-हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेशों के प्रतिनिधियों, विशेष कर मद्रास वालों ने अंग्रेजी को हटाने के विरुद्ध जोरदार आवाज उठाई है। अ-हिन्दी विशेष-भाषा-भाषी जनता की मांगों का ध्यान रखते हुए भारत सरकार ने यह निर्णय किया है कि सन् १९६५ के बाद भी जब हिन्दी संघ की मुख्य राज-भाषा (principal language) बन जाएगी, अंग्रेजी का प्रयोग सहकारी राज-भाषा के रूप में तब तक जारी रहेगा जब तक आवश्यक हो। अक्तूबर १९६२ में कांग्रेस

ससदीय दल ने सरकार के निर्णय का समर्थन किया और सरकार ने इस उद्देश्य से सविधान में आवश्यक सशोधन कराने का निश्चय किया।

राज-भाषा अधिनियम, १९६३ (The Official Languages Act, 1963)—१९ अक्तूबर १९६२ को कांग्रेस ससदीय दल की कार्यकारिणी समिति ने सर्वसम्मति से इस बात से सहमति प्रकट की कि अंग्रेजी भाषा सन् १९६५ मे गणतन्त्र दिवस के बाद भी अतिरिक्त राज-भाषा के रूप मे प्रयुक्त की जाय और उसका ससद में कार्य संचालन के लिए भी प्रयोग किया जाय। अत: सन् १९६३ में राज-भाषा अधिनियम पास किया गया। इस अधिनियम में यह व्यवस्था है कि सविधान मे दिये गए प्राविधान—सविधान के प्रारम्भ से १५ वर्ष के बाद अंग्रेजी का स्थान हिन्दी लेगी—के रहते हुए भी हिन्दी के अतिरिक्त अंग्रेजी का प्रयोग इन प्रयोजनो के लिए जारी रहेगा—(अ) सघ सरकार के उन सभी सरकारी कार्यों के लिए जिनके लिए उसका प्रयोग नियत दिन से पूर्व तक होता रहा; और (ब) ससद में कार्यवाही के लिए।[2] जिस दिन प्राविधान लागू होगा उसके १० वर्ष बाद राज-भाषा के सम्बन्ध मे एक समिति (Committee on official languages) बनाई जाएगी, यदि इस उद्देश्य से राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति से संसद में एक सकल्प पेश किया जाय और वह पास हो जाय। यह समिति सघ के सरकारी प्रयोजनों के लिए हिन्दी के प्रयोग की प्रगति पर विचार करेगी और राष्ट्रपति को रिपोर्ट देगी जिसमे इस सम्बन्ध मे सिफारिशें की जायेंगी और राष्ट्रपति उस रिपोर्ट को संसद के दोनो सदनो में रखवायेगा तथा राज्य सरकारों को भी भेजेगा।

विशेष निदेश आदि—सविधान मे यह भी निदेश है कि सघ अथवा किसी भी राज्य में प्रयोग होने वाली भाषा के सम्बन्ध मे यदि किसी को कोई शिकायत करनी हो तो वह सघ अथवा राज्य के उपयुक्त अधिकारी की सेवा मे ऐसी शिकायत दूर करने के लिए प्रार्थना-पत्र दे सकता है। साथ ही संविधान में यह भी निदेश है कि सघ सरकार को हिन्दी की उन्नति और विकास के लिए प्रयत्न करना चाहिए, जिससे सघ के सभी लोग उसका प्रयोग करने लगें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हिन्दी भाषा के शब्द-भण्डार को हिन्दुस्तानी, संस्कृत व प्रादेशिक भाषाओं से शब्द लेकर बढाया जाए। आठवी अनुसूची में अग्रलिखित प्रादेशिक भाषाओं का उल्लेख है—(१) असमी, (२) बगाली, (३) गुजराती, (४) पंजाबी, (५) हिन्दी,

---

2. Section 3 of the Official Languages Act lays down.

'Notwithstanding the expiration of the period of fifteen years from the commencement of the constitution, the English Language may, as from the appointed day, continue to be used, in addition to Hindi :

(a) for all the official purposes of the union for which it was being used immediately before that day; and

(b) for the transaction of business in Parliament.

(६) कन्नड, (७) कश्मीरी, (८) मलयालम, (९) मराठी, (१०) उड़िया, (११) सस्कृत, (१२) तमिल, (१३) तेलुगु, और (१४) उर्दू । सस्कृत और उर्दू को छोडकर अन्य प्रादेशिक भाषाओ को सम्बन्धित राज्यो में अपनाया गया है और अब उर्दू को भी कश्मीर मे राज-भाषा का स्थान मिल गया है।

२. निर्वाचन

वयस्क मताधिकार—भारतीय निर्वाचन-पद्धति की सर्वप्रथम विशेषता 'वयस्क मताधिकार' (adult franchise) है। भारतीय सविधान के निर्माताओ ने प्रजातन्त्र के आधार को अधिक से अधिक व्यापक बनाने के उद्देश्य से वयस्क मताधिकार (Adult franchise) के आदर्श को व्यावहारिक रूप प्रदान किया है। जबकि सन् १९१९ और १९३५ के भारतीय शासन अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तीय विधान कौंसिल के लिए क्रमशः ६ और १६ प्र० श० व्यक्तियो को मताधिकार मिला था और केन्द्रीय विधान सभा के लिए मताधिकार अत्यन्त ही सीमित था एव मताधिकार के आधार मुख्यत सम्पत्ति और शिक्षा थे, भारत के सविधान द्वारा वयस्क मताधिकार दिया जाना एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कदम है। अब लोकसभा और राज्य की विधान सभाओ के लिए सभी २१ वर्ष की आयु वाले व्यक्ति मतदाता बन गए है। प्रथम आम चुनाव के अवसर पर कुल मतदाताओ की सख्या लगभग १७·२ करोड थी जो दूसरे चुनाव मे बढकर लगभग १९·३ करोड़ हो गई और अब मतदाताओ की सख्या २४ करोड से ऊपर है।

भारत में साक्षरता का प्रतिशत अभी २० प्र० श० भी नही है, इस आधार पर कुछ आलोचको ने वयस्क मताधिकार दिये जाने की बुद्धिमत्ता मे सन्देह प्रकट किया है। अशिक्षितो को मताधिकार मिलने से प्रजातन्त्र की सफलता मे उनका विश्वास नही है। परन्तु हमे यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यदि अब भी सम्पत्ति या शिक्षा आदि को आधार मानकर मताधिकार प्रदान किया जाता तो वयस्क मताधिकार का आदर्श भावी १०—१५ वर्ष मे भी व्यावहारिक बनना कठिन होता और प्रजातन्त्र की दिशा मे प्रगति बहुत धीमी होती। जनसाधारण के हितो की रक्षा और उनके व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए मताधिकार का मिलना अति आवश्यक है। मताधिकार प्राप्ति से जनसाधारण की सार्वजनिक मामलों मे अभिरुचि बढ़ती है अतः मताधिकार राजनैतिक शिक्षा का एक अनुपम साधन भी है।[3] डा० राजेन्द्र प्रसाद ने सविधान सभा मे सत्य ही कहा था : 'हमारे देशवासियो मे बुद्धिमत्ता है। उनकी संस्कृति भी ठोस है चाहे वर्तमान समय का भ्रष्ट शिक्षित वर्ग उसका मान

---

3. "It is necessary for the expansion of citizen's personality that he should have the feeling that he has a definite role to play in shaping the destinies of his nation. A sense of equality with his fellow beings not only removes social bitterness but it is an incentive to great effort..."

(N V. Gadgil)

न करे। वे साक्षर नहीं है, परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि अपने तथा देश के हित में उचित पग उठाने की समझ रखते है, यदि उन्हे आवश्यक बातें समझा दी जाये।''

संयुक्त चुनाव-पद्धति (Joint Electorates)—भारतीय निर्वाचन पद्धति की दूसरी मुख्य विशेषता संयुक्त निर्वाचन प्रणाली है। परतन्त्र भारत में विभाजन के लिए उत्तरदायी कारणों मे सबसे महत्वपूर्ण योग पृथक् निर्वाचन-प्रणाली का था, जिसका सविधान निर्माताओ ने उन्मूलन कर दिया है और अब सयुक्त चुनाव-प्रणाली को अपनाया गया है। अब प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र के लिए केवल एक ही निर्वाचक सूची (Single Electoral Roll) होती है, जिसमें सभी धर्मों व सम्प्रदायो के मतदाताओं के नाम होते हैं और वे सभी मिलकर एक प्रतिनिधि का चुनाव करते है। यह प्रणाली सभी विधान-मण्डलों के लिए अपनाई गई है। इसके अतिरिक्त पूर्वकालीन पृथक् निर्वाचन-प्रणाली के अन्य सभी दोषों को भी दूर कर दिया गया है अर्थात् अब किसी सम्प्रदाय के लिए जनसंख्या के अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व (weightage) जैसा दोष मिट गया है। केवल अनुसूचित वर्गों व पिछड़े हुए लोगों के लिए एक विशेष सुविधा प्रदान की गई है। उनके लिए राज्य विधान सभाओ व लोकसभा मे उनकी जनसंख्या के आधार पर आरक्षित स्थानों (reserved seats) की व्यवस्था है, किन्तु यह भी आरम्भ में केवल १० वर्ष की अवधि के लिए की गई थी, जिसे आगामी १० वर्ष के लिए बढा दिया गया है। इस प्रकार की व्यवस्था को प्रजातन्त्र विरोधी कहना बडी भूल होगी।

स्वतन्त्र चुनाव और निर्वाचन आयोग (Free Elections and Election Commission)—भारतीय निर्वाचन पद्धति की तीसरी मुख्य विशेषता 'स्वतन्त्र चुनाव' है। यह एक निर्विवाद सत्य है कि प्रजातन्त्र मे निर्वाचन स्वतन्त्र और निष्पक्ष होने चाहियें। जिस सीमा तक जनता को चुनाव की निष्पक्षता और स्वतन्त्रता मे विश्वास कम हो उसी सीमा तक चुनावो को असफल समझना चाहिए। इसी विचार से भारत के सविधान निर्माताओ ने चुनावो को स्वतन्त्र और निष्पक्ष बनाने की बड़ी ही सराहनीय व्यवस्था संवैधानिक उपबन्धों द्वारा की है। भारत के संविधान में एक निर्वाचन आयोग की व्यवस्था है। इस आयोग को ससद, राज्य विधान-मण्डलो व राष्ट्रपति और उप-राष्ट्रपति के चुनावों के अधीक्षण, निदेशन व नियन्त्रण, निर्वाचित सूचियों के तैयार कराने और निर्वाचन सम्बन्धी विवादों के निर्णय कराने आदि के महत्वपूर्ण कार्य सौंपे गये है। निर्वाचन आयोग को परामर्श देने का कार्य (advisory function) भी मिला है। अनुच्छेद १०३ के अनुसार यह राष्ट्रपति तथा गवर्नरों को क्रमश संसद व राज्य विधान-मण्डलों को निर्योग्यताओं से सम्बन्धित किसी भी प्रश्न पर अपनी सम्मति देगा। अनुच्छेद ३२४ (५) के अनुसार मुख्य चुनाव आयुक्त को केवल उसी प्रकार से उसके पद से हटाया जा सकता है जैसे कि सर्वोच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश को। परन्तु

जबकि न्यायाधीश ६४ वर्ष की आयु तक पदासीन रहते हैं, मुख्य आयुक्त की नियुक्ति किसी भी सीमित अवधि के लिए की जा सकती है। निर्वाचन आयोग चुनाव कराने के लिए एक स्वतन्त्र अभिकरण (agency) है; इसके महत्व के विषय में दो राय नही हो सकती। यदि प्रजातन्त्र को सफल बनाना है तो चुनाव-व्यवस्था यथासम्भव स्वतन्त्र व निष्पक्ष होनी अति आवश्यक है। इस बात का विशेष ध्यान रखा जाना उचित ही था कि सत्तारूढ दल अपने हित मे निर्वाचन तन्त्र पर किसी प्रकार का प्रभाव न डाल सके। इस दृष्टि से भारत का सविधान अन्य अनेक देशो के सविधानों मे एक पग आगे ही है।

निर्वाचन आयोग में एक मुख्य निर्वाचन आयुक्त (Chief Election Commissioner) है जो उसका सभापति होता है तथा अन्य आयुक्त होते है, जिनकी सख्या समय-समय पर राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त की जायेगी। इनकी नियुक्ति राष्ट्रपति ससद द्वारा विहित नियमो के अधीन करता है। राज्य विधान-मण्डलों के निर्वाचनो मे आयोग की सहायता करने के लिये निर्वाचन आयोग के परामर्श से राष्ट्रपति प्रादेशिक आयुक्त (Regional Commissioner) भी नियुक्त कर सकता है। इन आयुक्तों की अवधि और सेवा की शर्तें भी राष्ट्रपति नियम बनाकर निर्धारित करता है, किन्तु वे इस सम्बन्ध मे संसद द्वारा बनाये गये कानूनो के ही अनुसार होने आवश्यक हैं। मुख्य आयुक्त के सम्बन्ध मे सविधान मे यह व्यवस्था भी है कि मुख्य आयुक्त को नियुक्ति के उपरान्त केवल उन्ही कारणो और उसी ढग से पदच्युत किया जा सकता है जिन कारणो और जिस ढग से सर्वोच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश को। किन्तु अन्य निर्वाचन आयुक्तो को मुख्य आयुक्त की सिफारिश पर ही पदच्युत किया जा सकता है।

निर्वाचन के विषय में संसद की शक्तियां—सविधान के अनुसार निर्वाचन सम्बन्धी अन्य आवश्यक उपबन्ध बनाने की शक्ति संसद को मिली है। इनमें विधान मण्डलो के निर्वाचन के लिये निर्वाचन सूचियाँ तैयार करना, निर्वाचन क्षेत्रों का परिसीमन (delimitation) और अन्य सभी आवश्यक उपबन्ध आते है। इसी हेतु ससद ने सन् १९५० व १९५१ मे जनप्रतिनिधित्व अधिनियम (Representation of People's Acts) पास किये थे और अब उनमें आवश्यक संशोधन किये हैं। इस सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि जन प्रतिनिधित्व अधिनियम को संशोधित करते समय संसद ने एक प्राविधान द्वारा उन सभी शरणार्थियों को, जिन्होने १६ दिसम्बर १९५६ तक अपने को भारतीय नागरिक के रूप में पंजीकृत करा लिया था, मताधिकार प्रदान किया। इस प्राविधान का मुख्य उद्देश्य पूर्वी पाकिस्तान से हाल ही में आये शरणार्थियों को चुनाव में भाग लेने का अवसर व अधिकार देना था। राज्य विधान-मण्डलो को अपने निर्वाचन के सम्बन्ध में ऐसे उपबन्ध बनाने का अधिकार है जो ससद के कानून द्वारा बन सके है।

किसी भी न्यायालय में उपरोक्त सम्बन्धों के अधीन निर्वाचन-क्षेत्रों अथवा स्थानों के वितरण के सम्बन्ध में जो कानून बनेंगे उन पर किसी प्रकार की न्यायिक कार्यवाही नही की जा सकती। संसद अथवा विधान-मण्डल के लिये चुनावों के सम्बन्ध मे किसी भी प्रकार की चुनाव याचिका (Election Petition) कानून द्वारा निर्धारित ढंग से ही उपयुक्त अधिकारी को दी जायगी। भारत संसार में सबसे अधिक मतदाताओं की संख्या वाला देश है, जिसमें साक्षरों की संख्या अभी बहुत कम है। फिर भी गत चारों ही आम चुनाव शान्तिपूर्वक हुए और देशवासियों तथा विदेशियों ने उनकी सराहना की। इस प्रशंसनीय सफलताके लिए जहा एक ओर चुनाव आयोग और सरकारी अधिकारी व कर्मचारी-वर्ग प्रशंसा के पात्र है, दूसरी ओर देश की जनता और राजनैतिक दल भी बधाई के पात्र है, क्योंकि उनके सहयोग बिना इतना महत्वपूर्ण कार्य सुगमतापूर्वक संचालित न हो सकता था। चार आम चुनावों के सफल संचालन ने राष्ट्र को अन्य प्रजातन्त्रात्मक राष्ट्रों की दृष्टि मे ऊँचा उठाया है, यह बात निःसन्देह सत्य है।

३. कुछ वर्गों के लिये विशेष उपबन्ध

ऊपर यह बताया जा चुका है कि स्वतन्त्रता से पूर्व भारत में पृथक् चुनाव-प्रणाली प्रचलित थी, जिसके फलस्वरूप देश का विभाजन हुआ। परन्तु विभाजन के उपरान्त इस समस्या पर नये दृष्टिकोण से विचार किया गया और संविधान निर्माताओ ने परिवर्तित परिस्थितियो मे साम्प्रदायिक आधार को त्यागने का निश्चय किया। फिर भी उन्होंने आवश्यक समझा कि जो वर्ग प्रधानतः शिक्षा की दृष्टि से बहुत पिछड़े हुये है उनके लिये अस्थायी रूप से कुछ विशेष उपबन्ध रखे जायें। साथ ही आंग्लभारतीय समुदाय को, जिनकी जनसख्या बहुत ही कम है किन्तु जिसे शिक्षित होने के कारण सरकारी सेवाओं आदि मे विशेष सुविधायें, प्राप्त थी, प्राप्त विशेष सुविधाओ का अन्त तुरन्त नही वरन् १० वर्ष की अवधि में क्रमशः किया जाय। इस प्रकार के विशेष उपबन्ध बनाना भी संविधान निर्माताओं ने न्यायोचित समझा।

विधान-मण्डलों में आरक्षित स्थानों के सम्बन्ध में उपबन्ध—लोक सभा तथा राज्यों की विधान सभाओं मे अनुसूचित वर्गों (Scheduled classes) और अनुसूचित जन-जातियों के लिये आरक्षित स्थानो की व्यवस्था है। इन वर्गों व जन-जातियो के लिये आरक्षित स्थानो की सख्या का किसी राज्य के कुल प्रतिनिधियों की संख्या से वही अनुपात रहेगा जो कि उनकी जनसख्या का राज्य की कुल जन-संख्या से है। प्रथम आम चुनाव के अवसर पर लोक-सभा के कुल ४८९ निर्वाचित स्थानो में अनुसूचित वर्गो और अनुसूचित जातियों के लिये ७२ और २६ स्थान आरक्षित थे। अब इन वर्गो की जनसख्या ५$\frac{1}{2}$ करोड़ से ऊपर है, अतएव उनके लिये आरक्षित स्थानों में आवश्यक वृद्धि हुई है। इस समय लोक-सभा मे कुल निर्वाचित स्थानों की संख्या ५२० है, जिसमें अनुसूचित वर्गों व जन-जातियो के लिये क्रमशः

७७ और ३६ स्थान आरक्षित है। इसी प्रकार विभिन्न राज्यों की विधान सभाओं मे इन वर्गों की जनसख्या की वृद्धि के अनुपात मे आरक्षित स्थानों की संख्या बढी है। राज्यो व सघीय क्षेत्रो की विधान सभाओ में कुल निर्वाचित स्थान ३५६३ है, जिनमें अनुसूचित वर्गों व जन-जातियों के लिये क्रमश: ५०३ और २६२ स्थान आरक्षित है। इन राज्यो की विधान सभाओं मे इनके प्रतिनिधियों की संख्या लगभग १/३ है तथा राजस्थान मे उनकी सख्या १/४ है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति लोक-सभा मे आग्ल भारतीय समुदाय के दो सदस्यो को नामजद कर सकता है, यदि वह समझे कि चुनाव द्वारा उन्हें पर्याप्त प्रतिनिधित्व नही मिला है। ऐसे ही राज्यो के गवर्नर भी उस समुदाय के जितने उचित समझें प्रतिनिधि विधान सभा के लिये नामजद कर सकते है।

सेवाओं के सम्बन्ध में विशेष उपबन्ध—सविधान के अनुच्छेद १६ के अन्तर्गत राज्य को नागरिको के पिछडे हुये वर्गों के लिये आरक्षित स्थानो की व्यवस्था करने का अधिकार प्राप्त है। साथ ही अनुच्छेद ३३५ मे आदेश दिया गया है कि सरकारी सेवाओं के सम्बन्धों मे अनुसूचित वर्गों व अनुसूचित जनजातियो के अधिकारो का विशेष रूप से ध्यान रखा जायगा। सितम्बर १९४० में अर्थात् सन् १९५१ की जनगणना के पूर्व ही भारत सरकार ने इन वर्गों व जातियों के लिये निम्नलिखित प्रतिशत स्थान सुरक्षित करने का आदेश निकाला था—

अखिल भारतीय आधार पर	अनु० वर्गों के लिये	अनु० जन-जातियो के लिये
खुली प्रतियोगिताओं की सेवाओ में	१२ प्र० श०	५ प्र० श०
अन्य तरीको द्वारा भर्ती की सेवाओ मे	१६ २/३ प्र० श०	५ प्र० श०

इस उद्देश्य से कि इन वर्गों व जातियो का सरकारी सेवाओ मे पर्याप्त प्रतिनिधित्व हो जाय, उन्हे ये सुविधाये प्रदान की गई है—(१) आयु-सीमाओ में छूट, (२) योग्यता के स्तर और अर्हताओं में ढील, (३) कार्यकुशलता का निम्नतम स्तर पूरा करने पर उनकी छांट, और (४) नीचे की श्रेणियो में जिन स्थानो के लिये परीक्षा नही होती पदोन्नति में सम्मिलित किया जाना। जिन सेवाओ मे पदोन्नति प्रतियोगी परीक्षाओ के लिये होती है और जो विभागीय उम्मीदवारो के लिये ही सीमित है, आरक्षण के सिद्धान्त को उनके लिये भी विस्तृत कर दिया गया। यदि आरक्षित स्थानो के लिये अनुसूचित वर्गों के योग्य उम्मीदवार न उपलब्ध हो तो उन स्थानों पर जन-जातियो के उम्मीदवार नियुक्त किये जा सकते है; इसका उल्टा भी हो सकता है। प्रथम जनवरी १९६१ को भारत सरकार के अधीन नौकरियो में इन वर्गों व जाति के कुल सदस्यों को सख्या ३,१९,९९८ थी। भारत सरकार की सेवाओं में उपरोक्त सुविधाओ के रहते हुये भी इस शर्त का पालन किया जाना आवश्यक है कि उम्मीदवारों मे विहित शिक्षा सम्बन्धी योग्यता अवश्य हो जिससे कि प्रशासन की कुशलता पर कुप्रभाव न पड़े। इसके अतिरिक्त दोन्नति (promotion) द्वारा दी जाने वाली नौकरियो के सम्बन्ध में उपर्युक्त रक्षण लागू नही होंगे।

आंग्ल-भारतीय समुदाय के सदस्यों के लिये सरकारी सेवाओं में विशेष सुविधायें—संविधान के आरम्भ के प्रथम दो वर्ष में उनको रेल, डाक, तार व आयात निर्यात कर विभागों की नौकरियों में उसी आधार पर पद दिये गये जिस पर कि उन्हें १९४७ के पूर्व मिलते थे। परन्तु उसके उपरान्त प्रति दो वर्ष के काल में सुरक्षित स्थानों में १० प्र० श० के हिसाब से कमी की गई जिससे संविधान के प्रारम्भ से १० वर्ष उपरान्त १९६० में इस सुविधा का अन्त हो सका।

आंग्ल भारतीय समुदाय की शिक्षा के लिये विशेष उपबन्ध—इस समुदाय की शिक्षा संस्थाओं को संघ व राज्य जो आर्थिक सहायता सन् १९४८ के पूर्व देते थे वह संविधान के प्रारम्भ से ३ वर्ष तक वैसी ही जारी रही। उसके बाद आगे के प्रति तीन वर्ष में यह सहायता १० प्र० श० घटाई गई और १० वर्ष बाद यह बन्द कर दी जानी थी। इस सम्बन्ध में एक विशेष शर्त यह भी रखी गई है कि यदि इस १० वर्ष की अवधि में इन शिक्षा संस्थाओं ने आंग्ल भारतीय समुदाय के सदस्यों को छोड़कर अन्य जातियों के विद्यार्थियों के लिये कम से कम ४०% स्थान न रखे तो उन्हें यह विशेष सहायता न मिलेगी।

अनुसूचित वर्गों व जन-जातियों के लिये विशेष पदाधिकारी (Special Officer)—संविधान के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा इन जातियों के लिये एक विशेष पदाधिकारी-आयुक्त (Commissioner) की नियुक्ति की गई है। उसे संविधान द्वारा इन जातियों को मिले संरक्षणों से सम्बन्धित मामलों की जांच व देखभाल करने के अधिकार मिले है। वह राष्ट्रपति द्वारा निर्धारित समय बीतने पर इन मामलों के सम्बन्ध में अपना प्रतिवेदन राष्ट्रपति को देगा और राष्ट्रपति आदेश दे तो वही विशेष पदाधिकारी अन्य पिछड़े हुये वर्गों के सम्बन्ध में भी कार्य करेगा।

पिछड़े हुये वर्गों का आयोग (Backward Classes Commission)—संविधान के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा पिछड़े हुये वर्गों की सामाजिक व शिक्षा सम्बन्धी दशाओं की जाँच करने के लिये ऐसे आयोग की नियुक्ति की गई थी। इस आयोग ने अपने प्रतिवेदन में उन वर्गों की कठिनाइयों को बताया और उनको दूर करने के लिये क्या किया जाय इस विषय में भी सिफारिशें कीं।

अनुसूचित क्षेत्रों व जन-जातियों के सम्बन्ध में संघ का नियन्त्रण—संविधान प्रारम्भ होने के १० वर्ष बाद राष्ट्रपति ने एक आयोग नियुक्त किया जिस ने विभिन्न स्वायत्तपूर्ण राज्यों में अनुसूचित क्षेत्रों व जन-जातियों के प्रशासन के सम्बन्ध में एक प्रतिवेदन तैयार किया। संघ की कार्यपालिका को यह भी अधिकार प्राप्त है कि इन क्षेत्रों में अथवा जन-जातियों के कल्याण हेतु कोई विशेष योजना बनाये और उसे कार्यान्वित करने का आदेश दे सके। यह पहले ही बताया जा चुका है कि संविधान के अनुसार कुछ राज्यों में एक मन्त्री विशेष रूप से इन जातियों से सम्बन्धित मामलों के लिये नियुक्त किया जाता है।

अनुसूचित वर्ग व जन-जातियाँ (Scheduled Classes and Tribes)—इस सविधान के प्रयोजन के लिये राष्ट्रपति सम्बन्धित राज्य के गवर्नर के परामर्श से सार्वजनिक विज्ञप्ति द्वारा यह निर्धारित करेगा कि उस राज्य मे कौन-कौन से वर्ग अथवा जन-जातियाँ इन श्रेणियो में आते है। परन्तु ससद इन वर्गों की सूची में किसी अन्य जाति को सम्मिलित अथवा किसी को सूची से निकाल सकती है। १५ अगस्त १९५० को एक आदेश प्रकाशित कर राष्ट्रपति ने विभिन्न राज्यो में अनुसूचित वर्गों की एक सूची निकाली। इसी प्रकार राष्ट्रपति ने एक सार्वजनिक विज्ञप्ति द्वारा प्रत्येक राज्य की अनुसूचित जन-जातियों की सूची भी प्रकाशित कराई। इस सूची में भी परिवर्तन कराने का अधिकार ससद को है। इन विशेष उपबन्धो का उद्देश्य, जिनका सम्बन्ध विधान-मण्डलो में और कुछ सरकारी सेवाओ मे आरक्षित स्थानो की व्यवस्था तथा शिक्षा सम्बन्धी प्रयोजनो के लिये आर्थिक सहायता देने से है, उन पिछड़े हुये वर्गों अथवा अति अल्पसख्यक समुदायो को ये सुविधाये देकर दूसरो के समान स्तर पर लाना है, जिन्हे कि ऐसी सुविधाओ की आवश्यकता नही। वास्तव मे इन उपबन्धो की आवश्यकता वर्तमान परिस्थितियो का निराकरण करने के हेतु पडी है। ये उपबन्ध अस्थायी है और किसी भी प्रकार से राज्य के प्रजातान्त्रिक व धर्म-निरपेक्षता के आधारो के विरुद्ध नही है।

अनुसूचित जन-जातियाँ व क्षेत्र (Scheduled Tribes and Areas)—किस राज्य मे कौन-कौन जन-जातियाँ अथवा क्षेत्र अनुसूचित की श्रेणी मे आयेगें इसकी घोषणा राष्ट्रपति करता है। वह इस सम्बन्ध मे जारी किये गये अपने आदेश मे अग्रलिखित परिवर्तन भी कर सकता है—(१) वह यह घोषणा कर सकता है कि अमुक क्षेत्र अनुसूचित क्षेत्र नही रहेगा, (२) वह ऐसे क्षेत्र की सीमाओ मे सुधार कर सकता है, और (३) सघ में सम्मिलित होने वाले राज्यो के सम्बन्ध में भी वह उपरोक्त कार्य कर सकता है। अनुसूचित क्षेत्रो का प्रशासन राज्य की कार्यपालिका को सौंपा गया है और इस सम्बन्ध मे वह सघीय कार्यपालिका के नियन्त्रण में रहती है। गवर्नर को इन क्षेत्रो के अनुशासन और सुरक्षा के लिये विनियम बनाने का अधिकार प्राप्त है और वह इस उद्देश्य से इन क्षेत्रो मे लागू होने वाले सघ अथवा राज्य के कानूनो मे परिवर्तन भी कर सकता है। इन क्षेत्रो के प्रशासन से सम्बन्धित नियम बनाने के पूर्व गवर्नर को जन-जातीय परामर्शदात्री परिषद् (Advisory Council) का परामर्श लेना आवश्यक है। सविधान के अनुसार प्रत्येक ऐसे राज्य मे जहाँ पर अनुसूचित प्रदेश हो एक परामर्शदात्री परिषद् की स्थापना की गई है। इस परिषद् में अधिक से अधिक २० सदस्य होते हैं जिनमे से ३/४ राज्य की विधान सभा में इन जातियों व क्षेत्रों के प्रतिनिधि होते है। इस परिषद् का मुख्य कार्य इन जातियो व क्षेत्रो के कल्याण हेतु उन मामलो मे, जो इसे सौंपे जायें, गवर्नर को परामर्श देना है। प्रत्येक राज्य में इस परिषद् के सदस्यों

की संख्या गवर्नर निश्चित करता है। वही सदस्यो व सभापति की नियुक्ति तथा कार्य-प्रणाली के विषय में नियम बनाता है।

४. संशोधन विधि

यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि हमारे संविधान में दुस्संशोध्यता व सुसंशोध्यता का अपूर्व मिश्रण है। संघात्मक संविधान होने के कारण इसमें दुस्संशोध्यता का होना आवश्यक था, किन्तु कई उपायों द्वारा इसमें सुगमता से परिवर्तन हो सकते हैं। संविधान में जिस गति के साथ परिवर्तन हुये हैं, उसे कुछ आलोचक पसन्द नहीं करते। यह सत्य है कि संविधान में स्थायित्व की मात्रा अधिक होनी चाहिये अर्थात् उसमें संशोधन सोच-समझकर किये जाने चाहियें; परन्तु जैसा स्वर्गीय जवाहरलाल नेहरू ने कहा था संविधान का परिवर्तनशील होना भी आवश्यक है, क्योंकि यदि उसे अत्यधिक कठोर और स्थायी बना दिया जायेगा तो राष्ट्र का विकास रुक जायेगा।[4]

स्वर्गीय डा० अम्बेदकर के अनुसार संविधान में तीन प्रकार से संशोधन किये जा सकते हैं। प्रथम साधारण विधायी प्रक्रिया द्वारा, उदाहरण के लिये अनुच्छेद १६६ के अन्तर्गत संसद के कानून द्वारा किसी राज्य में विधान परिषद् का अन्त अथवा उसकी रचना की जा सकती है। दूसरे, संसद की विधायी प्रक्रिया द्वारा, जिसके लिये विशेष बहुमत (प्रत्येक सदन के कुल सदस्यों का पूर्ण तथा उपस्थित व मतदान करने वाले सदस्यों का २/३ बहुमत) की आवश्यकता है। यही व्यवस्था भाग ३ और ४ में वर्णित मूल अधिकारों व निदेश सिद्धान्तों में संशोधन करने के लिये लागू होगी। तीसरे, संघ और राज्यों के बीच शक्तियों व अधिकारों के वितरण से सम्बन्धित अनुच्छेदों में संशोधन करने के लिये संसद में विशेष बहुमत द्वारा पारित संशोधन प्रस्तावों पर कम से कम आधे राज्यों के विधान-मण्डलों की स्वीकृति मिलनी आवश्यक है।

संविधान के संशोधन के लिये अनुच्छेद ३६८ में साधारण उपबन्ध यह है कि संशोधन सम्बन्धी विधेयक संसद के किसी भी सदन में पेश किया जा सकता है। यदि ऐसा विधेयक प्रत्येक सदन में कुल सदस्यों की संख्या के बहुमत तथा उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के २/३ के बहुमत से पास हो जाता है तो उसे राष्ट्रपति की अनुमति के लिये भेजा है, जिसके मिलने पर उसके अनुसार संविधान संशोधित हो जाता है। परन्तु यदि ऐसा विधेयक निम्नलिखित विषयों में से किसी के सम्बन्ध में संशोधन करना चाहता है तो उसे राष्ट्रपति की अनुमति के लिये तभी

4 "While we want this Constitution to be as solid and permanent as we can make it, there is no permanence in constitutions. There should be a certain flexibility. If you make anything rigid and permanent, you stop the nation's growth of a living, organic, vital, people."

भेजा जायेगा जबकि स्वशासित राज्यो की सूची मे सम्मिलित कम से कम आधे राज्यो में विधान-मण्डल उसका सम्पुष्टिकरण कर दे :

(१) राष्ट्रपति के निर्वाचन मे सम्बन्धित अनुच्छेद ५४ व ५५ ।
(२) सघ की कार्यपालिका शक्तियो सम्बन्धी अनुच्छेद ७३ ।
(३) स्वशासित राज्यो की कार्यपालिका शक्तियों सम्बन्धी अनुच्छेद १६२ ।
(४) सघीय क्षेत्रों मे उच्च न्यायालयो से सम्बन्धित अनुच्छेद २४ ।
(५) सघीय न्यायपालिका से सम्बन्धित भाग ५ के अध्याय ४ ।
(६) सविधान के भाग ६ का अध्याय ५ में जो भाग राज्यो में उच्च न्यायालयों से सम्बन्धित है ।
(७) सविधान के भाग ११ का प्रथम अध्याय जिसमे सघ और राज्यो के विधायी सम्बन्धो का वर्णन है ।
(८) विधायी सूचियाँ ।
(९) अनुच्छेद ३६८ जिसमे सशोधन प्रक्रिया का वर्णन है ।

उपरोक्त से यह स्पष्ट है कि जिन बातो का सम्बन्ध सघ और राज्यो की शक्तियों व अधिकारो के वितरण से है उनके विषय मे कोई भी सशोधन संसद अकेले (unilaterally) नही कर सकती । उनसे सम्बन्धित सशोधन प्रस्तावो पर कम से कम आधे स्वाधीन राज्यो के विधान-मण्डलो का अनुसमर्थन मिलना आवश्यक है । अत: हमारे सविधान की सशोधन विधि संघात्मक सविधानो जैसी है; यदि ऐसा न होता तो सघ सरकार राज्यो की शक्तियो मे जब चाहती मनचाहा परिवर्तन कर सकती थी । परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि राज्य-शासन के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सशोधन केवल ससद द्वारा पास होने पर ही किये जा सकते है अर्थात् राज्यों को अपने सविधान में सशोधन के अधिकार नही है ।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि राज्यों की सीमाओ में किये गये परिवर्तन व अनुसूचित क्षेत्रो के प्रशासन से सम्बन्धित उपबन्धो में परिवर्तन ससद साधारण बहुमत से ही कर सकती है । इसके अतिरिक्त आपातकाल मे बिना सशोधन किये ही सविधान का स्वरूप एकात्मक हो सकता है । इन सभी बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि भारत का सविधान सघात्मक होने के साथ ऐसा है कि इसमे सुगमतापूर्वक सशोधन किये जा सकते है । अत: इसमें दोनो तत्वों—कठोरता व लचीलेपन का अनुपम सम्मिश्रण मिलता है । इस प्रकार यह सविधान सयुक्त राज्य अमरीका के सविधान की भांति अधिक कठोर नही है और न ही ब्रिटेन के सविधान की भांति पूर्णतया लचकदार है, वस्तुत: यह इस दृष्टि से दोनो के बीच आता है ।

५. अब तक किये गये संशोधन

प्रथम संशोधन अधिनियम, १९५१—अनुच्छेद १९ में संशोधन के परिणामस्वरूप राज्य कानून द्वारा स्वातन्त्र्य अधिकार के प्रयोग पर राज्य की सुरक्षा, विदेशों से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध, सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार के हित में अथवा न्यायालय के अवमान या अपराध को उकसाने के सम्बन्ध में उचित प्रतिबन्ध लगा सकेगा। अनुच्छेद ३१ के बाद अनुच्छेद ३१ (अ) और ३१ (ब) जोड़े गये हैं। ३१ (अ) के अनुसार राज्य का कोई भी ऐसा कानून जो राज्य द्वारा किसी की जमींदारी अथवा भूमि पर अधिकारों को अर्जित करने वाला हो इस आधार पर अवैध नहीं ठहराया जायेगा कि यह इस भाग में वर्णित अधिकारों का उल्लंघन करता है। ३१ (ब) के द्वारा नवों अनुसूची में सम्मिलित कानूनों को अवैध नहीं ठहराया जायेगा। इस अनुसूची में विभिन्न राज्यों के विधान-मण्डलों द्वारा पास किये गये जमींदारी उन्मूलन सम्बन्धी कानून दिये गये है।

दूसरे संशोधन अधिनियम, १९५२ द्वारा अनुच्छेद ८१ के संवदान (१) (ब) में यह परिवर्तन हुआ है—'जनसंख्या के प्रति ७,५०,००० के लिये एक सदस्य से कम नहीं' शब्दों को हटा दिया गया है। **तीसरे संशोधन अधिनियम, १९५४** ने ७वीं अनुसूची की तीसरी सूची में ३३वें स्थान पर अन्य वस्तुओं के नाम सम्मिलित किये है। **चौथे संशोधन अधिनियम, १९५५** ने अनुच्छेद ३१ व ३१ (अ) में फिर संशोधन किया है। अनुच्छेद ३१ के खण्ड २ के स्थान पर यह खण्ड रखा गया है—"कोई भी सम्पत्ति अनिवार्य रूप से सिवाय सार्वजनिक प्रयोजन के लिये अर्जित न की जायेगी और न ही सिवाय ऐसे कानून द्वारा, जो सम्पत्ति के अर्जन के लिये प्रतिकर की व्यवस्था करे और जो या तो प्रतिकर की राशि नियत करे या उन सिद्धान्तों और ढंग को स्पष्ट करे जिनके अनुसार प्रतिकर निर्धारित किया तथा दिया जायेगा और ऐसे किसी कानून के विरुद्ध किसी न्यायालय में इस आधार पर कोई कार्यवाही न की जा सकेगी कि उसके द्वारा की गई प्रतिकर व्यवस्था अपर्याप्त है।

पांचवे संशोधन अधिनियम, १९५५ ने अनुच्छेद ३ के इस उपबन्ध (provision) में कि राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन सम्बन्धी कोई भी विधेयक संसद के किसी सदन मे राष्ट्रपति की पूर्व सिफारिश के बिना पेश न किया जायेगा और यदि ऐसे विधेयक का सम्बन्ध स्वशासित राज्यो की सीमाओ व नामो से हुआ हो तो राष्ट्रपति को उस पर सम्बन्धित राज्य या राज्यों के विधान-मण्डलो के मत को जानना अनिवार्य होगा, यह परिवर्तन किया है कि राष्ट्रपति ऐसा करने के लिये समय की सीमा निर्धारित कर सकता है। इस संशोधन के परिणामस्वरूप ही राज्य पुनर्गठन का कार्य निश्चित अवधि के भीतर पूर्ण हो सका। **छठे संशोधन अधिनियम, १९५६** के द्वारा सातवी अनुसूची मे संघीय सूची के ९२ अंश के बाद ९२ (अ) जोड़ा गया है जो इस प्रकार है—"समाचार-पत्रों के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं की बिक्री और खरीद पर कर जहाँ कि ऐसी बिक्री और खरीद अन्तर्राज्य व्यापार या

वाणिज्य के सम्बन्ध मे हो।" इसको ध्यान मे रखकर राज्य सूची के अश ५४ मे भी उपयुक्त परिवर्तन हुआ है।

सातवाँ संशोधन अधिनियम, १९५६ सबसे अधिक महत्वपूर्ण और विस्तृत है; क्योकि इसके द्वारा राज्यों के पुनर्गठन सम्बन्धी अनेक सशोधन किये गये ह। *सर्वप्रथम, सविधान की प्रथम अनुसूची मे परिवर्तन करके विभिन्न पुनर्गठित राज्यो* की सीमाओं का उल्लेख किया गया है तथा सघीय क्षेत्रों की सीमाओं को भी वताया गया है। दूसरे, सम्बन्धित अनुच्छेदो में सशोधन आदि करके चौथी अनुसूची मे राज्य सभा में विभिन्न राज्यो के प्रतिनिधियो की सख्या मे आवश्यक परिवर्तन हुये ह। अब राज्य सभा मे राज्यो और सघीय क्षेत्रो के कुल प्रतिनिधियो की सख्या बढकर २२० हो गई है। *इसी प्रकार लोकसभा की रचना के सम्बन्ध मे आवश्यक* परिवर्तन हुये है। ऐसे ही परिवर्तन विभिन्न राज्यो की विधान सभाओ की रचना, उच्च न्यायालयो के सगठन व अधिकार-क्षेत्र आदि के सम्बन्ध मे हुये है। भाग 'ग' के राज्यों के स्थान पर सघीय क्षेत्रो के प्रशासन सम्बन्धी अनुच्छेदों २३९ व २४० मे आवश्यक परिवर्तन किये गये है। इस सशोधन द्वारा अनुच्छेद २५८ के बाद अनुच्छेद २५८ (अ) और जोडा गया है, जो इस प्रकार है—"सविधान मे अन्य व्यवस्था के रहते हुये किसी राज्य का गवर्नर भारत सरकार की सहमति से भारत सरकार अथवा उसके अधिकारियो को शर्त सहित अथवा रहित किसी भी ऐसे मामले के बारे मे कार्य सौंप सकता है जो कि राज्य की कार्यपालिका शक्ति के क्षेत्र मे आता हो।" इसी सशोधन द्वारा राजप्रमुखों की व्यवस्था का सदैव के लिए अन्त हुआ।

सविधान के **८वें संशोधन अधिनियम, १९५९** से अनुच्छेद ३३४ को सशोधित किया गया, जिसके फलस्वरूप, अनुसूचित वर्गो व जन-जातियों और आग्ल-भारतीयो के लिए आरक्षित स्थानो की व्यवस्था आगामी १० वर्ष के लिए बढ़ा दी गई। **९वें संशोधन अधिनियम, १९६०** के अनुसार सविधान की प्रथम अनुसूची मे परिवर्तन किया गया जिससे सन् १९५८ में भारत व पाकिस्तान सरकारों के बीच हुए समझौते के अनुसार भारत के कुछ क्षेत्रो का पाकिस्तान को सुगमता-पूर्वक हस्तातरण किया जा सका। **१०वें संशोधन अधिनियम, १९६१** द्वारा दादरा और नगर हवेली के स्वतन्त्र क्षेत्रो का भारत के साथ एकीकरण किया गया और उनका प्रशासन राष्ट्रपति द्वारा बनाये गये विनियमो के अधीन रखा गया। **११वें संशोधन अधिनियम, १९६१** के अनुसार उप-राष्ट्रपति के चुनाव के लिए निर्वाचक-मण्डल के निर्माण हेतु संसद के दोनो सदनो की सयुक्त बैठक की आवश्यकता नही रही। इसी सशोधन द्वारा अनुच्छेद ६१ मे यह परिवर्तन हुआ है कि राष्ट्रपति और उप-राष्ट्रपति के चुनाव को इस आधार पर चुनौती न दी जायगी कि निर्वाचक मण्डल मे चुनाव के समय कोई स्थान रिक्त था। **१२वें संशोधन अधिनियम, १९६१**

५. अब तक किये गये संशोधन

प्रथम संशोधन अधिनियम, १९५१—अनुच्छेद १९ में संशोधन के परिणामस्वरूप राज्य कानून द्वारा स्वातन्त्र्य अधिकार के प्रयोग पर राज्य की सुरक्षा, विदेशों से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध, सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार के हित में अथवा न्यायालय के अवमान या अपराध को उकसाने के सम्बन्ध में उचित प्रतिबन्ध लगा सकेगा। अनुच्छेद ३१ के बाद अनुच्छेद ३१ (अ) और ३१ (ब) जोड़े गये हैं। ३१ (अ) के अनुसार राज्य का कोई भी ऐसा कानून जो राज्य द्वारा किसी की जमींदारी अथवा भूमि पर अधिकारों को अर्जित करने वाला हो इस आधार पर अवैध नहीं ठहराया जायेगा कि वह इस भाग में वर्णित अधिकारों का उल्लंघन करता है। ३१ (ब) के द्वारा नवीं अनुसूची में सम्मिलित कानूनों को अवैध नहीं ठहराया जायेगा। इस अनुसूची में विभिन्न राज्यों के विधान-मण्डलों द्वारा पास किये गये जमींदारी उन्मूलन सम्बन्धी कानून दिये गये हैं।

दूसरे संशोधन अधिनियम, १९५२ द्वारा अनुच्छेद ८१ के सैक्शन (१) (ब) में यह परिवर्तन हुआ है—'जनसंख्या के प्रति ७,५०,००० के लिये एक सदस्य से कम नहीं' शब्दों को हटा दिया गया है। **तीसरे संशोधन अधिनियम, १९५४** ने ७वीं अनुसूची की तीसरी सूची में ३३वें स्थान पर अन्य वस्तुओं के नाम सम्मिलित किये है। **चौथे संशोधन अधिनियम, १९५५** ने अनुच्छेद ३१ व ३१ (अ) में फिर संशोधन किया है। अनुच्छेद ३१ के खण्ड २ के स्थान पर यह खण्ड रखा गया है—"कोई भी सम्पत्ति अनिवार्य रूप से सिवाय सार्वजनिक प्रयोजन के लिये अर्जित न की जायेगी और न ही सिवाय ऐसे कानून द्वारा, जो सम्पत्ति के अर्जन के लिये प्रतिकर की व्यवस्था करे और जो या तो प्रतिकर की राशि नियत करे या उन सिद्धान्तों और ढग को स्पष्ट करे जिनके अनुसार प्रतिकर निर्धारित किया तथा दिया जायेगा और ऐसे किसी कानून के विरुद्ध किसी न्यायालय में इस आधार पर कोई कार्यवाही न की जा सकेगी कि उसके द्वारा की गई प्रतिकर व्यवस्था अपर्याप्त है।

पांचवें संशोधन अधिनियम, १९५५ ने अनुच्छेद ३ के इस उपबन्ध (provision) में कि राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन सम्बन्धी कोई भी विधेयक संसद के किसी सदन में राष्ट्रपति की पूर्व सिफारिश के बिना पेश न किया जायेगा और यदि ऐसे विधेयक का सम्बन्ध स्वशासित राज्यों की सीमाओं व नामों से हुआ हो तो राष्ट्रपति को उस पर सम्बन्धित राज्य या राज्यों के विधान-मण्डलों के मत को जानना अनिवार्य होगा, यह परिवर्तन किया है कि राष्ट्रपति ऐसा करने के लिये समय की सीमा निर्धारित कर सकता है। इस संशोधन के परिणामस्वरूप ही राज्य पुनर्गठन का कार्य निश्चित अवधि के भीतर पूर्ण हो सका। **छठे संशोधन अधिनियम, १९५६** के द्वारा सातवीं अनुसूची में संघीय सूची के ९२ अंश के बाद ९२ (अ) जोड़ा गया है जो इस प्रकार है—"समाचार-पत्रों के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं की बिक्री और खरीद पर कर जहां कि ऐसी बिक्री और खरीद अन्तर्राज्य व्यापार या

वाणिज्य के सम्बन्ध मे हो।" इसको ध्यान में रखकर राज्य सूची के ग्रश ५४ मे भी उपयुक्त परिवर्तन हुआ है।

सातवाँ संशोधन अधिनियम, १९५६ सबसे अधिक महत्वपूर्ण और विस्तृत है; क्योंकि इसके द्वारा राज्यों के पुनर्गठन सम्बन्धी अनेक संशोधन किये गये हैं। सर्वप्रथम, संविधान की प्रथम अनुसूची मे परिवर्तन करके विभिन्न पुनर्गठित राज्यों की सीमाओं का उल्लेख किया गया है तथा संघीय क्षेत्रों की सीमाओं को भी बताया गया है। दूसरे, सम्बन्धित अनुच्छेदों में संशोधन आदि करके चौथी अनुसूची में राज्य सभा मे विभिन्न राज्यो के प्रतिनिधियो की सख्या मे आवश्यक परिवर्तन हुये है। अब राज्य सभा में राज्यो और संघीय क्षेत्रों के कुल प्रतिनिधियों की सख्या बढकर २२० हो गई है। इसी प्रकार लोकसभा की रचना के सम्बन्ध मे आवश्यक परिवर्तन हुये है। ऐसे ही परिवर्तन विभिन्न राज्यों की विधान सभाओं की रचना, उच्च न्यायालयो के सगठन व अधिकार-क्षेत्र आदि के सम्बन्ध में हुये है। भाग 'ग' के राज्यों के स्थान पर संघीय क्षेत्रों के प्रशासन सम्बन्धी अनुच्छेदों २३९ व २४० में आवश्यक परिवर्तन किये गये है। इस सशोधन द्वारा अनुच्छेद २५८ के बाद अनुच्छेद २५८ (अ) और जोडा गया है, जो इस प्रकार है—"संविधान में अन्य व्यवस्था के रहते हुये किसी राज्य का गवर्नर भारत सरकार की सहमति से भारत सरकार अथवा उसके अधिकारियो को शर्त सहित अथवा रहित किसी भी ऐसे मामले के बारे मे कार्य सौंप सकता है जो कि राज्य की कार्यपालिका शक्ति के क्षेत्र मे आता हो।" इसी सशोधन द्वारा राजप्रमुखों की व्यवस्था का सदैव के लिए अन्त हुआ।

संविधान के **८वें संशोधन अधिनियम, १९५९** से अनुच्छेद ३३४ को संशोधित किया गया, जिसके फलस्वरूप, अनुसूचित वर्गों व जन-जातियो और आंग्ल-भारतीयो के लिए आरक्षित स्थानों की व्यवस्था आगामी १० वर्ष के लिए बढ़ा दी गई। **९वें संशोधन अधिनियम, १९६०** के अनुसार संविधान की प्रथम अनुसूची मे परिवर्तन किया गया जिससे सन् १९५८ मे भारत व पाकिस्तान सरकारो के बीच हुए समझौते के अनुसार भारत के कुछ क्षेत्रो का पाकिस्तान को सुगमता-पूर्वक हस्तातरण किया जा सका। **१०वें संशोधन अधिनियम, १९६१** द्वारा दादरा और नगर हवेली के स्वतन्त्र क्षेत्रो का भारत के साथ एकीकरण किया गया और उनका प्रशासन राष्ट्रपति द्वारा बनाये गये विनियमो के अधीन रखा गया। **११वें संशोधन अधिनियम, १९६१** के अनुसार उप-राष्ट्रपति के चुनाव के लिए निर्वाचक-मण्डल के निर्माण हेतु ससद के दोनो सदनो की सयुक्त बैठक की आवश्यकता नही रही। इसी सशोधन द्वारा अनुच्छेद ६१ में यह परिवर्तन हुआ है कि राष्ट्रपति और उप-राष्ट्रपति के चुनाव को इस आधार पर चुनौती न दी जायगी कि निर्वाचक मण्डल में चुनाव के समय कोई स्थान रिक्त था। **१२वें संशोधन अधिनियम, १९६१**

के द्वारा गोआ, डामन और ड्यू का भारतीय संघ में २० दिसम्बर १९६१ से एकीकरण हुआ और उन्हें ७वां संघीय क्षेत्र बनाया गया है।

१३वें संशोधन अधिनियम, १९६२ के द्वारा नागालैण्ड (१६वें राज्य) की रचना हुई और उसने नागाओं के लिए कुछ विशिष्ट रक्षण की व्यवस्था की। इसके अनुसार, संविधान के अन्य उपबन्धों के रहते हुए भी, नागाओं के सामाजिक और धार्मिक प्रथाओं, नागाओं के प्रथागत कानून और प्रक्रिया, नागाओं के प्रथागत कानून के अनुसार निर्णयों को अन्तर्ग्रस्त करने वाले व्यवहार और दण्ड न्याय और भूमि तथा उसके साधनों के स्वामित्व व हस्तांतरण के बारे में संसद का कोई भी कानून नागालैण्ड राज्य में तब तक लागू न होगा जब तक कि नागालैण्ड राज्य की विधान सभा संकल्प द्वारा ऐसा निर्णय न करे। इस संशोधन ने नागालैण्ड के गवर्नर को कुछ विशेष उत्तरदायित्व (special responsibilities) भी प्रदान की है।

१४वें संशोधन अधिनियम, १९६२ ने पुरानी फ्रांसीसी बस्तियों के भारत में निगमन के लिए व्यवस्था की, जिन्हें पान्डीचेरी नाम दिया गया। उसने संघीय क्षेत्रों के लिए लोकसभा में स्थानों की संख्या २० से बढ़ाकर २५ कर दी। उसी संशोधन द्वारा एक नया अनुच्छेद २३९ (अ) जोड़ा गया, जिसके अन्तर्गत कई संघीय क्षेत्रों में स्थानीय विधान सभाओं और मंत्रि-परिषदों की रचना की गई।

१५वें (संशोधन) अधिनियम, १९६३ के मुख्य प्राविधान इस प्रकार हैं— (१) इसने संविधान की धारा ३११ को इस प्रकार संशोधित किया है कि नागरिक सेवकों के विरुद्ध विभागीय कार्यवाही के लिए केवल एक बार ही जाँच (inquiry) की जायेगी। (२) राष्ट्रपति को यह शक्ति मिली है कि वह भारत के मुख्य न्यायाधिपति से मन्त्रणा करने के बाद सर्वोच्च अथवा उच्च न्यायालय के किसी भी ऐसे न्यायाधीश की आयु निर्धारित कर सकेगा जिसके विषय में कोई सन्देह उत्पन्न हो, और (३) उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के पद से निवृत्ति की आयु ६० के स्थान पर ६२ वर्ष हो गई। संविधान के १६वें (संशोधन) अधिनियम १९६३ के अन्तर्गत राज्य सरकारों को यह शक्ति प्राप्त हुई है कि वे ऐसी सभी कार्यवाहियों पर प्रतिबन्ध लगा सकेंगी जिनका उद्देश्य देश की एकता को खंडित करना हो और वे राजनैतिक दलों द्वारा भारतीय संघ से पृथक् होने को चुनाव का प्रश्न बनाने की मनाही कर सकती है। धारायें ८४ और १७३ तथा तीसरी अनुसूची में दिये गये शपथ के रूपों को इस प्रकार संशोधित किया गया है कि संसद व राज्यों के विधान-मण्डलों के लिए प्रत्येक उम्मीदवार, संघ व राज्यों के मन्त्रियों, संसद व राज्यों के विधान-मण्डलों के सदस्यों, सर्वोच्च व उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों और भारत के नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक को भारत की प्रभुता व अखण्डता (integrity) बनाये रखने की शपथ लेनी पड़े।

१७वें संशोधन अधिनियम, १९६४ द्वारा सरकार को बिना प्रतिकर दिये उस भूमि का अर्जन करने से रोक दिया गया है जिस पर कोई व्यक्ति स्वयं

खेती कर रहा है और जो उस समय लागू भूमि रखने की अधिकतम सीमा के भीतर है। **१८वें संशोधन अधिनियम, १६६६** के अनुसार पजाब का भाषायी आधार पर पुनर्गठन हुआ और पजाब व हरयाना दो पृथक राज्यों के साथ प्रथम नवम्बर, १६६६ को चण्डीगढ सघीय क्षेत्र का निर्माण हुआ तथा पजाब के कुछ पहाड़ी क्षेत्रो को हिमाचल प्रदेश मे मिलाया गया।

१६वें संशोधन अधिनियम, १६६६ ने अनुच्छेद ३२४ (१) मे से ये शब्द निकाल दिये . 'ससद या राज्य विधान-मण्डलो के निर्वाचनों के या उनसे सम्बन्धित सन्देहो और विवादो के निर्णय के लिए निर्वाचन अधिकरणो की नियुक्ति समेत'। इस सशोधन के पास हो जाने से अब निर्वाचन याचिकाओ की सुनवाई सीधे उच्च न्यायालयो में होगी और याचिका दाताओ को सर्वोच्च न्यायालय मे अपील करने का भी अधिकार होगा। **२०वें संशोधन अधिनियम, १६६६** ने उन न्यायिक पदाधिकारियो की, जिनकी नियुक्ति सर्वोच्च न्यायालय द्वारा प्रभावित घोपित कर दी गई थी, नियुक्तियो, तैनातियो (postings), तबादलो और उनके द्वारा दिये गये निर्णयो, आज्ञप्तियो, सजाओ तथा अन्य आदेशो को वैध कर दिया।

२१वें संशोधन अधिनियम, १६६६ के द्वारा सिन्धी भाषा को भी सविधान की ८वी अनुसूची मे सम्मिलित कर दिया गया है। **२२वें संशोधन अधिनियम, १६६६** ने निर्वाचन सम्बन्धी कानून मे परिवर्तन किये, जैसे निर्वाचन अधिकरणो (election tribunals) की समाप्ति।

६. नागरिक सेवायें

स्वाधीनता से पूर्व सेवाओं की स्थिति—ब्रिटिश शासन-काल के आरम्भ में सभी उच्च अधिकारी ब्रिटेन के निवासी होते थे, जिन्हें ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सचालक नामजद किया करते थे। सन् १८०६ में भारत भेजे जाने वाले अधिकारियों के प्रशिक्षण के लिये इगलैंड मे एक कालिज खोला गया था। उच्च सरकारी नौकरियों में भारतीयों को स्थान न दिये जाने से देशवासियो मे नाराजगी फैलनी स्वाभाविक ही थी। भारतीयो को सन् १८३३ के चार्टर एक्ट मे प्रथम बार यह आश्वासन दिया गया था कि किसी भारतीय को अपने धर्म, जन्म-स्थान, वश अथवा रंग में से किसी आधार पर भी कम्पनी के अधीन किसी पद को पाने से वचित नही किया जायेगा; परन्तु जब तक सरकार ने भारतीयों को उच्च पदो पर नियुक्त करने के हेतु कोई निश्चित नीति न अपनाई थी। सन् १८५३ में इगलैंड मे आने वाले अधिकारियों की छांट के लिये प्रतियोगी परीक्षा आरम्भ की गई और आगे चलकर शुरू में दो-चार भारतीयों को इण्डियन सिविल सर्विस में नामजद किया गया। भारतीयो को भी परीक्षा मे भाग लेने के लिये इगलैंड जाना पड़ता था। इण्डियन सिविल सर्विस मे भारतीयों को सन् १६२० तक बहुत कम स्थान दिये गये। सन् १६१६ के कानून के अन्तर्गत प्रान्तो मे द्वैध शासन-प्रणाली लागू हुई और मत्रियो को कुछ विभागो का अध्यक्ष बनाया गया। इण्डियन सिविल सर्विस के सदस्यो के हितो

के संरक्षण का विशेष उत्तरदायित्व गवर्नरों पर छोड़ा गया। उच्च सरकारी पदों पर अधिक भारतीयों की नियुक्ति हो, इस माग पर विचार करने के लिये सन् १६२३ मे ली कमीशन नियुक्त किया गया, जिसकी सिफारिशों के आधार पर भारतीयों को इम्पीरियल सेवाओं (Imperial Services) में कुछ स्थान प्रदान किये गये तथा विभिन्न प्रकार की सेवाओं में उनका अनुपात नियत कर दिया गया। अगले वर्ष भारत सरकार ने एक पब्लिक सर्विस कमीशन भी नियुक्त किया।

सन् १६३५ के भारतीय शासन अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तों में प्रान्तीय स्वराज्य स्थापित हुआ; परन्तु इम्पीरियल सेवाओं के भारतीयकरण (Indianisation) की दिशा मे कोई विशेष प्रगति नही हुई और भारत-मन्त्री द्वारा नियुक्त पदाधिकारियों के हितो के संरक्षण का विशेष उत्तरदायित्व गवर्नरों के ऊपर रहा। अन्त में १५ अगस्त १६४७ को भारत के स्वतन्त्र होने पर भी इण्डियन सिविल सर्विस के उच्च पदाधिकारो को नई सरकार ने यह आश्वासन दिया कि उनके वेतन और भत्तों आदि मे कोई कमी न की जायगी। फिर भी अधिकतर अंग्रेज भारत सरकार की सेवा से अलग हो गये और समाज में उच्च पदाधिकारियों की एकदम बड़ी कमी अनुभव हुई। स्वतन्त्रता मिलने पर इण्डियन सिविल सर्विस के स्थान पर भारतीय प्रशासन सेवा (Indian Administrative Service) की स्थापना हुई। इसमें प्रतियोगी परीक्षा द्वारा साधारण भरती के अतिरिक्त उच्च अधिकारियों की कमी पूरी करने के लिये वि..ष भरती भी की गई।

ब्रिटिश शासन काल में सरकारी नौकरियाँ चार वर्गों में विभाजित थीं—अखिल भारतीय सेवायें, प्रान्तीय सेवायें, केन्द्रीय सेवायें और अधीन सेवायें। प्रथम वर्ग के सदस्यों की भरती भारत-मन्त्री द्वारा की जाती थी। उनके अनेक सदस्य प्रान्तीय सरकारों के अन्तर्गत उच्च पदों पर आसीन थे। उन सेवाओं के सदस्यों को बहुत ऊँचे वेतन, भत्ते और विशेषाधिकार प्राप्त थे। उनमें से इण्डियन सिविल सर्विस के सदस्य केन्द्र तथा प्रान्तों के सभी प्रशासनिक विभागों में ऊँचे पदों पर कार्य करते थे। वे योग्य व अनुभवी होते थे, परन्तु उनकी इस आधार पर कड़ी आलोचना की जाती थी कि उनमें से अधिकतर न तो इण्डियन (भारतीय) थे, न विनीत थे, (क्योंकि उनमें तो बहुत अकड़ थी) और न सेवक ही थे (क्योंकि वे अपने को जनता का सेवक न समझते थे)। वास्तव मे, इण्डियन सिविल सर्विस की प्रभुता देश में स्थापित थी और वही नीति निर्धारण करती थी। दूसरे वर्गों की सेवाओं—प्रान्तीय सेवाओं—में प्रान्तीय सरकारों द्वारा भरती की जाती थी और उनके सदस्य मध्य श्रेणी के सभी पदों पर नियुक्त होते थे। केन्द्रीय सेवाओं पर पूरा अधिकार व नियन्त्रण केन्द्रीय सरकार का था—उनमें रेलों, डाक, तार, तटकर (Customs) आदि विभागों के शासन-अधिकारी सम्मिलित थे। उच्च अधिकारियों के अधीन लाखों कर्मचारियों की भरती भी केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारों द्वारा की जाती थी। ब्रिटिश शासन-काल में सरकारी नौकरियों के मुख्य दोष ये थे—(१) उच्च अधिकारियों की भरती व

नियन्त्रण के सभी अधिकार भारत-मन्त्री को प्राप्त थे; (२) सरकारी सेवाओ के हितों के सरक्षण का विशेष उत्तरदायित्व गवर्नरजनरल व गवर्नरो पर था जिस कारण वे उत्तरदायी मन्त्रियो की नीति मे पूर्ण सहयोग नही देते थे; (३) उच्च सरकारी अधिकारियों को अत्यधिक ऊचे वेतन दिये जाते थे, जबकि निम्न श्रेणियो के कर्मचारियों को बहुत कम वेतन मिलता था; और (४) उन सेवाओ का सबसे बडा दोष *साम्प्रदायिक आधार पर नियुक्त किया जाना था।*

भारत के संविधान में सार्वजनिक सेवाओं सम्बन्धी उपबन्ध

प्रजातन्त्र में यह स्वीकार किया जाता है कि जनता अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा शासन चलाती है; अत यह स्पष्ट है कि वे अधिकारी और *कर्मचारी जो प्रशासन कार्यों का सचालन करते है जनता अर्थात् विधान-मण्डलो* के अधीन होने चाहिये। इसीलिये सविधान मे कहा गया है कि सघ सरकार और राज्य सरकारो के अधीन सेवाओ मे भरती किये जाने वाले व्यक्तियो की भरती और उनकी सेवा की शर्तें सघ या राज्य के विधान-मण्डल ही कानून द्वारा निर्धारित करेंगे। सभी अखिल भारतीय सेवाओं—सैनिक तथा नागरिक—के सदस्य अपने पदो पर **राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त** (During the pleasure of the President) ही रह सकते है; ऐसे ही राज्य-सरकारो के अधीन सेवाओं के सदस्य गवर्नर के प्रसाद-पर्यन्त रह सकते है। इसका व्यवहार मे यही अर्थ है कि सरकारी सेवकों को अपने पदों से केवल अपराध, अनुशासन भंग अथवा कर्त्तव्य न पालन करने के गम्भीर दोष के आधार पर ही **पद-निवृत्ति** (retirement) के पूर्व हटाया जा सकता है। सविधान में यह भी कहा गया है कि कोई नागरिक (सार्वजनिक) सेवा का सदस्य अपने पद से तब तक नही हटाया जायेगा अथवा उसके पद की अवनति नही की जायेगी जब तक कि उसके विरुद्ध की जाने वाली कार्यवाही के सम्बन्ध मे उसे अपने बचाव के लिए उचित अवसर न दिया जाए। इस प्रकार सरकारी सेवाओं के सदस्यो को *उनके पदों की सुरक्षा का पूर्ण आश्वासन* दिया गया है। संविधान में लोक-सेवा की आधारभूत बातो—पदावधि, अधिकार, वेतनादि, विशेषाधिकार और भरती का ढग आदि—के विषय में यह ध्यान रखा गया है कि जन-कल्याणकारी राज्य के प्रशासन-तन्त्र की ओर योग्य, ईमानदार और व्यापक दृष्टि-सम्पन्न व्यक्ति आकृष्ट हो। इसमें सरकारी नौकरियों के सम्बन्ध में अवसर की समता को सब के लिये गारन्टी की गई है, परन्तु अनुसूचित जातियो और जन जातियो के बारे मे अपवाद रखा गया है। सेवाओं और पदो के लिये नियुक्तियो के बारे में उनके दावों पर प्रशासन मे कुशलता की रक्षा का ध्यान रखते हुए विचार किया जायेगा।[5]

वर्तमान सार्वजनिक सेवाओ का वर्गीकरण—सविधान में कहा गया है कि *यदि राज्य-सभा अपने प्रस्ताव द्वारा घोषित करे कि राष्ट्रीय हित में एक या अधिक*

---

5 हमारा संविधान, पृ० ८६–६०।

प्रकार की अखिल-भारतीय सेवायें संघ व राज्यो के लिये स्थापित की जायें, तो संसद कानून द्वारा उन्हें स्थापित कर सकती है, परन्तु इस सम्बन्ध मे राज्य-सभा का प्रस्ताव कुल उपस्थित सदस्यो के दो-तिहाई मतो से पास होना आवश्यक है। अब भारतीय संघ में तीन प्रकार की सेवायें है—एक वे जो केवल संघ सरकार के अधीन है, दूसरी वे जो राज्यों के अधीन है और तीसरी वे जो संघ तथा राज्यों दोनो के ही अधीन कार्य करेंगी। साधारण रूप में ऐसा ही स्वाधीनता से पूर्व था। अखिल भारतीय सेवाओ का उद्देश्य संघ तथा राज्यो के अधीन सभी उच्च व महत्वपूर्ण पदो के लिये अधिकारियो की व्यवस्था करना है। उनकी भरती अखिल भारतीय आधार पर होती है। अत उनमे आशा है कि वे प्रशासन मे उच्च स्तर तथा कार्य-कुशलता का परिचय देंगी। इस व्यवस्था का लाभ यह भी है कि इससे संघ की एकता सुदृढ रहेगी तथा राष्ट्रीयता की भावना में वृद्धि होगी। इन सेवाओ मे भारतीय प्रशासन सेवा (Indian Administrative Service), भारतीय पुलिस सेवा, भारतीय विदेश सेवा (Indian Foreign Service), भारतीय लेखा तथा परीक्षण सेवा (Indian Accounts and Audit Service) इत्यादि प्रमुख हैं।

अखिल भारतीय सेवाओ के लिये प्रतिवर्ष संघीय लोक-सेवा आयोग एक सम्मिलित प्रतियोगी परीक्षा करता है—इण्डियन एडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस, इण्डियन फोरिन सर्विस, इण्डियन पुलिस, इण्डियन ऑडिट एण्ड एकाउण्ट्स सर्विस, मिलिटरी एकाउण्ट्स सर्विस, इण्डियन कस्टम एण्ड एक्साइज सर्विस, इण्डियन फोरेस्ट सर्विस, इण्डियन रेलवे सर्विस, इत्यादि। इन सेवाओ मे से अधिकतर परीक्षाओ के लिये परीक्षार्थियो (candidates) की आयु २१ और २४ वर्ष के बीच मे होनी चाहिए, परन्तु अनुसूचित वर्गों व जन-जातियो के लिये कुछ श्रेणियो की सरकारी सेवाओ मे ऊपर की सीमा २७ वर्ष है।

केन्द्रीय सेक्रेटेरियट की सेवायें—इन सेवाओ मे सहायक (Assistant) पद से लेकर अण्डर-सेक्रेटरी के पद तक के सभी पद आते है। सन् १६४८ की योजना के अन्तर्गत इन सेवाओ को अग्रलिखित चार श्रेणियो मे पुनर्गठित किया गया है—अण्डर-सेक्रेटरी, सुपरिन्टेंडेंट, असिस्टेंट सुपरिन्टेंडेंट और असिस्टेंट। इन सेवाओ के लिए भरती लिखित परीक्षा अथवा इण्टरव्यू अथवा दोनो प्रकार से संघीय लोक-सेवा आयोग द्वारा की जाती है। ऊपर की सेवाओ मे खाली स्थानों की पूर्ति, पदोन्नति तथा नई भरती दोनो ही प्रकार से होती है।

राज्य सेवायें—यद्यपि भारतीय प्रशासन सेवा (Indian Administrative Service) और भारतीय पुलिस सेवा (Indian Police Service) को राज्य मे उच्च प्रशासनिक व पुलिस पदो की आवश्यकताओ के आधार पर संगठित किया गया है और इन सेवाओं के सदस्य विभिन्न विभागो व जिलो मे प्रायः सभी उच्च स्थानो पर नियुक्त होते है, फिर भी प्रत्येक राज्य में राज्य की सेवाओ के लिये भी व्यवस्था है। राज्य की सेवायें राज्य के अधीन अन्य विभागो तथा प्रशासन व

पुलिस विभागो में अधीन स्थान पर कार्य करती है। राज्य की सेवाओ में भी सबसे महत्वपूर्ण स्थान प्रशासन शाखा (administration branch) का है। तहसीलो के अधिकारी (sub-divisional magistrates), राज्य प्रशासन सेवा (State) के सदस्य है। अन्य दो महत्वपूर्ण सेवाये पुलिस और न्याय विभाग की है। इनके अतिरिक्त विभिन्न विभागो में प्राविधिक तथा विशेषज्ञान प्राप्त व्यक्तियो की भरती की जाती है। राज्य के प्रशासन मे अन्य प्रमुख विभाग ये है—सार्वजनिक निर्माण कार्य, कृषि, वन, सिंचाई, सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा, रजिस्ट्रेशन, सहकारिता, सामुदायिक विकास, पचायते आदि। इन सेवाओ के सदस्यों को सविधान मे दिये गये सभी सरक्षण (safeguards) प्राप्त है, किन्तु उनकी सेवा सम्बन्धी शर्ते राज्य सरकार द्वारा बनाये गये कानून और उसके अधीन बने विनिमय से विनियमित होती है।

लोक-सेवा आयोग—भारत के सविधान के अन्तर्गत एक सघीय लोक-सेवा आयोग तथा विभिन्न राज्यो के लिए अलग-अलग लोक-सेवा आयोग बनाने की व्यवस्था है। सघीय लोक-सेवा आयोग के सभापति और सदस्यो की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है। राज्य लोक-सेवा आयोग के सभापति और सदस्यों की नियुक्ति उस राज्य का राज्यपाल करता है। सविधान का यह भी आदेश है कि प्रत्येक लोक-सेवा आयोग के सदस्यों मे जहाँ तक हो सके, आधे व्यक्ति ऐसे होने चाहियें जो अपनी नियुक्ति के समय भारत या राज्य सरकार के आधीन कम से कम दस वर्ष तक कोई पद धारण कर चुके हो। राज्य के लोक-सेवा आयोग का सदस्य पद-ग्रहण से ६ वर्ष की अवधि तक अथवा ६० वर्ष की आयु तक, जो भी इनमें से पहले हो, अपना पद धारण करेगा। सघीय लोक सेवा आयोग का सदस्य राष्ट्रपति को सम्बोधित लेख द्वारा अपने पद से त्याग-पत्र दे सकता है अथवा उसे इस प्रकार हटाया भी जा सकता है—किसी भी आयोग के सभापति या सदस्य को केवल राष्ट्रपति के आयोग के सभापति या सदस्य को केवल राष्ट्रपति के आदेश द्वारा हटाया जा सकता है, हटाने का आधार कदाचार (misconduct) होगा और ऐसा तभी किया जा सकेगा, जबकि उस मामले को सर्वोच्च न्यायालय को सौंपा जाय और वह इस प्रकार की सिफारिश करे। परन्तु इस बीच में जबकि किसी के विरुद्ध जाच चल रही हो संघ व सयुक्त आयोग के सदस्यों को राष्ट्रपति निलम्बित (suspend) कर सकता है और राज्य आयोग के सदस्य को इसी प्रकार सम्बन्धित गवर्नर निलम्बित कर सकता है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति इनके सभापतियो अथवा सदस्यो को केवल अपने आदेश द्वारा अग्रलिखित आधारो पर हटवा सकता है—(अ) यदि उसे अधिकार प्राप्त न्यायालय दिवालिया माने, (आ) वह अपने पद के अतिरिक्त किसी दूसरे लाभ के पद पर कार्य करने लगे, (इ) मस्तिष्क या शरीर की असमर्थता के कारण यदि वह राष्ट्रपति की सम्मति में अपने पद के अयोग्य हो

गया हो। साथ ही कोई भी सदस्य अपनी कार्यावधि पूर्ण होने पर फिर से नियुक्त नहीं किया जा सकता।

राष्ट्रपति तथा गवर्नरो को अपने अधीन आयोगों से सम्बन्धित इन बातों के विषय में नियम निर्धारण के अधिकार प्राप्त है (अ) सदस्यों की संख्या और उनकी सेवा की शर्तें, (आ) उनके अधीन कर्मचारियो व उनकी सेवा की शर्तें, परन्तु आयोग के किसी सदस्य की सेवा की शर्तों में उनके कार्यकाल में कोई ऐसा परिवर्तन नहीं किया जा सकता जिसके परिणामस्वरूप उसे हानि पहुँचे। आयोग की सदस्यता समाप्त होने पर—(१) सघ लोक सेवा आयोग का सभापति सरकार के अधीन कोई वैतनिक पद प्राप्त नही कर सकता। (२) राज्य आयोग का सभापति केवल सघ लोक सेवा आयोग का सभापति अथवा सदस्य नियुक्त हो सकता है। (३) सघ लोक सेवा आयोग का कोई सदस्य केवल सघ या राज्य के किसी लोक-सेवा आयोग का सभापति-पद ग्रहण कर सकता है। (इ) किसी राज्य लोक-सेवा आयोग का सदस्य भी केवल सघ लोक-सेवा आयोग या अन्य किसी राज्य लोक-सेवा आयोग का सभापति अथवा सदस्य बन सकता है। इन शर्तों का सरल तात्पर्य यह है कि लोक सेवा आयोगो के सदस्यो को कोई अन्य प्रकार के सरकारी पद नहीं मिल सकते। परन्तु पद-निवृत्ति के बाद वे विधानमण्डलों के सदस्य अवश्य चुने जा सकते है। इस अनुच्छेद के अनुसार उनके सार्वजनिक जीवन का प्रायः अन्त ही हो जाता है। वास्तव में लोक सेवा आयोगो की स्वतत्रता को सुरक्षित बनाये रखने का यह एक प्रयत्न है। उनका व्यय भी सम्बन्धित सरकारो की संचित निधियों पर भारित है। इसके द्वारा उनकी स्वतन्त्रता व निष्पक्षता स्थिर रह सकेगी, ऐसा विश्वास किया जा सकता है।

लोक सेवा आयोगों के कार्य—इनका प्रथम कर्तव्य अपने अधीन सेवाओं में नियुक्तिया करने के हेतु परीक्षाओ की व्यवस्था करना है। इन आयोगों से निम्नलिखित विषयो में परामर्श लेना आवश्यक है:

(अ) नागरिक सेवाओं और पदो के लिये भरती से सम्बन्धित सभी मामलों पर, (आ) इन सेवाओ और पदो पर नियुक्तियाँ करने में किन सिद्धान्तों का पालन किया जाय तथा पदोन्नति और तबादले के क्या सिद्धान्त हों, (इ) सरकारी सेवको में अनुशासन सम्बन्धी सभी मामलों पर, (ई) किसी भी सरकारी सेवक द्वारा या उसकी ओर से किसी भी दावे पर, जैसे उसके विरुद्ध सरकारी अधिकारी की हैसियत से किये गये किसी कार्य के सम्बन्ध में चलाई गई किसी भी न्यायिक कार्यवाही का व्यय सघ अथवा राज्य सरकार के कोष से दिया जाये या नही, और (उ) राष्ट्रपति अथवा गवर्नरों द्वारा जो मामला सम्बन्धित आयोगों को भेजा जाय उसके विषय में परामर्श देना इन आयोगो का कर्तव्य है।

परन्तु राष्ट्रपति और गवर्नरो को अपने अधीन आयोगो के विषय मे ऐसे नियम बनाने की शक्ति भी मिली है, जिसके अनुसार वे निर्धारित मामलो को साधारणत: अथवा विशेषत: आयोगो के परामर्श की सीमा से बाहर रख सकते है। साथ ही विधान मण्डलो को अपने अधीन सेवाओ के विषय में सम्बन्धित आयोगो को अतिरिक्त कृत्य सौपने के लिये कानूनी व्यवस्था करने की शक्ति भी प्राप्त है। सविधान मे यह भी व्यवस्था है कि प्रत्येक लोक सेवा आयोग अपने कार्यों की वार्षिक रिपोर्ट राष्ट्रपति अथवा गवर्नर को दे और राष्ट्रपति व गवर्नर उन रिपोर्टों को अपनी ओर से स्मृति-पत्र सहित सम्बन्धित विधान-मण्डलो के सामने रखवायें। स्मृति-पत्र में ऐसे मामलो का उल्लेख भी किया जाता है जिसमें कि सरकारों ने आयोगो के परामर्श को न माना हो और साथ में न मानने के कारण भी दिये जाते है।

सेवा सम्बन्धी शर्तों का विनियमन और मूल अधिकार—सविधान द्वारा विधान-मण्डलो को सार्वजनिक सेवाओ की शर्तों के विषय में नियम बनाने के अधिकार मिले है, किन्तु प्रश्न यह है कि क्या वे इन नियमो द्वारा उनके मूल अधिकारो के उपभोग पर सीमाये लगा सकते है ? अर्थात् क्या सरकारी नौकर होने के कारण उनकी भाषण, लेखन व सगठन की स्वतन्त्रता को सीमित किया जा सकता है ? अन्य देशो मे भी उनके राजनैतिक कार्यवाहियो मे भाग लेने के प्रश्न उठे है और उनके निर्णय हुये हैं। ब्रिटेन में सरकारी नौकरो को मतदान करने का अधिकार है, किन्तु वे सक्रिय रूप से किसी भी राजनैतिक कार्यवाही में भाग नही ले सकते। वही से सार्वजनिक सेवाओ की राजनीति के प्रति तटस्थता की प्रथा चली जो ससदीय पद्धति मे आवश्यक और अति उपयोगी है। उसी प्रथा को हमारे देश मे माना गया है किन्तु इस विषय में एन० आर० विल्ले का मत इस प्रकार है . "सरकारी सेवको को पूर्णतया तटस्थ होना चाहिए यह एक मानी हुई प्रथा है, किन्तु यह सम्भव नही कि आज का नागरिक सेवक राजनैतिक प्रश्नों पर अपने विचार न रखता हो। प्रत्येक नागरिक को, उसका व्यवसाय कुछ भी हो, अपने राजनैतिक मतो को रखने और विकसित करने का अधिकार है, परन्तु विद्यार्थियो की भाँति प्रत्येक नागरिक सेवक का यह कर्तव्य है कि वे राजनैतिक दलबन्दी में न पडे और न ही ऐसे कार्य मे सक्रिय भाग लें। सौभाग्यवश हमारे देश मे तो कल्याणकारी राज्य का ध्येय ऐसा है जिस पर कोई मतभेद नही है।"

सन् १९१९ के भारतीय शासन अधिनियम के काल से ही यह नियम चला आ रहा है कि कोई भी सरकारी व्यक्ति किसी भी राजनैतिक आन्दोलन व चुनाव आदि कार्यों मे किसी दल की सहायता न करेंगे, जहाँ तक कि सरकारी सेवक के ऊपर निर्भर व्यक्ति (dependent) का सम्बन्ध है उसे भी ऐसी कार्यवाहियो मे भाग लेने का अधिकार न था। परन्तु अब ऐसा नही है। सरकारी नौकर चुनावों मे खडे भी नही हो सकते थे। सयुक्त राज्य अमरीका मे भी विधानमण्डल सरकारी

सेवकों के राजनैतिक आचार को उचित (reasonable) सीमा में रखने के हेतु नियम बना सकते हैं, जिससे कि वे अपने सरकारी कर्तव्यों का पालन कुशलता व ईमानदारी से कर सकें और अनुशासन भी कायम रख सकें। अतः जबकि प्रत्येक नागरिक को भाषण व लेखन की स्वतन्त्रता है, कोई भी सरकारी सेवक राजनैतिक भाषण नहीं दे सकता। इसे मूल अधिकार का सीमित करना नहीं वरन् सरकारी सेवा को नियमित करना समझा जाता है और यह उचित है। उन देशों की भाँति भारत में भी सरकारी सदस्यों को अपने संगठन बनाने के अधिकार हैं, जो उनकी माँगों को समय-समय पर सरकार के सामने रखते हैं। नियमों के अनुसार नोटिस आदि देने पर वे हड़ताल करने का भी अधिकार रखते हैं। परन्तु आवश्यक सेवाओं (essential services) के सदस्यों के ऐसे अधिकार (जैसा कि राज्य की सुरक्षा और जनहित में आवश्यक है) अधिक सीमित और प्रतिबन्धित हैं। अच्छा तो यह हो कि प्रजातन्त्र में सरकारी सेवकों से सम्बन्धित विभिन्न प्रश्नों के निर्णय उनके प्रतिनिधियों के परामर्श से किये जाने चाहियें। इस दृष्टि से भारत सरकार ब्रिटेन की व्हिटले कौंसिल (Whitley Council) के नमूने पर विभिन्न सरकारी विभागों में सरकारी पक्ष और सेवकों के पक्ष के समान प्रतिनिधित्व के आधार पर आपसी विमर्श द्वारा विवादग्रस्त प्रश्नों के हल करने के हेतु आवश्यक पग उठाये हैं।

वर्तमान सेवक कैसे हों इस सम्बन्ध में अनेक विचार प्रकट किये गये हैं। यह तो सभी मानते हैं कि वे योग्य, कार्य में कुशल, परिश्रमी और सदाचारी हों। परन्तु अब आवश्यकता इस बात की अधिक है कि उनकी मनोवृत्ति बदले। वे अपने को पूर्व की भाँति शासक न मानकर जनता का सेवक समझें और जनमत का यथा सम्भव आदर करें। सरकारी पद पाने पर उन्हें अपना जीवन जन-सेवा में लगाना चाहिये। तभी वे जनता में सहयोग की भावना को जागृत कर सकेंगे। जनता के सभी वर्गों व सदस्यों के प्रति उनका व्यवहार सभ्य, सहानुभूति और विभेद रहित होना चाहिये। जनता को भी उन्हें सभी कार्यों में पूर्ण सहयोग देना चाहिये। वास्तव में अब सरकारी और अ-सरकारी व्यक्तियों के बीच का अन्तर मिट जाना उचित ही नहीं आवश्यक है। भूतपूर्व प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरू के मतानुसार सरकारी अधिकारियों का एक अलग वर्ग नहीं होना है और न ही उनमें ऊँची और नीची श्रेणियों के सदस्य होने की भावना रहनी चाहिये। अब पुरानी नौकरशाही और लाल फीताशाही के लिये कोई स्थान नहीं है।[6] सरकारी कार्य उचित

6. "Now in the old days the services were a class apart from the people depending on the good-will of the British Government and they were not dependent, of course, on popular good-will.. Basically the attitude has to be, as between the services whatever they are—whether they are civil or military or police or anything else, one of active co-operation with the public, of active service to the public and on the public side also the same of welcoming

शीघ्रता के साथ किये जाने आवश्यक है। समय की पाबन्दी और नियमों का उचित पालन उसकी भावना (spirit) को समझकर किया जाना चाहिये।

भारत ने कल्याणकारी राज्य के ध्येय को अपनाया है और सरकार का घोषित ध्येय प्रजातान्त्रिक समाजवाद की स्थापना करना है। तीन पंचवर्षीय योजनायें पूर्ण हो चुकी है और चौथी कार्यान्वित हो रही है। योजना के उद्देश्य अति सराहनीय हैं, किन्तु उनकी प्राप्ति अत्यन्त कठिन है। सरकारी सेवकों की सख्या में अत्यधिक वृद्धि हो रही है। आवश्यकता इस बात की है कि वे सुयोग्य होने के साथ-साथ अपने कार्यों के लिये विशेष प्रशिक्षण प्राप्त हों। उन्हें आर्थिक और सामाजिक समस्याओं का समुचित ज्ञान होना आवश्यक है। सरकारी सेवको के कृत्यो का क्षेत्र व कार्य-भार भी बढा है, उसे वे उत्तरदायित्व की भावना और जनता का सहयोग पाकर ही सुगमता से पूरा कर सकेंगे। उन्हें सरकारी व्यय में अधिक से अधिक बचत का पूरा ध्यान रखना चाहिये, क्योंकि किसी भी प्रकार का अपव्यय देश के साथ बडा अहित करना है।

—:o:—

---

that co-operation and giving their co-operation too. Infact, the so-called barrier, the so-called dividing line, which in the past divided the officials and non-officials should cease to be".

Indian Journal of Public Administration, Vol. 1. No. 4, p. 29.

अध्याय १३

स्थानीय स्वशासन और लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण

१. महत्व और ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि

महत्व—सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से स्थानीय स्वशासन राष्ट्रीय स्वशासन का प्रशिक्षणालय है। एक अंग्रेज लेखक कहता है—'स्थानीय शासन ही हमारी स्वतन्त्रता और न्याय के सभी सिद्धान्तों का आधार है। इसी से 'संसदों की जननी', हमारे साम्राज्य के गर्व और अन्य राज्यों व राष्ट्रों के लिये एक उदाहरण का विकास हुआ।' लार्ड ब्राइस के मतानुसार भी प्रजातन्त्र की सफलता के लिये यह सर्वश्रेष्ठ विद्यालय है।[1] यह सच है कि जो जाति स्थानीय स्वशासन के संचालन में सफलता प्राप्त कर लेती है वह राष्ट्रीय क्षेत्रों में भी स्वशासन को सफल बना सकेगी। इङ्गलैंड इसका एक ज्वलंत उदाहरण है। राष्ट्रीय क्षेत्र में स्वशासन के लिये यह आवश्यक है कि सार्वजनिक मामलों में दिलचस्पी लेने वाले व्यक्तियों की संख्या बढ़े। राजनीतिक प्रशिक्षण का यह कार्य स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं द्वारा बड़ी सुगमता से हो सकता है। इङ्गलैंड और सं० रा० अमरीका जैसे देशों में स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र पर आधारित शासन की गहरी नींव वहाँ की स्थानीय शासन की संस्थायें रही है।

ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि—प्राचीन भारत में स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं का रूप बहुत विकसित था। देश के पुरातन इतिहास को देखा जाए तो ग्रामों की स्थिति बहुत सुधरी हुई मिलती है। ग्रामीण जनों की आन्तरिक व्यवस्था हर प्रकार से स्वतन्त्र रही है। किसी भी शासन में उनके अधिकारों का अपहरण न किया गया था। यद्यपि कौटिल्य काल में ग्रामों के समूहों को 'नगरों' के साथ सूत्रबद्ध किया गया फिर भी उनके विकास की सुविधायें हर प्रकार से बनी रहीं। गुप्त काल में और उसके पश्चात् ग्राम सभा (पंचायत प्रथा) का प्रभाव क्षेत्र बढ़

---

1 "The best school for democracy and the best guarantee for its success is the practice of Local-self Government".

गया था। ये अत्यन्त सुव्यवस्थित रूप से शासन से सर्वथा स्वतन्त्र रहकर अपने में सम्पूर्ण शक्ति केन्द्रित कर चलती थीं। केन्द्रीय और प्रादेशिक शासनों में कैसे भी परिवर्तन क्यों न होते रहे इन सस्थाओं की कार्य प्रणालियों पर कोई प्रभाव नही पडा। इन सस्थाओं की विभिन्न समितियाँ उन्ही के अङ्ग बनकर कार्य करती थी और ग्राम सभा का चुनाव भी होने लगा था। इसमें जाति वर्ग का कोई भेद नही माना जाता था। ग्रामाध्यक्ष असंस्कृत नही होते थे। वे अनुभव, ज्ञान और कुल शील से सम्पन्न लोग होते थे। मध्य युग मे अनेक उदाहरण मिलते है जिन से पता चलता है कि ग्राम की जनता असभ्य और असस्कृत नही थी।

कई अनुसधानकर्त्ताओं ने बताया है कि पचायत का सगठन बड़ा ही सुदृढ एव कुशल था, जिसके प्रमाण प्राचीन ग्रथो में मिलते है। हमारे समाज और अर्थ-व्यवस्था की नीव ग्राम रहे है और ग्राम-पचायतें इनका साधन थी। एलफिंस्टन ने स्वायत्त ग्राम का वर्णन निम्न प्रकार किया है :

> प्रत्येक कस्बा (Township) अपने आन्तरिक मामलों का स्वयं सचालन करता है। यह सदस्यो पर राज्य को दिये जाने वाले भूमि-कर को लगाता व वसूल करता है जिसके लिये यह सामूहिक रूप से उत्तरदायी है। यह अपनी पुलिस का प्रबन्ध करता है जो सीमा में सम्पत्ति की चोरी व लूट के लिये जिम्मेदार है। जहाँ तक छोटे झगडो का सम्बन्ध है यह न्याय का प्रशासन करता है और छोटे अपराधो के लिये दण्ड भी देता है। यह स्वयं अपने पर कर लगाता है जिससे कि कुँओं, मदिरों की मरम्मत, सार्वजनिक दान, समारोहो, मनोरञ्जन और त्यौहारो की व्यवस्था की जा सके। अपने कर्तव्यो को पूरा करने के लिये यह आवश्यक तानुसार अधिकारियो व कर्मचारियो की नियुक्ति करता है।[2]

अंग्रेजो के आगमन काल तक केवल ग्राम पचायतें ही शेष बची थी जिनका उनके काल में प्राय. अन्त हो गया। टॉमस मुनरो ने सन् १८०७ में लिखा था कि पचायतों द्वारा मुकदमे होना भारत का वैसा ही सामान्य कानून (Common Law) था जैसा कि इगलैंड मे ज्यूरी द्वारा है। पचायतो के कार्य प्रशासनिक की अपेक्षाकृत न्यायिक अधिक थे। स्वशासन की सस्थाओं का इतिहास दक्षिणी भारत मे उत्तरी भारत की अपेक्षा अनवरत रहा है।

---

2 "These communities contain in miniature all the materials of a state within themselves and are almost sufficient to protect their members if all government were with drawn......In the stability and continuity of village life and organisation is to be sought the secret of the good thing achieved by India in the past inspite of an apparent incapacity to develop political institution of an advanced character."

See Srinivasan, N., *Democratic Government in India.*

अध्याय १३

स्थानीय स्वशासन और लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण

१. महत्व और ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि

महत्व—सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से स्थानीय स्वशासन राष्ट्रीय स्वशासन का प्रशिक्षणालय है। एक अंग्रेज लेखक कहता है—'स्थानीय शासन ही हमारी स्वतन्त्रता और न्याय के सभी सिद्धान्तों का आधार है। इसी से 'संसदों की जननी', हमारे साम्राज्य के गर्व और अन्य राज्यों व राष्ट्रों के लिये एक उदाहरण का विकास हुआ।' लार्ड ब्राइस के मतानुसार भी प्रजातन्त्र की सफलता के लिये यह सर्वश्रेष्ठ विद्यालय है।[1] यह सच है कि जो जाति स्थानीय स्वशासन के संचालन में सफलता प्राप्त कर लेती है वह राष्ट्रीय क्षेत्रों में भी स्वशासन को सफल बना सकेगी। इङ्गलैंड इसका एक ज्वलंत उदाहरण है। राष्ट्रीय क्षेत्र में स्वशासन के लिये यह आवश्यक है कि सार्वजनिक मामलों में दिलचस्पी लेने वाले व्यक्तियों की संख्या बढ़े। राजनीतिक प्रशिक्षण का यह कार्य स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं द्वारा बड़ी सुगमता से हो सकता है। इङ्गलैंड और स० रा० अमरीका जैसे देशों में स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र पर आधारित शासन की गहरी नींव वहाँ की स्थानीय शासन की संस्थायें रही हैं।

ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि—प्राचीन भारत में स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं का रूप बहुत विकसित था। देश के पुरातन इतिहास को देखा जाए तो ग्रामों की स्थिति बहुत सुधरी हुई मिलती है। ग्रामीण जनों की आन्तरिक व्यवस्था हर प्रकार से स्वतन्त्र रही है। किसी भी शासन में उनके अधिकारों का अपहरण न किया गया था। यद्यपि कौटिल्य काल में ग्रामों के समूहों को 'नगरों' के साथ सूत्रबद्ध किया गया फिर भी उनके विकास की सुविधायें हर प्रकार से बनी रहीं। गुप्त काल में और उसके पश्चात् ग्राम सभा (पंचायत प्रथा) का प्रभाव क्षेत्र बढ़

1 "The best school for democracy and the best guarantee for its success is the practice of Local-self Government".

गया था। ये अत्यन्त सुव्यवस्थित रूप से शासन से सर्वथा स्वतन्त्र रहकर अपने में सम्पूर्ण शक्ति केन्द्रित कर चलती थी। केन्द्रीय और प्रादेशिक शासनों में कैसे भी परिवर्तन क्यों न होते रहे इन संस्थाओं की कार्य प्रणालियों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इन संस्थाओं की विभिन्न समितियाँ उन्ही के अङ्ग बनकर कार्य करती थीं और ग्राम सभा का चुनाव भी होने लगा था। इसमें जाति वर्ग का कोई भेद नहीं माना जाता था। ग्रामाध्यक्ष असंस्कृत नहीं होते थे। वे अनुभव, ज्ञान और कुल शील में सम्पन्न लोग होते थे। मध्य युग में अनेक उदाहरण मिलते है जिन से पता चलता है कि ग्राम की जनता असभ्य और असंस्कृत नहीं थी।

कई अनुसंधानकर्त्ताओं ने बताया है कि पंचायत का संगठन बड़ा ही सुदृढ़ एवं कुशल था, जिसके प्रमाण प्राचीन ग्रथों में मिलते है। हमारे समाज और अर्थ-व्यवस्था की नीव ग्राम रहे है और ग्राम-पंचायतें इनका साधन थी। एलफिंस्टन ने स्वायत्त ग्राम का वर्णन निम्न प्रकार किया है :

> प्रत्येक कस्बा (Township) अपने आन्तरिक मामलों का स्वयं संचालन करता है। यह सदस्यों पर राज्य को दिये जाने वाले भूमि-कर को लगाता व वसूल करता है जिसके लिये यह सामूहिक रूप से उत्तरदायी है। यह अपनी पुलिस का प्रबन्ध करता है जो सीमा में सम्पत्ति की चोरी व लूट के लिये जिम्मेदार है। जहाँ तक छोटे झगड़ो का सम्बन्ध है यह न्याय का प्रशासन करता है और छोटे अपराधो के लिये दण्ड भी देता है। यह स्वयं अपने पर कर लगाता है जिससे कि कुँओं, मंदिरों की मरम्मत, सार्वजनिक दान, समारोहों, मनोरञ्जन और त्यौहारों की व्यवस्था की जा सके। अपने कर्तव्यों को पूरा करने के लिये यह आवश्यक तानुसार अधिकारियों व कर्मचारियों की नियुक्ति करता है।[2]

अंग्रेजो के आगमन काल तक केवल ग्राम पंचायतें ही शेष बची थी जिनका उनके काल में प्रायः अन्त हो गया। टॉमस मुनरो ने सन् १८०७ में लिखा था कि पंचायतों द्वारा मुकदमे होना भारत का वैसा ही सामान्य कानून (Common Law) था जैसा कि इंगलैंड में ज्यूरी द्वारा है। पंचायतों के कार्य प्रशासनिक की अपेक्षाकृत न्यायिक अधिक थे। स्वशासन की संस्थाओं का इतिहास दक्षिणी भारत में उत्तरी भारत की अपेक्षा अनवरत रहा है।

---

2 "These communities contain in miniature all the materials of a state within themselves and are almost sufficient to protect their members if all government were with drawn......In the stability and continuity of village life and organisation is to be sought the secret of the good thing achieved by India in the past inspite of an apparent incapacity to develop political institution of an advanced character."

See Srinivasan, N., *Democratic Government in India.*

पूर्व इतिहास कुछ भी रहा हो, यह सच है कि वर्तमान स्वशासन की संस्थाओं की रचना और विकास विदेशी शासकों की देन है।[3] इनकी रचना अंग्रेजी संस्थाओं के नमूने पर अंग्रेजो ने की और उन्ही के शासन काल में इनका विकास हुआ, किन्तु सन् १९२० के बाद से भारतीयों ने इनके विकास मे महत्वपूर्ण योग दिया। सन् १९१९ के शासन सुधारों के अन्तर्गत प्रचलित द्वैध शासन-प्रणाली मे स्थानीय स्वशासन पर जनप्रिय मन्त्रियों का नियन्त्रण आरम्भ हुआ और सभी प्रान्तीय सरकारों ने इन संस्थाओं के विस्तार व पुनर्गठन हेतु कानून पास किये। सन् १९२२–२३ में इनकी साधारण स्थिति इस प्रकार थी—ब्रिटिश भारत में ७५७ म्युनिसिपैलिटियाँ थी, जिनमें १८० लाख व्यक्ति रहते थे। उनके सदस्यों में आधे से अधिक निर्वाचित थे, सरकारी सदस्य केवल ७ प्र० श० थे जबकि नामजद सदस्यों का प्र० श० २५ था। इनकी कुल आय १४ करोड़ के लगभग थी और इनके व्यय की मुख्य मदें—सफाई, सार्वजनिक निर्माण-कार्य, जल की व्यवस्था, सार्वजनिक सुरक्षा के कार्य थे। जिला बोर्डों की संख्या २२१ थी, जिनके नीचे ५५६ उप-जिला बोर्ड और ७०० यूनियन कमेटियाँ थी। इनमे भी अधिकांश सदस्य निर्वाचित थे और सरकारी सदस्य केवल ११ प्र० श० थे। इनकी कुल आय ११ करोड थी और व्यय की मदें ये थी—शिक्षा, नागरिक-कार्य जैसे सड़कें और पुल, चिकित्सा सम्बन्धी सहायता। जनप्रिय नियन्त्रण के अन्तर्गत सभी संस्थाओं को अधिक प्रजातन्त्रात्मक आधार पर पुनर्गठित किया गया और मताधिकार नीचा किया गया।[4]

आगे चलकर सन् १९३५ के कानून के क्रियान्वित होने पर विभिन्न प्रान्तों में स्थानीय संस्थाओं के गठन और कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में अनेक संशोधन किये गये, जिनके परिणामस्वरूप कई प्रान्तों में नामजदगी की प्रथा को अत्यधिक कम किया गया, निर्वाचकों की संख्या बढ़ाई गई और उन पर सरकारी नियन्त्रण भी घटा दिया गया। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त स्थानीय संस्थाओं की रचना में और सुधार किये गये। नामजदगी की प्रथा का प्रायः अन्त हुआ, मताधिकार सभी वयस्कों को मिला। जिला बोर्डों के सदस्यों की संख्या भी बढ़ाई गई तथा विभिन्न राज्यों में ग्राम पंचायतों की स्थापना के लिये कानून पास हुये। इस काल में स्थानीय संस्थाओं में जनसाधारण की दिलचस्पी बढ़ी है, इनके चुनावों में जनता

3 "The local self-government in India in the sense of a representative organisation responsible to a body of electors enjoying wide powers of administration and taxation, and functioning both as school for training in responsibility and vital link in the chain of organisms that make up the government of the country is a British creati n .."

Simon Commission Report, Vol. I, p. 298.

4 Rushbrook-Williams, L. F., *India in 1923–24*, pp, 70–2.

अधिक दिलचस्पी लेने लगी है और मतदान करने वाले मतदाताओं की संख्या भी बढ़ी है।

२. स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं का संगठन व कार्य-प्रणाली

विभिन्न प्रकार की स्थानीय संस्थाओं को मुख्यतः दो समूहों—शहरी (urban) और ग्रामीण (rural) में बांट सकते हैं। शहरी संस्थाओं में प्रधानतः निगम (Corporation), पोर्ट ट्रस्ट, इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट, म्युनिसिपैलिटियाँ, छावनी बोर्ड आती हैं और उत्तर प्रदेश की नोटीफाइड व टाउन एरिया कमेटियों को भी इसी श्रेणी में गिना जा सकता है। ग्रामीण संस्थाओं में प्रमुख स्थान जिला बोर्डों का था, अब उनका स्थान जिला परिषदों ने ले लिया है। उनके नीचे अब प्रायः सभी राज्यों में क्षेत्रीय समितियाँ तथा पंचायतें स्थापित हो गई हैं।

निगम—यह म्युनिसिपल बोर्ड से इस बात में भिन्न होती है कि इसकी शक्तियों व कार्यों का विस्तार अधिक होता है। जबकि किसी भी राज्य की सभी म्युनिसिपैलिटियों का गठन एक ही कानून द्वारा हुआ है उनमें निगमों के निर्माण हेतु साधारणतया राज्य सरकारों द्वारा अलग-अलग कानून बने हैं। निगम का अध्यक्ष मेयर कहलाता है और इसके सदस्यों की संख्या काफी बड़ी होती है, जिनमें से कुछ कहीं-कहीं 'एल्डरमैन' भी होते हैं। अपनी कार्य-प्रणाली में निगम को म्युनिसिपैलिटियों से अधिक स्वाधीनता प्राप्त होती है। भारत की सबसे पुरानी निगमें मद्रास, बम्बई व कलकत्ते में हैं। कुछ ही वर्ष पूर्व मध्य प्रदेश सरकार ने नागपुर व जबलपुर में निगमें स्थापित की और उत्तर प्रदेश सरकार ने पाँच बड़े शहरों—कानपुर, लखनऊ, आगरा, बनारस और इलाहाबाद में निगम स्थापित किये हैं।

बम्बई शहर का म्युनिसिपल प्रशासन इन प्राधिकारियों में विभक्त है—(१) बम्बई कार्पोरेशन, (२) बम्बई इलेक्ट्रीसिटी बोर्ड (३) म्युनिसिपल कमिश्नर और (४) जनरल मैनेजर बम्बई इलेक्ट्रिक एण्ड ट्रांसपोर्ट ऑथोरिटी। वास्तव में, म्युनिसिपल प्रशासन के लिये मुख्य रूप से कार्पोरेशन ही उत्तरदायी है। म्युनिसिपल कमिश्नर कार्यकारिणी प्रमुख है। स्टेंडिंग कमेटी कार्पोरेशन की वित्त (Finance) कमेटी है। कार्पोरेशन के अन्य स्थायी समितियों के नाम ये हैं—शिक्षा समिति, सुधार समिति, निर्माण-कार्य (works) समिति, स्वास्थ्य और चिकित्सा सहायता समिति, बाजार व बाग समिति, कानून, आय व सामान्य प्रयोजन समिति।

दिल्ली निगम—इस निगम में ८० सदस्य तथा ६ एल्डरमैन हैं। सदस्यों का चुनाव ४ वर्ष के लिये वयस्क मताधिकार के आधार पर होता है। इस निगम की प्रमुख विशेषता यह है कि इसका क्षेत्र दिल्ली नगर तक ही नहीं वरन् सम्पूर्ण संघीय क्षेत्र तक, जिसमें कि काफी बड़ा ग्रामीण क्षेत्र सम्मिलित है, विस्तृत है।

सदस्यो के चुनाव के लिये सम्पूर्ण क्षेत्र को ८० वार्डों में बांटा गया है। एल्डरमैन का चुनाव सभी सदस्य मिलकर करते है। मेयर और डिप्टी मेयर प्रमुख निर्वाचित अधिकारी है और निगम अपना कार्य कई समितियो द्वारा करता है। निगम का कार्य-क्षेत्र भी काफी विस्तृत है।

उत्तर प्रदेश के पाँच बड़े शहरों में नगर महापालिकायें—उत्तर प्रदेश की सरकार ने कानपुर, आगरा, वाराणसी, इलाहाबाद और लखनऊ (KAVAL Towns) में महापालिकायें, जो अन्य शहरो की कॉर्पोरेशन के समान हैं, स्थापित करने के उद्देश्य से एक कानून (*Uttar Pradesh Nagar Mahapalikas Act, 1958*) पास किया, जिसके अन्तर्गत इन बडे शहरो में महापालिकायें बनाई गई हैं। प्रत्येक शहर की महापालिका में ये समितियाँ है—(अ) महापालिका; (आ) महापालिका की कार्य-कारिणी समिति, (इ) विकास समिति; (ई) मुख्य नगर अधिकारी; (उ) यदि महापालिका बिजली, सार्वजनिक परिवहन या अन्य सार्वजनिक सेवायें संचालित करेगी तो उनके लिये अलग समितियाँ बनेंगी।

महापालिका का अध्यक्ष नगर-प्रमुख (*Mayor*) कहलाता है। इसके अतिरिक्त इसमे सरकार द्वारा नियत संख्या के अनुसार सभासद् तथा विशिष्ट सदस्य होते है, जिनकी संख्या सभासदो के लगभग १/६ के बराबर होगी। विशिष्ट सदस्यों का चुनाव सभासद् करते है और सभासद् शहर की विभिन्न वार्डों से चुने जाते है। सभासदो की कुल संख्या में अनुसूचित वर्गों के प्रतिनिधियो के लिये उतने स्थान आरक्षित है, जितने कि इन वर्गों की जनसंख्या के लिये शहर की कुल जनसंख्या के अनुपात मे होने चाहियें। नगर-प्रमुख के अतिरिक्त एक उपनगर-प्रमुख भी होता है। नगर-प्रमुख शहर का निवासी और ३० वर्ष से अधिक आयु का होता है। नगर-प्रमुख एक वर्ष के लिए चुना जाता है, किन्तु उपनगर-प्रमुख का कार्यकाल महापालिका के समान रहता है।

महापालिका की कार्यकारिणी समिति इन से मिलकर बनती है—(१) उपनगर-प्रमुख, जो इसका पदेन (*ex-officio*) चेयरमैन होता है और (२) सभासदों और विशिष्ट सदस्यो द्वारा चुने गये १२ सदस्य। इसके आधे सदस्य प्रतिवर्ष अपने पद से निवृत होते हैं। विकास समिति में उपनगर-प्रमुख, पदेन सभापति, सभासदों और विशिष्ट सदस्यों द्वारा निर्वाचित १० सदस्य और २ विनियुक्त (Co-opted) सदस्य होते है। महापालिका का कार्यक्षेत्र नगरपालिका से अधिक विस्तृत और अन्य बडे नगरो की निगमो के समान रखा गया है। महापालिका का कार्यकाल ५ वर्ष है, किन्तु सरकार इसे एक बार में एक वर्ष के लिये बढा सकती है। महापालिकाओं को निम्नलिखित कर लगाने के अधिकार मिले है—

(१) सम्पत्ति, (२) नावों व बिना मशीन से चलने वाली गाड़ियाँ, (३) सवारी या खींचने वाले पशुओं, (४) कारोबार और पेशों,

(५) चुंगी, (६) सवारियों और पशुओं पर टॉल, (७) कुत्तों, (८) शहर में स्थित अचल सम्पत्ति के हस्तान्तरण, (९) समाचार-पत्रों से अलग इश्तहार (advertisements), (१०) थियेटर, अन्य कर जैसे 'बेटरमेंट कर' (Betterment tax—a tax to be charged on the increase in the value of land in a scheme put into operation...or on the increase in the value of any land adjacent to and within one quarter of a mile of the boundaries of such a scheme)। शहर के सुधार के प्रयोजन से महापालिका का विभिन्न प्रकार की योजनायें कार्यान्वित कर सकती है, यथा (१) सामान्य विकास योजना (general improvement scheme), (२) बस्ती सुधार योजना (slum clearance and rebuilding scheme), (३) गृहनिर्माण योजना (housing scheme), (४) सड़क योजना, (५) भावी सड़क योजना, (६) गृह-स्थान योजना (housing accommodation scheme) और (७) नगर प्रसार योजना (city expansion scheme)।

पोर्ट ट्रस्ट—इनकी व्यवस्था जैसा कि नाम से प्रकट है बड़े बन्दरगाहों के आस-पास के क्षेत्रों का प्रबन्ध करने के हेतु की गई है। इसका संविधान भारत सरकार के बनाये कानूनों पर आधारित है। इनमे कुछ सदस्य सरकार द्वारा नामजद और शेष स्थानीय निगम व व्यापारिक चेम्बरों द्वारा निर्वाचित होते हैं। इनका सभापति कोई सरकारी आदमी होता है और इनके मुख्य कार्य ये हैं—बन्दरगाह से सम्बद्ध मामलों का प्रबन्ध, इसकी रक्षा, डॉक बनाना, गोदाम बनाना, सामान उतारने व चढ़ाने तथा यात्रियों के लिए सुविधाओं की व्यवस्था करना।

छावनी बोर्ड—इनकी स्थापना बड़े सैनिक स्थानों पर की जाती है। छावनी की सीमाओं में स्थित नागरिक क्षेत्रों के लिये ये वही कार्य करती हैं जो कि अन्य शहरों में म्युनिसिपैलिटियाँ करती हैं। इन दोनों के बीच मुख्य अन्तर उनकी बनावट का है। जबकि म्युनिसिपैलिटियों की स्थापना सम्बन्धित राज्य सरकारों के कानूनों द्वारा होती है छावनी बोर्ड केन्द्रीय कानूनों के अन्तर्गत बने हैं। गत वर्षों में इनका संगठन बहुत सीमा तक प्रजातन्त्रात्मक आधार पर कर दिया गया है और चुने हुये सदस्यों का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर होने लगा है, किन्तु अब भी उनके सदस्यों में कुछ सैनिक अधिकारी होते हैं।

इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट—कुछ अधिक बड़े शहरों में म्युनिसिपैलिटी के साथ-साथ सुधार ट्रस्ट भी स्थापित किये गये हैं। इनके कार्य म्युनिसिपैलिटियों के कार्यों से कुछ भिन्न होते हैं। वास्तव में, इनकी रचना का उद्देश्य ऐसे कार्य करना है जिन्हें साधारणतया म्युनिसिपैलिटियाँ वर्तमान कानूनों के अन्तर्गत नहीं करतीं अथवा नहीं कर सकतीं। इनके कार्यों में मुख्य ये हैं—(१) वर्तमान गलियों व सड़कों को चौड़ा

करना और नये बनाना, (२) मजदूरों व निर्धनों के लिये मकान बनाना, (३) शहर के घने बसे भागों मे चौड़ी गलियों व खुले मकानों की व्यवस्था करना। इन कृत्यों को करने के लिये इन्हें कुछ अधिक कानूनी शक्तियाँ प्राप्त होती है।

म्युनिसिपैलिटियाँ—इनके वर्तमान सगठन को उत्तर प्रदेश की म्युनिसिपैलिटियों के उदाहरण से भलीभाँति समझा जा सकेगा। यू० पी० में म्युनिसिपैलिटियों का कानून सन् १६१६ में बना था, किन्तु समय-समय पर उसमें आवश्यकतानुसार संशोधन होते रहे। राज्य मे ५ बड़े शहरों को छोड़कर इस समय १२० म्युनिसिपैलिटियाँ है। प्रत्येक नगर मे, जिनकी जनसख्या १० हजार से ऊपर है, अब म्युनिसिपैलिटी बन गई है। इनके सभी सदस्य चुने हुये होते हैं अर्थात् नामजदगी का अन्त हो गया है, किन्तु निर्वाचित सदस्य नगर के कुछ विशेष योग्यता अथवा अनुभव प्राप्त व्यक्तियों को सदस्य रूप मे विनियुक्त (co-opt) करते हैं। सदस्यों की कुल सख्या १५ और ६० के बीच मे है। सदस्यों का चुनाव वयस्क मताधिकार के आधार पर सयुक्त निर्वाचन प्रणाली द्वारा होता है, किन्तु अब भी अनुसूचित वर्गों के लिये उनकी आबादी के अनुपात मे आरक्षित स्थानों की व्यवस्था है। इनका कार्यकाल ४ वर्ष है। चुनाव के लिये प्रत्येक नगर कुछ वार्डों में बँटा होता है। म्युनिसिपल बोर्ड के निर्वाचित अधिकारियों में चेयरमैन और सीनियर व जूनियर वाइस चेयरमैन होते है जिनका निर्वाचन सदस्यों द्वारा प्रति वर्ष होता है।

वैतनिक अधिकारियों मे एक्जीक्यूटिव आफीसर (जिसे छोटी म्युनिसिपैलिटियों मे सेक्रेटरी कहते है); शिक्षा, पानी, रोशनी, चुगी आदि के अधीक्षक (superintendents), मैडीकल आफीसर, म्युनिसिपल इजीनियर आदि होते हैं, जिनके नीचे अनेक कर्मचारी कार्य करते है। म्युनिसिपैलिटियों की बैठक साधारणतया माह में एक बार होती है। ये प्रति वर्ष अपने सदस्यों में से विभिन्न विभागों से सम्बन्धित कार्यों के अधिक अच्छे सचालन के हेतु स्थायी समितियाँ (Standing Committees) को चुना करती हैं। म्युनिसिपैलिटियों के मुख्य कार्य ये है—(१) सर्व-साधारण के लिये सुविधाओं की व्यवस्था करना, पार्क बनवाना, पेड़ लगाना, आग बुझाने वाले एंजिन, निर्धनों के लिये मकान बनवाना, दुकानें या बाजार बनवाना, नगर नियोजन (Town Planning), (२) सार्वजनिक स्वास्थ्य की रक्षा, अस्पताल खोलना, सफाई, खाद्य पदार्थों में मिलावट रोकना, छूत व सक्रामक रोगों को रोकने और पीने के पानी की व्यवस्था करना। (३) शिक्षा, वाचनालय पुस्तकालय, रोशनी इत्यादि। म्युनिसिपैलिटियों की आय के मुख्य साधन ये है—गृह-कर, चुगी, सवारियों पर लाइसेन्स फीस, जल-कर (water rate), व्यापार व व्यवसाय पर कर, म्युनिसिपल भूमि, दुकानों व बाजार से होने वाली आय, पशुओं की बिक्री, पशुओं के रखने पर कर, इत्यादि तथा विभिन्न कार्यों के लिये राज्य सरकार से प्राप्त आर्थिक सहायता। १० हजार से कम आबादी वाले कस्बों में

नोटीफाइड एरिया कमेटियाँ है और उनके कार्य छोटे रूप मे म्युनिसिपैलिटियों जैसे ही हैं।

पंचायतें—अब इन्हो के द्वारा सामूहिक विकास और सामाजिक परिवर्तन होने है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने एक वक्तव्य में कहा था "भारत की स्वतन्त्रता का आरम्भ नीचे से होना चाहिये। प्रत्येक गाँव एक गणतन्त्र अथवा पूर्ण शक्ति प्राप्त पचायत होना चाहिये ··· पचायतो की शक्ति जितनी अधिक होगी उतना ही जनता के लिये अधिक अच्छा होगा।"[5] अतएव सविधान मे इस निदेशक सिद्धात को स्थान दिया गया कि राज्य सरकारें पचायतें सगठित करने के लिये पग उठायेंगी और उन्हे उतनी शक्तियाँ व अधिकार प्रदान करेंगी जितने कि उनको स्वशासन की इकाइयों के रूप में आवश्यक हों। आगे चलकर नियोजन आयोग ने भी यह सिफारिश की कि पचायतो को गाँवो के स्तर पर नियोजन, विकास, कल्याण, भूमि सुधार और प्रबन्ध का अभिकरण (agency) होना चाहिये। अब हम पचायतों द्वारा केवल यह नही चाहते कि ग्रामीण क्षेत्रों का प्रत्येक व्यक्ति देश के शासन में भाग ले परन् हम तो उसे ऐसा अवसर प्रदान करना चाहते है कि वह उनके द्वारा अपने को अभिव्यक्त कर सके और ये उसके विकास मे इस प्रकार सहायक हों कि प्रत्येक व्यक्ति भारत का एक पूर्ण नागरिक बन सके। अतएव प्राय. सभी राज्यों मे पचायतो के सगठन हेतु कानून बन चुके है। पचायतो के विस्तार-पूर्ण संगठन व कार्यों आदि का विवेचन सैक्शन ६ में देखिये।

३. स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं पर राज्य का नियन्त्रण

यह तो स्पष्ट ही है कि स्थानीय सस्थाओ पर राज्य सरकार का कम या अधिक नियन्त्रण तो होना ही चाहिये, परन्तु विभिन्न राज्यो (तथा देशों) मे इस नियन्त्रण के विस्तार में अन्तर है। साधारणतया इस नियन्त्रण को तीन प्रकार से लागू किया जाता है—(१) कानूनो द्वारा, (२) अदालतो द्वारा और (३) राज्य सरकार के विभागों द्वारा। स्थानीय संस्थाओं के निर्माण, उनकी रचना का स्वरूप जैसे कहाँ किस प्रकार सस्थाये बनेंगी, उनका निर्वाचन कैसे होगा, अवधि क्या होगी; और किस सीमा तक अपने कृत्य अथवा अधिकारो का प्रयोग कर सकेंगी आदि

---

5 "Village Swaraj is that it is complete republic, independent of its neighbours for its vital wants, and yet dependent for many others in which dependence is necessary. Thus the first concern of every village will be to grow its own food crop and cotton for its clothes. It should have a reserve for its cattle, recreation and playground for adults and children.. It will have its water works ensuring clean supply. Education will be conducted on a co-operative basis. There will be no castes, much as we have to-day with their graded untouchability...The government of the village will be conducted by the panchayats of five persons, annually elected by the adult villagers, male and female, possessing minimum prescribed qualifications."

(Mahatma Gandhi.)

होते है। इनके अधिकार अति विस्तृत है और ये अपने कार्यों के लिये सम्बन्धित परिषदों के प्रति उत्तरदायी नहीं होते, वरन् ये तो उनके स्वामी होते है। प्रीफेक्ट ही स्थानीय अधिकारियों, शिक्षकों, इन्सपैक्टरों आदि की नियुक्ति करते है, ये ही परिषदों के सामने विचारणीय विषयों को रखवाते है और उनके निर्णयों को ये स्वयं अथवा केन्द्रीय सरकार अस्वीकार कर सकती है। कम्यूनो के निर्वाचित मेयरों को ये पदों से अलग कर सकते हैं और उनके बजटों पर स्वीकृति प्रदान करते हैं। भारत में सरकारी अधिकारियों का उस समय तक इन संस्थाओं पर नियन्त्रण अत्यधिक था और उनके अधिकार विस्तृत थे अत. ये संस्थायें ब्रिटिश स्वशासन की संस्थाओं से बहुत भिन्न थी, इसी कारण ये फ्रांस की संस्थाओं से अधिक मिलती-जुलती थीं। वास्तव में इन संस्थाओं का विकास ही सरकारी अधिकारियों की संरक्षकता (official tutelage) में हुआ।

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व ऐसी स्थिति का कारण बहुत कुछ अविश्वास की भावना थी, किन्तु अब उस भावना अथवा वैसे नियन्त्रण के लिये समय नहीं रहा है। कुछ सीमा तक सर्वसाधारण के हितों की दृष्टि से राज्य सरकारों का इन संस्थाओं पर नियन्त्रण रहना आवश्यक है, किन्तु उसका उद्देश्य इनका समुचित विकास होना चाहिये न कि इनकी स्वतन्त्रता में बाधा डालना। अत: इनकी कार्य-प्रणाली पर प्रतिबंध कम हो रहे है और राज्य सरकारें अपनी विशेष शक्तियों का प्रयोग कम करने लगी है, परन्तु अभी तक ऐसा प्रतीत होता है कि राज्य सरकारों के नियन्त्रण का रूप नकारात्मक अधिक है और यह अति औपचारिक भी है, जबकि यह रचनात्मक होना चाहिये। राज्य सरकारों के अधिकारी कानूनों के नियमों के पालन पर अत्यधिक बल देते है, किन्तु नियमों के पालन के पीछे जो अनुचित बाते चलती है उनको रोकने के उचित प्रयत्न नहीं कर पाते और न ही वे इन संस्थाओं का परामर्श और सहायता द्वारा मार्ग प्रदर्शन कर पाते है। वास्तव में इस विषय की अच्छी छानबीन होनी चाहिये और नियन्त्रण के लिये विशेष रूप से योग्यता व प्रशिक्षण प्राप्त अधिकारियों का प्रयोग होना चाहिये। इस दिशा में राज्य सरकारों ने कुछ प्रयत्न किये है और आशा है कि इस ओर विशेष ध्यान दिया जायेगा।

४. लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण

लोकतांत्रिक (अथवा प्रजातांत्रिक) विकेन्द्रीकरण (*Democratic Decentralization*)—*भारत में योजना के अन्तर्गत परियोजनाओं* (*Plan Projects*) सम्बन्धी कमेटी की नवम्बर १९५७ में प्रकाशित रिपोर्ट (सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवा के अध्ययन करने वाले मेहता अध्ययन समूह) से अधिक प्रसार में आया। राज्यस्तर से नीचे शक्तियों के विकेन्द्रीकरण पर विचार करते हुए समिति ने यह अनुभव किया कि प्रजातन्त्रात्मक सरकार के लिए इस विशाल क्षेत्र पर शासन करते समय स्थानीय आवश्यकताओं और परिस्थितियों के प्रति न्याय करना कठिन है।

अत: उसने सुझाव दिया कि शक्तियो का न्यागमन (devolution) हो और शासनतत्र को इस प्रकार विकेन्द्रित किया जाय कि उसे स्थानीय लोकप्रिय प्रतिनिधि नियत्रित व निदेशित कर सके।[6] लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण वह व्यवस्था है जिसमे कि सरकार शासन के निम्न स्तरो, छोटे प्राधिकरणो और स्थानीय शासन के अभिकरणों को कार्य मे पहल करने, स्वयं निर्णय करने तथा उत्तरदायित्व की भावना से कार्य के वृद्धिपूर्ण अवसर देती है। जबकि राजनीतिक विकेन्द्रीकरण मुख्यतः शक्ति-विभाजन के रूप से सम्बन्धित है, लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण का सम्बन्ध अधिकांश रूप मे सरकार के निम्न-स्तरीय संगठनो की आन्तरिक स्वायत्तता से है।

मेहता अध्ययन समूह ने यह सिफारिश की कि विकास कार्यों के लिए 'लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण' हो, जिसमे कि कृषि, पशु-पालन, स्वच्छता, स्वास्थ्य तथा डाक्टरी सहायता, लघु सिचाई, ग्रामीण उद्योग, प्राथमिक शिक्षा, स्थानीय यातायात, स्थानीय सुविधाये तथा इसी प्रकार के अन्य विषय आते है। वास्तव मे स्थानीय स्वशासन के प्राय. सभी विषय इसके अन्तर्गत आ जाते है।

लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण को हम, साधारणभाषा में, स्थानीय मामलों का स्वतन्त्र एव लोकप्रिय प्रबन्ध कह सकते हैं। इसके आवश्यक तत्व ये है —(अ) विभिन्न स्तरों पर ऐसे प्राधिकरणो का अस्तित्व जो आपस मे एक दूसरे से सम्बन्धित हो और अन्त में जनता सर्वोपरि सत्ता के निकट हो; (ब) इन विभिन्न प्राधिकरणों में कार्यो का विभाजन; (स) इनकी प्रजातात्रिक रचना; (द) इनकी प्रजातात्रिक कार्य प्रणाली; और (य) इन विभिन्न प्राधिकरणों को अपने-अपने क्षेत्र में स्वायत्तता का प्राप्त होना और उसका उच्च स्तरीय प्रजातात्रिक प्राधिकारियो द्वारा परवीक्षण से सीमित होना।

अध्ययन समूह के सुझावो के आधार पर विकेन्द्रीकरण की योजना में पहले से चले आ रहे जिला बोर्डो को समाप्त कर उनके स्थान पर जिलास्तर पर नये प्राधिकरण का जन्म होना चाहिए। नये जिला स्तरीय प्रधिकरण के अन्तंगत अग्रलिखित सस्थाओं का सगठन होना चाहिए-(अ) विकास-खण्ड (development-block) के स्तर पर पचायत समिति का गठन हो जो मुख्य रूप में विकास-क्षेत्र से सम्बद्ध हो। (ब) प्रत्येक खण्ड के अन्तंगत आने वाले ग्रामों में ग्राम-पचायतें हो, और कही-कही कुछ गावो को एक ही ग्राम-पंचायत से सम्बद्ध होना चाहिए।

6 "So long as we do not discover or create a representative and democratic institution which will supply the local interest, supervision and care necessary to ensure the expenditure of money upon local objects, conforms with the needs and wishes of the locality, invest it with adequate power and assign to it appropriate finances, we will never be able to evoke local interest and excite local initiative in the field of development."
Committee Report, vol I, p. 5.

परिणाम स्वरूप अब ग्रामीण क्षेत्रों के लिए स्थानीय शासन की तीन स्तरों वाली योजना अपनाई गई है। इसका प्रयोजन नीचे के स्तरों पर कार्यों में जानता अधिक भाग दिलाना है। यह प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण से भिन्न है, क्योंकि इसमें सत्ता का न्यागमन अन्तंग्रस्त है। इसमें जनता का यह अधिकार भी निहित है कि वह जन-कल्याण के लिए अपनी परियोजनाओं मे पहल कर सके और साथ में यह भी कि वह उन्हें स्वायत्तपूर्ण ढग मे कार्यान्वित तथा परिचालित कर सके। संक्षेप मे, 'लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की धारणा के तत्व निम्नलिखित हैं :

(१) इसका उद्देश्य यह है कि अपने शासन से जनता का अधिक व्यापक और निकट सम्बन्ध हो।

(२) नीचे के स्तरों की शासनिक इकाइयों को ऊपर के स्तरों से सत्ता का न्यागमन।

(३) नीचे के स्तरों पर जनता को स्वायत्तता के अधिकार जिनको अन्तर्गत नीति के निर्धारण तथा कार्यक्रम बनाने, उन्हें कार्यान्वित करने आदि बातें आती है। इस प्रकार की विकेन्द्रित सत्ता का प्रबन्ध स्वयं जनता प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप में करे।[7]

लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण, स्थानीय शासन और सामुदायिक विकास के बीच सम्बन्ध—लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण तो वास्तव में स्थानीय स्वशासन की नई योजना का ही दूसरा नाम है। लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की योजना को जिला परिषदों, खण्ड-स्तर की समितियों या पंचायतो के द्वारा ही कार्यरूप दिया जाना है। अतः यह कहना सत्य होगा कि जहां एक ओर लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण एक राजनीतिक आदर्श है, स्थानीय स्वशासन इसका सस्थागत रूप है। एक प्रकार से यह स्थानीय स्वशासन की सस्थाओं को अधिक प्रजातन्त्रात्मक बनाने के पक्ष का समर्थन है। ऐसा ही घनिष्ठ सम्बन्ध सामुदायिक विकास और स्थानीय स्वशासन के बीच है। वास्तव में मेहता अध्ययन समूह ने सामुदायिक विवाह की योजना को अधिक सफल बनाने के लिए ही लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की योजना का सुझाव दिया। लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की नीति के अन्तर्गत सामुदायिक विकास और स्थानीय स्वशासन की सस्थाओं का प्रजातन्त्र के विकास से सम्बन्ध है। सामुदायिक विकास स्वयं एक प्रजातान्त्रिक प्रतिक्रिया है। हमारी लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की नीति स्थानीय सस्थाओं के निर्माण से कहीं अधिक है। इसका उद्देश्य प्रजातन्त्र का आधार अथवा निम्नतम स्तर से ही निर्माण करना है और इसकी प्राप्ति जनता

---

7 Narain, I. Art., *Democratic Decentralization : The India, the Image and the Reality; I. J. P. A. Vol. IX, No. I, P. 15.*

को प्रजातन्त्रात्मक सस्थाये देकर करनी है, जिनके द्वारा जनता संगठित और अर्थमय ढग से प्रजातन्त्र को व्यवहार मे ला सके। [8]

५. लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की संस्थायें

राजस्थान मे इस दिशा में सबसे पहला कदम राजस्थान मे उठाया गया, जहाँ मेहता समिति की सिफारिशो के आधार पर ग्रामीण शासन को तीन स्तरो पर २ अक्तूबर १६५६ से पुनर्गठित किया गया। सबसे नीचे के स्तर पर पंचायतें हैं। प्रत्येक पचायत मे सरपच के अतिरिक्त ५ से १५ तक निर्वाचित पंच है और सभी का चुनाव मतदाताओ द्वारा होता है। पंचायत के कार्य कुछ अनिवार्य और कुछ विवेकीय है, जो इस प्रकार है—अनिवार्य कार्य—पीने के जल की व्यवस्था, सफाई चिकित्सा, प्रारम्भिक स्कूलो की स्थापना, कृषि और उद्योग में सहायता देना और सिचाई की छोटी योजनाओं का निर्णय आदि। विवेकीय कृत्य—पशुपालन, ग्रामों मे स्वयं सेवको का सगठन, कुटीर उद्योग को प्रोत्साहन देना, परिवार नियोजन, अल्प बचत आदि। राज्य सरकार ने पचायतों को भूमिकर वसूल करने का कार्य भी सौपने की घोषणा की है। पचायतों को अपनी योजनाये बनाने का अधिकार रहेगा, जिन्हे जिले और राज्य की योजनाओ में सम्मिलित किया जायेगा। पंचायतों को अपने क्षेत्र मे कृत्य करने की स्वायत्तता मिली है।

प्रत्येक विकास खण्ड (Development Block) में पचायतो के ऊपर एक पचायत समिति है। उसमे उस खण्ड की सभी पचायतो (और तहसील पंचायतो) के सरपचो को सम्मिलित किया गया है। उसमे कुछ विनियुक्त (Co-opted) सदस्य भी है, यथा १–२ स्त्रियाँ, १–१ प्रतिनिधि अनुसूचित वर्गों व जनजातियों का, एक कृषि विशेषज्ञ, १ प्रतिनिधि सहकारी समितियो के प्रवन्धको का और अन्य दो व्यक्ति जिन्हे ग्रामीण विकास तथा सार्वजनिक जीवन का विशेष अनुभव हो। उस क्षेत्र से विधान सभा का सदस्य भी पचायत समिति का सहकारी सदस्य (Associate member) होता है, किन्तु उसे मतदान का अधिकार नहीं। प्रत्येक समिति अपना एक प्रधान और एक उप-प्रधान चुनती है। उसके सदस्यो का कार्यकाल ३ वर्ष है। उसके कृत्यों का क्षेत्र काफी विस्तृत है, जिनमे ये सम्मिलित है—सामुदायिक विकास, कृषि, पशुपालन, जन-स्वास्थ्य और सफाई, शिक्षा, सहकारिता, कुटीर उद्योग, आकडे एकत्रित करना, न्यास, वन, ग्रामीण मकान-निर्माण, प्रचार इत्यादि। वे अपने क्षेत्र मे स्वायत्तता प्राप्त है।

प्रत्येक जिले में एक जिला परिषद् है, जिसके मुख्य कृत्य ये हैं–(१) पंचायत समितियों के बजट की परीक्षा करना; (२) पचायतो और पंचायत समितियों के कार्यों व योजनाओ मे समन्वय कायम करना; (३) अपने क्षेत्र में स्थित पचायतो व

8 Mukerji, B., Art., *'Administrative Problems of Democratic Decentralization, I. J. P. A., Vol. VII, No. 3 p. 307.*

ा सरकार को परामर्श देना। अपना बजट और पंचायत समितियो के बारे में राज्को स्वायत्तता प्राप्त है। प्रत्येक परिषद् का मुख्य अपनी सेवाओं के क्षेत्र में परिषद् ं है, जिसे राज्य सरकार नियुक्त करती है। जिला कार्यकारी अधिकारी सेक्रेटरी होता सभी पचायत समितियो के प्रधान; (२) जिले में परिषद् में ये सदस्य होते है—(१) ३) उस जिले से चुने गये लोक सभा के सदस्य; रहने वाले राज्य सभा के सदस्य; (ा के लिये चुने गये सदस्य; और (५) विनियुक्त (४) जिले से राज्य की विधान सभयत समितियो के आधीन काम करने के लिये सदस्य। जिला परिषदो व पचा गई है। इस सेवा में ये अधिकारी आते है— चौथी श्रेणी की सेवा की रचना की(२) ग्रामीण सेविकायें, (३) प्राइमरी स्कूल (१) ग्रामीण-स्तर का कार्यकर्त्ता, मैन, (६) पशु चिकित्सालयो के कम्पाउन्डर, शिक्षक, (४) फील्डमैन, (५) स्टॉक (८) टीका लगाने वाले, (९) ड्राइवर और (७) भेड़ो और ऊन के निरीक्षक, (१०) प्रोजैक्ट ऑपरेटर इत्यादि।

६. लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण—उत्तर प्रदेश में जिला परिषदें

जिला-परिषद् की स्थापना १ जुलाई १९६३ से की गई। जिला परिषद् में निम्नमितियो के प्रमुख;

रचना—प्रत्येक जिले मे एवलिखित सदस्य होते है :

(१) जिले की क्षेत्रीय सा अपने सदस्यो मे से विहित ढग से चुने

(२) प्रत्येक समिति द्वारत्येक समिति के लिये सख्या निर्धारित की गये उतने सदस्य जितनी कि प्र जाय;

(३) जिले की सभी म्युनिसिपैलिटियों के प्रधान, जिला सहकारी मजद मैनेजर और जिस जिले मे कोई बैंक का राज्य सरकार द्वारा नअपरेटिव बैंक के सचालक मण्डल द्वारा भी बैंक न हो वहां उ० प्र० कोतिनिधि; चुना हुआ किसी भी बैंक का प्रेशन का प्रतिनिधि, जिसे उसका सचालक

(४) जिला सहकारी फेड मण्डल चुनेगा।

(५) जिले के सहकारी समिति या समितियों का एक प्रतिनिधि, जिसे विहित ढग से चुना जायेगा यूनियनो का एक प्रतिनिधि;

(६) गन्ना यूनियन अथवा, साहित्यिक या व्यावसायिक कार्यों में

(७) सामाजिक, सांस्कृतिक द्वारा छाटे गये अधिक से अधिक तीन लगे व्यक्तियों मे से राज्य सरकार व्यक्ति,

(८) लोकसभा तथा विधान सभा के ऐसे सभी सदस्य जिनके निर्वाचन-क्षेत्रो मे जिले का कोई भी भाग सम्मिलित हो; और

(९) राज्य सभा या विधान सभा के ऐसे सभी सदस्य जिनका निवास-स्थान जिले मे स्थित हो।

सदस्यता के सम्बन्ध मे अन्य आवश्यक शर्तें इस प्रकार है—(अ) विभिन्न क्षेत्रीय समितियो से आने वाले सदस्यों की सख्या का निर्धारण उनकी जनसंख्या के आधार पर किया जायेगा, (आ) क्षेत्रीय समितियो से आने वाले कुल सदस्यो की सख्या २० से कम न होगी। (इ) कोई ऐसा व्यक्ति जिसका नाम जिले से विधान-सभा के लिए बनी निर्वाचक-सूची में न हो अथवा जिसे किसी कारण से अयोग्य ठहराया गया हो, परिषद् का निर्वाचित अथवा विनियुक्त सदस्य नही वन सकेगा। (ई) किसी क्षेत्रीय समिति के प्रमुख और म्युनिसिपल वोर्ड के प्रधान का स्थान खाली रहने के दौरान उनके स्थान पर कार्य करने वाले व्यक्ति परिषद् की बैठको में भाग ले सकेंगे और उन्हें मतदान का भी अधिकार प्राप्त होगा। (उ) जिस जिले में ७ से अधिक खण्ड न हों उसकी परिषद् में कम से कम ३ और अधिक खण्डो वाले जिले की परिषद् में ५ महिला सदस्यायें होंगी। यदि इतनी सख्या में उपरोक्त प्रकार से महिला सदस्याये न आयें तो जितनी कमी रहेगी उसको जिला-परिषद् विनियुक्ति द्वारा पूरी करेगी। (ऊ) यही वात अनुसूचित जातियो के सदस्यो के वारे में लागू होगी।

सदस्यों की अयोग्यता आदि—कानून के अन्तर्गत जिस किसी प्राधिकारी को निर्वाचन सम्बन्धी विवादो का निर्णय करने का अधिकार हो, वही प्राधिकारी किसी उम्मीदवार को भ्रष्ट व्यवहार के लिये दोषी पाने पर अयोग्य घोषित कर सकता है। अयोग्यता की अवधि ५ वर्ष तक हो सकती है। भ्रष्ट व्यवहार में ये बातें सम्मिलित है—(अ) किसी मतदाता को धोखे, मिथ्या व्यवदेशन (false representation), वल प्रयोग अथवा चोट पहुंचाने की धमकी देकर किसी मतदाता के पक्ष मे मत डालने से रोकना और दूसरे के पक्ष में मत डालकर; (आ) किसी मतदाता को धन देकर अथवा लाभ व नौकरी का लालच दिलाकर अपने किसी उम्मीदवार के पक्ष में मत डलवाना; (इ) यदि कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के नाम से मत डाले अथवा डलवाये; (ई) जाति, विरादरी, धर्म या सम्प्रदाय के नाम पर चुनाव मे मत प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना; और (उ) कोई ऐसा कार्य करना जिसे राज्य सरकार भ्रष्ट व्यवहार घोषित करे।

जिला-परिषद् व सदस्यों की अवधि—इनकी अवधि ५ वर्ष है; परन्तु राज्य सरकार उसे १ वर्ष के लिए वढा सकती है। यदि किसी सदस्य का स्थान अवधि समाप्त होने से पूर्व खाली हो जाय तो उस स्थान को भरने वाले सदस्य की अवधि उस तारीख से प्रारम्भ होगी जिस दिन से वह उस स्थान को भरे। जो व्यक्ति जिला-परिषद् का सदस्य किसी समिति या म्युनिसिपल वोर्ड के प्रधान या समिति के सदस्य की हैसियत से वने, उसकी सदस्यता तभी समाप्त हो जायगी जवकि वह म्युनिसिपल वोर्ड या समिति का प्रधान अथवा सदस्य न रहे।

अध्यक्ष और उपाध्यक्ष—प्रत्येक जिला-परिषद् का एक अध्यक्ष और एक उपाध्यक्ष रहेगा; वे दोनो विहित नियमों के अनुसार सदस्यो द्वारा गुप्त मतदान से

चुने जायेंगे। यदि कोई ऐसा व्यक्ति अध्यक्ष चुन लिया जाये जो परिषद् का सदस्य न हो तो वह उसका पदेन सदस्य बन जायेगा। उपाध्यक्ष परिषद् के सदस्यों में से ही चुना जायेगा और परिषद् का सदस्य न रहने पर वह उपाध्यक्ष भी न रह सकेगा। पार्लियामेंट या राज्य विधान मण्डल का कोई सदस्य और म्युनिसिपल बोर्ड का कोई प्रधान अध्यक्ष या उपाध्यक्ष नहीं चुना जा सकता। अध्यक्ष अपने पद से अलग हो जायेगा यदि वह किसी भी कारण से अध्यक्ष चुने जाने के लिए अयोग्य ठहरा दिया जाये। अध्यक्ष की अवधि उसके चुनाव से आरम्भ होगी और उसकी अवधि का अन्त परिषद् की अवधि के अन्त के साथ ही होगा, परन्तु वह अपने उत्तराधिकारी के चुनाव तक अपने पद पर आसीन रहेगा। उपाध्यक्ष की अवधि १ वर्ष होगी, जो किसी भी रूप में जिला परिषद् की अवधि से आगे न बढ़ेगी। यदि जिला परिषद् की अवधि के अन्त समय अध्यक्ष का पद खाली हो तो उपाध्यक्ष नये अध्यक्ष के चुनाव तक अध्यक्ष पद पर कार्य करेगा। यदि जिला परिषद् की अवधि के अन्त समय अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का पद खाली हो या जिला परिषद् की अवधि का अन्त हो जाने पर अध्यक्ष का पद खाली हो जाये और नया अध्यक्ष न चुना गया हो तो राज्य सरकार नये अध्यक्ष के चुनाव तक अध्यक्ष के कर्त्तव्यों का पालन कराने के लिए जैसा उचित समझे आदेश दे सकेगी।

अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का पद से अलग होना—अध्यक्ष, उपाध्यक्ष (और कोई भी अध्यक्ष) लिखित सूचना द्वारा अपने-अपने पद से त्याग-पत्र दे सकता है। अध्यक्ष अपना त्याग-पत्र राज्य सरकार को सम्बोधित करेगा और अन्य सदस्य या उपाध्यक्ष अपने त्याग-पत्र अध्यक्ष को सम्बोधित कर जिला परिषद् के मुख्य अधिकारी को देंगे। अध्यक्ष का त्याग-पत्र उस दिन से प्रभावी होगा जिस दिन कि उसकी राज्य सरकार द्वारा स्वीकृति की सूचना परिषद् के कार्यालय में आये। उपाध्यक्ष व सदस्यों का त्याग-पत्र उसी दिन से प्रभावी हो जायेगा जिस दिन कि अध्यक्ष उसे स्वीकार करेगा। अध्यक्ष के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पेश किया जा सकता है। ऐसे प्रस्ताव को पेश करने की सूचना पर परिषद् के कम से कम आधे सदस्यों के हस्ताक्षर होने आवश्यक है। उस सूचना के साथ अविश्वास प्रस्ताव की एक नकल कोई एक सदस्य स्वयं जिलाधीश को जाकर देगा। उसके बाद जिलाधीश ३० दिन के भीतर परिषद् की बैठक बुलायेगा। उस बैठक पर जिला जज या उसके द्वारा निर्देशित सिविल जज सभापतित्व करेगा। इस उद्देश्य से बुलाई गई बैठक स्थगित नहीं की जा सकती और उस प्रस्ताव पर वाद-विवाद को भी स्थगित नहीं किया जा सकता। वाद-विवाद २ घण्टे तक हो सकता है; सभापति प्रस्ताव के पक्ष या विपक्ष में कुछ नहीं बोलेगा। यदि यह प्रस्ताव परिषद् के कुल सदस्यों की संख्या के आधे सदस्यों के समर्थन से पास हो जाय तो अध्यक्ष का पद खाली हो जायेगा। यदि वह प्रस्ताव पास न हो या गणपूर्ति के अभाव में बैठक न हो सके तो १ वर्ष बीतने तक अविश्वास के प्रस्ताव की फिर से सूचना नहीं ली जायगी।

यदि राज्य सरकार की राय में अध्यक्ष या उपाध्यक्ष अपने कर्त्तव्यों का जानकर पालन न करे या उनका पालन करने से मना करे या अपने पद में निहित शक्तियों का दुरुपयोग करे या उसे अपने कर्त्तव्यों का पालन करने में कदाचार का दोषी पाया जाय तो सरकार उसे स्पष्टीकरण के लिये उचित अवसर देकर उसके पद से हटा सकती है। राज्य सरकार का ऐसा आदेश अन्तिम होगा और उसके विरुद्ध न्यायालय में कोई कार्यवाही न की जा सकेगी। यदि किसी अध्यक्ष या उपाध्यक्ष के विरुद्ध इस प्रकार की कार्यवाही आरम्भ की जाय तो राज्य सरकार अध्यक्ष या उपाध्यक्ष को पद से निलम्बित कर सकती है। अध्यक्ष या उपाध्यक्ष अपने पद से हटाये जाने पर तीन वर्ष तक फिर से उन पदों पर निर्वाचित न किये जायेंगे।

जिला परिषद् की शक्तियाँ और उसके कार्य—प्रत्येक जिला परिषद् की सामान्य शक्तियों और उसके कार्यों की संक्षिप्त सूची इस प्रकार है—(१) राज्य सरकार द्वारा प्रबन्धित मेलों व त्यौहारों के अतिरिक्त अन्य मेलों और त्यौहारों का इस प्रकार वर्गीकरण करना कि वे पंचायतों, क्षेत्रीय समितियों और परिषद् के मेले या त्यौहार कहलायें और वे ही उनका प्रबन्ध करें। (२) सड़कों का आगे लिखे समूहों में वर्गीकरण करना—गाव की सड़कें, गावों के बीच की सड़कें, जिले की सड़कें, जिससे की उनका प्रबन्ध गाव पचायतें, क्षेत्रीय समितियाँ तथा परिषद् करें। (३) गांव पंचायतों और क्षेत्रीय समितियों के कार्यों की देख-रेख करना। (४) एक ओर राज्य सरकार और दूसरी ओर गाव पंचायतों व क्षेत्रीय समितियों के बीच सचार के माध्यम के रूप में कार्य करना। (५) अनुसूचि २ में वर्णित शक्तियों व कार्यों का पालन करना। उस अनुसूची में सम्मिलित कार्यों का अति संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार है :

> (अ) पशु-पालन, (आ) ग्रामीण और कुटीर उद्योग, (इ) चिकित्सा व सार्वजनिक स्वास्थ्य, (ई) शिक्षा व सांस्कृतिक कार्य, (उ) सार्वजनिक निर्माण कार्य, (ऊ) सहायता कार्य, (ए) नियोजन आंकड़े, और (ऐ) प्रशासन। यहा पर यह बताना भी आवश्यक और उचित है कि देखने में क्षेत्रीय समितियों व जिला परिषद् के कार्यों में बड़ी समानता है, किन्तु जिला परिषद् उन्ही कार्यों को सम्पूर्ण जिले के लिए और कुछ बड़े पैमाने पर सगठित व सचालित करती है। जिला परिषद् का कार्य मुख्यतः उन कार्यों के बारे में बड़ी योजनायें बनाना व कार्यान्वित कराना और विभिन्न क्षेत्रीय समितियों के कार्यों व जिला परिषद् के कार्यों में समन्वय स्थापित करना है।

अन्य कार्य—जिला परिषद् कुछ प्रकार के कार्यों को क्षेत्रीय समितियों को सौंप सकती है (और क्षेत्रीय समितियां जिला परिषद् को) तथा जब चाहे उन कार्यों को फिर से अपने हाथ में ले सकती है। जिला परिषद् को गाव सभाओं व टाउन एरिया कमेटियों के सम्बन्ध में कुछ भी कार्य करने की शक्ति प्राप्त नहीं है। जिला

परिषद् को गाव सभाओ द्वारा निर्मित उप-कानूनो (bye-laws) और उनके कर सम्बन्धी प्रस्तावो पर स्वीकृति देने की शक्ति मिली है । जिला परिषद् और क्षेत्रीय समिति भी) अन्य प्राधिकारियो से सहयोग कर सकती है और ऐसी सस्थाओ को सहायता दे सकती है, जो उसके प्रबन्ध मे न हो । जिला परिषद् को गाव सभाओ और क्षेत्रीय समितियो के कार्यों की देख-रेख करनी है । क्षेत्रीय समितियो के प्रमुखो को जिला-परिषद् के इसपेक्टरो को उनके कार्यो की पूर्ति मे सभी प्रकार की सुविधायें देनी है । जिला-परिषद् के इसपेक्टरो को क्षेत्रीय समितियो द्वारा सचालित कार्यों के विषय मे सुझाव देने, उनके रेकार्ड देखने, खण्ड विकास अधिकारी से रिटर्न व योजना सम्बन्धी अनुमान, विवरण, आकड़े एवं हिसाब आदि मांगने और क्षेत्रीय समिति के विचार हेतु उसके कार्यों के विषय मे अपने विचार तथा टिप्पणियां देने का अधिकार है ।

अधिकारी व कर्मचारी—समय-समय पर राज्य सरकार द्वारा दिये गये निदेशो के अधीन जिला-परिषद् मे अग्रलिखित पदाधिकारी रहेंगे—(१) मुख्य अधिकारी, (२) वित्त अधिकारी, (३) स्वास्थ्य अधिकारी, (४) कार्य अधिकारी, (५) अभियन्ता (Engineer), (६) कर अधिकारी, (७) पचायत राज अधिकारी, (८) सिचाई अधिकारी, (९) पशु-धन अधिकारी, (१०) शिक्षा अधिकारी, (११) कृषि अधिकारी, और (१२) सहकारिता अधिकारी । इन अधिकारियो की योग्यताओ और सेवा की शर्तों के विषय मे राज्य सरकार द्वारा विहित नियमों का पालन करना आवश्यक है । राज्य सरकार परिषद् की प्रार्थना पर अपने किन्ही भी सेवको की सेवा को परिषद् के अधीन रख सकती है । जब किसी सरकारी विभाग का कार्य जिला परिषद् को हस्तातरित किया जायगा तो जिला-परिषद् सरकार के सभी अधिकारियो व कर्मचारियो को काम देगी । वित्त अधिकारी की नियुक्ति राज्य सरकार द्वारा की जायगी । कार्य अधिकारी, अभियन्ता, कर अधिकारी और २०० रु० या अधिक मासिक वेतन से आरम्भ होने वाले सभी पदो पर परिषद् राज्य के लोक-सेवा आयोग से मत्रणा करने के बाद ही नियुक्ति करेगी ।

मुख्य अधिकारी की शक्तियाँ और उसके कार्य—वह जिला-परिषद् का मुख्य कार्यकारी अधिकारी (Chief Executive Officer) है और अपने कार्यों के पालन मे परिषद् के प्रति उत्तरदायी होता है । उसकी शक्तिया व कार्य इस प्रकार है—(१) जिला-परिषद् के नाम से कोई भी धन व आय प्राप्त करना और उसे जिला निधि मे जमा करना । (२) कानून द्वारा प्रदान की गई अन्य शक्तियों का प्रयोग करना तथा कार्यों का पालन करना । (३) परिषद् की शक्तियो के उचित पालन हेतु आवश्यक कार्य करना । (४) अध्यक्ष के नियत्रण अधीन लाइसेन्स देना, उसे वापस ले लेना अथवा निलम्बित करना । (५) कोई भी ऐसी शक्ति का प्रयोग जो उसे जिला-परिषद् द्वारा सौपी जाय । मुख्य अधिकारी कार्य अधिकारी को अपने मार्ग-दर्शन अधीन अपनी शक्तियो के प्रयोग का अधिकार दे सकता है ।

अध्यक्ष व उपाध्यक्ष के कर्त्तव्य—अध्यक्ष के साधारणतया ये कर्त्तव्य है—(१) जिला-परिषद् की बैठकें बुलाना और उनका सभापतित्व करना। (२) जिला-परिषद् की बैठको में कार्य संचालन पर नियन्त्रण रखना। (३) परिषद् के वित्तीय प्रशासन को ध्यानपूर्वक देखना और कार्यकारी प्रशासन का अधीक्षण करना तथा उनकी कमियों को परिषद् के सामने रखना। (४) अन्य ऐसे सभी कार्य करना जो उसे सौंपे जायें। अध्यक्ष सामान्य अथवा विशेष आदेश द्वारा अपने कार्यों को उपाध्यक्ष या मुख्य अधिकारी को सौंप सकता है, जिन्हे वे अध्यक्ष के मार्ग-दर्शन के अधीन पूरा करेंगे। उपाध्यक्ष, अध्यक्ष की अनुपस्थिति में परिषद् की बैठकों का सभापति रहेगा। अध्यक्ष का स्थान खाली होने अथवा किसी अन्य कारण से उसकी अनुपस्थिति मे अध्यक्ष की अन्य शक्तियों का प्रयोग भी करेगा; वह अध्यक्ष द्वारा सौंपे गये कर्त्तव्यों का पालन करेगा और अध्यक्ष की अनुपस्थिति में वह कार्य समिति की बैठको का सभापतित्व भी करेगा।

जिला-परिषद् का कार्य संचालन (Conduct of business)—उसकी प्रति २ माह में कम से कम एक बैठक होनी चाहिये। अध्यक्ष यदि जिले से बाहर हो तो उपाध्यक्ष जब उचित समझे उसकी बैठक बुला सकता है। परिषद् के कम से कम १/५ सदस्य अध्यक्ष के पास रजिस्ट्री डाक द्वारा बैठक बुलाये जाने की प्रार्थना (requisition) भेज सकते है और ऐसी प्रार्थना किये जाने पर परिषद् की १ माह के भीतर बैठक बुलाई जायेगी। बैठक को आगे के लिये स्थगित (adjourn) नहीं किया जा सकता है। प्रत्येक बैठक परिषद् के कार्यालय अथवा अन्य सुविधाजनक स्थान पर होगी जिसकी सूचना दी जायगी। बैठक में कार्य नियमो के अनुसार सचालित होगा और निम्नलिखित विषयों के बारे में नियम बनेंगे :

(१) बैठक मे कार्य-सचालन, (२) गणपूर्ति, (३) अध्यक्ष और उपाध्यक्ष की अनुपस्थिति मे सभापतित्व, (४) सदस्यों द्वारा प्रश्न पूछा जाना, (५) बैठक के निर्णयो का प्रचार (pubilicity), (६) बैठक मे व्यवस्था बनाये रखना, (७) मत द्वारा निर्णय, (८) कार्यवाही की पुस्तक और सकल्प (resolutions), (९) सरकारी अधिकारी व सेवकों को बैठक मे भाग लेने का अधिकार, (१०) जिला-परिषद् को अपनी बैठक में सरकारी सेवको को बुलाने का अधिकार, (११) परिषद् के अधिकारियों के परिषद् की बैठको के सम्बन्ध मे अधिकार, (१२) मुख्य अधिकारी से जिला-परिषद् को रिपोर्ट व रिटर्न आदि मांगने का अधिकार, (१३) अन्य सम्बन्धित मामले जिनके लिये नियम बनाना आवश्यक हों।

समितियों का निर्माण—जिला-परिषद् ये समितियां नियुक्त करेगी—(अ) कार्य-समिति, (आ) वित्त-समिति, (इ) शिक्षा-समिति, (ई) सार्वजनिक-समिति, (उ) निर्माण-समिति, और (ऊ) जन-स्वास्थ्य समिति। इनके अतिरिक्त

परिषद् एक नियोजन समिति भी नियुक्त करती है जिसके सदस्य इस प्रकार होते हैं—(अ) अध्यक्ष जो उसका सभापति रहेगा, (आ) उपाध्यक्ष जो उसका उप-सभापति रहेगा, (इ) मुख्य अधिकारी, जो उसका मन्त्री रहेगा, और (ई) सभी जिला-स्तर के अधिकारी। कार्य-समिति की रचना इस प्रकार होती है—(अ) अध्यक्ष, (आ) उपाध्यक्ष, (इ) समितियों के सभापति (Chairman), (ई) परिषद् के सदस्यों द्वारा अपने में से चुने गये ३ या ६ सदस्य। यदि परिषद् के कुल सदस्यों की संख्या ४० तक है तो ३ अन्यथा ६। अध्यक्ष और उपाध्यक्ष समिति के क्रमशः सभापति व उपसभापति रहेंगे और मुख्य अधिकारी उसका मन्त्री रहेगा। ऊपर वर्णित अन्य समितियों में से प्रत्येक में ६ या ९ सदस्य होंगे। यदि परिषद् के कुल सदस्यों की संख्या ४० तक है तो ६ अन्यथा ९। अध्यक्ष वित्त-समिति का पदेन सदस्य व सभापति होता है। कार्य-समिति और वित्त-समिति को छोड़कर प्रत्येक समिति अपना एक सभापति और एक उप-सभापति चुनती है, परन्तु उसकी प्रथम बैठक में अध्यक्ष सभापति रहता है। परिषद् की कोई भी समिति अपने सदस्यों द्वारा समर्थित प्रस्ताव में किसी व्यक्ति को विनियुक्त सदस्य बना सकती है।

कार्य-समिति तथा वित्त-समितियों के कार्य—कार्य-समिति के कार्य इस प्रकार हैं—(अ) जो उसे कानून के अन्तर्गत करने आवश्यक हैं, (आ) अनुसूची में दिये गये कार्य-समिति के कार्य, (इ) परिषद् द्वारा कार्य-समिति को सौंपे गये कार्य। वित्त-समिति के कार्य इस प्रकार है—(अ) वर्ष भर आय और व्यय की प्रगति पर ध्यान रखना और मुख्य अधिकारी को जैसा वह उचित समझे निदेश देना, (आ) अनुदानों का विनियोग ठीक प्रकार से हो, यह देख-रेख करना, और (इ) अनुसूची ४ में वित्त-समिति के लिये वर्णित कार्य। समिति को परिषद् के हिसाब देखने का अधिकार है।

अन्य समितियाँ—ऊपर वर्णित कोई भी समिति अपनी उप-समितियाँ नियुक्त कर सकती है परिषद् स्वयं या राज्य सरकार के कहने पर अन्य किसी स्थानीय प्राधिकारी (local authority) की अनुमति से संयुक्त समितियाँ (joint committees) नियुक्त कर सकती है। परिषद् के अधीन अधिकारियों व सेवकों की छाँट तथा नियुक्ति के लिये एक चुनाव समिति भी नियुक्त की जाती है। अध्यक्ष उसका सभापति रहता है। कार्य-समिति प्रतिवर्ष अपने एक सदस्य को उसका सदस्य नामजद करती है। जिस विभाग में नियुक्ति होनी है उसका अध्यक्ष समिति का मन्त्री रहेगा। समिति अपना परामर्श देने के लिये बहुमत से निर्णय करेगी और प्रत्येक सदस्य का एक मत होगा।

जिला-परिषद् का वित्त—प्रत्येक जिले के लिये एक निधि स्थापित की गई है। परिषद् की सम्पत्ति में उसके सभी सार्वजनिक भवन, सार्वजनिक सड़कें (जिन्हें परिषद् बनाये तथा ठीक अवस्था में रखे) और भूमि (जो सरकार परिषद् को हस्तांतरित करे) सम्मिलित हैं। प्रत्येक वर्ष एक नियत तारीख में पूर्व वित्तीय वर्ष—

के लिये वित्त-समिति की मन्त्रणा से कार्य-समिति बजट तैयार करती है, जिसमें उसके यथार्थ और अनुमानित आय-व्यय का पूर्ण विवरण होता है। परिषद् उस बजट पर अपनी बैठक में विचार करती है और उसे मूलरूप में या कुछ संशोधनों सहित पास करती या उसे कार्य-समिति को नये सिरे से तैयारी के लिये भेजती है। जिला-परिषद् ये कर लगा सकती हैं—(१) परिस्थितियों (circumstances) या सम्पत्ति पर कर, और (२) कोई ऐसा कर जो राज्य का विधान-मण्डल राज्य में लगाने का अधिकार रखता है और जिसे लगाने के लिये राज्य सरकार जिला-परिषद् को शक्ति प्रदान करे। इसके अतिरिक्त परिषद् फीस व महसूल भी लगा सकती है तथा स्कूल फीस, पुस्तकालयों के प्रयोग के लिये फीस, परिषद् द्वारा निर्मित किये गये कार्यों अथवा सचालित संस्थाओं के प्रयोग अथवा उनसे होने वाले लाभ के लिये फीस, सवारी गाड़ियों, पुलों आदि पर महसूल।

जिला-परिषद् पर नियन्त्रण—जिलाधीश या अन्य विहित अधिकारी अपने-अपने अधिकार-क्षेत्र में परिषद् की सम्पत्ति का निरीक्षण कर सकता है अथवा करा सकता है। लिखित आदेश द्वारा उसके आलेख या पत्रों (books) को देखने के लिये मंगा सकता है। परिषद् या उसकी समितियों से आदेश द्वारा विवरण, हिसाब व रिपोर्ट आदि देने की माँग कर सकता है। राज्य सरकार द्वारा इस सम्बन्ध में नियुक्त किया गया कोई भी अधिकारी अपने अधिकार-क्षेत्र में प्राप्त शक्तियों का प्रयोग कर सकता है। परिषद् द्वारा निर्मित कार्यों व सचालित संस्थाओं का राज्य सरकार निरीक्षण करा सकती है। कानून के अन्तर्गत विहित प्राधिकारी परिषद् के कार्यों को होने से निलम्बित कर सकते हैं। आपातकाल में जिलाधीश को असाधारण शक्तियाँ प्राप्त रहेंगी। राज्य सरकार परिषद् को उसके द्वारा कर्त्तव्य पालन के लिये आदेश दे सकती है और सदस्यों को सदस्यता से भी हटा सकती है। यदि राज्य सरकार कभी भी यह समझे या इस विषय में उसे अभ्यावेदन (representation) मिले कि परिषद् अपने कार्य उचित प्रकार से नहीं कर रही है तो सरकार परिषद् से उस विषय में स्पष्टीकरण माँग सकती है और उसके बाद सरकार उसे आदेश में वर्णित काल के लिये निलम्बित (suspend) अथवा भंग (dissolve) कर सकती है। परिषद् के भंग होने पर सदस्य और अध्यक्ष आदि नियत तारीख से अपने पदों से अलग हो जायेंगे। जितना शीघ्र हो सकेगा, राज्य सरकार नई परिषद् की स्थापना करायेगी। राज्य सरकार परिषद् के कार्यों को सरकार द्वारा नियुक्त व्यक्ति या समितियों को सौंप सकती है। जिलाधीश परिषद् की बैठकों में भाग ले सकता है, किन्तु उसे मत देने का अधिकार न होगा। वह जिला-परिषद् को पत्र भेज सकता है, जिसे उसकी बैठक में पढ़ा जाये अथवा उस पर विचार किया जाये।

क्षेत्रीय समितियाँ

राज्य सरकार ने गजट में प्रकाशित सूचना द्वारा १९६३ के मध्य में राज्य के प्रत्येक खण्ड के लिये एक क्षेत्रीय समिति स्थापित की और उसका नाम खण्ड के

नाम पर पड़ा। क्षेत्रीय समिति के सदस्यो मे ये सम्मिलित है १. (अ) खण्ड और क्षेत्र मे सम्मिलित प्रत्येक टाउन एरिया का चेयरमैन और नोटीफाइड का प्रधान; (आ) सभी गाँव सभाओ के प्रधान; (इ) क्षेत्र की रजिस्टर्ड सहकारी समितियों (co-operative societies) या समूहो के २ से ५ तक प्रतिनिधि, जिनकी संख्या राज्य सरकार निश्चित करेगी और जिनका चुनाव विहित ढग से होगा, (ई) लोक-सभा व राज्य विधान-सभा के वे सभी सदस्य जिनके निर्वाचन-क्षेत्रों मे खण्ड का कोई भी भाग सम्मिलित हो और प्रत्येक ऐसा विधायक, यदि कोई हो, जिनके निर्वाचन-क्षेत्र मे कोई ग्रामीण-क्षेत्र सम्मिलित न हो, परन्तु जिसका निवास-स्थान जिले में स्थित हो तो वह सदस्य जिले के किसी खण्ड को विहित ढग से चुनेगा (पसन्द करेगा) और उसका सदस्य रहेगा, और (उ) राज्य सभा व राज्य परिषद् के सभी सदस्य, जिनका खण्ड मे निवास-स्थान स्थित हो और प्रत्येक ऐसा सदस्य जिसका निवास-स्थान जिले में हो, परन्तु ग्रामीण-क्षेत्र मे न हो विहित ढग से किसी खण्ड को चुनेगा और उसका सदस्य बनेगा। २. क्षेत्रीय समितियो की रचना (अथवा पुनर्रचना) हो जाने के बाद विहित ढग से तथा विहित शर्तों के अनुसार अन्य सदस्य ये होंगे—(अ) दो तक ऐसे विनियुक्त सदस्य (co-opted members), जिन्हें विनियुक्त करने वाले सदस्य नियोजन और विकास मे अभिरुचि रखने वाला समझें। (आ) सब-सेक्शन १ मे वर्णित सदस्यों मे महिला सदस्यो की संख्या ५ से जितनी कम हो उतनी ही महिला सदस्ये और विनियुक्त की जायेगी; (इ) ऐसे ही सब-सेक्शन १ मे वर्णित सदस्यो मे अनुसूचित जातियों के सदस्यो की संख्या ८ से जितनी कम हो उतने ही उनके सदस्य विनियुक्त किये जायेंगे।

प्रमुख और उप-प्रमुख—प्रत्येक क्षेत्रीय समिति का एक प्रमुख, एक सीनियर उप-प्रमुख और एक जूनियर उप-प्रमुख है। प्रमुख का चुनाव क्षेत्रीय समिति के सदस्यों द्वारा किया जाता है। सीनियर व जूनियर उप-प्रमुखों का भी चुनाव सदस्यो द्वारा किया जाता है। उसका चुनाव गुप्त मतदान द्वारा और विहित प्रक्रिया के अनुसार होता है। यदि किसी गाँव-सभा का प्रधान क्षेत्रीय समिति का प्रमुख या उप-प्रमुख चुना जाये तो वह प्रधान पद को छोड़ देगा और उसके स्थान पर गाँव सभा नया प्रधान चुनेगी। पुराना प्रधान (जो प्रमुख या उप-प्रमुख चुन लिया गया है) क्षेत्रीय समिति का पदेन सदस्य बना रहेगा और नया प्रधान भी क्षेत्रीय समिति का सदस्य बना रहेगा। जब कभी प्रमुख या उप-प्रमुख का पद क्षेत्रीय समिति की अवधि समाप्त होने के पूर्व खाली हो जाये तो उसे भरने के लिये पूर्व वर्णित ढग से ही नया चुनाव किया जायेगा। यदि कोई ऐसा व्यक्ति प्रमुख चुन लिया जाये जो क्षेत्रीय समिति का सदस्य न हो तो वह उसका पदेन सदस्य बन जायेगा।

क्षेत्रीय समिति तथा प्रमुख आदि की अवधि—प्रथम तथा बाद में बनने वाली क्षेत्रीय समितियों की अवधि ५ वर्ष है; परन्तु राज्य सरकार सभी या कुछ समितियो की अवधि को अधिक से अधिक १ वर्ष बढ़ा सकती है, अर्थात् उनकी

अवधि ६ वर्ष से अधिक न होगी। क्षेत्रीय समितियों की अवधि गजट में प्रकाशित तारीख से प्रारम्भ होगी। यदि समिति के सदस्यों का कोई स्थान खाली हो जाये तो उस स्थान को भरने वाले सदस्य की अवधि उस तारीख से प्रारम्भ होगी जिस तारीख से उसे उस स्थान को भरने का अधिकार मिले। यदि क्षेत्रीय समिति का कोई सदस्य जो प्रधान या चेयरमैन होने के नाते सदस्य बना हो अपने पद से हट जाये तो वह समिति का भी सदस्य न रहेगा। यदि कोई विनियुक्त सदस्य विनियुक्ति के लिये अयोग्य हो जाये तो उसकी सदस्यता का भी अन्त हो जायगा। प्रमुख, उप-प्रमुख अथवा कोई भी सदस्य अपने पद से त्याग-पत्र द्वारा अलग हो सकता है। प्रमुख का त्याग-पत्र उस तारीख के प्रभावी होगा जिस दिन कि जिला-परिषद् के अध्यक्ष द्वारा उसके त्याग-पत्र की स्वीकृति की सूचना समिति के कार्यालय से प्राप्त हो और उस प्रमुख या सदस्य का त्याग-पत्र उसी दिन से प्रभावी हो जायेगा, जिस दिन उसकी सूचना समिति के कार्यालय को मिले। यदि समिति के किसी सदस्य का स्थान मृत्यु या अन्य कारण से खाली हो जाये तो उसका स्थान चुनाव अथवा विनियुक्त द्वारा भरा जायेगा (जिस प्रकार से पूर्वगामी सदस्य को चुना या विनियुक्ति किया गया था)। यदि समिति की अवधि समाप्त होने से पूर्व प्रमुख या उप-प्रमुख का पद मृत्यु या अन्य किसी कारण से खाली हो जाये तो उस पद को विहित ढग से शेष अवधि के लिये भरा जायेगा।

प्रमुख और उप-प्रमुख का पद से अलग किया जाना—यदि कमिश्नर की राय में किसी क्षेत्रीय समिति का प्रमुख अथवा उप-प्रमुख अपने कर्त्तव्यों व कार्यों को जानकर नहीं करता अथवा करने से मना करे या वह अपने पद की शक्तियों का दुरुपयोग करे या उसे अपने कार्यों का पालन करने में कदाचार के लिये दोषी ठहराया जाय, तो कमिश्नर उसे अपना स्पष्टीकरण देने के लिये उचित अवसर देकर और परिषद् के अध्यक्ष से मन्त्रणा करके उसे पद से हटा सकेगा, परन्तु इस प्रकार से हटाये गये प्रमुख या उप-प्रमुख को ३० दिन के भीतर राज्य सरकार से अपील करने का अधिकार होगा। राज्य सरकार का निर्णय अन्तिम होगा और इस विषय में कोई कार्यवाही न्यायालय में न की जा सकेगी। कमिश्नर किसी ऐसे प्रमुख या उप-प्रमुख को पद से निलम्बित (suspend) भी कर सकता है जिसके विरुद्ध कोई कार्यवाही जारी हो। यदि किसी प्रमुख या उप-प्रमुख को पद से अलग किया जाय तो उसे ३ वर्ष तक फिर से नहीं चुना जा सकेगा। प्रमुख या उप-प्रमुख के विरुद्ध विहित ढग से अविश्वास का प्रस्ताव (Motion of No-confidence) भी लाया जा सकता है। ऐसा प्रस्ताव लाने के लिए समिति के कम से कम आधे सदस्यों को लिखित अधिसूचना देनी आवश्यक है और समिति का कोई भी सदस्य स्वय जाकर उस प्रस्ताव की नकल जिलाधीश को भी दे। उसके बाद जिलाधीश ३० दिन के भीतर प्रस्ताव पर विचार करने के लिए समिति की बैठक बुलायेगा। ऐसी बैठक पर समिति के क्षेत्र का सब-डिवीजनल ऑफिसर सभापतित्व करेगा। ऐसी बैठक

स्थानीय सदस्यों को ला सकते और प्रस्ताव पर अधिक से अधिक २ घंटे तक वाद-विवाद हो सकता है किन्तु इसे भी स्थगित नहीं किया जा सकता। यदि समिति के कुल सदस्यों की संख्या के आधे से अधिक सदस्य इस प्रस्ताव के पक्ष में हों तो प्रमुख या उप-प्रमुख जिनके विरुद्ध प्रस्ताव पास हुआ हो, अपने पद से अलग हो जायेगा। यदि ऐसा प्रस्ताव पास न हो सके या इस उद्देश्य से बुलाई गई बैठक गणपूर्ति (quorum) के अभाव में न हो सके तो आगामी ११ माह तक इस प्रकार का प्रस्ताव उन अधिकारी के विरुद्ध न लाया जा सकेगा।

क्षेत्रीय समिति की सामान्य शक्तियाँ और कार्य (General powers and functions)—कानून के सेक्शन ३२ के अनुसार समिति की शक्तियों व उसके कार्यों की सूची अनुसूची नं० १ में दी गई है। उसका सारांश इस प्रकार है: (१) कृषि का विकास, सहकारिता को प्रोत्साहन देना, लघु सिंचाई के साधनों, तालाबों, नहरों आदि का निर्माण व उनको अच्छी स्थिति में रखना, सार्वजनिक पानी के कुओं को बनाना, वृक्षों को लगवाना। (२) पशु-पालन। (३) कुटीर उद्योग। (४) चिकित्सा व सार्वजनिक स्वास्थ्य, (५) शिक्षा, सामाजिक शिक्षा और सांस्कृतिक कार्य। (६) हरिजन कल्याण-कार्य (७) नियोजन और आंकड़े, (८) अन्य योजनाएँ, (९) ग्राम सभाओं की देख-रेख, (१०) सार्वजनिक निर्माण-कार्य।

क्षेत्रीय समिति का कार्य-संचालन— अपने कार्य-संचालन हेतु समिति की प्रति २ माह में कम से कम एक बैठक होगी। समिति का प्रमुख, उसकी अनुपस्थिति में सीनियर उप-प्रमुख और यदि वह भी अनुपस्थित हो तो जूनियर उप-प्रमुख जब भी उचित व आवश्यक समझे उसकी बैठक बुलायेगा। यदि समिति के कम से कम १/५ सदस्य बैठक बुलाने के लिये प्रार्थना (requisition) करें तो एक माह के भीतर समिति की बैठक बुलाई जायेगी। जब कभी समिति चाहे या जिला परिषद् अथवा राज्य सरकार उससे ऐसा करने को कहे तो विकास अधिकारी ग्राम सभाओं से नियत समय के भीतर विकास योजनायें मांगेगा और समिति क्षेत्र के लिये विकास योजनायें बनायेगी। समिति की कार्यकारिणी तथा विकास अधिकारी उत्पादन समिति और कल्याण समिति की सहायता से जिला परिषद् अथवा राज्य सरकार से मिले निर्देशों को ध्यान में रखते हुए योजना का मसौदा तैयार करेंगी और उसे क्षेत्रीय समिति के सामने पेश करेंगी। जिला परिषद् की नियोजन समिति उस पर विचार करेगी और उसमें संशोधन के लिये यदि आवश्यक समझे सिफारिश करेगी।

क्षेत्रीय समिति की समितियाँ (Committees)—समिति की स्थापना के बाद यथाशीघ्र विहित ढंग से ये समितियाँ बनाई जायेंगी—कार्यकारिणी, उत्पादन और कल्याण। क्षेत्रीय समिति चाहे तो अन्य समितियाँ भी बना सकती है। कार्यकारिणी, उत्पादन तथा कल्याण समितियों में से प्रत्येक में इस प्रकार सदस्य होंगे :
१. (अ) क्षेत्र के भीतर प्रत्येक मण्डल (circle) में एक सदस्य जिसे इस मण्डल

के प्रधान चुनगे; (आ) समिति के सदस्यो मे से ५ सदस्य चुने जायेंगे। २. प्रमुख और दोनो उप-प्रमुख कार्यकारिणी समिति के पदेन सदस्य होगे और चेयरमैन तथा सीनियर व जूनियर वाइस-चेयरमैन भी रहेंगे। सीनियर उप-प्रधान उत्पादन समिति का पदेन सदस्य व चेयरमैन रहेगा। उस क्षेत्र मे यदि कोई कृषि स्कूल हों तो उसका प्रिंसिपल उसका अतिरिक्त सदस्य रहेगा। जूनियर उप-प्रमुख कल्याण समिति का पदेन सदस्य तथा चेयरमैन रहेगा और क्षेत्र में स्थित हायर तथा जूनियर सेकेण्डरी स्कूलो के प्रिंसिपलो व हैड-मास्टरो मे से एक को विनियुक्त सदस्य बनाया जायगा। उत्पादन और कल्याण समितियाँ अपने सदस्यो में से एक को अपना-अपना वाइस-चेयरमैन चुनेंगी। यदि किसी समिति मे किसी सदस्य या अधिकारी का स्थान अवधि से पूर्व ही खाली हो जाये तो उसे पूर्व वर्णित ढग से ही शेष अवधि के लिए भरा जायेगा।

समितियों के कार्य—कार्यकारिणी समिति वित्त, कर और सामान्य प्रशासन से सम्बन्धित कार्यों के सचालन मे समिति को सहायता प्रदान करेगी। यह ऐसे कार्य भी करेगी जो कि उसे क्षेत्रीय समिति द्वारा सौंपे जायें। उत्पादन समिति क्षेत्रीय समिति को कृषि के सुधार, सहकारिता, पशु-पालन, सिंचाई, ग्रामीण उद्योग व उत्पादन सम्बन्धी कार्यों के करने मे सहायता देगी तथा ऐसे कार्य भी करेगी जो कि उसे क्षेत्रीय समिति द्वारा सौंपे जायें। कल्याण समिति स्वास्थ्य, सफाई, शिक्षा, महिला कल्याण, नवयुवक कल्याण और रचनात्मक कार्यों के करने मे क्षेत्रीय समिति की सहायता देगी और ऐसे कार्य भी करेगी जो कि उसे क्षेत्रीय समिति सौंपे।

क्षेत्रीय समिति के अधिकारी व सेवक—प्रत्येक समिति मे एक खण्ड विकास अधिकारी (Block Development Officer) रहता है। वह उसका मुख्य कार्यकारी अधिकारी (Chief Executive Officer) होता है। वह निम्नलिखित शक्तियों व कर्तव्यो के पालन के अतिरिक्त समिति व उप-समितियो के सकल्पो (resolutions) को कार्यान्वित करने के लिये उत्तरदायी है। उसके मुख्य कार्य निम्न प्रकार है :

(१) समिति के नाम से धन व आय प्राप्त करना और उसे क्षेत्रीय निधि मे जमा करना, (२) क्षेत्रीय निधि से धन निकालकर वितरण करना ; (३) जिलाधीश अथवा विहित अधिकारी को आय-व्यय के हिसाब व रिपोर्ट देना, जिलाधीश व राज्य सरकार को क्षेत्रीय समितियो और अन्य समितियो के प्रस्तावो तथा संकल्पो आदि की प्रतियाँ भेजना, (४) गांव पचायतों को उसके विकास कार्यो में सहायता देना, (५) क्षेत्रीय समिति के अन्य अधिकारियों व सेवको की सेवा, छुट्टी, वेतन व भत्तो आदि के सम्बन्ध में उठे प्रश्नों का निर्णय करना, (६) ऐसे सभी कार्य करना जो कि उसे सौंपे जायें; और (७) क्षेत्रीय

पास करके प्रधान को हटा सकती है, लेकिन इस प्रस्ताव पर गांव के कुल सदस्यों के कम से कम आधे सदस्यो के हस्ताक्षर होने जरूरी हैं। चल व अचल सम्पत्ति खरीदने, दान-स्वरूप या अन्य प्रकार से प्राप्त करने, कब्जा करने, प्रबन्ध अथवा स्थानान्तरण करने का अधिकार ग्राम-सभा को है। यदि कई ग्राम-सभायें मिलकर कोई कार्य करना चाहे तो सयुक्त समिति बनाने का प्रस्ताव भी ग्राम-सभा पास करती है।

साधारणत. ग्राम-सभा की दो बैठकें रबी और खरीफ की फसलो के बाद होती है। रबी की बैठक में पिछले वर्ष के हिसाब-किताब और प्रधान की रिपोर्ट पर विचार किया जाता है तथा उन्हे स्वीकार किया जाता है। खरीफ की बैठक में अगले वर्ष के लिये आय-व्यय के अनुमानों तथा निर्माण कार्यों के प्रस्तावों पर विचार किया जाता है और स्वीकृति प्रदान की जाती है। इन सामान्य बैठकों के अतिरिक्त गाव-सभा के प्रधान को यह अधिकार है कि वह किसी समय भी विशेष बैठक बुला सके। पचायत निरीक्षक या सहायक विकास अधिकारी अथवा २० प्रतिशत सदस्यों की लिखित माग पर भी गाव-सभा बैठकें की बुलाई जा सकती हैं। ऐसी बैठक तीस दिन के भीतर अवश्य बुलायी जानी चाहिये और इसकी सूचना सदस्यो को कम से कम पन्द्रह दिन पहले दे देनी चाहिए। गाव-सभा की कार्यवाही के लिये सदस्यो की कुल सख्या के पाँचवें भाग की गणपूर्ति (quorum) अनिवार्य है।

ग्राम-पंचायत—पंचायत व्यवस्था में ग्राम-पंचायतों का महत्व है। वस्तुतः ग्राम-पंचायतें ग्राम-सभाओं की कार्यकारिणी समितियां है। ये पाँच वर्ष के लिए चुनी जाती है और इनका एक प्रधान होता है जो गाव-सभा के सदस्यों द्वारा चुना जाता है। उप-प्रधान का चुनाव पचायत-सदस्यो द्वारा अपने ही मे से प्रतिवर्ष किया जाता है। ग्राम-सभा के सदस्य हाथ उठाकर ग्राम-पचायत के सदस्यों को चुनते है। इनकी सख्या १५ से लेकर ३० तक होती है। अभी तक प्रधान भी ऐसे ही चुने जाते थे, किन्तु कुछ समय से प्रधान का चुनाव गुप्त-मतदान प्रणाली द्वारा होने लगा है। सन् १६६०–६१ में पचायतो के तीसरे ग्राम चुनाव हुए। इन चुनावो मे राज्य के लगभग ३ करोड़ ग्रामीणो ने अपने प्रतिनिधियो को चुनकर उनके हाथो में अपने विकास-कार्यों को ५ वर्षो के लिए सौप दिया। पचायत की बैठक के लिये सदस्यों की एक-तिहाई संख्या, जिसमे प्रधान भी शामिल होता है, आवश्यक है। प्रत्येक पचायत का प्रधान तथा उप-प्रधान गाव-सभा द्वारा चुने जाते है और गांव-सभा दो तिहाई मतो से उन्हे उनके पदो से अलग भी कर सकती है। सन् १६५४ के सशोधन के अनुसार प्रधान वही व्यक्ति हो सकता है जिसकी आयु कम से कम ३० वर्ष हो और जो हिन्दी पढ़-लिख सकता हो। पचायत का प्रधान बैठको में सभापति होता है और वह कार्यकारिणी तथा वित्त-प्रशासन की देख-रेख भी करता है। पंचायत द्वारा लगाये गये करो की वसूली करने की जिम्मेदारी उसी पर होती है।

पचायत की सारी सम्पति उसी के नियन्त्रण मे रहती है और वह पचायत की ओर से सब कार्य करता है ।

ग्राम-पंचायतों के कार्य—नगरपालिकाओ तथा जिला बोर्डों की तरह इनके कार्य भी दो प्रकार के होते हैं—अनिवार्य और ऐच्छिक (Obligatory and Voluntary) । **अनिवार्य कार्य**—सार्वजनिक रास्तो को बनाना, उनकी मरम्मत व देखभाल करना, सफाई, छूत की बीमारी को फैलने से रोकना, फैलने पर रोक थाम करना, ऐसी इमारतो की देख-रेख करना जो पचायत को मिल गई हो, जन्म तथा मरण का लेखा रखना, मुर्दाघाटो तथा कब्रिस्तानो की देख-रेख करना, बच्चो की शिक्षा के लिए प्राइमरी स्कूल चलाना, हाटो तथा मेलों का प्रबन्ध करना, सार्वजनिक कुंओ को बनवाना, उनकी मरम्मत कराना और पचायत की सम्पत्ति की रक्षा करना आदि । पचायते पंचायती अदालत के पचो को भी चुनती है । **ऐच्छिक कार्य**—साधनो के अनुसार पचायतें चाहे तो ये कार्य कर सकती है—रास्तो के किनारे तथा सार्वजनिक स्थानो पर पेड लगाना, पशुओ की नस्ल को सुधारने तथा उनकी बीमारियों को रोकने का प्रबन्ध करना, गावो की खेती की उन्नति मे सहायता करना, पुस्तकालय तथा वाचनालय स्थापित करना, आमोद-प्रमोद के लिये व्यवस्था करना, रेडियो आदि का प्रबन्ध करना, गाव के किसानो के लिये सरकार से तकावी ऋण दिलवाने व बटवाने मे सहायता करना ।

पचायते डिस्पेन्सरियाँ भी खोल सकती है और उन्हे चौकीदारो की नियुक्ति व तबादले मे भी कुछ भाग लेने का अधिकार है । पचायते गाव के लेखपाल, पुलिस के चौकीदार तथा टीका लगाने वाले के आचार की जाच कर सकती हे और उनके तबादले या पद से हटाये जाने की सिफारिश भी कर सकती है । तीसरी पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत गांव-पचायतो को नये उत्तरदायित्व सौपे गये है और उनका विकास करने के हेतु गाव-सभाओ को ऋण देने की व्यवस्था की गई है । यह ऋण ऐसी सम्पत्ति बनाने और योजनाये कार्यान्वित करने के लिए दिया जायगा, जिनसे गांव-सभायें न केवल ऋण का भुगतान कर सकें अपितु आय-अर्जन के स्थायी साधन विकसित कर सके ।

पंचायतों की बैठकें—गाव-पचायतों की बैठकें प्रधान द्वारा या उसकी अनुपस्थिति मे उप-प्रधान द्वारा किसी भी समय बुलाई जा सकती है । कम से कम एक तिहाई सदस्यो की लिखित मांग पर पन्द्रह दिन के अन्दर पचायत की बैठक बुलानी होगी । पचायत की बैठक महीने मे कम से कम एक बार अवश्य होनी चाहिए । बैठक की सूचना सदस्यों को कम से कम पाँच दिन पहले मिल जानी चाहिए । साथ ही उन्हे बैठक की तिथि, समय और स्थान की सूचना के साथ विचारणीय विषयो की जानकारी करा देनी चाहिए । ग्राम-पचायत की कार्यवाही के लिए प्रधान और उप-प्रधान को सम्मिलित करके पचायत के सदस्यो की कुल

सख्या के एक तिहाई सदस्यों की उपस्थिति आवश्यक है। गांव पचायतें ऊपर वर्णित कार्यों को सुचारु रूप से चलाने के लिए समितियां बना सकती है। प्रत्येक समिति मे ५ से लेकर ७ तक सदस्य हो सकते है, जिन्हे एक वर्ष के लिए चुना जाता है। समिति का अध्यक्ष समिति के सदस्यो मे से पचायत द्वारा चुना जाता है। यदि दो या अधिक पचायतें चाहें तो किसी विशेष कार्य के लिए अपने-अपने प्रतिनिधियो की मिली-जुली समिति भी बना सकती है। तीसरी योजना मे पचायत मन्त्रियो के प्रशिक्षण के लिए व्यवस्था की गई थी।

पंचायती अदालतें—प्रत्येक ग्राम-सभा के सदस्य पचायती अदालत के लिए ५ सदस्य चुनते है। तीन से लेकर पांच ग्राम-सभाओ तक के समूह के लिए ऐसी अदालत होती है। इस समय उत्तर प्रदेश में इनकी सख्या ८ हजार से कुछ ही अधिक है। पचायती-अदालत के सदस्य अपने में से एक को सरपंच चुनते हैं-परन्तु सरपच केवल पढा लिखा व्यक्ति हो सकता है। सरपच प्रत्येक मुकदमे के लिए पचायती अदालत के सदस्यो मे से ५ को छांटता है; उनकी जाच करते समय उसे इन बातो का ध्यान रखना आवश्यक है—(१) इनमें एक सदस्य ऐसा हो जो मुकदमे की कार्यवाही तथा गवाहो के बयानों को लिख सके; (२) एक-एक सदस्य उन गाव सभाओं का अवश्य होना चाहिये जिनका वादी (complainant) व **प्रतिवादी** (defendant or accused) रहने वाले हो; और (३) शेष पच अन्य ग्राम-सभाओ के होने चाहिये।

पचायती अदालत का मुख्य कार्यालय सरकार द्वारा नियत केन्द्र में होता है। ये पचायते महीने मे जितने आवश्यक हो कार्य करती हैं। इनके क्षेत्राधिकार मे दीवानी, फौजदारी और माल तीनो ही प्रकार के मुकदमे आते है। दीवानी मुकदमें उस क्षेत्र की पचायती अदालत में दायर किये जाते है जिस क्षेत्र का प्रतिवादी रहने वाला हो। फौजदारी के मुकदमे उस अदालत में दायर किये जाते है, जिस क्षेत्र में अपराध हुआ हो। माल के मुकदमे उस क्षेत्र की पचायती अदालत मे दायर किए जाते है जिसमें मुकदमे से सम्बन्धित भूमि स्थित हो। इन अदालतो मे निम्न प्रकार के मुकदमे सुने जा सकते है—

दीवानी मुकदमे (Civil cases)—१००० रु० तक की मालियत के मुकदमे इनके अधिकारक्षेत्र मे आते है, परन्तु सरकार चाहे तो इन अदालतो को ५००० रु० की मालियत तक के मुकदमे सुनने का अधिकार दे सकती है। इन मुकदमो को दायर करने की अवधि ३ वर्ष है, परन्तु पशुओ आदि द्वारा की जाने वाली हानि से सम्बिन्धित मुकदमो को ६ महीने के भीतर ही दायर किया जा सकता है। ये सरकारी नौकरों पर मुकदमा नहीं चला सकती।

फौजदारी मुकदमे (Criminal cases)—ये अदालतें आगे लिखे विभिन्न प्रकार के छोटे अपराधो से सम्बन्धित मुकदमे सुन सकती है—(१) सार्वजनिक स्थानो

पर झगड़ा करना, (२) ५० रू० तक की चोरी के मुकदमे, (३) किसी को पीटना या किसी को हानि पहुचाना, इत्यादि ।

माल के मुकदमे—इन मुकदमों में पंचायती अदालतों को प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार (Original jurisdiction) प्राप्त नहीं है, परन्तु डौलबन्दी या २०० रु० से कम बकाया लगान के मुकदमे तथा कागजात की दुरुस्ती से सम्बन्धित मामले तहसीलदार पंचायतों को भेज सकता है।

पचायती अदालतें मुकदमो का फैसला पचो के बहुमत से देती है। इन्हें अपने फैसलो पर फिर से विचार करने का अधिकार नहीं है। इन अदालतों में किसी भी पक्ष की ओर से वकीलो को पैरवी करने की आज्ञा नहीं है। इनके फैसलों की किसी न्यायालय में अपील दायर नहीं हो सकती, केवल उस क्षेत्र के एस० डी० एम० (Sub-Divisional Magistrate) के न्यायालय में फौजदारी मुकदमों और मुन्सिफ की अदालत मे दीवानी मुकदमो की निगरानी (revision) की माँग की जा सकती है। यदि वह यह समझे कि अदालत का फैसला गैर-कानूनी है तो वह उसे रद्द कर सकता है। पचायती अदालत किसी भी मुकदमे में कारावास का दण्ड नही दे सकती और यह अधिक से अधिक जुर्माना कर सकती है।

पंचायतों की आय के मुख्य साधन—फीस, जुर्माने, कर, सरकारी अनुदान (government grant), अशदान (contributions), दान (donations), पल्लेदारों, अनाज तथा कपडे के व्यापारियो से लाइसेंस फीस। पंचायती अदालतों द्वारा कोर्ट-फीस तथा जुर्मानों से होने वाली आय, सरकार विभिन्न पचायतों को बाँट देती है। इनकी आय के साधन बहुत ही सीमित है, अत ये अपने कार्यों को भली प्रकार से संचालित नहीं कर सकतीं। गाँव-पचायतों और पचायती अदालतों का निर्माण हुए कई वर्ष बीत गये है। इनकी कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में कुछ दोषो का अनुभव हुआ है, साथ ही इनकी रचना के विषय मे भी कुछ सुधारों की आवश्यकता अनुभव की गई है। इन्ही दोषो को दूर करने तथा सुधारों को लागू करने के उद्देश्य से राज्य-सरकार ने पंचायत-राज एक्ट में आवश्यक संशोधन कराने का निर्णय किया है। बाद के एक संशोधन से इन्हें ये नए कर लगाने का अधिकार मिल गया है—किराये के लिये रखी गई सवारी गाड़ियों और पशुओं, चलते-फिरते व्यापारियो, पशुओं की बिक्री पर रजिस्ट्रेशन फीस इत्यादि तथा पानी आदि की सेवाओं के लिए रेट लगाना। ये पंचायतें सार्वजनिक उपयोगिता के कार्यों के लिये पुरुषों से शारीरिक श्रम की माँग भी कर सकती है।

ग्राम-समाज—जमीदारी प्रथा के उन्मूलन के बाद प्रत्येक ऐसे गाँव के लिये, जो मालगुजारी वसूल करने के लिए उपयुक्त इकाई समझा गया एक-एक ग्राम-समाज की भी स्थापना की गई थी। सन् १९५६ में इनकी सख्या लगभग ८४ हजार थी। वे सभी बालिग व्यक्ति जो गाँव में स्थायी रूप से रहते हों और जिनका

गांव की खेती से सम्बन्ध हो, ग्राम-समाज के सदस्य होते हैं। ग्राम-समाज अपनी कार्य-कारिणी समिति चुनता है, जो भूमि-प्रबन्धक समिति कहलाती है। यही समिति गाव की सीमा में स्थित सभी बंजर, चरागाह व परती पड़ी हुई भूमि का प्रबन्ध करती है और वह उसे भूमिहीन व्यक्तियों को खेती के लिये भी दे सकती है।

क्षेत्रीय समिति तथा जिला-परिषद् विधेयक के अन्तर्गत गांव-पंचायतों को अपने क्षेत्र के २१ वर्ष से ४५ वर्ष तक की अवस्था के पुरुषों से एक वर्ष में ८६ घण्टे का श्रम लेने का अधिकार दिया गया है। गाव-सभाओं को श्रम न देने वाले व्यक्तियों से श्रम का मूल्य वसूल करने का अधिकार होगा। इसी विधेयक के अन्तर्गत गांव-समाज तथा गांव-सभा का एकीकरण कर दिया गया है और गांव-सभा में निहित सभी सम्पत्ति की रक्षा के लिये प्रत्येक गाव-सभा में गांव-सभा की उप-समिति—भूमि प्रबन्धक समिति की स्थापना की व्यवस्था की गई है। पंचायतों के कार्यों की देख-रेख के लिये एक पृथक् विभाग—पंचायत-राज विभाग—की स्थापना हुई है। उसका एक सचालक (Director) है और उसके नीचे प्रत्येक जिले मे एक पंचायत राज अधिकारी है।

७. स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं में दोष और उन्हें दूर करने के लिये सुझाव

स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं के सगठन व कार्य-प्रणाली में मुख्य दोष तथा उनको दूर करने के लिये कुछ सुझाव निम्नलिखित हैं—

(१) इन संस्थाओं में गन्दी व अस्वस्थ दलबन्दियां बहुत है। वास्तव में, दलबन्दी प्रजातन्त्रात्मक शासन की देन है, जिससे बचना कठिन है।

(२) इन सस्थाओ में बहुधा भ्रष्टाचार की शिकायतें सुनने में आती है। इनके कर्मचारियों में योग्यता व कार्य-कुशलता की कमी होती है।

(३) इन सस्थाओ के आय के साधन बहुत सीमित हैं।

इन सस्थाओ में प्रचलित भ्रष्टाचार और भाई-भतीजवाद को रोकने के लिये पहली आवश्यकता तो देश के गन्दे वातावरण को ही इस दोष से दूर करने की है। दूसरे, जहां तक हो सके सरकार इनकी सेवाओं को राज्य-सेवाओं मे बदल दे या नियुक्ति आदि के विषय मे योग्यता सम्बन्धी विहित शर्तों को और कठोर बनाये तथा उनके उचित पालन पर विशेष ध्यान दे। इस प्रकार से नियुक्तियां होने पर उनकी कार्यकुशलता भी सुधरेगी। दलबन्दी के कारण जिसका आधार साम्प्रदायिक अथवा राजनैतिक व सकुचित हित होते हैं इनके कार्यों में अनेक बाधायें आती है। आचार्य विनोबा भावे और श्री जयप्रकाश नारायण इस बात पर विशेष बल दे रहे है कि पचायतों की रचना पक्षमुक्त हो और ये ग्राम सेवक सभा का रूप धारण करे। वास्तव मे, इन सस्थाओ के चुनावों मे यदि राजनैतिक दल भाग

न लें और जनता केवल योग्य व समाज-सेवी व्यक्तियों को ही चुनें तो इनके कई दोष दूर हो जाये, इनकी कार्य-कुशलता बढ़े और भ्रष्टाचार व भाई-भतीजवाद तथा साम्प्रदायिकता व संकुचित दृष्टिकोण भी कम हो। व्यवहार में इन संस्थाओं के चुनाव केवल सम्प्रदायों के आधार पर ही नहीं वरन् जाति या बिरादरी के आधार पर लड़े जाते है और इस प्रकार अयोग्य या सकुचित भावनाओं से प्रेरित व्यक्ति सफलता पा लेते है। इनके निर्वाचित सदस्य किसी दल, सम्प्रदाय या बिरादरी के प्रतिनिधि नहीं, वरन् सम्पूर्ण क्षेत्रीय समुदाय के प्रतिनिधि होने चाहिये।

इनके आय-साधनों के लिये राज्य सरकार को कानूनों में आवश्यक सुधार करने चाहिये। इनकी कर लगाने व ऋण आदि लेने की शक्तियों में विस्तार होना चाहिये और सरकार को भी इन्हें अच्छे कार्य करने मे अधिक आर्थिक सहायता देनी चाहिये। साथ ही जनता को नये करो से नाराज होना उचित नहीं, क्योंकि जब तक इनकी आय में वृद्धि न होगी ये सर्वसाधारण के लिये सुविधायें न बढ़ा सकेंगी। परन्तु इनके द्वारा कोई अपव्यय न हो, इस बात पर सभी का विशेष ध्यान लगा रहना आवश्यक है। ये अपने आय-साधनों को बढाने के लिये म्युनिसिपल व्यापार करें, डेयरी व मनोरंजन घर चलायें, बाजार खोले, बड़े नगरो मे बिजली व आवागमन के साधनों का स्वयं प्रबन्ध करें।

स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं पर राज्य सरकार के नियंत्रण व निदेशन का रूप सकारात्मक होना चाहिए। सरकार का कार्य केवल यह नहीं कि वह लेखा-परीक्षण तथा कभी-कभी निरीक्षण द्वारा इन संस्थाओं द्वारा शक्तियों और धन के दुरुपयोग को ही देखे और उन्हें ऐसा करने से रोके, वरन् सरकार के स्थानीय स्वशासन विभाग में अनेक विशेषज्ञ रहें जो स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं को उनके विभिन्न प्रकार के कार्यों में परामर्श व प्रोत्साहन प्रदान कर सकें। परन्तु सरकार के नियन्त्रण से स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं की स्वायत्तता और पहल करने की शक्ति में कोई कमी नहीं आनी चाहिये। नियंत्रण व निदेशन का उद्देश्य इन संस्थाओं के कार्य-संचालन को अधिक कुशल बनाना होना चाहिये।

अन्त में, यह तो मानना ही पड़ेगा कि अभी तक देश में शिक्षा की कमी है और यह भी सच है कि अशिक्षित व्यक्तियों की संख्या इन संस्थाओं में काफी है। इस विषय में भी मतभेद नहीं हो सकता कि सर्वसाधारण में नागरिकता की भावना की कमी है और जब तक यह कमी रहेगी तब तक ऊपर वर्णित अनेक दोष बने रहेंगे। नागरिकता की भावना का विकास अति आवश्यक है। साथ ही नागरिक अपने क्षेत्र की स्थानीय संस्थाओं के कार्यों में अधिक दिलचस्पी लें, उनके अच्छे कार्यों में सहयोग दें तथा प्रबल जनमत द्वारा उनके दोषपूर्ण कार्यों को होने से रोकें। इस उद्देश्य से मतदाताओं अथवा नागरिकों के संघ बनने चाहियें, जो इनके कार्यों के प्रति सदैव सतर्क रहें। इन संस्थाओं में ऐसे व्यक्ति चुनकर भेजे जावें जिनमें

सार्वजनिक भावना काफी विकसित हो और जो इन पदों को मान प्राप्त करने अथवा अनुचित लाभ उठाने के हेतु प्राप्त करना न चाहें।[10]

—: o :—

10 "Conditions of good local self Government; "The first and foremost condition is the creation and maintenance of a high level of civic consciousness. Sound finances are another requisite of local self government .. People elected to councils and local boards should be those who have a public spirit and who do not seek positions merely for the honour involved or for purposes of illicit gain." *E Ashirvatham*
Indian Journal of Political Science, *Vol XVI No. 3 pp. 188-9.*

अध्याय १४

राजनीतिक दल—१

१. प्रजातन्त्र में राजनैतिक दल और भारत

गैटेल के शब्दों में, 'कोई भी राजनैतिक दल कम या अधिक सगठित नागरिको के समूह से मिलकर बनता है, जो एक राजनैतिक इकाई के रूप में कार्य करते है और अपनी मतदान शक्ति के द्वारा शासन पर नियन्त्रण पाने व अपनी साधारण नीतियों को कार्यान्वित करने के उद्देश्य रखते है। यह ऐसा सबसे अधिक वृहत्त और व्यापक रूप है जिसके द्वारा लोकमत को सगठित और शासन मे प्रभावी बनाया जाता है।'[1] किसी राजनैतिक दल के संगठन का स्वरूप बहुत कुछ राज्य के स्वरूप और दल के उद्देश्यो पर निर्भर करता है। यदि राज्य शक्ति पर आधारित है तो सत्तारूढ़ दल और तानाशाही को स्थायी बनाने का प्रयत्न करेगा और विरोधियो को सभी उपाय, हिंसा और शक्ति सरकार को हटाने के लिये अपनाने पड़ेगे। दूसरी ओर यदि राज्य प्रजातन्त्रात्मक है तो दलों का स्वरूप संसदात्मक होगा और वे शासन तन्त्र पर अधिकार पाने के लिये सवैधानिक साधनो का प्रयोग करेंगे। हिटलर के अधीन जर्मनी में नाजी दल पहले प्रकार का और ग्रेट ब्रिटेन के दल दूसरी प्रकार के दलों के सुन्दर उदाहरण है।

प्रजातन्त्र में राजनैतिक दलों की आवश्यकता—राजनैतिक दलो में चाहे जो दोष हो और चाहे अनेक विचारक उनको घृणा ही करते है उनका प्रजातन्त्र मे होना अति आवश्यक है। वे वास्तव में ससदात्मक शासन के भारी भवन के स्तम्भ हैं। प्रतिनिध्यात्मक ढग के प्रजातन्त्र में दलो का होना अत्यन्त आवश्यक है और ससदात्मक ढग के प्रजातन्त्र मे तो उनकी आवश्यकता कही अधिक है। वास्तव मे राजनैतिक दल ही प्रजातन्त्र का जीवन रक्त होते है, उनके बिना प्रजातन्त्र सर्वाधिकारवाद (totalitarianism) की ओर बढता है। अतएव भारत मे राजनैतिक दल होने चाहियें—इस बात पर दो मत नहीं, किन्तु दल किस प्रकार के हो तथा सत्तारूढ़ दल और विरोधी दल मे क्या सम्बन्ध हो?—ये बातें अवश्य ही विचारणीय है। हमारे

1 Gettell R. G, *Political Theory*, p 229.

सामने ब्रिटेन और फ्रांस के दो उदाहरण है और वहाँ की दलीय पद्धति की जानकारी से हमें लाभ उठाना चाहिये।

सभी देशों मे राजनीतिक दल महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। आधुनिक प्रजातन्त्रात्मक शासन तो केवल राजनीतिक दलों की सहायता से ही काम कर सकता है। बिना नेतृत्व के जनता की शक्ति प्रभावहीन रहती है; और राजनीतिक दल ही जनता को नेतृत्व प्रदान करते हैं। वे राजनीतिक गतिविधि के लिये प्रेरक शक्ति प्रदान करते है; बहुमत के शासन को प्राप्त करने के लिये दलों का होना आधुनिक प्रजातन्त्र के संचालन के लिए अति आवश्यक है, यदि अवश्यंभावी नही। राजनीतिक दल उन राजनीतिक प्रश्नों की छाट करते हैं, जिन पर की मतदाताओं को अपने मतो का निर्णय करना होता है, वे विचारों के प्रचार का माध्यम होते हैं; एक प्रकार से मार्ग-निर्देशन करते हैं; चालू राजनीतिक प्रश्नों पर विचारो और कार्यों को प्रोत्साहन देते है; राज्य के शासनतन्त्र को निश्चित ध्येय की ओर निर्देशित करते हैं; राजनीतिक प्रशिक्षण का अति महत्वपूर्ण साधन होते हैं; और शासन की विधायी तथा कार्यांग शाखाओं के बीच समन्वय स्थापित करते हैं। लॉवेल के अनुसार, 'किसी भी बड़े राष्ट्र में सम्पूर्ण जनता द्वारा शासन की अवधारणा वास्तव मे एक असगत कल्पना है, [चूंकि ;जहाँ कही मताधिकार व्यापक होता है, दलों का अस्तित्व होना निश्चित है, और नियन्त्रण उस दल के हाथों में होना जरूरी है जिसमें बहुसख्या हो।'[2]

यह सभी जानते है कि ब्रिटेन में दो प्रमुख दल रहे है और फ्रास मे दलो की सख्या साधारणतः १०, १५ तक रही है। यह सभी विचारवान् व्यक्ति स्वीकार करेंगे कि ब्रिटेन में मन्त्रिमण्डल के स्थायित्व और फ्रांस मे मंत्रिमण्डलो के अस्थायीपन का सबसे प्रमुख कारण उन देशों की दलीय पद्धतियाँ है। उन तथा अन्य देशो का अनुभव भी यह बताता है कि जिन देशो में आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली चल रही है वहाँ पर अनेक छोटे-छोटे दल बनते है। इसके विपरीत एक सदस्य वाले निर्वाचन-क्षेत्रों की व्यवस्था के परिणामस्वरूप दलों की सख्या बहुत कम हो जाती है। मौरिस डुवरगर ने इस मत का जोरदार समर्थन किया है कि बहुसख्यक दलीय पद्धति और आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली में बड़ा सम्बन्ध है और उसने उदाहरणों द्वारा यह बताया है कि किस प्रकार आनुपातिक पद्धति के जारी होने पर मृतप्रायः दल भी पुनः जीवित हो उठे और किस प्रकार एक सदस्य वाले

---

2 "The conception of the government by the whole people in any large nation is, of course a chimera, for wherever the suffrage is wide, parties are certain to exist and the control must really be in the hands of the party that comprises a majority or a rough approximation to a majority of the people." Lowell.

See Indian Review, Nov. 1964 p. 423.

महान् दायित्वों को भली प्रकार से समझने और रचनात्मक आलोचक का कार्य ठीक प्रकार से करने पर ही निर्भर करती है। एक दलीय शासन के विपरीत, जो कि कुछ स्थितियों में अधिनायकशाही का ही पर्यायवाची होता है, ससदात्मक शासन सत्तारूढ दल विरोधी पक्ष दोनो पर ही निर्भर करता है।[5] इङ्गलेंड में जिसे कि द्वि-दलीय पद्धति का श्रेष्ठ नमूना समझा जाता है, सत्तारूढ दल विरोधी पक्ष को वैकल्पिक सरकार (*alternative government*) के रूप मे देखता है। संयुक्त राज्य अमरीका में भी न्यूनाधिक द्वि-दलीय पद्धति है। परन्तु जैसा कि पहले बताया जा चुका है फ्रांस में बहु-दलीय पद्धति है और भारत में भी वर्तमान स्थिति बहु-दलीय पद्धति की है।

ससदात्मक पद्धति में कम से कम दो बडे दल तो होने ही चाहियें। फरवरी १६५६ मे नई दिल्ली मे ससदात्मक प्रजातन्त्र पर एक 'सेमिनार' आयोजित किया गया था। उसमे भाग लेने वाले सभी व्यक्तियो ने विरोध की आवश्यकता और विरोधी पक्ष के महत्व पर प्रकाश डाला। उस अवसर पर भारत स्थित ब्रिटेन के हाई कमिश्नर मेलकाम मैक्डोनल्ड ने कहा था : "इस प्रकार के प्रजातन्त्र का निचोड इस बात मे है कि कार्यपालिका की विधान-मण्डल के भीतर और बाहर वर्ष के प्रतिदिन आलोचना की जा सके। ऐसा न होने पर सरकार प्रजातन्त्रात्मक न रहेगी, यह शीघ्र ही मनचाही करने लगेगी और आगे चलकर अत्याचारी शासन का रूप ले लेगी। यह जो बात अपने हित में समझेगी वैसी ही दूसरों के हितो अथवा राष्ट्र हित का ध्यान न करते हुए करने लगेगी। 'जनता का शासन कुछ थोड़े से व्यक्तियों द्वारा कुछ व्यक्तियो के लिये' का सिद्धान्त ले लेगा।" जनता द्वारा निरन्तर आलोचना किए जाने की दशा में ही ससदात्मक मन्त्रिमण्डल उपरोक्त दोष से मुक्त रह सकता है। यदि यह आलोचना स्थायी और प्रभावी बननी है तो इसे संगठित होना आवश्यक है। अतः संगठित विरोधी दल होना चाहिए और उसे सरकार की दृष्टि से मान्यता मिलनी चाहिये। इसके कर्तव्यों में सरकार का विरोध करना, उसकी आलोचना करना, उसके तर्कों मे कमजोर बातों को निकालना और उसके कार्यों में गलत चालो को खोलकर रखना सम्मिलित है। भारत में विरोधी दल के महत्व और उसके सुदृढ व संगठित

---

5 "The opposition ...is a paramount necessity in a democracy. If the responsibility of running the show rests on the party in power, that keeping the government responsible in attitude and responsive to public welfare rests on the opposition. It is on the temper and strength of the opposition, on its conscious realisation of its great responsibility, on its actively playing the role of a constructive critic, that the success of democracy depends. As opposed to the rule of one party, 'which is in certain situations synonymous with dictatorship, parliamentary government leans heavily on both, the party in office and the party out of it."

The Role of opposition. *The Political Science Review, March 1963*, P 114

होने की आवश्यकता को सभी बुद्धिमान व निःस्वार्थी व्यक्ति स्वीकार करते है। उस समय की स्थिति का श्री जयप्रकाश नारायण ने एक वक्तव्य में निम्न प्रकार से विश्लेषण किया :

> मैं अपनी स्थिति संक्षेप में बता दूं। भारत ने भले या बुरे के लिये संसदात्मक पद्धति को चुना है। मैं व्यक्तिगत रूप से इसे प्रजातन्त्र का श्रेष्ठतम रूप नही मानता किन्तु यह बात अलग है। मुख्य बात यह है कि हम अब प्रजातन्त्र के स्वरूप का प्रयोग कर रहे है। प्रत्येक खेल के अपने नियम होते है। टैनिस के नियमो से कोई क्रिकेट नही खेल सकता। संसदात्मक पद्धति के भी अपने नियम है, उनमें सबसे अधिक आधारभूत नियम यह है कि यह पद्धति प्रभावशाली विरोध के बिना नही चल सकती। प्रश्न यह नही कि सत्तारूढ दल या उसका नेता अच्छा है बुरा। वे कितने ही अच्छे हो, इसकी कोई बात नही। इस पद्धति का स्वरूप ही ऐसा है कि यह विरोध के बिना सुचारू रूप में नहीं चल सकती। अच्छे से अच्छे इरादे वाले व्यक्ति भी यदि उन पर सदैव ही विरोध का तेज प्रकाश न पड़ता रहे, शक्ति पाने पर गलत मार्ग पर चले जायेंगे। यह भी प्रश्न नही है कि विरोधी दल सत्तारूढ़ दल से अच्छे हैं या बुरे। वे यथार्थ में बुरे हो सकते है। परन्तु यही बात कि [illegible] का प्रयोग करते है, सत्तारूढ दल को ठीक मार्ग पर रखती है। नीतियों और कार्य-क्रमो की बातों को प्रभावशाली विरोध के [illegible] का अर्थ संसदात्मक पद्धति का सार खोना है।...आज स्थिति यह है कि गत १० वर्षों में कांग्रेस ने सत्ता पर पूर्ण एकाधिकार का उपभोग किया है और विधानमण्डलो मे कांग्रेसी दलों का भारी बहुमत रहा है। कांग्रेस दलों के गुणो की बात अलग रखकर मैं इस परिस्थिति के जारी रहने को भारतीय प्रजातन्त्र और जन कल्याण के लिये गम्भीर खतरों से भरा हुआ समझता हूं। चुनावों में इस स्थिति को बदलना जनता के सामने मुख्य कार्य है।

सन् १९५७ मे हुए दूसरे आम चुनावों के बाद भी (१९५१-५२ के प्रथम चुनावों की भांति) कांग्रेस ने [illegible] अधिक स्थान [illegible] किए। कांग्रेस ने दूसरे चुनाव में [illegible] के स्थान पर [illegible] स्थान जीते और [illegible] पक्ष में डाले गये मतों का प्रतिशत [illegible] के स्थान पर [illegible] रहा। विरोधी [illegible] स्थिति पूर्व जैसी रही, किन्तु [illegible] परिवर्तन [illegible] दल सबसे बड़ा विरोधी दल [illegible] सिवाय केरल और उड़ीसा के [illegible] रहा। आन्ध्र प्रदेश व [illegible] तसीरे आम चुनावों में [illegible]

कांग्रेस का बहुमत जारी रहा। एक लेखक (Myron Weiner) द्वारा कुछ वर्ष पूर्व अभिव्यक्त मत के अनुसार 'भारत को एक-दलीय प्रजातन्त्रात्मक पद्धति (one-party democratic system) वाला देश कहा जा सकता था, जिसमें प्रजातन्त्र एक दलीय अधिनायकतन्त्रों में पाये जाने वाले बल-प्रयोग पर आधारित था। भारत में प्रजातन्त्र तब तक जारी रहेगा जब तक कि विरोधी दलों को, यद्यपि वे कांग्रेस की तुलना में छोटे हैं संगठित होने, आन्दोलन करने और अपने मतों को स्वतन्त्र रूप से अभिव्यक्त करने की स्वतन्त्रता है और जब तक ऐसी दलीय पद्धति का आदर्श कायम रहे जिसमें एक या अधिक विरोधी दल सत्ता धारण कर सकते है।' चौथे आम चुनावों में कांग्रेस की कई राज्यों में बुरी हार हुई और लोकसभा में उसका बहुमत बहुत कम हो गया। इस प्रकार भारत में प्रजातन्त्र की नींव और सुदृढ़ हो गई और विरोधी दलों का महत्व और बढ़ गया।

इससे पूर्व कि विभिन्न राजनैतिक दलों के संगठन व कार्यक्रम का संक्षिप्त विवेचन किया जाय. भारत के राजनैतिक दलों की कुछ विशेषताओं पर ध्यान देना उचित होगा। प्रथम, स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व भारत में सच्चे राजनैतिक दलों का विकास न हो पाया था। स्वतन्त्रता से पूर्व भारत में दलों का संघर्ष वैदेशिक साम्राज्यवादी शासन के विरुद्ध संघर्ष था और उस संघर्ष ने एक चौड़ी छतरी का काम किया, जिसके अन्तर्गत सभी हित एक सामान्य शत्रु के विरुद्ध खड़े हो सके। भारत में, जैसा कि हाल में स्वतन्त्र हुये अन्य देशों में भी हुआ है, राष्ट्रीय आन्दोलन ही बाद में राष्ट्रीय दल में परिवर्तित हो गया। जो भाग भारत में नेशनल कांग्रेस का रहा, वही मुस्लिम लीग का पाकिस्तान में, एन्टी-फासिस्ट पिपल्स लीग का बर्मा में और नेशनल लिबरल फ्रन्ट का अल्जीरिया में रहा।[6] वास्तव में संगठित दलीय पद्धति का विकास स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद ही हुआ। कांग्रेस ने कुछ ही समय पूर्व से संसदात्मक दल के रूप में कार्य किया था और अन्य दलों में कोई भी संगठित व सुदृढ़ न था। उस काल में तो कांग्रेस के झण्डे के नीचे देश में विदेशी शासन का अन्त करने के लिये एक राष्ट्रीय आन्दोलन चला था। उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप कुछ प्रतिगामी समूहों अथवा दलों का विकास अवश्य ही हुआ था। फिर भी यह माना जा सकता है कि सन् १९२० के उपरान्त अनेक वर्षों तक उदारवादी दल (Liberal party) ने संसदात्मक दल के रूप में कार्य किया और कांग्रेस ने भी सन् १९३५ के भारतीय शासन अधिनियम के अन्तर्गत विधानमण्डलों में इसी प्रकार से कार्य किया।

---

6 "...in India as in other recently liberated countries, national movement was later transformed into a national party. The role, the National Congress played here was played by the Muslim League in Pakistan, the Anti-Fascist People's League (A. F. P. L.) in Burma...and the National Liberal Front (N. L. F.) in Algeria."

दूसरे, एक आधार पर राजनैतिक दलों को दो बड़े समूहों मे बाँटा जा सकता है—(१) वे जिनका आधार राजनैतिक व आर्थिक कार्यक्रम है और (२) जो साम्प्रदायिक भावना व मनोवृत्ति से प्रेरित होकर राजनीति में घुस आये है। प्रथम समूह में कांग्रेस, साम्यवादी व समाजवादी दल प्रमुख है और दूसरे समूह में मृतप्राय: मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा आदि है। दूसरे आधार पर भारतीय राजनीतिक दलो को चार समूहों में रखा जा सकता है। एक समूह ने आधारभूत ससदीय धर्म-निरपेक्ष राज्य को, जिसकी भारत के सविधान मे व्यवस्था की गई है, स्वीकार कर लिया है। इस समूह में कांग्रेस, प्रजा समाजवादी तथा संयुक्त समाजवादी व स्वतन्त्र दल सम्मिलित रहेगे। हाल के बने दलो मे भारतीय क्रांति दल (B. K. D.) को भी इसी समूह मे रखना उचित है। दूसरे समूह मे वामपथी दल रखे जा सकते है, जैसे साम्यवादी दल (दोनो अंग), फारवर्ड ब्लॉक। तीसरे समूह मे हिन्दू महासभा, मुस्लिम लीग और भारतीय जनसघ आते हैं, जो साम्प्रदायिकता के आधार पर बने है। चौथे समूह में अन्य दल सम्मिलित किये जायेंगे, जिनकी नीतियाँ और कार्यक्रम स्पष्ट नही है। इनमें हम डी एम. के. (मद्रास) पेजेन्ट्स एण्ड वर्कर्स पार्टी (महाराष्ट्र), झारखड पार्टी (बिहार) को गिन सकते हैं।

तीसरे, भारत में राजनैतिक दल प्रारम्भिक अवस्था में है। देश की काफी बडी जनसख्या किसी भी दल में सम्मिलित नही है, और चुनावो में अभी तक स्वतन्त्र रूप से खड़े होने वाले उम्मीदवारो की सख्या काफी है। अन्य प्रगतिशील देशों की तुलना में हमारे दलों को बहुत कार्य करना है। सम्पूर्ण जनता को शिक्षित करके किसी न किसी दल में लाना उन्ही का कार्य है। यहाँ पर दो अन्य बाते भी उल्लेखनीय है—प्रथम, सरकार को विभिन्न दलो के हिसाबों की जाँच कराने के लिये उपयुक्त वैधानिक व्यवस्था करनी चाहिये। गत आम चुनावों के अवसर पर एक ओर तो कुछ कांग्रेसी नेताओं ने विरोधी दलों पर यह आरोप लगाया कि वे विदेशों से आर्थिक सहायता पा रहे हैं, दूसरी ओर विरोधी दल के नेताओ का यह आरोप था कि कांग्रेस को अनेक पूंजीवादी खूब धन दे रहे हैं अथवा कांग्रेसी नेता उनसे वडी धन राशिया प्राप्त कर रहे है। अतः इस दोप को दूर करने के लिये कानून वनने आवश्यक है। साथ ही, यदि यह सिद्ध हो जाये कि कोई दल किसी विदेशी सत्ता अथवा दल से गुप्त सम्बन्ध रखता है तो ऐसे दल के विरुद्ध उचित और कडी कार्यवाही की जानी चाहिए। चौथी, परन्तु १९६७ के आम चुनावो के पूर्व तक सबसे महत्वपूर्ण विशेषता कांग्रेस का प्रभुत्व (domination) था और विरोधी पक्ष स्वयं मे विभक्त था अर्थात् विरोधी पक्ष अनेक दलो के मेल से बना था। कांग्रेस की प्रधानता का मुख्य कारण उसका ऐतिहासिक महत्व था। उसके साथ ही कांग्रेस ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद मध्यवर्ती मार्ग अपनाया, जिस कारण

से उसमें विभिन्न विचारों के व्यक्ति सम्मिलित हो सके।[7] विभिन्न विचारधाराओं से कांग्रेस ने ब्रिटिश मजदूर दल की भांति अच्छी-अच्छी बातें अपने कार्यक्रम में सम्मिलित की। फलतः इसके सदस्यों की संख्या बहुत बढ़ी, जिसका दूसरा प्रमुख कारण उस का सत्तारूढ दल होना था।

भारत की दलीय पद्धति की अन्तिम विशेषता उसका अस्वस्थ होना है। इसका प्रमुख कारण अभी तक अनेक दलों का अस्तित्व है; सभी पुराने दल जीवित है और समय-समय पर नये दल बनते रहते है। चौथे आम चुनावों के पूर्व तथा बाद में भी अखिल भारतीय आधार पर कई नये दलों का निर्माण हुआ। अनेक दलों के कारण अभी तक द्वि-दलीय पद्धति का विकास नहीं हो पाया है, जो कि संसदीय प्रजातन्त्र की सफलता के लिये एक आवश्यक दशा है।[8] नॉर्मन डी० पामर के मतानुसार भारत के नवनिर्मित प्रजातंत्र में अभी तक स्वस्थ दलीय पद्धति नहीं है। कुछ प्रभावशाली नेताओं ने नई राजनीतिक पद्धति (*new political system*) के विकास का समर्थन किया है, जिसमें राजनीतिक दलों का अस्तित्व न रहेगा। बहुधा गाँधी जी ने इस नई पहुंच का अनुमोदन किया था; आज भारत के दो प्रमुख अराजनीतिक नेता आचार्य विनोबा भावे और श्री जय प्रकाश नारायण हैं, जिनका राजनीति में बड़ा प्रभाव है। उनके अतिरिक्त (एम० एन० रॉय के अनुयायी) रेडीकल ह्युमनिस्ट (Radical Humanist) राजनीतिक दलों का अन्त चाहते हैं। उनके विचार में राजनीतिक दलों का होना अनावश्यक और अवाछनीय है।[9] पक्ष-विहीन प्रजातन्त्र के समर्थक सर्वोदय कार्यकर्ता है; किन्तु उनके लिये भी शासन और राजनीति से पृथक रहना सरल नहीं है।

२. दल और शासन

प्रजातन्त्र में सभी राजनीतिक दलों का उद्देश्य शासन सत्ता को प्राप्त करना होता है। संसदीय प्रजातन्त्र के अंतर्गत विधान मण्डल में एक या सम्मिलित बहुमत प्राप्त दल पदारूढ़ होता है और अन्य दल विरोधी पक्ष (Opposition) बनाते है। इस प्रकार सभी दलों का शासन से कम या अधिक निकट सम्पर्क रहता

7 "...Congress long ago learned that it had to be an Aristotelian party, a party of the middle way if it was to survive and succeed. And the Congress political leader became moulded as a man of the centre normally permitting himself the luxury of only a shade of emphasis on one side or the other."

Morris Jones, W. H., *The Government and Politics of India*, p. 150.

8 "...Contrary to the expectations of the makers of the Constitution, the biparty system has not developed; and it is very difficult for us to decide whether our present system should be called a multi-party system or a single-party system."

Rao, K. V., *Parliamentary Democracy of India*, (1965) p. 401.

9 See Kahin, G. M. (ed.), *Major Governments of Asia*, p. 335.

है। सत्तारूढ़ दल शासन की नीतियों और कानूनों के निर्माण में प्रमुख भाग रखता है और वही उन्हें कार्यान्वित करने के लिये उत्तरदायी होता है। विरोधी दल शासन की नीतियों और उनके कार्यान्वित रूप की विधान-मण्डल में तथा बाहर बहुधा आलोचना करते है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय से अब तक दल और शासन के आपसी सम्बन्धों के बारे में दो प्रश्न महत्वपूर्ण रहे है—प्रथम, दलीय सगठन और ससदीय दल के बीच क्या सम्बन्ध रहे और दूसरा, दलीय सगठन व प्रशासन के बीच सम्बन्ध। आरम्भ से ही संघ तथा राज्यों में दलीय संगठन और संसदीय दल अथवा सरकार के बीच एक प्रकार का विरोध रहा है।

वहाँ यह उल्लेखनीय है कि स्वातन्त्र्य सघर्ष काल मे भी कुछ समय के लिये कांग्रेस ने प्रान्तों में मन्त्रिमण्डल बनाये थे, अतः इस प्रकार की समस्या उत्पन्न हुई थी। सन् १९३७ और १९३९ के बीच मे प्रश्न यह उठा था कि कांग्रेस सरकारें किस के प्रति उत्तरदायी थीं—स्थानीय निर्वाचक मण्डल के प्रति या राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति? यह भ्रमजाल वास्तविक था, क्योंकि स्थिति असाधारण थी। कांग्रेस ससदीय विवाद मे नही वरन् विदेशी शासन के विरुद्ध संघर्ष मे लगी थी। किसी भी राष्ट्रीय सगठन मे प्रान्तीय नेताओ की केन्द्र के प्रति कुछ अधीनता आवश्यक थी। कांग्रेस के चोटी के नेता मंत्रि-पदो से अलग रहे, और उन्होंने मत्रि-पदों पर कार्य करने के लिये दूसरे स्तर के नेताओं को भेजा। कांग्रेस कार्य समिति ने कांग्रेस मंत्रि-मण्डलों के निर्माण की आज्ञा दी थी, और उसी ने बाद मे उनसे त्याग-पत्र देने को कहा और उन्होंने उसके आदेश का पालन किया। उस समय दलीय सगठन के मुख्य कार्यालय का दल के ससदीय समूहों से वह सम्बन्ध रहा जो कि प्रमुख और प्रति-निधि (principal and agent) के बीच होता है। परन्तु स्वतन्त्रता के बाद दल के संगठनात्मक तथा विधायी अगों के बीच विवाद बहुत परिवर्तित दशाओं में खड़े हुए और हो रहे हैं। 'राजनीति अब राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये युद्ध नहीं है; कांग्रेस पर अब केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो (चौथे चुनावों के बाद कई राज्यो मे गैर काग्रेसी मत्रि मण्डल बने) के संचालन का भार है; दल के चोटी के प्रायः सभी नेता केबिनेट मत्री है। आपसी मतभेदो के कारण आचार्य कृपलानी और पुरुषोत्तम दास टन्डन ने कांग्रेस की प्रधानता त्यागी और प्रधान मत्री नेहरू ही कांग्रेस के भी प्रधान रहे या ऐसे व्यक्ति प्रधान बने जिन्हें प्रधान मत्री ने चाहा। ऐसे ही मतभेद राज्यो मे भी उत्पन्न हुये; कई अवसरो पर तो सगठन मे ऊंचे पदो पर आसीन नेता ही मुख्य मत्री बने। वास्तव में, सगठन में ऊंचे पद मत्रि-पद पर पहुँचने का साधन बन गये है।

चूंकि स्वतन्त्रता से पूर्व काग्रेस के पास कुछ देने को नही था, सिवाय कठोर परिश्रम, त्याग और जेल की यातनाओं के, इसलिये स्वार्थी लोग उसमें प्रवेश नही करते थे। परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद कांग्रेस के हाथ में मंत्रि-पद, विधान मण्डल में स्थान, स्थानीय निकायों में पद तथा अन्य लाभ व सम्मान के पद और

स्थान देने की शक्ति आई तो ऐसे अनेक व्यक्ति कांग्रेस में घुस आये जो मुख्यतः अवसरवादी थे और उन्होंने संगठन में घुसकर सच्चे कांग्रेस जनों को बाहर निकाल दिया। जिला तथा प्रदेश कांग्रेस समितियों के हाथों में विभिन्न निर्वाचित पदों के लिये चुनने की शक्ति आई। इन सब बातों के परिणामस्वरूप दलीय संगठन के उच्च अधिकारियों और संसदीय दल के बीच बहुधा मतभेद और विवाद के अवसर आये और आते रहेंगे। अपने उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिये राज्य सरकार किसी ऐसे प्रशासनिक पग को उठाने का निर्णय कर सकती है जो कि राज्य की कांग्रेस समिति को पसन्द न आये; अत: कांग्रेस समिति उसकी सार्वजनिक रूप से आलोचना कर सकती है। उससे सरकार (यदि कांग्रेस की ही है) एक कठिन और भद्दी स्थिति में पड़ सकती है। इस प्रकार के मतभेद संघ व राज्यों में हो चुके हैं और आगे बढ़ सकते हैं।

कांग्रेस या कोई भी जिम्मेदार राजनीतिक दल इस प्रकार की स्थिति को जारी नहीं रहने देना चाहेगा। इस समस्या का कोई हल निकालना पड़ेगा। डा० सम्पूर्णानन्द के मतानुसार इसका एकमात्र उपाय दलीय संगठन (organisational wing) को विघटित करना है; यह कोई उपयोगी कार्य नहीं कर रहा है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि दलीय संगठन कांग्रेस के रचनात्मक कार्यों के संचालन हेतु आवश्यक है। तथ्य यह है कि दलीय संगठन ऐसा कोई कार्य नहीं कर रहा है। विचारधारा के प्रचार के क्षेत्र में भी यह कोई उपयोगी कार्य नहीं कर रहा है। आज तो कांग्रेस विभिन्न मत रखने वाले लोगों का प्लेटफार्म है। ऐसे संगठन के सदस्यों द्वारा किये गये प्रचार से जन साधारण में भ्रम फैलने की अधिक सम्भावना है।

दलीय संगठन और दल की सरकार के बीच सत्ता के वितरण के बारे में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से ही मतभेद अथवा एक प्रकार का संघर्ष चलता रहा। प्रधान मंत्री नेहरू और कांग्रेस प्रधान आचार्य कृपलानी व पुरुषोत्तम दास टन्डन को अपने पदों से त्याग-पत्र देने पड़े। तीन वर्ष तक प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरू स्वयं कांग्रेस के प्रधान रहे। उसके बाद कांग्रेस का प्रधान किसी ऐसे व्यक्ति को बनाया गया जो कुछ समय तक केन्द्रीय मंत्री अथवा राज्य का मुख्य मंत्री रहा तथा जिसका प्रधान मंत्री नेहरू ने विरोध नहीं किया। नेहरू जी के काल में कांग्रेस प्रधान की अपेक्षा प्रधान मंत्री का पद अधिक महत्वपूर्ण और शक्तिशाली रहा। उसके बाद स्थिति में थोड़ा सा परिवर्तन हुआ, फिर भी प्रधान मंत्री का पद अभी तक अधिक शक्तिशाली समझा जाता है।

दलीय संगठन और दल की सरकार के बीच सम्बन्ध का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू कांग्रेस कार्य समिति में मंत्रियों के प्रतिनिधित्व का भी है। प्रथम आम

---

10 Sampurnanand on 'Some Inner Contradictions' in *Aspects of Democratic Goverrment and Politics in India*, p. 68.

चुनावों के बाद अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने जवाहरलाल नेहरू को अपनी कार्य समिति के सदस्यों की छांट करने के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता दी अर्थात् कार्य-समिति के केवल १/३ सदस्य ही मन्त्री हो सकते हैं, इस नियम को हटा दिया गया। फलतः जबकि पुरुषोत्तम दास टन्डन द्वारा छांटी गई पूर्वगामी कार्य-समिति में प्रदेश कांग्रेस समितियों के अध्यक्षों का अधिक प्रतिनिधित्व था, जवाहरलाल नेहरू ने अपनी कार्य-समिति में मंत्रियों की संख्या काफी बढ़ाई। इसे सरकार व दल के बीच अधिक अच्छे समन्वय का अधिक प्रभावी साधन समझा गया; और कई वर्ष तक दल के नीति सम्बन्धी प्रस्तावों व सरकारी नितियों में महत्वपूर्ण मतभेद नहीं पैदा हुये।

जिन वर्षों में जवाहरलाल नेहरू स्वयं कांग्रेस के प्रधान रहे, प्रधानमंत्री ने दलीय कार्यपालिका को सरकार के निर्णयों से सूचित रखा और कार्यसमिति का प्रयोग सरकार के मोटे लक्ष्यों को घोषित करने के साधन रूप में किया। संसदीय दल के नेताओं ने कार्य-समिति पर ऐसा प्राधान्य स्थापित किया और उसके द्वारा साधारण सगठन पर भी कि दलीय संगठन को ऐसी नीति के निर्माण का प्रायः अवसर ही न मिला कि जो सरकार की नीति से स्वतन्त्र होती। नेहरू काल में काग्रेस कार्य-समिति उन निर्णय करने वाले विभिन्न अगों में से एक निकाय हो गई जिनसे कि सरकार निति-निर्धारण कार्य में परामर्श लेती है। अतः 'जब तक वे नेता कांग्रेस कार्य-समिति के सदस्य रहते हैं जो कि केन्द्रीय सरकार के सदस्य है तब तक दोनों के बीच संघर्ष नहीं होगा। परन्तु जैसे ही कार्य-समिति सरकार द्वारा निर्धारित दिशा से भिन्न दिशा में चलने का प्रयत्न करेगी, दोनों के बीच विवाद का पैदा होना अवश्यंभावी है। ऐसी स्थिति में कार्य-समिति का स्थान एक दबाव समूह जैसा रह जायेगा। कोई भी काग्रेस का प्रधान इस बात को नहीं भूल सकता'।[11]

चूकि भारत ने ब्रिटिश नमूने के संसदीय शासन को अंगीकृत किया है, इसलिए कांग्रेस के नेताओं को दलीय-सगठन के कार्य संचालन को उसी नमूने से समायोजित करना पड़ा। स्वतन्त्रता के बाद बने कांग्रेस प्रधान श्री यू० एक० धेबर

---

11 "So long as the men who control the Central Government also dominate the party's executive there is no conflict between the two. But as soon as the Working Committee pulls in a different direction from the one in which the Government is inclined to go, a conflict between the two will become in evitable and the Working Committee will at best reduce itself to a pressure group. No Congress President can be oblivious to this danger and of the strict limits that exist to what he or she can do to change the character of the Working Committee." (The Times of India, Bombay, Feb. 11, 1959)

See 'The Indian National Congress' in *American Review, April, 1967, p. 41.*

ने अपने अनुभव के आधार पर दल के सहयोगियों को याद दिलाया कि 'जहाँ तक सरकार के कार्यों का सम्बन्ध है, हमारे संविधान की विशेषता यह है कि सरकार विधान-मण्डल के प्रति उत्तरदायी है, जिसमे दल के सदस्य तथा अन्य दलों के भी सदस्य है। कांग्रेसजनो को यह समझना चाहिए कि इस कारण मे सरकार पर कुछ सीमायें लगी है।' कहने का तात्पर्य यह है कि चूंकि सरकार संसद से स्वतन्त्र रहकर कार्य नही कर सकती, अतः उसका अपने संगठन के प्रति उत्तरदायित्व भी सीमित है।

मई १९६७ मे कांग्रेस कार्य-समिति की बैठक में इस बात पर चिन्ता प्रकट की गई कि दल के संगठनात्मक व संसदीय अंगों के बीच स्वर-विच्छेद बढ रहा है। कई सदस्यों ने इस बात की आलोचना की कि मन्त्रियो में संगठन का विश्वास प्राप्त करने का प्रयत्न न करने की प्रवृति बढ़ रही है। इस बात पर सभी में एकमत रहा कि दोनों अंगों के बीच पूर्ण सामन्जस्य स्थापित करने के लिए एक उच्च-स्तरीय समिति नियुक्त की जाय। उस समिति (Liaision Committee) में प्रधानमंत्री, कांग्रेस प्रधान, तीन ज्येष्ठ मन्त्री और कार्य-समिति के ऐसे तीन सदस्य सम्मिलित किये गये जो मन्त्री न हो। दोनो अंगों के बीच समन्वय बढाने के उद्देश्य से कार्य-समिति ने एक प्रस्ताव भी पास किया, जिसमें कहा गया कि 'उपयुक्त तन्त्र स्थापित किया जाय जो दल की नीतियो और कार्यक्रमो की क्रियान्विति का मूल्यांकन व पुनरवलोकन करे'। उसी अवसर पर कार्य-समिति ने नीति व कार्यक्रम सम्बन्धी प्रस्ताव भी स्वीकार किये और सरकार द्वारा उन्हें शीघ्र ही कार्यान्वित किये जाने पर बल दिया।

उन्ही दिनो कई राज्यों मे कांग्रेस की पराजय के परिणामस्वरूप इस विषय पर एक गम्भीर प्रवाद चला कि पराजय के लिए कौन अधिक उत्तरदायी रहा—सरकार या संगठन। बहुत लम्बे वाद-विवाद के बाद कांग्रेसजनों ने समझा कि पराजय के लिए दोनो ही समान रूप मे उत्तरदायी थे। इस बात पर भी सहमति उत्पन्न हुई कि दोनो ही अंगों को भविष्य की समस्याओं का मुकाबला करने के लिए समता के आधार पर कार्य करना चाहिए। परन्तु स्व-आलोचना करने वाले कांग्रेस नेताओं ने इस प्रश्न पर विचार नही किया कि क्या सरकार के लिए उन सभी प्रस्तावों को कार्यान्वित करना आवश्यक है जो कि दल समय-समय पर पास करता है। वास्तव मे, कांग्रेस संगठन ऐसे प्रस्ताव पास करता रहता है जिनका उद्देश्य मतदाताओं का अधिक से अधिक समर्थन प्राप्त करना हो, परन्तु उन सभी प्रस्तावो को कार्यान्वित करना सरकार के लिए सरल कार्य नही है।

दल और शासन के आपसी सम्बन्धो का दूसरा महत्वपूर्ण पहलू दल द्वारा प्रशासन (administration) मे अवांछनीय हस्तक्षेप है। गत २० वर्षों मे यह अनुभव किया गया है कि सत्तारूढ दल के विधायकों तथा दलीय संगठन के उच्च अधिकारियों व कार्यकर्ताओं ने प्रशासन के कार्यों मे अनुचित हस्तक्षेप किया है।

जनता के प्रतिनिधि होने के नाते उन्हें सरकारी अधिकारियों के पास जनता की शिकायतों व कठिनाइयों को पहुंचाना उचित है, परन्तु दलीय संगठन या व्यक्तिगत लाभ के लिए सरकारी अधिकारियों पर प्रभाव डालना अनुचित व अवांछनीय है। बहुधा यह देखा गया है कि स्थानीय नेता सरकारी अधिकारियों के स्थानीकरण (posting), तबादले आदि में अनुचित दिलचस्पी लेते है। इन कार्यों को कराने के लिए वे मन्त्रियों तक पहुंच करते है। इसके परिणामस्वरूप अनेक अधिकारी अपने कर्तव्यों के पालन में ढील अनुराग, द्वेष और पक्षपात का प्रयोग करते हैं। इस कारण से प्रशासन कार्य में देरी लगती है और अकुशलता बढ़ती है तथा भ्रष्टाचार में भी वृद्धि होती है।

विरोधी दलों के नेता इन बातों की शिकायतें करते है और प्रभावहीन होने के कारण बुरा भी मानते हैं। सत्तारूढ़ (कांग्रेस) दल में गुटबन्दी के कारण स्थिति और भी बिगड़ जाती है। एक गुट के नेता कुछ अधिकारियों पर प्रभाव रखते है, अतः उनका रहना चाहते हैं। परन्तु दूसरे गुट के नेता उनके तबादले के लिए प्रयत्न व भाग-दौड़ करते हैं तथा उनके विरुद्ध शिकायतें करते हैं व करवाते है। अत आपसी गुटबन्दी का प्रशासन पर भी बुरा प्रभाव पड़ा है। सत्तारूढ़ दल में उच्च-स्तर पर गुटबन्दी के कारण अथवा दलीय संगठन व मन्त्रिमडल में मतभेदों के परिणामस्वरूप तो राज्य का सम्पूर्ण प्रशासनतन्त्र प्रभावित होता है। अधिकारी वर्ग अपने कर्तव्यों के पालन में अनिश्चितता के कारण देरी व ढील करता है। प्रशासन कार्यों में हस्तक्षेप का एक दुष्परिणाम यह रहा है कि बहुधा अधिकारी वर्ग अपनी कमियों को छिपाने के लिए सत्तारूढ़ दल के नेताओं को दोष देता है। अब तो कई राज्यों में पूर्वगामी विरोधी दलों की सरकारें बन गई है। जिन राज्यों में मिली-जुली सरकारें हैं वहां विभिन्न दलों के मन्त्रियों ने अपने-अपने विभाग द्वारा अपने-अपने दल के हित में प्रशासन को प्रभावित किया है। अतएव वर्तमान स्थिति में अच्छा यही होगा कि विभिन्न दल आचरण संहिता स्वीकार करें और प्रशासन कार्यों में अनुचित हस्तक्षेप को बन्द करें।

३. कांग्रेस पार्टी

निःसंदेह यह अभी तक भारत का सबसे अधिक महत्वपूर्ण और सत्ताधारी दल है। इसी के प्रयत्नों से भारत को स्वतन्त्रता मिली और इसने स्वतन्त्रता के पूर्व से ही देश के प्रशासन का भार सम्भाला। देश के संविधान के निर्माण में भी कांग्रेस का प्रमुख भाग रहा। कांग्रेस ने स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष काल में ही अन्य राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक प्रश्नों व समस्याओं पर भी पूरा-पूरा ध्यान दिया। आरम्भ से ही कांग्रेस ने राजनीतिक सुधारों की मांग के साथ-साथ अग्र-लिखित मांगों को बार-बार दोहराया—सैनिक और प्रशासन व्यय में कमी हो, करों का भार कम हो, भारत में भी इन्डियन सिविल सर्विस की परीक्षाएं हो, सरकारी सेवाओं में भारतीयों को अधिक से अधिक उंचे स्थान दिये जाये, प्रवासी

भारतीयो के साथ अन्य देशों में अच्छा व्यवहार हो, भारतीयों को नागरिक अधिकार मिलें, शिक्षा, कृषि व सिंचाई आदि की सुविधायें बढ़ाई जायें, कार्यपालिका और न्यायपालिका को एक दूसरे से पृथक किया जाय, स्वदेशी को प्रोत्साहन दिया जाय, इत्यादि। सन् १९०६ में कांग्रेस ने भारत के लिए स्वशासन के ध्येय को स्वीकार किया, परन्तु १९०७ में सूरत की फूट के फलस्वरूप कांग्रेस पर उदारवादी नेताओं (Moderates) का ही प्रभुत्व कायम रहा। सन् १९१६ में उग्रवादी नेता (Extremists) फिर कांग्रेस मे सम्मिलित हो गये और उस वर्ष कांग्रेस व लीग मे भावी सुधारों के प्रश्न पर एक समझौता हुआ, जिसके परिणामस्वरूप कांग्रेस-लीग सुधार योजना स्वीकृत हुई।

सन् १९१९ तक कांग्रेस ने केवल सवैंधानिक उपायों का ही प्रयोग किया और वह केवल शिक्षित वर्ग की ही संस्था बनी रही, किन्तु सन् १९२० से कांग्रेस का नेतृत्व महात्मा गाधी के हाथो मे आया और उन्होने कांग्रेस को सभी वर्गों तथा नगरो व ग्रामों के सगठन मे बदल दिया। उनके नेतृत्व में कांग्रेस ने १९२०–२१ में असहयोग आन्दोलन, १९३०–३४ का सविनय अवज्ञा आन्दोलन, सन् १९४० का व्यक्तिगत सत्याग्रह और १९४२ का भारत छोड़ो आन्दोलन चलाये। सन् १९३० में कांग्रेस ने पूर्ण स्वाधीनता के ध्येय को अपनाया और शान्तिपूर्ण व उचित उपायो द्वारा ही देश की स्वतन्त्रता प्राप्त की। सन् १९२३ से १९२९ तक कांग्रेसी नेताओं ने स्वराज्य दल के नाम से कौंसिलों में जाकर द्वैध शासन प्रणाली व केन्द्रीय शासन को असफल बनाने के उद्देश्य से अड़ंगा नीति को अपनाया। सन् १९३७ से १९३९ तक और सन् १९४७ से स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक अधिकतर प्रान्तो का शासन कांग्रेस दलों के द्वारा ही सचालित हुआ। स्वातन्त्र्य संघर्ष के साथ-साथ कांग्रेस ने देश के सभी वर्गों व सम्प्रदायों मे एकता बनाये रखने, खादी और ग्रामोद्योगो को प्रोत्साहन देने, दलित वर्गो (हरिजनों), ग्रामों व स्त्रियो के उत्थान के लिये अनेक सराहनीय प्रयत्न किये और शिक्षा प्रसार आदि अनेक रचनात्मक कार्यों मे कांग्रेस संगठन, नेताओ व कार्य-कर्त्ताओ ने महत्वपूर्ण सहयोग दिया।

उस काल मे कांग्रेस की कुछ प्रमुख विशेषतायें ये थी—प्रथम, कांग्रेस सभी वर्गों, सम्प्रदायों और हितों का प्रतिनिधित्व करती थी। इसमे सभी धर्मो, जातियों व सम्प्रदायो के नेता व कार्यकर्त्ता आरम्भ से ही भाग लेते रहे और कांग्रेस ने अपनी इस विशेषता को कभी भी नही त्यागा। कांग्रेस सभी का प्रतिनिधित्व करती थी, इस बात पर गाधी जी ने गोलमेज सम्मेलन मे विशेष बल देते हुये कहा था : "सभा में अन्य सभी दल वर्ग-हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। केवल कांग्रेस ही सम्पूर्ण भारत और सभी हितो का प्रतिनिधित्व करने का दावा करती है। यह कोई साम्प्रदायिक सगठन नही है। यह साम्प्रदायिकता की प्रत्येक रूप मे दृढ़ शत्रु है। कांग्रेस की यह विशेषता अभी तक जारी है।" महात्मा गांधी ने मुसलमानों की

रक्षा के हेतु अपना जीवन दिया और कांग्रेस ने भारत में एक धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना की है।

कांग्रेस की दूसरी विशेषता यह थी कि इसमें सभी विचारों के व्यक्ति सम्मिलित हो सके। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के ध्येय को समक्ष रखकर कांग्रेस ने भिन्न-भिन्न राजनैतिक आदर्शों व सिद्धान्तों में विश्वास रखने वाले व्यक्तियों को प्रविष्ट किया। राष्ट्रीय आन्दोलन में कांग्रेस को सभी वर्गों का सहयोग मिला। वास्तव में, कांग्रेस का रूप एक दल जैसा नहीं वरन् संयुक्त मोर्चे (united front) जैसा था, यह एक राष्ट्रीय आन्दोलन था और इसके नेता राष्ट्रीय नेता थे। कुछ मात्रा में कांग्रेस राष्ट्रीय संसद् का कार्य किया करती थी, जहाँ पर कि विभिन्न मतों और हितों के प्रतिनिधि एकत्रित होकर सामान्य रूप से स्वीकार्य नीति का निर्धारण करते हैं।[12] किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त कांग्रेस का रूप एक राजनैतिक दल जैसा ही हो गया और अनेक पुराने नेता व कार्यकर्ता राजनैतिक व आर्थिक प्रश्नों के ऊपर मतभेदों के कारण कांग्रेस से अलग हो गये।

कांग्रेस की तीसरी विशेषता इसका प्रजातन्त्रात्मक संगठन है। सन् १९२० से लेकर १९४८ तक गांधी जी कांग्रेस के सर्वमान्य नेता व प्रेरक रहे, यद्यपि सन् १९३४ से उन्होंने कांग्रेस की सदस्यता भी त्याग दी थी। इसी कारण कुछ कांग्रेस विरोधी पहले गांधी जी को एक अधिनायक कहते थे और आगे कुछ आलोचकों ने जवाहरलाल नेहरू को ऐसा ही समझा, किन्तु यह आरोप सर्वथा निराधार है। कांग्रेस का संगठन विदेशों के अन्य प्रजातन्त्रात्मक दलों जैसा ही है।

इसकी चौथी विशेषता यह थी कि यह अपने ध्येय व कार्य करने के ढंगों में अन्य देशों के संसदात्मक दलों से भिन्न थी। जबकि स्वतन्त्र देश में दलों का ध्येय शासनतन्त्र पर अधिकार पाना और उसे चलाना होता है, कांग्रेस विदेशी सत्ता को निकालने का दृढ़ संकल्प किये हुये थी। अन्य सभी बातें उस ध्येय के नीचे रहीं। इसी कारण इसने बहुधा एक संसदात्मक दल के संवैधानिक तरीकों का प्रयोग नहीं किया। इस दृष्टि से यह एक क्रांतिकारी संगठन था, किन्तु जो शान्तिपूर्ण व उचित उपायों के पालन से बंधा था। कांग्रेस ने सत्याग्रह और अहिंसापूर्ण उपायों द्वारा ही देश की स्वतन्त्रता पाकर एक अनोखा उदाहरण विश्व इतिहास को दिया। अन्त में, कांग्रेस के नेताओं और कार्यकर्त्ताओं ने त्याग और सेवा का एक सराहनीय उदाहरण देश की जनता के सामने रखा। उनकी निःस्वार्थ भावना, ईमानदारी और सादगी ने उन्हें अत्यन्त ही लोकप्रिय बनाया। वास्तव में गांधी जी तथा अन्य नेताओं के व्यक्तिगत जीवन ने देश की असंख्य जनता पर गहरा प्रभाव डाला।

12 "Congress...was used to performing in some degree the work of a national parliament where clashing view-points and concerns meet to determine a generally acceptable line of policy."

Morris-Jones, W. H., op. cit., p. 33.

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त कांग्रेस के ध्येय, तरीकों और संगठन में महत्वपूर्ण परिवर्तन आये जिनका उल्लेख करना आवश्यक है। कांग्रेस ने सन् १९४८ में सहकारी कॉमनवेल्थ (Co-operative Commonwealth) का ध्येय अपनाया, जिसके आधार अवसर और समता के अधिकार माने गये। इसके अन्य उद्देश्य विश्व-शान्ति, भ्रातृत्व और धर्म-निरपेक्षता को सुदृढ़ बनाना कहे जा सकते हैं। सन् १९५५ के आरम्भ में कांग्रेस ने अवदि अधिवेशन पर अति महत्वपूर्ण पग उठाया जबकि इसने अपना ध्येय भारत में समाजवादी ढंग के समाज (Socialist Pattern of Society) की स्थापना को बनाया और तभी से कांग्रेसी नेता इस ध्येय को कार्यरूप मे परिणित करने पर बल दे रहे हैं और उन्होंने इस दिशा में प्रशंसनीय पग उठाये है। अब कांग्रेस का ध्येय लोकतान्त्रिक समाजवाद (Democratic Socialism) की स्थापना ही है। जहाँ तक कांग्रेस के तरीकों का सम्बन्ध है वे शान्तिपूर्ण और सवैधानिक हैं। अब यह सत्याग्रह और हड़तालों आदि के प्रयोग को अनुचित समझती है। प्रजातन्त्र में जनता का शासन होता है। उसे सवैधानिक तरीकों से बदलने का सभी दलो को अधिकार है। परन्तु अब कुछ कांग्रेस विरोधी दल या आलोचक कभी-कभी इन तरीकों का वर्तमान की परिवर्तित परिस्थितियो में भी प्रयोग कर बैठते हैं और कहते है कि वे तो कांग्रेस द्वारा सिखाये तरीको पर ही चल रहे है।

स्वतन्त्रता से पूर्व कांग्रेस का मुख्य ध्येय स्वतन्त्रता प्राप्त करना था; परन्तु गाधी जी की दृष्टि मे स्वतन्त्रता की प्राप्ति नैतिक पुनर्जीवन और राष्ट्रीय निर्माण के लिये आवश्यक दशा थी। राजनीतिक 'स्वतन्त्रता के लिये यह काफी था कि कार्यकर्त्ताओ का एक महत्वपूर्ण समूह नैतिक दृष्टि से अनुशासित हो; परन्तु ऐसी स्थिति में वास्तविक स्वराज के प्रसार का कार्य शेष रहता। इस कार्य के लिये साधारण रूप में समझे जाने वाला राजनीतिक दल उपयुक्त न होता। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद यह अपना ध्यान अपने नैतिक और सामाजिक कार्यों पर केन्द्रित कर सकती थी। गाधी जी ने सुझाव दिया था कि कांग्रेस को अपना राजनीतिक चोला त्याग कर लोक-सेवक संघ (Lok Sewak Sangh)—जनता की सेवा के लिये सघ—मे पुनः प्रकट होना चाहिये। इस रूप में कांग्रेस उन रचनात्मक कार्यों को जारी रख सकती थी, जिन्हें कि इसने आरम्भ किया था।

स्वतन्त्रता की प्राप्ति पर कांग्रेस के सामने यह प्रश्न आया कि क्या वह (राष्ट्रीय मोर्चे या ससद के स्थान पर) एक दल बने। गांधी जी ने एक ऐसा संगठन बनाया था जो कि एक केवल-मात्र राजनीतिक दल से भिन्न था, केवल इसलिये नही कि वह राष्ट्रीय हितो के प्रतिनिधित्व का दावा करती थी, वरन् इसलिये भी कि कांग्रेस रचनात्मक कार्य पर विशेष बल देती आई थी। यह राष्ट्रीय सघर्ष का अ-राजनीतिक भाग था, जिसमें स्वदेशी पर सबसे अधिक बल दिया जाता था। उन्होंने सन् १९४८ मे अपने बलिदान से पूर्व यह प्रस्ताव रखा कि

कांग्रेस को केवल रचनात्मक कार्य करना चाहिये और राजनीति दूसरो के लिये छोड़ देनी चाहिये। परन्तु गाधी जी का परामर्श नही माना गया। अगस्त १९४७ में ही शकररावदेव ने कांग्रेस के जनरल सेक्रेटरी के रूप में कहा था कि आने वाले कठिन समय में भारत को एकता और स्थायी शासन की आवश्यकता होगी, जिसे एक बडा राजनीतिक दल (अर्थात् कांग्रेस) ही पूरा कर सकेगा। अतः स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद कांग्रेस ने काम करना बन्द नही किया, जैसी कि बहुत से व्यक्ति आशा रखते थे, उसने अपना कार्य तीन क्षेत्रो मे जारी रखा—राजनीतिक दल, शासन और सामाजिक कल्याण सघ के रूप मे। कांग्रेस कार्य-समिति ने ऐसी सस्था को विघटित करने की बात पसन्द नही की, क्योकि वही एकमात्र ऐसा निकाय था जो कि देश के प्रशासन को चला सकता था और स्वतन्त्रता के बाद आने वाली समस्याओ को हल कर सकता था।[13]

कांग्रेस का संगठन पूर्ववत प्रजातान्त्रिक है जिसकी सक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है—सबसे ऊपर २० सदस्यो की कार्य-समिति है जिसके सदस्यो को कांग्रेस का प्रधान अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के सदस्यों में से छांटता है। अखिल भारतीय कांग्रेस समिति में विभिन्न प्रदेश कांग्रेस समितियो द्वारा निर्वाचित सदस्य होते है, जिनकी कुल संख्या ३०० के लगभग है। कार्यसमिति की बैठकें वर्ष मे कई बार होती है, किन्तु अ० भा० का० स० की बैठकें वर्ष में २ या ३ बार होती है, जिसमे कार्य-समिति के महत्वपूर्ण निर्णयो या कांग्रेस की नीति व कार्यक्रम सम्बन्धी महत्वपूर्ण प्रश्नो पर विचार किया जाता है। साधारणत. कांग्रेस का प्रतिवर्ष एक बडा पूर्ण शक्ति प्राप्त अधिवेशन (plenaey session) होता है। इस अधिवेशन में सभी प्रदेश कांग्रेस समितियो के सब सदस्य प्रतिनिधि रूप में सम्मिलित होते है। पहले इनका चुनाव प्रति वर्ष हुआ करता था, किन्तु अब इन प्रतिनिधियों अर्थात् प्रदेश कांग्रेस समितियो के सदस्यो, अ० भा० कां० समिति, कार्य समिति व प्रधान का निर्वाचन दो वर्ष की अवधि के लिये होने लगा है। कांग्रेस प्रधान का चुनाव ये ही प्रतिनिधि करते है। कुछ समय पूर्व तक प्रदेश कांग्रेस समितियो का गठन पुराने राज्यो या भाषायी प्रदेशो के आधार पर था, किन्तु अब पुनर्गठित राज्यो के आधार पर हो गया है।

---

13 'Gandhi, its great mentor, argued that it had outlived its usefulness 'in its present shape and form, i e, as a propaganda vehicle and parliamentary machine'; he recommended that it be disbanded as a political organization and converted into a Lok Sevak Sangh, a social service organization. But, as N. V. Raj Kumar explains 'Unable to contemplate the idea of dissolving an institution which was the only organizational body which could run the administration of the country and tackle mani-fold problems that political freedom brought in its wake, the Working Committee with great regret dissented from Gandhi ji's basic approach "

Kahin, G. M. (ed.), *op. cit.*, pp 337–38.

केन्द्रीय संगठन के नमूने पर प्रत्येक प्रदेश काग्रेस समिति का प्रधान और कार्य समिति होती है। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय काग्रेस की विशिष्ट विषयों से सम्बन्धित जन-समितियाँ भी हैं जैसे संसदीय बोर्ड (Parliamentary Board), रचनात्मक कार्यसमिति, इत्यादि। प्रान्तीय काग्रेस समितियों के सदस्यों के निर्वाचन मे काग्रेस के सभी प्रारम्भिक सदस्य (primary members) भाग लेते हैं। प्रारम्भिक सदस्य अपने ग्राम या नगर की काग्रेस समिति के सदस्यों का भी चुनाव करते है। ये सदस्य अपने प्रधान चुनते हैं और प्रधान कार्य समितियों के सदस्यों को नामजद करते हैं। ग्रामों के समूहों मे मण्डल काग्रेस समितियाँ है और प्रत्येक जिले मे जिला काग्रेस समिति है। मण्डल व जिला कांग्रेस समितियों में सम्बन्धित क्षेत्रों की ग्राम या नगर समितियों के प्रतिनिधि सदस्य होते हैं। सभी प्रत्यक्ष चुनावों मे प्रारम्भिक सदस्यों को मतदान का अधिकार है, किन्तु निर्वाचित पदों पर चुने जाने का अधिकार केवल कर्मठ (Active) सदस्यों को ही प्राप्त है। कर्मठ सदस्य बनने के लिये खादी पहनना, हिन्दु-मुस्लिम एकता मे विश्वास, छूतछात को न मानना आदि सैद्धान्तिक बातों के साथ-साथ किसी भी प्रकार के स्वीकृत रचनात्मक कार्य का नियमित रूप से करना आवश्यक है। अधिकतर काग्रेस समितियाँ महिलाओं और नवयुवकों में कार्य करने के लिये महिला समितियाँ और सेवादल आदि का संगठन भी चलाती है।

स्वतन्त्रता के उपरान्त काग्रेस कार्यकर्ताओं और सदस्यों में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। काग्रेस को सत्ता प्राप्त हुई और सत्ता के साथ आने वाले दोषों ने अनेक काग्रेसियों को उनके उच्च आदर्शों से गिरा दिया। अधिकांश काग्रेसी रचनात्मक कार्यक्रम, सादगी, त्याग और सेवा की बातो को भूल गये अथवा ये बाते केवल उनके भाषणो का ही विषय रह गई और उनको क्रियात्मक रूप न दिया गया। औसत दर्जे के काग्रेसी ने अपने त्याग का बदला लाइसेन्स व परमिट आदि के रूप में प्राप्त करना चाहा। इन कारणो से सर्वसाधारण जनता द्वारा काग्रेस की आलोचना की गई और काग्रेस का स्थान जनता की दृष्टि में काफी गिरा। इसका एक कारण तो सत्ता व पद लोलुपता रहा। दूसरा मुख्य कारण यह रहा कि अनेक अच्छे कार्यकर्ताओं ने काग्रेस को छोड़ा, जैसे समाजवादी दल और आचार्य कृपलानी के नेतृत्व में बना डैमोक्रेटिक फ्रन्ट जो आगे कृषक मजदूर प्रजापार्टी के रूप में सगठित हुआ और अनेक रचनात्मक कार्यकर्ता काग्रेस सगठन से अलग हो गये। साथ ही साथ अनेक अवसरवादी, स्वार्थी और पुराने लीगी आदि कांग्रेस सगठन में घुस गये, जिन्होने काग्रेस में गुटबन्दी को बढ़ाया। स्थिति काफी बिगड़ गई, तथा काग्रेस के चोटी के नेता चिन्तित हुए। काग्रेस ने इन गन्दी बातो को रोकने के सम्बन्ध में प्रस्ताव भी पास किये जिनका कोई विशेष फल न निकला।

काग्रेस के सामने दो महत्वपूर्ण प्रश्न और आ गये—प्रथम, काग्रेस सगठन व मन्त्रिमण्डलों का क्या सम्बन्ध रहे? आपसी मतभेदो के कारण आचार्य कृपलानी

ग्रौर पुरुषोत्तमदास टण्डन ने कांग्रेस की प्रधानता त्यागी, जिसे स्वयं जवाहरलाल ने न चाहते हुये भी कई वर्ष तक सम्भाला । ऐसे ही मतभेद राज्यों में भी उत्पन्न हुए । यद्यपि इस विषय में कोई सन्तोषजनक हल नहीं निकला है फिर भी ये मतभेद पूर्व स्थिति से कम ही है, जैसा कि अध्याय के दूसरे संगठन में पहले ही विवेचन किया जा चुका है । दूसरे, प्रशासनिक अधिकारियों के कार्यों में कांग्रेस के दलीय अधिकारियों का हस्तक्षेप अनुचित और अवांछनीय ही नहीं वरन् जनता की दृष्टि में कांग्रेस संगठन तथा प्रशासन दोनों का ही मान गिराने वाला है । इसको रोकने के लिए प्रयत्न किये गये हैं किन्तु वे अभी तक पूर्णतया सफल नहीं हो सके हैं ।

ऐसी परिस्थितियों में सन् १९५१–५२ में संसद और विधानमण्डलों के लिये आम चुनाव हुये और कमियों के रहते हुये भी कांग्रेस को अपूर्व सफलता मिली, जिसका श्रेय बहुत सीमा तक कांग्रेस के पुराने कार्यों और जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व को दिया गया । कांग्रेस सरकारों ने कल्याणकारी राज्य की स्थापना के उद्देश्य को सामने रखकर प्रथम पंचवर्षीय योजना को सफल बनाने में काफी सफलता पाई, किन्तु यह मानना पड़ेगा कि सरकार को जनता का उत्साहपूर्ण सहयोग प्राप्त नहीं हुआ । बात यह है कि कांग्रेसियों ने जन सम्पर्क-कार्य में ढील डाल दी, उनमें से अधिकांश तो केवल कांग्रेस समितियों के चुनावों व पदों के चक्कर में ही फंसे रहे और व्यक्तिगत जीत अथवा गुट की जीत के लिये उन्होंने अनेक प्रकार के अनैतिक गठबन्धन भी किये । इसलिये १९५६ के कांग्रेस अधिवेशन पर श्री ढेबर ने कहा था कि हमें अपने कथन और कार्यों के बीच भेद को दूर करना है और हमें संविधान में वर्णित सिद्धान्तों व जीवन मूल्यों को ठीक से समझना है ।[14] परन्तु इसके लिये दो कठिन बातें आवश्यक हैं—(१) जो लोग सेवा के अवसर से शक्ति पाने को अधिक महत्व देते हैं उन्हें बाहर निकाला जाये, और (२) कांग्रेस को पिछड़ेपन, निर्धनता और अज्ञानता के विरुद्ध देश में चल रहे संघर्ष का नेतृत्व करना होगा । यह स्वीकार किया जा सकता है कि कांग्रेस के उच्च नेता समाज को सेवा और त्याग के मार्ग पर ले जाना चाहते हैं और उन्हें अपने प्रयत्नों में थोड़ी सी सफलता मिली है परन्तु अभी इस दिशा में चलने के लिये बहुत काम करना शेष है । कांग्रेस ने समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के ध्येय को अपनाया है और दूसरी पंचवर्षीय योजना चल रही है । इन उच्च उद्देश्यों की पूर्ति के लिये संगठन पर भारी उत्तरदायित्व है । पहले तीन आम चुनावों में कांग्रेस को जो सफलता मिली उसका एक बड़ा कारण कांग्रेस सरकारों द्वारा किये गये

---

14 "We have to cover the distance between the professed word and the practised action. We have to be clear about the principles and the values that lie enshrined in our sacred Constitution beyond all measure of doubt and suspicion."

Address to Indore Congress.

अच्छे कार्य व जवाहरलाल नेहरू और अन्य नेताओं पर जनता का विश्वास था। उसका दूसरा बड़ा कारण विरोधी दलों के आपसी झगड़े और विरोधी पक्ष की अपनी क्षीणता थी। यहाँ पर हम कांग्रेस के उद्देश्यों और कार्यक्रम का संक्षिप्त वर्णन देना उचित समझते हैं :

(१) कृषि उत्पादन में वृद्धि—सिंचाई की सुविधायें बढ़ाना, अच्छे बीज और खाद उपलब्ध करना, जमींदारी और जागीरदारी का उन्मूलन चकबन्दी, सहकारी कृषि और भूमि के स्वामित्व पर अधिकतम सीमा (Ceiling) लगाना।

(२) सामाजिक और श्रमिक कल्याण—श्रमिकों के लिये अधिक न्यायपूर्ण वेतन, बीमे, मकान, कारखानों व खानों में कार्य की अधिक अच्छी दशायें प्राप्त कराना, शिक्षा सुविधायें विस्तृत करना, सभी बालकों के लिये बेसिक शिक्षा तथा उच्च टैकनीकल और वैज्ञानिक शिक्षा की सुविधायें बढ़ाना, सार्वजनिक स्वास्थ्य और चिकित्सा सेवाओं में अत्यधिक वृद्धि, पिछड़े हुये वर्गों का उत्थान, बेकारी को दूर करना और सभी के लिये सामाजिक व भौतिक सुरक्षा में वृद्धि करना।

(३) उद्योगों का विकास—बड़े और छोटे पैमाने के तथा कुटीर उद्योगों का विकास, आधारभूत उद्योगो का स्वामित्व राज्य के हाथो मे रहे और निजी पूँजीपतियो को भी उद्योगों के विकास में पूर्ण योग देने का अवसर मिले, जहाँ तक हो सके सहकारी उद्योगों को प्रोत्साहित किया जाये, निजी उद्योगों द्वारा उत्पत्ति, वितरण, मूल्य नीति का निर्धारण आदि बातों में राज्य का नियन्त्रण रहे, देश की अर्थव्यवस्था में सादगी।

(४) साम्प्रदायिकता और जातीयता का प्रत्येक रूप में अन्त—देश की सम्पूर्ण जनता में समान भावनाओं के आधार पर एकता (emotional integration) की प्राप्ति और पृथकवाद व सकुचितता की भावनाओं को मिटाना, राज्यो का पुनर्गठन इसी उद्देश्य को सामने रखकर किया गया है और कांग्रेस ने साम्प्रदायिक दलों से गठबन्धन करके चुनाव जीतने की नीति को अनुचित और अवांछनीय बताया है।

१९६७ के चुनाव घोषणा-पत्र (Election manifesto) में निम्नलिखित बातें सम्मिलित की गई :

(१) खुली और प्रजातन्त्रात्मक प्रक्रिया द्वारा उन सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों को लाना जिनकी हमारे समाज को आवश्यकता है; प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया के स्वतन्त्र प्रयोग की माग है कि राज्य देश की अर्थव्यवस्था के सचालन मे हस्तक्षेप करे।

(२) देश के सामने प्रजातंत्रात्मक समाजवादी समाज का ध्येय रखना।

(३) स्व-निर्भर और प्रगतिशील अर्थ-व्यवस्था के लिये अपने प्रयत्नों को तीव्र बनाना।

(४) आर्थिक और औद्योगिक विकास के नये संदर्भ में स्वदेशी की भावना को सुदृढ़ बनाना।

(५) समाज के समाजवादी परिवर्तन के लिये एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में सार्वजनिक क्षेत्र (public sector) को प्रोत्साहन देना।

(६) देश में सहकारी आन्दोलन को प्रोत्साहन देना।

(७) उपभोग की आवश्यक वस्तुओं के मूल्यों में स्थिरता लाना।

(८) शहरी भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व पर प्रतिबन्ध लगाना।

(९) ६ से ११ वर्ष तक के बालकों के लिये सर्वव्यापी और नि:शुल्क शिक्षा की व्यवस्था करना।

(१०) राष्ट्र-निर्माणकारी कार्यों में रोजगार के अवसरों की रचना करके बेरोजगारी का अन्त करना।

(११) भूमि-नीतियों को कार्यान्वित करना।

(१२) खेतीहर श्रमिकों के लिये निम्नतम मजदूरी सम्बन्धी कानूनों को कार्यान्वित करना।

(१३) कृषि पैदावार में उन्नति की गति को कायम रखना तथा उसमें वृद्धि करना, सन् १९७०–७१ के लिये १२ करोड़ टन अनाज की पैदावार का लक्ष्य सामने रखना।

(१४) प्रत्येक व्यक्ति की आधारभूत आवश्यकताओं की व्यवस्था करना और जितना शीघ्र हो सके खाने, कपड़े, मकान, शिक्षा और स्वास्थ्य में एक निम्नतम सीमा की गारन्टी देना।

(१५) नशाबन्दी के बारे में अपनी नीति को कायम रखना तथा उसे उत्साहित करना।

(१६) परिवार नियोजन और सन्तति-निग्रह पर अधिक ध्यान देना।

(१७) प्रशासन को अधिक कुशल बनाना ; इस उद्देश्य से सरकार ने प्रशासन सुधार आयोग (Administrative Reforms Commission) पहले से ही नियुक्त किया है।

(१८) सभी देशों के साथ मित्रता और शान्ति के लिये कार्य करना, सैनिक गुटों से गठबन्धन न करना, पूर्ण नि:शस्त्रीकरण के ध्येय का अनुसरण करना और भारत की अखण्डता को बनाये रखना।

उपरोक्त से स्पष्ट है कि कांग्रेस ने प्रत्येक नागरिक के लिये यथाशीघ्र खाने, कपड़े, मकान आदि की आधारभूत आवश्यकताओ को सुनिश्चित बनाने के लिये राष्ट्रीय न्यूनतम का उल्लेख किया है ; यह बात दूसरी है कि उसकी प्राप्ति में कितना समय लगेगा। अन्य दलों के मतदाताओं ने कांग्रेस के घोषणापत्र में यह अवश्य देखना चाहा कि कांग्रेस पूर्वगामी तीन आम चुनावों के अवसरो पर निकाले गये घोषणापत्रो में लिये गये अपूर्ण वायदो के लिये क्या स्पष्टीकरण देती है। काग्रेस कृषि के क्षेत्र में क्रान्ति की बात कहती है; परन्तु जिस प्रकार राज्य सरकारो ने गत दो दशियों में आधारभूत भूमि सुधारों की गति रखी है उससे केवल काग्रेस की इच्छा का पता लगता है, उसके सकल्प का नही। देश में तीन बड़ी पंच-वर्षीय योजनायें पूरी हो चुकी हैं, परन्तु उन्हें पूर्ण अथवा उचित प्रकार से कार्यान्वित नही किया गया। प्रशासनिक अकुशलता के बारे मे काग्रेस को क्या करना है ? जो कि उच्च अधिकारी तंत्र और सरकार में उच्च राजनीतिक नेताओ के कारण है। नि.सदेह काग्रेस सरकार ने कई उद्यम सार्वजनिक क्षेत्र में कायम किये हैं, परन्तु उनमें से अधिकतर के सचालन की रिपोर्टों से पता लगता है कि वे सफल नही हुये हैं। घोषणापत्र मे **प्रजातन्त्रात्मक समाजवाद** (democratic socialism) के ध्येय की बात कही गई है, परन्तु कांग्रेस शासन के अतीत से स्पष्ट है कि उग्रगामी आर्थिक और सामाजिक सुधार अधिकाशतः कागज पर ही लिखे रहे हैं, क्योंकि दल के सगठन ने उनके लाने के लिये आवश्यक जन-समर्थन और लोक-शक्ति के निर्माण के लिये प्रयत्न नही किया है। घोषणापत्र में यह सकेत नही मिलता कि काग्रेस इस कमी को किस प्रकार पूरा करेगी। अतएव जन-साधारण को ऐसा प्रतीत हुआ कि यदि काग्रेस को फिर से सत्ता प्राप्त हुई तो यह कुछ मात्रा में राजनीतिक स्थायित्व अवश्य ही प्रदान कर सकेगी, परन्तु देश के पिछड़े हुये समाज का आर्थिक परिवर्तन न कर पायेगी।

४. भारत का साम्यवादी दल

संक्षिप्त परिचय—इस दल की स्थापना सन् १६४२ मे हुई थी, किन्तु सन् १६६४ तक अधिकाश समय के लिये वह अवैध रहने के कारण अपने कार्यों को छुपकर करता रहा। इसके सविधान का प्रारूप सन् १६३१ में बना था, जिसे सन् १६४३ मे ही दलीय काग्रेस के प्रथम खुले अधिवेशन पर स्वीकार किया गया। 'सन् १६२८ से १६३५ तक, स्टॅलिन के कहने पर, साम्यवादी दल ने गांधी, नेहरू और कांग्रेस दल पर आक्रमण किया, जिसके फलस्वरूप यह दल सबसे महान् राष्ट्रीय शक्ति से पृथक रहा और इसने वामपथी तत्वों के मेल की सम्भावनाओ को नष्ट किया। सन् १६४२ मे, जबकि साथी देशों और सोवियत सघ ने धुरी शक्तियों (Axis Powers) के विरुद्ध एकता स्थापित की तो भारत के साम्यवादी दल ने ब्रिटिश युद्ध प्रयत्नों का समर्थन किया, जिसके परिणामस्वरूप उसकी सम्पूर्ण राष्ट्रवादी आन्दोलन ने निन्दा की। इसके आगे, दल ने ब्रिटिश शासकों द्वारा उन सैनिक

अधिकारियो का कोर्ट-मार्शल किये जाने के प्रयत्नो का भी समर्थन किया जिन्होने जापानियों की सहायता की थी। जब फरवरी १९४४ में ब्रिटिश शासकों के विरुद्ध समुद्री बेड़े के अधिकारियो ने विद्रोह किया तो भी साम्यवादी दल उससे अलग रहा। इसके आगे, सोवियत नीति के अनुसार स्वतन्त्रता सम्बन्धी समझौते के गम्भीर काल मे साम्यवादी दल ने अपने को भारतीय स्वतन्त्रता की प्रमुख समस्याओ से अलग रखा, एक ओर अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नो पर ध्यान देकर और दूसरी ओर स्थानीय प्रश्नो पर ध्यान लगाकर। सन् १९४८ मे कलकत्ता मे फरवरी मास में हुए सम्मेलन के दौरान साम्यवादी दल ने अन्तर्राष्ट्रीय नेतृत्व के कहने पर एक आतंकवादी अभियान आरम्भ किया और ३ वर्ष तक इस बात पर झगडा होता रहा कि क्रान्ति की रूसी या चीनी कौनसी योजना का प्रयोग किया जाय।[15] इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से यह स्पष्ट है कि साम्यवादी दल की नीति व कार्यक्रम भारतीय राष्ट्रवाद से असगत रहे।

जैसा कि आगे के विवेचन से स्पष्ट होगा साम्यवादी दल पहले मास्को से और बाद मे पेकिंग से प्रेरणा प्राप्त करता रहा है। जब देश मे राष्ट्रवादी सरकार का निर्माण हुआ तो इस दल के नेताओं ने युद्धोपरान्त की तेजी और आवश्यक पदार्थों की कमी के कारण मजदूरो को अधिक वेतन के लिये आन्दोलन व हडताल आदि करने पर उकसाया। दल की ओर से तेलगाना व पं० बगाल और मद्रास मे हिंसात्मक कार्यवाहियो का सचालन किया गया। भारत का साम्यवादी दल अन्य देशो के समानान्तर दलो की भांति हिंसात्मक तरीकों मे विश्वास करता है और इसने देश मे राष्ट्रीय सरकार को उखाड फेंकने के लिये विनाशकारी व हिंसात्मक कार्यों को सगठित किया, जिससे कि सरकार परिस्थितियों पर नियन्त्रण न पाकर असफल होती और शासन पर दल अपना अधिकार जमा पाता। यह दल प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तों मे विश्वास नही करता। साम्यवादी तो किसानो और मजदूरो अर्थात् सर्वहारा वर्ग की तानाशाही (Dictatorship of the Proletariat) की स्थापना मे विश्वास रखते है। इनकी ऐसी गतिविधियो के कारण कई राज्यों मे इस दल के सगठन को अवैध अथवा प्रतिबन्धित किया गया, परन्तु सन् १९५१–५२ के आम निर्वाचनो के पूर्व दल ने पुरानी नीति मे परित्याग की घोषणा की और सवैधानिक तरीकों पर चलने का निर्णय किया। दल ने चुनावो मे भाग लिया और उसे लोकसभा मे २३ स्थान मिले। यह सख्या अन्य सभी विरोधी दलो की पृथक्-पृथक् सख्या से बड़ी थी, अतएव इसे ससद मे विरोधी दल का स्थान मिला। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस दल को कुल डाले गये मतो का केवल ४·४ प्र० श० मिला जबकि समाजवादी दल के पक्ष मे १०·६ प्र० श० मत पड़े थे, किन्तु समाजवादी दल को स्थान बहुत कम प्राप्त हुए।

15 Spitz, Allan A., Art., : '*Asian Communist Parties and the Problem of Nationalism*', *I. J. P. A.*, July–Sep 1967, p. 100.

दूसरे आम चुनावों में साम्यवादी दल को केरल में बहुमत प्राप्त हुआ था और उसका मन्त्रिमंडल बना था, किन्तु कुछ समय बाद ही उस राज्य के सभी विरोधी दलों ने एक संयुक्त मोर्चा बनाया और तत्कालीन मन्त्रिमण्डल को अपदस्थ करने की मांग की। उसके परिणामस्वरूप राष्ट्रपति ने केरल में सवैधानिक शासन विफल होने की घोषणा करके शासन अपने हाथ में लिया। फरवरी १९६० में उस राज्य में फिर से चुनाव हुआ और प्रजातंत्री मोर्चे (Democratic Alliance) को १२६ में से ९४ स्थान प्राप्त हुये—कांग्रेस ६३, प्रजा समाजवादी दल २० और मुस्लिम लीग ११। साम्यवादी दल के २५ और उसके द्वारा समर्थित स्वतंत्र उम्मीदवार ३ विजयी हुये, शेष स्थान अन्य छोटे-छोटे दलों को प्राप्त हुये। उन चुनावों के बाद केरल में कांग्रेस और प्रजा समाजवादी दलों का मिलकर मन्त्रिमंडल बना तथा मुस्लिम लीग के एक सदस्य को अध्यक्ष चुना गया, परन्तु कुछ ही दिनों के बाद कांग्रेस ने मुस्लिम लीग को सम्प्रदायवादी संगठन होने के कारण संयुक्त मोर्चे से अलग कर दिया और सितम्बर १९६२ में मुख्यमन्त्री श्री पट्टम थानु पिल्ले (जो प्रजा समाजवादी थे) पंजाब के गवर्नर नियुक्त किये गये। उसके बाद प्रजा समाजवादी दल भी मन्त्रिमण्डल से अलग हो गया और कुछ समय तक केरल में पूर्णतया कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल रहा। चौथे आम चुनाव के बाद केरल में साम्यवादी तथा अन्य वामपंथी दलों की सरकार बनी।

दल का संगठन—दल का संगठन बहुत कुछ रूस के दल के सदृश है। इसके *संगठन के मुख्य सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं :*

(१) प्रजातन्त्रात्मक केन्द्रीकरण (Democratic Centralism) ऊपर से नीचे तक सभी समितियों के चुनाव इस सिद्धान्त के अनुसार होते हैं और वे अपने निर्णय बहुमत से करती हैं, किन्तु सभी नीचे के स्तरों की समितियों को अपने ऊपर की समिति के निदेशों व आदेशों का पालन करना आवश्यक है। यह सिद्धान्त देखने में तो बुरा नहीं है, किन्तु व्यवहार में इसका जोर प्रजातन्त्र पर नहीं वरन् केन्द्रीकरण पर है। (२) यह एक वर्ग के लिये शासन सत्ता को प्राप्त करने का साधन है, क्योंकि साम्यवादी वर्ग-युद्ध और सर्वहारा वर्ग की तानाशाही में विश्वास करते हैं। (३) यह एक संसदीय दल नहीं है, यद्यपि इसने वर्तमान काल में सवैधानिक तरीकों को अपनाया है।

इसका संगठन एक पिरेमिड के समान है। सबसे नीचे के धरातल पर दल के छोटे-छोटे केन्द्र (cells) हैं, जो किसी भी क्षेत्र, कारखाने आदि में थोड़े से कार्यकर्त्ताओं से मिलकर बनते हैं। सबसे ऊपर अखिल भारतीय दलीय कांग्रेस है, जिसके सदस्यों को प्रदेश समितियाँ चुनती हैं। प्रदेश समितियों के नीचे क्षेत्रीय अथवा जिला समितियाँ भी हैं। दल के ऊपर सर्वोच्च नियन्त्रण के अधिकार प्राप्त निकाय दल का पोलिटब्यूरो (Polit-bureau) है जिसमें केन्द्रीय समिति (Central Committee) द्वारा छांटे गये सदस्य हैं। यही निकाय इसकी नीति और कार्यक्रम का निर्धारण करता है। केन्द्रीय समिति इसकी कार्यकारिणी है, जिसमें लगभग ३० सदस्य हैं।

इस दल का प्रमुख जनरल सेक्रेटरी होता है। फलतः इसमें प्रधान या उप-प्रधान नहीं होते। इस दल में सदस्यों की भरती के नियम काफी कठोर हैं और पक्के साम्यवादी कार्यकर्त्ता ही इसके सदस्य बन सकते हैं। कुछ समय पूर्व अजयघोष की मृत्यु के बाद दल ने एक चेयरमैन और एक जनरल सेक्रेटरी दो महत्वपूर्ण अधिकारी रखने का निर्णय किया।

दल का कार्यक्रम—प्रथम आम चुनावों के अवसर पर दल के घोषणापत्र में कहा गया था—कांग्रेस नेताओं ने हमारी स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं की है, उसने हमारे स्वातन्त्र्य संघर्ष को धोखा दिया है और उसने विदेशियों व प्रतिगामी सन्निहित हितों (vested interests) को पूर्ववत् जनता को लूटने खसोटने का अवसर दिया है। कांग्रेसी स्वयं लूट खसोट में सम्मिलित हो गये हैं। कांग्रेस सरकार ने राष्ट्र को धोखा दिया है। नेहरू सरकार ने भारत को राष्ट्रमण्डल का सदस्य बनाया है। हमारी नाविक और नभ सेना की कमानें ब्रिटिश अधिकारियों के हाथों में है। विदेशी अभी तक हमारी खानों, बगीचों, तेल-कुओं, कारखानों तथा अनेक कम्पनियों के स्वामी हैं। नेहरू सरकार ने भारी उद्योगों के विकास हेतु कोई पग नहीं उठाये हैं। यह तो जमींदारों, एकाधिकार प्राप्त व्यक्तियों की सरकार है और भ्रष्टाचार व घूसखोरी कांग्रेस शासन के मुख्य चिन्ह हो गये हैं। सरकार ने लाठियों और गोलियों व दमनकारी कानूनों का प्रयोग किया है। सरकार की नीति शान्ति की नहीं वरन् आंग्ल-अमरीकी साम्राज्यवादियों का समर्थन करने वाली रही है। अतएव नेहरू सरकार अवश्य ही हटनी चाहिये। जनता को उसके स्थान पर जनता का प्रजातन्त्रात्मक शासन स्थापित करना चाहिये। यदि दल को सत्ता मिली तो यह सभी प्रजातन्त्रात्मक समूहों और व्यक्तियों से मिलकर किसानों और मजदूरों के प्रतिनिधियों का शासन स्थापित करेगा। यह ब्रिटिश साम्राज्य से सम्बन्ध विच्छेद करेगा, किसानों को ऋण भार से मुक्त करेगा, सभी भूमि और कृषि साधनों को किसानों को बिना प्रतिकर दिलायेगा। यह राष्ट्रीयकृत पूंजी द्वारा देश के उद्योगों का विकास करेगा, जिसमें यह निजी पूंजीपतियों को उचित लाभ और मजदूरों को जीवन वेतन का आश्वासन देकर उनका सहयोग प्राप्त करेगा।

सन् १६५८ में साम्यवादी दल की अमृतसर में एक असाधारण कान्फ्रेंस हुई थी। उस अवसर पर एक प्रस्ताव में दल की कान्फ्रेंस ने अग्रलिखित प्रश्नों को लेकर राष्ट्रीय अभियान (national campaigns) पर बल दिया—(१) योजना के लक्ष्यों की प्रजातन्त्रात्मक तरीकों द्वारा प्राप्ति; (२) दक्षिण पंथियों की प्रतिक्रियावादी योजनाओं को खोलना (exposure of the plans of right reaction); (३) देश में अमरीकी पूंजी के प्रवेश का विरोध; (४) बड़े बैंकों और खाद्य पदार्थों के थोक व्यापार का राष्ट्रीयकरण; (५) कृषि सम्बन्धी सुधार; (६) वृद्धिपूर्ण करों और ऊंची कीमतों का विरोध; (७) भ्रष्टाचार का विरो; (८) केरल मन्त्रिमण्डल की सफलताओं का जनता में प्रचार; (६) जातिवाद; सम्प्रदायवाद और अस्पृश्यता का विरो .

तीसरे ग्राम चुनावो के अवसर पर साम्यवादी दल के घोषणा-पत्रों में कहा गया था : 'कांग्रेस के नेताओं और सरकार ने घोषणा की थी कि उनकी नीतियों से उद्योग-धन्धों और कृषि का तेजी से विकास होगा। किन्तु इस विकास की गति अनिश्चित और बहुत धीमी रही है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने जो सर्वेक्षण किया था, उस से पता चलता है कि हमारे अर्थतन्त्र की रफ्तार दुखद रूप से धीमी रही है।... कम्युनिस्ट पार्टी का दृढ़ विश्वास है कि २० वर्षों तक कांग्रेस के अटूट शासन ने यह सिद्ध कर दिया है कि कांग्रेस ने विकास का जो मार्ग अपनाया है, वह चौतरफा राष्ट्रीय प्रगति को न तो सुनिश्चित और न दरिद्रता, भुखमरी, और बेरोजगारी को दूर कर सकता है। हमें दूसरा रास्ता चुनना पड़ेगा।'

कुछ समय से भारत के साम्यवादी दल में फूट पड़ गई है; दल का पुराना और बहु-सख्यक अग दक्षिणपथी (C. P. I. Right) कहलाने लगा है और दूसरा वामपथी अग (C. P. I. Left or Marxist), जो अधिक उग्रगामी है। पश्चिमी बगाल में दूसरे अग की शक्ति काफी बढ़ी हुई है और इसका झुकाव पेंकिंग की ओर अधिक है। सन् १९६७ के आम चुनावो के बाद उस राज्य में कांग्रेस विरोधी दलों का मिला-जुला मन्त्रि-मण्डल बना, जिसमें साम्यवादी दल (वामपथी) की प्रधानता रही। पेंकिंग समर्थक दल ने यह प्रयत्न किया कि उसके सदस्य राज्य के प्रशासन-तन्त्र के प्रत्येक क्षेत्र—पुलिस, होम-गार्ड, नागरिक सेवाओं, न्यायालिका और कार्य-पालिक में घुस जाय और पश्चिमी बगाल को साम्यवादी बनाने का यह प्रथम पग हो। उनका विचार यह था कि प्रशासनिक सेवाओं में घुसकर अधिक से अधिक व्यक्तियों को कट्टर साम्यवादी सिद्धान्तो अर्थात आज की भाषा में 'माओ के विचारों' की शिक्षा दें। उनका अगला पग अनेक मोर्चों पर केन्द्रीय सरकार को चुनौती देना होता। वे जानते है कि वे सवैधानिक उपायों द्वारा प्रभावी शक्ति कभी नही प्राप्त कर सकते; तथ्य तो यह है कि वे उन लोगों की जो सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए सवैधानिक तथा ससदात्मक उपायों पर निर्भर करते है, प्रतिगामी कहते है।

केन्द्रीय सरकार को प्राप्त रिपोर्टों के अनुसार उनकी योजना जन-साधारण में विद्रोहात्मक भावनाओं को उभारने की थी, विशेषकर पुलिस, होम-गार्डों और नेशनल केडेट-कोर आदि में। घेराव, तोड-फोड, कर्मचारियों में तीव्र अनुशासनहीनता द्वारा वे पश्चिमी बगाल से पूँजीपतियों को भगाने की बात सोचते थे। परन्तु वर्तमान स्वामियों की अचल लेनदारियों (immovable assets) तथा फैक्टरियों, फर्मों और मिलों पर नया शासन जबरदस्ती अधिकार जमाता, यह दिखाने के लिए कि उत्पादन को हानि न पहुचे। ये सब कार्य अपने संघात्मक संविधान के अन्तर्गत राज्य की स्वायत्तता (autonomy of the state) के नाम से किये जाते। यह योजना साम्यवाद की पुस्तक के अनुरूप थी। वास्तव में, घेराव एक प्रकार की संगठित अव्यवस्था और अराजकता है। जनता से कहा गया कि उनकी यातनाओं का तब तक अन्त न होगा जब तक कि पूर्ण पूजीवादी व्यवस्था का नाश न हो। यदि संयुक्त विधायक

मोर्चे (U L. F.) की सरकार बनी रहती तो कदाचित ऐसी दशायें उत्पन्न हो जाती, किन्तु बंगाल के गवर्नर ने मिली-जुली सरकार को इस आधार पर पदच्युत कर दिया कि उसे बहुमत का समर्थन प्राप्त न रहा था।

उसके बाद प० बंगाल मे डा० पी० सी० घोष के नेतृत्व में कांग्रेस दल का समर्थन प्राप्त सरकार बनी, वह भी कुछ ही समय तक पदासीन रह सकी और गवर्नर ने राज्य मे राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश की, जिसे स्वीकार किया गया। मार्च १९६८ में राष्ट्रपति शासन लागू किये जाने के बाद इस विषय पर लोकसभा में विचार के दौरान स्वतन्त्र पार्टी के नेता श्री डन्डेकर ने गवर्नर को बधाई देते हुये कहा कि उसने और डा० घोष ने पं० बंगाल को एक राजनीतिक विध्वस से बचा लिया। इस बात से सहमति प्रकट करते हुए कि प्रजातन्त्रात्मक प्रक्रिया का अनुसरण किया जाय, वक्ता ने कहा कि उसे आश्चर्य है कि क्या मध्यावधि चुनावो से राज्य मे प्रजातन्त्र आगे बढ़ेगा।[16] उसने आगे कहा कि यदि साम्यवादियो को एक बार पद प्राप्त हो गये तो वे खुशी से सत्ता न छोड़ेंगे। साम्यवादियो के साथ बने सयुक्त मोर्चे आत्मघात करने वाले है। काग्रेस सदस्य श्री के० के० चटर्जी ने कहा कि प० बगाल मे कानून और व्यवस्था पूर्णतया भंग हो गये थे। नक्सलबारी की घटनाये पूर्वगामी सयुक्त मोर्चे की सरकार और कुछ बाह्य अभिकरणो के बीच षड्यन्त्र का परिणाम थे।

सयुक्त मोर्चे की सरकार के मुख्य मत्री, श्री अजय मुकर्जी ने अक्तूबर १९६७ मे साम्यवादी नेता श्री ज्योति बसु के वक्तव्य के उत्तर में अपना त्याग-पत्र देने के विचार के विषय मे कहा :

'श्री ज्योति बसु ने जो बातें पोलिटब्यूरो के सामने कही बताते है वे सच नही है। मै सोचता हूँ कि मै जनता के सामने पूर्ण कहानी का वर्णन करूँ। श्री बसु ने भारत सरकार, प० बगाल के गवर्नर, राज्य की पुलिस महा-निरीक्षक और दूसरों पर षड्यन्त्र रचने का दोष आरोपित किया है। यह आरोप निराधार है। मैंने ही बगला काग्रेस के सचिवालय से मत्रणा करके उन चार प्रश्नों पर त्याग-पत्र देने का निर्णय किया था, जिनका मैं यहां वर्णन करूँगा। मैंने सोचा था कि यह किसी भी सम्भावित व्यापक गड़बड के विरुद्ध एक सावधानी का पग होगा। सेना तैयार खड़ी रहे और कुछ पड़ौसी राज्यो की पुलिस की भी आवश्यकता पड़ सकती है। मैंने ही गवर्नर द्वारा सीधे केन्द्रीय सरकार से इस प्रकार

16 . . 'he wondered whether it was wise on the part of the Government to give so early an opportunity to the 'enemies of democracy to use the democratic process itself to destroy democracy."

Hindustan Times, March 22, 1968

की सहायता देने की प्रार्थना की थी। ···वे चार समस्यायें जिन्होंने मुझे ऐसा गम्भीर पग उठाने के लिये विवश किया निम्नलिखित थीं।'

प्रथम, औद्योगिक क्षेत्र में व्यापक असन्तोष, अव्यवस्था, घेराव, कभी-कभी अमानुषिक व्यवहार और श्रमिकों द्वारा शारीरिक हिंसा, जिनका नेतृत्व यूनियन नेताओं ने किया, जिसका मार्गदर्शन बहुधा राजनीतिक नेताओं ने किया और जिसका बदला उद्योगपतियों ने लिया। इन बातों से प० बंगाल में उद्योगों के विकास को गम्भीर धक्का लगा है। बेरोजगारी को दूर करना संयुक्त मोर्चे की सरकार के कार्य-क्रम का एक मुख्य लक्ष्य था, परन्तु व्यवहार में इस मोर्चे के नेताओं तथा उद्योगपतियों द्वारा उठाये गये पगों के परिणामस्वरूप काम पर लगे हजारों श्रमिक बेरोजगार हो गये हैं।

दूसरे, कृषि के क्षेत्र में मैंने मुख्य मंत्री के नाते प्रशासन व पुलिस के लिये यह परिपत्र जारी किया था कि कोई भी जोतदार (भूमिपति) किसी भी भागीदार (share-cropper) को बिना उचित कानूनी प्रक्रिया के भूमि पर अधिकार से वंचित न कर सकेगा और न ही कोई कृषक किसी जोतदार की भूमि पर जबरन अधिकार कर सकेगा। परन्तु दुर्भाग्यवश दोनों ही पक्षों ने इस स्वस्थ नीति का पालन नहीं किया है। विशेषरूप से, कुछ राजनीतिक दल भूमिहीन खेतिहर मजदूरों को संगठित कर रहे है और वे जबरन जोतदारों की भूमि तथा सरकार की खास भूमि पर अधिकार कर रहे हैं। इस विधि को जारी नहीं रहने देना चाहिए।

तीसरे, राज्य के विभिन्न भागो में कानूनो के उल्लंघन की घटनायें फैलती जा रही है, जिनके कारण आवागमन के साधन अव्यवस्थित हो गये हैं, हजारों व्यक्ति गम्भीर कठिनाइयों और हानि में पड़ गये हैं, खाद्यान्नों के एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने में हस्तक्षेप हो रहा है और कभी-कभी अनाज तथा आवश्यक वस्तुओं की लूट भी हो रही है। इस प्रकार की घटनाओं के पीछे कभी-कभी राजनीतिक दल पाये गये हैं। किसी भी परिस्थिति में कानूनों के उल्लंघन की आशा नहीं होनी चाहिये।

चौथे, भारत की स्वतन्त्रता और चीन में साम्यवादी सरकार के निर्माण के बाद, दोनों देशों के बीच घनिष्ठ मित्रता के बन्धन स्थापित हुये। परन्तु दुर्भाग्यवश, चीन ने अकेले ही कुछ ही दिनों बाद मित्रता को भंग कर दिया, भारत पर आक्रमण किया, शक्ति के प्रयोग द्वारा हमारे मातृदेश के काफ़ी बड़े भाग पर अपना अधिकार जमा लिया और हाल में भी भारतीय जवानों पर आक्रमण कर उन्हे मारा है। परन्तु एक राजनीतिक दल का एक अंग खुले रूप में चीन को आमन्त्रित कर रहा है कि वह प० बंगाल में दल द्वारा लाई जाने वाली सशस्त्र क्रान्ति में सहायता दे। इस प्रकार की प्रवृत्ति को आरम्भ में ही कुचल देना चाहिये।[17]

---

17 *Hindustan Times, Oct. 17, 1967.*

साम्यवादी दल (दक्षिण पंथी) का घोषणा पत्र—इसकी मुख्य बातें निम्न-लिखित हैं :

(१) दल ऐसे सभी सहयोगी समझौतों (collaboration agreements) के विरुद्ध है, जो विदेशी पूंजी को बहुमात्रा में भाग का अधिकार प्रदान करते है और नये सहयोगी समझौतों पर प्रतिबन्ध या नियन्त्रण लगाते है।

(२) एकाधिकारवादियों (monopolists) के कार्यों को प्रभावी पगों द्वारा प्रतिबन्धित किया जायगा और एकाधिकार आयोग की रिपोर्ट में वर्णित ७५ एकाधिकार गृहों को खण्डित किया जायेगा।

(३) बंकों को राष्ट्रीयकृत किया जायेगा।

(४) सट्टे के बाजारों और शेयर-एक्सचेन्जों को बन्द किया जायेगा।

(५) चौथी पंचवर्षीय योजना के प्रारूप के स्थान पर जन-योजना (People's Plan) रखी जायेगी। ऐसी योजना को प्रजातंत्रात्मक दलों, देशभक्त अर्थ-शास्त्रियों, विशेषज्ञों और जनता के सहयोग से तैयार किया जायेगा और उसके लक्ष्य ये होंगे—आत्म-निर्भरता, वेगपूर्ण विकास, अर्थव्यवस्था का विकेन्द्रीकरण, सामाजिक न्याय और जनकल्याण।

(६) भूमि-कर आय का उन्मूलन किया जायेगा।

(७) अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में राज्य के भाग (state sector) का विस्तार किया जायेगा।

(८) (अ) सभी अतिरिक्त भूमि (surplus land) को खेतिहर श्रमिकों और गरीब किसानों में वितरित किया जायेगा। (आ) कृषि-सुधारों को कार्यान्वित किया जायेगा। (इ) ग्रामीण क्षेत्रों में ऋण-संस्थाओं को विकसित किया जायेगा। (ई) भूमि-कर व्यवस्था मे आमूल परिवर्तन किया जायेगा जिससे कि किसान भूमि में ही अधिक धन निवेश कर सकें। (उ) खेतिहर श्रमिकों के लिये जीवन-वेतन और जीवन व कार्य की उचित दशायें सुनिश्चित की जायेगी।

(९) हिन्दी को राजभाषा के रूप मे क्रमिक रूप से ही अ-हिन्दी भाषा-भाषियों की सहमति से लागू किया जायेगा; राज्यों मे प्रादेशिक मातृ-भाषाओं के पूर्ण प्रोत्साहन और विकास को विश्वविद्यालय के स्टेज की शिक्षा सहित सभी प्रयोजनों के लिये सुनिश्चित किया जायेगा।

(१०) संविधान द्वारा प्रतिभूत सभी मूल अधिकारों को लागू किया जायेगा और भारतीय प्रतिरक्षा नियमों (DIR) तथा निवारक निरोध कानून आदि को जो कि उनसे असंगत हों, उन्मूलन किया जायेगा।

(११) (अ) माध्यमिक स्टेज तक की शिक्षा सभी बालकों को निःशुल्क और अनिवार्य रूप से दी जायेगी। (आ) सम्पूर्ण शिक्षा पद्धति को आधुनिक औद्योगिक भारत की आवश्यकताओं की उपयुक्तता की दृष्टि से पुनर्गठित किया जायेगा और शिक्षा व्यय को भी कम किया जायेगा। (इ) सभी स्तरो के शिक्षको को पर्याप्त वेतन दिये जायेंगे। (ई) मानक पाठ्यपुस्तकें और शिक्षा की अन्य आवश्यकताओ की सस्ते मूल्य पर व्यवस्था की जायेगी।

(१२) दल देश की प्रतिरक्षा को सुदृढ़ बनाने का समर्थन करता है।

(१३) वैदेशिक नीति के क्षेत्र में इसके मुख्य आधार ये होंगे: (अ) सयुक्त राज्य अमरीका के आक्रमण के विरुद्ध वियतनाम की जनता का पूर्ण समर्थन। (आ) जर्मन डेमोक्रेटिक रिपब्लिक को राजनयिक मान्यता (diplomatic recognition) प्रदान करना। (इ) ताशकद भावना का संरक्षण। (ई) कश्मीर के प्रश्न पर वर्तमान युद्ध बदी रेखा को पारस्परिक सहमति के समायोजन सहित अन्तर्राष्ट्रीय सीमा बनाने के आधार पर स्थायी समझौते के लिये प्रयत्न किये जायेंगे। (उ) चीन के निरन्तर शत्रुतापूर्ण रूख के रहते हुये भी, भारतीय जनता और सम्पूर्ण देश के हित में यह है कि चीन के साथ शान्तिपूर्ण समझौते के लिये प्रत्यक्ष रूप से या मित्र तटस्थ शक्तियो के माध्यम द्वारा मार्गों की खोज की जायेगी और चीन के सामने युद्ध न करने के पैक्ट का प्रस्ताव रखा जायेगा। (ऊ) राष्ट्रमण्डल की सदस्यता का त्याग।

साम्यवादी दल (वामपंथी मार्क्सवादी) के चुनाव घोषणा-पत्र में निम्नलिखित बातें कही गई है:

(१) साम्राज्यवाद, विशेषकर अमरीकी साम्राज्यवाद के विरोध पर आधारित 'स्वतन्त्र वैदेशिक नीति' और राष्ट्रमण्डल की सदस्यता त्यागने का संकल्प; सभी शान्ति-प्रिय देशों के साथ मित्रता और अफ्रीकी-एशियाई राष्ट्रों के साथ सुदृढ़ एकता (firm solidarity) और सभी स्वातन्त्र्य सघर्षों का समर्थन; एशियाई स्वतन्त्रता के हित मे चीन के साथ विवादों पर शान्तिपूर्ण ढंग से समझौता और पाकिस्तान से भी दोनो देशों की स्वतन्त्रता को सुदृढ बनाने के लिये शान्तिपूर्ण ढंग से समझौता; वियतनाम की जनता को उनके गम्भीर सघर्ष और अमरीकी आक्रमण की निन्दा मे पक्का और शर्तहीन समर्थन।

(२) जीवन की आवश्यकताओ के मूल्यो में कमी और उन पर सभी करों का उन्मूलन।

(३) बैंको के राष्ट्रीयकरण द्वारा मूल्य नियन्त्रण।

(४) खाद्यान्नों में राजकीय व्यापार तथा करों के भार व प्रतिरक्षा व्यय मे कमी।

(५) सभी वैदेशिक अदायगियों का ऋण स्थगन (moratorium) और अमरीकी सहायता को बन्द करना, वैदेशिक व्यापार, तथा बगीचो (plantations), खानो, तेल-शोधन कारखानो, उद्योग, जहाजरानी और व्यापार मे लगी सभी पूंजी का राष्ट्रीयकरण।

(६) एकाधिकारी उद्यमों (monopoly concerns) और अन्य बड़े उद्योगों का जब भी आवश्यक हो राष्ट्रीयकरण निजि उद्यमों (priavte sector) के क्षेत्र मे लाभों पर नियन्त्रण।

(७) सभी काम करने वालो, शिक्षकों और सरकारी सेवकों के लिये इन बातो को सुनिश्चित बनाना, जीने योग्य वेतन, पर्याप्त वेतन दरें, जीवन व्यय मे वृद्धि के विरुद्ध, जीवन व्यय के मूल्य सूचकाक (cost of living index) के साथ महगाई भत्ते को जोड़कर, पूर्ण प्रतिकर (full compensation) और प्रत्येक प्रकार की अशक्तता (disability) और बेरोजगारी के लिये राज्य तथा पूंजीपतियों के व्यय पर सामाजिक बीमा।

(८) श्रमिको के सामूहिक रूप से वेतन निर्धारण, हड़ताल, सख्या मे कमी करने व मशीनीकरण के विरोध के अधिकार को मान्यता।

(९) जमीदारो से छीनी गई भूमि को खेतिहर मजदूरो और निर्धन किसानो मे वितरण का वायदा।

(१०) छोटे उत्पादकों को आकर्षक मूल्यों का आश्वासन तथा खेती के तरीकों को सुधारने के लिये किसानो की सहायता।

(११) शहरी तथा ग्रामीण दोनो ही क्षेत्रो में जनता के लिये खाद्य का सम वितरण और जमीदारो व धनी किसानो की सम्पूर्ण अतिरिक्त उपज की अनिवार्य रूप से सरकार द्वारा प्राप्ति।

(१२) माध्यमिक स्टेज तक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा, लड़कियो की शिक्षा को प्रोत्साहन और शिक्षकों के वेतनों व दशाओं में सुधार।

(१३) यू० पी०, विहार, दिल्ली तथा ऐसे राज्यों में जहाँ उर्दू-भाषी लोगों की काफी सख्या हो उर्दू को दूसरी प्रादेशिक भाषा का पद देना।

(१४) स्थानीय निकायो के लिये 'वास्तविक शक्तियों और उत्तर-दायित्व सहित, प्रत्यक्ष चुनाव'।

आलोचना—साम्यवादी दल के सिद्धान्तों और कार्यक्रम की भारत मे व्यापक से आलोचना हुई है। सर्वप्रथम, साम्यवादी दल के सिद्धान्तों को, जो मार्क्सवाद

और लैनिनवाद पर आधारित है, साधारण व्यक्तियों के लिये समझना कठिन है। यह बात भारत की आम जनता के विषय में विशेष रूप से अधिक सत्य है, क्योंकि भारत की बहुसंख्यक जनता अशिक्षित है। दूसरे, साम्यवादी विचारधारा में धर्म का कोई महत्व नहीं है, जबकि भारत की अधिकांश जनता किसी न किसी धर्म में विश्वास करती है। इस सम्बन्ध में यह भी विचारणीय है कि साम्यवाद भौतिकवाद पर अधिक बल देता है, जो भारतीय संस्कृति और परम्पराओं के अनुकूल नहीं है। तीसरे, साम्यवादी दल क्रान्तिकारी व हिंसामय साधनों में विश्वास करता है, यद्यपि कुछ वर्षों से साम्यवादी दल ने संवैधानिक तरीकों को अपनाया हुआ है। चौथे, साम्यवादी दल सदैव ही विदेशों से प्रेरणा प्राप्त करता रहा है। इसके कार्यक्रम में समय-समय पर हुए परिवर्तनों से स्पष्ट निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि साम्यवादी दल ने देश की परिस्थितियों और राष्ट्रीय हितों का ध्यान न रखते हुये वही नीति अपनाई है जिसका इसे मास्को से संकेत मिलता रहा है।[18] दूसरे विश्वयुद्ध के प्रारम्भ होने पर साम्यवादी दल की सहानुभूति स्पष्टतः सोवियत संघ के साथ थी। जैसे ही सोवियत संघ पश्चिमी राष्ट्रों से मिला, भारत के साम्यवादी दल ने युद्ध में सरकार को सहायता व समर्थन दिया, जबकि राष्ट्रवादी राष्ट्र के लिये स्वतन्त्रता व प्रजातन्त्र की माँग के लिये संघर्ष कर रहे थे। सोवियत संघ के साम्यवादी दल की बीसवीं कांग्रेस ने स्टेलिन के नेतृत्व के दोषों को माना और भारत के साम्यवादी दल ने वहाँ के नेताओं के सुर में अपना सुर भी मिलाया।

श्री एम० आर० मसानी ने अपनी पुस्तक में साम्यवादी आन्दोलन की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। लेखक के मतानुसार यह आन्दोलन न तो राष्ट्रीय है और न संवैधानिक ही है। प्रजातन्त्र के प्रति इसकी निष्ठा केवल एक चाल है। वास्तव में, इसका बल तो देश में अव्यवस्था फैलाने पर है। भारत का साम्यवादी दल अभी तक अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन में निष्ठा रखता है। हाल में यह परिवर्तन हुआ कि अब वह निर्देश मास्को के स्थान पर पेकिंग से आता है। उन्होंने मदुराई कांग्रेस में हुई कार्यवाहियों व आलेखित प्रमाणों (Documentary evidence) पर पाठकों का ध्यान दिलाते हुये साम्यवादी दल की भर्त्सना की। हंगरी और चेकोस्लोवेकिया की घटनाओं के विषय में भी भारत के साम्यवादी दल ने सोवियत संघ की नीति का पूर्ण समर्थन किया। इसी कारण साम्यवादी दल की अब

---

18 "The Communists have no moorings in the land of their birth and they always look towards foreign countries for inspiration. They are of the view that violence, bloodshed and trouble, are the main things to be followed in order to hinder the progress of the country....Our communist friends in India read some books written in Europe 90 years ago ..and follow the precepts laid down there. But these books relate to the Europe of that time and do not contain any thing about India."

(From a speech of Shri J. L. Nehru.)

तक इस आधार पर कटु आलोचना की गई है कि साम्यवादी दल सोवियत संघ के साम्यवादी दल के संकेतानुसार चलता रहा है।

अंत में, भारत-चीन सीमा विवाद के सम्बन्ध में साम्यवादी दल ने बहुत समय तक यह स्वीकार नहीं किया था कि चीन ने भारतीय भूमि पर सैन्य बल से अधिकार किया। जब अक्तूबर १९६२ में चीन की सेनाओं ने बड़े पैमाने पर लद्दाख व पूर्वोत्तर सीमा प्रदेश में भारतीय चौकियों पर आक्रमण कर दिया और भारत के बड़े क्षेत्र पर अपना अधिकार कर लिया तो देश में चीन के आक्रमण और साम्यवादियों के विरुद्ध एक व्यापक लहर उठी। कई दिन तक विचार करने के बाद साम्यवादी दल ने भी यह स्वीकार किया कि चीन ने भारत पर आक्रमण किया और साम्यवादी दल देश की रक्षा के लिये सरकार के साथ रहेगा। परन्तु सर्वसाधारण जनता को साम्यवादियों की बातों का विश्वास नहीं है।

५. समाजवादी दल

परिचयात्मक—भारत में प्रथम समाजवादी दल की उत्पत्ति, जिसे अब तक समाजवादी दल कहते है सन् १९३४ में हुई थी, जबकि कुछ नवयुवक कांग्रेसियों ने, जिनमें से अधिकतर शिक्षित थे, यह सोचा कि गांधी जी की अहिंसा और सत्याग्रह की नीति पूर्णतया सफल नहीं हो रही है, अत. स्वातन्त्र्य संघर्ष को सफल बनाने के लिये नया मोड़ देना चाहिये। इस दल का जन्म नासिक जेल में हुआ, जहाँ श्री जयप्रकाश नारायण और अन्य साथी बन्दी थे। आरम्भ में ही श्रमिकों और किसानों की समस्याओं पर उनका विशेष ध्यान गया। सन् १९३७ के आरम्भ में जब कांग्रेस ने अनेक प्रान्तों मे चुनाव जीते तो उन्होंने कांग्रेस द्वारा मन्त्री पदों को स्वीकार किये जाने का विरोध किया, परन्तु सन् १९४७ तक वे कांग्रेस के भीतर ही बने रहे।

उसी वर्ष कानपुर कन्वेन्शन पर उन्होंने अपने नाम से 'कांग्रेस' शब्द हटा दिया, क्योंकि उनके विचार में स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त एकता की अपेक्षा समाजवाद पर अधिक बल देना उचित था। उस अवसर पर उन्होंने प्रजातान्त्रिक समाजवाद और सर्वाधिकारवादी साम्यवाद के अन्तर को भी स्पष्ट किया गया। नासिक सम्मेलन के उपरान्त वे कांग्रेस से अलग हो गये। संविधान सभा मे उनके सदस्यों ने समाजवादी गणतन्त्र की स्थापना और बिना प्रतिकर जमींदारी के उन्मूलन पर जोर दिया। प्रथम आम चुनावों के पूर्व आचार्य कृपलानी ने अपने साथियों सहित जिन्होंने कांग्रेस को छोड़ दिया था 'कृषक मजदूर प्रजापार्टी संगठित' की थी। समाजवादी दल और कृ० म० प्र० पा० ने कांग्रेस के विरुद्ध मिलकर प्रथम आम चुनाव लड़े और उन्होंने लोक सभा के लिये पड़े कुल मतों के १०·४ प्रतिशत प्राप्त किये, किन्तु उन्हें स्थान केवल १२ ही मिले। सन् १९५२ के सितम्बर मास में दोनों ही दलों ने मिलकर प्रजा समाजवादी दल बनाया जिसका उद्देश्य इस प्रकार बताया

गया—'शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा प्रजातान्त्रिक समाजवादी समाज की स्थापना, जो सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक शोषण से मुक्त हो।'

कांग्रेस के समान इसकी भी स्थानीय, जिला व प्रदेश समितियाँ हैं, जिनका चुनाव दल के सदस्यों द्वारा किया जाता है किन्तु इसकी समितियों और सदस्यों की संख्या कांग्रेस की तुलना में बहुत कम है। इस दल में राष्ट्रीय कार्यकारिणी (National Executive) सर्वोच्च और नियन्त्रक समिति है। दल की सदस्यता कोई भी व्यक्ति, जिसका दल के उद्देश्यों और तरीकों में विश्वास हो, सरलता से पा सकता है। इस दल का संगठन अभी तक सुदृढ़ नहीं है, यद्यपि इसमें अनेक अच्छे कार्यकर्त्ता है, किन्तु वे व्यक्तिगत मतभेदों तथा अन्य कारणों से दल के उद्देश्यों व सदस्यता को व्यापक बनाने में असमर्थ रहे है। भारत की परम्पराओं और परिस्थितियों को देखते हुये अनेक समझदार व्यक्तियों ने आशा की थी कि यही दल सगठित होकर विरोधी दल का स्थान पायेगा और अभी भी ऐसी आशा की जाती है, किन्तु अभी तक कारण कुछ भी रहे हों यह दल उन आशाओं को पूरा नहीं कर पाया।

दूसरे आम चुनावों के अवसर पर प्रजा समाजवादी दल ने अपने घोषणा-पत्र में इन बातों पर विशेष बल दिया—(१) दल की आर्थिक नीतियों की धुरी (pivot) किसान रहेगा, गाव पचायतें भूमि सुधारों को लागू करने का प्रमुख साधन होंगी और ये अपने से सम्बन्धित सहकारी समितियों सहित प्रशासन व आर्थिक जीवन का मुख्य साधन बनेंगी। (२) प्रजा समाजवादी दल समाजवाद को कांग्रेस से सर्वथा भिन्न रूप में स्वीकार करता है। यह विश्वास करता है कि कांग्रेस की समाजवादी व राष्ट्रीयकरण की नीति द्वारा देश मे राज्य के पूंजीवाद की स्थापना होगी। दल राष्ट्रीयकरण द्वारा मजदूरों और उपभोक्ताओं को उद्योगों के संचालन में भाग दिलाना चाहता है, जबकि कांग्रेस की नीति अधिकारी-वर्ग द्वारा प्रबन्ध (Bureaucratic management) को बढ़ायेगी। (३) देश के शासन में यह प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों पर बल देता है और प्रजातन्त्रात्मक नागरिकता की सामाजिक शिक्षा को आवश्यक समझता है। शहरी और ग्रामीण जनता में सांस्कृतिक एकता सुदृढ़ की जाये, इस उद्देश्य से दल आधुनिक जीवन की सभी सुविधाओं का गाँवों में भी विस्तार करेगा। अल्पसंख्यकों के बालकों को अपनी भाषा के साथ राज्य और देश की राजभाषायें भी सिखाई जायें। (४) दल का विश्वास है कि सच्ची राष्ट्रीय एकता की स्थापना आर्थिक व्यवस्था द्वारा ही सम्भव है। आर्थिक नियोजन का आधार बेकारी दूर करना होगा। बड़े बगीचों और फार्मों और विदेशी पूंजी का राष्ट्रीयकरण किया जाये। (५) तुरन्त ही मद्य निषेध किया जाय और विलास की वस्तुओं (luxuries) के उत्पादन को बन्द किया जाय। (६) अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में—(अ) भारत को राष्ट्रमण्डल की सदस्यता अवश्य ही छोड़ देनी चाहिये, (आ) संयुक्त राष्ट्र संघ सभी देशों का प्रतिनिधि बने, निःशस्त्रीकरण बढ़ाया जाये और अणु

शस्त्रों के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाया जाए, साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और साम्यवादी साम्राज्यवाद का विरोध किया जाय।

समालोचना—अधिकांश व्यक्तियों के विचार में जब से कांग्रेस ने समाजवादी व्यवस्था के ध्येय को अपनाया है, इन दोनों दलों के राजनीतिक और आर्थिक उद्देश्यों व कार्यक्रम मे विशेष अथवा आधारभूत अतर नही रहा है। दोनो ही दल देश में अपनी विशेषताओ के अनुकूल प्रजातन्त्रात्मक ढंग से समाजवाद की स्थापना करना चाहते हैं। यहाँ पर एक बात उल्लेखनीय है। ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के विषय में प्र० स० दल का घोषणा पत्र कहता है : "भूमि का फिर से वितरण होगा जिसमें उसके स्वामित्व पर सीमा लगाई जायेगी और छोटे भूमिपतियों को व्यक्तिगत रूप से कृषि करने की सुविधायें दी जायेंगी तथा गांव पंचायतो को भूमि सुधारो को लागू करने का मुख्य साधन बनाया जायेगा। इससे यह स्पष्ट है कि प्र० स० दल केन्द्रीभूत नियोजित विकास पर कम और धरातल से ऊपर की ओर विकेन्द्रीकृत विकास पर अधिक बल देता है। जहाँ तक विदेश नीति का सम्बन्ध है कांग्रेस और प्र० स० दल मे साधारण अन्तर है। अतएव कुछ व्यक्ति दोनो दलों के मिल जाने का समर्थन करते हैं, जिससे कि वे संयुक्त मोर्चे के रूप में साम्यवादियों व सम्प्रदायवादियो का विरोध कर सकें। यह उचित ही है कि ये दल साम्यवाद और सम्प्रदायवाद का विरोध करें। किन्तु जैसा हमने आरम्भ में ही कहा है देश में कोई विरोधी दल अवश्य ही होना चाहिये अतएव हमें प्र० स० दल का विरोधी दल के रूप में विकसित होना अधिक आवश्यक प्रतीत होता है। इस दल के नेताओं को राजनीतिक दर्शन में न जाकर सत्तारूढ दल के कार्यों व प्रशासन के प्रति विशेष सतर्कता बरतनी चाहिये और देश का अधिक अच्छे प्रशासन देने के लिये सक्रिय पग उठाने चाहिये। इसे धीरे-धीरे जनता का बुद्धिपूर्ण सहयोग प्राप्त करना चाहिये।

भारत का समाजवादी दल—इसके वास्तविक सस्थापक डा० राममनोहर लोहिया थे। इसके सस्थापन सम्मेलन मे, जो जनवरी १९५६ में हैदराबाद में हुआ था, यह स्पष्ट किया गया था कि यह कांग्रेसी असमाजवादी, झूठे समाजवादी और सम्प्रदायवादी दलो से मिलकर सयुक्त सरकार बनाने के विरुद्ध था। इस दल ने समाजवाद के निम्नलिखित मुख्य सिद्धान्त स्वीकार किये :

> (१) राष्ट्र के भीतर और बाहर सभी व्यक्ति सम है। राष्ट्रीय सीमाओं में ही नही वरन् सम्पूर्ण ससार मे सभी व्यक्तियो का जीवन-स्तर अच्छा और न्यूनतम से ऊपर हो। (२) समाजवादियो को इन उद्देश्यो की प्राप्ति के लिये जहाँ सम्भव हो संवैधानिक कार्यों और जहाँ आवश्यक हो सविनय विरोध (Civil Disobedience) के उपायों का प्रयोग करना चाहिये। (३) जहाँ तक सम्भव हो उत्पादन की इकाइयाँ छोटी रहें, किन्तु आवश्यकतानुसार बड़ी मशीनो का प्रयोग किया जाये।

(४) प्रायः सभी प्रकार की सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण हो। आय की उच्चतम और न्यूनतम सीमायें निर्धारित की जायें, जिनमें १० गुने से अधिक अन्तर न रहे। (५) असमान सदस्यों के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के स्थान पर ऐसे संगठन के लिये प्रयत्न किया जायेगा जिसमें सभी सदस्यो को समान अधिकार प्राप्त हों। (६) अन्तर्राष्ट्रीय परिषदों में जहाँ तक हो सके वयस्क मताधिकार के आधार पर चुने गये प्रतिनिधियो को भाग लेने दिया जाये।

पूर्व वर्णित समाजवादी दल के अतिरिक्त देश में कई वामपक्षी दल है, जैसे क्रांतिकारी समाजवादी दल, मार्क्सवादी दल, फॉरवर्ड ब्लाक, पेंजेण्ट्स और वर्क्स पार्टी, इत्यादि; किन्तु उनका अपने-अपने क्षेत्र में ही कुछ प्रभाव है और देश के राजनीतिक दलो में उनको सम्मिलित करना उनके महत्व को व्यर्थ ही बढ़ाना है। वास्तव में ये दल किसी नेता विशेष के व्यक्तित्व अथवा समूह के स्वतन्त्र अस्तित्व से सम्बन्धित हैं। इन छोटे-छोटे दलों या समूहों का भविष्य पूर्णतया अन्धकारमय है। सभी वामपक्षी दलो को अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये देश में विरोधी दल को सुसगठित और सुदृढ बनाने तथा देश-हित में संयुक्त होकर कार्य करना चाहिये। अच्छा हो यदि सभी दल प्र० समाजवादी दल में सम्मिलित हो जायें या सब मिलकर एक बड़ा दल सामान्य कार्यक्रम के आधार पर बना लें। दिसम्बर १९६२ में उत्तर प्रदेश विधान-मण्डल के समाजवादी दल व प्र० स० दल के बीच आपसी समझौता हुआ और उन्होंने मिलकर सयुक्त समाजवादी दल बनाया, जिसका अधिकतर राजनीतिक नेताओं व समाचार-पत्रों ने स्वागत किया। उसके बाद दोनो दलों की राष्ट्रीय कार्यकारिणियों में दोनो दलो का विलय किस आधार पर हो उस पर कोई सहमति नही हो सकी। तब से अब तक इस दिशा में कई बार प्रयत्न किये जा चुके है, किन्तु वे सफल नही हुये।

प्रजा समाजवादी दल का चुनाव घोषणा-पत्र १९६७

दल इस बात की शपथ लेता है कि यह देश में निराशा और उदासीनता की बढ़ती हुई भावना को दूर करेगा और लोगों में भारत के सघर्ष-कालीन प्रयत्न तथा विश्वास को जगायेगा। साथ ही दल सभी भारतीयों को सामान्य और सामाजिक परिवर्तन के लिये, जिससे कि युगों की विषमतायें दूर हो जायें, आमन्त्रित करता है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये दल के घोषणा-पत्र में निम्नलिखित प्रस्ताव सम्मिलित किये गये :

(१) देश की सुरक्षा और अखण्डता की प्रतिरक्षा के लिये राष्ट्र को तैयार करना।

(२) सात-सूत्री कृषि कार्यक्रम—(१) भूमि सुधारों को कार्यान्वित करना; (२) निःशुल्क सिंचाई की सुविधायें; (३) भूमिकर का उन्मूलन; (४) कृषि-आय-कर लागू करना; (५) कृषि पैदावार के लिये लाभकारी

मूल्यों को सुनिश्चित बनाना; (६) और (७) फसलो तथा पशु-बीमा योजनायें जारी करना।

(३) सम्पूर्ण कश्मीर को भारत का अभिन्न अंग समझना।

(४) उपनिवेशवाद और सैनिक गठबन्धनों के विरोध पर आधारित स्वतन्त्र वैदेशिक नीति को अपनाना।

(५) रूढिगत तथा अणु शस्त्रो में स्व-निर्भर बनने के लिए प्रयत्न करना।

(६) सीमाओं पर सहकारी कृषि समुदायों को स्थापित करना जिससे कि वे प्रतिरक्षा की दूसरी पंक्ति का कार्य करें। प्रतिरक्षा को सुदृढ बनाने के लिये समता का वातावरण आवश्यक है; अतः प्रतिरक्षा की तैयारी के लिये समाजवाद को हल्का न करके सुदृढ़ बनाना आवश्यक है।

(७) कानून द्वारा एक भ्रष्टाचार-विरोधी न्यायाधिकरण की स्थापना करना तथा प्रशासन के विरुद्ध नागरिकों की शिकायत को दूर करने के लिये एक ऐसे प्राधिकरण को नियुक्त करना जो कि कार्यपालिका से पूर्णतया स्वतन्त्र हो।

(८) निर्वाचित प्रतिनिधियों के प्रत्यावर्तन (recall) हेतु नागरिकों के अधिकार को स्वीकार करना, तथा आम चुनावो के ३ मास पूर्व मन्त्रियों के त्याग-पत्र के लिये कार्य करना।

(९) सभी अन्तर्राज्य विवादो को सुपारिभाषित एकरूप सिद्धान्तों के आधार पर हल करने के लिये एक सर्वोच्च पच-निर्णय बोर्ड बनाना।

(१०) सभी विद्यार्थियों के लिये स्कूल छोड़ने के स्टेज तक निःशुल्क शिक्षा देने का क्रमिक कार्यक्रम बनाना।

(११) एक ऐसी प्रतिरक्षा परिषद् की स्थापना करना, जिसमें केवल सैनिक अधिकारी ही नही वरन् सरकार तथा विरोधी पक्ष के नेता भी सम्मिलित हों।

(१२) सैनिक सगठनो, यथा एन० सी० सी० और होम-गार्डों के सगठनो का खूब विस्तार करना।

(१३) पचायतो को विकास और प्रजातन्त्रात्मक समाजवादी विकास का प्रशासनिक और आर्थिक अग बनाना तथा उन्हे आर्थिक नियोजन को प्रमुख इकाई बनाना।

(१४) स्वायत्ततापूर्ण और प्रजातन्त्रात्मक राष्ट्रीय औद्योगिक यूनियनों की स्थापना करना।

(१५) आर्थिक स्थिति, सामाजिक पद अथवा सांस्कृतिक लाभों का ध्यान न करते हुये सबके लिये अवसर की समता को सुनिश्चित बनाना। काम, मकान और भूमि पाने के लिये जनता को सामाजिक और आर्थिक मामलों के नियन्त्रण में सच्चा भाग दिलाना।

(१६) उत्पादन के तकनीकी स्तर को उठाना।

(१७) कृषि और औद्योगिक विकास की गति को तेज करना।

(१८) आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण को भंग करना।

(१९) सार्वजनिक क्षेत्र में अधिक बड़े निगमों को टुकड़ों में विभाजित करना, जिससे प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहन दिया जा सके तथा पहल और साहस करने वाले प्रबन्ध की व्यवस्था करना।

(२०) भाषायी अल्पसंख्यकों के लिये न्याय और सम-व्यवहार को सुनिश्चित बनाना।

(२१) अनुसूचित वर्गों, अनुसूचित जन-जातियों और भूमि-हीन श्रमिकों जैसे समाज के कमजोर वर्गों का उत्थान करना।

संयुक्त समाजवादी दल का घोषणा-पत्र, १९६७

इसकी मुख्य बातें निम्नलिखित है :

(१) कृषि—(अ) भूमि-कर का उन्मूलन; (आ) सभी भूमि की सिंचाई के लिये सात-वर्षीय योजना; (इ) कृषि और औद्योगिक मूल्यों में सन्तुलन; (ई) सभी भूमि के लिये उत्पादन की निम्नतम सीमा को नियत करना और जिस भूमि में उससे कम पैदावार हो उसे सरकार लेले, किन्तु इस शर्त पर कि सरकार किसानों के लिये सभी आवश्यक साधनों की व्यवस्था कर चुकी हो; (उ) कृषि के अन्तर्गत लाई गई नई भूमि पर निजी यान्त्रिक खेती के लिये सुविधाओं की व्यवस्था की जाये, परन्तु सामान्य अधिकतम सीमा के भीतर ही ऐसा हो।

(२) शिक्षा—(अ) प्रारम्भिक शिक्षा में पूर्ण समता स्थापित की जाये; (आ) मातृ-भाषा को माध्यम बनाया जाये; (इ) कालिजों और विश्वविद्यालयों में प्रवेश-नियमों को नियत किया जाये; और (ई) प्रारम्भिक, माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा के शिक्षकों की वेतन दरों में यथासम्भव अधिक से अधिक समता लाई जाये।

(३) उद्योग—(अ) उद्योगों को राष्ट्रीयकृत किया; और (आ) ट्रेड-यूनियनों को गुप्त मतदान के आधार पर मान्यता दी जाये।

(४) गृह-निर्माण—भूमि के उच्च मूल्यों और मकानों के उच्च किरायों की समस्या को हल करने के लिये यह प्रस्ताव है कि पदासीन होने के ६ माह के भीतर पार्टी सरकारी भूमि और वनों के बारे में

प्रभावी पग उठायेगी, जिससे कि किराये १ रु० प्रति वर्ग गज या वर्तमान के लगभग १/१० पर आ जायें।

(५) पिछड़ी हुई जातियाँ—आदिवासियों और अल्पसंख्यकों में पिछड़ी हुई जातियों को विशेष सुविधाओं का अधिकार दिया जायेगा। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उच्च स्थानों (पदों) के ६० प्रतिशत जनता के ऐसे ६० प्रतिशत भाग के लिये आरक्षित किये जायेंगे।

(६) प्रतिरक्षा—पार्टी यह प्रयत्न करेगी कि भारत को वे सीमायें प्राप्त हो जाये जो कि उसे इतिहास, प्रकृति और पर्यावरण ने दी है या कम से कम वे सीमाये जो कि उसकी १५ अगस्त १९४७ को थी।

(७) वैदेशिक नीति—एक नये विश्व के निर्माण हेतु शक्तिशाली देशों जैसे सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमरीका के बीच पार्टी ना-पसन्दगी (non-preference) की नीति का अनुसरण करेगी और बिना पक्षपात के उन देशों की जनता तथा सरकारों से सहयोग की आशा करेगी। दक्षिण अफ्रीका तथा रोडेशिया में जाति-विभेद नीति सम्बन्धी प्रश्नों के बारे में दल प्रभावी पग उठायेगा। पार्टी भारत और पाकिस्तान के कन्फेडेरशन या पुनर्मिलन के लिये कार्य करेगी।

—:o:—

अध्याय १५

राजनीतिक दल—२

१. जनसंघ और महासभा

भारतीय जनसघ

परिचयात्मक—भारतीय जनसघ की स्थापना २१ अक्तूबर १९५१ में स्वर्गीय डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी के प्रधानत्व में हुई थी। वास्तव में इसके अधिकतर सगठनकर्ता 'राष्ट्रीय स्वयं सेवक सघ' के सदस्य थे जो कि रा० स्व० से० स० के राजनीतिक विचारों के आधार पर एक राजनीतिक सगठन बनाना चाहते थे; क्योंकि कुछ समय पूर्व रा० स्व० से० स० ने राजनीति को छोड़कर एक सास्कृतिक संघ का उद्देश्य स्वीकार किया था। जनसघ को प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों पर सगठित किया गया, किन्तु इसमें पुराने रा० स्व० से० स० के कार्यकर्त्ताओं की बहुसख्या बनी रही, जिन्होंने प्रजातन्त्रतात्मक तरीको को व्यवहार में नही चलने दिया, परिणामस्वरूप अनेक जनसघियो ने जनसघ से अलग होने का निश्चय किया। **पामर** का यह कथन सच है कि भारतीय जीवन मे साम्प्रदायिकता (communalism) सबसे अधिक प्रबल और विभाजनात्मक शक्तियों में से एक है, परन्तु अभी तक किसी भी साम्प्रदायिक दल को राष्ट्रीय राजनीति में कोई सफलता नही मिली है और उनमें से बहुत कम ने राज्यीय या स्थानीय स्तर पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाला है। परन्तु हमारे विचार मे १९६७ में हुये आम चुनावो मे जनसघ, अकाली दल व रिपब्लिकन पार्टी आदि का महत्व काफी वढा है। पामर के मतानुसार हिन्दू साम्प्रदायिक दलो मे राजनीतिक दृष्टि से सबसे अधिक सफल भारतीय जनसघ रहा है।[1] इसे प्रथम तीनो आम चुनावों में सबसे अधिक मत प्राप्त हुये (और चौथे मे पहले की अपेक्षा कही अधिक)। प्रथम आम चुनाव मे इसे लोकसभा में ३ स्थान प्राप्त हुये थे, दूसरे मे चार और तीसरे मे १५। चौथे आम चुनाव में उसके प्रतिनिधियो की सख्या ३५ हो गई।

---

1 "Communalism is one of the most powerful and divisive forces in Indian life...The most successful politically of the Hindu communal parties is the Bhartiya Jan Sangh."

Kahin, G. M., (ed.), *Major Governments of Asia*, pp. 344-45.

प्रथम आम चुनावो के अवसर पर प्रकाशित अपने घोषणा-पत्र में जनसंघ ने इन बातो पर विशेष बल दिया था—भारतवर्ष कई सदियों के लम्बे संघर्ष के बाद स्वतन्त्र हुआ है, किन्तु स्वतन्त्रता की प्रसन्नता व्यक्तियों के हृदयो से तीव्र गति से मिटती जा रही है। सत्तारूढ दल की गलत नीतियों और राष्ट्रीय समस्याओं का हल करने में अभारतीय व अवास्तविक प्रयत्न ही देश मे ऐसी स्थिति के लिये उत्तरदायी हैं। जनसंघ विश्वास करता है कि भारत का एक होना आवश्यक है, अत. जनसंघ उसकी प्राप्ति के लिये सभी उचित उपायो को अपनायेगा। भारतीय राष्ट्रीयता का आधार सम्पूर्ण भारत के प्रति निष्ठा होना चाहिये। 'विविधता मे एकता' भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है, परन्तु भारतीय संस्कृति एक और अविभाज्य है। मिश्रित संस्कृति (composite culture) की कोई भी बात अवास्तविक और राष्ट्रीय एकता के लिये खतरे से पूर्ण होगी। जनसंघ का ध्येय धर्म राज्य है जिसका अर्थ धर्मतन्त्र (Theocracy) नही वरन् विधि का शासन है। किन्तु जिस अर्थ में आज धर्म-निरपेक्षता को लिया जाता है वह तो मुसलमानों को प्रसन्न करने की नीति है। जनसंघ भारतीय संस्कृति, भारत का भारतीय संस्कृति और मर्यादा पर पुनर्निर्माण करने के लिये खड़ा हुआ है और राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक प्रजातन्त्र की अवसर की समता व व्यक्ति की स्वतन्त्रता के आधार पर स्थापना करना चाहता है। यह व्यक्ति की स्वतन्त्रता और विधि के शासन पर आधारित प्रजातन्त्र में विश्वास करता है अतएव यह हिंसापूर्ण उपायो के प्रयोग को पसन्द नही करता।

संघ का कार्यक्रम—(१) यह ग्रामतन्त्र व जनपदो की स्थापना करेगा जो प्रान्तीय शासन के नीचे अधिक से अधिक विकेन्द्रीकृत सत्ता प्राप्त होंगे। केन्द्र अत्यधिक सुदृढ व प्रतिनिध्यात्मक पद्धति पर आधारित होगा। (२) भूमि से अधिक उत्पादन, किसान को भूमि का स्वामी बनाने के लिये प्रतिकर देकर जमींदारी व जागीरदारी प्रथाओं का उन्मूलन करेगा, किन्तु उन्हें भूमि जोतने वाले किसानों की तरह बसने का अवसर देगा; कुटीर उद्योगों का विकास और गौ-वध का अन्त करने का दृढ निश्चय; (३) आर्थिक और औद्योगिक नीति—दल किसी वाद से नही बँधा है किन्तु कपड़ा, खाना व मकान की व्यवस्था करने के लिये कड़े से कड़े पग उठाने में नही हिचकेगा, सभी दिशाओ मे उद्योगो का तीव्र गति से विकास बड़े उद्योगों पर सार्वजनिक स्वामित्व, निजी उद्योगो का प्रतिबन्धो के अधीन विकास, छोटे और कुटीर उद्योगों का जापान के नमूने पर विकास, स्वदेशी को प्रोत्साहन। (४) राजनैतिक क्षेत्र में—विदेश नीति का मार्ग-दर्शक सिद्धान्त देश हित होगा, राष्ट्रमण्डल की सदस्यता पर पुर्नविचार, जब तक पाकिस्तान पृथक् है उसके प्रति जैसे को तैसे वाली नीति का पालन, कश्मीर भारत का अभिन्न अंग है। विश्व में सैनिक गुटो को ध्यान मे रखते हुए देश की सैनिक शक्ति को बड़ी आवश्यकताओ और साधनो के अनुकूल बढ़ाना। आन्तरिक क्षेत्र में नागरिक स्वतन्त्रताओ को

प्रदान करना, वेकारी को दूर करना, हिन्दी को सार्वदेशिक भाषा बनाना, हिन्दू कोड विल जैसे सामाजिक सुधार केवल सुदृढ़ जनमत की मांग पर करना।

जनसंघ की नीति व्यवहार में एक ओर कुछ प्रतिक्रियावादी तत्वों को और दूसरी ओर साम्प्रदायिक तत्वों को बढ़ावा देने वाली प्रतीत होती है। भारत को अखण्ड बनाने की बात वर्तमान दशाओं में अव्यावहारिक है। दल ने अपने घोषणा-पत्र में आर्थिक प्रजातन्त्र की स्थापना, प्रशासन के निम्नतम स्तरों पर विकेन्द्रीकरण, शिक्षा पद्धति में क्रांतिकारी परिवर्तन, वेकारी को मिटाने तथा राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ बनाने इत्यादि सराहनीय राजनैतिक आदर्शों को सम्मिलित किया है, किन्तु उसके अधिकार कार्यकर्त्ताओं और सदस्यों की प्रतिगामी व साम्प्रदायिक मनोवृति के कारण व्यवहार में यह दल उन आदर्शों की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करेगा, इसमें संदेह है। चीनी आक्रमण के विरुद्ध जनमत के सुदृढ़ बनाने और शत्रु का डटकर विरोध करने में जनसंघ ने महत्वपूर्ण भाग लिया।

भारतीय जनसंघ के सन् १९६७ में हुए चुनावों के अवसर पर प्रसारित घोषणा-पत्र की मुख्य बातें निम्नलिखित है :

(१) देश की प्रतिरक्षा शक्ति को बढ़ाने के लिए अग्रलिखित पग उठाये जायेंगे—(अ) सेना, वायुसेना और नाविक सेना की शक्ति में वृद्धि, उन्हे आधुनिकतम शस्त्रों से सुसज्जित करना, उनकी कार्य-कुशलता को बढ़ाना तथा सैनिक व नागरिक गुप्तचर विभागों (military and civil intelligence) के बीच अधिक अच्छे समन्वय को सुनिश्चित बनाना, (आ) विशाल टेरीटोरियल सेना (Territorial Army) का निर्माण करना, (इ) सभी कालिजों में २ वर्ष के लिए गहन सैनिक प्रशिक्षण और सभी विश्वविद्यालयों में सैन्य-शास्त्र के पाठ्यक्रम की व्यवस्था, (ई) प्रतिरक्षा-उद्योगों तथा सैन्य-अनुसन्धान का विकास, जिससे कि देश अस्त्रों के मामले में आत्म-निर्भर हो जाय, (उ) अणु-शस्त्रों और मिसिलियों का उत्पादन, और (ऊ) स्थायी नागरिक प्रतिरक्षा संगठन की रचना।

(२) देश के हितो व अखडता को सुरक्षित बनाने के लिए जनसंघ स्वतन्त्र वैदेशिक नीति का अनुसरण करेगा और विभिन्न देशों से दोनों शक्ति गुटों के साथ उनकी निष्ठा का ध्यान रखते हुए पारस्परिक हितों के आधार पर अलग-अलग समझौते (bilateral alliances) करेगा। वैदेशिक नीति के क्षेत्र मे दल अग्रलिखित बातो के लिए वायदा करता है : (अ) संयुक्त राष्ट्र संघ में साम्यवादी चीन के प्रवेश का विरोध, (आ) तैवान सरकार को मान्यता देना किन्तु इस शर्त पर कि वह सरकार भारत की सीमाओं को मान्यता दे, (इ) तिब्बत और सिंकियाग के स्वतन्त्र पद को मान्यता तथा दलाईलामा की निष्कासित सरकार को भी मान्यता प्रदान करना, (ई) भारत और पाकिस्तान के पुनः एकीकरण के

लिए कार्य करना, (उ) दक्षिण-पूर्वी एशिया और अफ्रीका के देशों के साथ अधिक निकट सम्बन्ध स्थापित करना, (ऊ) इजराइल के साथ पूर्ण राजनयिक सम्बन्ध कायम करना, और (ए) मोरीशस, सुरीनाम, गिनी, फिजी आदि देशों के साथ, जिनमें भारतीय काफी बड़ी सख्या मे जाकर बस गये है, अधिक घनिष्ठ सम्बन्धो का विकास करना।

(३) सविधान के अनुच्छेद ३७४ को रद्द करना और जम्मू-कश्मीर राज्य को अन्य राज्यो के स्तर पर लाना।

(४) भारत को एकात्मक राज्य घोषित करना।

(५) सभी पृथकतावादी मांगो और भेदभाव पूर्ण व्यवहारों का अन्त करना।

(६) सभी भारतीयों के लिए विवाह, गोद लेने, उत्तराधिकार आदि के बारे मे एक रूप नागरिक कानून-सग्रह का निर्माण करना।

(७) भ्रष्टाचार के मामलो में, उच्चतम स्तर पर भी, जाच करने के लिए उच्च-शक्ति प्राप्त आयोग को नियुक्त करना।

(८) केन्द्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय सरकारो के सभी कर्मचारियो के वेतन-क्रम एकरूप होगे।

(९) सरकारी कर्मचारियों की शिकायतो को दूर करने के लिए ब्रिटिश ह्विटले कौंसिलो के नमूने पर एक प्रभावी और पूर्णतया प्रतिनिधिक वार्ता तन्त्र (negotiating machinery) की शीघ्र ही रचना की जायेगी।

(१०) सरकारी कर्मचारियो के लिए पूर्ण सुविधाओं की व्यवस्था करते हुए, जनसघ सयमता और सादगी का पालन करेगा। सरकारी अधिकारियों का अधिकतम वेतन राष्ट्रीय अधिकतम (national maximum) को ध्यान मे रखते हुए २००० रु० प्रति मास व्यय योग्य आय रखी जायेगी।

(११) आपातकाल का अन्त किया जायेगा और भारत प्रतिरक्षा नियमों को हटाया जायेगा।

(१२) ग्राम पचायतो को ऊपर से थोपने के बजाय नीचे से विकसित किया जायेगा, उनके कार्य सचालन मे सर्व-सम्मत चुनाव की प्रथा का समर्थन किया जायेगा, और भूमिकर का कुछ भाग पचायतो को दिया जायेगा।

(१३) न्यायपालिका को कार्यपालिका से सभी स्तरों पर पृथक किया जायेगा।

(१४) सन् १९७२ तक ११ वर्ष तक की आयु के सभी बालकों के लिये अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की जायेगी, और उच्चतर माध्यमिक स्टेज तक शिक्षा को निःशुल्क करने के लिए कार्य किया जायेगा।

(१५) सस्कृत को देश की राष्ट्रीय भापा घोषित किया जायेगा।

(१६) खाद्य समस्या के बारे मे जनसघ ये पग उठायेगा—(अ) उद्र-(levy) ग्रहण और एकाधिकार खरीद की पद्धति का उन्मूलन किया जायेगा, (आ) खाद्य-जोनों का उन्मूलन किया जायेगा, (इ) सभी क्षेत्रों में उचित मूल्य की दुकानें खोली जायेंगी, और (ई) खाने की वस्तुओ पर से विक्री तथा अन्य करो का उन्मूलन किया जायेगा।

(१७) सविधान का सशोधन किया जायेगा जिससे कि गौ और उसकी सन्तान के वध पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगाया जायेगा।

(१८) लघु पैमाने के विकेन्द्रीकृत उद्योगो को प्रोत्साहन दिया जायेगा।

(१९) साम्यवादी दलों के सिवाय अन्य सभी देशो के साथ आयात-निर्यात व्यापार निजी हाथों में रहेगा।

(२०) अनुवन्धित श्रमिको के लाभ (bouns) पर अधिकार को पार्टी स्वीकार करती है।

(२१) वस्तुओं के बढ़ते हुए मूल्यों को रोकने के लिए पार्टी सर-कारी व्यय में भारी कटौती करेगी और उपभोग की वस्तुओं की पूर्ति बढायेगी।

भारतीय जनसघ का १९६७ मे वार्षिक अधिवेशन कालिकट (केरल) में हुआ। उस अवसर पर अग्रलिखित प्रस्ताव स्वीकार किये गये : प्रतिरक्षा और वैदेशिक सम्वन्धो के बारे में स्वीकृत प्रस्ताव में कहा गया कि भारत सरकार को अणुबमों के प्रयोग को रोकने के लिए ऐसे बमों को बनाना चाहिए, भारत को अपनी सामुद्रिक शक्ति को विस्तृत तथा आधुनिक बनाकर भारत महासागर पर अपने प्रभाव का विस्तार करना चाहिए, तैवान को मान्यता प्रदान करनी चाहिए, और पाकिस्तान द्वारा अधिकृत भारतीय क्षेत्रों से पाक सेनाओ को वापस भेजना चाहिए। आर्थिक स्थिति पर स्वीकृत प्रस्ताव में कहा गया कि भारत की योजनायें अभी तक अधिकांशतः वैदेशिक सहायता पर निर्भर हैं, वस्तुओं के मूल्यों में निरन्तर वृद्धि के परिणामस्वरूप जीवन मूल्य का सूचकांक ६ वर्षों में ८७ विन्दु बढ़ा है और योजनाओं के अधिक बड़ा होने के साथ-साथ वेरोजगारी की समस्या तीव्रतर होती चली गई है। प्रस्ताव में यह सशोधन भी स्वीकार किया गया कि उचित-मूल्य की दुकानों पर निम्न आय वाले समूहों के लिए खाद्यानो को उपलब्ध किया जाये। राजनीतिक स्थिति के बारे में कहा गया कि काग्रेस के अनेकीकरण के परिणामस्वरूप भारतीय जनसघ का उत्तरदायित्व

बढ़ गया है, क्योंकि यही एक दल है जो कि ऐसे तत्वों का विरोध करता है जो संक्रमणकाल की अस्थिरता से अराजकता पैदा करके लाभ उठाना चाहते है। प्रस्ताव में ऐसी प्रजातन्त्र और राष्ट्र-विरोधी शक्तियों की कटु निन्दा की गई, जो कि केरल व पं० बंगाल में उभर रही हैं।

हिन्दू महा-सभा—इसकी स्थापना सन् १९१९ में हुई थी, प्रारम्भिक काल मे इसका उद्देश्य हिन्दुओं की सांस्कृतिक व सामाजिक उन्नति करना था। इसके विकास मे मदन मोहन मालीय, ला० लाजपतराय, वीर सावरकर और डा० श्यामा प्रसाद मुकर्जी जैसे नेताओं का बड़ा भाग रहा है। आगे चलकर महासभा ने हिन्दुओं के लिये वही कार्य करने का प्रयत्न किया जो कि मुस्लिम लीग मुसलमानों के लिये करती थी। वास्तव में इसे मुस्लिम लीग की अनुचित राजनैतिक मांगों और कांग्रेस की मुसलमानों को यथासम्भव अधिक से अधिक सुविधायें देने की नीति के विरोध मे ही बल मिला। फिर भी महासभा अपने राजनैतिक उद्देश्य में कभी भी सफल न हो सकी, क्योंकि हिन्दुओं की बहुसंख्या कांग्रेस की नीति का ही समर्थन करती रही और देश हित में यह उचित ही था। महासभा ने सन् १९२२ मे साम्प्रदायिक पचाट और आगे पाकिस्तान की स्थापना का विरोध किया, किन्तु इसका विरोध प्रभावशाली न बन सका। महासभा का दृष्टिकोण बहुत कुछ जनसंघ से ही मिलता है।

प्रथम आम चुनावो के अवसर पर महासभा ने अपने कार्यक्रम में इन बातों को सम्मिलित किया था : भारत की अखण्डता को फिर स्थापित करना, भारत में हिन्दू राष्ट्रवाद की स्थापना, भारत के संविधान मे आवश्यक संशोधन करके सच्चे प्रजातान्त्रिक हिन्दू राज्य की स्थापना; सुदृढ़ केन्द्र और राज्यो के अन्तर का अन्त, राष्ट्रमण्डल से सम्बन्ध विच्छेद, निजि सम्पत्ति की पवित्रता में विश्वास, भारत को संसार के प्रमुख औद्योगिक देशो मे स्थान दिलाना। दूसरे आम चुनाव के घोषणापत्र में महासभा ने इन बातों पर बल दिया—राष्ट्रमण्डल की सदस्यता का त्याग, पाकिस्तान भारत पर आक्रमण की जोरदार तैयारियों में लगा है, अतः भारत के स्कूलों और कालिजों में सैनिक शिक्षा तुरन्त ही अनिवार्य की जाये; आर्थिक क्षेत्र में उन्नतिशील व गतिशील नीति का पालन, बेकारी को पूर्णतः मिटाना, बड़े पैमाने पर सहकारी कृषि, भूमि पर स्वामित्व की सीमा लगाना अनुचित है। महासभा के भूतपूर्व प्रधान एन० सी० चटर्जी ने एक भाषण में कहा था, 'महासभा का बड़ा काम भारत मे हिन्दू राष्ट्र को पुनर्जीवित करना और उसकी बुराइयों को दूर करना है। भारत सरकार की विदेश नीति अवास्तविक है, क्योंकि यह अपने पडोसी देशो से सम्बन्धित समस्याओ को तो हल करने का प्रयत्न नही कर रही है, परन्तु कोरिया, चीन, फारमूसा व सम्पूर्ण विश्व की समस्याओ के निराकरण मे लगी है। इसकी सफलता की परीक्षा का निर्णय गोआ, कश्मीर, सीलोन व पाकिस्तान से सम्बन्धित समस्याओं के हल पर किया जाना चाहिये। महासभा एक

साम्प्रदायिक सगठन है। इसमे कुछ कार्यकर्त्ताओं को छोड़कर अधिकतर प्रतिक्रिया-वादी तत्व सम्मिलित हो गये है और इसका संगठन अति क्षीण है।

हिन्दू महसभा का चुनाव घोषणा-पत्र—इसमें हिन्दुस्तान के निर्वाचकों के प्रति निम्नलिखित बातो की शपथ ली गई है :

(१) शीघ्र ही हिन्दू राष्ट्र का विकास करना, जो कि भारत की जनता को सच्चे लोकतन्त्र के निर्माण हेतु एकता के सूत्र में बाधे रखे। (२) हिन्दुस्तान की एकता व अखडता के लिए भक्ति (वफादारी) को सुदृढ बनाना। (३) सभी उचित उपायों द्वारा अखन्ड हिन्दुस्तान का पुनः स्थापन करना। (४) भारत के सम्पूर्ण सविधान इस प्रकार से दोहराना कि उसे हिन्दुओ की परम्पराओं और सस्कृति के अनुरूप बनाया जा सके तथा उसे सच्चा लोकतन्त्रात्मक राज्य बनाया जा सके। उस शपथ को पूरा करने के लिए घोषणापत्र मे निम्नलिखित नीतियाँ व प्रस्ताव दिये गये है :

(१) भारत के सविधान का सशोधन : (अ) देश को हिन्दू लोक-तन्त्रात्मक राज्य घोषित करना, (आ) शिक्षा के सम्पूर्ण काल मे हिन्दू धर्म के शिक्षण को एक अनिवार्य विषय बनाना, (इ) वर्तमान राज्यो को राज्य न कहकर प्रान्त कहना, (ई) गायों, सांडो और सभी आयु की गौ सन्तान के वध को कानून द्वारा बन्द करना, (उ) हिन्दुस्तान के सभी नागरिकों के लिए पूर्ण नागरिक स्वतन्त्रता की प्रत्याभूति देना, और (ऊ) किसी भी सत्तारूढ दल के लिए यह असम्भव बना देना कि वह निवारक निरोध कानून तथा अन्य ऐसे कानूनो द्वारा जो कि मूल अधि-कारो के विरुद्ध हो, विरोधी दलो का दमन कर सके।

(२) भारत की वैदेशिक नीति को अग्रलिखित आधारो पर पुनर्गठित करना : (अ) नेपाल, सिक्किम, भूटान, बर्मा और सीलोन जैसे सभी पड़ौसी हिन्दू देशो से मित्रता कायम करना : (आ) दूसरे देशों के मामलों में न तो अन्तर्ग्रस्त होना और न ही उनमें हस्तक्षेप करना, (इ) सभी सम्भव उपायों द्वारा भारतीय क्षेत्रो को स्वतन्त्र करना और तिब्बत को चीनी आधिपत्य से स्वतन्त्रता दिलाना, जिससे कि वह चीन और भारत के बीच मे मध्यवर्ती राज्य (buffer state) बन सके, और (ई) राष्ट्रमण्डल की सदस्यता को त्यागना जिससे कि भारत वास्तव मे स्वतन्त्र देश बन सके।

(३) भारत की प्रतिरक्षा नीति को अग्रलिखित बातो को सुनिश्चित बनाना चाहिए : (अ) भारतीय अस्त्र कानून के स्थान पर दूसरा कानून बनाना, (आ) १८ और २० वर्ष की आयु के बीच वाले सभी नवयुवकों को अनिवार्य सैनिक शिक्षण देना, (इ) स्कूलो और कालिजो मे विद्या-र्थियो के अनिवार्य एन० सी० सी० का प्रशिक्षण देना, (ई) अस्त्र और

प्रतिरक्षा उद्योगों का निर्माण करना, (उ) अणुबम तथा अन्य अणु-शस्त्र बनाना, और (ऊ) देश के सीमा प्रदेशों में पर्वतीय और गुरिला युद्ध का प्रशिक्षण देना तथा पाकिस्तान सीमा के साथ २२० मील चौड़े सुरक्षा जोन की रचना करना।

(४) भाषा सम्बन्धी नीति ऐसे सभी प्रयत्नों का विरोध करने की होगा जो कि हिन्दी को संविधान द्वारा प्रदत्त स्थान से हटाने के लिये किये जायें।

(५) कश्मीर के बारे में अनुच्छेद ३७० को रद्द करना, जिससे उस राज्य को विशेष पद प्राप्त हुआ है।

(६) विदेशी ईसाई धर्म-प्रचारकों तथा विदेशी धन के प्रवेश पर कानूनी प्रतिबन्ध लगाना, क्योंकि धन ही उन्हें अपने कार्य करने का अवसर प्रदान करता है।

(७) सभी अत्यन्त महत्वपूर्ण उद्योगों—कोयला और लोहा, परिवहन और संचार के साधन तथा ऐसे उद्योगों का, जिनका सम्बन्ध युद्ध सामग्री और प्रतिरक्षा शस्त्रों से है, राष्ट्रीयकरण करना।

(८) सभी के लिए सम अवसर, कर्मचारियों, उद्योगपतियों व उपभोक्ताओं के बीच उद्योगों से होने वाले लाभों का सम वितरण, जिसके लिए उचित नियन्त्रण तन्त्र कायम किया जाये।

(९) भूमि के जोतने वाले के लिए परिश्रम के पूर्णफल, सहकारी आन्दोलन को प्रोत्साहन देना, सस्ते तथा लम्बी अवधि वाले ऋणों की व्यवस्था।

(१०) करों में कमी करना, विशेषकर निम्नतर और मध्यम वर्गों तथा छोटे उद्योग पतियों पर।

२. स्वतन्त्र पार्टी

स्वतन्त्र पार्टी—अगस्त १९५९ के आरम्भ में श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, श्री के० एम० मुन्शी, श्री मसानी, श्री एन० जी० रंगा आदि नेताओं के नेतृत्व के अन्तर्गत भारत में एक नयी राजनीतिक पार्टी की स्थापना हुई। इस पार्टी का नाम स्वतन्त्र पार्टी है। इस समय इसके प्रधान श्री एन० जी० रंगा है। इस पार्टी की नीति कांग्रेस, समाजवादी एवं साम्यवादी दल द्वारा समाजवाद के पक्ष-समर्थन के विरोध की है। यह उद्योगों पर राज्य का कम से कम नियन्त्रण चाहती है तथा सरकारी खेती और जोत की भूमि पर सीमा लगाने का विरोध कर रही है। इसने अपने प्रथम सम्मेलन में २१ सूत्री कार्यक्रम अपनाया जिसके कुछ अंश निम्नलिखित हैं—

(१) स्वतन्त्र पार्टी ने सामाजिक न्याय की शपथ ली है। इस 'सम्बन्ध में कोई भेदभाव' नहीं बरता जायेगा। (२) पार्टी का मत है कि जनता का कल्याण

प्रगति तथा खुशहाली व्यक्तिगत पहल, प्रोत्साहन तथा शक्ति पर निर्भर करती है। पार्टी की नीति व्यक्ति के लिये अधिकतम स्वतन्त्रता तथा सरकार द्वारा न्यूनतम हस्तक्षेप किये जाने की है। (३) पार्टी का मत है कि सरकार को कानून आदि की आड़ न लेकर लोक-सेवा का सिद्धान्त अपनाना चाहिये। इस सम्बन्ध में गांधी जी ने सरक्षण का जो सिद्धान्त अपनाया था, पार्टी उसका समर्थन करती है। (४) पार्टी का मत है कि राष्ट्र की विकास नीतियो में जनता की मूल जरूरतों जैसे भोजन, पानी, मकान, तथा कपड़े को प्राथमिकता दी जानी चाहिये। (५) पार्टी का विश्वास है कि हर नागरिक को अपनी इच्छानुसार अपने बच्चों को पढ़ाने का अधिकार हो और सरकार को इस सम्बन्ध मे बिना किसी भेदभाव के सुविधायें देनी चाहियें। (६) औद्योगिक क्षेत्र मे दल का विश्वास अधिक उत्पादन और विस्तार करने को प्रोत्साहन देने में है, साथ ही मजदूरो को पूर्ण सरक्षण मिलना चाहिये। पार्टी राज्य-व्यापार के विरुद्ध है। (७) पार्टी छोटे तथा स्वयं काम करने वाले कारीगरो व व्यापारियों की स्वतन्त्रता का समर्थन करती है जिनका काम सरकारी नीतियों के कारण छिन जाने का खतरा है। (८) पार्टी का विश्वास है कि करों का स्तर इतना होना चाहिये कि लोगो के जीवन-स्तर मे गड़बड़ी न पड़े। (९) पार्टी की नीति इस क्षेत्र में रोजगार देने की है। यह सर्वव्यापी औद्योगीकरण के पक्ष मे है। (१०) पार्टी मजदूरों के साथ न्याय करने के पक्ष में है। उत्पादन बढने के साथ-साथ मजदूरो को उचित वेतन मिलना चाहिये।

स्वतन्त्र पार्टी, सक्षेप मे, व्यक्ति के लिये अधिकतम स्वतन्त्रता का समर्थन करती है और यह राज्य द्वारा कम से कम हस्तक्षेप चाहती है। यह महात्मा गाधी द्वारा प्रतिपादित ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त को स्वीकार करती है। पार्टी के मत मे कांग्रेस का नागपुर अधिवेशन पर सहकारी कृषि-प्रस्ताव सोवियत संघ में अपनाये गये सामूहिक फार्मों से भिन्न नही है। यह प्रस्ताव किसान के भूमि पर स्वामित्व की भावना का विरोधी है और पार्टी का विश्वास है कि सयुक्त कृषि ऐच्छिक आधार पर व्यावहारिक नही है। स्वतन्त्र दल जोत की भूमि पर सीमा (celings) लगाने के विरुद्ध है। पार्टी के नेता वर्तमान नियोजन प्रणाली के भी विरुद्ध हैं; उनके विचार में इसका परिणाम पूर्ण नियोजन (total planning) होगा। आलोचकों के अनुसार स्वतन्त्र पार्टी फिर से १९वी शताब्दी वाले व्यक्तिवाद को पुनर्जीवित करना चाहती है। यह समाजवाद की विरोधी और पूंजीवाद की समर्थक है। जवाहरलाल नेहरू के मतानुसार यह स्वतन्त्र उद्योग और व्यापार (Free enterprise) के समर्थकों का राजनैतिक क्षेत्र मे प्लेटफार्म है।

यद्यपि स्वतन्त्र पार्टी की स्थापना तीसरे आम चुनावों से केवल ढाई वर्ष पूर्व हुई थी, फिर भी उन चुनावो में इसने कांग्रेस-और साम्यवादी दल को छोड़कर अन्य सभी पार्टियो से अधिक स्थान जीते। लोकसभा मे प्राप्त स्थानों तथा इसके

उम्मीदवारो को प्राप्त मतो की दृष्टियों से, स्वतन्त्र पार्टी का स्थान तीसरा रहा और जनसघ, प्रजा समाजवादी पार्टी, समाजवादी पार्टी व हिन्दू महासभा उससे नीचे रहे। राज्य विधान सभाओं के चुनावो मे पार्टी को २०७ स्थान प्राप्त हुए, जबकि साम्यवादी पार्टी को २०१, प्रजा समाजवादी पार्टी को १८१, जनसघ को ११२ और समाजवादी पार्टी को ६२ स्थान मिले। उसके बाद पार्टी ने बिहार, राजस्थान, उड़ीसा और गुजरात में क्रमश. ५०, ४६, ३६ और २६ स्थानों के साथ विरोधी पक्ष (official opposition) का स्थान प्राप्त किया। इस प्रकार १६६२ में ही पार्टी की उपलब्धिया प्रभावशाली रही। 'राष्ट्रीय दृश्य पर आने से पूर्व, सत्तारूढ पार्टी के विरुद्ध आवाजें केवल वामपथी पार्टी की ओर से आती थी।' उसका एक परिणाम यह रहा कि काग्रेस स्वय वामपथी बनती चली गई। जब स्वतन्त्र पार्टी की स्थापना की गई, उसके नेताओ का उद्देश्य कदाचित काग्रेस पर वामपथी पार्टी के विरोध में दक्षिणपथी दबाव डालना था। परन्तु चुनावों में सफलता के बाद पार्टी के नेताओ की दृष्टि ऊपर उठ गई। वे सोचने लगे कि वे कांग्रेस को अगले चुनावो पर अधिक गम्भीर चुनौती दे सकेंगे।'[2] गुजरात, राजस्थान और उडीसा मे उनकी आशा कुछ पूरी हुई। चौथे आम चुनावो में पार्टी ने और अधिक स्थान प्राप्त किये जैसा कि इन आकडो से स्पष्ट होगा–लोक सभा में ४२ आन्ध्र प्रदेश २६, गुजरात ६४, मद्रास ३०, उड़ीसा ४६, राजस्थान ४७, परन्तु बिहार मे इसके प्रतिनिधियों की सख्या बहुत कम हो गई।

स्वतन्त्र पार्टी का चुनाव घोषणा पत्र, १६६७

(१) पार्टी सामान्य जन के लिये खडी है और उसके लिये लाभकारी रोजगार के सम अवसरो द्वारा खाने, कपड़े तथा मकान की व्यवस्था करना चाहती है।

(२) इसका विश्वास ऐसे सम्पत्ति-स्वामी प्रजातत्र में है जिसमें आर्थिक सत्ता, जैसा गाधी जी सोचते थे, विकेन्द्रीकृत हो और स्वामित्व अधिक से अधिक व्यापक रूप मे फैला हो। ऐसे समाज में स्वयं अपना काम करने वाले को, चाहे किसान हो, शिल्पी हो, [illegible] हो या व्यवसायकर्ता हो, बिना किसी स्वेच्छाचारी प्रतिबन्धों के [illegible] और बढ़ने का पूर्ण अवसर मिलता है।

---

2 "Before the Swatantra Party came on the [illegible], the [illegible] of dissent came mainly from the left. One [illegible] was that the Congress itself began increasingly to speak in [illegible]. When the Swatantra Party was founded, the leaders had perhaps the aim of [illegible] the Congress some countervailing pressure, from the Right. But [illegible] success at the polls, Swatantra leaders have [illegible] electoral [illegible]. They think that they are in a position to present a [illegible] challenge to the Congress in the next general elections."

'Emergence of a Conservative [illegible] Party' [illegible]

(३) स्वतन्त्र और प्रतियोगी समाज में उपभोक्ता राजा होता है। सभी उत्पादक राज्य और बड़े से बड़े उद्योगपति उसकी सेवा में लगे रहते है।

(४) सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का आधार कुछ आवश्यक सेवायें यथा पानी व्यवस्था, बिजली शक्ति, राजमार्ग और ग्रामीण सड़कें, रेलवे, जलमार्ग, डाक, तार और टेलीफोन आदि है, जिनकी ओर गत १२ वर्षों में कांग्रेस सरकार ने ध्यान नही दिया है।

(५) (अ) खाद्य समस्या को केवल कृषक के स्वामित्व के सिद्धान्त की स्वीकृति द्वारा ही हल किया जा सकता है, जिसके लिये संविधान के १७वें संशोधन को हटाने, भूमिकर के उन्मूलन, आवश्यक वस्तुओं यथा ऋण, पानी, खाद, कीटाणु नाशक दवाइयां, बीज, बिजली शक्ति की पर्याप्त व्यवस्था, किसान के लिये वृद्धिपूर्ण प्रेरकों (incentives) की व्यवस्था और इस अधिकार का स्वीकार किया जाना कि उसे उसकी पैदावार के लिये बाजार में उच्चतम मूल्य मिले। (आ) पार्टी का विश्वास है कि सभी प्रकार के अनिवार्य उद्ग्रहणों (compulsory levies) को हटाया जाये और कृषि की पैदावार के देश में स्वतन्त्र चलन पर किसी प्रकार की जानलेवा अन्य रुकावटें न हों। (इ) सरकार को कृषि के क्षेत्र में अपने कार्य केवल अनुसंधान और शिक्षण तक सीमित रखने चाहियें। (ई) पार्टी यह प्रयत्न करेगी कि सम्पूर्ण कृषि योग्य भूमि में लघु सिंचाई की व्यवस्था हो।

(६) (अ) *निवेश बाजार (investment market) को पुनर्जीवन देकर और उत्पादक निवेश को प्रोत्साहन देकर उद्योग की गिरती हुई तथा स्थिर स्थिति में परिवर्तन लाना; इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये करों में कमी की जायेगी, प्रगतिशील रूप से नियन्त्रणों का उन्मूलन* किया जायेगा और प्रेरकों की व्यवस्था की जायेगी, जिससे कि निवेशक, प्रबन्धक और श्रमिक सहयोग कर सकें और उत्पादन को बढ़ाकर उसके लाभ में भाग पा सकें। (आ) यह सभी प्रकार के एकाधिकार के विरुद्ध है, चाहे राजकीय क्षेत्र में हो या स्वतन्त्र (अर्थात् निजी) क्षेत्र में; और यह जहां कहीं भी सम्भव हो प्रतियोगिता को उपभोक्ता के हित में पुनः स्थापित करेगी। एकाधिकार, जहां कहीं भी सहन किया जाता है, आवश्यक नियन्त्रण के अधीन रहेगा।

(७) पार्टी श्रमिकों के अग्रलिखित अधिकारों के लिये अपने समर्थन को दोहराती है—संगठन व सामूहिक वेतन निर्धारण (*collective* bargaining), प्रबन्ध के साथ वृद्धिपूर्ण सहयोग (association with management) और उत्पादन के लाभों व उनसे आने वाली समृद्धि

में उचित भाग पर आधारित न्यायपूर्ण सौदा (fair deal)। यह श्रमिकों के शोषण और उनके संगठनों के साथ राजनीतिक पार्टियों के सम्बन्ध के विरुद्ध है।

(८) नियोजन के बारे में पार्टी ऐसे प्रजातन्त्रात्मक नियोजन में विश्वास प्रकट करती है जैसा कि ब्रिटेन, फ्रांस नॉरवे और स्वीडन आदि देशों में पाया जाता है, और यह सोवियत नमूने के शक्ति पर आधारित नियोजन के विरुद्ध है, जो कि बुरी तरह से असफल रहा है।

(९) प्रथम आवश्यकता इस बात की है कि 'ईमानदार रुपये (honest rupee) और स्थायी मूल्यों की व्यवस्था अग्रलिखित के द्वारा की जाये—(अ) घाटे के वित्त (deficit financing) और अन्य मुद्रा-स्फिति नीतियों का त्याग ; (आ) संघ व राज्य सरकारों के व्यर्थ अपव्यय में भारी कटौती और (इ) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों के भार में सार-पूर्ण कमी।

(१०) लोक-प्रशासन के क्षेत्र में पार्टी के ये प्रस्ताव हैं—(अ) संविधान में दिये गये मूल अधिकारों को फिर से मौलिक रूप प्रदान करना (अर्थात उनके संशोधनों का अन्त करना) ; (आ) देश को स्वच्छ, ईमान-दार और कुशल प्रशासन देना ; (इ) द्रुतगामी तथा कम खर्चे वाले न्याय को सुनिश्चित करना , (ई) भ्रष्टाचार और नागरिकों के अधिकारों में स्वेच्छाचारी हस्तक्षेप को रोकने के लिये, पार्टी इस बात पर जोर देगी कि केन्द्र तथा राज्यों में नॉरवे-स्वीडन देशों की भांति ओम्बुडसमैन (Ombudsman) का स्वतन्त्र प्राधिकरण स्थापित किया जाये जो कि नागरिकों की शिकायतों और प्रशासन के अन्यायपूर्ण कार्यों की जांच करेगा।

(११) (अ) चूंकि देश की अखण्डता का अतिक्रमण हुआ है, प्रथम साम्यवादी चीन द्वारा और बाद में पाकिस्तान द्वारा, इसलिये 'गुटों से अलग रहने की धारणा' (the concept of non-alignment) पूर्णतया अर्थहीन हो गया है और सैनिक गठबन्धनों (military alliances) का विरोध भी अर्थहीन हो जाता है। पार्टी दक्षिण वियतनाम की सरकार और जनता तथा उनके साथी देशों का समर्थन करती है, क्योंकि वे साम्यवादी चीन के आक्रमण और विस्तारवाद तथा उसके उत्तरी-पिछलग्गुओं का विरोध कर रहे हैं। (आ) यह तिब्बत के स्वतन्त्र किये जाने और दलाई लामा को तिब्बत की सरकार के अध्यक्ष रूप में मान्यता देने का समर्थन करती है। (इ) सन् १९६५ में पाकिस्तान द्वारा किये गये आक्रमण ने पाकिस्तान को कश्मीर समस्या के बारे में उसके किसी भी प्रकार के अधिकार से वंचित कर दिया है और (ई) इजराइल तथा चीनी गणतन्त्र (Taiwan) से राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करना।

३. भारतीय क्रांति दल (बी. के. डी.)

सन् १९६७ में हुए ग्राम चुनावों के बाद बनी यही एक महत्वपूर्ण अखिल भारतीय पार्टी है। इसकी स्थापना १९६७ के मध्य में हुई, जबकि उत्तर प्रदेश, बिहार, प० बंगाल और मध्य प्रदेश के पुराने कांग्रेसी नेताओं ने, जो कि कांग्रेस को चुनावों से पूर्व छोड़ गये थे या जिन्होंने चुनावों के बाद कांग्रेस से त्याग-पत्र दिये, एक संयुक्त अखिल भारतीय राजनीतिक दल बनाने का निर्णय किया। इसके संस्थापकों में तत्कालीन बिहार के मुख्यमंत्री श्री महामायाप्रसाद सिन्हा, प० बंगाल के मुख्य मंत्री श्री अजय मुकर्जी, उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री श्री चरण सिंह, श्री कुम्भा राम आर्य (राजस्थान), ला० जगत नारायण (पंजाब), प्रो० हुमायूं कबीर (प० बंगाल) आदि उल्लेखनीय हैं। दल के चोटी के नेताओं ने, जिनकी बैठकें अक्तूबर १९६७ में लखनऊ में हुईं, नई पार्टी का नाम 'भारतीय क्रान्ति-दल' रखा। दल के जनरल सेक्रेटरी श्री डी. के. कुन्टे (मध्य प्रदेश) ने दल के उद्देश्यों और लक्ष्यों के विषय में कहा है कि 'यह प्रजातन्त्र, राष्ट्रवाद, धर्मनिरपेक्षता, समाजवाद और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के आधारभूत मूल्यों में भारतीय जन के विश्वास को फिर से कायम करने का प्रयत्न करेगा।'

दल के प्रारूप संविधान को इन्दौर में २८ अक्तूबर को प्रकाशित किया गया। उसमें कृषि के बारे में कहा गया कि 'दल बड़े फार्मों की अपेक्षा छोटे फार्मों को प्रोत्साहन और अधिमान्यता (*preference*) देगा और ऐसी कृषि अर्थव्यवस्था को जिसमें स्वतन्त्र किसान आपस में सहकारिता के सिद्धान्त से सम्बन्धित हों'। कारखानों के उद्योगों के बारे में कहा गया कि 'दल ऐसी अर्थव्यवस्था की स्थापना करेगा जिसमें इस बात का ध्यान रखा जाय कि देश में पूंजी की कमी है, प्रति व्यक्ति आय बढ़ाने की आवश्यकता है, बेकारी और अर्द्ध-बेकारी को दूर करना, तथा मनुष्य के मनुष्य द्वारा शोषण से बचना।'

दल का प्रथम राष्ट्रीय सम्मेलन ९, १० व ११ नवम्बर १९६७ को इन्दौर में हुआ, जिसका सभापतित्व बिहार के मुख्य मंत्री श्री महामाया प्रसाद सिन्हा ने किया और जिसमें लगभग १००० प्रतिनिधियों ने भाग लिया। परन्तु सम्मेलन पर दल के दो गुटों में एक गम्भीर मतभेद पैदा हुआ और सम्मेलन का काफी समय उसे ही निपटाने में लगा। सम्मेलन ने सर्वसम्मति से दल के प्रारूप संविधान को स्वीकार किया तथा यह घोषित किया कि 'मोटे रूप में दल एक ऐसे लोकतन्त्रात्मक समाज की रचना के लिए, जो कि आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक शोषण से मुक्त हो, महात्मा गांधी के दर्शन के अनुसार कार्य करेगा। दल ने नीले और सफेद रंग के झंडे को स्वीकार किया; नीला रंग समुद्र व आकाश दोनों का द्योतक है और सफेद रंग शुद्धता का। सफेद भाग पर ८ स्पोक वाला पहिया क्रान्ति का चिह्न है। श्री महामाया प्रसाद सिन्हा को दल का प्रधान चुना गया।

दल की राष्ट्रीय कार्यकारिणी ने जून मे यह निर्णय किया कि दल उत्तर प्रदेश मे होने वाले मध्य अवधि चुनावो मे सभी निर्वाचन-क्षेत्रों से अपने उम्मीदवार खड़ा करेगा। कार्यकारिणी ने हरयाना में हुए चुनावों के परिणाम पर भी विचार किया, जहाँ दल का केवल एक प्रतिनिधि चुना गया है। इस बात का भी खण्डन किया गया कि दल के कुछ प्रमुख नेताओ का विचार फिर से कांग्रेस में सम्मिलित होने का है। चूंकि प० बंगाल के दलीय सगठन ने अपना सम्बन्ध साम्यवादी दल के साथ बने सयुक्त मोर्चे (United Front) से नही तोड़ा, इसलिये राष्ट्रीय कार्यकारिणी ने प० बगाल की इकाई को भग कर दिया, यद्यपि उसके प्रधान श्री अजय मुकर्जी को राष्ट्रीय कार्यकारिणी में रहने दिया, किन्तु श्री मुकर्जी ने स्वय ही उससे त्याग-पत्र दे दिया। भारतीय क्रान्ति दल और स्वतन्त्र पार्टी के विलय की कुछ वार्ता चली, परन्तु उसमें अभी तक कोई सफलता नही मिली है। अखिल भारतीय दलो में भा० क्रा० दल ने ही उत्तर प्रदेश व बिहार मे होने वाले मध्य अवधि चुनावों के लिये अपना घोषणा-पत्र सबसे पहले (सितम्बर १९६८) में प्रकाशित किया।

भारतीय क्रांति दल का घोषणा-पत्र, सितम्बर १९६८—भारतीय क्रांति दल के प्रधान श्री महामाया प्रसाद सिन्हा ने चुनाव घोषणा-पत्र प्रकाशनार्थ देते हुए कहा कि उनका दल साम्यवादियो से किसी भी प्रकार का गठबन्धन या समझौता न करेगा, क्योंकि उन्हे प्रजातन्त्र के वड़े हित मे दूर ही रखना चाहिये (communists 'in the larger interests of democracy' must be kept at bay)। चुनाव घोषणा-पत्र में मार्ग-दर्शक रेखायें निम्नलिखित है :

> भा० क्रा० दल कड़े हाथ से सभी देश-विरोधी और विभाजनात्मक प्रवृत्तियों को रोकने का समर्थक है। देश की अखण्डता का परिरक्षण और अपने राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न तत्वो को अधिक घनिष्ठ सूत्र मे बांधना सभी सरकारों और देश के सभी राजनीतिक दलो का प्रयत्न होना चाहिए। दल प्रजातन्त्र के परीक्षण और उसे अधिक सुदृढ़ बनाने के पक्ष मे है। यह देश में विधि का शासन रखना चाहता है। यह असवैधानिक तरीकों मे विश्वास नही करता। शिकायतो को दूर कराने के लिए घेराव, अनिश्चित उपवास और सविनय अवज्ञा (civil disobedience) अथवा बड़े पैमाने पर कानूनो के उल्लघन अथवा सामान्य भाषा मे सीधी कार्यवाही (direct action) को अपनाने का परिणाम आम जनता मे कानून के प्रति अनादर करना तथा अराजकता को अवश्य ही आमन्त्रित करना है, जिसका अन्तिम परिणाम अधिनायकशाही का लागू किया जाना होगा।
>
> उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व मुख्य मत्री, श्री चरण सिंह, द्वारा तैयार किये गये प्रारूप मे कहा गया है कि दल ऐसे सभी सार्वजनिक सेवको के

विरुद्ध कठोर पग उठायेगा जो भ्रष्टाचार, अकुशलता या भेदभाव के अपराधी पाये गये हो जिससे कि अच्छा प्रशासन सुनिश्चित हो और सार्वजनिक कोष का उचित व्यय हो। जहा तक सार्वजनिक कार्यकर्ताओं का सम्बन्ध है, दल उत्तर-प्रदेश सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के विरुद्ध जांच अध्यादेश, १९६७ (U. P. Public-men's Inquiries Ordinance, 1967) के नमूने पर उनके कदाचार को दूर करने के लिये कानून बनायेगा।

दल कृषि के विकास को प्राथमिकता देगा, क्योंकि इसके बिना बाहर से खाद्य का अन्त बन्द न होगा, जिसने देश के धन और स्वाभिमान को बहुत कम किया है और इसके बिना देश का आर्थिक विकास भी नही हो सकता है अथवा निर्धनता को दूर नही किया जा सकता है। भूमि के प्रत्येक जोतने वाले को, उसके पद का ध्यान न रखते हुए, स्थायी अधिकार प्रदान किये जाने चाहिये और उसका सीधे राज्य से सम्बन्ध स्थापित होना चाहिए। भविष्य में भूमि के अर्जन पर सीमा लगाई जायेगी और जहां आवश्यक हो वहां भूमि के वर्तमान स्वामित्व पर भी अधिकतम सीमा (ceiling) लगाई जायेगी। भूमि की चकबन्दी (consolidation of holdings) और मिट्टी के रक्षण (conservation) के लिये जोरदार पग उठाये जायेंगे। खाद्य जोनों का उन्मूलन किया जाना चाहिए और यह बड़ी सिचाई योजनाओं की अपेक्षा लघु सिंचाई योजनाओं को अधिक पसन्द करता है।

परराष्ट्र मामलो के क्षेत्र में दल ऐसी नीति का समर्थन करेगा जिसके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय विवादो को पारस्परिक वाद-विवादो और वार्ता द्वारा हल किया जा सके अथवा उन्हे मध्यस्थता और अन्तर्राष्ट्रीय प्राधिकरण के पच-निर्णय द्वारा (through mediation and arbitration of an international authority), जिससे कि युद्ध और उसके परिणामस्वरूप होने वाली दुर्दशा से बचा जा सके। अब समय आ गया है जब कि हमें आणविक शस्त्रों से सुसज्जित होना चाहिए।

घोषणा-पत्र में औद्योगिक नीति के विषय मे कहा गया है कि दल ऑटोमेशन और कमप्यूटरो (automation and computers) के प्रयोग के विरुद्ध है, सिवाय विशेष परिस्थितियो के जिनमे उनका प्रयोग आवश्यक हो। फौलाद और बिजली, भारी अथवा बड़े पैमाने के मशीनीकृत उद्योगो का विकास समय आने पर किया जाना चाहिए, कृषि और ग्रामीण आधार होने चाहिये, न कि इसका उल्टा जैसा कि गत २० वर्षों मे कांग्रेस ने करने का प्रयत्न किया है। दल का विश्वास है कि पूंजीगत निवेश (capital investment) और कृषि तकनीकों मे नई विधियों को

अपनाने के अतिरिक्त, एक और तत्व अथवा कारक है जो उत्पादन को बढ़ायेगा—वह है हल पर काम करने वाले मनुष्य की मनोदशा (psychology)।

अन्य उल्लेखनीय बातें ये हैं . (१) तथा-कथित सेनाओं या सैनिक संगठनों को जिन्हें संकुचित हितों को आगे बढ़ाने के उद्देश्य से निर्मित किया गया है, देश में कोई स्थान न होगा। (२) दल का विश्वास है कि जो लोग सरकारी सेवाओं में सबसे नीचे की सीढ़ियों पर है उनके लिये महँगाई भत्ते की दरें ऊँची हों और जैसे-जैसे वेतन ऊपर उठे भत्ते की दरें कम होती जायें और ऐसे सेवकों को कोई भत्ता न दिया जाय जिन्हें एक सीमा से ऊपर वेतन मिलता हो। (३) दल अनुसूचित जातियों और जनजातियों के हितों पर विशेष ध्यान देगा, जिनके प्रति बहुत समय से न्याय नहीं किया गया है। (४) उत्तर प्रदेश में उर्दू के विकास को सभी प्रकार का प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। (५) दल अपने ही विचारों से मेल खाने वाले दलों व समूहों, यथा प्रजा समाजवादी दल व लोकतान्त्रिक दल से गठबन्धन करने का प्रयत्न करेगा।[3]

जहाँ तक दल के लक्ष्यों और कार्यक्रम का सम्बन्ध है, उसमें कोई दोष नहीं प्रतीत होता। दल के नेता भी पुराने अनुभवी कांग्रेसी कार्यकर्ता हैं; उनमें से बहुतों ने देश के राष्ट्रीय आन्दोलन में महत्वपूर्ण भाग लिया। परन्तु उनमें जहाँ एक ओर वे कांग्रेसी हैं जिन्होंने कांग्रेस को चुनावों से पहले छोड़ दिया था, दूसरी ओर ऐसे भी कांग्रेसी हैं जिन्होंने मन्त्रि-पदों को पाने के लिए कांग्रेस से चुने जाने के बाद त्याग पत्र दिया। इसीलिये कुछ आलोचक भा० क्रा० दल को भ्रष्ट कांग्रेसी दल कहते हैं। दल की स्थापना के समय ऐसा लगता था कि यह एक महत्वपूर्ण अखिल भारतीय संगठन का रूप शीघ्र ही पायेगा; परन्तु कुछ ही समय बाद बिहार व उत्तर-प्रदेश के मुख्य मन्त्रियों को त्याग-पत्र देना पड़ा, जिसके परिणामस्वरूप दल के समर्थकों की संख्या में कुछ कमी आई। प० बंगाल में श्री अजय मुकर्जी व श्री हुमायूँ कबीर और उनके साथियों ने दल को छोड़कर अलग-अलग संगठन बनाये हैं। हरयाना में हुए मध्य अवधि चुनावों में दल का केवल एक ही प्रतिनिधि चुना गया। वास्तव में, दल सम्मिलित विभिन्न राज्यों के नेता व कार्यकर्ता अपने-अपने राज्य की राजनीति से अधिक प्रभावित है और वे वैयक्तिक तथा अपने गुटों के लाभ हेतु कभी भी दल को छोड़ सकते हैं। वैसे भी दल का संगठन केवल उत्तर प्रदेश और बिहार में ही सुदृढ़ बन पाया है।

४. रिपब्लिकन पार्टी और मुस्लिम मजलिस

रिपब्लिकन पार्टी—दलित (अनुसूचित) वर्ग संघ (Scheduled Castes Federation)—इसके संस्थापक और प्राण स्वर्गीय डा० भीमराव अम्बेदकर थे,

3. *Hindustan Times*, 28 Sep 1968.

जिन्होंने हिन्दू समाज द्वारा अछूत कहे जाने वाले भाइयों के प्रति होने वाले दुर्व्यवहार की प्रतिक्रिया-स्वरूप इस संगठन को जन्म दिया था। उन्होंने मुस्लिम लीग के नमूने पर दलित वर्गों के लिये पृथक् चुनाव पद्धति की माग की थी, जिसे साम्प्रदायिक पंचाट में मान्यता मिली थी, किन्तु गांधी जी के आमरण अनशन ने उसे पूना पैक्ट के रूप में संशोधित कराने में सफलता पाई थी। डा० अम्बेडकर ने अस्पृश्यता निवारण उपायों में कभी विश्वास नहीं किया। अपने स्वर्गवास से पूर्व डा० अम्बेदकर ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था और अपने अनुयायियों को भी ऐसा ही करने का परामर्श दिया था। राजनैतिक क्षेत्र में इस संघ को कांग्रेस विरोधी नीति में सरकार से सभी प्रकार का प्रोत्साहन मिला, किन्तु फिर भी यह दलित वर्गों में जनप्रिय न बन सका।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद डा० अम्बेदकर भारत सरकार के कानून मंत्री बने और संविधान के निर्माण कार्य में उनका महत्वपूर्ण भाग रहा। उनके जीवन काल के अन्तिम वर्षों में दलित वर्ग संघ का महत्व कम हो गया और उसका संगठन भी क्षीण बन गया। अपनी मृत्यु से पूर्व डा० अम्बेदकर ने रिपब्लिकन पार्टी की स्थापना की। इसका ध्येय संसद प्रजातन्त्र (Parliamentary Democracy) है। यह राज्य के धर्म-निरपेक्षीय स्वरूप की समर्थक है। पार्टी के सिद्धान्त निम्न-लिखित हैं :

१. यह प्रत्येक भारतीय को स्वयं में एक ध्येय समझती है, जिसे अपने विकास का अधिकार है।

२. यह सब भारतीयों को केवल कानून के समक्ष सम ही नहीं मानती वरन् यह भी मानती है कि सबका समता के लिये अधिकार है, अतः जहाँ कहीं भी समता नहीं है यह वहाँ उसे लाने का प्रयत्न करेगी।

३. यह स्वतन्त्रता, समता और बन्धुता को बनाये रखने पर जोर देगी तथा मनुष्य के मनुष्य द्वारा, वर्ग के वर्ग द्वारा और राष्ट्र के राष्ट्र द्वारा शोषण से उन्हें छुटकारा दिलाने के लिये कार्य करेगी।

४. यह प्रत्येक भारतीय के इस अधिकार का समर्थन करती है कि उसे अवसर की समता प्राप्त हो, परन्तु इस शर्त के अधीन कि जिन्हें अतीत में ऐसा अधिकार प्राप्त नहीं रहा उन्हें दूसरों के ऊपर प्राथमिकता मिले।

५. यह प्रत्येक भारतीय के धार्मिक, राजनैतिक और आर्थिक स्वतन्त्रता के अधिकार को स्वीकार करती है, किन्तु उसके ऊपर अन्य भारतीयों अथवा राज्य की रक्षा के हित में आवश्यक सीमायें लगाई जा सकती हैं।

६. प्रत्येक भारतीय को अभाव और भय की चिन्ता से मुक्त करने के लिये यह राज्य को उसके दायित्व का सदा ही ध्यान दिलाती रहेगी।

दल की नीति और कार्यक्रम—दल की नीति उपरोक्त सिद्धान्तों को कार्य-रूप में बदलना होगी। उसकी नीति किसी विशिष्ट सिद्धान्त या विचारधारा से

बंधने की नहीं रहेगी। पार्टी सामाजिक और और आर्थिक विकास की किसी भी ऐसी योजना को स्वीकार करने के लिये, जो कि इसके सिद्धान्तों से मेल खाती हो, तैयार रहेगी। जीवन के बारे में इसका दृष्टिकोण विशुद्धतः बुद्धिवादी, आधुनिक, अनुभववादी, और शैक्षिक रहेगा। पार्टी का कार्यक्रम अति संक्षेप में, निम्न लिखित है :

(१) कृषि—कृषि का विकास तथा देश को खाद्यान्नों के उत्पादन में आत्म-निर्भर बनाने के लिये ये पग उठाये जायें—(अ) भूमि का राष्ट्रीयकरण, (आ) गहन खेती (intensive cultivation), (इ) सिंचाई, (ई) बेकार पड़ी भूमि को कृषि योग्य बनाना, (उ) जिस भूमि पर कृषि न हो सके वहाँ वन लगाना।

(२) खाद्य समस्या—इसे हल करने के लिये अग्रलिखित पग उठाये जायें—(अ) खाद्य जोनों का उन्मूलन, (आ) प्रतिरोधक स्टॉक (buffer stock), (इ) अनाज एकत्रित करने का एकाधिकार (monopoly procurment) तथा थोक व्यापार का राष्ट्रीयकरण, (ई) लाभकारी मूल्य, (उ) ऋण प्राप्त करने की सुविधायें, (ऊ) फसल का बीमा, और (ए) उचित मूल्य की दूकानें।

(३) सार्वजनिक या निजी क्षेत्र—निर्धनता का उपचार अधिक उत्पादन है न कि उत्पादन का ढंग। अतः इस विषय में दल किसी विशिष्ट सिद्धान्त या ढग से नहीं बंधा है। जहाँ कहीं राष्ट्रीय उद्यम सम्भव और आवश्यक हो, दल उसका समर्थन करेगा और जहाँ कहीं निजी उद्यम सम्भव है तथा राष्ट्रीय उद्यम का होना आवश्यक नहीं है वहाँ निजी उद्यम को जारी रहने दिया जायेगा।

(अ) इस नीति को ध्यान में रखते हुये पार्टी आधारभूत और अत्यधिक महत्वपूर्ण उद्योगों (basic and key industries) का राष्ट्रीयकरण करेगी, यथा लोहा और फौलाद, विद्युत शक्ति और भारी रासायनिक (heavy chemicals)। (आ) देश के आर्थिक विकास के लिए मिश्रित अर्थव्यवस्था (mixed economy) आवश्यक है। (इ) यद्यपि देश के आर्थिक विकास के लिये वित्तीय सहायता आवश्यक है, फिर भी वैदेशिक सहायता पर पूर्ण निर्भरता राष्ट्रीय हित के लिये हानिकर है। (ई) उद्योगों का विकास बड़े शहरों के पास तथा कुछ क्षेत्रों में हुआ है, जिसके कारण ग्रामीण क्षेत्रों की ओर ध्यान नहीं दिया गया। यह आवश्यक है कि सम्पूर्ण देश में सन्तुलित औद्योगिक विकास हो। ग्रामीण क्षेत्रों का औद्योगीकरण भी आवश्यक है।

(४) जनसंख्या की वृद्धि को रोका जाये—पार्टी परिवार नियोजन कार्यक्रम को प्राथमिकता देगी जिसमें कि आगामी १० वर्षों में जन्मदर आधा रह जाये।

(५) कमजोर समूहों का उत्थान—पार्टी विशेष रूप से ऐसे समूहों के लिये चिन्तित है ; अतः वह उनके लिये सभी मोर्चों पर युद्ध करेगा तथा पिछड़े हुए वर्गों, पार्टी अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों (tribes) और बौद्ध बनने वाले लोगों को शिक्षा, सेवाओं व आर्थिक-कल्याण के मामलों में ऊपर उठायेगी।

(६) अल्प-सख्यक समुदायों का रक्षण।

(७) सामाजिक पुनर्निर्माण।

(८) भाषावाद की समस्या—(अ) विभिन्न राज्यों के बीच सीमा विवादों को भाषा के आधार पर हल किया जायेगा। (आ) विभिन्न भाषाओं के बीच सम्बन्ध जोड़ने वाली भाषा (link language) के रूप में अंग्रेजी का स्थान हिन्दी ही ले सकती है। (इ) हिन्दी के साथ अन्य राष्ट्रीय भाषाओं का भी विकास किया जाये। (ई) उर्दू का प्रश्न केवल भाषा का प्रश्न है। उसके विकास के लिये प्रत्येक अवसर दिया जायेगा।

(९) उत्तर प्रदेश का पुनर्गठन—इस विशाल राज्य को पश्चिमी, पूर्वी और केन्द्रीय तीन राज्यो मे विभाजित किया जाये। हरयाना और दिल्ली को मिलाकर एक पृथक राज्य बनाया जाये।

(१०) प्रशासन की शुद्धता—भ्रष्टाचार को रोकने तथा प्रशासन के स्तर को ऊंचा उठाने के लिये ये पग उठाये जायें।

(अ) भ्रष्ट लोगों के विरुद्ध कड़ी कार्यवाही ; (आ) अनावश्यक कानूनों और प्रतिबन्धों को हटाकर जीवन में कम से कम सरकारी हस्तक्षेप ; और (इ) कानून द्वारा एक केन्द्रीय प्रशासन सुधार समिति की स्थापना।

(११) नशाबन्दी का उन्मूलन।

(१२) बैंकों का राष्ट्रीयकरण।

(१३) करों का भार कम करना।

(१४) मुद्रास्फिति को रोकना।

(१५) वैदेशिक नीति—देश की प्रतिरक्षा को सुदृढ़ बनाया जाये और वैदेशिक नीति में परिवर्तन किया जाये। भारत को ऐसे पड़ौसी और अन्य देशों से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बढ़ाने चाहियें जो कि चीन के विरुद्ध भयानक शक्ति का गठन कर सकें। भारत और पाकिस्तान के बीच सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध स्थापित होने चाहिये ; इस उद्देश्य से दोनों देशों के बीच व्यापार और आर्थिक सहयोग को फिर से कायम किया जाये।

(१६) कल्याणकारी राज्य मे प्रत्येक व्यक्ति के साथ न्याय होना चाहिए ; श्रमिकों के सम्बन्ध में ऐसी नीति का विकास किया जाये कि उनके लिये सामाजिक न्याय को सुनिश्चित बनाया जा सके ।

अखिल भारतीय मुस्लिम मजलिसे मुशावरात—इसकी कार्य समिति ने जुलाई १९६६ में डा० सैयद महमूद (वरिष्ठ कांग्रेसी नेता तथा संसद के सदस्य) की अध्यक्षता में चुनाव घोषणापत्र स्वीकार किया । उसमें कहा गया है : मजलिस का जन्म लगभग २ वर्ष पूर्व लखनऊ में हुआ, जबकि भारत के कुछ पूर्वी तथा केन्द्रीय क्षेत्रों मे मुसलमानो को खुली बर्बरता का निशाना बनाया गया था । दुर्भाग्यवश सरकार ने प्रतिगामी दर्शन का अनुमोदन किया, जिससे मुसलमानों को भारत में अपने भविष्य के बारे मे सन्देह होने लगा । उस समय मुसलमानो ने यह अनुभव किया कि भारतीय मुसलमानो के लिये उस समय दो ही मार्ग खुले थे—या तो वे पूर्ण निराशा मे पाकिस्तान को भाग जाते, या आत्म-सम्मान और मान की सम्पूर्ण भावना को तिलाजली देकर तत्कालीन दशाओं के सामने झुक जाते । परन्तु इन दोनों निराशापूर्ण मार्गों में से किसी एक को भी न अपनाकर मुसलमानों ने रोना और शिकायत करना बन्द किया और निश्चय किया कि वे अपनी खोई शक्तियों को फिर से प्राप्त करें । लखनऊ सम्मेलन पर भारतीय मुसलमानों को यह याद दिलाया गया कि उनका कर्तव्य केवल अपने को ही सुधारना और अपनी समस्यायें ही हल करना न था, वरन् उन्हे कुरान ने यह सिखाया है कि वे दूसरों की भलाई के लिये भी कार्य करे । अतः उनका यह कर्तव्य है कि वे जाति, धार्मिक विश्वास, मूल वंश या रंग का भेद न करते हुए प्रत्येक व्यक्ति की भलाई के लिये कार्य करें और यदि आवश्यकता पड़े तो मानवता के लिये अपना जीवन उत्सर्ग कर दें ।

एक प्रश्न यह उठा कि शीघ्र ही चौथे आम चुनाव होने वाले हैं, उनमें मजलिस को क्या भाग लेना चाहिए । सामान्य रूप से मुसलमानों ने यह अनुभव किया कि सत्तारूढ दल (कांग्रेस) गत १९ वर्षों में अपने उच्च सिद्धान्तों का पालन करने में असफल रहा है और मुसलमानों की शिकायतों को दूर करने में अपनी [illegible] सच्चाई को सिद्ध नही कर सका है । मुसलमान अब ऐसा अनुभव करते हैं कि कांग्रेस पार्टी की उदासीनता का [illegible] मुसलमानों ने अपने को सदा के लिये [illegible] लिया है । मजलिस [illegible] कर देना चाहती है कि भारतीय मुसलमान [illegible] किसी पार्टी का [illegible] मानते और किसी पार्टी को यह [illegible] करेंगे ही । वे जानते हैं कि वे [illegible] हित में किस प्रकार करना चाहिए [illegible] के बाद मजलिस ने [illegible]

शिक्षा पद्धति का सुधार—इसका कम से कम तीन बातों में सुधार होना चाहिये—(१) नैतिक शिक्षा और अनुशासन इसके प्रमुख सिद्धान्तों में से एक हो। (२) इतिहास की पुस्तकें, जिन्हें हमारे स्कूलों में पढ़ाया जाता है, इस प्रकार लिखी गई है कि वे देश के विभिन्न समुदायों, विशेपकर हिन्दू और मुसलमानों के बीच अविश्वास और पारस्परिक घृणा की भावनायें पैदा करती हैं। अतः उनका सुधार करना आवश्यक है। (३) भारत जैसे देश में, जहां अनेक धर्मों का जन्म और प्रारम्भिक विकास हुआ, यह उचित ही है कि सरकार द्वारा स्वीकृत पाठ्यक्रम, विशेपकर प्रारम्भिक और माध्यमिक स्तरो पर धर्म-निरपेक्षीय हो और प्रत्येक समुदाय अपनी धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था करे।

(२) चुनाव पद्धति में परिवर्तन की आवश्यकता—वर्तमान एक सदस्यीय चुनाव पद्धति के स्थान पर आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति को अपनाया जाये। यह पद्धति विश्व के एक दर्जन से अधिक देशों मे प्रचलित है और सफलतापूर्वक चल रही है।

(३) कल्याणकारी स्वरूप—इस बारे में मजलिस अग्रलिखित बातों को आवश्यक समझती है: (अ) ऐसे व्यक्तियों के लिए जो अंगहीन तथा शरीर से असमर्थ है, जीवनभत्ते की व्यवस्था की जाये; (आ) प्रत्येक मंजिल पर शिक्षा निःशुल्क हो; (इ) बेरोजगारी की दशा में रोजगार या जीवित रहने योग्य सहायता की गारंटी दी जाये; (ई) जिनके लिये आवश्यक हो मकान की व्यवस्था की जाये; (उ) सभी नागरिकों को बिना मूल्य चिकित्सा सहायता प्रदान की जाये; (ऊ) अचानक चोटों (accidents) के शिकार प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिकर (हर्जाना) दिया जाये; और (ए) किसी भी नागरिक को राष्ट्र-विरोधी कहने को दण्डनीय अपराध घोषित किया जाये, जब तक किसी न्यायालय द्वारा ऐसा सिद्ध न हो जाये।

(४) वैयक्तिक कानून (Personal Law) को संरक्षण—हमारे देश मे विभिन्न धार्मिक समुदाय और मतावलम्बी समूह रहते हैं, अतः यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है कि उनके वैयक्तिक कानूनों को संरक्षण प्रदान किया जाये; यदि संविधान का कोई अनुच्छेद उसमें बाधा डालता हो तो उसे संशोधित किया जाये।

(५) मातृ भाषा का परिरक्षण (preservation) किया जाये—यह एक मान्य सिद्धान्त है कि मातृ-भाषा ही शिक्षा का माध्यम हो। हमारा विश्वास है कि बिहार, उत्तर-प्रदेश, दिल्ली, राजस्थान, मध्यप्रदेश, आन्ध्र प्रदेश और मैसूर मे जनसंख्या के काफी बड़े भाग को मातृभाषा उर्दू है,

उर्दू बोलने वालो को स्कूलो मे उर्दू पढ़ाये जाने की सुविधाये प्राप्त होनी चाहिये ।

(६) अल्पसंख्यक मंडली (Minority Board)—अल्पसंख्यकों की समस्याओ को हल करने के लिये तथा उनकी शिकायतो को दूर करने के लिये, एक अल्प-संख्यक मडली का गठन किया जाये, उसमें अल्पसंख्यको का विश्वास प्राप्त व्यक्ति सदस्य हो ।

(७) शिक्षण संस्थायें—यह हमारा आधारभूत कर्तव्य है कि हम भारत के किसी समूह या समुदाय द्वारा अपने बालकों की शिक्षा के लिये स्थापित सस्था के मूल उद्देश्यो व लक्ष्यों के परिरक्षण की प्रतिरक्षा करें। ऐसी सस्थाओ मे अलीगढ मुस्लिम युनिवर्सिटी, बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी, शान्तिनिकेतन, जामिया मिलिया और गुरुकुल कांगडी उल्लेखनीय है। भारत के मुसलमानो ने अलीगढ मुस्लिम युनिवर्सिटी के बारे में भारत सरकार की नीति की खुले रूप में निन्दा की है। वे इस बात को फिर दोहराते है कि वे इस विश्वविद्यालय, के अल्पसख्यक स्वरूप और परम्पराओ (minority character and traditions) को बचाने के लिये अपना सघर्ष जारी रखेंगे ।

(८) धार्मिक न्यास (Religious trusts)—हमारे मत में यह सस्था उन सब मे सबसे पवित्र और स्थायी है जो कि कल्याणकारी समाज के लिये कार्य कर रही है। उस समुदाय का जिसके कि वे न्यास है, यह अधिकार है कि वह दानकर्ता (वाकिफ) द्वारा विहित शर्तों के अनुसार अपने निर्वाचित प्रतिनिधियो द्वारा उनका प्रवन्ध करे ।

(९) सामाजिक सुधार—हम आज अनुभव करते है कि हमारे समाज का तेजी से पतन हो रहा है, उसका मुख्य कारण नैतिक पतन है। हम अपने समाज को अधिक अच्छा बनाने के लिये अग्रलिखित बातो को कार्यरूप में परिणित करना चाहते है—(अ) चरित्र को गिराने वाले गन्दे साहित्य पर रोक लगा दी जाये ; (आ) ऐसे फिल्मों को जो समाज में अनैतिकता को प्रोत्साहन दे प्रतिबंधित बनाया जाये ; (इ) भारतीय समाज में अभी तक अस्पृश्यता का शाप शेष है ; इस बुराई के विरुद्ध बहुत बड़े पैमाने पर जनमत को जागृत करना चाहिये , (ई) प्रत्येक राज्य में मद्य-पान को वन्द किया जाये ; और (उ) भ्रष्टाचार व भाई-भतीजावाद के विरुद्ध देशव्यापी अभियान चलाया जाये ।

५. द्रविड़ मुनेत्रा कजगम (डी० एम० के०)

मद्रास में द्रविड़ आन्दोलन (Non-Brahmin Movement)—सन् १९०९ के मोर्ले-मिन्टो सुधारो के अन्तर्गत साम्प्रदायिक आधार पर निर्वाचन पद्धति आरम्भ हुई और उसका सन् १९१९ तथा १९३५ के भारतीय शासन अधिनियमों

के अन्तर्गत विस्तार हुआ। उसके परिणामस्वरूप भारत के राजनीतिक जीवन में साम्प्रदायिकता को बहुत बल मिला। मद्रास में राजनीतिक विकास की प्रक्रिया ने विभिन्न जाति समूहों के मेल को प्रोत्साहन दिया। आरम्भ में अ-ब्राह्मण जाति समूहों की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया, यद्यपि उनकी बहुसंख्या थी। फलतः शीघ्र ही अ-ब्राह्मण आन्दोलन का विकास हुआ और सन् १९१६ में जस्टिस पार्टी (Justice Party) की स्थापना हुई। उसका नकारात्मक उद्देश्य ब्राह्मण शासन की स्थापना को रोकना था और उसका सकारात्मक लक्ष्य राजनीतिक सत्ता को प्राप्त करना था जिससे कि ऐसे कानून बनाये जा सकें जो सार्वजनिक सेवाओं में ब्राह्मणों के प्राधान्य को कम कर सकें और तकनीकी, व्यावसायिक तथा शैक्षिक संस्थाओं में प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा सकें।

जस्टिस पार्टी ने, मुस्लिम लीग की भाँति, अ-ब्राह्मणों के लिये पृथक् निर्वाचक मण्डलों के लिये आन्दोलन किया और अन्त में उन्हें सफलता मिली। यद्यपि सन् १९३७ से जस्टिस पार्टी एक कार्यशील राजनीतिक शक्ति न रही, फिर भी डी० के० और डी० एम० के० का विकास तथा उनकी नीतियाँ जस्टिस पार्टी की भावना के प्राकृतिक परिणाम हैं। द्रविड आन्दोलन ऐतिहासिक द्रविड़-आर्य संघर्ष का ही वर्तमान रूप है। द्रविड़ आन्दोलन के चलाने वाले रामास्वामी नेकर (E. V. Ramaswami Naikar) हैं जिन्हें पेरियर या महात्मा कहा जाता है। मद्रास के वर्तमान मुख्यमन्त्री और राज्य सभा के भूतपूर्व सदस्य उनके मुख्य अनुयायी और सहयोगी रहे हैं। जबकि जस्टिस पार्टी ने अ-ब्राह्मण भावना से लाभ उठाया और अपना प्रभाव केवल थोड़े से लोगों तक रखा, डी० के० और डी० एम० के० आन्दोलनों ने समाज के निम्नतर वर्गों की भावनाओं से अपील की और उत्तर के आर्यों के तथाकथित साम्राज्यवाद के विरुद्ध द्रविड़ सभ्यता व संस्कृति को बचाने के नाम से जन-साधारण के अप्रतिबन्धित जोश से अनुचित लाभ उठाया।

सन् १९३८ में श्री सी० राजगोपालाचारी के मुख्यमन्त्री काल में कांग्रेस मन्त्रि-मण्डल ने हिन्दी को अध्ययन का अनिवार्य विषय बनाया; तभी से पेरियर और अन्नादुराई के संयुक्त नेतृत्व में हिन्दी-विरोधी आन्दोलन आरम्भ हुआ। उन्होंने कांग्रेस के नमूने पर ही सविनय अवज्ञा आन्दोलन का संचालन किया। सन् १९४४ में जस्टिस पार्टी के सलेम सम्मेलन पर अनुदारवादियों और उग्रवादियों के बीच संघर्ष हुआ, जिसमें उग्रवादियों की जीत हुई और पार्टी का नाम द्रविड़ फेडरेशन पड़ा। अ-ब्राह्मण नेतृत्व ऐसे लोगों के हाथों में पहुंचा जिनके समाज, धर्म व राजनीति आदि के बारे में अतिवादी विचार थे और जिन्होंने अ-ब्राह्मण समूहों यथा नेकर, नाडर, मुक्कुलथोरो और आदि-द्रविड़ अस्पृश्यों का समर्थन प्राप्त करना चाहा।

द्रविड़ आन्दोलन, वास्तव में, हिन्दूवाद के विरुद्ध एक सामाजिक-धार्मिक विद्रोह है; यह उन शूद्रों की हीनता की मनोग्रन्थि (inferiority complex) का आक्रामक और हिंसापूर्ण प्रकटन है, जिनमें पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव अधीन आत्म-चेतना जग गई है और जो अपनी बहुसंख्या की राजनीतिक सुप्त-शक्ति को अनुभव करते है। द्रविड़ आन्दोलन के समर्थकों का विश्वास है कि वे द्रविड़ अर्थात् उत्तर के आर्यों से भिन्न मूलवंश के लोग है और उनकी अपनी संस्कृति है। उनके मतानुसार ब्राह्मण अ-ब्राह्मणो से भिन्न जाति के वंशज है, अर्थात् वे आर्य जाति के वंशज है। पद-दलित द्रविड़ अ-ब्राह्मण और सताने वाले आर्यन-ब्राह्मण के बीच सांस्कृतिक अन्तरों को ही दो जातियो (*two race*) के सिद्धान्त का रूप दे दिया गया है।[4]

कुछ लोग डी० एम० के० को डी० के० समझते है; वास्तव में, दूसरे संगठन का मुख्य कार्यक्रम इस समय सामाजिक पुनर्निर्माण है और जहाँ तक उसकी राजनीति का सम्बन्ध है, उसने १९६७ से पूर्व शासक दल-कांग्रेस से मेल कर लिया था। डी० एम० के० के बनने से पूर्व उसके अधिकतर सदस्य, मद्रास के वर्तमान मुख्यमन्त्री सहित, डी० के० के सदस्य थे; परन्तु सन् १९४९ में ही उसका एक काफी बडा अंग उससे अलग हो गया था और उन्होने डी० एम० के० की स्थापना की थी। उसके लिये कई कारण उत्तरदायी थे, किन्तु मुख्य कारण यह था कि डी० के० के नेता, ई० पी० रामास्वामी नेकर (E. P. Ramaswami Naikar) ने, अपनी वृद्धावस्था मे पार्टी की एक २५ वर्षीया सदस्या से विवाह कर लिया था, जिसे नये दल के बनाने वालों ने बहुत ना-पसन्द किया। इन नेताओं ने डी० के० को छोड़ दिया, परन्तु वे अपने साथ डी० के० की बहुत-सी [illegible] व कार्यक्रम लाये और उन्होने १५ सितम्बर १९४९ को नये दल की स्थापना की। प्रारम्भ में १९५७ तक डी० एम० के० ने आम चुनावो में भाग नहीं लिया, [illegible] १९५७ के आम चुनावो में प्रथम बार भाग लिया।

जब डी० के० के सदस्यो ने नये दल की स्थापना की थी, उनका राज-नीतिक आदर्श एक पृथक् द्रविड़ राज्य (Dravidian State) की मांग करना था। उनका यह विश्वास था कि भारत के [illegible]

---

4 "The Dravidian movement is a [illegible] Hinduism and the way of social life [illegible] violent manifestation of the inferiority complex of the [illegible] influence of western-oriented education [illegible] realize the political potentiality of their [illegible] are racially different from non-Brahmins [illegible] of the Aryan race"

Balsundaram, S N., 'The [illegible] Movement [illegible] in State Politics [illegible]

(मद्रास), आंध्र, केरल और कर्नाटक अपनी उत्पत्ति व संस्कृति में द्रविड़ थे। डी० एम० के० को अपने कार्यक्रम मे काफी सफलता मिली; यहाँ तक कि सरकार को डी० एम० के० की गतिविधियों को दबाने के लिये संविधान में संशोधन करना पड़ा, तभी पृथकतावादी कार्यक्रम रुक सका। सन् १९६२ में चीनी आक्रमण के बाद डी० एम० के० ने पृथकतावादी प्रचार को स्थगित कर दिया और सरकार तथा भारतीय अखण्डता का समर्थन किया। गत ५ वर्षों में डी० एम० के० की शक्ति और लोकप्रियता में अत्यधिक वृद्धि हुई। १९६२ के आम चुनावों में डी० एम० के० ने मद्रास विधान सभा के कुल २२० स्थानों में से ५० स्थान प्राप्त किये थे, यद्यपि उसके उम्मीदवारों को ३० लाख मत मिले थे और कांग्रेस को ५० लाख मत मिले थे। उससे पूर्व (१९५७) में डी० एम० के० ने केवल १५ स्थान प्राप्त किये थे। इस प्रकार ५ वर्ष में उसके सदस्यों की संख्या तीन गुनी से अधिक हो गई थी।

डी० एम० के० के नेता और सदस्य भारत में ही रहना चाहते हैं; परन्तु अन्य देशवासियों को भी उन्हें भारतीय समझना चाहिये। श्री अन्नादुराई के मतानुसार यह तभी सम्भव हो सकेगा जबकि सरकारी भाषा नीति को पूर्णतया त्याग दिया जाये। यदि हिन्दी को राजभाषा बनाया जाता है तो दक्षिण के लोग, जिनकी अपनी भाषा धनी है, उसे स्वीकार न करेंगे। उनका यह विश्वास है कि हिन्दी भाषा का साम्राज्यवाद (Hindi imperialism) है। राष्ट्रीय एकीकरण केवल एक भाषा को सम्पूर्ण भारत की राजभाषा बनाने से प्राप्त न हो सकेगा। वरन् सभी राज्य-स्तर की भाषाओं को राजभाषा बनाने से ऐसा हो सकता है। उन्हें सम-पद दिया जाये और जब तक ऐसा हो, अंग्रेजी को रखा जाये। डी० एम० के० का विश्वास एकता में है, एकरूपता में नहीं (Unity but not uniformity)। विविधता में एकता (Unity amongst diversity) को प्राप्त किया जा सकता है, विभिन्न राज्यों की सस्कृतियों को समझकर। डी० एम० के० चाहती है कि एक संस्कृति के लोग दूसरी संस्कृति को लोगों के समझें।

डी० एम० के० का अपना सामाजिक दर्शन (social philosophy) भी है। उत्तरी भारत में सामाजिक सुधारों की बहुत चर्चा नहीं है; परन्तु दक्षिणी भारत में सामाजिक सुधारों की बड़ी आवश्यकता है। बिना उचित सामाजिक दशा के वास्तविक उन्नति नहीं हो सकती। सामाजिक मेलजोल को प्राप्त करने के लिये अति प्राचीन परम्पराओं का खण्डन करना होगा। डी० एम० के० चाहती है कि समाजशास्त्र में प्रगतिशील सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जाये और एक प्रकार के सामाजिक मेलजोल (social coalition) का समर्थन किया जाये। अभी तक दक्षिण में जाति का बड़ा महत्व और प्रभाव है।[5]

5 Annadurai, C., '*D. M. K. As I see It*' Ibid, pp. 465 74

निम्नलिखित है :

डी० एम० के० का चुनाव घोषणा-पत्र, १९६७—इसकी मुख्य बातें

यह कार्यकुशलता के अभाव और अपव्यय का अन्त करना चाहती है और ऐसी योजनाओं को प्रथम प्राथमिकता देना चाहती है, जिनका उद्देश्य निर्धनों का उत्थान हो। इसका विश्वास है कि अकेले आधुनिक मशीनों और तकनीकी ज्ञान पर पूर्ण निर्भरता से धन का उत्पादन न हो सकेगा, यदि उपलब्ध मानव-शक्ति का ठीक प्रकार से प्रयोग न किया गया। यदि जनता ने उसे विजयी बनाया तो पार्टी जन-साधारण की दशा को अधिक अच्छा बनायेगी।

डी० एम० के० सहकारी क्षेत्र को प्रोत्साहन देगी। यह सामुदायिक विकास योजना (Community Development Scheme) में नया जीवन डालेगी।

यह उर्वरकों के उत्पादन के लिये बड़े पैमाने के कारखानों के स्थान पर विभिन्न भागों में फैली हुई छोटी इकाइयों को स्थापित करेगी और उनके सम-वितरण के लिये व्यवस्था करेगी। पार्टी लघु सिंचाई योजनाओं को प्राथमिकता देना चाहती है। जहाँ नदी द्वारा सिंचाई की व्यवस्था न हो सके वहाँ आरटीजियन ट्यूबवैल लगाये जायेंगे। इस प्रयोजन के लिये एक भूमि सेना (land army) का निर्माण किया जायेगा।

पार्टी इस बात के लिये दुख प्रकट करती है कि सत्तारूढ दल ने अब तक बड़े उद्योगपतियों को अनुचित सुविधायें प्रदान की है, जिसके परिणामस्वरूप धनी व्यक्ति अधिक धनी बने हैं। इसका तो अन्तिम परिणाम फॉसीवाद होगा। कांग्रेस के साथ तो उद्योग में समाजवाद कोरा एक नारा है। बड़े उद्योगपतियों के इस आधिपत्य को तोड़ने के लिये सामान्य जनता तक पहुंचा जायेगा और उससे निर्देशन लिया जायेगा। यदि डी० एम० के० सत्तारूढ दल बना तो श्रमिकों के लाभ के लिये कानून बनायेगा।

मूल्यों में अत्यधिक वृद्धि और भूमि से बहुत कम आय के कारण, कम आय वाले किसान और अधिक निर्धन व ऋणी हो गये है; उनकी कठिनाइयों को दूर करने के लिये पार्टी तुरन्त ही ऋण सहायता कानून बनायेगी। खाद्यान्नों के दामों में सरकार सबसिडी (subsidy) द्वारा कमी करेगी, जिससे कि जनता का निर्धन वर्ग उन्हें खरीद सके।

डी० एम० के० का विचार है कि भौगोलिक दशाओं के कारण, एशिया के आर्थिक दृष्टि से दूसरों पर निर्भर देश पारस्परिक सहयोग

द्वारा एशियाई सामान्य बाजार (Asian Common Market) की स्थापना कर अपनी आर्थिक दशा सुधार सकते है और अपने उद्योगों का विकास कर सकते हैं।

सेना के प्रयोग के परिणामस्वरूप जनता और सेना के बीच खाई पैदा होती है, अतः पार्टी ऐसी स्थितियों से बचने का प्रयत्न करेगी।

जिन विधेयकों में अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न अन्तर्ग्रस्त हों, विधान सभा में बहुमत का समर्थन ही काफी नही है, उनके बारे में लोक-निर्णय (referendum) द्वारा जनता के मतों का पता लगाना चाहिये। इस उद्देश्य से डी० एम० के० संविधान में संशोधन के लिये प्रयत्न करेगी।

यद्यपि शक्ति गुटों से अलग रहने का सिद्धान्त (principle of non-alignment) स्वयं में अच्छा है, परन्तु हम जब तक खाद्य के मामले में आत्म-निर्भर न बनेंगे देश को एक प्रभुत्वपूर्ण राज्य के रूप में वह आदर प्राप्त न हो सकेगा जो कि उसे होना चाहिये। हमें उस बात का ध्यान रखना चाहिये कि बाहरी देशो में यह विचार बन गया है कि हमने इस नीति को विदेशो से वैदेशिक सहायता प्राप्त करने के लिये अपनाया है।

६. अकाली दल और मुस्लिम लीग

अकाली दल

अकाली दल—यह पंजाब मे अकालियो का एक संगठित दल रहा। इसने भी मुस्लिम लीग की भांति सिक्खों के हितों और अधिकारियों के नारे लगाये। इसके प्रधान नेता मास्टर तारासिंह रहे। प्रथम आम चुनावों के अवसर पर इसके उम्मीदवारो की कांग्रेस के मुकाबले मे बुरी हार हुई। इसने राज्य पुनर्गठन के प्रश्न पर पंजाबियों के लिये पृथक् राज्य की माँग पर पूरा जोर लगाया, किन्तु पुनर्गठन आयोग ने पंजाब की वर्तमान सीमाओं को बढ़ाने का निर्णय किया। इस दल ने अतीत मे अपनी माँगों को मनवाने के लिये अनेक बार मोर्चे की धमकी दी। किन्तु इसे अपनी राजनैतिक उद्देश्यों के मनवाने में सिक्खों का काफी समर्थन न मिला। फिर भी भारत सरकार ने सिक्खों को सन्तुष्ट करने के विचार से पंजाब को प्रशासन हेतु दो प्रदेशों को बाँटने का एक फार्मूला निकाला था, जिसे अकाली दल ने स्वीकार कर लिया था और आगे चलकर दल ने राजनीति से अलग होने का निश्चय कर अपने सदस्यों को कांग्रेस में सम्मिलित होने का परामर्श दिया था। दल का यह निर्णय अति प्रशंसनीय तथा देश व पंजाब के हित मे अत्यन्त साधक समझा गया था।

परन्तु अकाली दल ने फिर से राजनीति मे प्रवेश किया। सन् १६५६ में हुए श्री गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी के चुनावो में अकाली दल को अपूर्व सफलता मिली। उसके बाद से अकाली दल ने फिर से भारतीय संघ में पंजाबी सूबे अर्थात् पंजाबी भाषा-भाषियों के लिये अलग राज्य की माँग की है और मा० तारासिंह के नेतृत्व

मे एक जोरदार ग्रान्दोलन चलाया है। भारत सरकार ने इस माग को वार-वार ग्रस्वीकार किया यद्यपि इस माँग को जोरदार वनाने के लिये अकाली दल ने कई वार ग्रान्दोलन किया। जनवरी १६६१ मे सन्त फतहसिंह ने पजाव सूवे के निर्माण के लिये ग्रामरण ग्रनशन किया। ८ जनवरी को प्रधान मत्री ने पजावी सूवे के सिद्धान्त को ग्रस्वीकार करते हुए कहा कि पजाव मे ग्रधिकतर पजावी भापा-भापी रहते है ग्रौर शिक्षा तथा प्रशासन मे सरकार पजावी को प्रत्येक प्रकार का प्रोत्साहन दे रही है। उन्होने यह भी कहा कि उनके वक्तव्य का यह ग्रर्थ कदापि नही कि सरकार सिक्खो के प्रति भेदभाव ग्रथवा ग्रविश्वास रखती है। उन्होने फिर एक वार सन्त फतहसिंह से ग्रपना ग्रनशन तोडने के लिये ग्रपील की। ६ जनवरी को सन्त सतहसिंह ने ग्रनशन तोड दिया ग्रौर पजाव सरकार ने सभी ग्रकाली वन्दियो को कारामुक्त कर दिया।

कुछ समय पश्चात् मा० तारासिंह ने ग्रगस्त १६६१ मे पजावी सूवे के निर्माण हेतु ग्रामरण ग्रनशन ग्रारम्भ किया। प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरू, ने स्पष्ट रूप मे कहा कि वह पजाव के ग्रौर विभाजन के लिये तैयार नही। उनके मतानुसार पजाव की प्रधान भापा पजावी पहले से ही है ग्रौर यदि भापा विवाद नही रहा तो पजावी सूवे की माग साम्प्रदायिक हुई। ४० दिन वाद मा० तारासिंह ने भी ग्रनशन तोड़ दिया, क्योकि प्रधानमन्त्री ने उन्हे यह विश्वास दिलाया कि भारत सरकार इस प्रश्न की जाच के लिये एक उच्च शक्ति प्राप्त ग्रायोग नियुक्त करेगी कि क्या सिक्खो के विरुद्ध कोई भेदभाव वरता जाता है। ३१ ग्रक्तूवर को भारत सरकार ने भारतीय सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधिपति श्री एस० ग्रार० दास के सभापतित्व मे ३ सदस्यो का ग्रायोग नियुक्त किया; परन्तु ग्रकाली दल ने फिर से उस का वहिष्कार किया। फिर भी ग्रायोग ने ग्रपना कार्य पूर्ण किया ग्रौर वह इस निश्चय पर पहुचा कि सिक्खों के विरुद्ध भेदभाव वरते जाने की शिकायते निराधार है।

उसके वाद सभी राज्यो की भाति पजाव मे भी ग्राम चुनावो के लिये तैयारी शुरू हुइ। ग्रकाली दल ने पजावी सूवे की माग पर चुनाव लड़ा ग्रौर कांग्रेस को हराने के उद्देश्य से विरोधी दलों ने ग्रापस मे एक समझौता किया, जिसके ग्रनुसार निर्वाचन क्षेत्रों मे कांग्रेस का किसी भी विरोधी दल के एक उम्मीदवार ने सीधा मुकावला किया। चुनाव मे कांग्रेस को फिर से पूर्ण वहुमत प्राप्त हुग्रा, यद्यपि कांग्रेसी सदस्यो की सख्या पहले से कुछ कम ग्रवश्य हो गई। ग्रकाली दल के लोकसभा मे ३ ग्रौर पजाव की विधान सभा मे १६ प्रतिनिधि चुने गये। कुछ समय से मा० तारासिंह ने राष्ट्रीय एकता व सगठन पर वल दिया, क्योकि उनके विचार मे देश गम्भीर स्थिति से गुजर रहा था। उस समय ग्रकाली दल ने सूवे के लिये कोई ग्रान्दोलन नही चलाया। ग्रगस्त–ग्रक्तूवर १६६२ मे ग्रकाली दल मे ग्रापसी फूट हुई ग्रौर दल दो वरावर के गुटो मे वँट गया। एक गुट के नेता सन्त फतहसिंह है ग्रौर उन्हे वहुमत का समर्थन प्राप्त है। दूसरे गुट के नेता मा० तारासिंह थे। दोनों ही गुटो

ने चीन के आक्रमण का मुकाबला करने के लिये सरकार को पूर्ण सहयोग व समर्थन दिया। १९६७ के चुनाव में अकाली दल ने पंजाब की विधानसभा (कुल स्थान १४०) में २६ स्थान प्राप्त किये।

शिरोमणी अकाली दल का घोषणा पत्र, १९६७–इसका राजनीतिक ध्येय सिखिस्तान अर्थात् सिखों के लिए भारतीय संघ के अन्तर्गत गृह देश (Sikh Homeland within the Union of India) की रचना है। दल का विश्वास है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता व गरिमा, उसका सुख के लिए अधिकार, आदि बातें मूलभूत और अनतिक्रमणीय हैं। (अ) यह सरकार के ऐसे सभी रूपों और सरकारी पगों को अस्वीकार करता है जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से व्यक्ति को राज्य की केन्द्रीभूत सत्ता अथवा राजनीतिक दलों के हाथों में दास बनाने की प्रवृत्ति रखते हैं; (आ) यह ऐसे फार्मों के पक्ष में है, जिन पर व्यक्ति का अपना स्वामित्व हो और वह उस पर स्वयं खेती करता हो; (इ) यह जातिगत भेदो का अन्त करने की शपथ लिए हुए है; (ई) दल सिख गृहदेश के कृषि पर आधारित औद्योगीकरण के पक्ष मे है; (उ) यह परमिट-कोटा पद्धतियों तथा सार्वजनिक व निजी क्षेत्रों में एकाधिकारों (monopolies) का उन्मूलन चाहता है, (ऊ) यह करों मे कमी के पक्ष में है और उसके साथ समझपूर्ण नियोजन चाहता है जिससे कि उत्पादन को प्रोत्साहन मिले, रुपये का मूल्य फिर से कायम हो और अभावों (scarcities) व मिलावट को रोका जा सके; (ए) सिखिस्तान की सरकारी व सार्वजनिक सेवाओ में निश्चित समय के लिए अनुसूचित जातियों को ३० प्रतिशत प्रतिनिधित्व देने का वायदा करता है; (ऐ) दल ऐसे सभी दलों व संघों से केन्द्र तथा राज्य के स्तरों पर सहयोग करने को तैयार है जो कि प्रजातन्त्रात्मक और देशभक्त हों तथा जो उसमे उद्देश्यों व लक्ष्यो के प्रति सहानुभूति रखते हो, (ओ) दल इस बात पर जोर देता है कि देश की प्रतिरक्षा शक्ति को सुदृढ़ बनाया जाय; (औ) दल राज्य द्वारा सहायता प्रदत्त शिक्षण-पद्धति के पक्ष मे है; और (अ) भारत के पश्चिम तथा पूर्व मे सिखो के सभी पवित्र स्थानों पर सिखों का नियन्त्रण रहे और वे वहां स्वतन्त्रतापूर्वक जा सकें।

मुस्लिम लीग—इस दल को, जिसने द्वि-राष्ट्र के सिद्धान्त पर भारत का विभाजन कराया, हमने अन्त मे रखा है। इस दल के विकास की विस्तृत विवेचना तो पूर्वगामी अध्यायो में यथास्थान की जा चुकी है, फिर भी चूंकि यह पाकिस्तान के निर्माण के बाद अभी तक भारत मे जीवित है, अतः इसके विषय में कुछ कहना आवश्यक है। अखिल भारतीय मुस्लिम लीग का नाम शेष है, किन्तु इसका संगठन प्रायः समाप्त हो चुका है, फिर भी दक्षिण में विशेषकर मालाबार प्रदेश में इसका

संगठन कुछ सक्रिय है। प्रथम आम चुनावों में केरल में कुछ स्थानों पर इसने अपने उम्मीदवारों को खड़ा किया और चुनावों के प्रश्न पर इसमें व प्रजा समाजवादी दल में गठबन्धन हुआ। दूसरे आम चुनावों में साम्यवादी दल की जीत के बाद केरल में साम्यवादी मन्त्रिमण्डल बना, परन्तु कुछ ही महीनों के बाद सभी विरोधी दलों ने मिलकर वहां एक सत्याग्रह आन्दोलन चलाया, जिसके फलस्वरूप वहां राष्ट्रपति का शासन स्थापित हुआ। वहां फिर से चुनाव हुए जिनमें कांग्रेस, प्रजा समाजवादी दल व मुस्लिम लीग ने मिलकर भाग लिया और उनकी जीत हुई। मुस्लिम लीग का कोई प्रतिनिधि मन्त्रिमण्डल में तो नहीं लिया गया, किन्तु उसके एक प्रतिनिधि को विधान सभा का अध्यक्ष चुना गया। आगे चलकर कांग्रेस ने मुस्लिम लीग से, साम्प्रदायिक होने के कारण सम्बन्ध तोड़ लिया। सन् १९६७ में हुए चुनाव में मुस्लिम लीग ने केरल विधान सभा के कुल १३३ स्थानों में से १४ स्थान प्राप्त किये।

भारत में मुस्लिम लीग जैसे संगठन के लिये अब कोई स्थान नहीं है। भारत के मुसलमानों को सम्प्रदायवादी संगठन की मनोवृत्ति को छोड़कर सच्चे हृदय से अन्य राजनैतिक दलों में भाग लेना उचित है। अनेक मुस्लिम लीगी अन्य दलों में विशेषकर कांग्रेस में आ गये हैं। किन्तु यह कहना कि उन सभी के मन और हृदयों में वास्तविक परिवर्तन हो गया है, कठिन है। यदि अभी तक उनके मन और हृदय साम्प्रदायिकता या भय से भरे है तो उन्हें उनका परित्याग करना चाहिये और भारत के प्रति अपनी निष्ठा व सेवा में अन्य वर्गों के पीछे न रहना चाहिये। अन्त में, यह कहना शेष है कि भारत ने साम्प्रदायिक दलों के विकास से पहले ही बड़ी हानि उठाई है, अतः स्वतन्त्र भारत में ऐसे दलों का बना रहना खतरे से पूर्ण है। साम्प्रदायिकता को उभारा देने वाले दलों व तत्वों का अन्त करने के लिये सरकार को सभी आवश्यक व उचित पग उठाने चाहियें।

—:o:—

अध्याय १८

दलगत राजनीति का विकास

१. प्रथम आम चुनावों के पूर्व और बाद

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त संघ तथा विभिन्न राज्यों में कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल सत्तारूढ़ रहे। भारत के संविधान के निर्माण में कांग्रेस तथा अन्य प्रमुख दलीय एवं निर्दलीय नेताओं ने भाग लिया था, किन्तु संविधान का अन्तिम रूप कांग्रेस के उद्देश्यों और सिद्धान्तों के ही अनुरूप रहा। स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त भारतीय संघ व राज्यों में शासन को सफलतापूर्वक चलाने, रियासतों के भारतीय संघ में एकीकरण, संविधान के निर्माण और विस्थापित व्यक्तियों की बड़ी संख्या के पुनर्वास की समस्या को हल करने आदि का अधिकांश श्रेय कांग्रेस और उसके नेताओं को मिला। भारत का संविधान तो २६ जनवरी १९५० को लागू हो गया था, किन्तु उसके अन्तर्गत प्रथम आम चुनाव १९५१–५२ के शीतकाल में हुये। चुनावों में कांग्रेस के अतिरिक्त अनेक दलों ने भाग लिया। उस समय २९ दलों ने निर्वाचन आयोग से राष्ट्रीय दलों के रूप में मान्यता प्राप्त करने के लिये प्रार्थना की थी और उससे भी कहीं बड़ी संख्या ने राज्यीय दलों के रूप में मान्यता चाही थी। चूंकि आयोग के सामने उस समय कोई ऐसा विश्वसनीय आधार न था जिस पर कि वह दलों को मान्यता प्रदान करता, अतएव उसने एक उदार दृष्टिकोण अपनाते हुए राष्ट्रीय दलों के रूप में १४ दलों को मान्यता प्रदान की और उनके उम्मीदवारों को सभी राज्यों में विशेष चिह्न दिये। इसी प्रकार विभिन्न राज्यों में ३९ दलों को मान्यता प्रदान की गई।

प्रथम चुनावों के परिणाम अधिकांशतः कांग्रेस के पक्ष में ही रहे। लोक सभा के कुल ४८९ निर्वाचित स्थानों में से कांग्रेस ने ३६२ स्थान प्राप्त किये, यद्यपि उसे सम्पूर्ण देश में कुल डाले गये मतों का केवल ४४.४ प्रतिशत भाग प्राप्त हुआ था। विभिन्न राज्यों की विधान सभाओं में कांग्रेस को ३,२८३ स्थानों में से २,२४७ स्थान मिले और उसका १८ राज्यों की विधान सभाओं में स्पष्ट बहुमत रहा। विधान सभाओं के चुनावों में कांग्रेस को मिले मतों का प्रतिशत ४१.९६ था। कांग्रेस के बाद दूसरा स्थान साम्यवादी दल का रहा, जिसने विधान सभाओं के ५८७ स्थानों के लिये चुनाव लड़ा और उनमें से १८१ स्थान जीते। उसे प्राप्त हुए मतों का प्रतिशत ६.०४ था। साम्यवादी दल को त्रावनकोर-कोचीन, मद्रास, हैदराबाद

और प० बंगाल मे विशेप सफलता मिली। अन्य दलो की सफलता विशेप रूप से उल्लेखनीय नही रही। समाजवादी दल की असफलता अवश्य ही उल्लेखनीय है; क्योकि उसे विधान सभाओ में केवल १२४ स्थान मिले, यद्यपि दल को विधान सभाओ के चुनाव मे ९.७० प्रतिशत मत मिले। अन्य दलों में जनसंघ को विधान सभाओं में ३३ स्थान मिले और कुल मतो का २.८१ प्रतिशत प्राप्त हुआ। आशा से अधिक अच्छी स्थिति किसान मजदूर प्रजापार्टी की रही, जिसे लोक सभा मे ९ और विधान सभाओ मे ७७ स्थान मिले। प्रथम आम चुनावो के सम्बन्ध मे एक विशेप बात यह रही कि स्वतन्त्र उम्मीदवारों को लोक सभा में ३६ और विधान सभाओ मे २९७ स्थान प्राप्त हुए। इससे पता लगता है कि मतदाताओं की काफी सख्या ने सगठित दलों मे अपेक्षाकृत कम विश्वास प्रकट किया।

प्रथम और दूसरे आम चुनावो के बीच मे विभिन्न दलो ने अपने को सुदृढ बनाने के प्रयत्न किये। विभिन्न क्षेत्रो मे कांग्रेस सरकारों की सफलताओं ने उसकी प्रतिष्ठा को वढाया, यद्यपि विभिन्न विरोधी दलो का यह विश्वास बनता जा रहा था कि कांग्रेस का समर्थन कम हो रहा था। प्रथम आम चुनावो के बाद ही प्रथम पंचवर्षीय योजना लागू की गई थी, जो १९५७ तक प्राय. पूर्ण हो गई। कांग्रेस ने इस बीच में समाजवादी व्यवस्था को अपना ध्येय घोपित किया और सम्पत्ति के अधिकार पर नये प्रतिवन्ध लगे। इम्पीरियल बैंक और जीवन बीमा कम्पनियो का राष्ट्रीयकरण किया गया, ऊपर की आयों पर कर वढ़ा और सार्वजनिक उद्योगों के क्षेत्र का काफी विस्तार हुआ। भारत सरकार ने कोरिया, हिन्दचीन, स्वेज आदि मामलो मे स्वतन्त्र विदेश नीति का पालन कर भारत के लिए विश्व राजनीति मे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया।

परन्तु सगठन के क्षेत्र मे अनुशासन की कमी पूर्ववत् बनी रही और कांग्रेस दलो में गुटों के बीच झगड़े वढे। चुनाव के बाद कांग्रेस ने अन्य प्रगतिशील और प्रजातन्त्रात्मक तत्वो का अधिक सहयोग पाने की नीति अपनाई और इस दिशा मे जवाहरलाल नेहरू ने सन् १९५३ मे कुछ प्रयत्न भी किये, किन्तु कोई प्रगति न हो पाई। सन् १९५४ में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने नियोजित विकास का एक प्रस्ताव में स्पष्टीकरण इस प्रकार किया: कांग्रेस का लक्ष्य एक सहकारी कॉमनवैल्थ और कल्याणकारी राज्य (co-operative commonwealth and welfare state) की स्थापना है।' सन् १९५५ मे अवदि अधिवेशन पर कांग्रेस ने अपना ध्येय, समाजवादी ढग के समाज (Socialist Pattern of Society) की स्थापना घोपित किया। सन् १९५६ में राज्यो का पुनर्गठन भी हो गया, केवल महाराष्ट्र की समस्या का सन्तोपप्रद हल न निकला। उन सभी कारणो से कांग्रेस की स्थिति सुदृढ बनी। सन् १९५६ में दूसरी पचवर्षीय योजना आई और प्राय: सभी दलो ने उसका स्वागत किया। यह सब कुछ होते हुए भी कांग्रेस की कमजोरी

का महत्वपूर्ण कारण उसके संगठन में अनुशासनहीनता और कार्यकर्ताओं में पद लोलुपता रही।

उन वर्षों में प्रजातान्त्रिक समाजवादी विरोधी पक्ष में कई महत्वपूर्ण घटनायें घटी। प्रथम चुनावों में समाजवादी कैम्प में दो मुख्य तत्व थे—**समाजवादी दल और किसान मजदूर प्रजा पार्टी।** समाजवादी दल ने लोकसभा और विधान सभाओं में केवल १२ और १२८ स्थान प्राप्त किये थे। किसान मजदूर पार्टी ने लोकसभा और विधान सभाओं में १० और ७७ स्थान प्राप्त किये थे। सन् १९५२ में ही श्री अशोक मेहता ने कहा था कि किसान मजदूर प्रजा पार्टी तथा अन्य समाजवादी दलों ने सामाजिक प्रजातन्त्र के लिये निष्ठा व्यक्त की है और भविष्य में उनका विलय हो जायगा। यद्यपि अन्य दल विलय के लिये तैयार नहीं हुए, फिर भी उसी वर्ष समाजवादी दल और किसान मजदूर प्रजापार्टी का एकीकरण हो गया और संयुक्त दल का नाम **प्रजा समाजवादी दल** पड़ा। दोनों दलों के बीच सामान्य कार्यक्रम के आधार पर मेल हुआ और केन्द्र तथा राज्यों के विधान मण्डलों में उनके सदस्यों का एकीकरण हो गया।

यद्यपि दोनों दलों के कार्यकर्त्ताओं ने संयुक्त कार्यक्रम को स्वीकार कर लिया था, फिर भी कुछ ही समय बाद नेताओं के बीच मतभेद उत्पन्न हो गया। इसका कारण यह था कि मार्च सन् १९५३ में श्री जयप्रकाश नारायण ने जवाहरलाल नेहरू से कांग्रेस और प्रजा समाजवादी दल के बीच सहयोग की सम्भावनाओं पर विचार करने के हेतु भेंट की। बाद में आचार्य नरेन्द्रदेव और आचार्य कृपलानी भी प्रधान मन्त्री से मिले और उनकी वार्ता से यह निष्कर्ष निकला कि उनके बीच 'सहमति का काफी बड़ा क्षेत्र था।' उसके बाद प्रजा समाजवादी दल ने एक १४ सूत्री कार्यक्रम तैयार किया, जिसके आधार पर दोनों दलों के बीच सहयोग सम्भव हो सकता था। इस दिशा में किये गये प्रयत्न विफल रहे; परन्तु कांग्रेस के प्रति प्रजा समाजवादी दल का क्या रुख रहे, इस प्रश्न पर दल के नेताओं और कार्यकर्त्ताओं में तीव्र मतभेद पैदा हुआ। जून १९५३ में बेतुल में हुये प्रजा समाजवादी दल के विशेष सम्मेलन में दल के जनरल सेक्रेटरी ने कहा कि उनके दल और कांग्रेस के बीच तीन आधारभूत बातों—राष्ट्रीयता, धर्म-निरपेक्षता, और प्रजातन्त्र—पर सहमति है। परन्तु डा० राममनोहर लोहिया ने यह मत प्रकट किया कि 'प्र० स० दल कांग्रेस से उतना ही दूर है जितना कि साम्यवादियों से।' प्र० स० सम्मेलन में प्रतिनिधियों का बहुमत श्री मेहता आदि के मत के विरुद्ध रहा, अतएव उन्होंने अपने पदों से त्याग-पत्र दे दिया। इस प्रकार दल के संगठन में उत्पन्न संकट टल गया। श्री जयप्रकाश नारायण सक्रिय राजनीति से अलग हो गये और वह भूदान आन्दोलन में लग गये।

दिसम्बर १९५३ में दल का वार्षिक अधिवेशन इलाहाबाद में हुआ और उस समय प्र० स० दल ने एक नीति सम्बन्धी वक्तव्य सर्वसम्मति से स्वीकार किया।

उसने कहा था कि 'अधिकतर छोटे राजनीतिक दलों का महत्व बहुत कम हो गया है और कांग्रेस, प्र० स० दल, जनसंघ व साम्यवादी दल महत्वपूर्ण दल रह गये है। ये दल राष्ट्रीय जीवन की महत्वपूर्ण प्रवृत्तियो का प्रतिनिधित्व करते है और राष्ट्रीय समस्याओं के हल के विषय मे उनके दृष्टिकोण एक-दूसरे के विरोधी है। कांग्रेस दल अनुदारवादी है और वह सामाजिक परिवर्तन के लिये पूरी तरह से अक्षम साधन है। साम्यवादी दल अप्रजातान्त्रिक है और जनसंघ साम्प्रदायिक। अतएव प्र० स० दल ही विरोधी पक्ष बन सकता है। फरवरी सन् १९५४ मे प्र० स० दल और साम्यवादी दल के बीच त्रावनकोर कोचीन में एक निर्वाचन सम्बन्धी समझौता हुआ और १९ सदस्यो वाले प्र० स० दल ने मन्त्री पद स्वीकार किये। कुछ माह बाद जब डा० लोहिया उत्तर प्रदेश मे चलाये गये सत्याग्रह के सम्बन्ध में जेल में थे, प्र० स० दल की सरकार ने तमील-भाषी भाग मे प्रदर्शनकारियो द्वारा व्यवस्था भंग किये जाने पर गोली चलाने का आदेश दिया। इस घटना से प्र० स० दल के अनेक नेताओ को धक्का लगा और उन्होने मन्त्रिमण्डल को त्याग-पत्र देने का सुझाव दिया। उसके अतिरिक्त अवदि अधिवेशन पर कांग्रेस द्वारा समाजवादी ध्येय अपनाये जाने से प्र० स० दल के सदस्यो के दृष्टिकोणो मे मतभेद और भी अधिक हो गया। कुछ समाजवादियों ने उसका स्वागत किया और अपने साथियो से सत्तारूढ दल के साथ सहयोग करने का अनुरोध किया। दूसरे समूह ने उनके मत का जोरदार विरोध किया और कार्यकर्त्ताओ से कांग्रेस में सम्मिलित न होने को कहा। ऐसी परिस्थितियों मे दूसरे आम चुनावो से एक वर्ष पूर्व डा० लोहिया और उनके साथी प्र० स० दल से अलग हो गये और उन्होंने एक पृथक् दल की स्थापना की जो फिर से समाजवादी दल बना।

सन् १९५१–५२ के आम चुनावो को साम्यवादी दल ने इस आधार पर लडा था कि भारतीयों को अभी वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त करनी शेष थी। दल को विश्वास न था कि देश की वैदेशिक नीति स्वतन्त्र थी और उसके अनुसार भारत का संविधान जमीदार-पूँजीपति राज्य का संविधान था। आम चुनावों में साम्यवादी दल को आशा से अधिक सफलता मिली थी; फलत दल के नेताओं ने कहना शुरू किया कि जनता ने अपना निर्णय कांग्रेस के विरुद्ध दिया था। परन्तु भारत सरकार ने कोरिया आदि के प्रश्न पर जो नीति अपनाई उसका साम्यवादियो ने स्वागत किया। सन् १९५३ मे संयुक्त राज्य अमरीका ने पाकिस्तान को बड़े पैमाने पर सैनिक सहायता देने का निर्णय किया, जिसका जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व मे भारत सरकार ने जोरदार विरोध किया। ऐसी परिस्थितियो मे साम्यवादी दल ने भारतीय राजनीति का फिर से मूल्यांकन करने का निर्णय किया, परन्तु दिसम्बर १९५४ मे मदुराई मे हुई दल की तीसरी कांग्रेस के निर्णय आधारभूत रूप मे पूर्ववत रहे, केवल कुछ बातो मे वैदेशिक नीति का स्वागत किया गया। अप्रैल १९५६ मे दल की चौथी कांग्रेस पालघाट मे हुई। इस बीच में दो महत्वपूर्ण घटनायें हो चुकी थी—ख्रुश्चेव और

बुलगानिन की भारत के पक्ष में घोषणाएँ और राज्यों का पुनर्गठन। इससे भी बढ़कर यह बात थी कि सोवियत संघ के साम्यवादी दल की २०वीं कांग्रेस ने यह निर्णय किया था कि युद्ध अवश्यम्भावी नहीं और शान्तिपूर्ण ढंग से भी समाजवाद स्थापित हो सकता है। अतएव उसके बाद भारत के साम्यवादी दल ने भी यह घोषित किया कि साम्यवादी नेताओं को इस बात का पक्का विश्वास है कि समाजवाद की स्थापना शान्तिपूर्ण उपायों से हो सकेगी।

प्रथम आम चुनावों में जनसंघ को बड़ी असफलता मिली थी; परन्तु उस कमी की पूर्ति बहुत सीमा तक इस बात से हो गई कि उसे स्व० श्यामाप्रसाद मुकर्जी जैसा शक्तिशाली नेता मिल गया। जनसंघ के महत्वपूर्ण कार्यों में जम्मू की प्रजा परिषद् द्वारा सचालित आन्दोलन था, जिसका उद्देश्य—कश्मीर राज्य का भारत के साथ पूर्ण एकीकरण प्राप्त करना था। कुछ ही समय बाद श्यामाप्रसाद मुकर्जी का स्वर्गवास हो गया, जिससे जनसंघ के संगठन को बड़ी हानि पहुँची। उसके बाद जनसघ, हिन्दू-महासभा और रामराज्य परिषद् के विलय के लिये प्रयत्न हुये परन्तु वे विफल रहे। नवम्बर १९५४ में जनसघ के प्रधान मौलीचन्द्र शर्मा ने सघ से इस आधार पर त्याग-पत्र दे दिया कि सघ के सगठन में राष्ट्रीय स्वयं सेवक सघ समूह की प्रधानता थी और वह दलीय सगठन में अनुचित हस्तक्षेप करता था। कुछ अन्य जनसघी नेताओं ने भी त्याग-पत्र दिये, किन्तु जनसघ का सगठन फिर भी क्रमिक रूप से सुदृढ़ होता चला गया। दूसरे आम चुनाव आने से पूर्व विरोधी दलों ने यह प्रयत्न किया कि कांग्रेस को हटाने के लिये उनमें चुनाव सम्बन्धी समझौता हो जाय। जवाहर-लाल नेहरू के कांग्रेस से दृष्टिकोण को अभिव्यक्ति करते हुए विभिन्न दलों के बीच सिद्धान्तहीन गठबन्धन की आलोचना की। कुछ ही राज्यों में विभिन्न दलों के बीच चुनाव सम्बन्धी गठबन्धन हुए और उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली।

२. दूसरे आम चुनावों के पूर्व और बाद

मान्यता प्राप्त दल—प्रथम आम चुनावों के बाद निर्वाचन आयोग ने विभिन्न दलों को मान्यता प्रदान करने के लिये यह आधार बनाया—राष्ट्रीय दल के रूप में मान्यता पाने के लिये दल के उम्मीदवारों को ससद के चुनावों में कुल डाले गये वैध मतों का कम से कम ३ प्र० श० प्राप्त हुआ हो और ऐसे हो राज्य में मान्यता पाने के लिये दलों को उस राज्य की विधान सभा के लिए हुए चुनावों में ३ प्र० श० मत प्राप्त हुए हों। इस प्रकार केवल ४ दलों—कांग्रेस, साम्यवादी, प्रजा समाजवादी और जनसघ को राष्ट्रीय दलों के रूप में मान्यता मिली और राज्यीय दलों के रूप में १९ दलों को, अर्थात् मुख्य दलों की सख्या काफी कम हो गई। दूसरे आम चुनावों में विभिन्न दलों द्वारा जीते गये स्थानों की सख्या अग्रलिखित प्रकार रही :

१९५७ के आम चुनाव

दल का नाम	लोकसभा	विधान-सभाएं
कांग्रेस	३७१	१८९३
साम्यवादी	२७	१६१
जनसंघ	४	४६
प्रजा समाजवादी	१९	१९५
अन्य दल और स्वतन्त्र	७३	८११
कुल	४९४	३,१०६

विभिन्न राज्यों की विधान-सभाओं में प्रमुख दलों की स्थिति

राज्य का नाम	कांग्रेस	साम्यवादी	प्र० स०	जनसंघ	अन्य
आन्ध्रप्रदेश	१९६	१५	११	—	४१
असम	७१	४	८	—	२५
बिहार	२१०	७	३१	—	७०
गुजरात	६७	—	३	—	३२
मध्यप्रदेश	२३२	२	१२	१०	३२
मद्रास	१५१	४	२	—	४३
महाराष्ट्र	१३७	१३	३३	४	७७
मैसूर	१५१	—	१८	—	३६
पंजाब	१२०	६	१	९	१८
राजस्थान	११९	१	१	६	४९
उत्तरप्रदेश	२८६	९	४४	१७	७४
पं० बंगाल	१५२	४६	२१	—	३१

कांग्रेस सरकार की वैदेशिक और आन्तरिक नीति के कारण गत चुनावों के परिणाम कांग्रेस के पक्ष में ही रहे और उसकी स्थिति पूर्व की अपेक्षा कुछ अधिक सुदृढ़ हो गई। लोकसभा के लिए चुनाव में उसे १·५ प्रतिशत (६५ लाख) मत अधिक प्राप्त हुए। उसे कुल ३६६ स्थान मिले जो पहले से १२ अधिक थे। लोक-सभा में विपक्षी दलों की कुल संख्या १३१ से घटकर १२२ रह गई। श्री अशोक मेहता के अनुसार दूसरे आम चुनावों ने भारत के शिशु लोकतन्त्र की सुदृढ़ता व कमजोरी को सामने लाकर रख दिया।

मोटे आंकड़ों में ११२,३००,००० मतदाताओं ने चुनावों में भाग लिया, जबकि प्रथम आम चुनावों में भाग लेने वाले मतदाताओं की संख्या

१०३,८००,००० थी। मतदाताओं के प्रतिशत में ४४·६ से ४६·२ की वृद्धि हो गई। राजस्थान में, जो कि भारतीय संघ का एक पिछड़ा हुआ राज्य है, डाले गये मतों की संख्या ४४ प्रतिशत से बढ़कर ५७ प्रतिशत हो गई। भारतीय मतदाता मतदान के बारे में चेतन हो गया है। पूर्वगामी ग्राम चुनावों ने भारतीय कृषि की भांति यह दिखाया था कि भारत का राजनीतिक जीवन छोटे-छोटे खण्डों में बंटा था। गत चुनावों ने दिखाया है कि संमेकन शक्तियां काम कर रही हैं जबकि १९५२ में ७६ दलों ने भाग लिया था, १९५७ में २६ राजनीतिक दलों ने भाग लिया। लोकसभा के लिए चुनावों में भाग लेने वाले उम्मीदवारों की संख्या १८०० से घटकर १४५६ रह गई और राज्यों की विधानसभाओं के लिए उम्मीदवारों की संख्या १५,००० से घटकर ६,८४० रह गई। निर्वाचन आयोग द्वारा मान्यता प्राप्त प्रमुख चार राष्ट्रीय दलों को मिलाकर कुल मत ८·४ करोड मिले, जबकि १९५२ में उन्हें ७·३ करोड़ मत मिले थे। अन्य सभी दलों और स्वतन्त्र उम्मीदवारों के कुल मत ३२,३००,००० से घटकर ३०,६००,००० रह गये।[1]

दूसरे चुनावों के बाद प्रथम बार साम्यवादी दल को केरल में बहुमत मिला और उस राज्य में उसका मन्त्रिमण्डल बना। कुछ समय बाद ही उस राज्य के मन्त्रिमण्डल को कांग्रेस, प्र० स० दल और मुस्लिम लीग द्वारा चलाये गये सत्याग्रह के परिणामस्वरूप राष्ट्रपति ने १९५९ में भंग कर दिया। कुछ दिन तक वहां राष्ट्रपति का शासन रहा और फिर से चुनाव होने के बाद राज्य में कांग्रेस व प्र० स० दल ने फरवरी १९६० से मिला-जुला मन्त्रिमण्डल बनाया जिसमें मुख्य मन्त्री प्र० स० दल के नेता पट्टम थानु पिल्ले रहे। उड़ीसा में कांग्रेस और गणतन्त्र परिषद् ने १९५९ में मिला-जुला मन्त्रिमण्डल बनाया था, किन्तु १९६१ में वहां फिर से चुनाव हुये और उनके बाद कांग्रेस का मन्त्रिमण्डल बना।

सन् १९५९ में स्वतन्त्र दल का जन्म हुआ और शीघ्र ही इस दल ने भारतीय राजनीति में एक महत्वपूर्ण स्थान पा लिया। सन् १९६० में बम्बई राज्य को भाषायी आधार पर गुजरात व महाराष्ट्र में विभाजित किया गया, जिसके परिणामस्वरूप दोनों ही राज्यों में कांग्रेस विरोधी दलों व तत्वों की, जो बम्बई के दो भाषी राज्य के विरुद्ध थे और जिन्हें इसी कारण दूसरे चुनावों में काफी समर्थन प्राप्त हुआ था, स्थिति काफी कमजोर पड़ गयी और कांग्रेस की स्थिति दोनों ही राज्यों में सुदृढ़ हो गई। पंजाब की राजनीति में भी भाषा का प्रश्न अत्यधिक महत्वपूर्ण बना रहा। अकाली दल ने पंजाबी सूबे के लिये आन्दोलन जारी रखा।

1 Mehta, A., Art. *'The Political Mind of India'*, *Foreign Affairs*, 1957, pp. 679-80.

केरल मे साम्यवादी दल के विरुद्ध आन्दोलन चलाने के हेतु कांग्रेस, प्र० स० दल और मुस्लिम लीग ने एक गठबन्धन किया था, जिसके विरुद्ध कुछ समय बाद प्रतिक्रिया आरम्भ हुई। कांग्रेस ने साम्प्रदायिक दलों से किसी भी प्रकार का गठबन्धन बनाये रखने के विरुद्ध निर्णय किया और उस निर्णय को केरल मे भी लागू किया गया, जिसके परिणामस्वरूप मुस्लिम लीग कांग्रेस व प्र० स० दल के गठबन्धन से अलग हो गई। मद्रास मे द्रविड मुनेत्रा कजगम (D. M. K.) पार्टी ने पृथक् तमिल नद की स्थापना का ध्येय अपनाया और उसने हिन्दी तथा उत्तरी भारत के प्रभुत्व के विरोध मे आन्दोलन चलाया। दल को राज्य में काफी समर्थन प्राप्त हुआ।

इस प्रकार धर्म, भाषा व प्रादेशिकता के प्रश्नो ने देश की राजनीति पर बडा प्रभाव डाला। कुछ ससदीय उप-चुनावो तथा दिल्ली के स्थानीय चुनावो मे जनसघ ने हिन्दू साम्प्रदायिकता के आधार पर कांग्रेस को हराया। ऐसी परिस्थितियों मे भारत सरकार ने राष्ट्रीय एकीकरण के लिये पग उठाये। ऐसे सभी दलों को, जो धर्म निरपेक्षता मे विश्वास करते है, कांग्रेस व सरकार को सहयोग देने के लिये आमन्त्रित किया गया। राष्ट्रीय एकीकरण सम्मेलन ने कुछ अन्य सुझावो पर भी विचार किया।

३. तीसरे आम चुनावों के पूर्व और बाद

तीसरे आम चुनावो से पूर्व दलीय स्थिति कुछ जटिल थी, जिसे सक्षेप मे इस प्रकार रखा जा सकता है। केरल में कांग्रेस व प्र० स० दल का मिला-जुला मन्त्रि-मण्डल सत्तारूढ रहा और वहाँ विधान सभा के लिये चुनाव नही हुये। किन्तु लोकसभा के लिये चुनावो में कांग्रेस व प्र० स० दल को साम्यवादी दल का कडा मुकाबला करना पडा। प० बगाल में भी साम्यवादी दल का जोर बढा, किन्तु सम्पूर्ण देश मे भारत-चीन सीमा-विवाद के प्रश्न पर साम्यवादी दल की अ-राष्ट्रीय नीति के कारण साम्यवादी दल की स्थिति पूर्व की अपेक्षा क्षीण हो गई। साम्यवादियो और समाजवादियो की दृष्टि मे कांग्रेस एक दक्षिण-पथी (rightist) दल रहा। स्वतन्त्र दल और जनसघ कांग्रेस से भी बढकर दक्षिण-पथी रहे। स्वतन्त्र पार्टी तो अनुदारवादिता का समर्थक और कांग्रेस की समाजवादी नीति का विरोधी है। जनसघ भी समाजवादी कार्यक्रम का विरोधी और हिन्दू साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन देने वाला रहा।

राष्ट्रीय एकीकरण सम्मेलन के प्रयत्नो से विभिन्न दलो ने आगामी चुनावो के लिये एक **आचरण संहिता** (code of conduct) स्वीकार की। १ अक्तूबर १९६१ को सम्मेलन द्वारा प्रकाशित एक वक्तव्य में कहा गया था: 'सम्मेलन का मत है कि राष्ट्रीय एकीकरण को प्रोत्साहित और विकसित करने के हेतु राजनीतिक दलों, प्रैस, विद्यार्थियो और साधारण जनता के लिये एक आचरण सहिता का होना आवश्यक है। सम्मेलन मे भाग लेने वाले विभिन्न दलो ने आचरण सहिता के रूप मे अग्रलिखित बातें स्वीकार की:

(१) कोई दल ऐसे कार्य न करे जिससे वर्तमान मतभेद और तीव्र बनें, आपसी घृणा बढ़े या विभिन्न सम्प्रदायों अथवा जातियों के बीच खिंचाव बढ़े। (२) प्रत्येक दल यह ध्यान रखे कि उसके द्वारा संचालित किसी भी आन्दोलन में हिंसापूर्ण कार्यवाहियों को प्रोत्साहन न मिले। (३) साम्प्रदायिक, जातीय, प्रादेशिक अथवा भाषायी प्रश्नों को हल कराने के लिये राजनीतिक दल कोई ऐसा आन्दोलन न चलाये जिससे अव्यवस्था फैलने अथवा कटुता व खिंचाव बढ़ने की सम्भावना हो। (४) राजनीतिक दल अन्य दलों द्वारा संगठित बैठकों व जलूसों आदि में कोई रुकावट न डालें। (५) सरकार जहाँ तक हो सके कानून और व्यवस्था कायम रखने के प्रयत्नों में नागरिक स्वतन्त्रताओं पर अनुचित प्रतिबन्ध न लगाये। (६) अपने दल के सदस्यों के हित में राजनीतिक शक्ति का प्रयोग न किया जाय।

तीसरे आम चुनावों के लिये निर्वाचन आयोग ने देश व राज्यों में विभिन्न पुराने और नये दलों की स्थिति पर फिर से विचार किया और एक उदार आधार अपनाते हुये आयोग ने आरक्षित चुनाव चिन्ह प्रदान करने के लिये लोकसभा व राज्य विधान सभाओं के चुनावों में १६ दलों को मान्यता प्रदान की, जिसका संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार है :

(१) कांग्रेस—सभी राज्यों व संघीय क्षेत्रों में।

(२) प्रजा समाजवादी दल—पंजाब, राजस्थान, त्रिपुरा को छोड़कर सभी में।

(३) साम्यवादी दल—मध्यप्रदेश, मैसूर और हि० प्र० को छोड़कर सभी में।

(४) जनसंघ—मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, पंजाब, राजस्थान, उत्तरप्रदेश व दिल्ली।

(५) समाजवादी—आन्ध्रप्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान, उत्तरप्रदेश और मनीपुर।

(६) स्वतन्त्र—आन्ध्रप्रदेश, बिहार, गुजरात, मद्रास, उत्तरप्रदेश और हि० प्र०।

(७) हिन्दू महासभा—मध्यप्रदेश, प० बंगाल, दिल्ली।

(८) रामराज्य परिषद्—मध्यप्रदेश और राजस्थान।

(९) रिपब्लिकन पार्टी—महाराष्ट्र और पंजाब।

(१०) झारखंड पार्टी—बिहार।

(११) मुस्लिम लीग—केरल।

(१२) द्रविड़ मुनेत्रा कजगम—मद्रास।

(१३) पेजेन्ट्स और वर्कर्स—महाराष्ट्र।

(१४) गणतन्त्र परिषद्—उडीसा।
(१५) अकाली दल—पजाब।
(१६) फॉरवर्ड ब्लॉक—प० बंगाल।

सभी राजनीतिक दलों—मान्यता प्राप्त तथा अन्य—को निर्वाचन आयोग द्वारा सूचित किया गया कि उनकी मान्यता को जारी रखने अथवा नई मान्यता प्रदान करने का आधार दल को प्रत्येक राज्य में प्राप्त निर्वाचकों के समर्थन की मात्रा होगी। आयोग ने समर्थन की निम्नतम सीमा को ३ से बढ़ाकर ४ प्रतिशत कर दिया अर्थात् यह विहित किया गया कि कोई भी दल जिसे राज्य की विधान सभा अथवा लोकसभा के लिये राज्य में कुल डाले गये मतों का ४ प्रतिशत प्राप्त होगा उसे मान्यता प्रदान की जायेगी। दलों द्वारा बिना सोचे-समझे उम्मीदवारो को दलीय टिकट दिये जाने की प्रवृत्ति को रोकने के उद्देश्य से आयोग ने यह निर्णय किया कि उन उम्मीदवारों के मतो को जिनकी जमानतें जब्त होंगी गिनती में नही सम्मिलित किया जायेगा। आयोग ने यह भी स्पष्ट किया कि वह चुनाव के लिये दलो द्वारा किये *गये गठबन्धनों या समझौतो पर भी ध्यान नही देगा।* दल को केवल उन्ही उम्मीदवारो द्वारा प्राप्त मतों के लिये श्रेय मिलेगा जिन्हे कि दल खुले रूप मे चुनाव में भाग लेने के हेतु अपना टिकट दे। १९६२ के आम चुनावों के परिणाम निम्नलिखित तालिकाओं में दिये गये है :[1]

तीसरे आम चुनावों के परिणाम

लोकसभा

राज्य का नाम	कुल स्थान	कांग्रेस	साम्यवादी	प्र० स०	जनसंघ	स्वतन्त्र
आंध्र	४३	३४	७	—	—	१
असम	१२	९	—	२	—	—
बिहार	५३	३९	१	२	—	७
गुजरात	२२	१६	—	१	—	४
केरल	१८	६	६	—	—	—
मध्यप्रदेश	३६	२४	—	३	३	—
मद्रास	४१	३१	२	—	—	—
महाराष्ट्र	४४	४१	—	१	—	—
मैसूर	२६	२५	—	१	—	—
उडीसा	२०	१४	—	१	—	—
पंजाब	२२	१३	—	—	३	—
राजस्थान	२२	१४	—	—	१	३
उत्तरप्रदेश	८६	६२	२	२	७	३
प० बगाल	३६	२२	९	—	—	—

[1] Poplai, S. L., *1962 General Elections*, pp. 410-13.

विधान सभायें

राज्य का नाम	कुल स्थान	कांग्रेस	साम्य०	प्र० स०	जनसंघ	स्वतंत्र	अन्य	
आंध्र	३००	१७७	५१	—	—	१९		
असम	१०५	७९	—	६	—	—	हिल लीडर्स	११
बिहार	३१८	१८५	१३	२९	३	५०	झारखण्ड	२०
गुजरात	१५४	११३	—	७	—	२६		
मध्यप्रदेश	२८८	१४२	१	३३	४१	२	समाजवादी	१४
मद्रास	२०६	१३८	२	—	—	६	द्र० मु० क०	५०
महाराष्ट्र	२६४	२१४	६	९	—	—		
मैसूर	२०८	१३८	३	२०	—	९		
पंजाब	१५४	९०	९	—	८	४	अकाली दल	१९
राजस्थान	१७६	८८	५	२	१५	३६	रामराज्य परिषद	३
उत्तर प्रदेश	४३०	२४९	१४	३८	४९	१५	समाजवादी दल	२४
प० बंगाल	२५२	१५७	५०	—	—	—	फॉरवर्ड ब्लॉक	१३

निम्नलिखित तालिकाओं[3] में लोकसभा में प्रथम तीन आम चुनाव के बाद अखिल भारतीय दलों की स्थिति दिखाई गई है :

दल	१९५२			
	उम्मीदवार	स्थान प्राप्त किये	% स्थान	% मत
कांग्रेस	४७२	३६४	७४·४	४५·०
स्वतन्त्र पार्टी	—	—	—	—
साम्यवादी दल	४९	१६	३·३	३·३
प्र. स. दल — स. द.	२५६	१२	२·५	१०·६
प्र. स. दल — कि. म. पा.	१४५	९	१·८	५·८
समाजवादी दल	—	—	—	—
जनसंघ	९३	३	०·६	३·१
हिन्दू महासभा	३१	३	०·८	०·९५
रिपब्लिकन	२७	२	०·४	२·३६
रामराज्य परिषद	५५	३	०·६	२·०३
अन्य दल	२१५	३५	७·२	११·१
स्वतन्त्र	५२१	४१	८·४	१५·८
कुल योग		४८९		

3 Morris-Jones, W. H , *The Government and Politics of India*, p. 163.

१९५७

दल	उम्मीदवार	स्थान प्राप्त किये	% स्थान	% मत
कांग्रेस	४९०	३७१	७५·१	४७·७८
स्वतन्त्र पार्टी	—	—	—	—
साम्यवादी दल	१०८	२७	५·४	८·९२
प्र. स. द. { स. दल	१८९	१९	३·८	१०·४१
प्र. स. द. { कि. म. पा.	—	—	—	—
समाजवादी दल	—	—	—	—
जनसंघ	१३०	४	०·८	५·९३
हिन्दू महासभा	१९	१	०·२	०·८६
रिपब्लिकन	१९	४	०·८	१·५
रामराज्य परिषद्	१५	—	—	०·३८
अन्यदल	७३	२९	५·९	४·८१
स्वतन्त्र	४७५	३९	७·९	१९·३९
कुल योग		४९४		

१९६२

दल	उम्मीदवार	स्थान प्राप्त किये	% स्थान	% मत
कांग्रेस	४८५	३५८	७२·४	४४·७२
स्वतन्त्र पार्टी	१७३	१८	३·७	७·८९
साम्यवादी दल	१३७	२९	५·९	९·९४
प्र. स. द. { स. द. / कि. म. पा.	१९८	१२	२·४	६·८१
स. द.	१०७	६	१·२	२·८३
जनसंघ	१९६	१४	२·८	६·४३
हिन्दू महासभा	३८	१	०·२	०·६५
रिपब्लिकन	६८	३	०·६	२·८३
रामराज्य परिषद्	४१	२	०·४	०·६०
अन्य दल	८९	२८	५·७	६·३५
स्वतन्त्र	४८०	२०	४·१	११·०८
कुल योग		४९१		

प्रथम तीन आम चुनावों के परिणामों से यह स्पष्ट दीखता है कि कांग्रेस का समर्थन स्थिर रहा। नीचे दी गई तालिका[4] में प्रमुख दलों द्वारा तीनों आम चुनावों में प्राप्त वैध मतों तथा स्थानों का अनुपात दिखाया गया है :

१. लोक सभा

दल	प्रतिशत मत			प्रतिशत स्थान		
	१९५२	१९५७	१९६२	१९५२	१९५७	१९६२
कांग्रेस	४५·०	४७·७	४४·७	७४·४	७५·१	७३·१
साम्यवादी दल	३·३	८·९	९·९	३·३	५·५	५·८
प्र० स. द., स द.	१०·६	१०·४	९·५	२·५	३·६	३·६
स्वतन्त्र पार्टी	—	—	८·२	—	—	४·४
अन्य दल	२२·२	१३·८	१०·१	१०·०	७·१	६·१
स्वतन्त्र	१५·८	१९·२	११ १	७·८	७ ७	८·०

२. राज्यों की विधान सभायें

दल						
कांग्रेस	४८ २	४८·९	४३·६	६८·४	६४·८	६१·४
साम्यवादी दल	४·३	९·३	१०·७	३·२	५·६	५·९
प्र. स. द.—स. दल	९·७	९·७	१०·०	३·८	६·७	७·७
स्वतन्त्र पार्टी	—	—	७·२	—	—	६·४
अन्य दल	१९·२	७·४	९·३	१२·२	७·९	६·६
स्वतन्त्र	२१·७	२४·९	१३·५	१०·१	१३·३	८·२

राज्यीय दलों में अग्रलिखित प्रमुख रहे : मद्रास—द्रविड़ मुनेत्रा कजगम ५०, प० बंगाल—फॉरवर्ड ब्लॉक १३, असम—हिल लीडर्स कांग्रेस ११, बिहार—झारखण्ड २०, मध्यप्रदेश—रामराज्य परिषद् १०, महासभा १५ और समाजवादी १४, उत्तरप्रदेश—समाजवादी २४, और रिपब्लिकन ८, राजस्थान—रामराज्य परिषद् ३ और समाजवादी ५, पंजाब—अकाली दल १९, महाराष्ट्र—पेजेण्ट्स एण्ड वर्कर्स पार्टी १५।

भारत के उप-महाद्वीपीय समाज की प्रादेशिक, धार्मिक, मूल-वंशीय, भाषायी, सामाजिक और सांस्कृतिक विविधताओं ने विभिन्न राजनीतिक दलों के विकास में योग दिया है। १९५२ में निर्वाचन आयोग ने १४ अखिल-भारतीय और ५२ राज्यीय दलों को चुनाव चिन्हों के हेतु मान्यता दी थी। १९५७ में आयोग ने ४ राष्ट्रीय और १२ राज्यीय दलों को मान्यता दी, किन्तु उनके अतिरिक्त ३६ दल और थे, जिन्होंने एक या अधिक राज्यों के चुनावों में भाग लिया। १९६२

4 Perspectives, *supplement to I. J. P. A*, *Jan–March, 1956, pp. 25-6.*

में तीसरे श्राम चुनाव के लिये आयोग ने ६ अखिल-भारतीय और ७ राज्यीय दलो को मान्यता प्रदान की और अपनी रिपोर्ट मे १८ अन्य दलों की सूची दी जिन्होने लोक सभा या विधान सभाओं या दोनों के चुनावो में कुछ मत प्राप्त किये। इन सब दलों में २२ एक-राज्य वाले दल थे, जिनमें से केवल ६ को अपने २ राज्यों मे कुछ महत्वपूर्ण समर्थन प्राप्त हुआ; शेष में से ३ दलों को तीन राज्यों में समर्थन मिला, १ को ६ राज्यों मे, २ को ६ राज्यों में और ६ को प्राय सभी राज्यो में समर्थन मिला।

तीन आम चुनावो के बाद राजनीतिक मत लगभग १५ राष्ट्रीय तथा स्थानीय दलों के पक्ष में स्थिर हो गया। ये विभिन्न दल .राष्ट्रवादी, समाजवादी, उदारवादी-व्यवहारवादी (liberal-pragmatic), धर्म-निरपेक्षीय, साम्प्रदायिक, जन-जातीय, जातीय और प्रादेशिक-भाषायी प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते है। राष्ट्रीय दलो मे प्रमुख कांग्रेस, साम्यवादी दल, प्रजा समाजवादी तथा सयुक्त समाजवादी दल, स्वतन्त्र पार्टी और अखिल भारतीय जनसघ है। स्थानीय (प्रादेशिक) दल, जिसके अनुयायी केवल एक या कुछ ही राज्यों मे है ये उल्लेखनीय है—द्रविड़ मुनेत्रा कजगम—डी० एम० के० (मद्रास), अकाली दल (पंजाब), पेजेन्ट्स एण्ड वर्कर्स पार्टी (महाराष्ट्र), फॉरवर्ड ब्लॉक (प० बंगाल), मुस्लिम लीग (केरल), रिपब्लिकन पार्टी (महाराष्ट्र, उत्तरप्रदेश), क्रांतिकारी समाजवादी दल (Revolutionary Socialist Party केरल और प० बगाल), हिन्दू महासभा (मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश), और रामराज्य परिषद् (मध्यप्रदेश व राजस्थान)। झारखण्ड पार्टी का, जिसके अनुयायी काफी बड़ी सख्या में बिहार के छोटा नागपुर क्षेत्र के जन-जातीय लोगो में थे, सन् १९६३ में कांग्रेस् मे विलीनीकरण हो गया। असम के पहाड़ी नेताओ का सम्मेलन (The All Party Hill Leaders Conference) राज्य के महत्वपूर्ण जन-जातीय समूहो का प्रतिनिधित्व करता है। कुछ राज्यो मे जहां भाषा और राज्य की सीमा के प्रश्नों का पूर्णतया निराकरण नही हो पाया है, स्थानीय समूह पाये जाते है, जो विशिष्ट क्षेत्रो का पड़ौसी राज्य में विलीनीकरण चाहते है यथा मैसूर मे महाराष्ट्र एकीकरण समिति जो बेलगांव जिले के कुछ क्षेत्रो का विलीनीकरण. महाराष्ट्र मे चाहती है। परन्तु ऐसे समूह सक्रमणकालीन तथा महत्वहीन है। कुछ राज्यो मे ऐसे भी दल थे जो केवल उप-प्रदेशो तक सीमित थे, जैसे पजाब में हरियाना प्रान्त सीमित और प० बगाल में गुरखा लीग।

अखिल भारतीय कांग्रेस समिति का द्वि-दिवसीय अधिवेशन ५–६ जून १९६२ को नई दिल्ली मे हुआ। उस अवसर पर श्री दामोदरन सन्जीव्या को, जो कुछ समय पूर्व आंध्र के मुख्यमन्त्री रह चुके थे कांग्रेस का प्रधान चुना गया। श्री सजीव्या प्रथम हरिजन है, जिन्हे कांग्रेस का प्रधान चुना गया, साथ ही वह कांग्रेस कार्य समिति के सदस्यो मे सबसे कम आयु वाले थे जिन्हे कांग्रेस संगठन का सबसे

ऊँचा पद मिला। (१) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने जनता के सामने प्रजातान्त्रिक **समाजवाद** के ध्येय को अपनाया; जिसकी प्राप्ति नियोजित अर्थ-व्यवस्था के द्वारा की जायेगी। राष्ट्र ने कांग्रेस के इस कार्यक्रम का समर्थन किया है। (२) पंचायत राज को राष्ट्रीय कार्यक्रम के रूप में स्वीकार किया। इस प्रयोग का लक्ष्य ग्रामीण सर्वसाधारण को सुदृढ़ बनाना है और उनका देश के सामाजिक व आर्थिक पुनर्निर्माण कार्य में सक्रिय भाग प्राप्त करना है। यह आवश्यक है कि पंचायत राज का प्रारम्भ अधिक से अधिक जन-समर्थन के साथ हो। अतएव अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने यह मत प्रकट किया कि पंचायतों का चुनाव दलीय आधार पर न हो। समिति ने कांग्रेस समितियों को निदेश दिया कि वे इस बात को ध्यान में रखेंगी और आशा प्रकट की कि अन्य राजनीतिक दल इस लक्ष्य की प्राप्ति में सहयोग देंगे। (३) कांग्रेस समिति ने शस्त्रीकरण के लिये चल रही दौड़ की निन्दा की और आशा व्यक्त की कि शस्त्रीकरण पर १८ राष्ट्रों की समिति अपने कार्य में सफल होगी, जिससे कि एक उचित अवधि में सामान्य निःशस्त्रीकरण के लिये सन्धि हो जाये और उसे कार्यान्वित करने के लिये उचित तन्त्र स्थापित हो जाये।

सितम्बर माह में पट्टम थानु पिल्ले को, जो केरल में मिले-जुले मन्त्रि-मण्डल के मुख्यमन्त्री थे, पंजाब का गवर्नर बनाया गया और उनका स्थान आर० शंकर ने लिया। १७ अक्तूबर १९६२ को प्र० स० दल की राष्ट्रीय कार्यकारिणी ने अपने को मिले-जुले मन्त्रि-मण्डल से अलग कर लिया। अतएव केरल में केवल कांग्रेस का ही मन्त्रि-मण्डल सत्तारूढ़ हुआ। २० अक्तूबर को चीनी सेनाओं ने बड़े पैमाने पर भारतीय प्रदेश पर आक्रमण किया, जिसके परिणामस्वरूप देश में आपात-काल की घोषणा लागू हुई और आक्रमणकारियों को बाहर निकाल भगाने के उद्देश्य से ऐसी राष्ट्रीयता और एकता की लहर फैली जैसी कि ऐसे समय में स्वाभाविक थी। पंजाब में अकाली सिक्खों ने पंजाबी सूबे की माँग स्थगित कर दी। मद्रास में द्रविड मुनेत्रा कज़गम ने भी पृथक् तमिलनद की माँग को स्थगित कर दिया और सभी दलों ने सरकार को उसके युद्ध-संचालन व प्रतिरक्षा सम्बन्धी सभी प्रयत्नों में सहयोग देने का निर्णय किया।

समाजवादियों में एकता के लिये प्रयत्न—१३ दिसम्बर १९६२ को उत्तर-प्रदेश विधानमण्डल के प्रजा समाजवादी व साम्यवादी दलों का विलय हुआ और उन्होंने मिलकर **संयुक्त समाजवादी दल** (*United Socialist Party*) की स्थापना की, जिसमें उस समय ५९ सदस्य थे और जिसे विधानसभा के अध्यक्ष ने विरोधी पक्ष के सबसे बड़े दल के रूप में मान्यता भी प्रदान की। १८ दिसम्बर को नये दल ने एक ३ सदस्यों की समिति बनाई, जिसे एकता का सन्देश फैलाने का कार्य सौंपा गया। प्र० स० दल के जनरल सेक्रेटरी ने १४ दिसम्बर के वक्तव्य में विलय का स्वागत किया और प्र० स० दल की उत्तरप्रदेशीय शाखा ने भी २४ दिसम्बर को दोनों दलों के विलय का समर्थन किया। ३० दिसम्बर को समाजवादी दल के राष्ट्रीय

सम्मेलन में, जो भरतपुर में हुआ, बड़े बहुमत से समाजवादी एकता के पक्ष में प्रस्ताव स्वीकार किया और उसने दोनों दलो के एकीकरण के लिये कोई शर्त नही रखी। भारतीय समाचार-पत्रों ने भी इस विलय का स्वागत किया। जनवरी १९६३ मे राजस्थान विधान सभा के प्र० स० व समाजवादी सदस्यों ने भी सयुक्त समाजवादी दल बना लिया, परन्तु प्र० स० दल की राष्ट्रीय कार्यकारिणी ने यह निर्णय किया कि दोनो दल के ७–७ सदस्यों की एक समिति बने जो समाजवादी दल के घोषणा-पत्र को इस प्रकार सशोधित करे कि वह सबको स्वीकार हो। इस शर्त के साथ प्र० स० दल ने एकता के पक्ष में निर्णय किया। परन्तु समाजवादी दल की राष्ट्रीय समिति ने ३१ जनवरी के वक्तव्य में प्र० स० दल द्वारा लगाई गई शर्त को अस्वीकार कर दिया और विभिन्न राज्यों में प्र० स० दल की शाखाओं से चाहा कि वे समाजवादी दल मे मिल जायें। उसने उत्तरप्रदेश व राजस्थान के सयुक्त दलों को आमन्त्रित किया कि वे समाजवादी दल के सविधान के अन्तर्गत राज्यो में विधानमण्डलीय दल के रूप में कार्य करे। इस प्रकार एकता के लिये किये गये प्रयत्नो मे सफलता के बजाय आपसी कटुता बढ़ गई।

यद्यपि स्वतन्त्र पार्टी की स्थापना तीसरे आम चुनावो से केवल २½ वर्ष पूर्व हुई थी, तथापि उसने कांग्रेस व साम्यवादी दलों के अतिरिक्त अन्य दलों की अपेक्षा अधिक अच्छा समर्थन प्राप्त किया। लोकसभा मे प्राप्त स्थानो तथा उसके लिये डाले गये मतों की कुल संख्या में उसके अनुपात की दृष्टि से स्वतन्त्र पार्टी ने तीसरा स्थान प्राप्त किया और उसने प्रजा समाजवादी दल, जनसघ, समाजवादी दल और हिन्दू महासभा को पीछे छोड दिया। राज्यो की विधान सभाओं मे स्वतन्त्र पार्टी ने २०७ स्थान प्राप्त किये, जबकि साम्यवादी दल ने २०१, प्र० स० दल ने १८१, जनसघ ने ११२ और समाजवादी दल ने ६२ स्थान प्राप्त किये। इस प्रकार स्वतन्त्र पार्टी बिहार, राजस्थान, उड़ीसा और गुजरात मे सरकारी रूप में विपक्ष (official opposition) बनी जहाँ उसे क्रमश ५०, ३६, ३६ और २६ स्थान मिले। 'राष्ट्र की राजनीति पर स्वतन्त्र पार्टी के आगमन से पूर्व कांग्रेस के विरुद्ध आवाजें मुख्यतः वामपंथी दलो से आ रही थी, जिसके परिणामस्वरूप काग्रेस स्वयं वृद्धिपूर्ण मात्रा में समाजवादी भाषा को अपनाने लगी थी। जब स्वतन्त्र पार्टी की स्थापना की गई थी तो नेताओं का उद्देश्य काग्रेस पर कदाचित वामपथी दलो के विरोध मे दबाव डालने का था, परन्तु चुनावो में सफलता के बाद स्वतन्त्र पार्टी के नेताओं के विचारों में परिवर्तन हुआ। उन्होने सोचा कि वे अगले आम चुनावो पर काग्रेस को चुनौती देने के लिये अधिक सुदृढ़ स्थिति मे होंगे।[5]

सन् १९६२ के आम चुनावो की एक विशेषता यह थी कि वामपथी दलो मे एकता का अभाव था और उन्हें एक ओर काग्रेस तथा दूसरी ओर जनसघ व

---

5 'Swatantra—Emergence of a Conservative Opposition Party,' *I. J. P S., Apl–June 1965, p. 23*

स्वतन्त्र पार्टी जैसे दक्षिणपंथी दलो की चुनौती का मुकाबला करना पड़ा। डा० लोहिया के समाजवादी दल ने, जिसका विश्वास सदैव सम-दूरी के सिद्धान्त (principle of equi-distance) मे रहा है, अकेले ही चुनाव लडे। प्रजा समाजवादी दल ने, जिसके विश्वास का एक प्रमुख आधार साम्यवाद का विरोध है, वामपथी दलों के किसी भी ऐसे सयुक्त मोर्चे का समर्थन नही किया जिसमे साम्यवादी सम्मिलत थे। इसी कारण प्रजा समाजवादी दल प० बगाल के वामपथी सयुक्त मोर्चे से पृथक् रहा था और उसने सयुक्त महाराष्ट्र समिति से भी अपने को अलग कर लिया था। वामपथी दलों का गठबन्धन केवल प० बगाल मे ही हो सका था जहाँ ६ दलो ने मिलकर सयुक्त मोर्चा बनाया था। उसमे ये दल सम्मिलित हुये थे—साम्यवादी दल, क्रांतिकारी साम्यवादी दल (R. C. P. I.), क्रांतिकारी समाजवादी दल (R. S. P), फॉरवर्ड ब्लॉक (सुभाषवादी), फॉरवर्ड ब्लॉक (मार्क्सवादी) और बॉलशैविक पार्टी। परन्तु वहाँ भी प्रजा समाजवादी दल और समाजवादी ऐक्य केन्द्र (Socialist Unity Centre) सयुक्त मोर्चे से अलग रहे। छोटे पैमाने पर वामपथी दलो के गठबन्धन केरल और महाराष्ट्र मे भी हुये थे। अन्य राज्यो मे वामपथी दलो ने पृथक् रूप से चुनावों में भाग लिया था।

विरोधी दलों में एकता के लिये प्रयत्न—सन् १९६३ के प्रारम्भिक महीनो मे हुये उप-चुनावो मे जीतने पर अ-साम्यवादी विरोधी दलो ने यह प्रयत्न किया कि वे अस्थायी रूप से प्राप्त एकता को स्थिर बना सके। अभी तक तो केवल नकारात्मक पहुच अर्थात् शासक दल (काग्रेस) और साम्यवादी दलो के विरोध ने उनमे एकता लाई थी; अन्यथा अन्य प्रश्नो पर उनमे गम्भीर मतभेद थे। आचार्य कृपलानी ने, जो किसी दल के सदस्य न बने थे, विरोधी दलों के बीच निम्नतम कार्यक्रम के आधार पर एकता स्थापित करने का अति कठिन कार्य अपने हाथों मे लिया। जून १९६३ मे लखनऊ मे आयोजित **अखिल भारतीय समाजवादी ऐक्य सम्मेलन** (All India Socialist Unity Conference) का उद्घाटन करते समय सम्मेलन के सामने एकता के लिये निम्नलिखित ६ सूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत किया :

(१) स्वच्छ और कुशल प्रशासन, (२) जब तक देश की एक इच भूमि भी शत्रु के आधिपत्य में रहे चीनी आक्रमण का विरोध; (३) इस ध्येय की पूर्ति के लिये तथा उप-महाद्वीप की समृद्धि के लिये भारत और पाकिस्तान के बीच किसी प्रकार की अच्छी समझदारी लाने के लिये प्रयत्न करना; (४) सामाजिक न्याय की स्थापना। समाजवाद एक अस्पष्ट शब्द है, जिसे हो सकता है कि सभी लोकतन्त्रात्मक दल न स्वीकार करें, क्योकि अपने कुछ रूपों में समाजवाद अ-लोकतन्त्रवादी, आक्रामक और प्रतिगामी है। (५) जब तक सार्वजनिक क्षेत्र (public sector) मे सम्मिलित योजनायें समेकित न हो और उन्हे कुशलतापूर्वक

न चलाया जा सके, तब तक उद्योग और वाणिज्य का आगे राष्ट्रीयकरण न किया जाय।

सम्मेलन ने एक प्रस्ताव स्वीकृत किया जिसमें आचार्य कृपलानी और डा० पी० सी० घोष से प्रार्थना की गई थी कि वे प्र० स० दल और समाजवादी दल का विलीनीकरण करादें। एक दूसरे प्रस्ताव में सम्मेलन ने यह माग की कि समाजवादी दल के विरुद्ध घृणा और अपशब्द कहने के अभियान को तुरन्त ही बन्द किया जाये। ■ जुलाई को पटना में हुई एक सार्वजनिक सभा में डा० लोहिया ने श्री जयप्रकाश नारायण से अपील की कि वह सक्रिय राजनीति में सम्मिलित हों और उन्हें आश्वासन दिया कि वह उन्हें अपना पूरा समर्थन देंगे।

सन् १९६३ के अन्त में कांग्रेस कार्य समिति में प्राय: एकमत रहा कि श्री कामराज नाडर को कांग्रेस का आगामी प्रधान चुना जाये। कुछ समय से कांग्रेस में वामपंथी तथा दक्षिणपंथी दो समूह बनते जा रहे थे; यद्यपि कांग्रेस का लक्ष्य देश में एक कल्याणकारी राज्य और समाजवादी नमूने के समाज (socialist pattern of society) की स्थापना थे। कांग्रेस के वामपंथी समाजवादियों (left socialists) की सख्या गिनी-चुनी थी। श्री कृष्णा मेनन और श्री के० डी० मालवीया को प्रगतिशील वामपंथी समझा जाता था। उत्तर प्रदेश के अमरोहा और फर्रुखाबाद के ससदीय निर्वाचन-क्षेत्रों में कांग्रेस की पराजय हुई। प्रजा समाजवादी दल के चेयरमैन श्री एस० एम० जोशी ने सरकार की नीतियों को लोकतन्त्रवाद व समाजवाद का विरोधी बताया। साथ ही उन्होंने नेहरू सरकार से त्याग-पत्र देने की मांग की और जनसाधारण का सघर्ष चलाने की बात पर जोर दिया।

पश्चिमी बगाल के साम्यवादी दल के दो गुटों के बीच विवाद तीव्र हुआ, जबकि २ अक्तूबर को पेकिंग-समर्थक गुट ने दल के अधिकारियों के निदेश पर ध्यान न देने का निर्णय किया; यद्यपि दल के दोनों ही गुटों ने इस बात के लिये माग की कि राजनीतिक बन्दियों को छोड़ा जाये। दल के सगठन-सेक्रेटरी श्री भोवानी सैन ने कहा कि डेमोक्रेटिक कन्वेन्शन (Democratic Convention) के बुलाने वालों ने समानान्तर दलीय केन्द्र को सचालित किया और अधिकारी नेतृत्व का ध्यान नहीं रखा। ५ अक्तूबर को टाइम्स ऑफ इन्डिया ने लिखा कि केरल में दल का बडा भाग बगाल के विद्रोहियों के साथ मिला था। केरल-बगाल मेल ने दल में फूट डालने का खतरा पैदा कर दिया था। दोनों गुटों के बीच इस बात पर असहमति पैदा हुई कि भारत जैसे विकासशील देश में दल की क्या भूमिका रहे। राष्ट्रीय नेतृत्व नेहरू का समर्थन करने के सिद्धान्त से बधा था, विशेषरूप से कांग्रेस में दक्षिणपंथी प्रतिगामियों के विरुद्ध अल्पसख्यक समूह ने, जो अधिक कट्टर और सकीर्णतावादी था, यह तर्क दिया कि कांग्रेस राष्ट्रीय पूंजीवादियों का ही दल बना हुआ था, अतः वह कड़ा परिश्रम करने वाले जन-साधारण के हितों को आगे बढ़ाने के माध्यम का कार्य नहीं कर सकता था।

४. चौथे आम चुनावों के पूर्व और बाद

कांग्रेस का ६८वां अधिवेशन जनवरी ५–१० के बीच भुवनेश्वर (उड़ीसा) में हुआ और कांग्रेस ने 'लोकतन्त्रात्मक समाजवाद' (Democratic Socialism) का ध्येय अपनाया। इस विषय पर पास किये गये प्रस्ताव में कहा गया :

> मानवी तथा भौतिक साधनों के सबसे अधिक प्रभावी प्रयोग द्वारा देश में प्रचुरता की अर्थव्यवस्था (an econonmy of abundance) को प्राप्त करना हमारा लक्ष्य है, जिससे कि प्रत्येक व्यक्ति के कल्याण को आश्वस्त किया जा सके। उन्नति के फलों में प्रत्येक व्यक्ति को सम अवसर और न्यायपूर्ण भाग अवश्य ही मिलना चाहिये। विशेषाधिकार, असमानतायें (disparities) और शोषण का विलोपन होना चाहिये। इस परिवर्तन को शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा और जनता की सहमति से प्राप्त करना है, और भारत के संविधान में समाविष्ट लोकतन्त्रात्मक विधियों एवं मूल्यों का परिरक्षण तथा पोषण करते हुये। कांग्रेस की विचारधारा को संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है—'लोकतन्त्र, व्यक्ति की गरिमा और सामाजिक न्याय पर आधारित लोकतन्त्रात्मक समाजवाद।'
>
> प्रस्ताव में इन बातों पर विशेष रूप से बल दिया गया— (अ) प्रत्येक व्यक्ति की खाने, कपड़े, मकान, शिक्षा और स्वास्थ्य की आवश्यकताओं को तुष्ट किया जाये; (आ) इन बातों की पूर्ति (तथा सामाजिक न्याय की स्थापना) के लिये समुदाय के विभिन्न वर्गों के आर्थिक व सामाजिक पद में जो बड़ी असमानतायें है, उन्हें कम किया जाना चाहिये; (इ) जनता के सोचने और रहने के तरीकों में लोकतन्त्रात्मक ढंग से आवश्यक मूलभूत परिवर्तन किये जायें जिससे कि मानव व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो सके; और (ई) इन लक्ष्यों के सार को पांचवीं योजना के काल में प्राप्त करने के कठिन कार्य को राष्ट्र अपने सामने रखे।[6]

जनवरी १९६४ में स्वतन्त्र पार्टी के जनरल सेक्रेटरी श्री एम० आर० मसानी ने कहा कि कांग्रेस विरोधी सभी लोकतन्त्रात्मक दलों का विलीनीकरण सम्भव नहीं, यद्यपि वह स्वयं उसका स्वागत करेंगे। दुर्भाग्यवश प्रजा समाजवादी दल, जनसंघ और समाजवादी दल ऐसे विलीनीकरण के पक्ष में नहीं है, अतएव उनकी पार्टी आगामी आम चुनावों के अवसर पर चुनाव सम्बन्धी समायोजन (electoral adjustments) के लिये तैयार है। प्रजा समाजवादी दल के नेताओं ने कहा कि श्री अशोक मेहता दल में त्याग-पत्र न देकर उसे हानि पहुंचा रहे थे।

6 Congress Resolution on Democracy and Socialism, *adopted at the Bhubaneshwar Session, Jan. 1964.*

प्रजा समाजवादी दल में भ्रमपूर्ण स्थिति को पैदा करने वाला एक और कारण भी था। डा० राम मनोहर लोहिया ने यह प्रस्ताव रखा कि उनका समाजवादी दल बिना शर्त प्रजा समाजवादी दल में विलीन हो जाय। प्रजा समाजवादी दल के कुछ नेताओं ने उसका स्वागत किया, परन्तु दल के चेयरमैन श्री एस० एम० जोशी ने समाजवादी दल के नेताओं से विरोधी दलों तथा स्वतन्त्र पार्टी और जनसंघ के प्रति अपने रुख को पुनः परिभाषित करने को कहा जिससे कि समाजवादी एकता के लिये मार्ग साफ हो सके।

चूंकि श्री अशोक मेहता ने आयोजन आयोग (Planning Commission) के उप-सभापति (Deputy-chairman) का पद स्वीकार कर लिया था और उन्होंने स्वयं प्रजा समाजवादी दल से त्यागपत्र नही दिया था, अतः १५ फरवरी १९६४ को दल की राष्ट्रीय कार्यकारिणी ने खेद के साथ उनकी सदस्यता का अन्त कर दिया। उसके बाद श्री अशोक मेहता के समर्थकों ने अपना एक सम्मेलन बुलाया और निर्णय किया कि वे एक साथ बिना पूर्व शर्त के कांग्रेस में सम्मिलित हो जायें। मई १९६४ में प्रधानमंत्री नेहरू का स्वर्गवास हो गया और कांग्रेस के सामने उनके उत्तराधिकारी को चुनने का कठिन प्रश्न आया। लालबहादुर शास्त्री को नया नेता तथा प्रधानमंत्री बनाया गया। ३ मई को हुये आन्ध्रप्रदेश के दूसरे सम्मेलन में स्वतन्त्र पार्टी ने घोषित किया कि लोकतन्त्र और समाजवाद एक दूसरे से असंगत हैं (democracy and socialism are incompatible)। जहां तक नियोजन का सम्बन्ध है पार्टी उसके विरुद्ध नहीं है; पार्टी का विश्वास है कि नियोजन का लक्ष्य प्रचुरता हो। साम्यवादी दल की नेशनल कौंसिल ने जून १९६४ के अधिवेशन पर नये प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री के नीति सम्बन्धी वक्तव्य का स्वागत किया और वायदा किया कि वह सभी प्रगतिशील तथा लोकतंत्रात्मक नीतियों व पगों को अपना समर्थन प्रदान करेगी। परन्तु कौंसिल ने इस सुझाव को पूर्णतया गलत व खतरनाक बताया कि लोकतन्त्रात्मक व समाजवादी शक्तियां कांग्रेस में सम्मिलित होकर उसे राष्ट्रीय एकता के प्लेटफार्म में बदल दें।

साम्यवादी दल (दक्षिण पंथी) की नेशनल कौंसिल की बैठकें नवम्बर १९६४ में त्रिवेन्द्रम में हुई। उनके बाद कौंसिल ने यह मत अभिव्यक्त किया कि सोवियत संघ में हाल के परिवर्तनों को 'विश्व मत की प्रतिक्रिया को और अधिक अच्छे ध्यान की दृष्टि से लागू किया गया था।' परन्तु दल के वामपंथी वर्गों का एक अखिल भारतीय सम्मेलन नवम्बर के प्रथम सप्ताह में कलकत्ते में हुआ, जिसमें ४०० से अधिक प्रतिनिधियों ने भाग लिया। उसके द्वारा स्वीकृत एक प्रस्ताव में इस बात को नोट किया गया कि सोवियत समाजवादी दल के सभी पदों से ख्रुश्चेव को हटा देने के बाद रूसी और चीनी साम्यवादी दलों के बीच सम्बन्धों में सुधार हुआ है। प्रथम नवम्बर १९६४ को प्रकाशित अपने एक नीति-सम्बन्धी वक्तव्य में जनसंघ ने ऐसे सभी देशों से सहयोग करने की अपील की जो शान्ति और

सह-अस्तित्व (co-existence) में विश्वास रखते है जिससे कि चीन की विस्तार-वादी और सैन्यवादी प्रवृत्तियों का मुकाबला किया जा सके। अप्रैल १९६५ में कच्छ के रंन (Rann of Kutch) में सीमा विवाद उठा और पाकिस्तान ने भारत के साथ युद्ध किया। ब्रिटेन के प्रधानमंत्री के प्रयत्न से दोनों देशों के बीच जून में युद्ध-बन्दी समझौता हुआ। जुलाई में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के अधिवेशन पर कांग्रेस ने कच्छ समझौते का समर्थन किया। प्रजा समाजवादी दल के जनरल सेक्रेटरी, श्री प्रेम भापिन, ने एक वक्तव्य में कहा कि उनके दल ने समझौते को सिद्धान्त रूप में स्वीकार किया है। परन्तु उन्होने समझौते की विस्तार की बातों में कुछ दोष बताये। साम्यवादी दल ने कच्छ समझौते को शर्त के साथ अपना समर्थन (qualified support) प्रदान किया। जनसंघ ने समझौते को शास्त्री सरकार की ओर से पाकिस्तानी आक्रमण के सामने 'लज्जाजनक आत्म-समर्पण' (an act of shameful capitulation) कहा। एक प्रस्ताव में पार्टी की कार्य समिति ने समझौते की निन्दा की और शास्त्री सरकार पर राष्ट्र के हितों के प्रति 'अक्षम्य विश्वासघात' का आरोप लगाया।

अगस्त १९६५ के अन्त में पाकिस्तान की कश्मीर में आक्रामक गतिविधियों के परिणामस्वरूप भारत और पाकिस्तान के बीच युद्ध आरम्भ हुआ, जो २३ सितम्बर को संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद् के प्रयत्न से बंद हुआ। ११-१२ सितम्बर को हुए आपातकालीन अधिवेशन में ही प्रजा समाजवादी दल की नेशनल कौंसिल ने सरकार को चेतावनी दी थी कि वह कश्मीर के प्रश्न पर युद्धबन्दी करने में जल्दी न करे। एक प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि जनता कश्मीर के भविष्य के प्रश्न पर पाकिस्तान से कोई वार्ता न करे। जनसंघ की केन्द्रीय कार्यकारिणी ने २७-२८ सितम्बर को अपने आपातकालीन अधिवेशन में सरकार व जनता को पाकिस्तान के विरुद्ध प्रतिरक्षा प्रयत्नों में किसी भी प्रकार की ढील या सन्तोष की भावना के विरुद्ध चेतावनी दी। साम्यवादी दल (दक्षिण-पंथी) के केन्द्रीय सचिवालय ने चीन सरकार द्वारा भारत सरकार को दी गई धमकी की घोर निन्दा की। १६ सितम्बर को दिये गये एक वक्तव्य में उसने कहा कि चीन द्वारा दिये गये अल्टीमेटम का स्पष्ट उद्देश्य पाकिस्तानी सेना के मनोबल को प्रोत्साहित करना और भारत पर पाकिस्तान की शर्तों को मनवाने के लिये दबाव डालना था। इसके अतिरिक्त चीनी सरकार भारत-पाक युद्ध में भारत की अन्तर्ग्रस्तता से लाभ उठाकर हिमाचल प्रदेश में अपने आक्रामक कार्यों को आगे बढ़ाना चाहती थी। साम्यवादी दल (वामपंथी) की ओर से श्री ई० एम० एस० नम्बूदरीपाद ने भारत सरकार को आश्वासन दिया कि राष्ट्रीय सीमाओं की रक्षा के प्रश्न पर वह देश की शेष जनता के साथ रहेगा। चीन के साथ समस्या के बारे में श्री नम्बूदरीपाद ने कहा कि वह प्रत्यक्ष वार्ता द्वारा समझौते के पक्ष में है और उन्होंने सुझाव दिया कि विवाद का अन्त करने के लिये भारत को चाहिये कि चीन को अक्साई चिन में कुछ रियायतें दे दे।

साम्यवादी दल (वामपंथी) आगे चलकर दो समूहो मे विभाजित हो गया। टाइम्स ऑफ इन्डिया की जुलाई २४, १९६६ की रिपोर्ट के अनुसार दल में दो समूहों के बीच गहरा मतभेद पैदा हो गया था। १९६४ से ही दल के दो समूहों मे मतभेद पैदा हो गया था। एक समूह ऐसे अतिवादियों (hard core extremists) का बना जिसने पेकिंग की नीति का समर्थन किया और दूसरे समूह में कुछ नरम विचार के सदस्य रहे। आगामी चुनावो में केन्द्र मे सत्ता प्राप्त करने के वास्तविक इरादे से स्वतन्त्र पार्टी के ससदीय बोर्ड ने लोकसभा के लिये ३००–४०० निर्वाचन-क्षेत्रो से चुनाव लडने की योजना बनाई। पार्टी ने अन्य दलो के साथ राष्ट्रीय तथा राज्यीय स्तरो पर चुनाव सम्बन्धी गठबन्धन करने के लिये भी बातचीत चलाई। प्रजा समाजवादी दल की राष्ट्रीय कार्यकारिणी ने जुलाई १९६६ में दल की चुनाव योजना के बारे मे विचार-विमर्श किया। बम्बई में पास किये गये प्रस्ताव का यह अर्थ लिया गया कि दल स्वतन्त्र पार्टी और जनसघ जैसे दलो से भी कोई गठबन्धन न करेगा, अत: वह अकेले ही चुनाव लडेगा। जनसंघ की राष्ट्रीय कार्यकारिणी ने एक उप-समिति चुनाव घोषणा-पत्र का प्रारूप तैयार करने के लिये नियुक्त की। सात वामपथी दलो ने अगस्त में घोषित किया कि वे चुनाव सम्बन्धी समायोजन करने के लिये सहमत हो गये थे; परन्तु विभिन्न दलो ने निर्णय किया कि वे अपने-अपने पृथक् चुनाव घोषणापत्रों व कार्यक्रमो के आधार पर चुनाव लडेगे। उनमे इस बात पर सहमति हुई कि यदि निर्वाचक-मण्डल ने काग्रेस को पराजित कर दिया तो वे मिल कर कांग्रेस के विकल्प रूप मे लोकप्रिय शासन की व्यवस्था करेंगे।[7]

विभिन्न प्रमुख राजनीतिक दलों के चुनाव घोषणापत्रों का वर्णन पूर्वगामी दो अध्यायो मे किया जा चुका है। यहाँ पर उनके बारे में कुछ विचार देना ही काफी होगा। कांग्रेस ने लोकतन्त्रात्मक समाजवाद के ध्येय को अपनाया है। कांग्रेस समाजवादी समाज की स्थापना के लिये गत २० वर्षों से प्रयास कर रही थी, परन्तु देश का आर्थिक सकट गम्भीर होता जा रहा था। वामपंथी साम्यवादी दल को ऐसी स्थिति मे एक निर्णायक संघर्ष चलाने का सुअवसर मिला था। उसके मतानुसार काग्रेस जमीदारो, एकाधिकारवादियो (monopolists) और पूंजीवादियों के हितो का प्रतिनिधित्व करती है; ये समूह विदेशी एकाधिकार प्राप्त तत्वो के साथ मिलकर यथार्थ मे पूंजीवाद के निर्माण मे सहायक हो रहे है।

---

7 In a direct appeal to the electorate, the seven-party resolution said: 'The coming General Election provides the people with an opportunity to break the Congress stranglehold on the Government, increase representation and even replace the Congress administration by non-Congress popular Governments'.

See Indian Recorder and Digest, *Aug. 1966*,

परन्तु दूसरी अति पर स्वतन्त्र पार्टी है जो व्यक्ति को अधिकतम स्वतन्त्रता प्रदान करना चाहती है, जिसके द्वारा कल्याणकारी समाज (कल्याणकारी राज्य नही) को निर्मित किया जा सके। वास्तव मे, स्वतन्त्रता की धारणा को स्वतन्त्र पार्टी के सदस्य इस सीमा तक ले गये कि पार्टी के भीतर ही सदस्य अनेक महत्व-पूर्ण प्रश्नों यथा राजभाषा, कश्मीर—के बारे में भिन्न-भिन्न मत रखते हैं। पार्टी के अनुसार राज्य क्रमिक रूप से पीछे हटता रहेगा जिससे कि व्यक्तिगत किसान, उद्यमी, व्यापारी और दस्तकार अपना-अपना पूर्ण विश्वास कर सकें। राज्य, अधिक से अधिक, कल्याणकारी कार्यों मे अपनी भूमिका रख सकता है। स्वतन्त्र पार्टी ने अपनी विचारधारा को स्पष्ट करते हुये बताया कि वह उसका वर्णन उदारवादी (liberal) कहकर करती है, परन्तु उसने अनेक राष्ट्रीय प्रश्नों के लिये उत्तर नही दिये। आर्थिक प्रश्नो पर पार्टी जनता के पहल और उद्यम को राज्य के वर्तमान हस्तक्षेप के स्थान पर रखना चाहती है। करों मे भारी कमी की जायेगी, भूमिकर का उन्मूलन किया जायेगा और सरकार को निजी उद्यम के साथ प्रतिस्पर्धा करने से रोका जायेगा। नियोजन और वर्तमान राज्याधीन निगम जारी रहेंगी, परन्तु उनका प्रयोजन नया होगा। प्रश्न यह है कि पार्टी राज्य कोष के लिये आवश्यक धन कहाँ से लायेगी ? जबकि करो मे भारी कमी हो जायेगी।

प्रजा समाजवादी दल ने विकेन्द्रीकृत समाजवाद का समर्थन किया, न कि राज्य के स्वामित्व के विस्तार का। बैंकों, बीमे, खाने, खनिज तेलों, बगीचे, चुनी हुई वस्तुओं में थोक और विदेशी व्यापार को राष्ट्रीयकृत किया जायेगा। लोक-तन्त्रात्मक ढग पर सगठित जिला प्रशासन आर्थिक नियोजन की प्रमुख इकाई होगी। भूमि सुधारों को जिला प्रशासन ही कार्यान्वित करेगा तथा कृषि सहकारी समितियों (agricultural cooperatives not cooperative farms) को प्रोत्साहन दिया जायेगा। निगमो पर श्रमिको का प्रतिनिधित्व रहेगा। यद्यपि कुछ महत्वपूर्ण मामलों, विशेषकर वैदेशिक सहायता, के बारे में दल ने अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट नही किया, फिर भी समग्रत. दल का चुनाव कार्यक्रम सगत व स्पष्ट था।

भारतीय जनसंघ किसी विचारधारा से नही बंधा, सिवाय इसके कि वह एकता व प्रजातन्त्र के सिद्धान्तो को आधारभूत मानता है। वह यह पसन्द नही करता कि उसे साम्प्रदायिक कहा जाये, यद्यपि उसका राष्ट्रीय स्वयं सेवक सघ (R. S S.) जैसे सगठनो से घनिष्ठ मेल है। यह स्पष्ट नही होता कि दल विभिन्न समुदायो के बीच किस प्रकार राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहन देगा। जनसघ का विश्वास प्रतिरक्षा के ऐसे निर्माण मे है कि भारत अपने पैरों पर खड़ा हो सके। जनसघ के अनुसार सैनिक-गुटो से पृथक रहने की नीति (policy of non-alignment) के स्थान पर मित्र देशों को पाने की होनी चाहिये। चीनियों को भारत की सीमा, तिब्बत से भी, पूर्णतया भगा देना चाहिये। आर्थिक मामलों पर दल ने

कोई मार्गदर्शक रेखायें स्वीकार नहीं की, सिवाय इसके कि वह वास्तविक और व्यावहारिक पहुंच को अपनायेगा अर्थात् कृषि के लिये प्राथमिकता, लघु पैमाने की सिंचाई, भूमि-सीमा के बारे में वास्तविक नीति, लघु पैमाने और अधिक श्रमिकों को रोजगार देने वाले उद्योग, वैदेशिक सहायता तथा अधिक कर भार से प्राप्त साधनों पर निर्भरता के बिना। जनसघ की दृष्टि मे भारत की बहुमुखी समस्याओं का हल सरल है।

तीसरे आम चुनावों के समय साम्यवादी दल एक था। उस समय उसने संविधान की सीमा में रहते हुये उग्रगामी राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की बात की थी। चौथे आम चुनावो के पूर्व साम्यवादी दल दक्षिणपथी और वामपथी दो समूहों में विभाजित हो गया। दक्षिणपथी समूह ने तब भी कांग्रेस को पूर्णतया प्रतिगामी नहीं कहा, वरन् यह अनुभव किया कि उस पर समाजवादी नीतियो के अनुसरण हेतु दवाव डाला जा सकता है। दल का उद्देश्य कांग्रेस के भीतर और बाहर क्रान्ति-विरोधी शक्तियो (counter revolutionery force) से लड़ना है। दल ने अमरीका से सहायता लेना बन्द करने की माग की तथा एकाधिकारी फर्मों व बड़े उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का वायदा किया। बड़े भूमिपतियो की भूमि जब्त की जायेगी और वह कृषि श्रमिको व निर्धन किसानो में वितरित की जायेगी। उसने एक नये सघर्ष के प्रारम्भ को देखा और ग्रामीण क्षेत्रो मे क्रान्ति की। शक्ति प्राप्त करने के लिये सभी प्रकार के तरीको—रूढिगत अ-ससदात्मक तरीको से लेकर हिंसापूर्ण सघर्ष तक—का प्रयोग किया जायेगा।

सभी कांग्रेस विरोधी दलों में, जैसी की आशा की जा सकती थी, इस बात पर सहमति हो गई थी कि कांग्रेस शासन विशेषरूप से कुछ वर्ष पूर्व से, राष्ट्र को आर्थिक सकट की ओर ले जा रहा था और साम्यवादियों के अनुसार राज्य शक्ति के शून्य की ओर। परन्तु कांग्रेस ने यह विश्वास प्रकट किया कि औद्योगिकी (techonology) में शीघ्र ही आत्म-निर्भरता की प्राप्ति होगी और वास्तव में वैज्ञानिक क्रान्ति आरम्भ होगी। नियोजन और आर्थिक विकास के निर्देशन व मार्ग-दर्शन मे राज्य एक क्रियाशील व गतिशील भाग लेगा और अर्थ-व्यवस्था के महत्वपूर्ण पहलू निजी हाथो मे न रहेंगे। कांग्रेस का घोषणा-पत्र उसकी सुविदित नीतियों का ही विस्तार था, जिसमे पूर्व लक्ष्यो की पूर्ति मे रही कमियों ने उसे पूर्व की अपेक्षा कम आशावादी लक्ष्य निर्धारित करने पर विवश किया था। हाल ही में निर्मित जन कांग्रेस ने एक वक्तव्य जारी किया था, वही उसका घोषणापत्र था। उसने मुख्य रूप से पाँच वर्षों में खाद्य मे आत्म-निर्भरता प्राप्त करने पर बल दिया था। विभिन्न प्रकार के फार्मों के लिये भूमि के स्वामित्व की अधिकतम सीमायें भी भिन्न-भिन्न रखने की बात कही गई थी। आधारभूत उद्योगो को राष्ट्रीय विनियमन के अन्तर्गत रखने, किन्तु सार्वजनिक या निजी किसी भी क्षेत्र के एकाधिकार को स्थापित न करने का सुझाव दिया गया था। आर्थिक और

राजनीतिक लोकतन्त्र के सिद्धान्तो पर आधारित कॉमनवैल्थ की रचना के नये ध्येय को अपनाया गया था।'[8]

सन् १९६७ के चौथे आम चुनावों के बारे मे कुछ आधारभूत तथ्य—लोकसभा के ५२१ स्थानो मे से ५२० स्थानो के लिये प्रत्यक्ष चुनाव होने थे (पूर्व-गामी लोकसभा मे कुल स्थान ५०८ थे और नेफा (NEFA) के एक प्रतिनिधि को नामजद किया जाना था। राज्यो की विधान सभाओ के कुल सदस्यो की सख्या ३,२२९ से बढकर ३,३८३ हो गई थी और सघीय क्षेत्रो की विधान सभाओ के सदस्यो की सख्या १८० थी।

निर्वाचन-क्षेत्रों के परिसीमन के बाद अनुसूचित जन-जातियो के लिये आरक्षित स्थानो की सख्या मे भी वृद्धि हुई थी। लोकसभा मे उनके स्थान क्रमश. ७६ और ३१ से बढकर ७७ और ३७ हो गये थे। राज्यो की विधान सभाओ मे अनुसूचित जातियो व जन-जातियो के लिये आरक्षित स्थानो की सख्या क्रमशः ४७२ से ४८१ और २२२ से २२६ हो गई थी। ऐसे ही सघीय क्षेत्रो की विधान सभाओ मे उनकी सख्या १९ से २२ और २ से २१ हो गई थी।

मतदाताओ की कुल सख्या किसी भी अन्य लोकतन्त्र से बडी थी। तीसरे आम चुनाव के समय उनकी कुछ सख्या २१ करोड थी, जो १९६७ के चुनावो पर २५·१ करोड हो गई थी। अधिकाश मतदाता साक्षर नही हैं और उनकी बहुसख्या दूर ग्रामीण क्षेत्रो में रहती है। परन्तु राजनीतिक दृष्टि से वे अचेतन नही हैं। तीसरे आम चुनावो के अवसर पर ४१ करोड मतपत्र छपवाये गये थे, २४०,००० पोलिंग स्टेशन कायम किये गये थे और १० लाख व्यक्ति चुनाव कार्य मे लगे थे। चौथे आम चुनावो के अवसर पर इन सभी आकड़ो मे तदनुरूपी वृद्धि हुई। जनवरी मास मे मुख्य निर्वाचन आयुक्त ने कहा था कि चुनावो पर लगभग ७–८ करोड़ रुपये व्यय होगे। चुनावो मे १७ हजार से अधिक उम्मीदवारों ने भाग लिया, जिनमे से २,३७१ लोकसभा के लिये थे। एक अति सयत अनुमान के अनुसार उन्होंने चुनावो पर लगभग ७० करोड रुपये व्यय किये।

आचार सहिता (code of conduct)—जनवरी १९६७ मे नई दिल्ली में हुई एक बैठक मे विभिन्न राजनीतिक दलो के प्रतिनिधियो ने चुनाव अभियान के दौरान ८ सूत्री आचार-संहिता को स्वीकार किया, जिसकी मुख्य बातें निम्न-लिखित थी :

(१) कोई भी राजनीतिक दल ऐसा कार्य नही करेगा जो वर्तमान मतभेदो को बढ़ावे अथवा पारस्परिक घृणा पैदा करे अथवा विभिन्न जातियों व समुदायो के बीच खिचाव उत्पन्न करे।

(२) दूसरे राजनीतिक दलो की आलोचना उनकी नीतियो व कार्यक्रमो तथा अतीत के कार्यों तक सीमित रहेगी। दूसरे राजनीतिक

8 Parliamentary Studies, *Jan. 1967.*

दलो के नेताओ व कार्यकर्ताओं के व्यक्तिगत जीवन के सभी पहलुओ को आलोचना से बाहर रखा जायेगा, साथ ही असम्पुष्ट आरोपो को भी।

(३) राजनीतिक दलों को यह सुनिश्चित करना चाहिये कि उनके कार्यकर्ता व समर्थक अन्य दलों द्वारा आयोजित सभाओ और जलूसो में बाधा या अव्यवस्था न पैदा करें।

(४) सरकार कानून और व्यवस्था को बनाये रखने के लिये आवश्यक पगों को उठाते हुये भी इस बात का ध्यान रखेगी कि वह नागरिक स्वतन्त्रताओ पर अनुचित प्रतिबन्ध न लगायेगी और ऐसे पगो का प्रयोग न करेगी जो कि राजनीतिक दलो के सन्तोषजनक चुनाव अभियान मे हस्तक्षेप डालने वाले हो।

(५) किसी भी स्तर पर राजनीतिक शक्ति का प्रयोग चुनाव हितों को आगे बढाने के लिये न किया जायेगा। सत्तारूढ दल यह सुनिश्चित करेगा कि वह इस प्रकार की शिकायत के लिये अवसर न देगा कि उसने अपनी सरकारी स्थिति का प्रयोग अपने चुनाव अभियान को आगे बढाने के लिये किया है।

(६) मत प्राप्त करने के लिये जातीय अथवा साम्प्रदायिक भावो को अपील न की जायेगी।

(७) शान्तिपूर्ण और व्यवस्थित मतदान को सुनिश्चित बनाने और मतदाता को अपने मताधिकार का स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग करने देने के लिये, सभी राजनीतिक दलो को चुनाव कार्य मे लगे सभी अधिकारियों को पूरा सहयोग देना चाहिये।

(८) सभी राजनीतिक दलो को ऐसी कार्यवाहियो का विरोध करना चाहिये जो कि निर्वाचन कानून के अन्तर्गत अपराध हों।[9]

9 Indian Recorder and Digest, *Feb. 1967.*

लोक सभा के चुनावों का विश्लेषण[10]

कुल स्थान ५२१ ; परिणाम घोषित ५०७[11],

कुल निर्वाचक २४७,१८८,०१६ ; कुल डाले गये मतों की संख्या १५,६३,७८,२८८

दल	स्थानों पर चुनाव लड़ा	स्थान जीते	पक्ष में मत पड़े	डाले गये वैध मतों का प्रतिशत
कांग्रेस	५०२	२७५	५९२,१३,३४९	३९·५७
स्वतन्त्र	१७७	४४	१२४,८२,८५६	८·३४
जनसंघ	२४२	३५	१३३,९७,०६५	८·९५
डी० एम० के०	२५	२५	५५,२४,५०९	३·६९
साम्यवादी दल (द० पं०)	१२३	२३	१२८,५१,२४२	८·५९
साम्यवादी दल (वा० प०)	१०१	२२	७१,८६,५७७	४·८०
प्र० स० दल	६१	१९	६४,०५,५२०	४·२८
मुस्लिम लीग	३	३	५९४,४८३	०·४०
अकाली (सन्त)	८	३	९६८,७१२	०·६५
फॉरवर्ड ब्लॉक	७	२	५६५,९०८	०·३८
आर० एस० पी०	३	२	४६७,८५२	०·३१
पी० डब्लू० पी०	१०	२	१०,२८,७५३	०·६९
आर० पी० आई०	७४	१	३७,४४,८७९	२·६९
अकाली (मास्टर)	७	—	१,८९,२९०	०·१३
अन्य दल	५०	१३	३३,०६,३१५	२·२१
स्वतन्त्र	३४२	२५	१७२,५३,२३२	११·५४
अवैध मत			६७,५०९४८	११·५४

10 Indian Recorder and Digest, *March 1967.*

११ इसमें सम्मिलित न किये गये १४ स्थान इस प्रकार रहे—

(अ) जम्मू और कश्मीर ६ ; (आ) असम १ ; (इ) हिमाचल प्रदेश २, जिनके लिये चुनाव अप्रेल में हुआ ; (ई) गोआ, डामन और ड्यू २ ; मनीपुर २ ; और नेफा १ ।

१९६७ के आम चुनावों के बाद विभिन्न राज्यों की विधान सभाओं में प्रमुख दलों की स्थिति

राज्य का नाम	कुल स्थान	कांग्रेस	स्वतंत्र	साम्यवादी	समाजवादी	जनसंघ	अन्य
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	निर्दलीय-[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	—	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	—	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	—	[illegible]	[illegible]	—
[illegible]	[illegible]	[illegible]	—	[illegible]	[illegible]	—	मुस्लिम लीग-[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	—	[illegible]	[illegible]	[illegible]	जन-कांग्रेस-[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	—	डी० एम० के०-[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	—	[illegible]	[illegible]	[illegible]	निर्दलीय-[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	—	[illegible]	[illegible]	[illegible]	—
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	निर्दलीय-[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]		[illegible]	निर्दलीय-[illegible]

विधान सभाओं के लिये चुनावों का विश्लेषण

दल	स्थान पर चुनाव लड़ा	स्थान जीते	डाले गये मतों की संख्या	डाले गये वैध मतों का प्रतिशत
काग्रेस	३,३२८	१६९०	५६४,६७,४८२	४०·१०
जनसघ	१,५६७	२६४	१२३,२०,७३९	८·७५
स्वतन्त्र	९७४	२५५	९५,९६,४५१	६·८२
स० स० पार्टी	८०१	१७६	७२,०६,७७३	५·१२
डी० एम० के०	१७३	१३८	६२,१५,१४३	४·४१
साम्यवादी दल (मार्क्स)	४९५	१२७	६४,७५,४१४	४·६०
साम्यवादी दल (द० प०)	६१२	१२१	५९,५२,५६३	४·२३
प्र० स० दल	७४६	१०६	४७,१३,९६७	३·३५
बंगला कॉंग्रेस	८२	३४	१३,२५,०१३	० ९४
जन काग्रेस	९३	२८	७,४९,६५९	० ५३
जन क्रान्ति दल	१६९	२६	१०,२८,९४९	०·७३
अकाली दल (सन्त)	५८	२४	८,७०,६६३	०·६२
आर० पी० आई०	३६०	२३	२१,९८,२६०	१·५६
पी० डब्लू० पी०	५७	१९	९,३९,९९२	०·६७
मुस्लिम लीग	१९	१७	५.४७,७३०	०·३८
असम पहाड़ी नेताओ का सम्मेलन	१२	९	१,०८,४४७	०·२८
केरल काग्रेस	६१	५	४,७५,११२	०·३४
महा गुजरात				
जनता परिषद्	३६	२	२,३९,३३३	०·१६
अकाली दल (मास्टर)	६२	२	१,९३,५८९	०:१४
अन्य दल	२१९	४३	१७,०२,५८५	१·२१
स्वतन्त्र	२,५०४	३१०	२१४,८३,२९९	१५·२६
अवैध मत	—	—	८३,३६,४१७	—

चौथे आम चुनावो ने भारतीय सघ के मानचित्र को फिर से खीचा है, जिसमे विभिन्न प्रकार के रग भरे है। भारतीय नागरिक आज विभिन्न रगो की सरकारों को देश के विभिन्न भागों मे देखता है। सरकारो का राजनीतिक रंग अति वामपथ से लेकर अति दक्षिण पथ तक भिन्न-भिन्न प्रकार का है। केन्द्र में कांग्रेस दल का शासन है, किन्तु ससद मे उसका वहुमत वहु। कम हो गया है।[13]

12. Indian Recorder and Digists *March 1968.*

13. The fourth General Elections have redrawn the map of the Indian Union as a mosaic of startling colour contrasts. The Indian citizen today sees governments of different hues emerging in the North, South, West and East of the country. The political complexion of the governments varies

के बाद यह स्पष्ट हो गया कि कांग्रेस-विरोधी दलों ने अपनी विजय से पूरा लाभ न उठाया और कांग्रेस ने अपनी पराजय से भी कोई पाठ नहीं सीखा। विगत दो वर्षों की उल्लेखनीय विशेषता राजनीतिज्ञों द्वारा वैयक्तिक शक्ति के लिये भाग-दौड़ रही है। अधिकतर विधायक मंत्री पदों के लिये एक दल से दूसरे दल में सम्मिलित हुये है। विभिन्न दलों के मिले-जुले मंत्रिमण्डलों के सदस्यों को प्रशासन कार्यों के लिये समय नहीं मिला है, क्योंकि वे तो अपने पदों को कायम रखने के लिये संघर्षशील रहे है।

कांग्रेस विरोधी दलों अथवा संयुक्त विधायक दलों के मन्त्रिमंडल कई राज्यों में बने, किन्तु कुछ ही समय बाद एक के बाद दूसरे का पतन हो गया और अधिकतर राज्यों में राष्ट्रपति शासन स्थापित हुआ। रोगी तथा दोषपूर्ण कांग्रेस के सिवाय अन्य दलो के सगठन कठिनाई से ही अखिल भारतीय हैं। ऐसे राजनीतिक दलो के लिये जो वर्ग-युद्ध और क्रान्तिकारी उलट-फेर की बातें करते है, भारत में उपजाऊ भूमि नहीं है। साथ ही वे दल, जो देश की समस्याओं को साम्प्रदायिक दृष्टि से देखते है, यह नहीं देख पाते कि वे अपनी नीतियों से देश के बड़े वर्गों के समर्थन को खो रहे है। ऐसे ही अनेक भाषाओं वाले भारत में कोई भी राजनीतिक दल जिसका भाषा के बारे में असमनीय दृष्टिकोण हो, देश के विशाल क्षेत्रों पर अपने प्रभाव को सीमित ही कर रहा है। वे दल, जो इस अत्यधिक घनी जनसंख्या वाले देश मे स्वतन्त्र बाजार की दशायें उत्पन्न करने का स्वप्न देखते है। अधिकांश विशेषाधिकार-हीन जनसाधारण की दृष्टि में स्वभावतः सन्देह की दृष्टि से देखे जाते है। कोई भी दल, उसकी राजनीतिक विचारधारा कुछ भी हो, प्रभावी ढग से जीवित रहने की चुनौती का मुकाबला करने की आशा कर सकता है, यदि वह अपना विकास एक सच्चे अखिल-भारतीय, धर्म-निरपेक्ष और सहनशील राजनीतिक निकाय के रूप मे कर ले। यदि प्रत्येक दल अपने को वर्गीय, साम्प्रदायिक अथवा प्रादेशिक प्रभावो से मुक्त करले, तो एक समान दलों के लिये मिलना अथवा मिलकर कार्य करना सरल होगा। दक्षिणपथी अधिनायकशाही अथवा वामपथी अधिनायकशाही अथवा वामपथी दलो की प्रेरणा से उत्पन्न होने वाली अराजकता से पैदा होने वाले वास्तविक खतरे से आँखें बन्द कर लेना व्यर्थ होगा। दोनो का उत्तर वर्तमान समाजवादी और अनुदार शक्तियों का समेकित होना तथा सामूहिक नेतृत्व का विकास है। भारत में पहले ही अनेक दल हैं, अतः नये दल की आवश्यकता नही। उनके सामने तो कठिन कार्य सासद प्रजातन्त्र को स्थिरता का रूप प्रदान करना है, जो कि दो या तीन अखिल-भारतीय दल ही कर सकते है।

चुनावो के बाद मिले-जुले मन्त्रि-मण्डलो (coalition ministers) का मार्ग सुगम दीखाई पड़ा। उसका कारण यह था कि तब तक के सत्तारूढ दल कांग्रेस के प्रति जन-साधारण मे व्यापक असन्तोष था और ऐसा प्रतीत हुआ कि नये शासन आगे बढ़ने और सुशासन प्रदान करने की इच्छा रखते हैं। अतएव

उन्हें जनता का प्रचुर समर्थन मिला। उनसे बड़ी आशायें लगाई गईं; वातावरण आशा और जीवन से पूर्ण था। परन्तु ६ माह भी न बीतने पाये थे कि उन्होंने अप्रत्याशित तेजी के साथ जनता की सद्भावना को खो दिया। पश्चिमी बंगाल इस बात में अग्रणी रहा। मुख्यमंत्री अजय मुकर्जी ने, जिन्हें जनता का अत्यधिक समर्थन मिला था, अपनी सरकार के पतन के लिये मार्ग तैयार किया। कदाचित उन्हें राष्ट्रीय सुरक्षा के बारे में साम्यवादियों की गतिविधियों से भय उत्पन्न हुआ और उन्होंने एक बार तो त्यागपत्र देने का निर्णय ही कर लिया। किन्तु ऐसा न करके उन्होंने अपने निर्णय और विचारों को बदला और संयुक्त मोर्चे की सरकार के अन्य अंगों से हर कीमत पर गठबन्धन बनाये रखा। जैसा कि पूर्वगामी अध्यायों में बताया जा चुका है, उन्होंने साम्यवादी दल के प्रभाव में आकर गवर्नर के कहने पर भी विधानसभा का अधिवेशन न बुलाया और विवश होकर गवर्नर ने उनके मंत्रि-मंडल को भंग किया और बंगाल में राष्ट्रपति शासन स्थापित हुआ। बिहार में श्री बी० पी० मण्डल ने श्री महामाया प्रसाद सिन्हा के मंत्री-मंडल को हटवाया और कांग्रेस को छोड़कर आने वाले श्री भोला पसवान शास्त्रि ने नया मंत्रिमंडल बनाया; उनका मंत्रिमण्डल भी कुछ ही समय तक रह सका और वहां भी राष्ट्रपति शासन स्थापित हुआ।

उत्तर प्रदेश में कांग्रेसी नेता श्री चरण सिंह और उनके कुछ साथियों ने कांग्रेसी मंत्रिमण्डल को त्यागपत्र देने पर विवश किया। सभी दलों ने मिलकर श्री चरण सिंह के नेतृत्व में संयुक्त विधायक दल का मंत्रिमंडल बनाया जो आपसी मतभेदों के कारण कुछ ही महीने तक चल सका और वहां भी राष्ट्रपति शासन स्थापित हुआ। हरयाना में राव बीरेन्द्र सिंह और उनके कुछ सहयोगियों ने कांग्रेस को छोड़ा, फलतः कांग्रेसी मंत्रिमंडल के स्थान पर राव बीरेन्द्र सिंह के नेतृत्व में कांग्रेस विरोधी दलों का मिला-जुला मंत्रिमंडल बना; परन्तु वहाँ भी आपसी मतभेदों और कुछ विधायकों के बार-बार एक ओर से दूसरे पक्ष में जाने पर राव बीरेन्द्र सिंह को त्याग-पत्र देना पड़ा और वहाँ भी राष्ट्रपति शासन लागू हुआ। पंजाब में आरम्भ में संयुक्त मोर्चे का मंत्रिमण्डल श्री गुरनाम सिंह के नेतृत्व में गठित हुआ था; उनके मंत्रिमंडल को अपने ही कुछ सदस्यों के दल बदल के कारण त्यागपत्र देना पड़ा और वहाँ भी राष्ट्रपति शासन लागू हुआ। मध्य प्रदेश में श्री गोबिन्द नारायण सिंह और उनके काफी साथियों ने कांग्रेस को छोड़कर संयुक्त विधायक दल का मंत्रिमंडल बनवाने में सफलता पाई। परन्तु वहाँ भी आपसी मतभेदों और विभिन्न दलों की नीतियों व कार्यक्रमों में आधारभूत अन्तर होने के कारण श्री गोविन्द नारायण सिंह के नेतृत्व में बना मन्त्रिमण्डल आरम्भ से ही डावाडोल स्थिति में रहा है। केवल उड़ीसा और केरल में मिली-जुली सरकारें अभी तक सफल रही है और सम्भावना है कि वे अपनी पूरी अवधि तक पदासीन रह सकेंगी, यद्यपि केरल के मंत्रिमंडल में भी आपसी मतभेद काफी गहरे है।

केवल मद्रास में डी० एम० के० का एकदलीय मंत्रिमण्डल बना, जो सफलतापूर्वक कार्य कर रहा है और वहाँ अस्थिरता के कोई चिन्ह नहीं हैं। अक्तूबर १९६७ की स्थिति का वर्णन निम्न शब्दों में किया गया है .

उत्तर प्रदेश में स्थिति वृद्धिपूर्ण मात्रा में आश्चर्यजनक होती जा रही है। संयुक्त समाजवादी दल और साम्यवादी दल की स्थिति तनिक भी स्पष्ट नहीं है। विभिन्न दलों की ओर से आने वाले वक्तव्य और प्रति-वक्तव्य केवल मनोरंजक है। इस बीच में सार्वजनिक नीति के मामलों पर कोई ध्यान नहीं दिया जा रहा है। बिहार और हरयाना में स्थिति समान रूप से दुखपूर्ण है। एक रोचक बात यह है कि मिले-जुले मंत्रिमंडलों के तथा-कथित अनेक निर्माता उन्हीं का पतन कराने के कार्य में आगे हैं। पश्चिमी बंगाल में कबीर बन्धुओं को देखिये, बिहार में बी० पी० मण्डल को, पंजाब में हुडियारा को, उत्तर प्रदेश में स० स० व साम्यवादी दलों के नेताओं को। हो सकता है कि उनमें से कुछ विचारधाराओं के आधार पर ऐसा कर रहे हो। परन्तु मोटे रूप में वैयक्तिक महत्वाकांक्षायें, छोटी-छोटी बातों के लिये अभिमान व पक्षपात स्थिति को बिगाड रहे हे।

केवल यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सत्ता के पदों के लिये बढ़ी हुई भूख सरकारों को कायम नहीं रख सकती—अच्छी सरकारों की बात छोड़िये। उनमें विश्वास की कुछ साम्यता का होना आवश्यक है। विभिन्न अनोखे दलों से बने मंत्रिमंडल शीघ्र ही लुप्त हो जायेंगे, जैसे ही उनके प्रति जनसाधारण का समर्थन कम हो जायेगा, जो कि अभी तक कुछ मात्रा में उनके साथ है और वह समय बहुत दूर नहीं है। परन्तु इस कारण से हमारा लोकतन्त्र में विश्वास कम नहीं होना चाहिये। अन्य अवस्थाओं की भांति यह अवस्था भी अवश्य ही बीत जायेगी।[17]

कांग्रेस विरोधी दलों की राजनीति के बारे में एक बात यह अच्छी है कि उनकी शक्ति बढ़ी है और लगभग २० वर्ष तक एक ही दल अर्थात् कांग्रेस का प्रभुत्व समाप्त हुआ है। चौथे आम चुनावों के बाद ऐसा प्रतीत हुआ कि संसद पद्धति अधिक सफल हो सकेगी, क्योंकि विरोधी पक्ष अधिक सुदृढ़ हो गया है और सत्तारूढ़ तथा विरोधी पक्षों के बीच सन्तुलन कायम होगा। परन्तु प्रायः सभी राज्यों में (मद्रास को छोड़कर) बने गैर-कांग्रेसी मंत्रि-मण्डलों में अनेक दल

---

17 "The only conclusion that can be drawn is that swollen appetitera for power alone cannot sustain Governments-leave alone good Governments. Some coherence of convictions is necessary. The modey groups would disappear as soon as they dissipate such public support as may be still with them And that may not be far enough ..The straws in the w nd need not dampen our faith in democracy The present pha e, like any other will pass—must pass " Indian Recorder and Digest, *Oct, 1967.*

सम्मिलित हुये, जिनकी नीतियों व कार्यक्रमों में आधारभूत अन्तर है। इसी कारण ऐसे मन्त्रिमण्डलों की स्थिति फ्रांस के तीसरे व चौथे गणतन्त्रों के काल में मन्त्रि-मंडलों जैसी थी, जिनका औसत जीवन-काल कुछ ही माह था।

भारतीय राजनीति, विशेष रूप से **कांग्रेस विरोधी दलों की राजनीति** को सिद्धान्त रूप में समझना अति कठिन है। प्रत्येक प्रमुख दल, और उनकी संख्या सात है, जिनके अतिरिक्त प्रादेशिक स्तर पर बीसियों छोटे-छोटे या कम महत्वपूर्ण दल हैं, सरकार या विरोधी पक्ष का अंग है। सरकारों की भाँति विरोधी पक्ष में भी अनेक दल मिले-जुले हैं। यह एक अनोखी बात है, अनेक राज्यों में सरकार या विरोधी पक्ष को किसी एक दल से सम्बन्धित करना कठिन है। इस प्रकार निम्न कथन सत्य है :

> भारत प्राय एक-दलीय पद्धति से बहुदलीय पद्धति में कूद पड़ा है, इस प्रयत्न में कि वह द्वि-दलीय पद्धति में स्थिर हो जाये। परन्तु द्वि-दलीय पद्धति, जो कि संसद प्रजातन्त्र का मुख्य आधार है, आस-पास कहीं भी नहीं दिखाई पड़ती।...ऐसे दल विरोधी पक्ष में हो सकते हैं जिनका विधान-मण्डलों में बहुमत न हो, परन्तु चूंकि वे बहुधा सरकार के ही विरोधी नहीं होते परन्तु एक दूसरे का भी विरोध करते हैं, वे अप्रभावी विरोधी पक्ष की व्यवस्था करते हैं। इसी प्रकार वे दल जो सरकार बनाते हैं, चाहे उन्होंने एक सामान्य कार्यक्रम को स्वीकार कर लिया हो, शीघ्र ही आपस में गम्भीर मतभेदों में पड जाते हैं, जब तक उनमें विचारधारा की एकता का अभाव रहता है। सत्तारूढ बने रहने की भावना उनकी बदलती हुई निष्ठाओं को कुछ एकता प्रदान करती है। यह बात कि उनमें अन्तर्निहित कमजोरी रहती है इन बातों से प्रमाणित होती है—एक पक्ष से दूसरे पक्ष में जाना, दल-बदल और मन्त्रि-मंडलों का हटाया जाना। उत्तर-प्रदेश तथा अन्य राज्यों में बनी संयुक्त विधायक दलों की सरकारों में बहुधा यही होता रहा।[18]

यदि भारत में संसद पद्धति को सफल होना है, तो यह स्पष्ट है कि इसे दो या तीन दलीय पद्धति पर आधारित होना चाहिये। अनेक दलों का विकास प्रजातन्त्रात्मक पद्धति के लिये एक निश्चित खतरा है। एक ओर तो आज अनेक दलों में जो अति वामपंथी विचारधारा से लेकर अति दक्षिणपंथी विचार-धारा तक फैले हैं, विचारधारा सम्बन्धी परस्पर व्यापन (over-lapping) है, जबकि व्यावसायिक कार्यक्रमों की दृष्टि से वे एक दूसरे के विरुद्ध कार्य करते हैं और बड़ी मात्रा में एक दूसरे के कार्य को नष्ट कर देते हैं। यही कारण है कि विभिन्न राज्यों में बने मिले-जुले मन्त्रि-मंडल कोई सफलता प्राप्त न कर सके। दूसरे, देश में राजनीतिक दल मोटे रूप में कांग्रेस और कांग्रेस-विरोधी दो समूहों में

18 Oppositional Politics in India in *Parliamentary Studies, Feb. 1958.*

विभाजित हैं ; इस प्रकार के अन्तर का अब कोई महत्व नही है। पिछले कुछ महीनो में एक अति चिन्ताजनक बात पैदा हुई है कि बहु-दलीय पद्धति सख्या मे कुछ कम व अधिक सुदृढ दलों मे विकसित होने के बजाय छोटे-छोटे दलों में खण्डित होती जा रही है। कांग्रेस सगठन के भीतर विभिन्न समूहों का उल्लेख करने की आवश्यकता नही है। हाल मे सयुक्त समाजवादी दल, प्रजा समाजवादी दल, साम्यवादी दल, भारतीय क्रांति दल, जनसघ व स्वतन्त्र पार्टी मे भी आन्तरिक मतभेद और विवाद फूट निकले है। मोटे रूप में इन विवादों की उत्पत्ति का मुख्य कारण प्रादेशिक खींचतान तथा नेताओं के वैयक्तिक झगड़े है।[17]

दल बदल (Defections)—चौथे आम चुनावों के बाद दलीय राजनीति की एक उल्लेखनीय विशेषता दल बदल रही है। उत्तर प्रदेश, हरयाना और मध्य प्रदेश, तीनो ही राज्यो मे कुछ कांग्रेसी विधायक सत्ता-रूढ दल को छोडकर विरोधी पक्ष मे सम्मिलित हुये। परिणामस्वरूप कांग्रेसी मन्त्रि-मंडलों का पतन हुआ और इन राज्यों मे सयुक्त विधायक दल के नाम में नये मन्त्रिमडल बने। उत्तर प्रदेश मे श्री चरण सिंह, हरयाना में राव वीरेन्द्र सिंह और मध्य प्रदेश मे श्री गोविन्द नारायण सिह नये मुख्य मन्त्री बने। इन नये (जिन मे से उत्तर प्रदेश व हरयाना के मन्त्रि-मण्डल पहले ही अपदस्थ हो चुके है) मन्त्रि-मडलों के गठन का एक दूसरा महत्वपूर्ण पहलू यह रहा कि इनके नेता अथवा मुख्य मन्त्री केवल भूतपूर्व कांग्रेसी नेता ही नही रहे वरन् दल-बदल करने वाले सदस्यो को मन्त्रि-मडलो में अपनी सख्या के अनुपात से कही अधिक स्थान मिले। इससे स्पष्ट है कि उनका मुख्य उद्देश्य सत्ता के पद पाना और उनमे होने वाले अन्य लाभों को उठाना था। यदि उनका विश्वास किया जाये तो उन्होंने यही कहा कि उच्च उद्देश्यो से प्रेरित होकर ही उन्होने ऐसा किया—अर्थात् राजनीतिक जीवन को स्वच्छ बनाने तथा राज्य प्रशासन मे कुशलता लाने व भ्रष्टाचार को दूर करने के लिये ही उन्होने ऐसा किया। परन्तु वास्तव मे उनका उद्देश्य सत्ता पाना था और व्यवहार मे भी उन मन्त्रियों ने कोई ऊंचा उदाहरण दूसरों के सामने नहीं रखा।

जुलाई १९६७ मे कांग्रेस ससदीय दल की कार्यकारिणी ने कांग्रेस कार्य समिति (High Commond) को दोषी ठहराया कि उसने विरोधी पक्ष के विधायकों को कांग्रेस मे सम्मिलित होने की नीति को अपनाकर दल-बदलने के कार्य को प्रोत्साहन दिया। उन्होंने कांग्रेस केन्द्रीय संसदीय बोर्ड (Central Parliament Board) की भी इस आधार पर आलोचना की कि उसने गैर-कांग्रेसी विधायको के कांग्रेस दल में प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगाने वाले प्रस्ताव को हटा दिया। उनके विचार में कांग्रेस कार्य समिति ने ऐसा निर्णय करके अनुशासनहीनता को बढ़ावा दिया है। चूंकि कांग्रेस अच्छे आचरण में मानक स्थापित करने में असफल

17 See 'Multi-party System from Bad to Worse' in *Parliamentary Studies, May 1968.*

रही है, इसलिये अब कांग्रेस इस प्रकार की आपत्ति नही उठा सकती कि विरोधी दलों ने कांग्रेसी विधायकों को क्यों प्रलोभन दिये हैं।

दल-बदल की क्रिया आरम्भ होने के बाद विभिन्न राज्यो मे अनेक विधायको ने सत्ता प्राप्त करने के विचार से एक दल को छोड़ा और दूसरे दल में सम्मिलित हुये। कुछ विधायकों ने तो कुछ सप्ताहों या महीनो मे दल-बदल कई बार किया। आशा तो यह की गई थी कि आरम्भ मे दल बदलने की क्रिया के बाद इस प्रकार के कार्य को विभिन्न दल प्रोत्साहन न देंगे, परन्तु यह राजनीतिक रोग बड़ी तेजी से फैला और इसने कई मन्त्रि-मण्डलों के निर्माण, रचना व पतन को प्रभावित किया। कई राज्यो मे दल बदलने की क्रिया के परिणामस्वरूप लोकप्रिय मन्त्रि-मण्डलों का पतन हुआ और उनमें स्थायी मन्त्रि-मण्डल बनाना सम्भव न हो सका। फलत. उनमें राष्ट्रपति शासन लागू हुआ है और मध्य अवधि चुनाव होगे।

यह कुछ आश्चर्यजनक और रोचक बात है कि प्रत्येक राजनीतिक दल दल-बदल को बुरा और लज्जाजनक कार्य समझता है, परन्तु दल मे सम्मिलित होने वालो का स्वागत करता है। इस लज्जाजनक प्रवृत्ति को रोकने के लिये सभी सम्भव प्रयत्न किये जाने चाहिये। अच्छा तो यह हो कि सभी राजनीतिक दलो के प्रतिनिधि मिलकर इस सम्बन्ध में कोई आचार-नियम स्वीकार करें और उनका पालन करें, चाहे किसी दल को उससे कुछ हानि उठानी पड़े। यदि ऐसा न हो सके तो इसे रोकने के लिये कानून बनाना अवश्यम्भावी है। ऐसे कानून का उद्देश्य यह हो कि ऐसे विधायक को जो चुने जाने के बाद अपने दल का परिवर्तन करे, विधान मण्डल की सदस्यता के अयोग्य घोषित कर दिया जाये। परन्तु यदि वह दल बदले और नये दल के टिकट पर उप-चुनाव लड़ने को तैयार हो तो उसे ऐसा करने का अवसर अवश्य ही दिया जाये। स्वतन्त्र सदस्यों के बारे में भी इसी नियम को लागू किया जाये यदि वे किसी राजनीतिक दल मे सम्मिलित हों। इस बुराई को रोकने का अन्य कोई तीसरा मार्ग दिखाई नही पड़ता। अतएव इस उद्देश्य को पूरा करने के लिये निर्वाचन कानून और यदि आवश्यक हो तो सविधान में भी परिवर्तन किया जाना चाहिये।

हरियाना में दल-बदल की क्रिया ने सबसे अधिक लज्जाजनक रूप धारण कर लिया था, जिसके परिणामस्वरूप सबसे पहले वहाँ के मन्त्रि-मण्डल को अपदस्थ किया गया और वहाँ राष्ट्रपति शासन स्थापित किया गया। अप्रैल १९६८ मे वहाँ पर मध्यावधि चुनाव भी हो गये और उनके बाद कांग्रेस दल को बहुमत प्राप्त हो जाने पर कांग्रेस का मन्त्रि-मण्डल बना। मध्यावधि चुनावो मे कांग्रेस ने दल बदलने वालो को टिकट नही दिये, जिसका परिणाम कांग्रेस के हित में ही रहा। जो विधायक दल बदलने के कारण बदनाम हो गये थे, मध्यावधि चुनावो में सबसे अधिक हानि उन्हें ही उठानी पड़ी, क्योंकि मतदाताओं ने उन्हे नही चुना। यदि प्रमुख राजनीतिक दल भावी चुनावों मे इसी नीति का पालन करें तो सम्भावना यही है कि आम मतदाता उनकी इस नीति का समर्थन करेंगे।

अध्याय १७

दबाव अथवा हित समूह

१. विषय प्रवेश

दबाव या हित समूह (Pressure or Interest Groups)—प्रायः सभी राज्यों में दलीय पद्धति के विकास के साथ-साथ अनेक दबाव अथवा हित समूहों का भी विकास हुआ है। 'एक हित समूह उन लोगों का औपचारिक सगठन होता है जिनके एक या अधिक हित अथवा उद्देश्य समान होते है और जो घटनाक्रम को प्रभावित करने का प्रयत्न करते रहते है—विशेष रूप में, सरकार द्वारा नीति के निर्धारण व कार्यान्वित करने में—जिससे कि वे अपने हितों की रक्षा कर सकें और इन्हें प्रोत्साहन दे सकें।[1] एक अमरीकी राजशास्त्री ने हित समूह की परिभाषा में कहा है कि 'वह ऐसा समूह होता है जो एक या अधिक मिली-जुली अभिवृत्तियों के आधार पर समाज में अन्य समूहो पर उन अभिवृत्तियों में निहित व्यवहार के रूपो की स्थापना, स्थिरता या वृद्धि के लिये दावा करता है।' इस अर्थ में, हित समूह एक श्रेणीगत समूह होता है, जिसमें सदस्य कुछ सीमा तक सामान्य विशेषताओं की चेतना रखते है, यह समझते है कि उनका सामान्य हित है, जो उन विशेषताओं से उत्पन्न होता है और वे अपने व्यवहार को सामान्य हित की वृद्धि के लिये निर्देशित करते है।[2] जब औद्योगिक, व्यवसायी, वाणिज्यक और समुदाय के अन्य समूह जिनका प्रतिनिधित्व अन्य व्यावसायिक सघ करते है, विधान मण्डल को प्रभावित करने का प्रयत्न करते है जिससे कि वे अपने हितों में कानून बनवा सकें अथवा अपने हितों को हानि पहुचाने वाले विधेयको को वापिस लेने या उन्हें हटाने के लिये अथवा उनमें आवश्यक परिवर्तन कराने के लिये प्रयत्न कर सकें। ऐसे समूहो को साधारण बोलचाल मे दबाव समूह कहते है।

राजनीतिक दल और दबाव समूह के बीच कुछ बातो मे समानता और कुछ बातो मे भिन्नता होती है। साधारणतया राजनीतिक दल दबाव समूह से बहुत

---

1 Odegard et al, *American Government, p 149.*

2 David B Truman in the Governmental Process defines an interest group as 'any group that on the basis of one or more shared attitudes, makes certain claims upon other groups in the society for the establishment, maintenance or enhancement of forms of behaviour that are implied by the shared attitudes." Ranney, A., *The Governing of Men, p 11.*

ग्रधिक बड़ा संगठन होता है, जो करोड़ो मतदाताग्रो का समर्थन पाने का प्रयत्न करता है। इसी कारण राजनीतिक दल का कार्यक्रम भी ग्रधिक विस्तृत होता है ग्रौर उसका सम्बन्ध ग्रनेक समस्याग्रो व प्रश्नो से रहता है। दवाव ग्रथवा हित समूह ग्राकार तथा सदस्यता की दृष्टि से वहुत छोटे होते है ग्रौर वे एक ही समूह के हितो को वढ़ाने के लिये कार्य करते है। इसके ग्रतिरिक्त राजनीतिक दल शासन पर नियन्त्रण पाने का प्रयास करता रहता है, हित समूह केवल ग्रपने हित मे ही नीति निर्धारण कार्यों में दिलचस्पी लेता है। वह मुख्य विशेषता जो कि राजनीतिक दल ग्रौर दवाव समूह के वीच ग्रन्तर पैदा करती है यह है कि राजनीतिक दल ग्रपने ही नाम में उम्मीदवारो को खडा करते हे, जवकि दवाव समूह ऐसा नही करते।

दवाव ग्रथवा हित समूहो की मुख्य विशेषताये, सक्षेप में, इस प्रकार हैं—(१) ग्राजकल प्रत्येक समाज में ऐसे समूहो की सख्या काफी वडी (multiplicity) है ग्रौर उनमे से ग्रधिकतर राजनीतिक होते है। (२) प्रत्येक राजनीतिक हित समूह का विरोध होता है ग्रर्थात् कुछ ग्रन्य समूह उसके विरोधी ध्येय की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते है। (३) किसी भी जटिल समाज मे राजनीतिक हित समूहों की **सदस्यता परस्पर व्यापी (overlapping membership)** होती है ग्रर्थात् एक व्यक्ति एक से ग्रधिक हित समूहो का सदस्य हो सकता है, जवकि राजनीतिक दलो की सदस्यता ग्रनन्य (exclusive) होती है। (४) चूकि राजनीतिक हित समूहो की सदस्यता परस्पर व्यापी होती है, ग्रतएव कोई भी एक समूह किसी प्रश्न पर ग्रपने सभी सदस्यो का पूर्ण समर्थन नही पाता।

दवाव समूहों के विभिन्न प्रकार—उनमे कई प्रकार के भेद होते है। वे स्थायी तथा ग्रस्थायी, ग्राकार मे वडे व छोटे, शक्तिशाली या कमजोर हो सकते है। ग्रन्य ग्राधार पर उन्हे ग्रार्थिक तथा ग्रन्य कई वडे समूहो मे विभाजित किया जा सकता है। ग्रखिल भारतीय ट्रेड यूनियन काग्रेस, फेडरेशन ग्रॉफ चेम्वर्स ग्रॉफ कामर्स, किसान सभा ग्रादि ग्रार्थिक हित समूह है। डाक्टरो, शिक्षको, वकीलो, विद्यार्थियों ग्रादि के सव ग्रधिकाशत ग्रार्थिक नही है। ब्रिटेन व भारत में दवाव व हित समूहों की काफी वड़ी सख्या है; किन्तु सयुक्त राज्य ग्रमरीका मे उनकी सख्या ३ लाख से भी ऊपर है ग्रौर वे इतने प्रकार के है कि उनका वर्गीकरण करना भी कठिन है। ग्रार्थिक तथा ग्रन्य समूह प्रत्यक्ष ग्रथवा ग्रप्रत्यक्ष रूप मे राजनीतिक कार्यो मे दिलचस्पी लेते है, इसी कारण उन्हे दवाव समूह कहना ग्रधिक उपयुक्त है। उनमे से कुछ किसी विचारधारा के मानने वाले ग्रथवा समर्थक (idea groups) है; ये किसी राजनीतिक दर्शन या कार्यक्रम का ग्रनुमोदन करते है। इनके विपरीत ग्रार्थिक समूह ग्रपने हित साधन के लिये कानून वनवाने, उनमें परिवर्तन कराने ग्रादि कार्यो में लगे रहते है।[3]

---

3 Brewster, R. W., *Government in Modern Society*, p. 200.

दबाव समूहों के गुण व दोष—पूंजीवादी और प्रजातन्त्रात्मक समाज में ऐसे समूहों का होना स्वाभाविक है। वे अपने हितो को आगे बढ़ाने के लिये सगठित होते है। इन समूहों के सगठन होते है जो उपयोगी सूचना व आकडे एकत्रित करते है और प्रचार कार्य भी करती है। उनमें से कुछ संगठन तो विशेषज्ञों को रखते है और उपयोगी साहित्य का प्रकाशन करते है। विधेयको और प्रशासको को भी सगठित समूहो के प्रतिनिधियो से मन्त्रणा या परामर्श करने मे सुविधा होती है। परन्तु दबाव समूहो के कारण कई दोष भी पैदा होते है। हित समूहो के कारण विभिन्न समूहो के बीच हितों का सघर्ष चलता है और कभी-कभी उनके वर्गीय हितो से सामान्य हितो को भी हानि पहुचाने का खतरा रहता है। चूकि इन समूहो के साधन अलग-अलग होते है और उनकी सदस्य संख्या भी बड़ी या छोटी होती है; इस कारण से अधिक शक्तिशाली और साधनयुक्त समूह अधिक दबाव या प्रभाव डालने मे सफल हो जाते है, जो कभी-कभी अनुचित भी हो सकता है।

दबाव समूहों के कार्य करने का ढंग—वे अपने लक्ष्यो को प्राप्त करने के लिये मुख्यत: इन तरीको का प्रयोग करते है—(१) जनमत और सरकार की नीति को प्रभावित करने के लिये वे प्रचार कार्य करते है। (२) वे चुनावो में भाग लेते है, जिससे कि वह दल अथवा वे उम्मीदवार विजयी हो जो उनके हितों को बढाने में योग दे सके: (३) उनके प्रतिनिधि अथवा सक्रिय कार्यकर्त्ता दलो मे सम्मिलित हो जाते है या उनके कार्यों में सक्रिय भाग लेते है। (४) वे विधायको से मिलकर उन पर अपने हित में प्रभाव डालने के प्रयत्न करते हैं, जिन्हे लॉबी मे प्रभावित करना (lobbying) कहते है। (५) वे बहुधा हड़ताल व प्रदर्शन सगठित करते है और कभी-कभी हिंसक कार्य भी करते है। पाश्चात्य देशो मे दबाव समूह प्रधानत. लॉबी के प्रभाव का प्रयोग करते हैं। सयुक्त राज्य अमरीका में इसका महत्व इतना बढ गया है कि लॉबी (गोष्ठी कक्ष) को कभी-कभी विधान-मण्डल का तीसरा सदन कह देते है। इस कार्य मे अनेक समूहो के बडे कार्यालय और लाखों अधिकारी व कर्मचारी लगे रहते हैं। ऑस्टिन रॅनी के मतानुसार दबाव समूहों के शस्त्र अर्थात् साधन निम्नलिखित है:

(१) **संगठन**—दबाव समूहो का सगठन विभिन्न प्रकार का होता है, कुछ का एकात्मक और दूसरो का सघात्मक। अधिकतर दबाव समूह लोकतन्त्रात्मक आधार पर सगठित होते है, उनके वार्षिक सम्मेलन होते हैं, जिनमें विभिन्न इकाइयो के प्रतिनिधि भाग लेते है और जो बहुमत से अपनी नीति व कार्यक्रम का निर्धारण करते है। (२) लॉबीइंग। (३) **व्यापक प्रचार** (mass propaganda)—वे लोकमत को अपने पक्ष मे करने के लिये विभिन्न प्रकार से प्रचार—साहित्य वितरण तथा सभाओ आदि द्वारा—करते है और इस कार्य पर काफी व्यय करते है। (४) वे सक्रिय राजनीति से अलग रहते है, किन्तु चुनाव अभिय न

आदि में भाग लेते है। राजनीतिक दलों को आर्थिक सहायता तथा कार्य-कर्त्ता देते है। (५) **हड़ताल और प्रदर्शन**—समय-समय पर वे हडतालो और प्रदर्शनो का आयोजन करके जनमत को अपने पक्ष मे प्रभावित करने का प्रयत्न करते है।[4]

२. भारत में आधुनिक ढंग के सामाजिक व आर्थिक हित समूह

भारत में ऐसे समूहो का महत्व अभी पाश्चात्य देशो की तुलना मे बहुत कम है और उनकी सख्या भी अभी तक थोडी ही है, यद्यपि उनके महत्व और सख्या दोनों मे ही निरन्तर वृद्धि हो रही है। अनेक दबाव या हित समूहों का भारतीय राजनीति पर काफी समय से प्रभाव रहा है और अब वह बढता ही जा रहा है। भारत मे तीन मुख्य प्रकार के दबाव समूह (pressure groups) है :

(१) **विशेष-हित संगठन** (special inetrest organizations) जिनका विकास हाल में ही हुआ है और जो पाश्चात्य पर्यवेक्षक के परिचित समाजिक एव आर्थिक सघो के आधुनिक आधारो का प्रतिनिधित्व करते है, यथा ट्रेड यूनियनें, व्यवसायिक समूह, सामाजिक कल्याण अभिकरण अथवा युवा और महिला सगठन। (२) ऐसे सगठन जो परम्परागत सामाजिक सम्बन्धो का प्रतिनिधित्व करते है, यथा जाति व धार्मिक समूह। (३) ऐसे सगठन जो गाधीवादी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते है।[5]

ट्रेड यूनियनें—प्रथम श्रेणी मे सम्मिलित समूहो की सख्या तेजी से बढ रही है। उनमे से अधिकतर पर बुद्धिवादियो के छोटे समूहों का नियन्त्रण है और उनका झुकाव राजनीति की ओर है। उनमे से कुछ का तो राजनीतिक दलों या आन्दोलनो मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऐसे समूहो के सुविदित उदाहरण ट्रेड यूनियनें, किसान सगठन, विद्यार्थी समूह और सांस्कृतिक सघ है। ट्रेड यूनियनों का नेतृत्व अभी तक बुद्धिवादियो के हाथो मे है और उनका देश के प्रमुख राजनीतिक दलो से ऐसा सम्बन्ध है कि उन्हे उनका सहायक सगठन कहा जा सकता है। **अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस** (All-India Trade Union Congress– A. I. T. U. C.) साम्यवादी दल से सम्बन्धित है, **इन्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस** (Indian National Trade Union Congress–I. N. T U. C.) काग्रेस का ही श्रमिक सगठन है; **हिन्द मजदूर सभा** (Hind Mazdoor Sabha) समाज-वादी दल से सम्बन्धित है; और **युनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस** (United Trade Union Congress) का सम्बन्ध कुछ छोटे वामपथी दलो से है और इसका झुकाव साम्यवादियों की ओर है। इस प्रकार भारत मे मजदूरो के चार प्रमुख सगठन है।

ट्रेड यूनियनो को शिक्षित व्यक्तियो ने प्रथम विश्व-युद्ध के पूर्व संगठित किया था। यह आश्चर्य की बात है कि उनका नेतृत्व अभी तक ऐसे ही व्यक्तियों के हाथों

4 Ranney, A., *op cit*, pp. 373–77.

5 Sea Kahin, G. M., (ed). *Major Governments of Asia*, p. 375.

में जारी है। उसका एक परिणाम यह रहा है कि १६२० के बाद से ही वे राजनीतिक दलो से सम्बद्ध रही है और उनके प्रति निष्ठा रखती है। अ० भा० ट्रेड यूनियन कांग्रेस का विभिन्न यूनियनों के संघ रूप में १६२० में जन्म हुआ था और उस समय वह कांग्रेस के प्रभावाधीन थी। यद्यपि गांधीजी ने सत्याग्रह के प्रथम प्रयोग भारत में बिहार के नील के बगीचो में काम करने वाले मजदूरो के अधिकारो को मनवाने के लिये किये थे और उसके बाद गुजरात में भारतीय कपड़ा मिलों के मालिकों व मजदूरो के बीच अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने के लिये प्रयत्न किये; उनका ट्रेड यूनियनो से सम्बन्धित मामलों में प्रभाव और हित अहमदाबाद तक ही सीमित रहा, जहाँ उन्होंने टैक्स्टाइल लेबर एसोसियेशन को संगठित करने में सहायता दी थी। परन्तु कांग्रेस के भीतर समाजवादियों ने सदैव ही यह प्रयत्न किया कि उनके नेता मजदूरों व किसानों में कार्य करें। साम्यवादी दल के कार्यकर्ताओं ने ट्रेड यूनियनो में परिश्रम से कार्य किया और १६२६ में उन्होंने अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर लिया।

सन् १६६२–६३ में केन्द्र तथा राज्यो में रजिस्टर्ड ट्रेड यूनियनो की कुल संख्या क्रमशः ४५५ और ११,२५४ थी। उसी वर्ष में ट्रेड यूनियनों की चारों प्रमुख फेडरेशनो की सदस्य संख्या निम्न तालिका में दी गई है :

अखिल भारतीय संगठनों की सदस्यता १६६३[6]

नाम	सम्बद्ध यूनियनों की संख्या	सदस्य संख्या
इन्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस	१,२११	१२,६८,३३६
अ० भा० ट्रेड यूनियन कांग्रेस	६५२	५,००,६६७
हिन्द मजदूर सभा	२५३	३,२६,३६१
युनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस	२४१	१,०८,६८७
कुल	२,६६५	२२,०८,२१६

ट्रेड यूनियनो का देश की राजनीति पर काफी प्रभाव रहा है, विशेषकर ऐसे नगरों व क्षेत्रो में जहाँ संगठित मजदूरो की संख्या काफी बड़ी है। परन्तु उनके प्रभाव के परिमित रहने का एक बड़ा कारण उनमें आन्तरिक विभाजन तथा अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा है। उनके आपसी सम्बन्ध अति कटु रहे हैं और उन्होंने

6 *India 1965, p. 378.*

अनुशासन का कोई आचरण नियम सग्रह विकसित नहीं किया है। उनके विषय में प्रो० मौरिस डेविड ने लिखा है :

भारतीय ट्रेड यूनियनों का विकास उन रेखाओ पर नही हुआ है जो सयुक्त राज्य अमरीका और पाश्चात्य यूरोप में परिचित हे; अतएव राजनीतिक प्रक्रिया मे उनकी भूमिका साधारण रूप मे अन्य सासद लोकतत्रो की ट्रेड यूनियनों के समान नही है। भारत में ट्रेड यूनियनें न तो दवाव समूहो के रूप मे ही कार्य करती है और न राजनीतिक दलो के रूप मे ही। उन्हें तो विभिन्न राजनीतिक दलो के बाजुओ के रूप में मध्यम-वर्गीय नेतृत्व ने संगठित किया है। ट्रेड यूनियन आन्दोलन के इस राजनीतिक प्रयोग ने कांग्रेस सरकारों को राज्य की शक्तियों का प्रयोग मजदूरो को अनुशासित करने तथा उनके कल्याण को विनियमित करने का अवसर दिया है। राज्य की इस भूमिका ने भारत में ट्रेड यूनियनो के स्वरूप और शक्ति को परिवर्तित किया है।[7]

किसान संगठन—भारत कृषि-प्रधान देश है और देश की जनसंख्या में बहु-संख्या किसानो की है, फिर भी मजदूर संघो की अपेक्षा किसानो के सगठन देर से अस्तित्व मे आये और इस समय उनके सगठन क्षीण अथवा शिथिलता की दशा मे है। व्यवसायिक समूह के रूप में किसानो के सगठनो के सामने कठिनाइयाँ रही है। यह सच है कि गाधी जी और उनके अनुयायियो ने १९२० के वाद किसानों के स्थानीय आन्दोलनो को सत्याग्रह के आधार पर सचालित किया; उनमें बिहार मे चम्पारन के किसानो का आन्दोलन तथा गुजरात में सरदार पटेल के नेतृत्व में वारदोली सत्याग्रह, जो कि भूमिकर मे वृद्धि के विरोध मे किया गया था, सबसे अधिक सगठित और उल्लेखनीय थे। उन आन्दोलनों के परिणामस्वरूप तथा अन्य कारणो से देश के कुछ प्रदेशों में प्रारम्भिक किसान सगठनों का विकास हो गया था; उसमें कांग्रेसी नेताओं व कार्यकर्ताओं का योग महत्वपूर्ण था। १९३० के बाद काग्रेस मे उग्रवादिता के उदय के बाद किसानो को व्यापक आधार पर स्वातंत्र्य आन्दोलन के अग रूप में, संगठित करने के प्रयत्न किये गये; फलत. **अखिल भारतीय किसान सभा** (All-India Kisan Sabha) की स्थापना सन् १९३६ में हुई। परन्तु विभिन्न कारणो से अखिल भारतीय किसान सभा के नेता काग्रेसी सहयोगियो से पूर्णतया सन्तुष्ट न रहे, अतः कुछ ही वर्षों मे सगठन पर साम्यवादी दल के सदस्यों व समर्थकों का प्रभुत्व कायम हो गया। अखिल भारतीय किसान सभा विभिन्न राजकीय सगठनो के फेडरेशन के रूप में जारी है।

समाजवादी नेतृत्व मे हिन्द किसान पचायत सगठित की गई और युनाइटेड किसान सभा का सम्बन्ध छोटे वामपंथी दलो से रहा। कुछ समय से काग्रेसी और समाजवादी नेताओ ने भू-दान यज्ञ आन्दोलन को अपना समर्थन प्रदान किया है। विभिन्न कारणों से कई वर्ष से किसान और खेतिहर मजदूरों के सगठन भारतीय

7 See Gupta, M G., *Government of India*, p. 244.

राजनीति मे अधिक सक्रिय और प्रभावशाली नही रहे हैं। इस विषय मे एक उल्लेखनीय बात यह है कि यद्यपि शहरी क्षेत्रो के हितो के विरोध मे ग्रामीण क्षेत्रों के हित कुछ सीमा तक सामान्य हैं, फिर भी किसानो मे कोई एक व्यवसायिक हित समूह दिखाई नही पडता। ग्रामीण भारत के सकीर्ण गुटो ने, जो स्थान जाति, आर्थिक पद आदि पर आधारित है, किसान सगठनो को खण्डो मे विभाजित किया हुआ है।

विद्यार्थी संगठन—किसानो और मजदूरो की अपेक्षा भारतीय विद्यार्थी राजनीतिक चेतना में कही अधिक बढे हुये हैं। वैसे तो शिक्षित होने के कारण उनका ऐसा होना स्वाभाविक ही है। किन्तु उनमें राजनीतिक जागृति का मुख्य कारण यह है कि भारत के विद्यार्थियो ने देश के स्वातन्त्र्य सघर्ष में एक महत्वपूर्ण भाग लिया। उसी काल में साम्यवादी दल के प्रभाव मे अखिल भारतीय विद्यार्थी फेडरेशन (All India Students Federation) का सगठन विकसित हुआ। आगे चलकर काग्रेस के प्रभाव से विद्यार्थियों की नेशनल यूनियन (National Union of Students) की स्थापना हुई। आजकल अखिल भारतीय विद्यार्थी संघ, और कांग्रेस द्वारा सचालित युवा कांग्रेस (Youth Congress) आदि विद्यार्थियो के कई सगठन बने है।

यह एक अच्छी बात है कि भारत के विद्यार्थियो मे राजनीतिक जागृति काफी बड़ी मात्रा मे पाई जाती है, परन्तु यह बड़ी दुखपूर्ण और दुर्भाग्यपूर्ण बात है कि विद्यार्थियो के सगठन विभिन्न राजनीतिक दलो की प्रतिस्पर्धी कार्यवाहियो के सक्रिय अखाड़े बने हुये है। प्रायः सभी राजनीतिक दल और नेता विद्यार्थियो के सगठनो मे अनुचित दिलचस्पी लेते है। साथ ही विद्यार्थी और उनके सगठन भी राजनीतिक दलबन्दियो में आवश्यकता से अधिक भाग लेते है। विद्यार्थियो के अन्य अनेक समूह—राष्ट्रीय, राज्यीय अथवा प्रादेशिक और स्थानीय, जिनके साथ कल्याणकारी समूहो, विभिन्न विषयो से सम्बन्धित परिषदो व समितियो, वाद-विवाद सघो आदि को भी सम्मिलित किया जा सकता है—राजनीतिक गतिविधियों मे भाग लेते है।

महिला संगठन—महिलाओं के सगठन भी अधिक सक्रिय रहे हैं। उनमें सबसे महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय अखिल-भारतीय स्त्री सम्मेलन (All-India Womens Conference) रहा है, जिसकी देश के प्राय सभी प्रदेशों व बड़े नगरो मे शाखायें है। कुछ समय तक उस पर साम्यवादियो का प्रभाव रहा, परन्तु बाद में वह कांग्रेस से सम्बद्ध हो गया। इसका प्राथमिक उद्देश्य स्त्री समाज के कल्याण के लिये विभिन्न प्रकार के कार्य करना तथा उनके कानूनी व सामाजिक पद को सुधारना है। जब भारतीय ससद मे हिन्दू कोड बिल के विभिन्न अशो पर विचार हुआ तो इसने एक 'दबाव समूह' के रूप में बडा सक्रिय कार्य किया। परन्तु अब कुछ समय से उसका सगठन क्षीण तथा निष्क्रीय हो गया है।

सांस्कृतिक समूह—स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से भारत के अनेक देशो से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हुये। एक ओर भारत तथा दूसरी ओर सयुक्त राज्य अमरीका, ब्रिटेन, सोवियत सघ व चीन आदि वडे देशो के बीच मित्रता को बढ़ाने के हेतु अनेक सगठन बने और उनकी ओर से विदेशों मे प्रतिनिधि-मडल गये तथा विदेशो से आने वाले प्रतिनिधि-मण्डलो का सम्वन्धित सगठनों ने विशेपरूप से स्वागत किया। जवकि भारत-ब्रिटिश व भारत-अमरीकी सगठन उन देशों की नीतियों का यथासम्भव समर्थन करते रहे है, भारत-सोवियत और भारत-चीन मैत्री सगठन साम्यवादी नीति के समर्थक रहे है। साम्यवादियों के प्रभुत्व अधीन विश्व शान्ति आन्दोलन (World Peace Movement) से सम्बधित **अखिल-भारतीय शान्ति परिषद्** (All-India Peace Council) बहुधा सोवियत सघ की अन्तर्राष्ट्रीय नीति का समर्थन करती रही है। इन सगठनो को अप्रत्यक्ष रूप मे विदेशो से सहायता मिलती है और ये देश की राजनीति पर प्रभाव डालने का प्रयत्न करते रहे है।

३. भारत में व्यवसायिक दबाव या हित समूह

व्यवसायिक समूह—भारत मे शिक्षित वर्ग के प्रमुख व्यवसाय—सरकारी सेवा, वकालत, डाक्टरी, शिक्षण और इन्जीनियरिंग आदि है। अन्य देशो की भाँति भारत मे भी इन सभी व्यवसायो में लगे व्यक्तियो ने अपने-अपने व्यवसायिक सगठनों का निर्माण किया है। उनमें से ये विशेपरूप से उल्लेखनीय है—**अखिल-भारतीय मेडिकल कौंसिल** (All-India Medical Council), **अखिल-भारतीय वार एसोसियेशन** (All-India Bar Association), अखिल भारतीय शिक्षक सघ, केन्द्रीय सरकार के सेवको के विभिन्न सघ, तथा **अखिल-भारतीय रेलवेमेंस एसोसियेशन, अखिल-भारतीय पोस्टल एन्ड टेलीग्राफ वर्क्स यूनियन** इत्यादि। भारत में सार्वजनिक कर्मचारियो को मत देने तथा सघ व समुदाय वनाने का अधिकार है; परन्तु उनका अन्य राजनीतिक क्रियाओ में भाग लेना निषिद्ध है। सन् १९६० से पूर्व लोक कर्मचारियों की हड़ताल पर कोई प्रतिवन्ध न था। परन्तु जब जुलाई १९६० मे संघीय (केन्द्रीय) कर्मचारियो ने एक देशव्यापी हडताल करने का निर्णय किया तो १९६० के आवश्यक सेवाओ की व्यवस्था वनाये रखने सम्वन्धी अध्यादेश (Essential Services Maintenance Ordinance) के अन्तर्गत उस हड़ताल को गैर-कानूनी घोषित किया गया। सरकारी कर्मचारियों के विभिन्न सगठन, जहाँ कही उनके सदस्यों की वड़ी संख्या होती है, लोकसभा व राज्यों की विधान सभाओ के चुनावों में काफी दिलचस्पी लेने लगे है और अनेक स्थानो पर तो वे निर्वाचनो के परिणामो को प्रभावित करते है, यथा नई दिल्ली निर्वाचन-क्षेत्र से लोकसभा के लिये प्रतिनिधि का चुनाव।

वार एसोसिएशन, मेडीकल कौंसिल और शिक्षक सघ अपने सदस्यो के हित मे विधि-निर्माण प्रक्रिया को प्रभावित करते रहे है। जवकि वार एसोसियेशन

और मेडिकल कौंसिल राजनीति से अलग रहे हैं, शिक्षक संघों ने अपने-अपने राज्य की राजनीति में सक्रिय भाग लिया है और अपने अधिकारों को मनवाने के लिये साहित्य के वितरण, प्रदर्शनों व हड़तालों का खूब प्रयोग किया है।

व्यवसायिक संगठनों की एक दूसरी प्रकार भी है। प्राय: सभी प्रमुख उद्योगों के संघ बन गये हैं। इनकी बहुत बड़ी संख्या भारत के सबसे बड़े और प्रभावशाली व्यवसायिक संगठन—फेडरेशन ऑफ इण्डियन चेम्बर्स ऑफ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्री (Federation of Indian Chambers of Commerce and Industry-F. I. C. C. I.) से सम्बद्ध है। इस संगठन का मुख्य कार्यालय नई दिल्ली के एक बड़े शानदार नव-निर्मित भवन में है। १९६१ में फेडरेशन के सदस्य निकायों (कॉमर्स चेम्बरों व माल उत्पादकों के संघों) की संख्या १३७ थी और २८६ एसोसियेट सदस्य थे, जिनमें ऐसी बड़ी फर्मों के संगठन भी सम्मिलित थे जैसे हिन्दुस्तान मोटर्स, स्वदेशी मिल्स और टाटा आयरन एण्ड स्टील। इनमें से कई सदस्य निकायों के सदस्यों की संख्या बहुत बड़ी है। उदाहरण के लिये, बम्बई का इण्डियन मर्चेन्ट्स चेम्बर (Indian Merchants Chamber of Bombay) जिसके लगभग ३००० संगठन सदस्य हैं और उनमें से १०० से ऊपर सम्बद्ध संगठन संघ हैं।

व्यापारियों के अन्य महत्वपूर्ण राष्ट्रीय संगठनों में अखिल भारतीय कारखाने दारों का संगठन (All-India Manufacturers Organization) और एसोशियेटिड चेम्बर्स ऑफ कॉमर्स ऑफ इण्डिया (Associated Chambers of Commerce of India) है। इनमें से प्रथम संयुक्त राज्य अमरीका के नेशनल एसोसियेशन ऑफ मैनुफेक्चरर्स (National Association of Manufacturers) के समानान्तर है और दूसरे संगठन में ब्रिटिश तथा अन्य विदेशी-स्वामित्व अधीन फर्में विशेषरूप से सक्रिय हैं। पराधीनता के काल में वाणिज्यिक और औद्योगिक हितों ने कुछ सीमा तक कांग्रेस और राष्ट्रीय आन्दोलन का समर्थन किया था, क्योंकि उनसे स्वदेशी उद्योगों को प्रोत्साहन मिला था। चूंकि स्वतंत्रता के बाद शासन सत्ता कांग्रेस के ही हाथ में आई, अतः व्यापारियों और कांग्रेस के बीच पुराने सम्पर्क बने रहे। उन्होंने कांग्रेस को चुनाव लड़ने के लिये भी समय-समय पर काफी चन्दे दिये। जब कांग्रेस सरकार ने प्रथम पंचवर्षीय योजना बनाई और आर्थिक नियोजन जारी किया तब भी निजी उद्यमों के प्रतिनिधियों ने सरकार और सत्तारूढ़ दल का विरोध नहीं किया।

परन्तु जब कांग्रेस ने समाजवादी समाज (Socialist Pattern of Society) की स्थापना का ध्येय अपनाया और अपनी नीतियों को समाजवादी दिशा प्रदान की तो, जैसा कि स्वाभाविक ही है, व्यापारी वर्ग और उद्योगपतियों में भय का संचार हुआ और सन् १९५६ में अनेक भारतीय व्यापारियों ने स्वतन्त्र उद्यम के लिये फोरम (Forum for Free Enterprise) की स्थापना की, जिसका उद्देश्य निजी

उद्यम के महत्व ग्रौर उपलब्धियों के बारे में जनमत को शिक्षित करना है। इस फोरम ने निश्चित: अनुदारवादी नीति का अनुसरण किया है ग्रौर इसके प्रयत्न मुख्यत. जनता को राजकीय पूंजीवाद के खतरों के बारे में जागृत करने की दिशा में रहे हैं। कुछ व्यापारियों ने सन् १९५९ में स्थापित स्वतन्त्र पार्टी का खुले रूप में समर्थन किया, इसीलिये अनेक समाजवादी व कांग्रेसी नेताओं ने स्वतन्त्र पार्टी को फोरम का प्रवक्ता बताया। परन्तु अधिकतर व्यापारियों तथा उद्योगपतियों ने सरकार ने अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने के लिये कांग्रेस से पूर्ववत सम्पर्क व सम्बन्ध जारी रखे। इस विषय में मौरिस-जोन्स ने लिखा है :

निजी व्यापार ग्रौर उद्योग, यह सच है, अति सरकारी नियन्त्रण के अधीन है, परन्तु व्यापारिक क्षेत्रों में प्रभाव के तरीकों के प्रयोग करने का ज्ञान बहुत विकसित है ग्रौर बड़े लाभ कमाने के लिये अवसरों का अभाव नहीं रहा है। व्यापारिक समुदाय की ग्रोर से स्वतन्त्र पार्टी द्वारा दिये गये तर्क ऐसा संकेत देते हैं कि कुछ निराश तत्व है, जिन्हें भविष्य के बारे में भय है। व्यापारियों के साथ कांग्रेस के सम्बन्ध इसलिये खिंचे हुये रहे हैं कि कुछ हितों ने करों से बचने की समाज-विरोधी कार्यवाहियों को अपनाया।... फिर भी इस बीच में कांग्रेस को कम्पनियों ग्रौर व्यक्ति-गत व्यापारियों से भारी आर्थिक सहायता मिली है। जब (जीवन बीमा निगम वाले मामले में) मून्द्रा ने यह बताया कि उसने कांग्रेस पार्टी को १ लाख रुपये दिये थे, ग्रौर जब केन्द्रीय सरकार के मन्त्री श्री के० डी० मालवीया ने स्वीकार किया कि उन्होंने एक व्यापारी से कांग्रेस चुनाव अभियान में धन देने को कहा था, तो कांग्रेस को धन प्राप्त होने वाले साधनों का भेद खुला। व्यापारी वर्ग, सरकार ग्रौर कांग्रेस के बीच बहुधा पारस्परिक क्षोभ पैदा हो सकता है, परन्तु समग्रत: प्रत्येक को दूसरों कि ऐसी आवश्यकता है कि त्रिकोण का अस्तित्व समृद्धिपूर्ण दशा में बना रहेगा।[8]

४. भारत में अन्य दबाव व हित समूह

दबाव समूहों की दूसरी मुख्य श्रेणी जातिय तथा धार्मिक समूहों की है। इसमें ऐसे सगठन सम्मिलित किये जा सकते है, जिन्होंने राजनीतिक दलों व संघों दोनों ही रूप में किसी एक धार्मिक समूह या समुदाय के हितों को प्रोत्साहन देने का कार्य किया है ग्रौर अब भी कर रहे है। इसमें पामर के मतानुसार, ऐसे राज-नीतिक दलों को सम्मिलित किया जा सकता है जैसे कि रिपब्लिकन पार्टी, अकाली दल ग्रौर कुछ मात्रा में हिन्दू महासभा भी। ऐसे संगठनों में जो विशिष्ट धार्मिक समूहों के हितों के लिये कार्य करते रहे है भारतीय ईसाइयों के अखिल भारतीय सम्मेलन, पारसियों के केन्द्रीय एसोसियेशन ग्रौर राजनीतिक लीग (Parsi Central

8 Morris-Jones, W. H, *The Government and Politics of India*, p. 183.

Association and Political League) और आंग्ल-भारतीय एसोसियेशन, आर्य प्रतिनिधि सभा, सनातनधर्म रक्षिणी सभा आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। जाति समूहों की संख्या काफी बड़ी है। उनमे मारवाड़ी, एसोसियेशन, हरिजन सेवक संघ, वैश्य महासभा, जाट सभा, त्यागी सभा, बंगाली समाज आदि सम्मिलित हैं। ये सभी संघ या सभायें अपनी-अपनी जाति के हितों की रक्षा तथा उन्हें आगे बढ़ाने के लिये कार्य करते है। भारतीय राजनीति और चुनाव अभियानों में इनका भाग महत्वपूर्ण रहता है।

साधारणतया जातियाँ नये राजनीतिक दलों के पृथक् निर्माण का आधार नही रही है। परन्तु उन्हें वर्तमान राजनीतिक दलों में विशेषरूप से कांग्रेस के भीतर ही महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। परम्परागत संसार और राजनीतिक दलों के बीच मे जाति संघों ने एक मध्यवर्ती स्टेज का काम किया है---जाति समूहों का संगठन कुछ थोड़े से गाँवों के आधार से अधिक व्यापक है और उनका प्रयोजन अन्य समूहों के मुकाबले में अपनी-अपनी जातियों की स्थिति की रक्षा करना तथा उसे सुधारना है।[9] भारत मे जातीयता व प्रादेशिकता भारत की एकता के लिये बड़े खतरे है। शिक्षित वर्ग और उच्च अधिकारी इस प्रकार के विष की बुराई करते हैं, परन्तु ये दोष उनमें भी काफी बड़ी मात्रा मे पाये जाते हैं।

दबाव समूहो के तीसरी श्रेणी मे गाधीवादी विचारधारा का प्रचार तथा प्रतिनिधित्व करने वाले संगठन आते है। ये भारतीय परिस्थितियों मे एक प्रकार से अनोखा कार्य करते है। इनके कार्यों का क्षेत्र किसी विशिष्ट समुदाय या प्रदेश तक सीमित नहीं हैं। इनका कार्य साधारण ग्रामवासियों और पाश्चात्य ढंग के राजनीतिक नेता सभी को अपील करता है। ये अभिकरण औपचारिक रूप में साधारण दबाव समूहो का सा राजनीतिक संस्थाओ को प्रभावित करने वाला कार्य नही करते, ये तो संस्थागत सरचना के बाहर आवश्यक नैतिक उत्साह की रचना करके एक मूलभूत मिन्न प्रकार का परिवर्तन लाना चाहते हैं। किन्तु उनकी बड़ी प्रतिष्ठा है और वे उदाहरण की शक्ति तथा सरकार से घनिष्ठ वैयक्तिक सम्पर्क द्वारा महत्वपूर्ण प्रभाव डालते है।

इनमें से अधिकतर समूहों का मूल भारतीय परम्परा और अभिवृत्तियों में है। कई की स्थापना महात्मा गाधी ने की थी अथवा वे उनकी शिक्षाओ की प्रेरणा और उदाहरण से अस्तित्व मे आये। वे महात्मा जी के महान ध्येय वर्गविहीन और

---

9 "...generally castes have not served separately as bases for new political parties but have rather sought to be 'accomodated' within existing parties and above all within Congress. The intermediate stage between the traditional world and that of parties is partially filled by the caste association the explicit association of *jati* groups on a basis wider than a small number of villages in one locality and for the purpose of defending or improving the position of the groups in relation to others." Ibid, *p. 186.*

जाति रहित सर्वोदय समाज को प्रोत्साहन देना चाहते है, जिसके लिये वे व्यक्ति के नैतिक पुनरुत्थान और सभी के कल्याण पर बल देते हैं। भारत के राजनीतिक नेता गाधी जी की शिक्षाओ की भावना और व्यवहार से हटते जा रहे है, परन्तु वे इन शिक्षाओं के गहरे महत्व तथा इनके देश मे बडे प्रभाव के प्रति चेतनाशील है। वे राष्ट्रीय प्रयत्नो के ऐसे पहलुओं जैसे कल्याण कार्य तथा सामुदायिक विकास परियोजनाओ मे गाधीवादी सघो व आन्दोलनो के सहयोग को उत्साह प्रदान कर रहे हैं। इन आन्दोलनो मे सबसे महत्वपूर्ण आचार्य विनोवा भावे का भू-दान यज्ञ आन्दोलन है। इसका प्रयोजन गाँधी जी की कल्पना के अनुसार अहिंसक क्रान्ति को प्राप्त करना है। सर्वोदय आन्दोलन सामान्यरूप मे और भू-दान आन्दोलन विशेष रूप मे कार्य और सगठन के अन-उत्तरदायी रूपो की ओर महत्वपूर्ण झुकाव का प्रतिनिधित्व करते है, जो भारत की राजनीतिक सस्थाओ के भावी विकास को प्रभावित कर सकते है।[10]

सर्वोदय समाज सर्व सेवा सघ ग्रामीण उद्योग सघ, गो-सेवा सघ, हिन्दुस्तानी प्रचार सभा और तालिमी सघ द्वारा कार्य करता है। आचार्य विनोवा-भावे के अतिरिक्त अनेक गाधीवादी कार्यकर्त्ता, जिनमे सबसे प्रमुख श्री जय प्रकाश नारायण है तथा गाधी आश्रम व ग्राम उद्योगो से सम्बन्धित कार्यकर्त्ता सम्मिलित है, विभिन्न कार्यों का सचालन कर रहे हैं। विनोवाभावे की शान्ति सेना के सदस्य साम्प्रदायिक दगो को शान्त करने तथा डाकुओ तक पर नैतिक प्रभाव डालने का प्रयत्न करते हैं। आर्थिक क्षेत्र मे गाधीवादी सगठनो व समूहो ने सूती कपडे की मिलो की उत्पादन क्षमता को प्रभावित किया है, जिससे कि खादी और खड्डी उद्योगो को प्रोत्साहन मिलता रहे। उन्होने सामाजिक नीतियो के रूप मे मद्य-निषेध (prohibition) और वेसिक शिक्षा पर वल दिया है। इन समूहों का उद्देश्य राज्य-शक्ति के महत्व को कम करके लोक-शक्ति अर्थात जनता की आत्म-निर्भर शक्ति को वढाना है। उनके साधन वैयक्तिक उदाहरण और राजनीतिक दलो से बाहर प्रत्यक्ष पहुच है। एक प्रकार से ये सभी समूह अपने प्रयोजनो मे राजनीतिक है, किन्तु उनके सदस्य राजनीतिक पदों से दूर रहकर ही अपना कार्य करना चाहते है।

10 See Kahin, G. M. (ed.), *op. cit.*, pp. 378-81.

१८

जनमत और समाचार पत्र (प्रैस)

१. सैद्धान्तिक पहलू

जनमत क्या है ?—जनमत का अभिप्राय साधारण भाषा में जनता के मत से है। सिद्धान्त रूप में जनमत सारी जनता का मत होता है, परन्तु ऐसा शायद ही कभी होता है कि किसी प्रश्न पर सारी जनता का मत एकसा हो। किसी भी विषय पर सभी व्यक्ति एकमत नही हो सकते, ऐसी अवस्था मे यह कहा जाता है कि *बहुमत ही जनमत का स्थान ले लेता है। परन्तु वास्तव मे ऐसा भी नही होता।* जनता मे अधिकाश व्यक्तियो का कोई मत नही होता, क्योकि अधिकाश जनता विचार शील नही होती तथा बहुसख्यक महत्वपूर्ण प्रश्नो के विषय मे सोचती भी नही। इसके अतिरिक्त यह सोचना भी ठीक नही कि बहुमत सदा ठीक ही होता है। वास्तव मे जनमत सारी जनता का मत अथवा बहुमत नही होता, बल्कि यह सोचने वाले व्यक्तियो का मत होता है। जनमत की धारणा का प्रयोग केवल किसी प्रश्न के बारे में ही जनता का मत जानने के लिये किया जा सकता है। 'देश मे जनमत की क्या दशा है ? इस प्रकार के साधारण प्रश्न पर विचार-विमर्श नही किया जा सकता। परन्तु 'करो के बारे मे जनमत क्या कहता है' इस प्रकार के प्रश्न पर अर्थमय और फलदायक विचार-विमर्श हो सकता है।[1]

जनमत की कसौटी सार्वजनिक हित है। जो मत किसी विशेष वर्ग या सम्प्रदाय के हित की भावना से प्रेरित होता है, उसे जनमत न मानकर वर्ग मत या साम्प्रदायिक मत कहना चाहिये। लॉवेल का कथन है कि जनमत के लिये केवल बहुमत ही काफी नही और न एकमत होना ही आवश्यक है। जनमत ऐसा होना चाहिए जिसमे यदि अल्पमत भाग भी न ले, फिर भी उसे वह भय से नही वरन् दृढ विश्वास के कारण स्वीकार करे। यदि किसी प्रश्न पर छोटी सी बुद्धिमान जनसख्या का मत सब लोगो के हित को ध्यान मे रखकर बना है, तो हम उसे

---

1 "Indeed, we find that it is only possible to make use of the concept of public opinion by attaching it to a concrete issue of some sort. That is the general question 'What is the state of public opinion in the country ? cannot really be discussed ; but the question, 'What does public opinion in the country have to say about taxes ?' can be discussed meaningfully and fruitfully'"

Meehan et al; *The Dynamics of Modern Government, p. 88.*

स्वार्थी बहुसख्या के मत से कही अच्छा जनमत कहेंगे । **संक्षेप में, जिस मत का जितने अधिक व्यक्तियों द्वारा समर्थन किया जाये और जिसका ध्येय जितना अधिक जनहित करना हो वह मत उतना ही अधिक सच्चे जनमत के निकट होगा ।** जनमत शब्द सख्यावाचक रूप मे प्रयुक्त नही किया जाना चाहिये । इससे उन लोगो का मत समझना चाहिये जो कि जनता के यथार्थ हितो का ध्यान रखते है । इनकी सख्या चाहे कम हो, चाहे अधिक, यह महत्वहीन है । जो बात ध्यान में रखनी चाहिये वह यह है कि ये लोग सम्पूर्ण जनता का हित ध्यान मे रखते हैं ।[2] परन्तु यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने वैयक्तिक हित को समस्त समाज का हित बतलाता है । इसलिये इस अर्थ मे भी कठिनाई है, क्योकि व्यवहार में इस मत के मानने का फल यह होगा कि सरकार अपने प्रत्येक कार्य को इस आधार पर उचित बतलाने की चेष्टा करेगी कि वह यथार्थ में जनहित मे है । इन कठिनाइयों को हल करने का केवल एक उपाय है । वह यह कि जनता से तात्पर्य तो समाज मे बहुसख्यको से लिया जाये और मत से तात्पर्य समस्त समाज के हित मे जो राय हो उससे लिया जाये । इस प्रकार जनमत की परिभाषा यह होगी कि **यह समाज में बहुसंख्यकों का मत है जिसको कि अल्पसंख्यक भी अपने हितों के विरुद्ध न समझते हों ।**

लार्ड ब्राइस ने लोकमत की व्याख्या बड़े सुन्दर ढग से की है । समाज के हित सम्बन्धी विपयो पर लोगो के कुछ विचार होते है । आरम्भ मे वे असगठित और अस्पष्ट रहते है । विपय का भली-भाति ज्ञान न होने के कारण जनता के विचारो मे अस्थिरता भी रहती है । ज्यों-ज्यो विपय पर अधिक प्रकाश पडता है, विचारों मे परिवर्तन होता रहता है । कुछ समय के पश्चात् कुछ समस्यायें सबको आकृष्ट कर लेती है । उनके सम्बन्ध मे पूर्वकालीन अस्थिर और अस्पष्ट विचार आगे चलकर निश्चित रूप धारण कर लेते है । जनता के विचारों के इस निश्चित रूप को यदि बहुमत द्वारा निर्धारित किया गया हो लोकमत कहते हैं । **सॉल्टो** के अनुसार सामान्य जीवन के लिये जनता जो कुछ सोचती और चाहती है, उसे जनमत कह सकते है । राजनीति मे जनमत केवल वही नही जो कुछ जनता सोचती और सार्वजनिक रूप से अभिव्यक्त करती है, वरन् वह जिसे जनता व्यवहार में प्रभावी बनाना चाहती है ।[3]

जनमत की परम्परागत तथा वर्तमान धारणायें—१६वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और २०वी के प्रारम्भिक वर्षों मे जनमत की परम्परागत धारणा मे साधारण रूप में विश्वास किया जाता था । प्रजातन्त्रात्मक दर्शन की वृद्धिपूर्ण स्वीकृति के परिणामस्वरूप जनमत के विषय में कई सामान्य निष्कर्ष माने जाते थे, जिनमें

2 "Public opinion is an opinion based on reason which aims at the welfare of the whole community."

3 Soltau, R. H, *An Introduction to Politics, p. 197.*

से मुख्य ये है—(१) जनता सार्वजनिक नीति में दिलचस्पी रखती है ; (२) जनता इस विषय में सूचित रहती है ; (३) जनता सार्वजनिक प्रश्नो पर मनन करती है और बुद्धिपूर्ण निष्कर्षों पर पहुंचती है इत्यादि । सक्षेप मे, इस धारणा का आधार यह सामान्य निष्कर्ष था कि व्यक्तियो की एक महत्वपूर्ण सख्या विभिन्न महत्व-पूर्ण सार्वजनिक प्रश्नो पर जनमत का निर्माण करती है और उसे प्राय: सम्पूर्ण जनता स्वीकार कर लेती है । इस धारणा की पृष्ठभूमि मे यह विचार था कि जनता एक ही विचार की होती है और जनमत की पूर्वोक्त धारणा का खण्डन किया गया है । लार्ड ब्राइस अपने विख्यात ग्रन्थो (Modern Democracies and The American Commowealth) मे दीर्घ छानबीन, पर्यवेक्षण और अनुभव के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि औसत नागरिक अपने दैनिक जीवन की महत्वपूर्ण बातो मे सार्वजनिक नीति के प्रश्नो को बहुत नीचा स्थान देता है । उसने देखा कि जब भी वे सार्वजनिक प्रश्नो में सर्वसाधारण दिलचस्पी लेते है मत कुछ थोड़े से ही कार्यशील व्यक्ति अभिव्यक्त करते है और ऐसे ही समूह मतदान करने वाली जनता से अपने मतो को मनवा लेते हैं । जब किसी मत समूह को नागरिको की बहुसख्या मान लेती है तो वही जनमत बन जाता है ।

लॉवेल (A Lawrence Lowell) ने भी अपने ग्रन्थ (Public Opinion in War and Peace) में यह मत प्रकट किया है कि किसी भी समुदाय का एक मत नही होता ; बहुधा किसी भी प्रश्न पर विभिन्न मत होते हैं । किसी मत को तभी जनमत कह सकते है जब उसे बहुसख्या से अधिक व्यक्ति स्वीकार कर लेते हैं । हाल में, वाल्टर लिपमेन (Lipmann) ने अपने ग्रन्थ (Public Opinion and The Phanton Public) मे बताया है कि मनुष्य के राजनीतिक विचार पर्यावरण से एकत्रित सूचना से बनते हैं । परन्तु आज की पेचीदा परिस्थितियो में सूचना के लिये व्यक्ति रेडियो व समाचार-पत्र आदि स्रोतो पर निर्भर रहता है । वास्तविकता से दूर, व्यक्ति एक प्रकार से ऐसी दुनिया म रहता है जिसमे अपर्याप्त सूचना के कारण उसके निर्णय (मत) कुछ विकृत होते है । ऐसे निर्णयो पर आधारित उसके मत एक प्रकार से 'उसके मस्तिष्क मे उपजे चित्र' (the picture in his head) होते है, जिन्हे उसने 'स्टीरियोटाइप्स' (stereotypes) कहा है । इस प्रकार व्यक्ति सार्वजनिक प्रश्नों पर बुद्धिपूर्ण ढग से नही सोचते वरन् वे तो उन्हे अपने विकृत निर्णयो (मतो) की दृष्टि से ही देखते है । अत. जनता में विभिन्न समूहो के सामान्य हितो के आधार पर विभिन्न मत हो सकते है ।[4]

जनमत का महत्व—प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली में शासन की नीति का निर्धारण और कानूनो का निर्माण जनहित मे तथा जनता की इच्छा के अनुसार होता है । आजकल के विशालकाय राज्यो मे प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र तो सभव है नही, इसीलिये प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र का चलन है। प्रतिनिधियों और जनता में

4 Rodee et al *Introduction to Pcltical Science, pp. 469—71.*

सम्पर्क बना रहना चाहिये। सरकार का यह कर्त्तव्य है कि प्रत्येक महत्वपूर्ण विषय पर निर्णय करने से पूर्व जनता की इच्छा को ठीक प्रकार से जाने ; यह कार्य जन-मत द्वारा ही होता है। इस विषय मे एक महत्वपूर्ण बात यह है कि जनमत सदा स्थायी नही होता। राष्ट्र के सामने सदा ही नये-नये प्रश्न आया करते है, जिन पर जनता के प्रतिनिधियो को निर्णय करने होते है और सरकार को बहुत से नीति सम्बन्धी प्रश्न भी तय करने पड़ते है। इनमें से अनेक के सम्बन्ध मे जनमत की धारा समयानुसार बदलती रहती है। अत. सरकार के लिये यह उचित तथा वांछनीय है कि वह ऐसे सभी परिवर्तनो से पूर्णतया अवगत रहे, क्योंकि जो शासन जनमत के विरुद्ध कार्य करता है, वह अधिक समय तक स्थाई नही रह सकता। प्रजातन्त्र प्रणाली में तो सरकार को जनमत का सदा ही आदर करना नितान्त आवश्यक है।

प्रजातन्त्र में जनमत दो प्रकार से महत्वपूर्ण भाग रखता है—प्रथम, चूंकि जनमत के स्वतन्त्र निर्माण के लिये उपयुक्त दशाये विद्यमान रहती है तो यह सम्पूर्ण प्रक्रिया शासको की शक्ति मे अत्यधिक वृद्धि पर रोक लगाने का काम करती है। दूसरे, चूंकि प्राय: सभी कानून जनमत पर आधारित होते है इसलिये जनता उनका स्वेच्छा से पालन करती है। यदि जनता के एक वर्ग या समूह को कोई कानून स्वीकार्य नही भी होता तो वह उसे बदलने के लिये उसके विरुद्ध शान्तिपूर्ण और वैधानिक तरीकों से जनमत बनाने का प्रयत्न करता है। गतिशील राजनीति मे जनमत का महत्व इसी बात मे है कि वह शासन को प्रभावित करे। समस्या यह है कि जनमत अथवा जनता के विचारो को शासन के क्षेत्र मे कार्यान्वित किया जाये। प्रजातन्त्र मे विभिन्न मत हो सकते है और प्राय: होते है, क्योंकि प्रत्येक समूह को अपने विचार अभिव्यक्त करने और उसके आधार पर जनमत संगठित करने की स्वतन्त्रता होती है। विभिन्न मत निर्वाचन-फल तथा विधान-मण्डल द्वारा निर्मित कानूनो मे प्रकट होते हैं।

निरकुश शासन मे जनमत का आदर नही होता, परन्तु आधुनिक राज्यो में निरंकुश शासन का प्राय: लोप हो गया है। तानाशाह भी आजकल जनमत को अपने साथ रखने का पूर्ण प्रयत्न करते है, इसी कारण ऐसे राज्यो में समाचार-पत्रो तथा जनमत निर्माण के अन्य साधनो पर विभिन्न प्रकार के उचित व अनुचित प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं। जिन देशो मे शासकगण जनमत का आदर करते है और जनमत के अनुकूल अपनी शासन-नीति को ढालते है, वहाँ बड़े-बड़े महत्वपूर्ण परिवर्तन शान्तिपूर्वक हो जाते है। इसके विपरीत जिस राज्य मे शासक जनता की इच्छा के अनुसार शासन-नीति का निर्धारण नही करते, वहाँ क्रान्ति अथवा विद्रोह की सदा ही आशका बनी रहती है। ससार की अनेक क्रातियाँ ऐसी ही सरकारो के विरुद्ध हुई है। अस्तु, सरकार किसी भी प्रकार की हो, जनता की उपेक्षा करके अधिक स्थायी नही रह सकती।

संक्षेप में, हम कह सकते है कि जनमत के द्वारा नागरिक के अधिकारों और उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा होती है। जनमत के द्वारा ही सरकार को अपनी नीतियों और कार्यों के विषय में जनता की प्रतिक्रिया अर्थात् विचारों और इच्छाओं का पता चलता है। जनमत सरकार के अनुचित कार्यों की आलोचना करता है और उसे जनता की मांगो व शिकायतों से अवगत कराता है। जिन देशों में जनमत का निर्माण स्वतन्त्र रूप से होता है, वहाँ सरकार स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश नहीं बन सकती। जनमत शासन पर नियन्त्रण रखने का एक प्रमुख साधन है और यह सरकार की नीति को प्रभावित करता है। जो सरकार जनमत का आदर करती है, उसे जनता का सहयोग प्राप्त होता है। जनमत पर आधारित शासन में जनता की यह धारणा बनी रहती है कि उस पर अपना ही शासन है। इन कार्यों के अतिरिक्त समाज में जो विविध संगठन होते हैं वे भी जनमत से नियन्त्रित रहते है और वे सार्वजनिक हितो की उपेक्षा नहीं कर सकते।

अन्त में, जनमत के डर से स्वार्थी तथा बेईमान राजनीतिज्ञ सरकार को केवल अपने ही स्वार्थ साधन की मशीन नहीं बना सकते। इसलिये प्रत्येक देश में स्वतन्त्र, प्रबुद्ध जनमत होना आवश्यक है (Enlightened public opinion is the watchdog of democracy)। कुछ आलोचक जनमत की इस आधार पर आलोचना करते है कि जनमत न जनता है और मत (Public opinion is neither public nor opinion)। वास्तव में, किसी प्रश्न या नीति से प्रभावित होने वाले संघ या व्यक्ति समूह कुछ मत बना लेते है, वे उसका विभिन्न साधनों द्वारा प्रचार करते हैं और साधारण जनता उसे स्वीकार कर लेती है, यही जनमत है। इस कथन में सत्य का कुछ अंश है, किन्तु यह सच नहीं कि जनमत मिथ्या है।

जनमत के स्रोत (Sources of Public Opinion)—ऐसी विभिन्न संस्थायें और अभिकरण है जो जनमत निर्माण और उसकी अभिव्यक्ति में सहायता करते है। हाल में ऐसी तकनीकें विकसित की गई है जो जनमत के स्रोतों के नमूने के रूप में कार्य करती है। इस प्रकार समाचार-पत्र जनमत निर्माण का साधन तथा जनमत की दशा के बारे में सूचना देने का भी साधन है। इसी प्रकार रेडियो और टेलीविजन है। सार्वजनिक जीवन, राजनीति, व्यवसाय आदि के नेता अपने-अपने क्षेत्र के बारे में अधिकार के साथ बोलते है। किसी प्रश्न पर सार्वजनिक मत जानने (public opinion poll) का तरीका यह सम्भव बनाता है कि किसी भी महत्वपूर्ण प्रश्न पर जनमत जानने के लिये सीधे जनता तक पहुंचा जाये। जनमत निर्माण के कुछ साधन, जैसे स्कूल और कालिज, लम्बे काल के लिये जनमत को ढालते है, और कुछ साधन जैसे समाचार-पत्र थोड़े समय के लिये जनमत का बड़े प्रभावी ढंग से निर्माण करते है।

जनमत को नापना (Measuring Public opinion)—प्रजातन्त्र का सिद्धान्त यह है कि सार्वजनिक नीति के निर्धारण में जनमत का महत्वपूर्ण भाग

रहना चाहिये। अतः प्रश्न यह उठता है कि हम जनमत को कैसे जान सकते है। जनमत को ठीक प्रकार से नापने की तकनीके तो हाल मे ही विकसित हुई है, जिनमे आधुनिक सांख्यिकीय तकनीके और नमूने लेने की विधियां (sampling methods), होशियारी के साथ किये गये साक्षात्कार (skilled interviews) जनमत जानने के लिये सामग्री एकत्रित करने के लिये महत्वपूर्ण है। सम्भवतया जनमत नापने के तरीकों का सबसे अधिक नाटकीय प्रयोग चुनावो के परिणामो के बारे मे भविष्यवाणी करने के लिये हुआ है। परन्तु अन्य सार्वजनिक महत्व के प्रश्नों पर भी उनका प्रयोग किया जा सकता है। मतगणना (polling) की तकनीकों का विकास संयुक्त राज्य अमरीका मे बडी तीव्र गति से हुआ है, यद्यपि अन्य देशो में भी अब उनका प्रयोग होने लगा है। पत्रिकाये भी मतगणना करने लगी है। संयुक्त राज्य अमरीका मे मतगणना करने वाले समूहो मे इस समय ये सबसे अधिक महत्वपूर्ण है—गेलप पोल (Gallup Poll), क्रॉसले पोल (Crossley Poll) और शिकेगो (National Opinion Research Centre), प्रिंसटन (Office of Public Opinion Research) व मिशिगन (Survey Research Centre of the University) मे जनमत सम्बन्धी अनुसन्धान केन्द्र है।

जनमत कैसे बनता है ? जनमत का निर्माण अपने आप नही हो जाता। यदि यह कहें कि यह बनाया जाता है तो अधिक ठीक होगा। लॉर्ड ब्राइस के अनुसार जनमत-निर्माण मे तीन तरह के व्यक्ति भाग लेते है। प्रथम, वे व्यक्ति जो दत्तचित होकर सार्वजनिक कार्यो मे भाग लेते है जैसे विधान सभाओ के सदस्य, राजनीतिक नेता, समाचार-पत्र वाले, आदि। इनका समूह जनता का एक बहुत ही छोटा अंश होता है, परन्तु वास्तव मे, ये ही व्यक्ति राजनीतिक समस्याओ को समझते है, उनके सम्बन्ध मे अपने भाषणो तथा लेखो द्वारा जनता पर प्रभाव डालते है और जनमत का निर्माण करते है। दूसरी श्रेणी मे वे व्यक्ति आते है, जो अपने-अपने कार्य करते हुये भी राजनीतिक कार्यो मे दिलचस्पी लेते हैं, सार्वजनिक प्रश्नो पर ध्यान देते तथा विचार करते है और निष्पक्षतापूर्वक निर्णय करने का प्रयत्न करते है। तीसरी श्रेणी मे वे सभी शेष व्यक्ति आते हैं जो सार्वजनिक जीवन से उदासीन रहते है और सार्वजनिक प्रश्नो के बारे मे बहुत कम पढते तथा विचार करते है। इन लोगो की अपनी कोई राय नही होती। ये व्यक्ति दूसरो के मत और विचारो को सुनकर या पढकर अपनी राय बनाते है। इसमे यह स्पष्ट है कि इन तीनों प्रकार के व्यक्तियों मे प्रथम और दूसरी श्रेणियो के व्यक्तियों का ही महत्व अधिक है। जिस राज्य मे ऐसे व्यक्ति जितनी अधिक संख्या मे होगे वहां उतने ही अधिक दृढ़ और अच्छे जनमत का निर्माण होगा।

जनमत निर्माण और अभिव्यक्ति के साधन (Agencies of Public Opinion)—किसी भी समुदाय का अधिकांश भाग किसी भी सार्वजनिक प्रश्न के विषय में कोई स्पष्ट विचार अथवा निश्चित मत नही रखता। बहुसंख्यक जनता

प्राय यह जानती है कि शासन मे कही बडी कमी है, परन्तु वह कैसे दूर की जा सकती है, इसका उसे तनिक भी ध्यान नही होता। यह बात बहुसंख्यक जनता के विषय में सत्य है, किन्तु जनता मे कुछ ऐसे व्यक्ति भी होते है, जिनमें आलोचनात्मक शक्ति होती है, जिनकी तीक्ष्ण आखे सामाजिक दोषों को देखती है और जो उनको दूर करने के लिये उत्तम सुझाव दे सकते है। वास्तव मे, जनमत का निर्माण इनके ही द्वारा होता है। शेष व्यक्ति तो इनके विचारो का अनुसरण करते है। जनमत के निर्माण मे अनेक बातें सहायक होती है उनमे से प्रमुख का सक्षिप्त विवेचन यहाँ दिया जाना उपयुक्त होगा।

चर्चा और गप्प (Hearsay)—भारत जैसे देश में जहाँ शिक्षा की कमी और अज्ञान का आधिक्य है, सार्वजनिक महत्व के सामयिक विषयो पर अधिकाश व्यक्ति जो विचार रखते है, उनका आधार प्राय: चर्चा और गप्प होते है। जब कभी सनसनीपूर्ण अफवाहे फैलती है अधिकतर व्यक्ति उन्हे सच मान लेते है और समाचारो की सत्यता के विषय मे छान-बीन करने का कोई प्रयत्न नही करते। बाजारो और चौपालो पर सभी प्रकार की चर्चायें और गप्पे सुनने को मिलती है। यह कहने की आवश्यकता नही कि इस प्रकार से व्यक्तियो को निष्कर्ष नही निकालने चाहिये। जहां तक इनके आधार पर जनमत का निर्माण होता है, वह अति दोष-पूर्ण व हानिकारक होता है।

सार्वजनिक सभायें (Public meetings)—जनमत को प्रभावित करने का अत्यन्त प्राचीन और आजकल सबसे अधिक प्रचलित साधन सार्वजनिक सभा है। सार्वजनिक सभायें किसी भी वक्ता अथवा संघो द्वारा आयोजित की जाती हैं। सभा मे कम या अधिक व्यक्ति वक्ताओ को सुनने के लिये इकठ्ठे होते है, भाषण सुनने मे कोई विशेष कष्ट नही होता वरन् कम या अधिक आनन्द आता है। प्रत्येक प्रगतिशील देश मे, विशेष रूप मे नगरो मे, बहुधा सार्वजनिक सभाओं और भाषणों का आयोजन हुआ करता है। जनतन्त्रात्मक शासन-पद्धति वाले देशो में निर्वाचनों के पूर्व गाव-गाव मे चुनाव-प्रचार सम्बन्धी सभायें होती है। शिक्षा के प्रचार के साथ-साथ सार्वजनिक विषयों—स्थानीय, राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय में जनता की रुचि बढ रही है, फलस्वरूप उनके बारे मे सुनने व विचार अथवा वाद-विवाद करने के लिये सार्वजनिक सभाओ का प्रयोग बहुत बढता जा रहा है। भाषणों द्वारा प्रचार कार्य अधिक अच्छा होता है और उनका व्यक्तियो पर प्रभाव भी अधिक पडता है। सार्वजनिक सभाओ मे सार्वजनिक महत्व के प्रश्नों पर खुलकर विचार विमर्श होता है। वे जनता की रुचि को जाग्रत करती है और सर्वसाधारण को शिक्षित व्यक्तियो की अपेक्षा अधिक प्रभावित करती है। सभाओं द्वारा राजनीतिक नेता अपने-अपने दल की नीति, कार्यक्रम और उसके आधारभूत सिद्धान्तो को आसानी से समझा सकते है।

समाचार-पत्र (The Press)—सार्वजनिक भाषणों से भी कहीं अधिक प्रभावशाली साधन समाचार-पत्र है। वक्ता की आवाज कुछ सौ या हजार व्यक्तियों तक ही पहुंच पाती है, समाचार-पत्रों की पहुंच लाखों व्यक्तियों तक होती है। आजकल वे इतने सस्ते हो गये है कि प्रत्येक व्यक्ति इच्छा होने पर उन्हें मोल ले सकता है। वर्तमान युग में समाचार-पत्रों की शक्ति बढ रही है और उसके लिये, सक्षेप मे, ये कारण उत्तरदायी है—(१) प्रायः सभी देशों मे मताधिकार विस्तृत होता जा रहा है और बहुत से देशों ने तो वयस्क मताधिकार प्रदान कर दिया है। (२) साक्षरता के प्रसार के साथ-साथ समाचार-पत्रों के पढने वालों की सख्या तेजी से बढ रही है। (३) समाचार-पत्र सभी प्रकार के समाचार, लेख आदि बातें देते है। समाचार-पत्रों का आकर्षण बढता ही जा रहा है, क्योंकि उनमें समाचारों के अतिरिक्त चित्र, कार्टून, पहेलियाँ, क्रॉस-वर्ड, पुस्तकों की समीक्षायें, खेल-कूद के समाचार और लगभग सभी प्रकार के विषयों पर रुचिपूर्ण लेख प्रकाशित होते है।

किसी भी ऐसे समाज मे जहाँ अधिकाश जनता साक्षर हो, प्रेस सार्वजनिक नीति के बारे में सूचना देने का प्रमुख माध्यम है। हाल मे संयुक्त राज्य अमरीका में टेलीविजन का महत्व बहुत बढा है, फिर भी तथ्य यह है कि जनमत निर्माण का प्रधान साधन समाचार-पत्र ही है। सयुक्त राज्य अमरीका मे, लगभग ६ करोड़ समाचार-पत्र प्रतिदिन बिकते हैं, और उनके अतिरिक्त हजारों साप्ताहिक अर्ध-कालिक समाचार-पत्र और पत्रिकाये है। उस देश मे लगभग १८५० समाचार-पत्र दैनिक सस्करण निकालते है और ६००० के लगभग साप्ताहिक है। ऐतिहासिक दृष्टि से समाचार-पत्रों ने सूचना के प्रसारण पर सरकारी नियन्त्रण की जोरदार आलोचना की। यह सभी स्वीकार करते है कि प्रजातन्त्र मे स्वतन्त्र प्रेस का होना एक अति महत्वपूर्ण आवश्यकता है। भाषण और लेखन (अर्थात् अभिव्यक्ति) की स्वतन्त्रता के बिना स्वशासन वस्तुतः असम्भव है। प्रेस की स्वतन्त्रता को बनाये रखने की तकनीकें देश-देश मे भिन्न है। परन्तु साधारणतया यह विश्वास किया जाता है कि प्रेस पर निजी स्वामित्व और नियन्त्रण होना चाहिये। अधिकतर प्रजातन्त्रों के प्रकाशन मे सरकारी हस्तक्षेप के विरुद्ध सवैधानिक सरक्षण है। सयुक्त-राज्य अमरीका के सविधान मे प्रथम सशोधन कहता है—'काग्रेस कोई ऐसा कानून न बनायेगी जो भाषण या प्रेस की स्वतन्त्रता को कम करे।'

अधिकाश पाठक सम्पादकीय लेखों और टीकाओं को पढकर अपने मत का निर्माण कर लेते है। यदि सम्पादक निष्पक्ष और सत्यप्रेमी हों और साथ ही अपने विचारों को व्यक्त करने मे स्वतन्त्र हो, तो इनसे कोई विशेष हानि होने का डर नहीं, परन्तु वास्तविकता कुछ और है। अधिकतर समाचार-पत्रों के स्वामी धनी व्यक्ति होते है, क्योंकि सिवाय पूंजीपतियों के अन्य व्यक्ति इनको नहीं चला सकते और सम्पादकों की स्थिति उनके वैतनिक सेवकों जैसी होती है। इसी कारण अधिकतर समाचार-पत्र अनुदार पक्ष के पोषक होते है, क्योंकि उनके

स्वामी क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं चाहते। इसके अतिरिक्त कभी-कभी इनके स्वामी राजनीति में महत्वाकांक्षी होते है, जिसके कारण उन समाचार-पत्रों और सम्पादकीय लेखों के दोष और भी बढ़ जाते हैं। ऐसी दशाओं में ये लेख व टीकायें निष्पक्ष और न्यायपूर्ण न होकर केवल दलगत राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति का साधन बन जाते हैं। इसका एक ही विकल्प है और वह यह कि सरकार उन्हें अपने अधिकार में ले ले। परन्तु ऐसा होने पर उनका दोष और भी अधि बढ़ जायेगा, क्योंकि सरकार (अर्थात् सत्तारूढ़ दल) अपनी नीति और विचारों का विरोध नहीं होने देगी। इस प्रकार शासन के अत्याचारों के विरुद्ध संरक्षण के सबसे अधिक महत्वपूर्ण तथा प्रभावशाली साधन का अन्त हो जायेगा।

समाचार-पत्रों का दुरुपयोग—(१) समाचार-पत्रों में प्रकाशित लेख और विचार (तथा समाचारों के प्रकाशित होने का ढंग भी) पक्षपातपूर्ण तथा एकपक्षीय होते हैं। (२) वे स्वतन्त्र विचार बनने में बाधा डालते हैं। कभी-कभी अशिक्षित पाठक समाचार-पत्रों में प्रकाशित समाचारों को पूर्णतः सत्य मान लेते हैं, इसी कारण बहुत से सम्पादक व स्वामी अपने पत्रों की शक्ति का दुरुपयोग करते हैं। पाठकों को धोखा देने अथवा अपने स्वार्थ-साधन के लिये वे नीच से नीच कार्य करते हैं। सस्ते और गन्दे समाचार-पत्र विभिन्न प्रकार के झूठे व निराधार समाचार छापा करते हैं। अनेक स्थानीय समाचार-पत्र बड़े दोषपूर्ण होते हैं, अतः अधिकांश व्यक्ति उन्हें पढ़ते भी नहीं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि साम्प्रदायिक समाचार-पत्रों ने भारत के विभाजन में बहुत बड़ा योग दिया। समाचार-पत्रों में जैसा कि फाइनर ने कहा है: 'निष्पक्ष रूप से सत्य सूचना और सन्तुलित मत की मात्रा साधारणतया कम ही रहती है। परन्तु समाचार-पत्रों ने जनमत के ऊपर असाधारण प्राधान्य प्राप्त कर लिया है, जिसके परिणामस्वरूप समाचार पत्रों के दोष कम नहीं हुये हैं, वरन् बढ़े हैं।'[5] (३) समाचार-पत्रों की इस आधार पर भी आलोचना की जाती है कि उनका प्रकाशन एक बड़ा व्यवसाय बन गया है; और उन पर अधिकांशतः पूँजीवादी वर्ग का ही स्वामित्व तथा नियन्त्रण स्थापित हो गया है। बड़े व्यवसायों और राजनीतिक दलों अथवा उनके नेताओं के बीच एक प्रकार के अनुचित सम्बन्ध स्थापित हो जाने से प्रजातन्त्र के लिये एक बड़ा खतरा पैदा हो गया है।

चलचित्र (Cinema)—जो कार्य समाचार-पत्र लिखित शब्दों द्वारा करते है, उसकी कुछ पूर्ति चलचित्रों द्वारा होती है। आजकल सिनेमा जनता के मनोविनोद का सबसे अधिक जनप्रिय साधन है। अधिकतर चित्रों के प्रदर्शन का प्रभाव दर्शकों के नैतिक आचार और विचारों पर पड़ता है। सिनेमा के द्वारा शिक्षा तथा

5 "The amount of objectively true information and balanced opinion is, on the whole, small, and the press has acquired an extraordinary dominance over opinion, aggravating rather than correcting its defects."

Finer, H., *Theory and Practice of Modern Government*, p. 226.

प्रचार कार्य वड़ी सफलतापूर्वक होने लगे है। प्रगतिशील देशो की सरकारे अच्छे चित्रो के निर्माण मे योग दे रही है और उनके प्रचार विभाग द्वारा अनेक उपयोगी और शिक्षापूर्ण चित्रो का निर्माण होने लगा है। भारत सरकार की ओर से विभिन्न प्रकार की डॉक्यूमेंटरी फिल्में तथा न्यूज रील वनाई जा रही है। इसके प्रदर्शन द्वारा दर्शकों को प्रभावित किया जाता है। इस प्रकार चलचित्र जनमत-के आधुनिक साधनों मे से एक अति महत्वपूर्ण साधन है।

रेडियो और टेलीविजन—जनमत-निर्माण के आधुनिक साधनों मे इसका महत्व सिनेमा से वढ़कर ही है। रेडियो द्वारा दैनिक घटनाओं के समाचार और सार्वजनिक नेताओं के विचार तथा मत लाखो व्यक्तियों तक पहुँचाये जाते है। सार्वजनिक वक्ताओ के भाषण, जो केवल पहले सभा मे उपस्थित होने वाले व्यक्ति ही सुन सकते थे, आजकल रेडियो द्वारा जनता की बहुत वडी सख्या को सुनने का अवसर मिलता है। रेडियो द्वारा विभिन्न प्रकार के समाचार, मधुर गीत, रुचिपूर्ण नाटक, समाचारो और पुस्तको की समीक्षा, वाजार भाव आदि सुनने को मिलते है। इस कारण रेडियो का प्रयोग दिन पर दिन वढ़ता जा रहा है, जिससे कि रेडियो अपना कार्य ठीक प्रकार से कर सके, यह अति आवश्यक है कि न तो रेडियो पर कुछ व्यक्तियों का पूर्ण नियन्त्रण हो और न ही सरकार का एकाधिकार हो। संयुक्त राज्य अमरीका तथा अन्य प्रगतिशील देशो मे रेडियो के साथ टेलीविजन का प्रयोग तेजी से वढ़ रहा है।

पुस्तकें और पत्रिकायें—जनमत-निर्माण में पुस्तको और पत्रिकाओ का भी वड़ा योग रहता है, यद्यपि इनके पढ़ने के लिये विशेष प्रयत्न करना पडता है और ये केवल पढ़े-लिखे तथा कुछ व्यय करने योग्य व्यक्तियो के हाथों तक ही पहुच पाती हैं। सार्वजनिक महत्व के विभिन्न विषयो पर पत्रिकाओं में लेख व संक्षिप्त टिप्पणियां निकला करती है। आजकल सरकार के सूचना व प्रचार-विभाग तथा विभिन्न राजनीतिक दलो और प्रकाशन एजेंसियो की ओर से सामाजिक महत्व के प्रश्नों पर अनेक छोटे-छोटे पेम्फलेट प्रकाशित हुआ करते है। इनके पढ़ने से पाठकों को विभिन्न प्रकार के सार्वजनिक प्रश्नो की आवश्यक जानकारी प्राप्त होती है, वे इनके ऊपर विचार करके अपना मत निर्धारित करते है, अधिक गम्भीर विद्यार्थी इन विषयो पर प्रकाशित पुस्तको का अध्ययन करते है। परन्तु अधिकाश व्यक्ति पत्रिकाओं और पुस्तकों को नही पढ़ पाते।

शिक्षा-संस्थाये—शिक्षणालयों में वच्चो और युवको के मस्तिष्को को ढाला जाता है और ये ही देश के भावी नागरिक होते है। आधुनिक प्रगतिशील देशों के निर्माण और उन्नति मे वहाँ के शिक्षित नवयुवको ने बहुत ही महत्वपूर्ण योग दिया है। इगलैंड के प्रसिद्ध पब्लिक स्कूलो को जो हैरो और ईटन में स्थित हैं, अनेक ब्रिटिश राजनीतिज्ञो और सैनिक अधिकारियो को उत्पन्न करने का श्रेय प्राप्त है। स्कूलो और कालिजों मे पढ़ाये जाने वाले विषयो—इतिहास, भूगोल, कानून,

राजनीति-शास्त्र, अर्थशास्त्र, दर्शन और नीतिशास्त्र आदि में जनमत-निर्माण में अत्यधिक सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त इन शिक्षा-संस्थाओं में अनेक विषयों की परिषदें तथा सांस्कृतिक संघ भी होते हैं, जिनके तत्वाधान में विशेष योग्यता-प्राप्त विद्वानों के भाषण होते हैं और अनेक विषयों पर वाद-विवाद का भी आयोजन होता है। शिक्षा के दौरान पड़े प्रभाव बहुधा अमिट होते हैं, अतः इन संस्थाओं का जनमत-निर्माण में बड़ा महत्व है।

क्लब—ये ऐसे स्थान होते हैं जहाँ बहुत से व्यक्ति खाली समय में मनोविनोद के लिये जाते हैं। वे आपस में विभिन्न विषयों की चर्चा करते हैं। क्लबों के द्वारा सदस्यों के विचारों और मतों पर प्रभाव पड़ता है। विदेशी शासन-काल में यूरोपियनों को भारतीयों के विषय में अच्छी या बुरी जानकारी अपने क्लबों द्वारा ही होती थी। क्लबों से मिलते-जुलते स्थान अनेक सार्वजनिक होटल और रेस्टोरां हैं, इस सम्बन्ध में फ्रांस के कॉफी हाउस और चीन के चायघर प्रसिद्ध हैं।

धार्मिक संघ—भारत जैसे धर्म-प्रधान देश में धर्म का महत्व अत्यधिक है। यहाँ पर प्रायः सभी प्रकार के प्रश्नों को धार्मिक दृष्टि से देखा जाता है, इसी कारण भारत में धर्म और राजनीति का गहरा सम्बन्ध रहा है। कट्टर पण्डितों और मौलवियों का राजनीति में विशेष महत्व रहा है। धार्मिक नेताओं और संघों के प्रयत्नों के फलस्वरूप देश में साम्प्रदायिकता फली और फूली तथा अनेक सामाजिक सुधारों के मार्ग में विभिन्न प्रकार की रुकावटें पड़ रही हैं। धार्मिक स्थानों—मस्जिदों, मन्दिरों, गिरजों और गुरुद्वारों में केवल धार्मिक पूजा-पाठ ही नहीं होते वरन् धार्मिक व्यक्तियों के उपदेशों के नाम से राजनीतिक व्याख्यान भी होते हैं। अतः धार्मिक संघों का जनमत-निर्माण में महत्वपूर्ण स्थान है। मुस्लिम लीग की ओर से पाकिस्तान सम्बन्धी आन्दोलन के दिनों में मस्जिदों में अनेक राजनैतिक सभायें हुआ करती थीं। गत वर्षों में अकाली दल ने अपनी मांगों के सम्बन्ध में गुरुद्वारों का राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये व्यापक प्रयोग किया।

विधान सभायें—आधुनिक प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली का आधार जनता द्वारा निर्वाचित विधान सभायें हैं, उनमें शासन की नीति, कार्यक्रम और विभिन्न प्रस्तावों और विधेयकों पर वाद-विवाद होता है। विरोधी दल के सदस्य सरकार की खुलकर आलोचना करते हैं तथा जनता की शिकायतों और कष्टों को खोलकर रखते हैं। विधायक इनके विषय में नियमित रूप से पढ़ते रहते हैं, उन्हें देश के प्रायः सभी सार्वजनिक प्रश्नों का अच्छा ज्ञान रहता है। बहुधा सरकार की ओर से नीति-सम्बन्धी महत्वपूर्ण वक्तव्य विधान सभाओं में ही दिये जाते हैं और मन्त्रिगण विरोधियों की आलोचनाओं का उत्तर भी देते हैं इसी कारण विधान सभाओं का जनमत निर्माण में अति महत्वपूर्ण भाग होता है।

राजनीतिक दल—यद्यपि राजनीतिक दलों को अन्त में लिया गया है, तथापि जनमत-निर्माण व अभिव्यक्ति के साधनों में इनका स्थान सबसे अधिक

महत्वपूर्ण है । इनका उद्देश्य ही राजनीति के प्रति मतदाताओ में रुचि को बढाना है । प्रत्येक राजनीतिक दल अपने सदस्यो और समर्थको को प्रायः सभी महत्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्नो के एक या दूसरे पक्ष मे करने का प्रयत्न करता है । वैसे तो राजनीतिक दल सदैव ही क्रियाशील रहते है, परन्तु निर्वाचन के पूर्व तो ये विशेष रूप से क्रियाशील हो जाते है । प्रत्येक राजनीतिक दल का यह उद्देश्य रहता है कि वह मतदाताओ को विश्वास दिलाये कि उसकी नीति और कार्यक्रम ही सबसे अच्छा है । राजनीतिक दल अपने उद्देश्यो की प्राप्ति के लिये विभिन्न उपायों का उपयोग करते है; उनमें से मुख्य ये है—सार्वजनिक सभायें, व्यक्तिगत पहुच, प्रचार साहित्य का वितरण, नारो की रचना और पोस्टरो का प्रदर्शन, जलूस निकालना और समाचार-पत्रो को प्रकाशित करना, इत्यादि ।

जनमत का दुरुपयोग—समझदार व्यक्तियो को चाहिये कि वे वर्गीय अथवा साम्प्रदायिक मत को जनमत न समझ बैठे । ऊपर यह भी बताया गया है कि पूजीपति अथवा शक्तिशाली गुट आर्थिक लाभ या राजनीतिक सत्ता की प्राप्ति के लिये समाचार-पत्रो व ब्रॉडकास्टिग कम्पनियों पर अपना नियन्त्रण व आधिपत्य जमा लेते है । परिणामस्वरूप सच्चे और स्वस्थ जनमत का निर्माण नही हो सकता । विदेशी शासन प्रचार द्वारा कुछ समय के लिये जनता को राष्ट्रीय हितो के विरुद्ध ले जा सकता है, परन्तु अन्त में सच्चे जनमत का प्रकाश मे आना आवश्यक है ।

स्वस्थ जनमत के लिये आवश्यक बातें—जनमत का अच्छा व स्वस्थ होना बहुत सीमा तक राजनीतिक नेताओं की बुद्धि और स्वार्थहीनता पर निर्भर करता है । सरकार की दृष्टि मे प्रभावशाली जनमत प्रायः सगठित मत तथा विषय विशेष के सम्बन्ध मे विशेष ज्ञान प्राप्त व्यक्तियो का मत है । अच्छे और स्वस्थ तथा प्रभावशाली जनमत के लिये कई बातो का होना आवश्यक है, जिनमे से गैटेल के अनुसार मुख्य निम्नलिखित है :

(१) जनता शिक्षित और बुद्धिमान होनी चाहिये और उसे सार्वजनिक मामलो के विषय में सतर्क रहना चाहिये । (२) जनता के हितो में साम्य होना चाहिये । जिस देश की जनता मे धर्म, जाति या वर्ग के गम्भीर भेदो के कारण सार्वजनिक प्रश्नो पर साधारणतः मतैक्य नही होता, वहां पर स्वस्थ जनमत का निर्माण अति कठिन होता है । भारत के विभाजन के पूर्व देश मे बहुत सीमा तक ऐसी ही स्थिति थी । (३) राष्ट्र के विभिन्न समूहो मे साधारण मतभेदो के पीछे [illegible] रूप मे और राष्ट्रीय उद्देश्यो के विषय मे आवश्यक रूप से [illegible] चाहिये । जनमत को सूचित और प्रभावित करने के साधन [illegible] ईमानदार होने चाहिये तथा उनका प्रयोग जनता को धोखा [illegible] स्वार्थ-साधन के लिये नही किया जाना चाहिये । मत [illegible]

और सार्वजनिक प्रश्नों पर वाद-विवाद करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। (१) अल्पसंख्यक समूहों को अपने मत को सभी उचित व शान्तिपूर्वक ढंगों से व्यक्त करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये, क्योंकि स्वस्थ जनमत का निर्माण तभी हो सकता है जबकि सभी प्रकार के मतों के व्यक्त करने की स्वतन्त्रता हो। तानाशाही के अन्तर्गत इस प्रकार की कोई स्वतन्त्रता नहीं होती, फलस्वरूप वहां सच्चे जनमत का निर्माण नहीं हो पाता। परतन्त्र देशों में भी बहुत सीमा तक ऐसी स्थिति होती है। (५) परन्तु बहुसंख्यक जनता की इच्छा यदि वह स्पष्ट रूप से व्यक्त की गई हो और न्यायपूर्ण हो, अल्पसंख्यक समूहों को मान लेनी चाहिये, जब तक उनका अपना मत दूसरों को मान्य न हो जाये। (६) अन्त में, राजनीतिक दलों का आधार साम्प्रदायिक अथवा वर्गीय हित नहीं होने चाहियें। ऐसे दल जनमत को बहुत ही विकृत बनाते हैं। विदेशी शासन-काल में साम्प्रदायिक दलों के कारण ही भारत का विभाजन हुआ। अभी तक अपने देश में बहुत सी बातें नहीं पाई जाती, इसी कारण सच्चा व स्वस्थ जनमत बनाने में अनेक बाधायें व कठिनाइयां आती हैं। इन बाधाओं को दूर करना सरकार व शिक्षित व्यक्तियों का कर्तव्य है।[6]

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि स्वस्थ जनमत के निर्माण में बड़ी बाधायें अग्रलिखित हैं—(१) निरक्षरता; (२) दलपक्षी समाचार-पत्र; (३) नागरिक जीवन के प्रति उदासीनता, (४) गलत आधारों पर राजनैतिक दलों का निर्माण; (५) बुरी शिक्षा प्रणाली; और (६) निर्धनता। लोकमत की श्रेष्ठता तीन बातों पर निर्भर करती है। पहली बात यह है कि लोकमत के निर्धारण में जनता ने सद्‌बुद्धि से काम लिया है या नहीं ?; दूसरी यह है कि उसमें सहिष्णुता की भावना है अथवा नहीं ?; और तीसरी यह कि उसके निर्धारण में अधिक से अधिक व्यक्तियों ने भाग लिया है अथवा नहीं ? इन तीनों बातों के बिना लोकमत का ठीक-ठीक निर्धारण नहीं हो सकता।

२. भारत में जनमत

भारत की वर्तमान राजनीतिक परिस्थितियों में जनमत का ठीक प्रकार से पता लगाना अथवा उसका पाश्चात्य आधुनिक नापने के तरीकों से विश्लेषण करना कठिन कार्य है। अनेक सार्वजनिक महत्व के प्रश्नों पर जनमत का निर्धारण होता है। परन्तु उसका पर्यवेक्षण निर्भर रहने योग्य नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि 'भारतीय अनेक स्तरों पर और अनेक दिशाओं में विभिन्न उग्र समूहों में विभाजित हैं, अत वे अनेक विषयों के बारे में स्पष्ट और निश्चित मत नहीं रख सकते। ऐसे विषयों के बारे में जिनका सम्बन्ध प्रतिदिन के जीवन से नहीं जनता के जो मत

6 Gettell, R.G., *Political Science*, pp. 285-86

होते हैं वे साधारणतया बुद्धिवादियों के एक छोटे समूह के मत होते है। इस विषय में पामर का निम्नलिखित कथन ध्यान देने योग्य है :

> संयुक्त राज्य अमरीका में समाचार-पत्र के सम्पादकीय लेखों, रेडियो व टेलीविजन टिप्पणी कर्ताओं, ट्रेड यूनियनों, ऐच्छिक संघों और पत्र लिखने वाली जनता के सदृश भारत में कठिनाई से ही कोई चीज है। भारत में जनता की बहुत बड़ी संख्या निरक्षर है और भौगोलिक दृष्टि से अधिक अर्थ में समाज से पृथक रहती है; शाब्दिक अर्थ में, अधिकांश जनता अपने ही जगत मे रहती है। सिवाय बहुत ही धुंधले नकारात्मक तरीके के, जनता का उन लोगों पर बहुत कम प्रभाव पड़ता है जो राजनीतिक निर्णय करते है। दूसरी ओर भारतीय राजनीति को भारतीयता का रूप देने की कुछ प्रवृत्ति दिखाई देती है। विशेष रूप में प्रादेशिक और राज्यीय स्तरो पर, परन्तु यहाँ पर भारतीय जन-साधारण धीमी गति से राजनीति में अन्तर्ग्रस्त तथा सवाक् होते जा रहे हैं। परन्तु यहाँ भी, राजनीतिक क्षितिज संकुचित हैं और परम्परागत अभिवृत्तियाँ अधिक स्पष्ट दिखाई पड़ती है। यहाँ पर कोई भी धार्मिक कट्टरता और सामाजिक रूढ़वादिता, सरकार का व्यापक सन्देह, अकर्मण्यता का भारी बोझ देख सकता है।*

परन्तु अब उपरोक्त स्थिति तेजी से बदल रही है। देश में साक्षरता का काफी गति से प्रसार हुआ है और जनमत निर्माण के विभिन्न साधनों का भी विकास हुआ है। अतएव अब भारत में जनमत प्रभावशाली होता जा रहा है। उसकी समय-समय पर अस्पष्ट जनता द्वारा समर्थित मांगों में अभिव्यक्ति होती रहती है। उदाहरण के लिए, भाषायी राज्यों के निर्माण का प्रश्न जनमत के जोरदार रूप में प्रकट होने पर ही निर्णित हुआ, विशेष रूप से दक्षिण भारत में हिन्दी का विरोध शिक्षा संस्थाओं में अधिक प्रभावशाली रहा है। गोआ के प्रश्न पर पुर्तगाल सरकार के विरुद्ध जनसाधारण के सत्याग्रह आन्दोलन का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। देश की आन्तरिक व वैदेशिक नीति के अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों पर केन्द्रीय सरकार के निर्णय जनमत की अभिव्यक्ति से कम या अधिक मात्रा में निर्णीत हुये है। यह बात राज्यीय सरकार और स्थानीय शासन की संस्थाओं के बारे मे और भी अधिक मात्रा मे सच है। भारत-चीन सीमा विवाद, कश्मीर के प्रश्न, पाकिस्तान, संयुक्त राज्य अमरीका व सोवियत संघ आदि देशों के साथ सम्बन्धों के बारे में भारत सरकार पर जनमत का प्रभाव पड़ा है, जैसा कि एक जनप्रिय शासन मे होना आवश्यक और वाञ्छनीय है।

भारत में जनमत निर्माण मे पूर्वगामी सैक्शन में वर्णित प्राय: सभी साधनों का महत्वपूर्ण योग है। फिर भी उनमें सबसे महत्वपूर्ण साधन राजनीतिक दल

*See Kahin, G. M (ed) *Major Governments of Asia* p. 371.

दबाव अथवा हित समूह और समाचार-पत्र हैं। राजनीतिक दल इस प्रयोजन के लिये साहित्य वितरण, सार्वजनिक सभायें, प्रदर्शनों का आयोजन और चुनाव अभियान आदि उपायों का प्रयोग करते है।

जनमत के निर्माण में अ-राजनीतिक संगठन, व्यक्ति और अन्य बातें भी योग देती है। इस प्रकार भूदान यज्ञ आन्दोलन, असंसदीय तकनीकें यथा उपवास एवं सत्याग्रह और आचार्य विनोबा भावे व श्री जयप्रकाश नारायण जैसे पक्ष-विहीन राजनीति व सर्वोदय विचारधारा के पक्के समर्थकों तथा उनके अनुयायियों, जगद्गुरु शंकराचार्य व स्वामी करपात्री जी जैसे धार्मिक नेताओं व मौलवियों का भारत के राजनीतिक जीवन पर बड़ा भारी प्रभाव रहा है। वास्तव में भारतीय जीवन के इन अ-राजनीतिक पहलुओं का देश की राजनीति और जनमत निर्माण में महत्वपूर्ण भाग रहा है।

देश में व्यापक निरक्षता और निर्धनता, भौगोलिक दूरियाँ, भारतीय जीवन के स्थानीय नमूनों आदि के कारण सभी प्रकार के संचार साधनों का विकास नहीं हो पाया है। जन-साधारण से संचार के हेतु पाश्चात्य देशों जैसे विकसित माध्यमों का भारत में विकास कठिनाई और देरी से ही हो सकेगा। अभी तक केवल आकाशवाणी के अतिरिक्त और कोई रेडियो व्यवस्था नहीं है और टेलीविजन के तो गिने-चुने ही स्टेशन बन पाये है। अखिल भारतीय रेडियो (आकाशवाणी) का एक उल्लेखनीय दोष यह है कि उस पर सरकार का पूर्ण नियन्त्रण है। अभी तक केन्द्र में एक ही दल की सरकार रही है और आगे की वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत सरकार व आकाशवाणी के बीच अब जैसा ही सम्बन्ध रहेगा। वर्तमान व्यवस्था में विरोधी राजनीतिक दलों को आकाशवाणी की नीति और कार्यक्रमों से विरोध होना स्वाभाविक है। अपने देश में संयुक्त राज्य अमरीका की भांति निजी उद्यमों के रूप में कई रेडियो व्यवस्थायें तो कायम करना सुगम न होगा; परन्तु वर्तमान व्यवस्था के दोष को दूर करने के उद्देश्य से, ब्रिटेन की भांति, रेडियो व्यवस्था पर नियन्त्रण हेतु एक स्वायत्तता प्राप्त निगम स्थापित करना आवश्यक और वाछनीय प्रतीत होता है।

३. भारत में समाचार-पत्र (प्रेस)

प्रेस स्वातंत्र्य—मानव अधिकारियों की घोषणा (Declaration of the Rights of Nov., 1789) और मानव अधिकारों की सर्वव्यापी घोषणा (Universal Declaration of Human Rights, 1948) दोनों में ही प्रेस की स्वतन्त्रता के महत्व को मान्यता प्रदान की गई है। परन्तु इन घोषणाओं में प्रगणित अधिकार न्यायालयों द्वारा समर्थनीय (justiciable) नहीं है। प्रेस की स्वतन्त्रता की गारंटी और उसे न्यायालयों द्वारा लागू करने की व्यवस्था के लिये और संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान के प्रथम संशोधन को दिया जाता है। भारतीय संविधान निर्माताओं ने अमरीकी अधिकार-पत्र (Bill of Rights)

से महत्वपूर्ण प्रेरणा और मार्गदर्शन ग्रहण किया। परन्तु भारत के संविधान में प्रेस की स्वतन्त्रता का पृथक से उल्लेख नही है ; इसे भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता मे ही निहित किया गया है। अनुच्छेद १९ मे वर्णित स्वातंत्र्य अधिकार निम्न प्रकार है :

(१) सब नागरिको को (क) वाक्-स्वातत्र्य और अभिव्यक्ति स्वातत्र्य का अधिकार होगा। (२) खंड (१) के उपखड (क) की कोई बात उक्त उपखड द्वारा किये गये अधिकारों के प्रयोग पर राज्य की सुरक्षा, विदेशी राज्यो के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्धो, सार्वजनिक व्यवस्था, शिष्टाचार या सदाचार के हितो में या न्यायालय-अवमान, मानहानि या अपराध उद्दीपन के सम्बन्ध मे युक्तियुक्त निर्बन्धन (reasonable [illegible] ctions) जहाँ तक कोई विधि लगाती हो वहा तक उसके [illegible] पर प्रभाव, अथवा वैसे निर्बन्धन लगाने वाली कोई विधि बनाने मे राज्य के लिये कोई रुकावट, न डालेगी।

जिस समय देश ने स्वतन्त्रता प्राप्त की, समाचार-पत्र [illegible] से जकड़े हुये थे। अखबारी कागज पर नियत्रण आदेश के [illegible] पत्र निकालना सरल न था। भारत रक्षा कानून की [illegible] मे पूर्ववत अडगा डाले हुई थी। किसी भी पत्र से [illegible] और पत्र का डिक्लेरेशन लेना आसान न था। [illegible] क्योंकि विदेश से छपाई का सामान मिलना कठिन [illegible] समाचार समिति 'एशोसिएटेड प्रैस' रायटर के अधीन [illegible] प्रैस भी भारत की ओर आख लगाये बैठा था। [illegible] केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल मे प्रवेश किया और शीघ्र [illegible] इसके हटते ही पत्रो को जैसे सांस लेने का [illegible] की प्रवृत्ति एकाएक बढती दिखाई दी। [illegible] तत्काल ध्यान दिया। सरदार पटेल ने, जो [illegible] थे, निर्णय किया कि विदेशी कम्पनियाँ [illegible] को बाध्य किया कि वह अपना [illegible] प्रकार 'प्रेस ट्रस्ट आफ इण्डिया' की [illegible] भी तार की लाइन देने से इन्कार [illegible] को टेलीप्रिंटर लगाने की सुविधा [illegible] लाइन लगाई।

कुछ समय बाद [illegible] आज देश के करीब ६५० [illegible] सरकार ने हिन्दी का [illegible]

'हिन्दुस्तान टाइम्स', 'टाइम्स आफ इण्डिया', 'हिन्दू', 'अमृतबाजार पत्रिका', स्टेट्समैन', 'हिन्दुस्तान स्टेंडर्ड', 'इण्डियन एक्सप्रेस' आदि पत्र अपने दिल्ली, बम्बई, मद्रास, कलकत्ता तथा प्रयाग कार्यालयों से टेलीप्रिंटरों से सम्बद्ध है। यह सारी प्रगति स्वाधीनता के पश्चात् हुई है। इस समय भारत में सैकड़ों समाचार-पत्र है, जिनमें से अधिकतर दैनिक और साप्ताहिक है। वे हिन्दी, अंग्रेजी तथा विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं मे प्रकाशित होते है। चूंकि समाचार-पत्रों को विशेष रूप में शहरों की शिक्षित जनता के लिये निकाला जाता है। अधिकतर प्रभावशाली समाचार-पत्र मुख्यतः अंग्रेजी मे ही प्रकाशित होते हैं। इनमें ऐसे अच्छे समाचार-पत्र सम्मिलित है जैसे हिन्दू (मद्रास), टाइम्स ऑफ इन्डिया (बम्बई और दिल्ली) स्टेट्समैन (कलकत्ता और नई दिल्ली), अमृतबाजार पत्रिका (कलकत्ता और इलाहाबाद), हिन्दुस्तान टाइम्स (नई दिल्ली) और इन्डियन एक्सप्रैस, जो कि देश के चार भिन्न स्थानों से प्रकाशित होता है। परन्तु किसी भी भारतीय समाचार-पत्र की एक लाख से बहुत अधिक प्रतियां प्रति दिन नहीं बिकती, जबकि उनमें से अधिकतर की प्रतियां बहुत कम बिकती है। परन्तु उनकी पहुंच कहीं अधिक बड़ी संख्या में पाठकों तक होती है, गांव या वाचनालय में एक ही प्रति के सुनने या पढने वाले बहुत से व्यक्ति होते है। अधिकतर भारतीय समाचार-पत्रों का दृष्टिकोण राजनीतिक है और उनमें से अधिक अच्छे समाचार-पत्र राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं और समाचारों के विषय मे सूचना और टिप्पणियां देते है। बहुधा लम्बे और कई-कई सम्पादकीय लेख उनकी एक सामान्य विशेषता हैं, परन्तु भारत में राजनीतिक समाचारदाता एवं टीकाकार कम है और जो है वे भी सरकारी नीतियों, नेताओं व समाचार-पत्रों के स्वामियों के दबाव में लिखते है।

अंशकालिक पत्रिकाओं की संख्या भारत मे काफी बड़ी है, परन्तु सिवाय कुछ फिल्म पत्रिकाओं के उनके खरीदारों की संख्या बहुत छोटी है। अंग्रेजी मे अच्छे स्तर की कुछ पत्रिकायें ये है—ईस्टर्न इकॉनॉमिस्ट, (नई दिल्ली), दी इकॉनॉमिक वीकली (बम्बई), इण्डिया क्वार्टरली, (इण्डियन कौंसिल ऑफ वर्ल्ड अफेयर्स, नई दिल्ली), इण्डियन जरनल ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन (इण्डियन इण्स्टीट्यूट ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, नई दिल्ली), मॉर्डन रिव्यु (मासिक, कलकत्ता), इण्डियन रिव्यु (मासिक, मद्रास)। हिन्दी में अधिक अच्छी और जनप्रिय पत्रिकाओं मे हम धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, ज्ञानोदय (मासिक, कलकत्ता) को गिन सकते है। प्रायः सभी प्रादेशिक भाषाओं मे दैनिक समाचार-पत्रों के अतिरिक्त अनेक अच्छी साप्ताहिक, मासिक, त्रै-मासिक पत्रिकाये प्रकाशित होती हैं। राज्य सरकारें व स्थानीय निगमें आदि गजट या अंश-कालिक समाचार-पत्र प्रकाशित करती है।

नियोजित आर्थिक उन्नति के परिणामस्वरूप शिक्षा-प्रसार और जीवन-मान में सुधार हुआ है। इस तथा अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य के कारण पढ़ने वालों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है। समाचार-पत्रों और पत्रिकाओं का प्रयोजन केवल समाचारों को फैलाना नहीं है, परन्तु साथ में विशिष्ट दृष्टिकोणों को भी पाठकों के सामने रखना है। देश के प्राय प्रत्येक भाषायी प्रदेश या क्षेत्र में सार्वजनिक महत्व के किसी भी प्रश्न के विभिन्न पहलुओं के पक्ष और विपक्ष में लिखने वाले समाचार-पत्र अथवा पत्रिकायें देखी जा सकती हैं। समाचार-पत्रों की जितनी अधिक संख्या होगी, उतने ही अधिक भिन्न मतों की अभिव्यक्ति होगी, जो अपने निरन्तर प्रभाव से जन-मत का निर्माण करते है। आज के भारत में प्रजातंत्रात्मक पद्धति की आधारभूत बातों में यह प्रक्रिया एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

यदि समाचार-पत्रों व पत्रिकाओं की प्रतियों में संख्या की वृद्धि देश में साक्षरता व राजनीतिक चेतना की वृद्धि की सूचक है, तो इस प्रकार की वृद्धि आज के भारत में स्पष्ट दिखाई पड़ती है। नये-नये समाचार-पत्र और पत्रिकायें प्रतिवर्ष निकलते है, क्योंकि पढ़ने वालों की मांग बढ़ती जाती है। इस बात का प्रमाण समाचार-पत्रों के रजिस्ट्रार की वार्षिक रिपोर्ट (Annual report of India's Registrar of newspapers) है। सन् १९६५ की दसवीं वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार उस वर्ष देश की ४३ भाषाओं में ७,९०६ समाचार-पत्र व पत्रिकायें थी। उस वर्ष में उनके प्रसारण में ५·५ प्रतिशत की वृद्धि हुई। जिन समाचार-पत्रों के प्रसारण के आकड़े प्राप्त हो सके, उनके प्रसारण की कुल संख्या १९६५ में २ १७ करोड़ थी। रिपोर्ट के अनुसार ७,९०६ की कुल संख्या में ५२५ दैनिक और ४९ अर्द्ध-साप्ताहिक अथवा त्रै-साप्ताहिक थे; उनके अतिरिक्त २,११९ समाचार-पत्र व पत्रिकायें दूसरी श्रेणी (non-included category) में थी, जिनमें बाजार-रिपोर्टें और अन्य प्रकार की पत्रिकायें (publicity-journals house organs, etc.) सम्मिलित थी। १९६५ के कुल प्रसारण में, अंग्रेजी समाचार-पत्रों का सबसे अधिक प्रसारण ५६ लाख था, उनके बाद हिन्दी का ३९ लाख, तमिल का २५ लाख, और मलयालम का १५ लाख था। वर्ष के दौरान कुल प्रसारण में लगभग ५२ लाख अथवा २९·२ प्रतिशत दैनिक समाचार-पत्रों का भाग रहा। सन् १९६५ के अन्त में दैनिक समाचार-पत्रों की संख्या ५२५ थी, जो प्रमुख भाषाओं में इस प्रकार विभाजित थी—हिन्दी १४८, उर्दू ७३ अंग्रेजी ५६, मराठी ४३ और मलयालम ४०। १ लाख से ऊपर प्रसारण वाले दैनिक समाचार-पत्रों की कुल संख्या १३ थी। कुल ५२५ दैनिक समाचार-पत्रों में से १११ दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई और मद्रास चार बड़े नगरों से प्रकाशित होते थे। केन्द्रीय और राज्य सरकारों ने कुल ३९९ पत्रिकायें प्रकाशित की और उनका प्रसारण कुल का लगभग ३·३ प्रतिशत रहा।

प्रेस रजिस्ट्रार की रिपोर्ट में यह भी बताया गया है कि १९६५ में आधे से अधिक समाचार-पत्रों पर व्यक्तियों का स्वामित्व था। १९६५ के अन्त में तीन प्रमुख भारतीय समाचार देने वाले अभिकरण और आठ विशिष्ट सिन्डीकेट (feature syndicate) थे। समाचार देने वाले अभिकरणों (news agencies) में प्रेस ट्रस्ट ऑफ इण्डिया (PTI) के ३८३ चन्देदार थे, हिन्दुस्तान समाचार के ९८ और तीसरी (UNI) के ६२। विशिष्ट सिन्डीकेटों ने ६०० समाचार-पत्रों को प्रकाशन सामग्री दी।

—:o:—

१६

भारत में प्रजातांत्रिक नियोजन

१. प्रजातन्त्र, समाजवाद और नियोजन

भारत ने प्रजातन्त्रात्मक पद्धति को सोच-समझकर अपनाया है। सन् १९६४ से तो देश के प्रधान सत्तारूढ़ दल कांग्रेस ने 'प्रजातंत्रात्मक समाजवाद' (Democratic Socialism) का ध्येय स्वीकार किया है। वास्तव में समाजवाद ध्येय है, जिसे **प्रजातंत्रात्मक तरीकों** से प्राप्त करना है और उनमे **नियोजन** का स्थान प्रमुख है। चूंकि कुछ व्यक्ति अभी तक प्रजातन्त्र, समाजवाद और नियोजन में असगति देखते है, अत. इन तीनों के आपसी सम्बन्धो के महत्वपूर्ण पहलुओं का यहाँ पर, संक्षेप में, विवेचन करना उपयुक्त होगा। बहुत समय तक प्रजातन्त्र को केवल मात्र शासन का ही एक रूप समझा गया; परन्तु अब सच्चे प्रजातन्त्र का अर्थ उसका राजनीतिक रूप ही नही वरन् सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में भी प्रजातन्त्र है। **श्री जय प्रकाश नारायण** का कथन है :

> प्रजातन्त्र केवल राजनीतिक अधिकारो और शासन में जनता के भाग का ही प्रश्न नही है। प्रथम विश्व-युद्ध के समय से, प्रजातन्त्र का अर्थ वृद्धि-पूर्ण मात्रा में सामाजिक और आर्थिक न्याय, सम अवसर और औद्योगिक प्रजातन्त्र है।[1]

अधिकतर व्यक्ति इस मत को स्वीकार करेंगे कि स्वतन्त्रता और समता प्रजातन्त्र के दो स्तम्भ है। विभिन्न प्रकार की राजनीतिक स्वतन्त्रतायें और अधिकार यथा शासन में भाग लेने का अधिकार प्रजातन्त्रात्मक शासन की मानी हुई पूर्व-दशायें है। परन्तु आज के युग में ऐसी शासन पद्धति सफल नहीं हो सकती यदि राज्य के कार्यक्षेत्र के बारे में नकारात्मक उदारवादी धारणा (negative liberal) conception) को मानकर राज्य जनसाधारण की आर्थिक मांगो की पूर्ति के लिये प्रयत्न न करे। अतः यह एक निर्विवाद सत्य है कि आर्थिक स्वतन्त्रता और समता उतने ही महत्वपूर्ण है जितने कि राजनीतिक स्वतन्त्रता और समता। जबकि आर्थिक स्वतन्त्रता का अर्थ काम पाने का अधिकार और आवश्यकताओं की पूर्ति

---

1 Art. *'Problems of Democracy,' N. I. Patrika, Aug 15, 1961.*

न होने से उत्पन्न चिन्ताओं के मुक्त समझा जाता है, आर्थिक समता का अर्थ सभी के लिये अवसर की समता (equality of opportunity) है।

इस तथ्य को स्वीकार किया जाना चाहिये कि राजनीतिक प्रजातन्त्र आर्थिक प्रजातन्त्र के बिना अर्थहीन है और आर्थिक प्रजातन्त्र ही समाजवाद है। दूसरे शब्दों में, समाजवाद प्रजातन्त्र का आवश्यक परिणाम है, परन्तु समाजवाद का रूप प्रजातन्त्रात्मक होना जरूरी है। अत. यह आवश्यक है कि प्रजातन्त्र और समाजवाद को मिलाकर ऐसी पद्धति का विकास किया जाये जो पूंजीवाद और साम्यवाद दोनों ही से श्रेष्ठतर हो। जबकि प्रजातन्त्र का अधिक बल राजनीतिक स्वतन्त्रता और समता पर है, समाजवाद आर्थिक स्वतन्त्रता और समता पर अधिक बल देता है। यहां यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि समाजवाद व्यक्तित्व (individuality) का दमन नहीं करता, वास्तव में, यह तो असंख्य व्यक्तियों को आर्थिक और सांस्कृतिक बन्धनों से छुटकारा दिलाता है। एटली के निम्नलिखित कथन से हम पूर्णतया सहमत हैं।

> समाजवाद का उद्देश्य व्यक्ति को अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करना है··· । मेरा निष्कर्ष यह है कि समाजवाद के अन्तर्गत पुरुष और स्त्रियां कम नहीं वरन् अधिक स्वतन्त्र होंगे। स्वतन्त्रता का रूप अधिक व्यापक होगा। कठोर एकरूपता को थोपने का प्रयत्न न किया जायेगा।[2]

अब यह प्रश्न उठता है कि क्या प्रजातन्त्र और नियोजन साथ-साथ चल सकते है? इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व यह बता देना आवश्यक है कि नियोजन क्या है और नियोजन क्यों आवश्यक है? नियोजन एक प्रकार की प्रक्रिया अथवा तकनीक (technique) है।[3] इसका अर्थ यह है कि अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिये समुचित साधनों को अपनाया जाये, इसमें साधारण उद्देश्य भी निहित रहता है। नियोजन प्रक्रिया जीवन की भांति गतिशील है। बदलती हुई परिस्थितियों व दशाओं के अनुकूल निर्धारित योजना में समय-समय पर सुधार करने आवश्यक हैं। वास्तव में नियोजन का प्रयोजन यह है कि जहां तक व्यावहारिक हो सके राज्य (व्यक्ति व समूह) द्वारा किये जाने वाले कार्यों को अच्छी प्रकार सोच-समझकर निर्धारित करे और फिर उसकी पूर्ति के लिये सभी आवश्यक और उचित पग उठाये। संक्षेप में, नियोजन भविष्य के विषय में परिस्थिति के अनुसार बदलने वाला बुद्धिपूर्ण विचार है। विभिन्न लेखकों के अनुसार नियोजन के लिये निम्नलिखित पगों को उठाना आवश्यक है :

---

2 Attlee, C. R On '*Labour Party in Perspective*' in Morris, W. (ed.) *Challenge of Socialism*, pp. 266—67.

3 "Planning is, strictly a process with its associated techniques It is a method of arriving at some desired results It implies a general objective"
H. S. Person

See Waldo, D. (ed.) *Ideas and issues in Public Administration*, p. 396.

(१) साधारण प्रशासको द्वारा प्रभावी नियोजन के हेतु पूर्ण और स्पष्ट ध्येय का निर्धारण, (२) साधारण प्रशासको द्वारा उस ध्येय की प्राप्ति के लिये नीति का निर्धारण, किन्तु ध्येय और नीति दोनो पर विधानमण्डल की स्वीकृति प्राप्त होनी चाहिये। (३) ध्येय की प्राप्ति के लिये निर्धारित नीति के अधीन प्राविधक मार्गो व साधनो का निर्धारण। (४) अगला पग नियोजन के लिये नियोजन (Planning for planning) है, जिसका अर्थ है निर्दिष्ट ध्येय (५ या ७ वर्षीय योजना) को उप-ध्येयों यथा वार्षिक योजनाओ में विभक्त करना, जिससे कि प्रतिवर्ष के लिये निर्दिष्ट ध्येय की प्राप्ति के लिये आवश्यक कार्यो व दायित्वो को विभिन्न अभिकरणो, विभागो आदि को सौप दिया जाये। (५) नियोजन के अन्तर्गत किये गये प्रयत्नो मे परिणामो को ठीक-ठीक नापने की व्यवस्था। सक्षेप में अच्छी योजना मे ये लक्षण होने चाहिये (अ) स्पष्टतया पारिभाषित उद्देश्य, उद्देश्य की प्राप्ति के लिये आवश्यक साधन व उपाय, (इ) आवश्यकता के अनुसार नमनीय होना, (ई) सन्तुलित होना और (उ) व्यवहारिकता अर्थात् जिसे पूर्ण अथवा प्राप्त किया जा सके।

नियोजन के महत्व और उपयोगिता के विषय मे आज अधिक मतभेद नही है। अधिकतर विचारवान् व्यक्ति यह मानते कि सामाजिक समता व आर्थिक न्याय पर आधारित अच्छे समाज का निर्माण आज की जटिल दशा मे बिना बुद्धिपूर्ण नियोजन के सम्भव नही। आर्थिक कार्यों का केन्द्रीभूत नियन्त्रण नियोजन में निहित है जो जनवरी के मतानुसार दो कारणो से अधिक अच्छा तरीका है। प्रथम, व्यक्तिगत पूजीवादी आर्थिक व्यवस्था मे प्रत्येक व्यक्ति अथवा समूह केवल अपने ही आर्थिक लाभ का ध्यान रखता है। दूसरे, नियोजित नीति के अभाव मे प्रजातन्त्र पद्धति मे विशेष हितो का प्रतिनिधित्व करने वाले दबाव समूहो (pressure group) का शासन पर अनुचित दबाव पड़ता रहता है, जबकि नियोजन द्वारा सम्पूर्ण समुदाय के हितो का ध्यान रखते हुये एक निर्दिष्ट ध्येय और उसकी प्राप्ति के लिये निर्धारित नीति को अपनाया जाता है।[4] प्रजातान्त्रिक समाजवादियो के अनुसार भी नियोजन का दूहरा महत्व है: प्रथम, अधिक न्यायपूर्ण समाज की ओर स्थायी प्रगति की एक अति आवश्यक राजनैतिक शर्त यह है कि उद्योगो पर नियन्त्रण समाज का हो। दूसरे, अधिक कुशल आर्थिक व्यवस्था की स्थापना के लिये भी नियोजन अति आवश्यक है, क्योकि ऐसी ही व्यवस्था में तेजी, मन्दी व अभाव आदि के दोषो को दूर किया जा सकता है। इन्ही कारणो से स्वतन्त्र भारत के कर्णधारो ने देश के पुनर्निर्माण व जनता की समृद्धि के लिये नियोजन को अपनाया है।

---

4 Ibid, *p. 392.*

कुछ समय पूर्व तक यह एक व्यापक विचार अथवा विश्वास था और अब भी कुछ व्यक्ति ऐसा सोचते है कि आर्थिक नियोजन (economic planning) का परिणाम अधिनायक शाही की स्थापना है, अर्थात् प्रजातन्त्र अथवा वैयक्तिक स्वतन्त्रता, व नियोजन मे परस्पर विरोध है। इस विचार का सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि प्रो० हायेक है जिसने 'दासता का मार्ग' ग्रन्थ लिखा है। उसकी युक्तियों का सार सक्षेप में निम्न प्रकार है

> नियोजक एक योजना के अनुसार सम्पूर्ण-आर्थिक कार्यो पर केन्द्रीय नियन्त्रण की मांग करते है। वे ही यह निर्धारित करते है कि समाज के प्रसाधनो को विशिष्ट उद्देश्यो की प्राप्ति के लिये किस प्रकार निदेशित किया जाये। प्रजातन्त्रात्मक विधानमण्डल जनता के आदेश (mandate) को पूरा न कर सकने पर जनता में प्रजातन्त्रात्मक सस्थाओं के प्रति अवश्य ही असन्तोष उत्पन्न करेंगे। संसदो को अकुशल व बात बढने वाले स्थानो के रूप मे समझा जायेगा, किन्तु यह विचार कि नियोजन आवश्यक है जनता की इस माग को सुदृढ बनाता जायेगा कि सरकार या कोई एक व्यक्ति सम्पूर्ण उत्तरदायित्व और शक्तिया सम्भाल ले।[5]

यहा पर इस विषय मे केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यह विचार अब पुराना हो गया है। नियोजन का अर्थ पूर्ण नियोजन (total planning) से नही, जिसमें कि जनता की स्वतन्त्रता का अन्त हो जाता है और सभी को एक नमूने पर ढाला जाता है। वास्तविक तथ्य तो यह है कि आज प्रायः हम सभी नियोजन मे विश्वास करने लगे है। सोवियत सघ व चीन ही नही वरन् सयुक्त राज्य अमरीका व ब्रिटेन जैसे पूंजीवादी देशो ने भी काफी समय से नियोजन को अपनाया है। संयुक्त राज्य अमरीका ने सन् १६३६ मे एक राष्ट्रीय साधन नियोजन बोर्ड (National Resources Planning Board) की स्थापना की थी और ब्रिटेन में मजदूर दल तो एक प्रकार से नियोजन मे विश्वास रखने वाला दल है, जो वहां पर समाजवादी व्यवस्था की स्थापना करना चाहता है। देखने में नियोजन से व्यक्तियो की स्वतन्त्रता कम होती है, क्योकि राज्य उनके अनेक कार्यों मे हस्तक्षेप करता है, परन्तु वास्तव मे किसी भी देश की सर्वसाधारण बहुसख्यक जनता को सच्ची स्वतन्त्रता (अर्थात् अच्छा जीवन बिताने की आवश्यक दशायें व सुविधायें) केवल नियोजित समाज मे ही प्राप्त हो सकती है। अत नियोजन व्यक्तियो की स्वतन्त्रता का विरोधी नही है।

यह विचार भी भ्रमपूर्ण है कि प्रजातन्त्रात्मक पद्धति के द्वारा नियोजित समाज के ध्येय पर पहुंचना कठिन है। ऐसे व्यक्तियो से, जो यह मानते है कि नियोजन प्रजातन्त्र और स्वतन्त्रता का विरोधी है, पिफनर कहता है :

5 The Road to Serfdom (1957), pp. 56-64.

> प्रजातन्त्र तो नियोजन के लिए एक आवश्यक शर्त है, यह नियोजन का दीर्घकालीन सहकारी है, क्योंकि नियोजन के लिए यह आवश्यक है कि नियोजन सर्वसाधारण जनता का विश्वास प्राप्त करके आगे बढ़े, परिणामस्वरूप जब योजनाओं को अन्तिम रूप से स्वीकार तथा कार्यान्वित किया जाता है तो उन्हें जन-साधारण की सहमति की सुदृढ शक्ति प्राप्त रहती है।[6]

चार्ल्स ई० मेरियम ने भी उपरोक्त मत का जोरदार समर्थन करते हुए कहा है—इस निष्कर्ष पर पहुचने के बजाये कि प्रजातन्त्र योजना का प्रबन्ध नही कर सकता, हम जानते है कि सच बात इनके विपरीत है, प्रजातन्त्रात्मक समुदाय नियोजन व योजना के प्रबन्ध के लिये सर्वोत्तम व्यवस्था है। आजकल नियोजन व प्रबन्ध की कुशलता की चाबी सहयोग है और सहयोग तब सबसे अधिक मात्रा मे मिलता है जबकि सर्वसाधारण के कल्याण की योजनाओं में सर्वसाधारण का परामर्श प्राप्त किया जाता है।

भारत मे नियोजन की आवश्यकता और उपयुक्तता के विषय में **श्री मोरारजी देसाई** ने कुछ ही समय पूर्व कहा था .

> एक अति आवश्यक अर्थ में नियोजन उपलब्ध साधनो के अधिक ध्यानपूर्ण उपयोग से अधिक और कुछ नही है। अन्य तरीको की अपेक्षा यह विकास की तीव्रतर गति को अधिक सुनिश्चित बनाता है। यह ठीक ही कहा गया है कि औद्योगिक देशो ने जो कुछ एक शताब्दी में प्राप्त किया, हमें परिस्थितियाँ विवश कर रही है कि हम उसे दो या तीन दशियो मे ही प्राप्त करें। हम इसकी प्राप्ति किस प्रकार कर सकेंगे, यदि हम अपनी बचत और निवेशो (investments) की दर में वृद्धि न कर सके और उनका नियोजन द्वारा अधिक से अधिक कुशलतापूर्वक प्रयोग न कर सकें।[7]

आज के विश्व मे नियोजन ने स्थानीय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सभी स्तरो पर महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। अब तो यह कथन सर्वथा सच है—'**अब हम सभी आयोजक है**' (we are all planners now)। व्यक्तिवाद और राज्य द्वारा आर्थिक क्षेत्र मे हस्तक्षेप न करने की नीति (policy of laissez faire) का युग बीत चुका है। और प्रायः सभी प्रगतिशील राज्यों ने **कल्याणकारी राज्य** (Welfare State) अथवा **सामाजिक सेवा के राज्य** (Social Service State) का ध्येय अपनाया है। प्रजातन्त्रात्मक शासन पद्धति को सच्चे प्रजातन्त्र का रूप देने के लिये ऐसा करना आवश्यक हो गया है। प्रजातन्त्र की सफलता के

6 Pfiffner, J. M., *Public Administration, p. 200.*

7 Art., *Inevitability of Democratic Socialism, Indian Express, Nov. 17, 1966.*

लिये नियोजन का अपनाया जाना अति आवश्यक है। प्राय सभी अविकसित देश नियोजन पद्धति के द्वारा ही आर्थिक विकास की दिशा में बढ रहे हैं, और अपनी जनता के जीवन-स्तर को उठाने का कठिन प्रयास कर रहे है।

यह सच है कि नियोजन अपने वर्तमान रूप मे समाजवाद के अधिक निकट आ गया है, किन्तु नियोजन का प्रयोग पूंजीवादी देश मे भी किया जा सकता है; क्योंकि नियोजन की तकनीक का प्रयोग तो किसी भी प्रकार के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये हो सकता है। परन्तु यह स्पष्ट है कि आर्थिक नियोजन का लक्ष्य समाजवाद और प्रजातन्त्र के ध्येयो—समता और स्वतन्त्रता—को प्राप्त करना है। हम विश्वास करते है कि जब तक सविधान का रूप प्रजातन्त्रात्मक रहता है, तब तक राजनीतिक और नागरिक स्वतंत्रतायें कायम रहती है। दूसरे शब्दों मे, विरोधी नेता और दल सरकार की नीतियो व कार्यक्रमो की विधान मण्डल के भीतर और बाहर खुलकर आलोचना कर सकते है तथा शासन की नीतियो व सत्तारूढ दल को बदलने के लिए वैधानिक आन्दोलन भी कर सकते है। जब तक विभिन्न प्रकार की स्वतन्त्रतायें सुरक्षित रहती है, तब तक सर्वाधिकारवाद अथवा अधिनायकवाद उत्पन्न नही हो सकता। शुमपीटर का यह मत है कि नियोजन अर्थ-व्यवस्था और राजनीतिक स्वतन्त्रता पूर्णतया सगत है।[8]

२. भारत में नियोजन

भारत मे प्रजातन्त्रात्मक गणतन्त्र (Democratic Republic) की स्थापना हुई है। सविधान की प्रस्तावना मे इन लक्ष्यों को समाविष्ट किया गया है : सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास और पूजा की स्वतन्त्रता, पद और अवसर की समता, और बन्धुता। भारत के सविधान में किसी विशिष्ट अर्थ-व्यवस्था को स्थान नही दिया गया है और न ही नागरिको को किसी प्रकार के आर्थिक अधिकार प्रदान किये गये है। इस कमी की कुछ सीमा तक पूर्ति सविधान मे प्रगणित राजनीति के निदेशक सिद्धान्तो द्वारा की गई है। इस सम्बन्ध मे उपयुक्त प्राविधान निम्नलिखित है :

> राज्य अपनी नीति का विशेषतया ऐसा सचालन करेगा कि सुनिश्चित रूप से (क) समान रूप से नर और नारी सभी नागरिकों को जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार हो; (ख) समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व इस प्रकार बटा हो कि जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप मे साधन हो; (ग) आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि जिससे धन और उत्पादन साधनो का सर्वसाधारण के लिये अहितकारी केन्द्रण न हो; (घ) श्रमिक पुरुषों और स्त्रियों का स्वास्थ्य और शक्ति तथा बालको की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न हो तथा

8 Schumpeter, J. A., *Capitalism, Socialism and Democracy*, p. 235.

आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर नागरिको को ऐसे रोजगारो मे न जाना पड़े जो उनकी आयु या शक्ति के अनुकूल न हो; (ड) शैशव और किशोर अवस्था का शोषण से तथा नैतिक और आर्थिक परित्याग से संरक्षण हो। (अनुच्छेद ३९)।

राज्य अपनी आर्थिक सामर्थ्य और विकास की सीमाओं के भीतर काम पाने के, शिक्षा पाने के तथा बेकारी, बुढापा, बीमारी और अंग हानि तथा अक्त अनर्ह अभाव की दशाओ मे सार्वजनिक सहायता पाने के, अधिकार को प्राप्त कराने का कार्यसाधक उपबन्ध करेगा। (अनुच्छेद-४१)। राज्य काम की यथोचित और मानवोचित दशाओ को सुनिश्चित करने के लिए तथा प्रसूति सहायता के लिये उपबन्ध करेगा। (अनुच्छेद-४२)। उपयुक्त विधान या आर्थिक संघठन द्वारा, अथवा और किसी दूसरे प्रकार से राज्य कृषि के, उद्योग के या अन्य प्रकार के सब श्रमिको को काम, निर्वाह-मजूरी, शिष्ट-जीवन-स्तर, तथा अवकाश का सम्पूर्ण उपभोग सुनिश्चित करने वाली काम की दशाये तथा सामाजिक व सांस्कृतिक अवसर प्राप्त कराने का प्रयास करेगा और विशेष रूप से ग्रामो मे कुटीर उद्योगों को वैयक्तिक अथवा सहकारी आधार पर बढाने का प्रयास करेगा। (अनुच्छेद ४३)।

उपरोक्त निदेशक सिद्धान्तो की पूर्ति के लिये भारत सरकार (और राज्य सरकारों) ने कल्याणकारी राज्य का ध्येय स्वीकार किया है। उसकी प्राप्ति के लिये अपनाया गया तरीका नियोजन का है। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर भारत सरकार ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद ही नियोजन पद्धति को अपनाया। वास्तव में, नियोजित अर्थव्यवस्था की दिशा में कुछ कार्यवाही स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व ही की जा चुकी थी। अतएव इस खण्ड मे हम अब तक हुये नियोजन के विकास का सक्षेप मे, विवेचन करेंगे।

भारत मे नियोजन की कहानी का आरम्भ सन् १९३५ के भारतीय शासन अधिनियम के अन्तर्गत बने जनप्रिय मन्त्रिमण्डलों के निर्माण से हुआ। उस समय ८ प्रांतो में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बने। कांग्रेस ने सभी मन्त्रिमण्डलों का ठीक मार्ग प्रदर्शन करने के उद्देश्य से एक **राष्ट्रीय नियोजन समिति** बिठाई, जिसके प्रधान जवाहरलाल नेहरू थे। इस समिति ने कुछ प्रारम्भिक कार्य किया, किन्तु युद्ध में भाग लेने के प्रश्न पर कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलो ने त्याग-पत्र दे दिये और इस समिति का कार्य भी शिथिल पड़ गया। द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान भारतीय उद्योगो का स्वभावतः विकास हुआ, किन्तु अनेक आवश्यक वस्तुओं का अभाव बढ़ा। उन वर्षों मे देश के कुछ प्रख्यात उद्योगपतियों ने एक योजना बनाई जो **'बम्बई योजना'** के नाम से प्रसिद्ध हुई। किन्तु नियोजन की दिशा मे किये गये ये प्रारम्भिक अ-सरकारी प्रयत्न केवल कागज तक ही सीमित रहे। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त जवाहरलाल

नेहरू के नेतृत्व में नियोजन एक लोकप्रिय नारा बन गया। उनकी प्रेरणा और प्रयत्नों से भारत सरकार ने नियोजन आयोग नियुक्त किया, जिसने प्रथम पचवर्षीय योजना तैयार की। उस योजना को ससद ने सन् १६५१-५२ में स्वीकार किया और उसे लागू किया गया। प्रथम योजना के कई लक्ष्य पूर्ण हुये और कुछ वस्तुओ के उत्पादन तथा विकास मे उत्साहपूर्ण सफलता मिली। उससे उत्साहित होकर नियोजन आयोग ने दूसरी और तीसरी पचवर्षीय योजनाये तैयार की।

भारत की प्रथम और द्वितीय पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत सार्वजनिक क्षेत्र (public sector) मे अर्थात् केन्द्र तथा राज्यों की सरकारों द्वारा विभिन्न प्रकार के विकास कार्यों पर व्यय के लिये रखी गई धनराशि क्रमश: ३,४०० और ४,८०० करोड़ रु० थी। इसके अतिरिक्त निजी क्षेत्र (private sector) में अर्थात् उद्योगपतियों द्वारा लगभग इससे आधी पूंजी लगायी जानी थी। तीसरी पंचवर्षीय योजना की रिपोर्ट मे जिसे ७ अगस्त १६६१ को ससद के सामने पेश किया गया था, निम्नलिखित ५ मुख्य उद्देश्य स्वीकार किये गये है :

(१) राष्ट्रीय आय में प्रतिवर्ष ५ प्रतिशत से अधिक वृद्धि हो; और धन इस प्रकार लगाया जाये कि बाद मे आने वाली योजनाओ के काल मे भी विकास की यही गति बनी रहे, (२) खाद्य पदार्थों मे देश स्वनिर्भर बने और खेती की पैदावार को उद्योगों व निर्यात की आवश्यकताओं के अनुसार बढ़ाया जाये; (३) फौलाद, रासायनिक उद्योग, ईंधन और शक्ति आदि आधारभूत उद्योगो (basic industries) का विस्तार किया जाये और मशीन बनाने के कारखाने खोले जाये, जिससे कि आगे के १० वर्ष में होने वाले औद्योगीकरण की आवश्यकताओ को अपने ही साधनों से पूरा किया जा सके; (४) जिस सीमा तक सम्भव हो सके देश के मानव-शक्ति साधनो (man-power resources) का अधिक से अधिक प्रयोग किया जाये और काम दिलाने वाले अवसरो मे सारपूर्ण विस्तार किया जाये; और (५) प्रगतिशील आधार पर अधिक अवसर की समता को स्थापित किया जाये, आय व धन वितरण के बीच विषमताओ को कम किया जाये और आर्थिक शक्ति का सम वितरण हो।

तीसरी पंचवर्षीय योजना के दौरान सार्वजनिक क्षेत्र मे कुल वित्तीय साधनों का अनुमान ७,५०० करोड़ रु० था, जिसमें से केन्द्र व राज्यों द्वारा लगभग आधे-आधे साधन जुटाने थे। इनके अतिरिक्त निजी क्षेत्र मे लगभग ४,३०० करोड़ रुपये लगाये जाने थे। सार्वजनिक क्षेत्र मे विभिन्न विकास कार्यों पर व्यय की जाने वाली राशि अग्रलिखित थी।

	(करोड़ों में)
कृषि और सामुदायिक विकास	१,०६८
सिंचाई—बड़ी और मध्यम योजनायें	६५०
शक्ति	११२
ग्रामीण और लघु उद्योग	२६४
संगठित उद्योग और खनिज	२,५२०
परिवहन और संचार	१,४८६
सामाजिक सेवायें और विविध	१,३००
इन्वेन्टरीज	२००
योग	७,१००

लोकसभा द्वारा योजना पर विचार किये जाने का प्रस्ताव पेश करते हुए प्रधानमन्त्री नेहरू ने कहा था : 'ये सभी आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन आदि विभिन्न आधारभूत बातों (*basic factors*) पर निर्भर करते है। यदि विश्व में युद्ध के कारण व्यापक नाश हो तो उसके साथ हमारी योजना भी अधिकांशतः नष्ट हो जायेगी। यदि भारत से हमारा ध्यान हट जाये—हम विचित्र प्रश्नों को लेकर आपस में लड़ते रहें—तो भी नियोजन कार्य को हानि पहुंचेगी और भारत के भविष्य को भी हानि पहुचेगी।' विभिन्न प्रश्नों पर आपसी झगड़ो के कारण तो विकास-कार्य को कुछ हानि पहुच ही रही थी, अक्तूबर १९६२ में भारतीय प्रदेश पर चीनी आक्रमण ने भारत के विकास कार्यों को बहुत बड़ा धक्का लगाया। यद्यपि हमारे नेता विकास-कार्यों को जारी रखने पर दृढ-निश्चित रहे, फिर भी यह स्वाभाविक ही था कि देश के अधिकांश साधनों का प्रयोग प्रतिरक्षा के लिए अधिक अच्छी तैयारी पर हुआ।

तीसरी पचवर्षीय योजना का एक प्रमुख लक्ष्य जनसख्या की वृद्धि को काफी लम्बे काल तक स्थिर बनाये रखना था उसका दूसरा मुख्य लक्ष्य यह सुनिश्चित करना था कि देश की अर्थव्यवस्था विदेशों से प्राप्त आर्थिक सहायता पर अपनी निर्भरता को काफी मात्रा में कम करदे। अतएव यह स्पष्ट है कि नियोजन के लक्ष्य अपने विस्तार में सीमित है, अर्थात भारत में नियोजन सोवियत सघ व चीन की भांति पूर्ण नहीं है।

चौथी पचवर्षीय योजना [9] का प्रारूप तैयार करते हुए अग्रलिखित बातों को ध्यान में रखा गया—(१) आत्मनिर्भरता की यथाशीघ्र प्राप्ति को सुनिश्चित बनाने के लिए कृषि की ऐसी सभी सभव योजनाओं को उच्चतम प्राथमिकता दी

9 जो पंचवर्षीय योजना पहले तैयार की गई थी विभिन्न कठिनाइयों के कारण उसे कार्यान्वित न किया जा सका। अब नये सिरे से पंचवर्षीय योजना तैयार की जा रही है।

जायेगी जिनका प्रयोजन निर्यात को प्रोत्साहन देना और आयात का स्थानापन्न होना हो; (२) मूल्यो की स्थिरता को सुनिश्चित बनाने के हेतु मुद्रा स्फीति के सभी कारणो को रोकने और घाटे की व्यवस्था से वचने के लिए प्रभावी पग उठाये जायेंगे · (३) ग्रामीण जनसख्या की आय बढाने और खाद्य पदार्थों व कृषि की कच्ची सामग्री की पूर्ति मे वृद्धि करने के लिये, कृषि-उत्पादन को अधिक से अधिक करने के हेतु सभी सम्भव प्रयत्न किये जायेंगे; (४) जनसख्या की वृद्धि को सीमित करने और जनता के अधिक अच्छे जीवन-स्तर को सुनिश्चित बनाने के प्रयोजन से परिवार नियोजन कार्यक्रम को देशव्यापी पैमाने पर कार्यान्वित करने के लिए सभी सम्भव पग उठाये जायेंगे, (५) मानवी साधनों के विकास के लिए, सामाजिक सेवाओं के क्षेत्र में सारपूर्ण अतिरिक्त सुविधाओ की व्यवस्था की जायेगी, विशेष-रूप से ग्रामीण क्षेत्रो में और उत्पादन बढाने की दिशा मे इनका पुनः द्विस्थापन किया जायेगा; इत्यादि। चौथी पचवर्षीय योजना के प्रारूप की रूपरेखा मे **'समाजवादी समाज की ओर'** (Towards a Socialist Society) शीर्षक के अन्तर्गत कहा गया ·

(५३) इन दायित्वो और अधिकारो के प्रयोग तथा शासन के विभिन्न स्तरो पर प्रतिनिधिक सस्थाओ की स्थापना द्वारा सम नागरिकता का विकास हो रहा है; (५४) नियोजित अर्थ-व्यवस्था के विकास द्वारा अर्थव्यवस्था और समाज की परिरेखाये बदल रही है। पुरानी सरचना को एकदम नही बदला गया। उसे प्रजातन्त्रात्मक प्रक्रिया तथा विकास के जोर के अन्तर्गत बदला जा रहा है। भौतिक और मानवी साधनों के विकास का प्रयोजनमय ढग से अनुसरण किया जा रहा है। (५७) यदि विकास कार्यक्रमो का परिणाम नये असन्तुलनो और असमताओं को बढाना नहीं है, तो नये पहल और दृढ-निश्चित प्रयत्नो के लिये दो मुख्य दिशायें हैं। (६०) समाजवाद में यह बात निहित है कि विचार और व्यवहार के प्रचलित ढगो मे उग्रगामी परिवर्तन हो। यह आधुनिकता, समता, बुद्धिवादिता और मानवता के लोकाचार को खोजता है। चौथी पचवर्षीय योजना मे सम्मिलित उत्पादन, शिक्षा और कल्याण के विभिन्न कार्यक्रम अतत: ऐसे नये वातावरण की रचना करने मे सहायता दे सकेंगे। समाजवाद के बारे मे सच्चाई की परीक्षा इस बात मे होगी कि प्रत्येक नागरिक मे यह विश्वास पैदा करने का प्रयत्न किया जायेगा कि वह विकास कार्यों मे भाग ले रहा है और साथ ही उनमे होने वाले लाभो मे भी भागीदार है, जिनमे त्याग और फल दोनो ही निहित हैं। इस प्रकार समाजवाद जितना राष्ट्रीय ध्येय है, उतना ही कार्यात्मक शक्ति भी है।

यह एक माना हुआ तथ्य है कि भारत प्रथम देश है जिसमे प्रजातन्त्रात्मक नियोजन को इतने बड़े पैमाने पर लागू किया गया है। पचवर्षीय योजनाओ को तैयार करने का उत्तरदायित्व **आयोजन आयोग** (Planning Commission) पर है, जिसमे सघ सरकार के कुछ मत्री, योग्य विधायक और अनुभवी प्रशासक सदस्य रहे है। अभी तक इसका सभापति प्रधान मत्री है। परन्तु उपसभापति मत्री के स्थान पर एक विद्वान अर्थशास्त्री को बनाया गया है। अपने कठिन कार्य को करने में आयोग अनेक विशेषज्ञ निकायो मे सहायता लेता है। इनके अतिरिक्त एक **राष्ट्रीय विकास परिषद्** (National Development Council) भी है, जिसमें प्रधान मत्री और सभी राज्यो के मुख्य मत्री सदस्य है। इसी के द्वारा सघात्मक सविधान के कारण उत्पन्न कठिनाइयो के हल करने का प्रयत्न किया जाता है। राज्यीय स्तर पर नियोजन बोर्डों और जिला स्तर पर नियोजन समितियाँ कायम की गई है। हाल में ही जारी की गई लोकतन्त्रात्मक विकेन्द्रीकरण (Democratic Decentraliztion) की योजना का प्रयोजन ग्राम पचायतो और विकास खण्डों के स्तर पर पचायत (या क्षेत्रीय) समितियो को वास्तविक सत्ता का हस्तातरण करना है। ये स्थापित सस्थायें अपने अपने अधिकार क्षेत्रो के अन्तर्गत क्षेत्रो के लिये विकास योजनाओ के निर्माण मे प्रभावी रूप मे भाग लेंगी। योजनाओं को कार्यान्वित करने का उत्तरदायित्व भी अधिकाश मे इन्ही पर रहेगा। इस प्रकार जहा तक योजनाओ के निर्माण और कार्यान्वयन का सम्बन्ध है, भारतीय नियोजन तन्त्र प्रजातन्त्रात्मक है।

स्वतत्रता के बाद से ही, भारतीय नियोजित विकास का मार्गदर्शन निम्न-लिखित दो मुख्य उद्देश्यो ने किया है– प्रजातन्त्रात्मक उपायो द्वारा तेजी से विस्तीर्ण होने वाली और औद्योगिकीय दृष्टि से प्रगतिशील अर्थव्यवस्था का निर्माण तथा न्याय पर आधारित सामाजिक व्यवस्था, जो कि प्रत्येक नागरिक को सम अवसर प्रदान करे।[10] उसी योजना के पैरा ७ मे कहा गया है. 'भारत की पंच-वर्षीय योजनाओ की यह आधार भूत-पूर्वधारणा है कि प्रजातन्त्र और व्यापक आधार पर जनता के भाग द्वारा, समाजवादी रेखाओ पर विकास से द्रुतगामी आर्थिक विकास और रोजगार के विस्तार, आय धन के वितरण मे विषमताओ की कमी, आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण को रोकने, तथा स्वतन्त्र व सम समाज के मूल्यो और अभिवृत्तियों की रचना की प्राप्ति हो सकेगी।

तीसरी पच-वर्षीय योजना के अध्याय १८ में, जिसका शीर्षक 'जनता का सहयोग भाग' है, जनता के सहयोग और भाग के महत्व के बारे में कहा गया था—(१) अपनी योजनाओ की सफलता के लिए जनता के सहयोग को आवश्यक दशा के रूप मे स्वीकार किया गया है। (२) प्रजातन्त्र के सन्दर्भ में, प्रशासन उसी मात्रा मे प्रभावी होता है जिसमे कि वह दिन-प्रति-दिन के कार्य—संचालन मे

10 *Third Five Year plan Para 4.*

जनता के सहयोग और समर्थन पर आधारित रहता है। इसी विषय पर चौथी पंच-वर्षीय योजना के प्रारूप में कहा गया—'सामाजिक और आर्थिक विकास अवश्य ही सरकारी और गैर-सरकारी अभिकरणों के बीच एक सहकार प्रयत्न होना चाहिए।...यह स्वीकार किया जाता है कि योजना के कार्यान्वयन में, जनता का समर्थन, आवश्यक मात्रा में प्राप्त न किया जा सका।' सामुदायिक कार्यक्रमों की पूर्ति में ऐच्छिक संगठन एक महत्वपूर्ण भाग रखते हैं। जन-सहयोग की योजनाओं के लिए योजना में १० करोड़ रु० की व्यवस्था की गई, इनमें ये बातें सम्मिलित थीं—प्लानिंग फोरम, राष्ट्रीय उपभोक्ता सेवा, अनुसन्धान और प्रशिक्षण की पथदर्शी परियोजनायें, ऐच्छिक संगठनों और श्रमिक सहकारी समितियों की निर्माण-कार्य सेवा, शहरी सामुदायिक विकास, सार्वजनिक शिक्षा और जन-साधारण से सचार, इत्यादि।

भारत में प्रजातन्त्र और समाजवाद को मिलाने का प्रयत्न किया गया है और ऐसा प्रयत्न अभी जारी है। इसी उद्देश्य से **प्रजातंत्रात्मक समाजवाद** के ध्येय को अपनाया गया है, जिसे प्रजातन्त्रात्मक नियोजन द्वारा ही प्राप्त करना है। इस सम्बन्ध में एक अति महत्वपूर्ण तथ्य, यह है कि हम अपने देश में '**समाजवादी समाज**' की स्थापना करना चाहते हैं न कि **समाजवादी राज्य** की। यह भी ध्यान देने की बात है कि अविकसित देश में उग्रगामी परिवर्तन अथवा सुधार सरकारी कार्यों द्वारा ही लाये जा सकते हैं। अतः ऐसे देश के लिए नियोजन तन्त्र का होना एक अविलम्ब आवश्यकता है। भारत में नियोजनतन्त्र का निर्धारण चार बातों को ध्यान में रखकर किया गया है— (१) संघात्मक संविधान, (२) प्रजातन्त्रात्मक शासन पद्धति, (३) मिश्रित अर्थव्यवस्था, और (४) समाजवाद का ध्येय।

प्रजातन्त्रात्मक शासन पद्धति की एक महत्वपूर्ण पूर्व-धारणा यह है कि उसमें कई राजनीतिक दलों का अस्तित्व होता है, जिनकी विचारधारायें भिन्न-भिन्न होती हैं। इस कारण से नियोजन को दल-गत राजनीति से ऊपर उठाना सम्भव नहीं है। **इण्डियन नेशनल कांग्रेस** जो अब तक केन्द्र तथा राज्यों में प्रधान सत्तारूढ़ पार्टी रही है, प्रजातन्त्रात्मक नियोजन में पक्का विश्वास करती है। उसी ने नियोजन पद्धति द्वारा **प्रजातन्त्रात्मक समाजवाद** का ध्येय देश को दिया है। सभी वामपंथी दल नियोजन का अनुमोदन करते हैं परन्तु उनकी पहुंच भिन्न-भिन्न है। भारत के **साम्यवादी दल** का विश्वास पूर्ण-नियोजन (Total Planning) में है और भारत के वर्तमान नियोजन के प्रति इसका विरोध विचारधारा के मतभेद पर आधारित है। इसके मतानुसार सत्तारूढ़ दल (कांग्रेस) समझौते की नीति से बंधा है, इसीलिए यह एकाधिकारों को रोकने तथा पूंजीवाद की जड़ को काटने वाले निश्चित पगों को उठाने में विफल रहा है। **प्रजा समाजवादी दल** और **संयुक्त समाजवादी दल** दोनों ही नियोजन का समर्थन करते हैं, यद्यपि वे कांग्रेस की आलोचना करते हैं। प्रजा समाजवादी दल नियोजन के विकेन्द्रीकरण पर बल देता

है और बैंकों व बीमा व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण चाहता है। इन दोनों दलों के बारे में दो तथ्य उल्लेखनीय है— (१) ये साम्यवादी दल के प्रति समझौता न करने का रूख अपनाये हुए है, और (२) ये कांग्रेस के कार्यक्रम को अंशत स्वीकार करते हैं और कांग्रेस से क्षीण सहमति रखते हैं।[11]

भारतीय जन संघ राष्ट्र के साधनों का अधिक से अधिक तथा कम से कम समय में उपयोग करने के लिए नियोजन की आवश्यकता को स्वीकार करता है। परन्तु इसका विश्वास है कि 'कोई भी ऐसी आर्थिक योजना, जो राजनीतिक स्वतन्त्रता, प्रजातन्त्र और भारतीय संस्कृति के स्थायी मूल्यों के मूलभूत सिद्धान्तों के विरुद्ध जाने वाली हो, राष्ट्र को स्वीकार्य नहीं हो सकती।[12] इसका उद्देश्य आर्थिक प्रजातन्त्र की स्थापना है, जिसमें सभी को विकास के लिए सम अवसर मिलें और किसी प्रकार के शोषण के लिए सम्भावना न रहे। जनसंघ ने चौथी योजना का प्रारूप स्वीकार नहीं किया, इसके मतानुसार यह आकार में अत्याधिक बड़ी, कार्यान्विति की तकनीकों में पुरानी और अवास्तविक है। जनसंघ लघु परियोजनाओं की बड़ी योजना, स्वदेशी की भावना, सुदृढ़ प्रतिरक्षा, आधारभूत आवश्यकताओं की गारन्टी, असमताओं को कम करने और मिश्रित अर्थव्यवस्था पर जोर देता है।

ऐसा एक मात्र दल, जो समाजवाद के ध्येय और नियोजन-पद्धति का पूर्णतया विरोधी है, **स्वतन्त्र पार्टी** है। यह पंचवर्षीय योजनाओं की नीति और ढंगों से अपने को अलग रखे हुए है, क्योंकि इसके मत में वे नियोजन की सर्वाधिकारवादी धारणा पर आधारित है। ३० जुलाई १९६० को **'स्वराज्य'** में प्रकाशित एक वक्तव्य में, जिसका शीर्षक **'स्वतन्त्रता के द्वारा समृद्धि की ओर'** (To Prosperity through Freedom) था, पार्टी की नियोजन सम्बन्धी नीति का वर्णन किया गया, जबकि पार्टी ने सर्वाधिकारवादी कार्यक्रम पर आधारित केन्द्रीयकृत और अत्यधिक भारी नियोजन के ढंग को अस्वीकृत किया, इसने संविधान की सीमाओं के भीतर उसके द्वारा प्रत्याभूत स्वतन्त्रता में कमी किये बिना नियोजन के लिए स्वीकृति दी।

३. *मूल्यांकन*

हाल में नियोजन की बड़ी आलोचना हुई है, विशेष रूप से इस आधार पर कि तीसरी योजना के काल में निर्धारित लक्ष्यों और उपलब्धियों के बीच बहुत अन्तर अथवा कमियां रही है। अतएव हमें नियोजन की प्रगति पर एक विहंगम दृष्टि डालनी चाहिए। **प्रथम योजना** मुख्यतः 'कृषि और सिंचाई' योजना थी और

---

11 नियोजन के प्रति विभिन्न दलों के दृष्टिकोण के विषय में उनके चुनाव घोषणा-पत्रों को अध्याय १४ और १५ में देखिए।

12 *Bhartiya Jan Sangh, Principles and Policies, p. 28.*

काफी बड़ी मात्रा में सफल रही, जहां तक कि उसका प्रयोजन अर्थव्यवस्था का पुनः स्थापन तथा विकास को स्थायित्व के साथ प्रोत्साहन देना था। दूसरी योजना को १९७६ तक के विकास की दृष्टि से कार्यान्वित किया गया था और इसका जोर 'उद्योगों व परिवहन' के विकास पर था। उसकी कार्यान्विति असन्तोषप्रद न थी। तीसरी योजना 'कृषि और औद्योगिक योजना' थी। अनेक पर्यवेक्षकों के अनुसार तीसरी योजना के लक्ष्यों और उपलब्धियों का अवलोकन से एक निराशाजनक चित्र सामने आता है। उससे पता चलता है कि १९६४–६५ को छोड़कर कृषि-पैदावार में कोई वृद्धि नहीं हुई और औद्योगिक उत्पादन निर्धारित लक्ष्यों में बहुत कम रहा। राष्ट्रीय आय केवल १२ प्रतिशत बढ़ी, जो कि प्रति व्यक्ति आय को उतना ही रख पाई जितनी कि दूसरी योजना के अन्त में थी। कृषि पैदावार की वस्तुओं के मूल्य ४८·४ प्र. श. बढ़े और औद्योगिक कच्चे माल के ३४·० प्र. श. बढ़े।[13] इसके अतिरिक्त विगत ३–४ वर्षों में वस्तुओं के मूल्य बढ़ते ही रहे हैं, जिसके लिये दो कारण उत्तरदायी है—विकास योजनाओं के लक्ष्यों को बहुत ऊंचा रखना और प्रतिरक्षा पर अधिक ऊंचे स्तर का व्यय। किन्तु योजना के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि विगत वर्षों में देश को दो युद्धों और सूखे के लगातार दो वर्षों का सामना करना पड़ा। विदेशों से मिलने वाले ऋण तथा वित्तीय सहायता में देरी और अनिश्चितता ने भी तीसरी योजना की असलफता में योग दिया।

फिर भी कुल मिलाकर, भारत की राष्ट्रीय आय १९५०–५१ और १९६४–६५ के बीच (१९६०–६१ के मूल्यों पर) ९,८५० करोड़ रू० से बढ़कर १६,६३० करोड़ रू० हो गई अर्थात उसमे लगभग ६९ प्र. श. की वृद्धि हुई। कृषि में पैदावार का सूचकांक १९५१–५२ में ९६ के स्तर से १९६४–६५ में १५८ हो गया (१९४९–५० में १०० से सम्बन्धित), १४ वर्षों में लगभग ६५ प्र. श. की वृद्धि हुई। इस सम्बन्ध में निम्नांकित तालिका देखिये :

	१९५०–५१	१९६४–६५	१९६५–६६
खाद्यान्न (१० लाख टन)	५४·६	८९·०	७२·३
तिलहन (")	५·१	८·३	६·१
गन्ना-गुड़ (")	६·६	१२·३	१२·१
कपास (१० लाख गांठें)	२·६	५·४	४·७
पटसन (")	३·५	६·०·	४·५

कृषि के क्षेत्र में उत्पादन से अधिक प्रभावशाली वृद्धियां शक्ति (बिजली), परिवहन और उद्योग के क्षेत्रों में रही। बिजली शक्ति की क्षमता लगभग चारगुनी बढ़ी है—१९५०–५१ में २३·० लाख कि. वा. से बढ़कर १९६५–६६ में लगभग १०२·० लाख कि. वा. हो गई। प्रमुख उद्योगों में वृद्धि अगले पृष्ठ की तालिका में दिखाई गई है।

13 *Fourth Five Year Plan, A Draft Out line* pp. 2-4.

	१६५०-५१	१६६४-६५
तैयार फौलाद (००० टन)	१०४०	४६००
डीजल इंजिन (०००)	४ ५	८५ ॥
स्वचालित गाड़ियाँ (०००)	१६·५	६८ ५
मशीन-टूल (करोड़ रु० में मूल्य)	०·३	२३·०
बाइसिकल (संगठित क्षेत्र ०००)	६६	१७००
उर्वरक (००० टन)	६	२३३
पैट्रोल की वस्तुयें (१० लाख टन)	३·०	२३ ०
कोयला (,, ,,)	३२·८	७०·०

नियोजन का एक महत्वपूर्ण परिणाम **सार्वजनिक क्षेत्र** (public sector) में उत्पादक धन (reproducible tangible wealth) १६५०-५१ में १५ प्रतिशत से बढकर १६६५-६६ में ३५ प्रतिशत हो गया। भारत जैसे देश में जिसने समाजवादी समाज का उद्देश्य अपने सामने रखा है, अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों में निरन्तर वृद्धि होनी चाहिये। सार्वजनिक क्षेत्र को कुछ अति-महत्वपूर्ण किन्तु कठिन परियोजनाओं में अग्रदूत बनना है, जिनमे पूर्ण उत्पादन क्षमता कई वर्षों के बाद प्राप्त हो सकेगी। देरियो और निराशाओ के बावजूद सार्वजनिक क्षेत्र को कई नये औद्योगिक समूहो (industrial complexes) के विकास मे सफलता मिली है, जो अब निजी क्षेत्र के उद्योगो के लिये भी नये अवसर प्रदान कर रहे है। कृषि, सिंचाई, उद्योग, परिवहन और शक्ति के भौतिक क्षेत्रों मे विकास बहुत महत्वपूर्ण है, किन्तु गत १५ वर्षों में जनता के लिये सुविधाओ के विकास की दिशा मे किये गये बड़े प्रयत्न उनके भावी कल्याण की दृष्टि से और भी अधिक महत्वपूर्ण है। अन्तिम विश्लेषण में जनता ही उन्नति की निर्माता (रचियता) है और उसमे लाभ उठाने वाली भी। गत १५ वर्षों मे सामान्य शिक्षा और तकनीकी प्रशिक्षण, चिकित्सा, सार्वजनिक स्वास्थ्य और परिवार नियोजन की सुविधाये; पिछड़े हुये वर्गों और जन-जातियों के कल्याण, औद्योगिक श्रमिको के लिये गृह-निर्माण आदि क्षेत्रो मे सारपूर्ण प्रगति हुई है। कुछ उदाहरण निम्न तालिका मे दिये गये है :

	१६५०-५१	१६६५-६६
(स्कूल ००० संख्या)	२३१	५०५
स्कूलों के विद्यार्थी (६-१७ वर्ष) १० लाख में	२३ ५	६७ ७
इन्जीनियरिंग और औद्योगिक (स्नातक स्तर में प्रवेश) ००० संख्या	४·१	२४·७
अस्पताल—पलंग (००० संख्या)	११३	२४०
	१६६१-६२	**१६६५-६६**
प्रारम्भिक स्वास्थ्य केन्द्र	२८००	४८००
परिवार नियोजन केन्द्र	१६४६	११४७४

सामाजिक कल्याण के क्षेत्र में चौथी पचवर्षीय योजना मे निर्धारित लक्ष्यों को काफी बढ़ाकर रखा गया। पचवर्षीय योजनाओं ने आर्थिक क्रियाओं की अनेक शाखाओं में सहकारिता को सगठन के प्रमुख रूप में एक महत्वपूर्ण स्थान दिया है, विशेष रूप से कृषि, लघु उद्योग, बाजार व्यवस्था, वितरण और पूर्तियों में।

भारतीय नियोजन का सबसे बड़ा दोष उसकी कार्यान्विति में है। एक विदेशी लेखक ने इस बारे में १९६३ मे ही लिखा था—'भारतवासी काम करने वाले होने से बात करने वाले अधिक अच्छे है, क्रियात्मक रूप देने वालो मे आयोजन अधिक अच्छे है।'[14] अधिकतर विचारवान व्यक्ति नियोजन के विरोधी नहीं है, परन्तु वे योजनाओं को रूप देने के तरीके के आलोचक है। इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि योजनाओं को क्रियात्मक रूप देने मे सबसे बड़ा दोष प्रशासनिक देरियाँ और कमियाँ हैं। यद्यपि इस बात को बहुत समय से माना गया है, फिर भी कार्यान्विति की प्रक्रिया को सुप्रवाही अथवा दोष-रहित बनाने में बहुत कम प्रगति हुई है। प्रथम पचवर्षीय योजना में आयोजन आयोग द्वारा प्रशासनिक पद्धति की इन कमियों को स्वीकार किया गया था—(१) भ्रष्टाचार, (२) कुशलता की कमी व देरी, और (३) धार्मिक पद्धति की कुछ कमियाँ। उसने भ्रष्टाचार अपराधों मे सम्बन्धित कानून और व्यवहार मे सुधारों के लिए सिफारिश की। कार्यकुशलता मे सुधार के लिए उसने ये सुझाव दिये—सत्ता का अधिक मात्रा मे नीचे के अधिकारियो को सौंपा जाना (delegation of authority); सचिवालय के कार्य-भार मे कमी; सगठन और विधियों का पुनर्विलोकन, जिनमें प्रक्रियाओं का सरलीकरण और अधिक अच्छी वित्तीय प्रक्रियायें सम्मिलित थी। दूसरी पचवर्षीय योजना मे प्रमुख प्रशासनिक कार्यों को सोच-समझ कर विभिन्न श्रेणियो मे रखा गया और उनकी प्राप्ति के लिये सिफारिशें भी की गई। तीसरी पचवर्षीय योजना मे यह स्वीकार किया गया कि अनेक क्षेत्रों मे क्रियान्विति की गति बहुत धीमी रही है तथा बड़ी परियोजनाओ के निर्माण और परिचालन-व्यय मे वृद्धि हुई है और समय सारिणी का पालन नहीं हुआ है। इस दिशा मे सुधार के प्रथम उद्देश्य का वर्णन इस प्रकार किया गया—'सत्यनिष्ठा (integrity), कार्य-कुशलता और कार्यान्विति मे गति।'

चौथी पचवर्षीय योजना की रूपरेखा के अध्याय १० के प्रारम्भ में ही लिखा है—'प्रत्येक पच वर्षीय योजना मे, नियोजन और उसकी कार्यान्विति मे महत्वपूर्ण अन्तर रहा है।' उसमे यह भी स्वीकार किया गया है कि विभिन्न प्रकार के कार्य—नये और पुराने, मुख्यत. उन्ही संस्थाओ पर पड़े है, यथा मन्त्री, सचिवालय विभाग, कार्यकारी अभिकरण, कलक्टर और अन्य जिला अधिकारी।'

14 "The Indians are better talkers than doers, better planners than executors"

—Lawis, J. P., *Quiet Crisis In India* (*Asia*) p. 5.

प्रशासनिक और आयोजना के कार्यान्वयन तन्त्र को सुधारने के लिये अब तक उठाये गये पगों पर यह एक खेदजनक टिप्पणी है। इसे सुधारने के लिये अब तक सोचे गये विभिन्न पगो का यहाँ सक्षेप मे उल्लेख करना उपयुक्त होगा।

(५–६) ध्यानपूर्ण वार्षिक नियोजन के द्वारा पच वर्षीय योजना को अधिक नमनीयता के साथ कार्यान्वित करना ही सम्भव न होगा (क्योंकि उसमें चालू अर्थ-व्यवस्था के अनुसार आवश्यक परिवर्तन किये जा सकेंगे, वरन् पच-वर्षीय योजना मे लक्ष्यो और अनुमानो को निरन्तर संशोधित किया जा सकेगा और अर्थ-व्यवस्था के विकास के बारे मे भविष्य को दृष्टि मे रखा जा सकेगा तथा उसके पक्ष मे तकनीकी व आर्थिक सम्भावनाओ को भी। अपने परिचालन के पहलुओ में भी, वार्षिक योजना की मुख्य भूमिका इस बात मे रहेगी कि यह साधनो तथा कार्यान्विति के मूल्याकन के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है।

(१०) चौथी योजना मे, निर्माण-कार्यों पर कुल लगाये जाने वाली पूजी का आधे से अधिक व्यय किया जायेगा। यदि नियोजन के उत्पादनो को पूरी तरह से प्राप्त करना है तो निर्माण कार्यों को समय के भीतर पूरा करना होगा। अतीत के अनुभव के प्रकाश मे इस बात में कोई सन्देह नहीं कि जब तक डिजाइन बनवाने और निर्माण कार्यों मे काफी बचत न की जायेगी और सामान की कीमतो मे उल्लेखनीय कमी तथा कार्यकुशलता मे वृद्धि न हुई तो चौथी योजना मे सम्मिलित भौतिक कार्यों (physical tasks) को उनके लिये की गई वित्तीय व्यवस्था मे पूरा करना सम्भव न होगा।

(२६) सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमो के बारे मे कुछ क्षेत्रो मे उनकी परिचलन अवस्था के दौरान कठिनाइया आई है, विशेष रूप में सामग्री के प्रबन्ध, उत्पादन की समय सारिणी, वित्त के आयोजन और कीमत नियन्त्रण मे। इन कठिनाइयो को दूर करने के लिये निम्नलिखित सबसे अधिक महत्वपूर्ण सिफारिशो में से है—(१) प्रति वर्ष बड़े सार्वजनिक उद्यमों की कम से कम तीन-चार वर्ष आगे के लिये विकास तथा उत्पादन योजनाये तैयार करनी चाहिये। (२) आधुनिक उत्पादन समय-सारिणियां और कीमत-नियन्त्रण पद्धतियो को जारी करना चाहिये। (३) वर्तमान बजट और लेखा प्रक्रियाओं को सुधारना चाहिये। (४) श्रमिक वर्ग के सहयोग से तथा उपयुक्त प्रेरक योजनाओं के साथ, सार्वजनिक उद्यमो के प्रबन्ध-मण्डलो को श्रमिक उत्पादन के साधनो को, विशेषरूप मे दोहराये जाने वाले कार्यों के लिये, विकसित करना चाहिये। (५) प्रबन्ध तकनीकों का अधिक प्रयोग करना चाहिये।

इस सम्बन्ध में यह उल्लेख करना आवश्यक है कि **प्रशासन सुधार आयोग** (Administrative Reforms Commission) इस समस्या का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करके आवश्यक सुझाव देगा। फिर भी, हम कुछ सुझाव देना चाहेंगे— (१) प्रक्रियाओं को सरल बनाया जाये; (२) कार्यकारी अभिकरणों को अधिक वित्तीय शक्तियां सौंपी जायें; (३) विभिन्न स्तरों पर उत्तरदायित्व नियत करने पर अधिक ध्यान दिया जाये और यह देखने के लिये भी कि जो अपने उत्तरदायित्वों को पूरा करने में असफल रहें, उन्हें उसके लिये उत्तरदायी ठहराया जाये; (४) योजना के निर्माण और उसकी कार्यान्विति के बारे में संघ व राज्य सरकारों के बीच अधिक समन्वय हो; और (५) तकनीकी शिक्षा तथा व्यावहारिक प्रशिक्षण पर आगे अधिक बल दिया जाये।

योजनाओं की कार्यान्विति में असफलता का एक महत्वपूर्ण कारण जनता में उत्साह और सहयोग की कमी है। सभी क्षेत्रों में नेताओं—मन्त्रियों, विधायकों, सरकारी अधिकारियों, शिक्षकों, डाक्टरों और विद्यार्थियों ने जनता को योजना के बारे में चैतन्य बनाने तथा सामान्य जनता में उसके लिये आवश्यक उत्साह पैदा करने में अपना दायित्व ठीक प्रकार से पूरा नहीं किया है। इस बारे में सत्तारूढ़ दल (कांग्रेस) के नेता और कार्यकर्त्ता अधिक दोषी है, क्योंकि ये कार्य करने में वे बुरी तरह से असफल रहे हैं। गत २० वर्षों में वे दलगत राजनीति, दलीय चुनावों तथा अपने भविष्य को बनाने में लगे रहे है, जिसके परिणामस्वरूप उनका जन-साधारण से सम्पर्क समाप्त हो गया। उनकी इस आधार पर भी आलोचना की जाती है कि उन्होंने सादे तथा संयत जीवन शैली में स्वयं कोई उदाहरण नहीं रखा, यद्यपि वे जनता से भविष्य के लिये वर्तमान में त्याग करने की अपीलें करते रहे हैं।

आलोचना के अन्य आधार भी हैं, जिनमें से कुछ उल्लेखनीय इस प्रकार है—(१) योजना आयोग की दो आधारों पर आलोचना की जाती है—(अ) उसकी रचना, और (ब) उसकी भूमिका। आलोचक कहते है कि आयोग में राजनीतिज्ञों का कोई स्थान नहीं रहना चाहिये और उसमें वफादार नेताओं को नियुक्त नहीं करना चाहिये। समय आ गया है जबकि आयोग को इस प्रकार पुनर्गठित किया जाये कि वह राजनीति से अलग रहे, जिससे जनसाधारण और सभी दलों को उसमें विश्वास हो। दूसरे, योजना के बारे में अन्तिम निर्णय लेने के पूर्व आयोग को व्यापक आधार पर अनुभवी और विशेषज्ञान प्राप्त गैर-सरकारी व्यक्तियों से लगातार मंत्रणा करते रहना चाहिये। तीसरे, एक स्वतन्त्र मूल्यांकन निकाय स्थापित किया जाना चाहिये, जो कि वार्षिक योजनाओं और दीर्घकालीन कार्यान्विति की जांच-पड़ताल कर सके।

(२) अनेक आलोचक ठीक ही कहते है कि नियोजन के लाभों को पद-दलित अति निर्धन व्यक्तियों ने अनुभव नहीं किया है। इस कथन में सत्य का काफी

अंश है कि निर्धनता पर नियोजन का महत्वपूर्ण प्रभाव नही पड़ा है, इस कारण से नही कि आर्थिक विकास की गति धीमी रही है वरन् इस कारण से कि आय के वितरण का ढग अधिकाशत पूर्व जैसा ही है। यदि इस प्रक्रिया को प्रभावी ढग से न रोका जा सका तो समाजवादी समाज की स्थापना का लक्ष्य निष्फल हो जायेगा।

(३) अनेक भारतीय और अमरीकी, जो स्वतन्त्र उद्यमो के समर्थक है, यह कहते है कि नियोजन से विस्तार की गति धीमी पडी है, क्योंकि इसने निजी साहसिकता के लिये प्रेरणा को कम किया है तथा निजी व्यवसाय पर अनेक बन्धन लगाये है। परन्तु हमारे विचार मे, नियोजन से निजी व्यवसाय की भी उन्नति हुई है, क्योंकि उसे बडे पैमाने पर बाजार तथा निवेश के अवसर प्राप्त हुये है। वास्तव मे, निजी क्षेत्र ने विस्तार हेतु अपनी सच्ची सुप्त शक्तियो को दूसरी पंच-वर्षीय योजना के बाद ही प्रकट करना आरम्भ किया, जबकि योजना के विकास के लिये विस्तृत और विश्वासपूर्ण ढाचे की रचना कर दी थी।

(४) आयोजको के सामने न्यूयॉर्क में १९६८ के प्रारम्भ मे हुई भारत को **सहायता देने वाले समूह** (Aid India Consortium) की बैठक के बाद कई बड़ी कठिनाइयो का मुकाबला करना है—(अ) आन्तरिक (वित्तीय) साधनो की कमी, (आ) प्रतिरक्षा पर अधिक व्यय की परम आवश्यकता, (इ) विदेशों मे पूर्व की अपेक्षा कम मित्र, यहाँ तक कि जो सहायता देने की स्थिति मे है, सहायता सुगमता से प्राप्त नही हो रही है। अतएव आयोजको को जान बूझकर अवास्तविक लक्ष्य अपने सामने नही रखने चाहिये। देश की योजनाओ को अस्पष्ट विचार-धाराओं के चगुल से छुडाकर आर्थिक मामलो में स्वस्थ अनुभववाद पर आधारित करना चाहिये। यह सच है कि भारत मे नियोजन अचानक ही रुक गया है। परन्तु इसे अब भी असफलता से बचाया जा सकता है।[१५]

अन्त में, हमे उनसे, जो नियोजन की आलोचना करते है और प्रजातन्त्र व स्वतन्त्रता की बढ-बढ कर बात करते है, यह कहना है कि प्रजातन्त्र की सफलता ही देश मे नियोजन की सफलता पर निर्भर करेगी। यदि आर्थिक प्रजा-तन्त्र की दिशा मे किये गये नियोजित प्रयत्न विफल रहे, तो देश न प्रजातन्त्रात्मक शासन और राजनीतिक स्वतन्त्रता ही, जिन्हे हम इतना अधिक चाहते है, न रहेगे।

---

15 "The need today is to rescue planning from the clitches of vague ideology, to take to a healthy emp'ricism in economic matters and to overcome the political constraints to which Indian planning is increasingly subject through the adoption of impersonal, objective and commercial criteria, utilising the political status and backing which the planning agency already enjoys. Planning in India has, it is time, come to an abrupt stop, but it can yet be saved from being judged a failure".

See Parliamentary Studies, *June 1958, p. 4.*

प्रजातन्त्र का विकल्प दक्षिण पंथियों (फासिस्टवादियों व प्रतिक्रियावादियों) या वामपंथियों (साम्यवादियों) की अधिनायकशाही हो गया, जिससे हम सभी प्रकार से बचने का प्रयत्न कर रहे हैं। हमारे नेताओं ने देश के लिये जो मार्ग निर्धारित किया है वही देश में शान्ति स्थापित करने और समृद्धि व स्थायित्व लाने का एक मात्र व्यावहारिक तरीका है। यदि भारत में यह प्रयोग सफल हो गया तो विश्व-भर में इसके बड़े दूरगामी परिणाम निकलेंगे। हम पामर के निम्नलिखित कथन से पूर्णतया सहमत हैं :

> मार्ग में आई अनेक बाधाओं के बावजूद, भारत ने नियोजित विकास की दिशा में लगभग गत १५ वर्षों में उल्लेखनीय उन्नति की है। और ऐसा लगता है प्रतिवर्ष विकास की गति बढ़ रही है। अधिकतर भारतीय और विदेशी विशेषज्ञों ने पंच-वर्षीय योजनाओं को स्वस्थ और वास्तविक समझा है। यद्यपि उनमें गम्भीर दोष रहे हैं और योजनाओं तथा उनकी कार्यान्विति के बीच बहुत बड़ा अन्तर रहा है। यह एक विरोधाभासी तथ्य है कि भारत एक स्थिर समाज है जो आगे बढ़ रहा है। यह 'विकास के संकट' के मध्य में है और उसे अनेक प्रकार के खिचावों तथा चिन्ताओं का अनुभव हो रहा है। परन्तु यह एक बड़ा महत्वपूर्ण तथ्य है, केवल भारत के लिये ही नहीं वरन् सम्पूर्ण अ-साम्य-वादी जगत के लिये, कि सबसे बड़े अ-साम्यवादी राज्य ने जिसमें विश्व की १/७ जनसंख्या रहती है, सोच-समझकर प्रजातन्त्रात्मक ढंग को अपनाया है और वह एक स्वतन्त्र समाज के रूप में विकास के नियोजित मार्ग पर चला है और सर्वाधिकारवादी तरीकों द्वारा जबरन विकास के आकर्षणों के सामने नहीं झुका है। भारत ने एक कठिन और भयंकर यात्रा पर चलने का निर्णय किया है, जिसका कोई अन्त नहीं, परन्तु जो उसके करोड़ों निवासियों को अधिक उज्ज्वल भविष्य की आशा देती है। अपने उच्च ध्येयों को प्राप्त करने के लिये उसे अपने प्रयत्नों को कई गुना बढ़ाना होगा और अन्य देशों से उत्साह तथा समर्थन पाना होगा।[16]

16 "In spite of all the obstacles in the way, India has made remarkable progress during nearly a decade and a half of planned development...... India is paradoxically, a static society on the move. It it is in the midst of a 'crisis of development', and it is experiencing many tensions and anxieties But it is a fact of great significance, not only for India but for all the non-communist world, that the largest of all the non-communist States, embracing one-seventh of the human race, is consciously dedicated to the democratic way and has embraked on a planned course of growth as a free society." (N. D. Palme)

Kahin, G. M (ed.), *Major Governments of Asia, pp. 387-88.*

अध्याय २०

वैदेशिक नीति—१

१. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और मुख्य आधार

भारत के विगत इतिहास के अध्ययन से एक बात का स्पष्ट पता लगता है; वह यह कि भारत ने किसी भी देश को पराजित करने के ध्येय से कभी कोई आक्रमण नही किया। विदेशों में जहा भी उसने विजय पाई वह मुख्यतः सांस्कृतिक क्षेत्रो मे थी और उसकी प्राप्ति का साधन पशुबल नही वरन् उन देशों मे उसके द्वारा भेजे गये मतों और सदेशवाहकों का कार्य था। भारत ने लगभग इतिहास के प्रारम्भ से ही अन्य देशों से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये। सम्राट अशोक ने तो पशुबल को त्याग कर भगवान बुद्ध के शांतिपूर्ण सिद्धान्तो का प्रचार अनेक देशों में कराया। भारत की परम्परा और सस्कृति सदैव ही शान्ति की स्थापना के समर्थक रहे हैं। वही महान कार्य आज भी भारत युद्ध-त्रसित विश्व और शांति के लिये लालायित मानव समुदाय के हित मे कर रहा है।

ब्रिटिश शासन काल मे भारत पराधीन था और भारत सरकार की पर-राष्ट्र नीति के निर्धारण मे उसका अपना कोई हाथ न था। ब्रिटिश सरकार ने अपने साम्राज्य को विस्तृत करने और उसे सुरक्षित बनाये रखने के हेतु भारतीय कोष मे धन और भारतीय सेना का समय-समय पर प्रयोग किया। एक ओर जहाँ हमारे पुराने नेताओं ने अपने समान साम्राज्यवाद से दलित व पीडित जनता, तथा स्वतन्त्रता, प्रजातन्त्र आदि उच्च आदर्शो से प्रेरित विदेशियो और देशो की सहानुभूति प्राप्त की वहाँ दूसरी ओर कुछ व्यक्तियों ने ब्रिटेन विरोधी तत्वो व देशो से सहायता प्राप्त करने का भी प्रयत्न किया। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त शांति सम्मेलन के प्रधान को भेजे गये एक पत्र मे लोकमान्य तिलक ने भारत के लिए स्वभाग्य निर्णय के अधिकार की माँग और विश्व के मामलो में भारत के महत्वपूर्ण भाग पर भी बल दिया था। वास्तव में इस पत्र में भारत की राष्ट्रीय विदेश नीति के अंकुर छिपे थे। सन् १६२० मे भारत को राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाया गया, किन्तु यह ब्रिटिश सरकार की एक चाल थी जिससे कि भारतीयों और विदेशियो को यह धोखा हो जाये कि भारत ने भी अन्य डोमीनियनों के समान विश्व-सघ में

स्थान पाया था। उसमें सरकार के प्रतिनिधि जाते थे न कि राष्ट्र के। आगे चल-कर राष्ट्रवादियों ने यह अनुभव किया कि ब्रिटिश सरकार चीन और रूस में हस्त-क्षेप कर रही थी और मध्य पूर्व के राष्ट्रवादी आन्दोलन को साम्राज्यवादी हितों की दृष्टि से दबा रही थी। भारत के नेताओं ने इटली के विरुद्ध इथोपिया का पक्ष लिया और चीन में जापान के आक्रमण का विरोध किया। स्पेन और चेकोस्लोवेकिया के प्रति भी भारत ने सहानुभूति प्रकट की। सन् १९२१ में भार-तीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने एक प्रस्ताव द्वारा पड़ौसी देशों की स्वतन्त्रता को खतरा पहुंचाने के लिए भारत को एक गढ़ के रूप में प्रयोग करने की ब्रिटिश नीति का विरोध किया और उन देशों की जनता के प्रति भारतीयों की मित्रता का आश्वासन दिया। सन् १९२७ में ब्रुसेल्स में 'साम्राज्यवाद विरोधी लीग' के उद्घाटन अधिवेशन पर जवाहरलाल नेहरू ने राष्ट्रीय कांग्रेस की ओर से अन्य सभी साम्राज्यवादी विरोधी तत्वों से मेल रखने की घोषणा की।

भारतीय नेता युद्ध को साम्राज्यवादी नीति का आवश्यक अङ्ग मानते थे। जब हिटलर और मुसोलिनी ने जर्मनी और इटली में तानाशाही के नये रूपों को जन्म दिया तो कांग्रेसी नेताओं ने उन्हें प्रजातन्त्र के विरुद्ध बताया और जब इन तानाशाहों ने अन्य देशों की स्वतन्त्रता का अपहरण किया तो कांग्रेस ने सन् १९३९ में उन देशों की जनता से सहानुभूति दिखाते हुये इस आशय का प्रस्ताव पास किया :

> कांग्रेस ने बार-बार फासिस्टवाद और नाजीवाद के आदर्शों और व्यवहार का विरोध किया है···इसने आक्रमणों की निन्दा की है···और उनसे सहानुभूति प्रकट की है जो इनका विरोध करते हैं···स्वतन्त्र और प्रजातन्त्रात्मक भारत अन्य देशों से आक्रमण को रोकने और आर्थिक सहयोग के लिये सहर्ष सहयोग करेगा।

उपरोक्त कारण से कांग्रेस ने दूसरे विश्व-युद्ध में, यद्यपि अनेक कांग्रेसी व क्रान्तिकारी उस अवसर से लाभ उठाना चाहते थे, ब्रिटेन के युद्ध प्रयत्नों के संचालन में बाधा नहीं डाली, क्योंकि ऐसा करने से जर्मनी, इटली व जापान जैसे आक्रमण-कारी देशों को लाभ पहुंचता और चीन, रूस, फ्रांस, ब्रिटेन आदि प्रजातन्त्र देशों को हानि पहुंचने का सच्चा भय था।

युद्ध के बाद कांग्रेस के प्रस्तावों ने संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना का स्वागत किया, छोटे राष्ट्रों को दिये गये स्थान के लिये खेद प्रकट किया, सभी देशों में (विशेषकर एशिया में चल रहे स्वातन्त्र्य आन्दोलनों का समर्थन किया और अणु-बम की नीति को बुरा बताया। भारत के प्रमुख प्रवक्ताओं ने, जिनमें गांधीजी, जवाहर लाल नेहरू और श्रीमती सरोजिनी नायडू सम्मिलित थे, अप्रैल १९४७ में नई दिल्ली में आयोजित प्रथम एशियाई सम्बन्ध सम्मेलन (*First Asian Relations Conference*) में महत्वपूर्ण भाग लिया। एक अर्थ में यह इन्डोनेशिया पर जनवरी

१९४८ में हुए सम्मेलन और अप्रैल १९५५ में हुए **बान्डुन्ग सम्मेलन** (Conference at Bandung) का अग्रदूत था, जिसे भारत सहित कोलम्बो शक्तियों (Colombo Powers) ने आयोजित किया था। उस सम्मेलन ने विश्व के मामलों में एशिया के वृद्धिपूर्ण तथा भारत के महत्वपूर्ण भाग की ओर स्पष्ट संकेत किया।

एक स्वतन्त्र और राष्ट्रीय विदेशी नीति के निर्धारण का अवसर भारत को स्वतन्त्रता-प्राप्ति पर ही मिला। दो बातों पर तो राष्ट्रवादियों ने पहले से ही बल दिया था—(१) विश्व में प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था की स्थापना, पडोसी देशों से घनिष्ठ और अन्य देशों से मित्रतापूर्ण सम्बन्धों की स्थापना। (२) साम्राज्यवाद, फासिस्टवाद और युद्ध का विरोध। इस समय तक विश्व में दो बड़े सैनिक गुटों का निर्माण हो चुका था, अतः स्वतन्त्र भारत की सरकार ने इन गुटों से अलग रहने की नीति अपनाई। साथ ही **संयुक्त राष्ट्र संघ से पूर्ण सहयोग करने और जातीय विभेद (Racial discrimination) की नीति का विरोध करने** के सिद्धान्तों को भी भारत की विदेश नीति में स्थान मिला और ऐसा स्वाभाविक ही था। भारत विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए किये जाने वाले प्रयत्नों में पूर्ण सहयोग देने की नीति में विश्वास करता रहा है और व्यावहारिक दृष्टि से भी शान्ति की **नीति देश के पुनर्निर्माण के लिए आवश्यक है**। इसी कारण संविधान निर्माताओं ने **राज्य के नीति-निदेशक** सिद्धान्तों में से एक में स्पष्ट कहा है :

> राज्य अन्तर्राष्ट्रीय शांति और क्षेत्र की उन्नति, राष्ट्रों के बीच न्याय और न्यायपूर्ण सम्बन्धों को बनाये रखने तथा अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को मध्यस्थता व पच-निर्णयों द्वारा निबटाने के लिये प्रोत्साहन देने का प्रयास करेगा।

भारत की संविधान सभा ने इस बात का समर्थन किया कि भारतीय गण-तन्त्र राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना रहे। सन् १९५४ में भारत और चीन ने तिब्बत सम्बन्धी समझौते के विषय में पंचशील के सिद्धान्तों को अपनाने की घोषणा की और सन् १९५५ में बांडुग सम्मेलन ने उन सिद्धान्तों को कुछ अधिक विस्तृत किया।

अतः हम **भारत की विदेश नीति के मुख्य आधारों** को संक्षेप में निम्न प्रकार रख सकते हैं :

(१) विश्व-शान्ति के लिए सभी प्रयत्नों को प्रोत्साहन देना और युद्ध का विरोध,

(२) साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद (colonialism) का प्रत्येक रूप में विरोध,

(३) सभी देशों से मित्रतापूर्ण तथा पडौसी देशों से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना,

(४) जातीय विभेद की नीति का विरोध,

(५) संयुक्त राष्ट्र संघ को उसके उद्देश्यों की पूर्ति में अधिक से अधिक सहयोग प्रदान करना,

(६) किसी शक्ति गुट में सम्मिलित न होना, और

(७) पचशील व सह-अस्तित्व के सिद्धान्तों में विश्वास ।

पचशील के सिद्धान्त ये हैं—(१) सब देश एक दूसरे की प्रभुसत्ता और प्रादेशिक सीमाम्रो को स्वीकार करे, (२) कोई देश किसी दूसरे देश पर आक्रमण करके उसकी राष्ट्रीय सीमाओं का अतिक्रमण न करे (३) कोई राज्य दूसरे राज्यों के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप न करे, (४) सभी राज्य एक दूसरे को समान समझे एव आपसी हित मे सहयोग दें, और (५) सब राज्य एक दूसरे से मिलकर शान्तिपूर्वक रहें । अन्तिम सिद्धान्त मे सह-अस्तित्व (Co-existence) का सिद्धान्त भी निहित है ।

यहा भारत की वैदेशिक नीति के मुख्य आधारों के विषय में कुछ स्पष्टीकरण अथवा विवेचन आवश्यक प्रतीत होता है । भारत की वैदेशिक नीति स्वातंत्र्य सघर्ष और उनके आधारभूत सिद्धान्तों से निकली है । जैसा कि सभी जानते है, भारत ने स्वातत्र्य सघर्ष को किसी प्रकार की घृणा के बिना सम्पादित किया, जो कि मानव इतिहास मे एक अपूर्व उदाहरण है । भारत के स्वातन्त्र्य संघर्ष का नेतृत्व गाधी जी ने किया, जिनका कथन था, 'जबकि मैं ब्रिटिश शासन का विरोधी हूँ, मैं अंग्रेजी से प्रेम करता हूँ' । प्रधान मत्री जवाहरलाल नेहरू ने इस सिद्धान्त को स्वतन्त्र भारत की वैदेशिक नीति मे महत्वपूर्ण स्थान दिया, जैसा कि भारत सरकार ने स्वेच्छा से राष्ट्र-मडल की सदस्यता जारी रखने के निर्णय तथा पंचशील के सिद्धान्तो को अपनाकर स्पष्ट किया । शन्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के ये सिद्धान्त अभी तक भारत सरकार की वैदेशिक नीति के आधार हैं । विश्व-शान्ति की नीति, जिसका भारत ने अब तक अनुसरण किया है, ऐसी नीति नही है जिसे केवल राष्ट्रीय हित (national interest) की दृष्टि से भारत ने अपनाया हो । भारत सरकार और अधिकतर भारतीयो का विश्वास है कि सभी देश अपनी समस्याओं तथा अन्तर्राष्ट्रीय विवादो को शान्तिपूर्ण तरीको द्वारा हल कर सकते है और ऐसा करना सभी देशों अर्थात् विश्व के हित में है । भारत ने इस धारणा का अनुमोदन सच्चाई से और निरुत्साहित हुए बिना किया है, बावजूद इसके कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से पाकिस्तान ने तीन बार और चीन ने एक बार उसकी सीमाओं का अतिक्रमण किया है ।

इसी उद्देश्य को सामने रखकर भारत ने **सार्वलौकिक और पूर्ण निःशस्त्रीकरण** (universal and complete disarmament) की नीति का समर्थन किया है । भारत उन प्रथम राज्यो में से है जिन्होंने अणु-बम के परीक्षणों के आंशिक उन्मूलन की संधि (Treaty for the Pantial Abolition of Nuclear Tests) पर हस्ताक्षर किये, जो कि मास्को मे स्वीकृत हुई थी । भारत का विश्वास है

कि अणु-शक्ति का प्रयोग केवल शान्तिपूर्ण प्रयोजनों के लिए किया जाना चाहिये। अब भारत अणु-बम बनाने की क्षमता रखता है, किन्तु भारत सरकार ने अभी तक ऐसा न करने के निर्णय को नहीं बदला है। जेनेवा में हुई १८ राष्ट्रों की निःशस्त्रीकरण समिति (18-Nation Disarmament Committee) की बैठक में भारत सरकार के प्रतिनिधियों ने, १९६६ में पाकिस्तान के साथ की गयी ताशकंद घोषणा की भावना से, इस बात पर जोर दिया कि उन्नति की दिशा में प्रथम पग के रूप में राष्ट्रों को बल प्रयोग को त्याग देना चाहिए। भारत ने इस बात का भी समर्थन किया कि अणु-बम परीक्षणों के सम्बन्ध में १९६३ में की गई आंशिक उन्मूलन संधि को पूर्ण प्रतिबन्ध संधि का रूप दे दिया जाये। अप्रैल १९६६ में प्रधानमंत्री, श्रीमती इन्दिरा गांधी, ने संयुक्त राष्ट्र संघ के अधिवेशन पर अफ्रीकी-एशियाई समूह को सम्बोधित करते हुए इस बात को दोहराया कि भारत ऐसे विश्व-निर्माण के पक्ष में है जिसमें युद्ध न हो, अर्थात् ऐसा विश्व जो आपस की समझदारी, सहनशीलता और सहानुभूति पर आधारित हो।

शक्ति-गुटों से अलग रहने की नीति (Policy of nonalignment) को तटस्थता (neutralism) की नीति समझना गलत है। यह एक स्वस्थ और सक्रिय नीति है, जिसका उद्देश्य विश्व-शान्ति और राष्ट्रीय हितों को आगे बढ़ाना है। यह कोई नकारात्मक नीति नहीं है। प्रधानमंत्री, जवाहरलाल नेहरू, ने १९४९ में कहा था :

> वह नीति जिसका भारत ने पालन किया है, कोई नकारात्मक और तटस्थ नीति नहीं है। यह एक सकारात्मक और सजीव नीति है, जो हमारे स्वातंत्र्य संघर्ष और महात्मा गांधी की शिक्षाओं से निकली है।[1]

यह विश्वास कि शक्ति गुटों से अलग रहने अथवा वैदेशिक मामलों में स्वतन्त्रता की नीति शान्ति का मार्ग है, शक्ति-जनित राजनीति (power politics) और प्रमुख शक्तियों के सैनिक समझौतों (military pacts) के प्रति भारत की घृणा का आंशिक स्पष्टीकरण है। उसका यह अर्थ नहीं कि उस नीति का अनुसरण करने वाले देशों को प्रतिरक्षा सेनाएं नहीं रखनी चाहियें, परन्तु इसका अवश्य ही यह अर्थ है कि शक्ति के आक्रामक प्रयोग को वैदेशिक नीति के साधन रूप में त्याग देना चाहिए। ऐसी नीति के बावजूद भारत सरकार ने सभी महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के पक्ष या विपक्ष में सोच समझकर स्वतन्त्र नीति को अपनाया है। साथ ही भारत ने दोनों शक्ति गुटों (power blocs) के प्रमुख सदस्यों से आवश्यकतानुसार आर्थिक और सैनिक सहायता प्राप्त की है। इस नीति के

---

1 "The policy India has sought to pursue is not a negative and neutral policy It is a Positive and vital policy that flows from our struggle for freedom and from the teachings of Mahatma Gandhi."

See Kahin, G. M. (ed), *Major Government's of Asia* p. 393.

सकारात्मक पहलुओं में हम इन्हें सम्मिलित कर सकते हैं—पंचशील के सिद्धान्त, ऐसे राष्ट्रों का समर्थन जो स्वतंत्रता के लिए संघर्ष कर रहे हैं, हाल ही में स्वतन्त्र हुए देशों के आर्थिक विकास और आन्तरिक तथा वाह्य नीतियों में उन देशों को कार्य की स्वतन्त्रता प्राप्त कराना।

ऊपर वर्णित मुख्य आधारों में राष्ट्रीय हित (national interest) को सम्मिलित न किये जाने का यह अर्थ कदापि नहीं कि विभिन्न उच्च आदर्शों का पालन करते हुए भारत सरकार देश के हितों का पूरा ध्यान न रखेगी अथवा राष्ट्रीय हित का त्याग भी करेगी। वास्तव में, कोई भी देश ऐसा नहीं कर सकता और भारत के बारे में भी ऐसा सोचना वास्तविकता को भुलाना होगा। स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री और भारत की वैदेशिक नीति के प्रमुख प्रतिपादक, जवाहरलाल नेहरू, ने इस बात को निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट किया :

> हम कुछ भी नीति विहित करें, किसी भी देश के वैदेशिक मामलों के सम्पादन की कला इस बात में है कि देश के लिए सबसे अधिक लाभकारी क्या है। हम अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना की बात कर सकते हैं और उसका अर्थ वही है जो हम कहते हैं। हम शान्ति और स्वतन्त्रता के बारे में बात कर सकते हैं और हमारा सच्चाई में वही अर्थ है जो हम कहते हैं, परन्तु अन्तिम विश्लेषण में कोई भी सरकार देश की भलाई के लिए कार्य करती है और कोई भी सरकार कोई ऐसा कार्य करने का साहस नहीं कर सकती जो अपने निकट अथवा दूरगामी प्रभाव में देश के लिए अलाभकारी हो।[2]

यहां पर यह बता देना आवश्यक और उचित प्रतीत होता है कि भारत का राष्ट्रीय हित क्या है? राष्ट्रीय हित की धारणा, अपने सभी तत्वों में, स्थिर (static) नहीं है; इसका सार देश और समय के अनुसार बदलता है और कुछ सीमा तक देश में सत्तारूढ़ दल के मतानुसार भी। भारत के राष्ट्रीय हित में दो तत्व स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। इनमें से एक—राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का परिरक्षण—सभी देशों के लिए सामान्य है। दूसरा तत्व भारतीय प्रजातन्त्र के लिए अति आवश्यक है। कहने का तात्पर्य यह है कि देश की स्वतन्त्रता अर्थात् सुरक्षा और अखण्डता की रक्षा करने के साथ भारत सरकार का लक्ष्य देश में प्रजातन्त्र को सुदृढ़ बनाना है। सामाजिक संरचना में, जहां कि जाति प्रमुख संस्था है, सबसे

---

2 "Whatever policy we may lay down, the art of conducting the foreign affairs of a country lies in finding out what is most advantageous to the country. We may talk about international goodwill and mean what we say. We may talk about peace and freedom and earnestly mean what we say. But in the ultimate analysis, a government functions for the good of the country it governs and no government dare do any thing which in the short or long run is manifestly to the disadvantage of that country."

Speechin the *Constituent Assembly (Legislative), Dec. 4, 1947.*

महत्वपूर्ण विकास इस दिशा में होना चाहिए कि एक समूह के व्यक्ति दूसरे समूह मे जा सकें (अर्थात् जाति, धर्म आदि के संकुचित आधारों पर बने समूहों के बीच भेद मिटना आवश्यक है)। आर्थिक क्षेत्र मे, सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकता विकास की है, अर्थात् अधिक उत्पादन और अधिक न्यायपूर्ण वितरण द्वारा जीवन स्तरों मे सुधार करना। भारत के नेताओं का विश्वास है कि इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए *नियोजित अर्थ व्यवस्था और विश्व-शान्ति का बने रहना अति आवश्यक है*।[3]

२. भारत और राष्ट्रमण्डल

पृष्ठ-भूमि—इससे पूर्व कि हम भारत की राष्ट्रमण्डल की सदस्यता के विषय में विचार करें यह अच्छा होगा कि हम राष्ट्रमण्डल के विकास पर सरसरी दृष्टि डालें। आरम्भ में ब्रिटिश साम्राज्य बहुत ही विस्तृत था और उसके अधीन देशों का ब्रिटेन से भिन्न-भिन्न सम्बन्ध था। सन् १९०७ में कुछ स्वशासित उपनिवेशों जैसे न्यूजीलैंड, आस्ट्रेलिया, कनाडा आदि को डोमीनियन कहा गया जो साम्राज्य के अन्य प्रदेशों की तुलना मे आन्तरिक स्वशासन प्राप्त देश समझे गये। वास्तव मे, डोमीनियन वे देश थे जो आरम्भ मे 'कालोनीज' कहलाते थे, परन्तु जिन्हे आन्तरिक स्वशासन के अधिकार प्राप्त हो गये थे। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने सन् १९०६ मे **'स्वशासन'** का ध्येय अपनाते समय यही चाहा था कि इन डोमीनियनों जैसा स्वशासन भारत को भी मिल जाये। प्रथम महायुद्ध के काल मे 'इम्पीरियल डिफेंस कमेटी' व 'इम्पीरियल वार केबिनेट' संगठित हुई, जिनमे डोमीनियनो के प्रतिनिधियों को भी सम्मिलित किया गया। इस प्रकार उन्हे विदेशी मामलों में परामर्श देने का अधिकार मिला। इम्पीरियल सम्मेलनों मे भारत सरकार के प्रतिनिधियों को भी स्थान मिला। शान्ति सम्मेलन में इन सभी को भाग लेने का अधिकार दिया गया था और राष्ट्र संघ की भी सदस्यता भारत सहित इन सभी देशों को प्राप्त हुई। सन् १९३१ के प्रसिद्ध 'स्टेच्यूट ऑफ वेस्टमिन्स्टर' के प्राक्कथन में डोमीनियनों का पद इस प्रकार बताया गया है 'वे ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर स्वशासित समुदाय है जिनका पद एक दूसरे के समान है। आन्तरिक अथवा बाह्य मामलों मे उनमें से कोई भी किसी दूसरे से नीचा नही है। वे एक दूसरे से ताज के प्रति सामान्य निष्ठा से बँधे है और ब्रिटिश कामनवेल्थ ऑफ नेशन्स के सदस्य रूप मे वे स्वतन्त्रतापूर्वक एक दूसरे से सम्बन्धित हैं।' इस स्टेच्यूट से यह भी स्पष्ट है कि वे किसी प्रकार के पारस्परिक समझौते से नहीं बँधे थे।

---

3 "The leadership in India is convinced that if democracy is to survive and develop, *especially in the light of the disturbing trend towards totalitarianism in various parts of the world*, planned and quick economic development (insurving balanced development of industry and agriculture) is basic. It is equally convinced that such planned development is possible only if there is peace in the world." (A. Appadorai.)

Black & Thompson (ed.), *Foreign Policies in a Changing World*, p. 483.

इन डोमीनियनों के पद को एक विशेष मान्यता मिली थी, जिसे कांग्रेस ने नेहरू रिपोर्ट के अन्तर्गत सन् १९२८ में ध्येय रूप में स्वीकार किया, किन्तु चूंकि ब्रिटिश सरकार ने निश्चित अवधि में भारत की इस माग को न माना, अतएव कांग्रेस ने १९३० में पूर्ण स्वतन्त्रता का ध्येय अपनाया और उसके लिये संघर्ष किया। १५ अगस्त १९४७ को भारत व पाकिस्तान, दो डोमीनियनें बनी, परन्तु भारत ने डोमीनियन पद को अपना अन्तिम ध्येय न माना था। अस्तु, भारत के संविधान ने भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुसत्तापूर्ण प्रजातन्त्रात्मक गणतन्त्र में परिणित किया, फिर भी संविधान सभा ने गणतन्त्र बने रहते हुये ब्रिटिश कॉमनवेल्थ की सदस्यता जारी रखने का निर्णय किया। इसके बाद अप्रैल १९४९ को लन्दन में कॉमनवेल्थ के सदस्य राष्ट्रों के प्रधान मन्त्रियों का एक सम्मेलन हुआ, जिसने यह घोषणा की कि वे (भारत सहित) **राष्ट्रमण्डल के स्वतन्त्र और समान सदस्यों के रूप में मिलजुल कर रहेंगे और स्वतन्त्रतापूर्वक शान्ति, स्वतन्त्रता और प्रगति की प्राप्ति के लिये सहयोग करेंगे।** भारतीय गणतन्त्र को अन्य डोमीनियनों के साथ राष्ट्रमण्डल का सदस्य बनाया गया और राष्ट्रमण्डल से ब्रिटिश शब्द भी हटा दिया गया। भारत का यह निर्णय इस बात का प्रतीक है कि ब्रिटेन ने भारत की सत्ता का हस्तान्तरण मित्रतापूर्ण ढंग से किया, जिसके फलस्वरूप भारतीय नेताओं ने ब्रिटिश शासन के काले इतिहास पर परदा डाल दिया और दोनों देशों के बीच सद्भावना व पारस्परिक सहयोग के आधार पर एक नया अध्याय आरम्भ हुआ।

जिस समय भारत ने राष्ट्रमण्डल की सदस्यता के पक्ष में निर्णय किया था उस समय भी साम्यवादी नेताओं ने विशेषकर इस निर्णय का विरोध किया था। कुछ वर्षों तक वे ये कहते रहे कि राष्ट्रमण्डल की सदस्यता भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता पर एक धब्बा है तथा भारत पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों की ओर झुका हुआ है। किन्तु उसी समय से यह स्पष्ट हो गया था कि भारत सरकार ने प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न पर उसके दोनों पक्षों पर पूर्ण विचार करके अपनी नीति के सम्बन्ध में निर्णय किये और पग उठाये। भारत ने एक भी बात में राष्ट्रमण्डल के अन्य देशों का अपने सिद्धान्तों के प्रतिकूल समर्थन न किया और कई अवसरों पर तो उनका विरोध अथवा उनसे मतभेद प्रकट किया। इन तथ्यों की पृष्ठ-भूमि में *हमें भारत की राष्ट्रमण्डल की सदस्यता के पक्ष और विपक्ष में विचार करना है।* प्रथम, हमें विपक्षियों के तर्कों की विवेचना करनी उचित होगी। उनके दो तर्क मुख्य है—*(१) यह भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता पर एक प्रतिच्छाया है* और *(२) भारत का पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों से किसी भी रूप में सम्बन्ध रखना उचित नहीं है।* भारत सरकार की गत वर्षों की विदेश नीति इन दोनों ही तर्कों के विरुद्ध एक स्वयं-सिद्ध प्रमाण है। राजा (रानी) राष्ट्रमण्डल का अध्यक्ष अवश्य है, किन्तु उसका भारत के संविधान व शासन में कोई स्थान व कृत्य नहीं है जबकि डोमीनियनें अवश्य ही उसे अपने राज्यों का प्रमुख स्वीकार करती है। भारत की

वैदेशिक नीति की विस्तृत विवेचना करने पर केवल एक ही निष्कर्ष निकलेगा, वह यह कि भारत ने पश्चिमी देशों का कभी अनुचित रूप से पक्ष नहीं लिया, वरन् यह स्वीकार किया गया है कि भारत सोवियत संघ और चीन की ओर काफी झुका है। वास्तव में, भारत एक स्वतन्त्र, शान्तिप्रिय तथा गुटबन्दी से तटस्थ रहने की नीति का अनुसरण कर रहा है।

अब प्रश्न उठता है कि भारत राष्ट्रमण्डल का सदस्य क्यों है ? इसके उत्तर में हमें कई बातों पर विचार करना है। भारत ने इसे अपने हित तथा उन आदर्शों की रक्षा की पूर्ति में सहायक माना है, जो कि भारत को प्रिय हैं। उसी समय जवाहरलाल नेहरू ने कहा था 'अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ ऐसी हैं कि भारत अकेला नहीं खड़ा रह सकता, उसे कुछ देशों से अवश्य ही विशेष सम्बन्ध स्थापित करना होगा।' उन्होंने राष्ट्रमण्डल में सम्बन्ध बनाये रखने में विशेष लाभ यह देखा कि यही एक ऐसा संगठन है जिसकी सदस्यता के साथ हमारी स्वतन्त्रता पर कोई प्रतिबन्ध नहीं आता। भारत अन्य देशों से निकट सम्पर्क चाहता है, किन्तु किसी भार या बन्धन से नहीं बंधना चाहता। इस मत का समर्थन उन्होंने अनेक भाषणों में किया। यह सम्बन्ध सैनिक गठबन्धनों से निःसीम रूप से अच्छा है, क्योंकि उनके द्वारा एक देश कुछ दूसरे देशों की शत्रुता मोल लेता है। यह दूसरे देशों से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापन के मार्ग में भी कोई रुकावट नहीं डालता।*

वे आदर्श, जिनकी रक्षा भारत करना चाहता है प्रजातन्त्र, व्यक्ति की स्वतन्त्रता, न्यायपालिका की निष्पक्षता व स्वतन्त्रता, विधि का शासन आदि हैं। भारत ने प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली को सोच-समझकर अपनाया है, क्योंकि इसके द्वारा इन आदर्शों की पूर्ति हो सकेगी। भारत समानता, विशेष रूप से आर्थिक समानता को प्राप्त करना चाहता है, इसलिये उसने समाजवादी व्यवस्था को भी अपनाया है, किन्तु भारत समाजवाद की स्थापना प्रजातन्त्रात्मक ढंग से ही करना चाहता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन आदर्शों के पालन में भारत को राष्ट्रमण्डल के देशों से ही सहयोग और प्रोत्साहन मिल सकता है। राष्ट्रमण्डल की सदस्यता भारत के हित साधन में भी लाभदायक सिद्ध हुई है जैसा कि इन बातों से प्रकट होगा—भारतीय नागरिकों के लिये राष्ट्रमण्डलीय देशों में राष्ट्रमण्डल की नागरिकता के अधिकार पूर्ववत् जारी रहे। उन्हें वहाँ पर विदेशी नहीं माना जाता।

---

4 "We are in the Commonwealth, because it is good for us and good for the causes which we wish to support and because it does not come in our way at all in the policy we pursue and it is helpful.. There is no restrictive factor in the Commonwealth association, and one can go one's way. It is far better of course, it is infinitely better than a military alliance which is inevitably a challenge to some other country and comes in the way of one country's friendship with others." (29th March, 1956.)

यह सच है कि आस्ट्रेलिया में भारतीयों को स्थायी रूप से वसने का अधिकार नहीं तथा दक्षिणी अफ्रीका में भारतीय उद्‌गम के निवासियों के साथ अत्यन्त ही घृणित व्यवहार किया जा रहा है और सीलोन में भी भारतीयो को पूर्णरूप से समान नागरिकता के अधिकार प्राप्त नही हुये है। किन्तु भारत ने इन मामलो को राष्ट्रमण्डल के सम्मेलनों में उठाना उचित नही समझा है, क्योंकि यदि राष्ट्रमण्डल का आपसी मतभेदों के निपटाने का अधिकार मान लिया तो यह एक ऊपर से लादा हुआ (super-imposed) न्यायालय वन जायेगा। इसी कारण भारत ने पाकिस्तान की इस माँग पर राष्ट्रमण्डलीय सम्मेलनो मे विचार किये जाने का सदैव ही विरोध किया है। ऐसे विवादो के लिये सयुक्त राष्ट्र सघ का सहारा लिया जा सकता है। भारत को आर्थिक लाभ भी है। भारत का लगभग आधा विदेशी व्यापार राष्ट्रमण्डल के देशों के साथ रहा है और यह पूर्ववत् जारी रह सका है। सन् १९६१ में ब्रिटेन ने भारत को २०२ करोड रु० का माल भेजा और भारत ने ब्रिटेन को १९३ करोड़ रु० की कीमत का। भारत को 'कोलम्बो प्लान' के अन्तर्गत अपनी योजनायें पूर्ण करने में काफी आर्थिक सहायता मिली है और मिलने की आशा है। ब्रिटेन से **तकनीकी सहयोग योजना** (Technical Co-operation Scheme) के अन्तर्गत भारतीयो को तकनीकी प्रशिक्षण पाने में बड़ी सहायता मिल रही है। इसके अलिरिक्त भारतीय सेनाओ को आधुनिक शस्त्रों, यन्त्रो, हवाई व लडाकू जहाजों की काफी आवश्यता है, जिनमे से अधिकाश सामान हमे ब्रिटेन से लेना है, क्योंकि हमारी सेनाओं का पहले से ही सगठन, शस्त्रो का प्रयोग आदि एक विशेष ढग के रहे है। इस क्षेत्र मे हमारी अधिकाश आवश्यकताओं की पूर्ति ब्रिटेन ही कर सकता है, साथ ही हम दूसरे देशो से भी अन्य आवश्यक सामान मगा सकते है।

वास्तव मे, राष्ट्रमण्डल की सदस्यता मे, जैसा कि न्यूजीलैंड के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री ने कहा था, 'स्वतन्त्रता के साथ कुछ और जुड़ा हुआ है।' भारत और सीलोन जैसे देशों को स्वतन्त्रता पहले चाहिए थी सो प्राप्त हो गई है, किन्तु हमें यदि उसके साथ कुछ और लाभ मिल सके तो उनके लेने में हमारी क्या हानि है ? यह सच है कि भारत, सीलोन व पाकिस्तान आदि देशो के राष्ट्रमण्डल में आने से राष्ट्रमण्डल केवल श्वेत राष्ट्रों का ही समुदाय नही रह गया है। अब तो कई अफ्रीकी उपनिवेश भी स्वतन्त्र वन गये है और राष्ट्रमण्डल मे सम्मिलित हो गये है। फलत: राष्ट्रमण्डल मे एशियावासियों के साथ अफ्रीकावासी भी सम्मिलित हो गये हैं। राष्ट्रमण्डलीय देशों की जनसंख्या पर ध्यान देने से तो यह स्पष्ट है कि अब भी उसमे अ-श्वेत जनसख्या का वाहुल्य है। जव ब्रिटेन ने इजिप्ट पर आक्रमण किया तो भारत में यह माग जोरों से उठी कि भारत राष्ट्रमण्डल की सदस्यता त्याग दे, किन्तु भारत सरकार ने ऐसा करना उचित नही समझा। वास्तव मे, राष्ट्रमण्डलीय देशो के पारस्परिक परामर्श का जो तन्त्र है उसमें कोई दोष न था। सच तो यह है कि

ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री ने उस समय अन्य देशों से परामर्श नहीं किया। ब्रिटिश सरकार के दुस्साहस और गलत पग का फल ब्रिटेन को भोगना पड़ा।

भूतपूर्व भारत-मन्त्री एल० एस० एमरी ने राष्ट्रमण्डल के विषय में कहा था कि राष्ट्रमण्डल का महत्वपूर्ण कार्य शान्ति, स्वतन्त्रता और न्याय के लिए प्रयत्न करना है। उससे अधिक महत्वपूर्ण कोई अन्य कार्य आज हो नहीं सकता। राष्ट्रों का कोई दूसरा समूह इस कार्य को करने के लिये अधिक उपयुक्त नहीं है। अपने विश्वव्यापी स्वरूप और घनिष्ठ बन्धनों के द्वारा, जो उसे एक बनाये हुए हैं, राष्ट्रों के बीच मतभेदों को दूर करने तथा उनमें विश्वास पैदा करने के लिये अनोखी है।[5] अन्त में, जवाहरलाल नेहरू के मतानुसार राष्ट्रमण्डल एक अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्था है। यदि यह अपने कार्यों को आगे जारी न रख सकी और किसी प्रकार क्षीण हो गई तो यह बड़े दुख की बात होगी।[6]

भारत और यूरोपीय साझे का बाजार (India and the E. C. M.)—मार्च १९५७ में पश्चिमी यूरोप के कई देशों—बेल्जियम, फ्रांस, इटली, लक्जेमबर्ग और नीदरलैंड्स—ने साझे का बाजार कायम करने के लिये एक संधि पर हस्ताक्षर किये। वह संधि कानून रूप में प्रथम जनवरी १९५८ से लागू हुई और सम्बन्धित राज्यों ने एक दूसरे के माल पर आयात-निर्यात कर में कमी की तथा व्यापार को अधिक सुगम बनाने की दिशा में पग उठाये। कुछ समय से ब्रिटेन भी इस बाजार में सम्मिलित होने के प्रयत्न कर रहा है और इस प्रश्न पर ब्रिटेन तथा अन्य सम्बन्धित राज्यों के प्रतिनिधियों में वार्ता जारी है। जब से राष्ट्रमण्डल के सदस्य राज्यों को पता लगा है कि ब्रिटेन साझे के बाजार में प्रवेश करना चाहता है, तभी से उनके जिम्मेदार नेताओं ने यह मत प्रकट किया है कि ब्रिटेन द्वारा ऐसा निर्णय करने से राष्ट्रमण्डल के अस्तित्व को खतरा पहुंच सकता है। केनाडा, भारत, आस्ट्रेलिया आदि सभी राज्य यह अनुभव करते हैं कि ब्रिटेन के यूरोपीय साझे के बाजार में मिल जाने पर राष्ट्रमण्डल को बनाये रखने वाले जो व्यापारिक सम्बन्ध

---

5 "Its role is to work for peace, freedom and justice No task is today more important. No group of nations is more naturally fitted to discharge it, Through its worldwide character and the intimate ties which unite it, the Commonwealth is in a unique position to help bridge the differences between nations and build up confidence among them."

Duncan Sandays Secretary of State for Commonwealth Relations and for the Colonies, *speaking* on the Commonwealth in a BBC broadcast on September 10, 1962.

6 "It is a remarkable institution, this Commonwealth. It would be a great pity if it did not continue to perform the functions it has fulfilled and were weakened in some ways"

Jawaharlal Nehru, addressing an India League Meeting in London on Sept. 12, 1962.

है उनका आधार समाप्त हो जायेगा। यह निश्चित है कि साझे के बाजार में ब्रिटेन के सम्मिलित हो जाने से राष्ट्रमण्डल के सदस्य-राज्यों के व्यापार पर बुरा प्रभाव पड़ेगा, क्योंकि वे साझे के बाजार में सम्मिलित राज्यों द्वारा उत्पन्न की गई वस्तुओं की प्रतिस्पर्धा में न ठहर सकेंगे। ब्रिटेन इस समय राष्ट्रमण्डलीय राज्यों के बीच पारस्परिक व्यापारिक समझौते (Commonwealth preferential system) में बधा है। ब्रिटेन के साझे के बाजार में सम्मिलित होने पर यह समझौता कायम न रह सकेगा। इन राज्यों के दृष्टिकोण को सामने रखकर ब्रिटेन यह प्रयत्न कर रहा है कि साझे का बाजार राष्ट्रमण्डल के सदस्य राज्यों को कुछ विशेष सुविधायें दे दे।

३. भारत और संयुक्त-राष्ट्र संघ

भारत संयुक्त राष्ट्र संघ का उसके प्रारम्भ से ही सदस्य है। संयुक्त राष्ट्र संघ के जो उद्देश्य है भारत केवल उनका सिद्धान्त रूप में ही समर्थन नहीं करता वरन् उन्हें क्रियात्मक रूप दे रहा है और चाहता है कि अन्य देश भी ऐसा ही करें। यह सभी स्वीकार करते है कि स० रा० संघ एक दोष रहित अन्तर्राष्ट्रीय संगठन नहीं है। हम यह भी समझते है कि इसमें संयुक्त राज्य अमरीका और उसके साथी देशों का बहुमत है, जो अन्तर्राष्ट्रीय विवादों पर निष्पक्षता के साथ विचार नहीं करते। विशेष रूप से कश्मीर के सम्बन्ध में सुरक्षा परिषद् द्वारा पाकिस्तान को आक्रान्ता (aggressor) घोषित न करना और पूर्ववत् स्थिति (status quo) के सम्बन्ध में प्रस्ताव पास करना भारत विरोधी नीति के प्रतीक है। फिर भी हमें इस विषय में यह मानकर आगे विचार करना चाहिए कि स० रा० संघ जैसा भी है कुछ न होने से अच्छा ही है। जहाँ तक हो सके भारत व अन्य देशों को उसे अधिक अच्छा और उपयोगी बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। २४ अक्टूबर १९५६ को स० रा० संघ दिवस के अवसर पर उसके प्रधान ने एक संदेश में कहा था: 'इसमें कोई संदेह नहीं है कि संघ का जन्म अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना के लिए हुआ है, जो सर्वोपरि अभीष्ट है, क्योंकि अणुबम के युग में युद्ध का अर्थ स्वयं सभ्यता का सर्वनाश हो सकता है।' यदि भारत कोई सन्देश दे सकता है तो वह शांति का ही हो सकता है और भारत उसके योग्य सिद्ध होगा इसकी हमें पूर्ण आशा है। स० रा० संघ में संसार के हित में बड़े-बड़े कार्य होने की सम्भावनायें छिपी है। यह शांति स्थापना और मानव प्रगति का साधन सिद्ध होगा, ऐसी आशा करनी चाहिए। अतएव भारत ने इस संगठन को आरम्भ से ही पूर्ण सहयोग देने की नीति अपनाई है, क्योंकि भारत को उसके उद्देश्यों और सिद्धान्तों में विश्वास है।

यहाँ पर हम भारत और स० रा० संघ के पारस्परिक सम्बन्धों की संक्षिप्त विवेचना करना उपयुक्त समझते है। सर्वप्रथम, भारत ने कश्मीर के प्रश्न को सुरक्षा परिषद् के सामने पेश किया था। भारत ने ऐसा निर्णय उस समय किया था जब

कि भारत इस प्रश्न का अन्तिम हल सैनिक बल के प्रयोग द्वारा कुछ ही दिनो में सुगमतापूर्वक कर सकने की स्थिति में था। वास्तव मे, भारत सरकार की कश्मीर सम्बन्धी नीति की आलोचना अपने देश वालो द्वारा इस आधार पर की जाती है कि सरकार ने उस समय बडी भूल की, कश्मीर का प्रश्न तो तभी पूर्ण सन्तोषमय ढंग से भारत के पक्ष में निर्णित हो जाता। यह इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि भारत ने शान्तिप्रिय सिद्धान्तो को क्रियात्मक रूप प्रदान किया और बडे दुःख की बात है कि आज उसी विषय पर सुरक्षा परिषद् ने एक ऐसा रुख अपनाया है जिसे भारत विरोधी कहा जायेगा।

दक्षिणी अफ्रीका में भारतीय उद्गम के निवासियों तथा अन्य अश्वेतों के प्रति दुर्व्यवहार और विभेद की नीति के प्रश्न को भारत ने हर वर्ष स० रा० सं० की जनरल एसेम्बली में उठाया। दक्षिणी अफ्रीका की सरकार ने बार-बार उस प्रश्न के ऊपर विचार किये जाने का इस आधार पर विरोध किया कि उसका सम्बन्ध सरकार की घरेलू नीति से है, अतएव वह विषय स० रा० संघ के अधिकार-क्षेत्र से बाहर है। परन्तु यह स्पष्ट है कि यह प्रश्न समान मानव अधिकारो का है, जिनकी घोषणा स० रा० संघ ने की है। इसी कारण प्रतिवर्ष स० रा० स० की जनरल एसेम्बली इस प्रश्न पर विचार करती है। प्रारम्भ मे उसने दक्षिण अफ्रीका, भारत व पाकिस्तान की सरकारो के बीच गोलमेज सम्मेलन द्वारा इस प्रश्न को हल कराने का सुझाव दिया, परन्तु दक्षिणी अफ्रीका ने उसे कार्यान्वित न किया और पाकिस्तान सरकार अपने भारत विरोधी रुख के कारण चुप रही है। बाद में जनरल एसेम्बली ने वहा की समस्या पर रिपोर्ट देने के लिये एक कमीशन नियुक्त किया था, उसे भी दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने कोई सहयोग नही दिया। अतएव इस प्रश्न का कोई हल अभी नही निकला है, परन्तु भारत विश्व का मत इस समस्या पर आकर्षित करने मे सफल हुआ है और उसे अनेक श्वेत बहुजनसंख्या वाले देशों का भी समर्थन जातीय विभेद की नीति के विरुद्ध मिला है। अपनी नीति के ऊपर अड़े रहने के कारण दक्षिण अफ्रीका को राष्ट्रमण्डल की सदस्यता त्यागनी पडी है।

भारत के एक प्रतिनिधि को सुरक्षा परिषद् की सदस्यता प्राप्त हो चुकी है। भारत के महत्व और सद्प्रयत्नो को ध्यान मे रखकर कई देशो के प्रतिनिधियों ने यह सुझाव दिया है कि भारत को सुरक्षा परिषद् में स्थायी प्रतिनिधित्व दिया जाये, किन्तु भारत ने इसकी कभी इच्छा नही की है। भारत को ख्याति प्राप्त महिला श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित को एक वर्षों स० रा० संघ की प्रधाना रहने का सौभाग्य मिला। यह वास्तव में भारत के लिये एक गर्व की बात थी। भारत के अन्य नेता सं० रा० संघ के कई संगठनों के प्रधान अथवा उच्च अधिकारी रहे है। इस प्रकार भारत स० रा० संघ की जनरल एसेम्बली और अन्य संगठनों मे बड़ा महत्वपूर्ण और सराहनीय योग दे रहा है। भारत ने संरक्षण समिति (*Trusteeship Committee*) में सदैव ही पराधीन जातियो का पक्ष लिया है और उन्हें

शीघ्र ही स्वशासन के अधिकार मिलें—इस बात का प्रयत्न किया है। भारत ने लीबिया, अल्जीरिया, मारक्को और अन्य अफ्रीकी राष्ट्रों को स्वतन्त्रता दिये जाने का समर्थन किया है।

भारत ने कोरिया में युद्ध-बन्दी हो जाने पर कैदियों की अदला-बदली कराने के लिये नियुक्त आयोग का सभापति बनकर और अपनी चिकित्सा सहायता टुकड़िया भेजकर सराहनीय कार्य किया। भारत ने स० रा० सघ द्वारा आयोजित उन सैनिक टुकड़ियों के सगठन में सहयोग प्रदान किया जिन्हें इजिप्ट और इजराइल की सीमा पर गाजा में रखा गया और जिन्होंने इजिप्ट से विदेशी सेनाओं के हटाने में महत्वपूर्ण भाग लिया। कांगो के स्वतन्त्र हो जाने के बाद वहां कटगा व कुछ अन्य प्रान्तों ने केन्द्रीय सरकार से पृथक होने का प्रयत्न किया। वहा पर बेल्जियम तथा अन्य यूरोपीय देशों के अनेक सैनिक अधिकारियों ने कटगा की सेना में भरती होकर केन्द्रीय सरकार के विरुद्ध युद्ध सचालन किया। अन्य दृष्टियों से भी कांगो की आन्तरिक स्थिति बड़ी ही अशान्त और डावाडोल थी। ऐसी परिस्थितियों में स० रा० सघ की सुरक्षा परिषद् ने कांगो में शान्ति बनाये रखने तथा विदेशी सैनिक अधिकारियों को कटगा से निकलवाने का निर्णय किया और उसे कार्यान्वित करने के लिये कई राज्यों से सैनिक सहायता मांगी। इस कार्य में भारत ने अत्यन्त सराहनीय योग दिया और उसकी कई सैनिक टुकड़िया कांगो में स रा० सघ के अधीन कार्य करती रही। भारत के कुछ सैनिक अधिकारी पश्चिमी इरियान में भी भेजे गये।

भारत ने आर्थिक और सामाजिक परिषद् (Economic and Social Council) के सदस्य रूप में संयुक्त राष्ट्र सघ की आर्थिक और सामाजिक गतिविधियों में विशेष दिलचस्पी ली है। अन्य अविकसित देशों के साथ भारत ने इस बात पर बल दिया है कि राजनीतिक स्वतन्त्रता अर्थ-हीन होगी यदि उसके साथ आर्थिक मुक्ति न आई। भारत उन प्रथम देशों में से है जिन्होंने यह सुझाव दिया कि धनी देशों को कम से कम अपनी आय का एक प्रतिशत निर्धन देशों को आर्थिक सहायता देने के लिये अलग रख देना चाहिए। भारत ने सं० रा० सघ द्वारा आयोजित व्यापार और विकास सम्मेलन (U. N. Conference on Trade and Development) में अति सक्रिय दिलचस्पी ली है, जिसने इस बात पर ध्यान केन्द्रित कराया है कि अल्प-विकसित देशों को विश्व व्यापार में अधिक लाभकारी भाग मिलना चाहिए। अल्प विकसित क्षेत्रों के विकास में विज्ञान और प्रौद्योगिकी (Science and technology) को लागू करने के बारे में हुए संयुक्त राष्ट्रीय सम्मेलन ने विश्व के कुछ श्रेष्ठ वैज्ञानिकों को इस बारे में खोज करने का अवसर प्रदान किया कि उनके प्राकृतिक साधनों का किस प्रकार अधिक से अधिक अच्छा उपयोग किया जाये। भारत के लिए यह गर्व की बात है कि एक भारतीय को इस सम्मेलन का सभापति बनाया गया। १० नवम्बर १९६१ को प्रधानमंत्री नेहरू ने जनरल एसेम्बली में भाषण देते हुए कहा था।

हम एक संघर्षों के एक संसार में रहते हैं फिर भी संसार जीवित है, निःसंदेह राष्ट्रों और व्यक्तियों के बीच सहयोग के कारण।···आज भी उन देशों के बीच जो कि राजनीतिक तथा अन्य क्षेत्रों में एक दूसरे के विरोधी हैं, काफी बड़ी मात्रा में सहयोग है। इस सहयोग के बारे में जो कि निरन्तर जारी है, बहुत कम ज्ञान है अथवा उसके बारे में बहुत कम चर्चा है और संघर्ष की प्रत्येक बात के बारे में बहुत कुछ कहा जाता है, अतः संसार इस विचार से पूर्ण है कि संघर्ष जारी हैं और हम विनाश के कगारे पर खड़े हैं। कदाचित् यह अधिक सच्चा चित्र होगा यदि आज विश्व के सहयोग करने वाले तत्वों को आगे रखा जाये और हमें यह सोचने दिया जाये कि विश्व सहयोग पर निर्भर करता है न कि संघर्ष पर।[7]

जवाहरलाल नेहरू का यह सुझाव था कि यह एक अच्छा विचार होगा कि सं० रा० संघ इस पहलू पर बल देने के लिये एक वर्ष विशेष रूप से लगाये, जिससे कि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहन मिले और तनाव कम हो। यह बड़े सन्तोष की बात है कि सं० रा० संघ ने इस सुझाव को स्वीकार किया और १९६५ को **अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग वर्ष** (International Cooperation Year) के रूप में मनाया, जो कि सं० रा० संघ की स्थापना का २० वां वर्ष था।

४ भारत-पाक सम्बन्ध

यद्यपि देश का विभाजन दोनों प्रमुख दलों की सहमति से हुआ, फिर भी विभाजन के समय से ही दोनों देशों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध सुधारने के बजाय बिगड़े ही रहे। दोनों देशों के बीच विभाजन सम्बन्धी अनेक समस्याएं आईं, जिनमें से अधिकतर समस्याओं के सन्तोषप्रद हल निकल आये, किन्तु कई प्रश्नों पर विवाद उठे। उनमें से भी कुछ विवादग्रस्त प्रश्न सुलझ गये हैं, फिर भी दोनों देशों के बीच सम्बन्धों में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ है। पाकिस्तानी नेताओं के अनुसार जब तक कश्मीर सम्बन्धी विवाद का सन्तोषजनक हल नहीं निकलता तब तक भारत-पाक सम्बन्ध कटुतापूर्ण ही बने रहेंगे। **'परिवर्तनशील विश्व में वैदेशिक नीतियां'** नामक ग्रन्थ में पाकिस्तान की वैदेशिक नीति के लेखक मि० इश्तियाक हुसैन कुरैशी ने लिखा है :

पाकिस्तान को भारत से सबसे बड़ा खतरा है। यह एक बड़ा पड़ौसी है, जिसकी पाकिस्तान के साथ लम्बी सीमायें हैं। इसका रुख पाक के प्रति शत्रुतापूर्ण है। इसके नेताओं और जनता के बड़े वर्ग ने अभी तक पाकिस्तान की रचना और उसके अस्तित्व को हृदय से स्वीकार नहीं किया है।' राष्ट्रपति अय्यूब खां ने भी 'स्वामी नहीं, मित्र' नामक पुस्तक में व्यक्त किया है कि उनकी समस्याओं का प्रमुख कारण यह है कि भारत ने

7 See *Indian and Foreign Review*, Nov. 1, 1966.

पाकिस्तान के स्वतन्त्र और प्रभुसत्तापूर्ण राज्य को हृदय से स्वीकार नही किया है। 'आरम्भ से ही, भारत हमारे लिये कठिनाइयां पैदा करने पर तुला हुआ था। ...इस सब के पीछे भारत की यह आकांक्षा रही है कि वह पाकिस्तान को हज्म करले या उसे पिछलग्गू बनाले।[3]

उपरोक्त से स्पष्ट है कि पाकिस्तान की वैदेशिक नीति पर भारत के भय का प्रधान प्रभाव रहा है। हमारे विचार मे यह बात सर्वथा निराधार है। पाकिस्तानियो का ऐसा विश्वास उनके पुराने मनोभावों तथा **'हिन्दू और भारत से घृणा'** वाले आन्दोलन से जन्मा है। **कीथ कैलई** नाम के विदेशी लेखक का कथन है कि भारत के प्रति पाकिस्तान के भाव अधिकाशत विभाजन से पूर्व के राजनीतिक सघर्ष को ही जारी रखने वाले है। सच तो यह है कि भारत ने १९४९ से बार-बार पाकिस्तान के साथ युद्ध न करने के समझौते के प्रस्ताव को दोहराया है। जवाहरलाल नहरू ने १९५६ मे ऐसा समझौता करने की अपील की और नवम्बर १९६२ मे ऐसा प्रस्ताव फिर से पाकिस्तान के सामने रखा, परन्तु पाकिस्तान उसके लिए कभी तैयार न हुआ। जवाहरलाल नेहरू की मृत्यु के बाद लाल बहादुर शास्त्री ने १५ अगस्त १९६४ को ऐसा प्रस्ताव दोहराते हुए कहा: 'हम दोनों देशो के बीच मित्रता चाहते है। सीमा पर होने वाली घटनायें न तो पाकिस्तान के लिए अच्छी है और न भारत के लिए ही। यह बात भी हमारे लिए कोई श्रेय की नही है कि हम जनता का एक देश छोडकर दूसरे देश मे जाकर बसना न रोक सके। अतः हम अपने सम्मान से सगत कोई भी मार्ग ढूंढ निकालना चाहते है।

इसके अतिरिक्त यह बात भी उल्लेखनीय है कि भारत सरकार ने पाकिस्तान के साथ उठे प्राय. सभीविवाद ग्रस्त प्रश्नो को शान्तिपूर्ण ढग से हल किया है और उनके निराकरण में पाकिस्तान के प्रति यथाशक्ति अपनी उदारता का ही परिचय दिया है। भारत के विभाजन से पूर्व मि० जिन्नाह ने **अल्प-संख्यकों** के हितो की रक्षा का पूर्ण आश्वासन दिया था। विभाजन होते ही पश्चिमी पाकिस्तान मे लाखो हिन्दुओ को भारत आना पड़ा और भारत मे भी लाखो मुसलमानों को पाकिस्तान जाना पडा तथा दोनो ही देशों मे काफी बडी सख्या मे अल्पसख्यको का मारा गया, उनकी स्त्रियों के साथ अमानुषिक व्यवहार किया गया और उनकी सम्पत्ति पर अनुचित अधिकार किया गया। अल्पसख्यको के प्रति पाकिस्तान सरकार की नीति जैसी कि मि० जिन्नाह के अनुसार होनी चाहिये थी वैसी भी न रही। बाद मे पूर्वी पाकिस्तान मे अल्पसख्यको के साथ जो अन्यायपूर्ण व्यवहार हुआ, उसके फलस्वरूप फिर लाखो शरणार्थी भारत में आये। अप्रैल १९५० मे इस सम्बन्ध में नेहरू-लियाक़त समझौता हुआ किन्तु पाकिस्तान सरकार ने उसका कभी भी सच्चाई से पालन नही किया। वास्तव में, बात यह है कि पाकिस्तानी नेताओं ने पुरानी मुस्लिम लीगी द्वि-राष्ट्र वाली नीति को नही त्यागा है, इसी कारण

3 *op. cit, p. 459.*

पाकिस्तान में हिन्दुओं को पूर्ण रूप से अन्य नागरिकों के सम पद प्राप्त नहीं है। पाकिस्तान को एक इस्लामी गणतन्त्र घोषित किया गया है; उसका राष्ट्रपति केवल मुसलमान ही हो सकता है; (बहुत समय से पाकिस्तान के केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में किसी भी अल्पसंख्यक वर्ग के प्रतिनिधि को स्थान नहीं मिला है) और उसके संविधान में ऐसे कई प्राविधान हैं जो इस्लाम धर्म को विशेष पद व महत्व देते हैं। इसी कारण अधिकतर धर्मावलम्बी पाकिस्तान की नीति से अपने को पूर्णतया सुरक्षित नहीं समझते। इसी के परिणाम-स्वरूप भारत में भी साम्प्रदायिकता बनी हुई है। परन्तु यहां यह उल्लेखनीय है कि भारत ने धर्म-निरपेक्ष राज्य के आदर्श को स्वीकार किया है और उसका यथाशक्ति पालन भी कर रहा है। साथ ही भारत में मुसलमानों की संख्या काफी बड़ी है, अतः कोई भी सरकार व राजनीतिक दल उनके प्रति अनुचित व्यवहार की नीति पर सफलतापूर्वक नहीं चल सकता। परन्तु जब तक पाकिस्तानी नेता व सरकार अल्पसंख्यकों के प्रति वर्तमान नीति पर चलेंगे तब तक भारत में उसकी प्रतिक्रिया होती रहेगी और भारत सरकार के साम्प्रदायिकता का अन्त करने सम्बन्धी प्रयत्न पूर्णतः सफल न हो सकेंगे।

विस्थापितों की सम्पत्ति के विषय में पाकिस्तान सरकार ने जिस नीति का पालन किया वह पूर्णतः न्यायपूर्ण न थी, फिर भी वह प्रश्न अब हल हो चुका है। दोनों देशों के बीच कई वर्ष तक सीमाओं पर अवैध अधिकार व गोली चलने की घटनायें होती रहीं। इस प्रकार के विवाद-ग्रस्त प्रश्नों का सन् १९६० में सन्तोषजनक हल निकला और दोनों देशों के बीच समझौते के आधार पर सीमाओं का निर्धारण हुआ। कुछ क्षेत्रों की अदला-बदली भी हुई। फिर भी अप्रैल-मई १९६५ में कच्छ (गुजरात) प्रदेश में पाकिस्तान की सैनिक टुकड़ियों ने भारत की १-२ चौकियों पर शक्ति प्रयोग द्वारा अधिकार किया, जिसके फलस्वरूप दोनों देशों की सेनाओं में मुठभेड़ हुई और कुछ दिन तक लड़ाई चली। जून में ब्रिटिश प्रधानमंत्री के प्रयत्नों के परिणाम-स्वरूप दोनों सरकारों के बीच एक समझौता हो गया, जो प्रथम जुलाई १९६५ से लागू हुआ। उसकी शर्तें निम्नलिखित रहीं :

(१) पाकिस्तान ने जिन क्षेत्रों पर आक्रमण द्वारा अधिकार किया था, पाकिस्तान की सेना उन क्षेत्रों से पूर्णतया हटे; (२) जैसा कि भारत ने मांग की थी, आक्रामक कार्यवाहियों से पूर्व की स्थिति पर लौटा जाये; और (३) समझौते में विहित प्रक्रिया (पंच-निर्णय) द्वारा विवादग्रस्त सीमा प्रश्न को सुलझाया जाये।

नहरी पानी विवाद का आधार यह था कि पंजाब में नहरों की योजना विभाजन के पूर्व एक इकाई के रूप में बड़ी कुशलतापूर्वक संचालित हो रही थी, किन्तु विभाजन के परिणामस्वरूप नहरों की योजना व सम्बन्धित नदियों का बटवारा इस प्रकार से हुआ कि नहरें पाकिस्तान के भाग में आयीं और उनके जल-स्रोत भारत की सीमा में रहे। विभाजन समिति की रिपोर्ट में इस समस्या के विषय में

केवल यह उल्लेख था कि दोनों प्रदेशों को जितना पानी मिल रहा था उसमें कोई परिवर्तन का प्रश्न नहीं उठता, परन्तु उसमें दोनो प्रदेशों के भाग मे आनेवाले पानी के अधिकृत भाग को पारिभाषित न किया गया। भारत सरकार देश में सिंचाई योजनाओं को विस्तृत करने के इरादे से नहरी पानी का अधिक भाग प्रयोग करना चाहती थी; अतः उसने इस उद्देश्य से परियोजनाओं पर कार्य आरम्भ कराया। परन्तु उनकी पूर्ति के परिणामस्वरूप पाकिस्तान को कम पानी उपलब्ध होता, इस कारण से दोनों देशो के बीच विवाद उठा। परन्तु बड़े सन्तोष की बात है कि विश्व बैंक की मध्यस्थता के फलस्वरूप सितम्बर १९६० में इस प्रश्न पर भी दोनों देशों के बीच एक समझौता हो गया, जिसके अनुसार तीन नदियां पाकिस्तान के अधिकार मे आयी और पूर्वी तीन नदियो पर भारत का अधिकार स्वीकार किया गया। पाकिस्तान द्वारा नई नहरों के निर्माण हेतु एक अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सघ ने एक बहुत बडी धन राशि वित्तीय व्यवस्था की जाने के लिए अपनी सहमति प्रदान की है। पजाब में नहरी पानी के बटवारे से सम्बन्धित विवाद तो इस प्रकार हल हो गया है, परन्तु पश्चिमी बगाल मे गगा के पानी का अधिक अच्छा प्रयोग करने के लिए भारत सरकार की परियोजना से पूर्वी पाकिस्तान की परियोजनाओं पर बुरा प्रभाव पड सकता है।

भारत और पाक सम्बन्धो के बिगडे रहने का सबसे महत्वपूर्ण कारण पाकिस्तानियो के अनुसार कश्मीर समस्या के बारे मे भारत सरकार का बदला हुआ रुख है। अतः यहा जम्मू-कश्मीर के प्रश्न पर भारत और पाकिस्तान के बीच विवाद की अति सक्षिप्त रूप-रेखा देना आवश्यक प्रतीत होता है। यह एक सुविदित तथ्य है कि पाकिस्तान सरकार ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के कुछ ही समय बाद रियासत के शासक पर पाकिस्तान में सम्मिलित होने के लिये जोर दिया। जब रियासत (हिन्दू) शासक ने पाकिस्तान सरकार की बात न मानी तो कबायली लोगों के द्वारा पाकिस्तानी सरकार ने रियासत पर चढाई की। आक्रमण करने वाले कबायली लोगो की सख्या बहुत बडी थी, अतः रियासत की सेना उनका मुकाबला न कर सकी। कुछ ही दिनो में आक्रमणकारियों ने रियासत के बड़े प्रदेश को रौंद डाला और रियासत की राजधानी श्रीनगर की सुरक्षा के लिये गम्भीर खतरा पैदा हो गया। ऐसी परिस्थितियो में रियासत के शासक ने भारत सरकार से रियासत के भारतीय सघ में अविलम्ब प्रवेश को स्वीकार करने तथा आक्रमणकारियों के विरुद्ध सैनिक सहायता देने की अपील की। रियासत के सर्वप्रमुख राजनीतिक सगठन—नेशनल कान्फ्रेंस (National Conference), जो कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र के लिये किये गये सघर्ष मे सम्बन्धित रही थी और जिसके सर्वमान्य व लोकप्रिय नेता शेख अब्दुल्ला ने भी भारत सरकार से शासक के समान ही अपील की। २६ अक्तूबर १९४७ को भारत ने जम्मू-कश्मीर रियासत के भारतीय सघ में प्रवेश-पत्र को स्वीकार किया

और शासक को परामर्श दिया कि वह रियासत में लोकप्रिय सरकार स्थापित करे। भारत सरकार ने तुरन्त ही वायु-यान द्वारा अपनी सैनिक टुकड़ियाँ रियासत में भेजी, जिन्होंने न केवल श्रीनगर को ही बचाया, वरन् आक्रमणकारियों को शीघ्र ही पीछे हटाने का महत्वपूर्ण कार्य किया।

भारत के प्रधानमंत्री ने २२ दिसम्बर १९४७ को भेजे गये अपने पत्र में पाकिस्तान के प्रधानमंत्री से प्रार्थना की कि पाकिस्तान आक्रमणकारियों को सहायता देकर संघर्ष को लम्बा न बनाये। पाकिस्तान सरकार ने अपने उत्तर में सहायता देने के आरोप का खण्डन किया। परन्तु वह खण्डन तथ्यों के विपरीत था, क्योंकि निःसंदेह आक्रमणकारियों को पाकिस्तान ने शस्त्र और अन्य सामान दिया था तथा पाकिस्तानी सेना के नियमित सदस्य भी उनमें सम्मिलित थे। यहा यह बात भी उल्लेखनीय है कि उस समय पाकिस्तान ने ऐसा कोई तर्क नहीं रखा कि कश्मीर में भारत को कोई अधिकार न था, अथवा पाकिस्तान का जम्मू-कश्मीर रियासत मे कोई अधिकार था। पाकिस्तान को पता था कि कश्मीर में उसके सैनिकों की उपस्थिति अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध था और उसके द्वारा कश्मीर पर किया गया सशस्त्र आक्रमण अवैध था। जबकि कश्मीर में युद्ध जारी था, भारत सरकार ने ३० दिसम्बर १९४७ को संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव से कश्मीर पर पाकिस्तानी आक्रमण के विरुद्ध शिकायत की और सुरक्षा परिषद् ने शिकायत की जाच करने के लिये एक आयोग नियुक्त किया।

१३ अगस्त १९४८ को आयोग ने एक प्रस्ताव अंगीकृत किया जिसमें तीन भाग थे। प्रथम भाग का सम्बन्ध युद्धबन्दी लागू करने से था और इस कार्य को करने का पूर्ण उत्तरदायित्व दोनों देशो की सेनाओं के उच्च कमानो पर छोड़ा गया था। दूसरे भाग में संधि के समझौते की शर्तें दी गई थी, जिनके आरम्भ में ही कहा गया था कि कश्मीर में पाकिस्तानी सैनिक दस्तो की उपस्थिति ने उस समय की स्थिति में सारपूर्ण परिवर्तन ला दिया है जबकि उसे पाकिस्तान सरकार ने सुरक्षा परिषद् के सामने प्रस्तुत किया था। तदनुसार उस प्रस्ताव में व्यवस्था की गई कि :

> (१) कश्मीर से सभी पाकिस्तानी सैनिक दस्तों—कबाइलियों और अन्य राष्ट्रीकों को वापस बुलाया जाये; और (२) इस प्रकार से खाली किये गये भू-भाग पर आयोग की देख-रेख के अधीन स्थानीय प्राधिकारियों का प्रशासन स्थापित किया जाये। तीसरे भाग में कहा गया कि भारत और पाकिस्तान द्वारा संधि समझौते को स्वीकार किये जाने के उपरान्त 'दोनों देश' जनता की इच्छा की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति के लिये दशायें निर्धारित करने के हेतु आयोग से मंत्रणा आरम्भ करेंगे।

भारत सरकार ने उक्त प्रस्ताव को २० अगस्त को अग्रलिखित आरक्षणों के साथ, जिन्हें कि आयोग ने भी स्वीकार किया, स्वीकार कर लिया—(१) जम्मू-

कश्मीर रियासत के आक्रमणकारियों से खाली हुये प्रदेश पर रियासत की सरकार की प्रभुसत्ता के विषय में कोई प्रश्न न उठाया जायेगा; (२) आजाद कश्मीर प्राधिकारियो को कोई मान्यता न प्रदान की जायेगी; (३) कश्मीर से भारतीय सेना की वापसी के आरम्भ होने का समय, किन मजिलों में वापसी की जायेगी और रियासत में कितनी भारतीय सेना रहेगी, इन बातो का निर्णय केवल भारत और आयोग करेंगे; और (४) रियासत में जनमत कराये जाने में प्रस्ताव का भाग ३ पाकिस्तान द्वारा भाग लेने के किसी भी अधिकार को मान्यता न देगा। ११ दिसम्बर १९४८ को आयोग ने जनमत के लिये प्रस्तावों का मसौदा तैयार किया। उनमें मुख्य बात यह थी कि संयुक्त राष्ट्र सघ का महासचिव एक जनमत प्रशासक को नामित करेगा, जिसकी औपचारिक रूप में पद पर नियुक्ति जम्मू-कश्मीर रियासत की सरकार करेगी। भारत सरकार ने इन प्रस्तावो को आयोग से प्राप्त हुये निम्नलिखित अनेक आश्वासनों के आधार पर स्वीकार किया :

> (१) जनमत के बारे में भारत से उसके किसी भी उत्तरदायित्व को पूरा करने की तब तक कोई आशा न की जायेगी जब तक कि पाकिस्तान द्वारा अगस्त प्रस्ताव के भाग २ को पूरा करने की पर्याप्त साक्ष्य न मिल जाये; (२) जब तक १३ अगस्त वाले प्रस्ताव के भाग १ और २ को पूर्ण रूप से कार्यान्वित न किया जाये तब तक आयोग जनमत प्रशासक से जनमत सम्बन्धी कोई प्रशासन कार्य कराने की बात न सोचेगा; (३) इस बात को दृष्टि में रखते हुये कि इस समय आजाद-कश्मीर सेना मे ३२ बटालियन है और वे पाकिस्तानी कमान के अधीन है, उन सैनिक दस्तों को भग किया जायेगा और उनसे शस्त्र ले लिये जायेंगे, (४) कोई भी ऐसी राजनीतिक गतिविधि, जिससे कानून और व्यवस्था भग हो, अवैध समझी जायेगी; इस आश्वासन के बारे मे यह भी स्पष्ट किया गया था कि धार्मिक कट्टरता पर आधारित कोई अपील नही की जायेगी, और (५) यदि जनमत प्राधिकारी जनमत कराने को अव्यावहारिक पाये तो कश्मीर की जनता की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति को सुनिश्चित करने के लिये अन्य विधियों के बारे मे सोचने के लिये मार्ग खुल जायेगा।

भारत और पाकिस्तान द्वारा उपरोक्त प्रस्तावो को स्वीकार कर लिये जाने के साथ १ जनवरी १९४९ से युद्ध-बन्दी समझौता लागू हुआ। २७ जुलाई को **युद्ध-बन्दी रेखा के बारे में अन्तिम समझौता हो गया।** तभी से संयुक्त राष्ट्र सघ द्वारा नियुक्त सैनिक पर्यवेक्षको का समूह युद्ध-बन्दी रेखा की चौकीदारी कर रहा है, जिससे कि उसे भंग न किया जा सके। कुछ समय पश्चात् सुरक्षा परिषद् ने आस्ट्रेलिया के एक न्यायविद, **सर ओवेन डिक्सन,** से कश्मीर से सेनाये हटाये जाने के कार्य को पूरा करने की प्रार्थना की और समस्या के हल हेतु अपने सुझाव देने

को भी कहा। डिक्सन ने अपनी रिपोर्ट मे कहा—'जब २० अक्तूबर १९४७ को शत्रुओ ने जम्मू-कश्मीर सीमा को पार किया (अर्थात् कवायली रियासत की सीमा में घुसे) तो उनका यह कार्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध था और जब मई १९४८ में पाकिस्तानी सेना की सशस्त्र टुकड़ियाँ रियासत की सीमा में प्रविष्ट हुईं तो उनका वह कार्य भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून से असगत था।' एक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त न्यायविद के इस कथन से यह बात निकली कि सवैधानिक दृष्टि से कश्मीर भारत का अग था और उसे आक्रमण का शिकार बनाया गया था।

अप्रैल १९५१ में सुरक्षा परिषद् ने सयुक्त राज्य अमरीका के डा० ग्राहम को नये मध्यस्थ के रूप में नियुक्त किया। उसने एक ही निरन्तर प्रक्रिया द्वारा ३ माह में कश्मीर मे विसैन्यीकरण कराने का प्रयत्न किया, परन्तु यह कार्य २ वर्ष में भी पूर्ण न हो पाया। १९५१ और १९५३ के बीच मे उसने सुरक्षा परिषद् के समक्ष कई रिपोर्टें प्रस्तुत की जिनमे से अन्तिम में उसने दोनो देशो के बीच प्रत्यक्ष वार्ता कराये जाने की सिफारिश की। ३१ अक्तूबर १९५१ को कश्मीर की सविधान-सभा आहूत की गई, जिसने कश्मीर के भारत के साथ सवैधानिक पद को और अधिक स्पष्ट किया। २४ जुलाई १९५२ के दिल्ली समझौते ने डोगरा शासन की समाप्ति पर स्वीकृति प्रदान की और कश्मीर के विशेष पद को बनाये रखा। उस समझौते के निर्माता शेख अब्दुल्ला ने घोषित किया 'यह कोई कागजी समझौता नही है, वरन् हृदयो का एक्य है, जिसे ससार की कोई शक्ति क्षीण नही कर सकती।' परन्तु कुछ ही समय बाद परिषद् ने अपने आन्दोलन को जोर के साथ पुनर्जीवित किया। ऐसा कहा जाता है कि उस समय शेख अब्दुल्ला, बाह्य प्रभाव के अन्तर्गत, कश्मीर के लिये स्वतन्त्र पद की ओर को झुका और उसने दिल्ली समझौते को पूर्णतया कार्यान्वित करने मे देरी की। ९ अगस्त १९५३ को शेख अब्दुल्ला को बन्दी बनाया गया और उसके स्थान पर बख्शी गुलाम मोहम्मद राज्य के नये प्रधानमत्री बने। मई १९५४ मे भारतीय सविधान के कई अन्य प्राविधानो को कश्मीर मे लागू किया गया। राज्य के सविधान मे, जिसे २६ जनवरी १९५७ को लागू किया गया, यह घोषित किया गया है—'जम्मू-कश्मीर राज्य भरतीय सघ का अभिन्न अंग है और रहेगा।' युद्ध-बन्दी रेखा के दूसरी ओर इन्ही वर्षो मे पाकिस्तान ने अपनी स्थिति को और सुदृढ बनाया है और गिलगित आदि पर उसका प्रत्यक्ष शासन है तथा शेष अधिकृत प्रदेश पर आजाद कश्मीर प्रशासन उसके नियन्त्रण अधीन है।

अगस्त १९५३ मे दोनो देशो की सरकारो के बीच दीर्घकालीन वार्ता के बाद एक विज्ञप्ति जारी की गई, जिसमे कहा गया कि कश्मीर विवाद को न्यायपूर्ण और निष्पक्ष जनमत द्वारा निर्णित कराया जायेगा और अप्रैल १९५४ तक इस प्रयोजन हेतु जनमत प्रशासक नियुक्त किया जायेगा। परन्तु इसी बीच में पाकिस्तान ने सयुक्त राज्य अमरीका के साथ सैनिक सहायता के लिये समझौते की वार्ता

चलाई; भारत के प्रधानमंत्री ने ऐसी सूचना पाते ही पाकिस्तान सरकार को चेतावनी दी कि ऐसा किये जाने पर 'सम्पूर्ण सन्दर्भ' बदल जायेगा और अमरीका से सैनिक सहायता मिलने की दशा में भारत अगस्त १९५३ में जारी की गई संयुक्त विज्ञप्ति को कार्यान्वित करने के लिये बंधा न रहेगा। मई १९५४ में पाकिस्तान ने संयुक्त राज्य अमरीका से 'पारस्परिक प्रतिरक्षा सहायता समझौता' किया और भारत के प्रधानमंत्री ने संयुक्त विज्ञप्ति को मानने से इन्कार कर दिया। हाल के वर्षों में कश्मीर समस्या इस कारण से और भी अधिक पेचीदा हो गई है कि चीन भी उसमें प्रत्यक्ष रूप में अन्तर्ग्रस्त हो गया है। भारत-चीन के आपसी मतभेदों के कारण पाकिस्तान और चीन में मैत्री बढ़ी। सन् १९६२ में चीन ने भारत की उत्तरी सीमा पर आक्रमण किया। ऐसी स्थिति में पाश्चात्य देशों, विशेषरूप से संयुक्त राज्य अमरीका ने भारत को बड़े पैमाने पर सैनिक सहायता दी, जिसका पाकिस्तान ने विरोध किया। २ मार्च १९६३ को पाकिस्तान ने चीन के साथ सीमा निर्धारण के बारे में एक समझौता किया, जिसके अन्तर्गत पाकिस्तान ने कश्मीर राज्य के विवादग्रस्त उत्तरी प्रदेश में से लगभग २०५० वर्ग-मील का क्षेत्र चीन को सौंप दिया। इस समझौते के परिणामस्वरूप भारत व पाकिस्तान के बीच मैत्री-स्तर पर चल रही वार्ता निष्फल हो गई।

अप्रैल-मई १९६५ में जैसा कि आरम्भ में बताया गया है, कच्छ क्षेत्र में पाकिस्तान ने बल प्रयोग द्वारा भारतीय चौकियों पर अधिकार स्थापित किया, जिसके फलस्वरूप दोनों देशों की सेनाओं में मुठभेड़ हुई और छोटे पैमाने पर युद्ध चला। जून मास में उस सैनिक संघर्ष का अन्त हुआ और जुलाई के अन्त में पाकिस्तानी घुसपैठियों ने बड़ी संख्या में कश्मीर राज्य में छुपकर प्रवेश किया। १५ अगस्त १९६५ को भारत के प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री ने अपने भाषण में कहा कि पाकिस्तान ने कश्मीर पर आक्रमण किया है और उसके लिये पाकिस्तान ही उत्तरदायी होगा। पाकिस्तान ने घुसपैठियों द्वारा राज्य में विद्रोह कराने की योजना बनाई थी, जो भारत की सतर्कता के कारण विफल रही। भारतीय सेना ने शीघ्र ही आवश्यक सैनिक कार्यवाही की। प्रथम सितम्बर को पाकिस्तान के राष्ट्रपति ने घोषित किया कि पाकिस्तान को कश्मीर में युद्ध का खतरा पैदा हो गया है। उसके बाद दोनों देशों के बीच कश्मीर के प्रश्न पर दूसरी बार युद्ध हुआ, जिसमें पाकिस्तान को पराजय का मुँह देखना पड़ा। सुरक्षा परिषद् के प्रयत्नों के फलस्वरूप सितम्बर के अन्तिम सप्ताह में युद्ध बन्द हुआ। कुछ समय पश्चात् सोवियत संघ के प्रधानमंत्री के निमन्त्रण पर ताशकन्द में भारत के प्रधानमंत्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति के बीच वार्ता हुई और १० जनवरी १९६० को की गई ताशकन्द घोषणा पर दोनों नेताओं ने हस्ताक्षर किये। उसमें कहा गया कि दोनों पक्ष अपनी-अपनी सेनाओं को ५ अगस्त १९६५ के दिन की स्थिति पर वापिस बुलायेंगे, वे युद्ध-बन्दी का पालन करेंगे और एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में कोई हस्तक्षेप न करेंगे।

भारत पर अनुचित दवाव डालने के प्रयोजन से पहले सयुक्त राज्य अमरीका तथा पाश्चात्य राज्यों से सैनिक समझौते किये और अब पाकिस्तान सरकार भारत के विरुद्ध चीन से मैत्री बढा रही है। फलतः कश्मीर विवाद सुलझने के बजाय उलझता जा रहा है। अक्तूबर १९६८ में शेख अब्दुल्ला के सभापतित्व में जम्मू-कश्मीर के नेताओ का एक सम्मेलन (Kashmir Convention) हुआ, जिसका उद्घाटन श्री जय प्रकाश नारायण ने किया।

सर्वोदय नेता श्री जय प्रकाश नारायण ने अपने उद्घाटन भाषण में स्पष्ट शब्दों मे कहा कि कश्मीर प्रश्न का हल केवल भारत के सविधान की सरचना के अन्तर्गत ही निकाला जा सकता है। कुछ समय बाद इस प्रश्न पर विचार करने के लिये दूसरा सम्मेलन बुलाया जायेगा। परन्तु अब तक तो यह सभी को स्पष्ट हो जाना चाहिये कि भारत जनमत (plebiscite) या स्व-भाग्य निर्धारण (self-determination) सम्बन्धी कोई भी प्रस्ताव स्वीकार न करेगा। कोई ऐसा प्रस्ताव भी भारत सरकार व जनता को स्वीकार्य न होगा जिसका उद्देश्य सयुक्त राष्ट्र सघ द्वारा प्रतिरक्षा के लिये प्रतिभूति के साथ राज्य को स्वतन्त्रा का पद दिये जाने से हो।



अध्याय २१

वैदेशिक नीति—२

१. भारत-चीन सम्बन्ध

भारत और चीन के सम्बन्ध प्राचीन काल से चले आ रहे है। दोनों देशों के बीच मैत्रीपूर्ण सांस्कृतिक सम्बन्ध रहे और भारत से ही चीन मे बौद्ध धर्म गया। जब १९३७ में जापान ने चीन पर आक्रमण किया था, भारतीय नेताओं, विशेषकर जवाहरलाल नेहरू ने चीन के प्रति पूर्ण सहानुभूति दिखाई। आगे जब सन् १९४९ में साम्यवादियों ने चीन पर अपना अधिकार जमा लिया और जनवादी गणतन्त्र की स्थापना की तो भारत ने नये चीन को शीघ्र ही मान्यता प्रदान की। भारत ने कई वर्ष तक संयुक्त राष्ट्र संघ में यह प्रयत्न किया कि अन्तर्राष्ट्रीय संघ मे साम्यवादी चीन का प्रवेश हो और राष्ट्रवादी चीन के स्थान पर सुरक्षा परिषद् की सदस्यता मिले। अन्तर्राष्ट्रीय और आन्तरिक क्षेत्रो में दोनों देशों के उद्देश्यों मे बहुत कुछ समानता रही, यद्यपि उनकी प्रगति के लिये साधन अलग-अलग अपनाये गये।

जब सन् १९५० के अन्त मे चीनी सेनाओं ने तिब्बत को स्वतन्त्र किया (Liberation of Tibet) अर्थात् वहाँ पर साम्यवादी चीन की सत्ता को बल द्वारा स्थापित किया तब भी भारत सरकार ने तिब्बत पर चीन की प्रभुता (suzerainty) को तो चुनौती नहीं दी, परन्तु यह अवश्य कहा कि तिब्बत का प्रश्न शान्तिपूर्ण वार्ता द्वारा हल होना चाहिये। फिर भी चीन ने तिब्बत पर आधिपत्य जमा लिया और भारत सरकार ने तिब्बत मे ब्रिटिश सरकार से प्राप्त अपने अधिकारों को भी त्याग दिया। सन् १९५४ में तिब्बत के सम्बन्ध में भारत और चीन के बीच एक समझौता हुआ जिसकी प्रस्तावना में पंचशील के सिद्धान्त दिये गये हैं। भारत और चीन ने उन सिद्धान्तों के अनुसार आपसी सम्बन्ध बनाये रखने की घोषणा की। भारत और चीन के बीच अच्छे पड़ोसियों के सम्बन्ध बनाये रखने पर दोनों ओर से जोर दिया गया और भारत ने उस नीति को कार्यरूप में भी परिणित किया। सन् १९५६ से लेकर १९५९ तक तिब्बत के खम्पा लोगों ने चीनी आधिपत्य के विरुद्ध विद्रोह जारी रखा। फलतः चीनी सेना ने विद्रोहियों को दबाने के लिये

सैन्य बल का प्रयोग किया और हजारों तिब्बतवासियों तथा दलाई लामा ने भारत मे शरण ली। भारत सरकार ने उन्हें शरण और सहायता दी। अतः चीन सरकार ने भारत सरकार और भारतीयों के तिब्बत के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रुख का बुरा माना।

अगस्त सन् १९५९ में प्रधान मन्त्री ने लोक-सभा में बताया कि चीनी सेना ने लद्दाख के एक भाग पर अपना अधिकार कर लिया था। जब भारत सरकार ने चीन को विरोध-पत्र भेजा तो चीन की सरकार ने उत्तर दिया कि वह भाग चीन का है न कि भारत का। लद्दाख के अक्साई चिन क्षेत्र में चीन ने एक सड़क भी बना ली थी। उन्ही दिनो यह भी पता लगा कि चीनी सेना की टुकड़ियों ने नेफा (NEFA) प्रदेश में भी घुसने के प्रयत्न किये, परन्तु चीन सरकार ने उलटा यह आरोप लगाया कि तिब्बत-नेफा सीमा पर भारतीय सेना के दस्तो ने तिब्बतियों से मिलकर चीन की सीमा में किसी स्थान पर अधिकार किया। उस समय चीन सरकार ने कुछ नक्शे प्रकाशित किये जिनमें भारतीय सीमा में कई भागों को चीन की सीमा में दिखाया गया और चीन सरकार ने कहा कि भारत व चीन के बीच बहुत बड़े भाग में सीमा का ठीक से निर्धारण नही हुआ है। भारत सरकार का यह कहना है कि चीन व भारत के बीच की सीमा बहुत पुराने समय से निर्धारित है। मेकमहोन रेखा (Macmahon Line) एक ऐतिहासिक सीमा है। इस प्रकार चीन ने भारत के साथ सीमा-विवाद खड़ा किया और भारतीय सीमा का दो क्षेत्रों में अतिक्रमण किया। भारत सरकार ने चीन के विस्तारवादी इरादों को देखकर उत्तरी सीमा पर सुरक्षात्मक पग उठाये। साथ ही भारत सरकार ने भूटान और सिक्किम को उनकी प्रतिरक्षा का पहले की भांति फिर से विश्वास दिलाया।

दिसम्बर १९५९ में भारत सरकार ने भारत-चीन सीमा पर तनाव कम करने के उद्देश्य से कुछ प्रस्ताव चीन सरकार के सामने रक्खे, जिन्हें चीन ने स्वीकार नहीं किया। भारत इस बात पर बल देता रहा कि सीमा-विवाद को वार्ता (method of negotiations) द्वारा हल किया जाये, परन्तु वार्ता तभी सफल हो सकती थी जबकि चीन भारतीय सीमा से अपनी सैनिक टुकड़ियों को हटा लेता। दोनो सरकारो ने इस दिशा मे कुछ पग उठाए। एक निर्णय के अनुसार भारत और चीन की सरकारों ने सरकारी अधिकारियों की टीमें तथ्यों और ऐतिहासिक रेकार्डों के अध्ययन हेतु नियत की। इन टीमो ने अपनी-अपनी रिपोर्ट में अधिकांशतः अपने दावो का ही समर्थन किया। भारतीय दृष्टिकोण से चीन अपने दावो को न्यायोचित ठहराने में असफल रहा है। इस बीच मे एक पेचीदगी और उत्पन्न हो गई, चीन ने बर्मा व नेपाल से आपसी सीमा के सम्बन्ध में विवादग्रस्त प्रश्नो पर समझौते किये और पाकिस्तान से भी कहा कि गिलगिट प्रदेश मे (जो जम्मू-कश्मीर का भाग है और जिस प्रकार भारत सरकार की प्रभुता है, परन्तु जो

इस समय पाकिस्तान अधिकृत है) पाक-चीन सीमा को ठीक से निर्धारित कर लिया जाये। अतएव चीन और पाकिस्तान ने भारत विरोधी रुख होने के कारण आपस में मित्रता बढ़ाने के प्रयत्न किये। भारत सरकार ने यह स्पष्ट घोषणा की कि वह चीन और पाकिस्तान के बीच सीमा के सम्बन्ध मे हुये किसी भी समझौते को नही मानेगी। भारत सरकार ने यह भी बार-बार घोषणा की कि भारत चीन से युद्ध नही करना चाहता, किन्तु भारत सरकार भारतीय सीमा के भीतर किसी भी क्षेत्र में चीन के अधिकार को सहन न करेगी और आक्रमण को खाली करने और देश में किसी भी प्रकार की क्षति न होने के लिये सभी प्रयत्न जारी रखेगी। इस बीच में भारत सरकार ने उत्तरी सीमा पर प्रतिरक्षा को सुदृढ बनाने के लिये विशेष कार्यवाही की।

२० अक्तूबर १९६२ को चीनी सेनाओ ने लद्दाख व नेफा दोनों ही क्षेत्रो मे भारतीय प्रदेश पर बड़े पैमाने पर आक्रमण किया जिसका भारतीय सैनिकों ने बड़ी वीरता के साथ मुकाबला किया। सारे देश में चीनी आक्रमण के विरुद्ध आवाज उठी और सभी नेताओ व दलो ने सरकार को आक्रमणकारियों को अपनी सीमा से निकाल भगाने के लिये पूर्ण समर्थन व सहायता देने का निश्चय किया। साम्यवादी दल ने भी बहुमत से चीनी आक्रमण की निन्दा की। परन्तु चूँकि भारत सरकार को यह विश्वास न था कि चीन भारत पर आक्रमण करेगा और इस प्रकार पूर्व निश्चित योजना के द्वारा भारतीय क्षेत्रो पर अपना अधिकार जमायेगा, अतएव भारतीय सेना इतने बडे आक्रमण के लिये पूर्णतया तैयार न थी। सैनिक दृष्टि से भी उन ऊँचे पहाड़ी प्रदेशो मे भारतीय सेना को चीनी सेना के मुकाबले कहीं अधिक कठिनाइयो को सहन करना पड़ा। ऐसी परिस्थितियो में चीनी सेना नेफा मे आगे बढी और उसने काफी भारतीय क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। परन्तु शीघ्र ही भारतीय सेना को आवश्यक सामग्री और सहायक टुकडियाँ भेजी गई और भारतीय सेना ने चीनियो का डटकर मुकाबला किया। भारतीय सेना को कुछ स्थानों से पीछे भी हटना पड़ा।

जब कि चीनी सेना आगे बढ रही थी, २२ नवम्बर १९६२ को चीन सरकार ने युद्ध-बन्दी की इकतरफा घोषणा की, जिससे सभी को आश्चर्य हुआ। प्रथम दिसम्बर से चीनी सेना ने भारतीय क्षेत्र से पीछे हटना शुरू किया और २० अक्तूबर के बाद नेफा प्रदेश मे जिन क्षेत्रो पर चीनी सेना ने अधिकार कर लिया था, उनसे चीनी हट गये और लद्दाख क्षेत्र मे भी चीनी सेना कुछ पीछे हटी। चीनी आक्रमण से उत्पन्न हुई गम्भीर स्थिति पर विचार करने के लिये सीलोन के प्रधान मन्त्री द्वारा लिये गये पहल के परिणामस्वरूप बर्मा, कम्बोडिया, सीलोन, घाना, इण्डोनीशिया और संयुक्त अरब गणराज्य के प्रतिनिधियों का १० से १२ दिसम्बर तक कोलम्बो में सम्मेलन हुआ, जिसमें भारत-चीन संघर्ष पर विचार किया

गया १६ जनवरी 1963 को कोलम्बो प्रस्ताव प्रकाशित किये गये, जो निम्न प्रकार थे—

(१) पश्चिमी क्षेत्र (Western sector) में चीनी अपनी सैनिक चौकियों को २० किलोमीटर पीछे हटा लें और भारतीय सरकार अपनी सेना को वर्तमान स्थिति में रखे। (२) जब तक सीमा-विवाद का अन्तिम हल निकले चीनी सेनाओं द्वारा खाली किये गये प्रदेश में दोनों ओर की सहमति पर आधारित नागरिक चौकियाँ स्थापित की जायें। (३) पूर्वी क्षेत्र में दोनों सरकारों द्वारा मान्यता प्राप्त यथार्थ नियन्त्रण की रेखा युद्ध-बन्दी की रेखा के रूप में मानी जायेगी (४) मध्य क्षेत्र के विषय में वर्तमान स्थिति (status quo) कायम रहे।

भारत सरकार की माँग पर प्रस्तावों का स्पष्टीकरण किया गया, जिसके बाद भारत सरकार ने उन प्रस्तावों के आधार पर चीन सरकार से सीमा-विवाद हल करने के हेतु बातचीत करने के लिये अपनी स्वीकृति की घोषणा की, किन्तु चीन सरकार ने कोलम्बो प्रस्तावों को पारस्परिक वार्ता के लिये बिना शर्त आधार रूप में नहीं माना। अतएव अभी तक दोनों देशों के बीच कोई बातचीत प्रारम्भ नहीं हुई है। भारत के विरुद्ध चीन की आक्रामक कार्यवाही के बारे में विभिन्न मतों को अभिव्यक्त किया गया है, जिन्हें संक्षिप्त रूप में निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

प्रथम, पाश्चात्य समाचार-पत्रों में यह मत प्रकट किया गया कि सम्भवतः चीन का उद्देश्य दक्षिण-पूर्वी एशिया के चावल उत्पादन क्षेत्रों पर आधिपत्य जमाना तथा भारत के उत्तर-पूर्वी क्षेत्र में भारत की प्रतिरक्षा व्यवस्था को कमजोर बनाकर बर्मा पर अधिक दबाव डालकर दक्षिण की ओर उस मार्ग से बढ़ना हो, जहाँ कि चीनी सेनाओं को अमरीकी सेना का मुकाबला न करना पड़े। दूसरे, चीन ने लद्दाख में अपने तुरन्त हितों की पूर्ति को देखा हो, जो कि उस प्रदेश में दीर्घ काल तक उसकी स्थिति को बनाये रखने के लिये अति महत्वपूर्ण है। तीसरे, चीन की आक्रामक सैनिक कार्यवाही का उद्देश्य किसी प्रकार का भूमिगत लाभ उठाने की अपेक्षा अपनी प्रतिष्ठा को बढ़ाना अधिक था। चौथे, चीन ने यह कार्य भय में किया, चूंकि उस समय यह अफवाह थी कि संयुक्त राज्य अमरीका के उकसाने पर फॉर्मूसा से चियांग काई-शेक की सेनायें और दक्षिण-पश्चिम से भारत की सेनायें चीन में प्रवेश करेंगी। पाँचवे, चीन और भारत के बीच संघर्ष का मूल आधार एशिया में अपनी-अपनी सर्वोपरिता को बनाये रखना था। अन्त में, यह सोचने के लिये भी कारण थे कि चीन द्वारा भारत पर आक्रमण करने में पाकिस्तान का भी हाथ था।[1]

---

1 Varma, S. P., *Struggle for the Himalyas*, pp. 164–86.

मार्च १९६३ में पाकिस्तान और चीन के बीच पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर राज्य में दोनो देशो के बीच स्थित सीमा के विषय में एक समझौते पर हस्ताक्षर हुये। उसके अनुसार पाकिस्तान ने लगभग १३,००० वर्ग मील भूमि का क्षेत्र चीन को हस्तातरित कर दिया। भारत सरकार ने इस समझौते के प्रति अपना विरोध प्रकट किया और यह भी घोषित किया कि भारत सरकार उसे न मानेगी। कुछ समय पश्चात् चीन सरकार ने भारतीय युद्ध-बन्दियों को मुक्त कर दिया और वे स्वदेश लौटे। सीमा विवाद हल करने के लिये भारत और चीन के बीच अभी तक आपसी बातचीत प्रारम्भ भी नही हुई है। चीनी सरकार के हवाई जहाजो व सैनिकों ने कई बार भारतीय सीमा का अतिक्रमण किया है। भारत सरकार चीन सरकार को ऐसी घटनाओ के सम्बन्ध में विरोध-पत्र भेजती रही है। एक ओर भारत अपनी सैनिक शक्ति को सुदृढ़ करने में लगा है और दूसरी ओर चीनी सेनाओं का भारतीय सीमाओं पर जमाव जारी है। साथ ही चीन सरकार अफ्रीका व एशिया के देशों में भारत विरोधी प्रचार कर रही है। सितम्बर १९६५ में भारत और पाकिस्तान के बीच हुये युद्ध में चीन ने खुलकर पाकिस्तान का पक्ष लिया। ऐसी परिस्थितियों में भारत चीन सीमा विवाद हल होने की कोई सम्भावना नही दिखाई पडती।

२. भारत के अन्य एशियाई व अफ्रीकी देशों से सम्बन्ध

भारत के अन्य पडौसी देशो में मुख्य नेपाल, वर्मा, सीलोन तथा अफगानिस्तान हैं। भारत के अफगानिस्तान के साथ स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय से अब तक बड़े मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रहे है। दोनों देशों के बीच काफी व्यापार भी होता है। पाकिस्तान की पश्चिमी सीमा पर स्थित पख्तूनों की माँग है कि उन्हें पख्तूनिस्तान बनाने अथवा स्वभाग्य-निर्णय का अधिकार दे। भारत के नेताओ तथा सरकार ने उनकी माँग के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रुख अपनाया है। वर्मा सन् १९३७ तक भारत का ही अंग था। वर्मा मे बहुसंख्यक जनता बौद्ध है; अत. भारत और वर्मा के बीच सांस्कृतिक अथवा धार्मिक सम्बन्ध बड़े पुराने है। वर्मा मे बहुत से भारतीय व्यापार हेतु गये और वही पर बस गये। जिन भारतीयो ने वर्मा की नागरिकता नही अर्जित की वर्मा सरकार ने उन्हें भारत वापस आने को विवश किया और अनेक भारतीयों के व्यापार को भी सरकार ने राष्ट्रीयकरण की नीति के द्वारा अपने हाथ मे ले लिया। इस प्रकार भारतीयो मे वर्मा सरकार के प्रति कुछ नाराजगी फैली थी, किन्तु वह अस्थायी थी। वर्मा के सर्वेसर्वा जनरल ने-विन कई बार भारत आ चुके हैं और भू० पू० प्रधान मन्त्री लालबहादुर शास्त्री भी १९६५ मे वर्मा की यात्रा पर गये थे। अब दोनो देशो के बीच अच्छे और मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध है।

सीलोन भी काफी समय तक भारत की ब्रिटिश सरकार के अधीन रहा। वैसे भी दोनो देशों के बीच केवल एक अत्यन्त संकरा जलडमरूमध्य है। रामायण मे

अयोध्या के शासक राम और रावण का वर्णन आता है। सीलोन की बहुसंख्यक जाति भी बौद्ध धर्म की अनुयायी है, इस कारण भी दोनों देशों के बीच निकट सम्बन्ध है। फिर भी जब से सीलोन स्वतन्त्र हुआ है, वहाँ की सरकार ने सिंहाली भाषा को राजभाषा स्वीकार किया और उत्तरी सीलोन में बसे तमिल लोगों के प्रति कुछ भेदभाव की नीति अपनाई। सीलोन में ऐसे व्यक्तियों की काफी बड़ी सख्या है जिन्हें राज्य-विहीन नागरिक (stateless citizens) कहा जाता है, अर्थात् वे न तो भारत के ही नागरिक रहे है और न उन्हें सीलोन की नागरिकता ही मिल पाई है। इस प्रश्न के कारण दोनों देशों के बीच आपसी सम्बन्धों में कुछ खिचाव आ गया था, जो अब दूर हो गया है। सितम्बर १९६४ में सरदार स्वर्णसिंह भारत सरकार के मन्त्री होने के नाते सीलोन गये थे, जहाँ पारस्परिक हित के प्रश्नों पर वार्ता हुई। उसके कुछ ही दिन बाद सीलोन की प्रधानमन्त्री श्रीमती श्रीमाओ भंडारनायके भारत आई थी। दोनों देशो की सरकारों के बीच राज्य-विहीन नागरिको के प्रश्न पर समझौता हो गया। उनकी कुल सख्या का अनुमान ९·७५ लाख लगाया गया था, जिसमें से ५·२५ लाख व्यक्तियों को भारत सरकार ने भारत लौट आने की सहमति दी। ३ लाख व्यक्तियों को सीलोन सरकार ने नागरिकता के अधिकार प्रदान किये। इस समझौते का पालन क्रमिक रूप से किया जा रहा है। शेष १ ५ लाख व्यक्तियों के सम्बन्ध मे वार्ता होनी है।

सितम्बर १९६७ मे भारत की प्रधानमन्त्री श्रीमति इन्दिरा गांधी सीलोन की यात्रा पर गई। दोनो देशो के प्रधान मन्त्रियो ने दोनो सरकारो द्वारा १९६४ के भारत-सीलोन समझौते (Indo-Ceylonese Agreement) की शर्तों को कार्यरूप मे परिणत करने के हेतु लिये गये प्रारम्भिक पगो पर सन्तोष प्रकट किया। उस समझौते मे वर्णित १·५० लाख राज्य-विहीन व्यक्तियों के बारे में उन्होने निर्णय किया कि उस प्रश्न पर कोई भी निर्णय कुछ समय बाद अधिक सुविधापूर्वक लिया जा सकेगा जबकि दोनों देश समझौते के अन्य प्राविधानों को यथार्थ में कार्यान्वित कर चुकेंगे। दोनो प्रधान मन्त्रियो ने अन्य अनेक अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर विचार किया और सहमति प्रकट की। पश्चिमी एशिया मे स्थिति के बारे में उन्होने कहा कि उस समस्या का हल तभी हो सकता है जबकि सम्बन्धित देशो की सेनायें ४ जून १९६७ की स्थिति पर लौट जायें और आक्रमण द्वारा प्राप्त प्रदेश को बिना शर्त खाली कर दिया जाये। वियतनाम की समस्या का हल केवल शान्तिपूर्ण वार्ता द्वारा ही हो सकता है, जिसका आधार १९५४ का जेनेवा समझौता हो, ऐसा मत दोनो प्रधान मन्त्रियो ने व्यक्त किया। दोनों प्रधान मन्त्रियों ने शक्ति-गुटो से अलग रहने (non-alignment), शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व व सहयोग और सयुक्त राष्ट्र सघ के चार्टर में समाविष्ट सिद्धान्तो के प्रति अपने विश्वास को दोहराया; जाति-विभेद (racial discrimination) और उपनिवेशवाद का विरोध किया; पूर्ण और सार्वलौकिक निःशस्त्रीकरण के लक्ष्यों मे विश्वास प्रकट किया;

और यह आशा प्रकट की कि कोलम्बो प्रस्तावों और ताशकत घोषणा को सिद्धान्त तथा व्यवहार में कार्यान्वित किया जायेगा।

नेपाल, वास्तव में, भारत का निकटतम पडौसी है, जो उत्तर प्रदेश व बिहार के उत्तर मे हिमालय पर्वत पर स्थित है। यह एक छोटा-सा हिन्दू राज्य है, जिसके उत्तर मे चीन है। दोनो देशों के बीच धार्मिक, सास्कृतिक तथा व्यापारिक सम्बन्ध दीर्घकाल से चले आ रहे है। नेपाल के महाराजा और महारानी कई बार भारत यात्रा पर आ चुके है। प्रधान मन्त्री लालबहादुर शास्त्री भी नेपाल गये थे। बहुत से नेपाली विद्यार्थी भारतीय विश्वविद्यालयों, इजीनियरिंग तथा मेडिकल कालिजों में शिक्षा पाते रहे हैं। दोनों देशों के बीच सीमा-व्यापार बढ़ाने के हेतु व्यापारिक समझौता हुआ है। भारत सरकार ने बेतार व तार के सचार साधनों के विकास हेतु भी नेपाल को सहायता देने के लिये एक समझौता किया है। भारत सरकार नेपाल में नहर व सडक निर्माण कार्य के लिये भी सहायता दे रही है।

भारत के **जापान, मलयेशिया व थाइलेंड** से भी मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध है। भारत और पाक युद्ध के दौरान मलयेशिया के प्रतिनिधि ने सुरक्षा-परिषद् मे भारत के पक्ष का जोरदार समर्थन किया। इण्डोनीशिया की सरकार ने पाकिस्तान का साथ दिया था, परन्तु इण्डोनीशिया मे अब पुरानी सरकार नहीं रही है। जापान और भारत के बीच व्यापार बढ रहा है। भारत और मध्य एशिया के देशो—**ईरान, इराक, सीरिया, लेबानन** आदि देशों से भी मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध है। पाकिस्तान इन देशों को मिलाकर मुस्लिम राष्ट्रों के एक गुट का निर्माण करना चाहता है, परन्तु संयुक्त अरब गणराज्य, जो भारत की विदेश नीति का समर्थक है, पाकिस्तान की चालों को सफल नही होने देगा, ऐसा विश्वास किया जा सकता है। इन सभी देशों से भारत के पुराने व्यापारिक सम्बन्ध है। जब ब्रिटेन और फ्रास ने १६५६ में इजिप्ट में हस्तक्षेप किया तो जैसी कि आशा की जा सकती थी भारतीय नेताओं ने ब्रिटेन और फ्रांस के कार्य की निन्दा की।[2] ऐसे ही जब १६६७ में **संयुक्त अरब गणराज्य** और इजराइल के बीच लघु-युद्ध हुआ तब भी भारत सरकार ने अरब गणराज्य के पक्ष का समर्थन किया। वास्तव मे, भारत सरकार मुस्लिम देशों का पाकिस्तान के मुकाबले मे सहयोग पाने के लिये प्रयत्न करती रही है। इसी कारण उसने अभी तक इजराइल के साथ राजनयिक सम्बन्ध स्थापित नही किया है।

---

2 "India has sought to cultivate close relations with the Arab States of the Middle-East and especially with the United Arab Republic. In part this may be due to a desire to thwart any ambitions which Pakistan might entertain of leadership in the Muslim world. As would be expected the Indian leaders sharply denounced the British and French intervention in Egypt in the fall of 1956."

—Kahin, G. M (ed.), *Major Governments of Asia*, p. 399.

कश्मीर प्रश्न पर इन देशों ने पाकिस्तान का पक्ष लेने का प्रयत्न किया, किन्तु ये भी पाकिस्तान को अधिक सहायता न दे पाये।

भारत और अफ्रीका—अफ्रीकी राष्ट्रों में भारत की दिलचस्पी इतिहास, विचारधारा और सामान्य समस्याओं के योग से है। इस दिलचस्पी के ऐतिहासिक पहलू के दो पक्ष हैं—प्रथम, दक्षिण अफ्रीका (Union of South Africa) में महात्मा गांधी ने सत्याग्रह अथवा अहिंसक संघर्ष के सफल प्रयोग किये थे। दूसरे, भारतीयों और अफ्रीकियों, दोनों को ही यूरोपीयन उपनिवेशवादियों के दुर्व्यवहार से समान अनुभव हुये। दोनो ही जातियों का साम्राज्यवादियों ने सभी प्रकार से शोषण किया और दोनो विश्व-युद्धों में लाखों व्यक्तियों को अपने विदेशी शासकों के हितों की रक्षा के लिये सैनिक बनना पड़ा। गांधी जी और जवाहरलाल नेहरू के प्रेरणादायक नेतृत्व और विचारों का भारतीयों के साथ-साथ अफ्रीकी नेताओं पर भी काफी प्रभाव पड़ा। सामान्य ऐतिहासिक अनुभवों के परिणामस्वरूप भारत और हाल ही में स्वतन्त्र हुये अफ्रीकी देशों में सामान्य राजनीतिक और आर्थिक विचार फैले अर्थात् उनकी विचारधारा भी बहुत सीमा तक सामान्य रही। भारत और अफ्रीकी देशों की समस्यायें भी काफी सीमा तक सामान्य हैं—सभी देश अविकसित हैं और जनसाधारण का जीवन-स्तर अति नीचा है। अतः उनकी मुख्य समस्यायें अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता की रक्षा, देश के रहने वाले विभिन्न जातीय समूहों में एकता की भावना को सुदृढ करना और आर्थिक विकास आदि है।

ऊपर वर्णित कारणों से अधिकतर अफ्रीकी देशों और भारत का अनेक अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के बारे में सामान्य दृष्टिकोण रहा है। उसी के परिणाम-स्वरूप संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के बाद विश्व संगठन में **अफ्रीकी व एशियाई देशों के समूह** (Afro-Asian Group in the U. N.) का विकास हुआ। वास्तव में उसका जन्म ही बड़ी शक्तियों का ध्यान अपनी सामान्य समस्याओं पर आकर्षित करने के उद्देश्य से हुआ। भारत सरकार ने विशेष रूप से अपना सहयोग इस समूह को प्रदान किया, जिसने जातीय-विभेद (racial discrimination) की नीति तथा उपनिवेशवाद का अन्त करने के लिये महत्वपूर्ण प्रयत्न किये। अधिकतर अफ्रीकी देशों ने भी भारत द्वारा स्वीकृत शक्ति गुटों से अलग रहने की नीति को अपनाया है। घरेलू आर्थिक नीतियों के स्तर पर अफ्रीकी देशों तथा भारत ने इस बात की बड़ी आवश्यकता को अनुभव किया कि उन्हें अपने समाजों तथा अर्थ-व्यवस्थाओं को आधुनिक बनाना है। अतएव उनकी सरकारों ने तीव्र गति से आर्थिक विकास हेतु नियोजन पद्धति को अपनाया है।

दक्षिण अफ्रीका में प्रवासी भारतीयों की स्थिति पहले ही बुरी थी, किन्तु कुछ वर्षों से वह और भी बिगड़ गई है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, दक्षिणी अफ्रीका की सरकार ने अफ्रीकियों और भारतीयों (coloured peoples) को गोरे लोगों से सर्वथा अलग रखने (apartheid) की नीतियों का अनुसरण

किया है। इस समस्या को भारत ने बार-बार संयुक्त राष्ट्र संघ के मंच तथा उससे सम्बन्धित विभिन्न सगठनो मे उठाया है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने इस समस्या को हल करने की दिशा मे अनेक प्रयत्न किये हैं, किन्तु अभी तक वे सभी विफल रहे है। इसके अतिरिक्त कीन्या, यूगान्डा और पूर्वी अफ्रीका के अन्य देशों की सरकारो ने भारतीय उद्‌गम के निवासियो के प्रति विभेद की नीति को अपनाया है, जिसके परिणामस्वरूप काफी बड़ी सख्या मे प्रवासी भारतीयो को भारत लौटना पडा है।

दक्षिणी और पूर्वी अफ्रीका के बाहर अफ्रीका के अन्य देशो में घट रही घटनाओ मे भारत ने विभिन्न प्रकार से अपनी दिलचस्पी को अभिव्यक्त किया है। भारत सरकार के प्रतिनिधियो ने संयुक्त राष्ट्र सघ मे सरक्षित प्रदेशों (trust territories) तथा स्वशासनहीन क्षेत्रो के निवासियो के पद सम्बन्धी प्रश्नो मे विशेष दिलचस्पी ली है। भारत की सरकार तथा जनता ने अफ्रीकी महाद्वीप मे चल रहे स्वातन्त्र्य आन्दोलनो का जोरदार समर्थन किया है और उन्होने अनेक नये अफ्रीकी राज्यो के उदय का स्वागत किया है। हाल ही में स्वतन्त्रता प्राप्त करने वाले राष्ट्रो तथा अभी तक पराधीन राष्ट्रों का भारत अपने को एक प्रकार से रक्षक समझता है और कुछ अफ्रीकी राष्ट्रवादी नेता मार्ग-दर्शन व समर्थन के लिये भारत की ओर देखते है। अफ्रीका के कई देशो के साथ भारत ने वैज्ञानिक और आर्थिक सहयोग के लिये समझौते किये है, जिनके अन्तर्गत भारत उन्हे सभी प्रकार की प्रशिक्षण सुविधायें प्रदान करेगा, विशेषज्ञो की सेवायें देगा और संयुक्त औद्योगिक उद्यमों को स्थापित करेगा। इस दिशा में सबसे अधिक महत्वपूर्ण पग कम्पाला (युगान्डा) मे हुये एक समझौते के अन्तर्गत भारत सरकार ने चीनी के बड़े चार कारखाने खोलने के सम्बन्ध मे उठाया है।

३. प्रमुख यूरोपीयन और अमरीकी देशों के साथ सम्बन्ध

ब्रिटेन—स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत और ब्रिटेन के बीच सम्बन्धों मे महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। उसके परिणामस्वरूप एक दूसरे के प्रति सद्‌भावना और मित्रता के सम्बन्ध स्थापित हुये, जैसा कि इसी बात से स्पष्ट है कि भारत ने लार्ड मॉन्टबेटन को ही गवर्नर-जनरल बनाये रखा तथा स्वतन्त्र भारत की सरकार ने राष्ट्र-मण्डल (Commonwealth) का सदस्य बने रहने का निर्णय किया। वास्तव मे, ब्रिटिश जाति से भारत ने अपने पराधीनता काल मे अनेक बातें ली—अंग्रेजी भाषा व शिक्षा, अनेक राजनीतिक विचार और आदर्श, न्यायिक व प्रशासनिक पद्धतियाँ तथा ससदीय प्रजातन्त्र, आदि। इसके अतिरिक्त, भारत और ब्रिटेन के बीच अनेक आर्थिक और व्यापारिक बन्धन भी हैं; भारत स्टर्लिङ्ग क्षेत्र (sterling area) का सदस्य है और भारत की मुद्रा (currency) ब्रिटिश पौड से सम्बद्ध है। ब्रिटेन ने भारत के विकास मे काफी बड़ी मात्रा में आर्थिक सहायता भी दी है।

परन्तु १९५६ में स्वेज नहर के संकट के दौरान भारत सरकार ने ब्रिटिश व फ्रांसीसी कार्यवाही की खुलकर निन्दा और आलोचना की। साथ ही भारत की सरकार व जनता ने यह अनुभव किया कि कश्मीर प्रश्न पर ब्रिटिश सरकार का रुख पाकिस्तान के पक्ष में रहा। फलतः दोनों देशों के बीच सम्बन्धों मे कुछ खिचाव उत्पन्न हुआ। भारत सरकार ने गोआ में जो कार्यवाही की उसकी ब्रिटेन मे हुई प्रतिक्रिया को भी भारत ने पसन्द नही किया और १९६२ के राष्ट्र-मण्डल आप्रवासन कानून (Commonwealth Immigration Act) तथा ब्रिटेन द्वारा यूरोपीय आर्थिक समुदाय (European Economic Community) से सम्बन्ध स्थापित करने के हेतु लिये गये पगो को भी भारत सरकार ने पसन्द नही किया। इन तथा अन्य बातो ने भारत मे ब्रिटिश-विरोधी भावो को प्रोत्साहित किया, परन्तु उनके बावजूद भी दोनो देशो के बीच सुदृढ सम्बन्धों मे विशेष क्षीणता नही आई। भारत पर १९६२ में चीन के आक्रमण के बाद ब्रिटेन ने भारत को काफी बड़े पैमाने पर सैनिक सहायता दी और १९६५ में कच्छ पर भारत-पाकिस्तान लघु-युद्ध को बन्द कराने मे भी ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री ने महत्वपूर्ण भाग लिया। इस समय भारत और ब्रिटेन के बीच अच्छे मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध कायम है और किसी महत्वपूर्ण प्रश्न पर गहरा मतभेद नही है।

फ्रांस—भारत के पूर्वी तट पर पॉन्डीचेरी व कराईकल नगर और आसपास के क्षेत्र पर फ्रास का आधिपत्य था। भारत की स्वतन्त्रता के बाद फ्रांस की सरकार ने शीघ्र ही अपने अधीन बस्तियो व क्षेत्रो पर भारत की तथ्यतः प्रभुसत्ता (de facto sovereignty) को स्वीकार कर लिया और १ नवम्बर १९५४ से उनका प्रशासन भारत को हस्तातरित कर दिया गया। मई १९५६ मे इन बस्तियो को एक सन्धि द्वारा फ्रास की सरकार ने भारत को सौप दिया, जिसे कुछ समय बाद फ्रासीसी पार्लियामेंट ने सम्पुष्ट कर दिया। अत. दोनों देशो के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हुये और तब से किसी प्रश्न पर कोई गहरा मतभेद पैदा नही हुआ है। सन् १९६५ मे फ्रास के प्रधानमन्त्री भारत के दौरे पर आये। उसके बाद भारत के राष्ट्रपति भी फ्रांस गये। फ्रांस ने भारत के विकास मे भी आर्थिक सहायता दी है और दोनों देशों के बीच सहयोग बढा है।

युगोस्लेविया—भारत और युगोस्लेविया की नीति मे बहुत साम्यता है। यह बात बडी अभिरुचिपूर्ण है कि युगोस्लेविया ने अपनी वैदेशिक नीति के आधार-भूत सिद्धान्त वही अपनाये है जिन्हें भारत ने अगीकृत किया है। वे सिद्धान्त है—शक्ति गुटो से अलग रहना और सह-अस्तित्व तथा शान्ति के लिये प्रयत्न करना। दोनों ही देशो के लिये शक्ति गुटो से अलग रहने का सिद्धान्त एक सकारात्मक नीति (positive policy) का पालन करना है। राष्ट्रपति टीटो ने तीन बार भारत की यात्रा की और भारत के प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू व राष्ट्रपति कई बार युगोस्लेविया गये। भारत, युगोस्लेविया, सयुक्त अरब गणराज्य, इण्डोनीशिया

आदि के द्वारा आयोजित शक्ति गुटो से अलग रहने वाले राज्यो के अध्यक्षों का एक सम्मेलन (Conference of the Heads of States and Governments of the non-aligned Countries) सितम्बर १९६१ में बेलग्रेड में हुआ। उस सम्मेलन ने शक्ति गुटों से अलग रहने के आधारभूत सिद्धान्तों को फिर से वर्णित किया और अनेक प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के बारे में भाग लेने वाले राष्ट्रों के दृष्टिकोण को पारिभाषित किया। जब १९६५ में भारत और पाकिस्तान के बीच युद्ध आरम्भ हुआ तो युगोस्लेविया में शीघ्र ही उसकी प्रतिक्रिया हुई। उसके राष्ट्रपति ने समान दृष्टिकोण वाले अन्य राज्यो के साथ मिलकर इस बात में पहल किया कि वे इस बारे मे कोई सयुक्त पग प्रजातन्त्रात्मक आधार पर उठाये, जिससे कि भारत और पाकिस्तान के बीच हुये सघर्ष का शान्तिपूर्ण हल निकाला जा सके। युगोस्लेविया और भारत के बीच घनिष्ठ मित्रता का एक और कारण भी है। युगोस्लेविया एक साम्यवादी देश है, जिसने प्रजातन्त्रात्मक पद्धति और समाजवादी अर्थ-व्यवस्था को अपनाया है, जो अधिकाशतः भारत द्वारा अपनाये गये 'प्रजातन्त्रात्मक समाजवाद' के समान है। 'भारत और युगोस्लेविया' शीर्षक के अन्तर्गत एक पत्रिका ने लिखा है :

> जवाहरलाल नेहरू ने १९५९ मे कहा था—'राजनीति और विचारधारा की तथा अन्य प्रत्येक दृष्टि से हमारा युगोस्लेविया से घनिष्ठ सम्बन्ध है और यह बात महत्वपूर्ण है कि हमारा सहयोग जारी रहे तथा उसमे वृद्धि हो।' हाल ही में राष्ट्रपति टीटो ने कहा कि दोनो देशों के बीच 'विश्वास और सामजस्य की ऊँची मात्रा' है। दोनो देशो ने शान्ति और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व, शक्ति गुटो से अलग रहने, निःशस्त्रीकरण, और विकासशील देशों के द्रुतगामी आर्थिक विकास तथा जातीय रंगभेद, उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध सघर्ष के समर्थन हेतु निरन्तर कार्य किया है। इसी ध्येय को सामने रखकर दोनो देशो ने अन्तर्राष्ट्रीय मचो—राजनीतिक तथा आर्थिक—पर सहयोग किया है। भारत और युगोस्लेविया के बीच १९५५ में कुल व्यापार ४५ लाख रुपये का था, जो १९६५–६६ तक बढ़कर २७·५ करोड़ रुपये का हो गया। प्रथम व्यापार और अदायगी समझौता १९५८ मे हुआ था, जिसे बार-बार नया किया गया है। दोनो देशों के उद्यमी निरन्तर यह प्रयत्न करते रहे है कि सयुक्त उद्यमों में सहयोग के नये मार्ग खोजे जायें। हाल ही में औद्योगिक सहयोग पर नियुक्त की गई भारत-युगोस्लेविया समिति औद्योगिक सहयोग के लिये नई सम्भावनाओं की खोज में लगी है।[3]

सोवियत संघ—सन् १९४७ से दो महत्वपूर्ण तथ्यो ने भारत और सोवियत सघ के बीच सम्बन्धों को प्रभावित किया है। प्रथम, सोवियत संघ भारत का एक

---

3 *Indian and Foreign Review, Nov. 1, 1965.*

पडौसी देश है जिसकी सामाजिक और राजनीति पद्धति भारत से भिन्न है। दूसरा, भारत ने शक्ति गुटो से अलग रहने और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति को अपनाया है। सन् १९४७ में नई दिल्ली मे हुये प्रथम एशियाई देशों के सम्मेलन में सोवियत सघ के एशियाई गणतन्त्रों को भाग लेने के लिये आमन्त्रित किया गया था और उनके प्रतिनिधियों ने सम्मेलन में भाग लिया। तब से अब तक भारत और सोवियत सघ के सर्वोच्च नेता कई बार एक दूसरे के देश मे दौरे पर आये व गये हैं। भारत सरकार ने अनेक सांस्कृतिक तथा सद्भावना प्रतिनिधि मण्डल सोवियत सघ की यात्रा पर भेजे हैं और अनेक सोवियत प्रतिनिधि-मण्डलो को आमन्त्रित किया है। दोनो देशो के बीच कई अदला-बदली के समझौते (Barter Agreements), उदाहरण के लिये सन् १९४९ में सोवियत सघ द्वारा भारत को गेहूं देने और भारत द्वारा पटसन व चाय भेजने का समझौता तथा कई व्यापार समझौतो पर हस्ताक्षर हुये है। भारत ने सोवियत सघ से आर्थिक एव तकनीकी सहायता भी स्वीकार की है। यद्यपि उसकी मात्रा सयुक्त राज्य अमरीका से प्राप्त सहायता की तुलना में बहुत कम है। भारत-सोवियत व्यापार से सम्बन्धित १९५८ में प्रकाशित आंकडों से पता चलता है कि दोनों देशों के बीच १९५४ से ५० प्रतिशत से भी अधिक की वृद्धि हुई। फरवरी सन् १९६० में भारत-सोवियत सांस्कृतिक व तकनीकी सहायता समझौते (Indo-Soviet Cultural and Technical Assistance Agreement) पर हस्ताक्षर हुये। इसमे वैज्ञानिकों, शिक्षकों, कलाकारों, प्रोफेसरों आदि की अदला-बदली और सयुक्त अनुसंधान कार्य तथा पर्यटन आदि की सुविधाओं के लिये व्यवस्था की गई है।

कई प्रश्नों पर विशेषकर जिनका सम्बन्ध पराधीन जातियो के लिये स्वशासन की प्रगति और निःशस्त्रीकरण से रहा, भारत और सोवियत सघ की सरकारों के बीच न्यूनाधिक मतैक्य रहा है। कश्मीर प्रश्न पर सोवियत सघ ने सुरक्षा परिषद् में भारत की स्थिति का समर्थन किया है। परन्तु दो महत्वपूर्ण प्रश्नों पर भारत और सोवियत सघ के बीच गहरा मतभेद रहा। प्रथम, जब अक्तूबर १९५६ में हगरी में राष्ट्रवादी विद्रोह हुआ तो सोवियत सेनाओं ने उसे दबा दिया। भारत ने स्वतन्त्रता के लिये हगरीवासियों की इच्छा के पक्ष का समर्थन किया और वहा पर सोवियत सेनाओं के रखे जाने के विरुद्ध अपने मत को अभिव्यक्त किया। परन्तु भारत सरकार ने इस सम्बन्ध में उचित कार्यवाही करने में कुछ देरी की, जिसके कारण भारत तथा विदेशों मे भारत की काफी आलोचना हुई। इस सम्बन्ध में भारत के प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरू ने लोकसभा में कहा था :

> हम विश्व में कहीं भी स्वतन्त्रता पर आक्रमण से चिन्तित हैं। हम इस बात से भी चिन्तित हैं कि शक्तिशाली राष्ट्र सशस्त्र सेनाओं द्वारा दुर्बल राष्ट्रों पर अपना प्रभुत्व कायम करें। हगरी के बारे मे स्थिति कुछ दिन तक अस्पष्ट थी और वहां पर घटित दुःखपूर्ण घटनाओं का क्रमिक

रूप मे ही पता लगा है। प्रारम्भ से ही हमने यह स्पष्ट कर दिया था कि हमारे मत में हंगरी की जनता को अपनी इच्छाओं के अनुसार अपने भविष्य का निर्धारण करने दिया जाये और विदेशी सेनाओ को हटा लिया जाये। हंगरी के बारे मे यह हमारा आधारभूत मत रहा है और अब भी है। इसे (इन्डोनेशिया, बर्मा, सीलोन और भारत के) चार प्रधान मंत्रियो ने अपने संयुक्त वक्तव्य मे दोहराया है।[4]

दूसरा प्रश्न जिस पर भारत और सोवियत संघ के बीच मतभेद उत्पन्न हुआ अणु-बम के परीक्षणों को फिर से जारी करने (Resumption of Nuclear Tests) से सम्बन्धित था। जब सन् १९६१ में सोवियत संघ ने इकतरफा कार्यवाही द्वारा अणु-बम के परीक्षणो को आरम्भ किया तो भारत ने उसकी निन्दा की। प्रधान मंत्री नेहरू ने नवम्बर १९६१ में कहा 'मैं अणु-बम और उद्जन-बम सम्बन्धी सभी परीक्षण कार्य को बुरा समझता हूँ। कुछ भी हो मैं तो किसी भी प्रकार के अणु-बम परीक्षणों का पूर्णतया विरोधी हूँ।' इसके अतिरिक्त जब सितम्बर १९६८ मे सोवियत संघ तथा वारसा पैक्ट के अन्य सदस्य राष्ट्रों की सेनाओ ने चेकोस्लोवेकिया मे अपनी सेनाओं को भेजा तो भारत के प्रायः सभी राजनीतिक दलों (साम्यवादी दल को छोड़कर) और नेताओं ने सोवियत संघ और साथी देशों द्वारा इस प्रकार के हस्तक्षेप की निन्दा की और उसे एक छोटे पड़ौसी देश की स्वतन्त्रता व प्रभुता पर गम्भीर आक्रमण बताया। किन्तु भारत सरकार ने इस बारे में बड़ी सावधानी से कार्य किया और खुले शब्दो मे सोवियत संघ की निन्दा नहीं की।

वास्तव में, तथ्य यह है कि सोवियत रूस के उदाहरण ने साम्यवादियों के अतिरिक्त भी जवाहरलाल नेहरू तथा अन्य अनेक असाम्यवादी नेताओं पर बड़ा गहरा प्रभाव डाला। वे विशेष रूप से इस बात से प्रभावित हुए कि सोवियत संघ ने अति तीव्र गति से रूस तथा अन्य गणतन्त्रों की अविकसित दशा को बदलने मे बड़ी सफलता प्राप्त की। उन्होंने सोवियत संघ में सम्मिलित अनेक राष्ट्रों व उप-राष्ट्रों के प्रति देश की सरकार द्वारा अपनाई गई नीति की भी सराहना की है। इसके अतिरिक्त, कई वर्ष से सोवियत संघ की सरकार ने भी सह-अस्तित्व की नीति का समर्थन और पालन किया है। कुछ समय से तो सोवियत संघ व चीन के बीच मतभेद बढ़ता जा रहा है। जैसे जैसे भारत और चीन के बीच सम्बन्धो में खिचाव पैदा हुआ वैसे-वैसे भारत और सोवियत संघ के बीच अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुए। भारत सरकार और अधिकतर भारतीय कश्मीर और गोआ के सम्बन्ध में सोवियत संघ की स्थिति की बड़ी प्रशंसा करते है। वे इस बात की भी प्रशंसा करते है कि सोवियत संघ ने भारत के विकास मे काफी बड़ी मात्रा में आर्थिक

---

4 *Lok Sabha Debates, vol. IX, Nov. 19, 1956.*

सहायता दी है और भिलाई में फौलाद बनाने का एक बहुत बड़ा कारखाना बनाया है।

उपरोक्त बातों से बढ़कर सोवियत संघ ने भारत और चीन के बीच वृद्धिपूर्ण तनाव के प्रति जिस नीति को अपनाया है, भारतीय उसके लिए सोवियत संघ की सराहना करते हैं। भारतीयों को ऐसा विश्वास हो गया है कि सोवियत संघ की चीन के प्रति वर्तमान नीति भारत के हित में है, क्योंकि उसका उद्देश्य चीन की विस्तारवादी आकांक्षाओं को प्रतिबन्धित करना है। परन्तु जब चीन ने अक्तूबर-नवम्बर १९६२ में भारत की सीमा पर आक्रमण किया और सोवियत संघ ने चीनी कार्यवाही की निन्दा न की, वरन् भारत से जोरदार शब्दों में कहा कि वह चीन से उसी की शर्तों पर वार्ता करे तथा यह भी घोषणा की कि वह मिग विमानों (MIG-21 jet fighter planes) को वायदे के अनुसार न दे सकेगा तो अनेक भारतीयों ने भारत-चीन विवाद के बारे में सोवियत संघ पर निर्भरता की नीति की आलोचना की। परन्तु जवाहरलाल नेहरू का सोवियत संघ की ईमानदारी में विश्वास बना रहा। कुछ समय से सोवियत संघ ने पाकिस्तान को शस्त्र बेचने की घोषणा की है, अतः अधिकतर भारतीयों के मन में सोवियत संघ की भारत के प्रति मैत्रीपूर्ण नीति के बारे में सन्देह उत्पन्न हो गया है और भारतीय नेता पाकिस्तान को भारत के साथ समता का पद दिये जाने की स्थिति के बड़े आलोचक हो गये हैं।[5]

संयुक्त राज्य अमरीका—भारत और स० रा० अमरीका के बीच कई बातों में साम्यता है। सन् १९४९ में भारत के प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरू ने अमरीका के प्रतिनिधि सदन (House of Representatives) और सीनेट के सामने दिये गये एक भाषण में कहा था :

> आपकी भांति हमने अपनी स्वतन्त्रता को एक शान्ति द्वारा प्राप्त किया है, यद्यपि हमारे तरीके आपके तरीकों से भिन्न रहे। आपकी भांति हम भी संघात्मक सिद्धान्त पर आधारित एक गणतन्त्र होंगे, जो कि इस महान् (अमरीकी) गणतन्त्र के संस्थापकों का बहुत बड़ा योगदान है। हमने संविधान के प्रारम्भ में ही मानव के उन मूल अधिकारों को स्थान दिया है, जिन्हें स्वतन्त्रता, समता और उन्नति चाहने वाले सभी मनुष्य प्राप्त करने की बड़ी अभिलाषा रखते हैं, यथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता, मनुष्यों की समता और विधि का शासन। अतएव हम अपनी संस्थाओं और

5 "Now Moscow has elevated Pakistan to almost a position of parity with India...It is, herefore, absolutely essential that we leave no scope for misunderstanding and that Moscow is told plainly that there are limits in its courtship of Pakistan beyond which it cannot go without endangering the entire fabric of Indo-Soviet relationship."

Dutt, V. P., Art. '*India, Pakistan and the Soviet Union,*' *National Herlad* *April, 24, 1968.*

रखकर उसने नाटो, (NATO), सीयटो (SEATO) और सेन्टो (CENTO),
जैसे प्रादेशिक सैनिक पैक्ट किए है तथा इनमें सम्मिलित साथी देशो में हवाई
अड्डो के लिए स्थान प्राप्त किये है और सभी प्रकार के शस्त्रो का उत्पादन
अत्यधिक मात्रा में बढाया है। परन्तु भारत शान्तिपूर्ण उपायो द्वारा ही शान्ति
की स्थापना करना चाहता है। ये अन्तर शान्ति के लिए कार्यवाही बन्द करने के
एक होने (Uniting for Peace Resolution) व कोरिया में सैनिक कार्यवाही
बन्द करने के प्रस्तावो, वियतनाम और लाओस से सम्बन्धित प्रश्नो, अणु-बम के
परीक्षण करने तथा जापान के साथ संधि करने आदि पर हुए वाद-विवाद के
दौरान प्रकाश में आये। कश्मीर, पाकिस्तान को अमरीका द्वारा सैनिक सहायता
दिये जाने और साम्यवादी चीन के स० रा० संघ में प्रवेश सम्बन्धी प्रश्नो पर
मतभेद शान्ति और सुरक्षा के प्रश्न के प्रति दोनो देशों के दृष्टिकोण में आधार-
भूत अन्तर का ही परिणाम है।[7] इस विषय मे पामर का कथन उल्लेखनीय है
जो निम्नलिखित है :

भारतीय स० रा० अमरीका की वैदेशिक नीति के कुछ पहलुओ
की आलोचना करने में काफी खुलकर बोले है। उन्होने सं० रा०
अमरीका पर आरोप लगाया है कि उसने तथाकथित सोवियत साम्यवादी
खतरे पर अत्यधिक जोर दिया है और अन्य समस्याओ पर अपर्याप्त ध्यान
दिया है। उनका आरोप है कि स० रा० अमरीका शान्ति के लिए गलत
दृष्टिकोणों पर निर्भर है, यथा सैनिक पैक्ट और 'सामूहिक सुरक्षा'
(collective security)। उन्होने एशिया मे स० रा० अमरीका की
नीति की आलोचना की है, विशेषकर प्रतिगामी शासनो को अमरीकी
समर्थन और उसकी उपनिवेशवादी नीति की। वे साम्यवादी और राष्ट्र-
वादी चीन दोनों के ही प्रति अमरीकी नीति को पसन्द नही करते।
उन्होने तर्क दिया है कि स० रा० अमरीका ने उन्हे ऐसे क्षेत्रो में हानि
पहुँचाई है जिनसे उनका सम्बन्ध सबसे अधिक तुरन्त चिन्ता का विषय
है; और वे ऐसी नीतियों की ओर सकेत करते है जैसे पाकिस्तान को
शस्त्रों की सहायता, कश्मीर प्रश्न पर भारतीय स्थिति की अमरीका द्वारा
आलोचना, और सीयटो व सेन्टो के निर्माण मे अमरीका का प्रोत्साहन,
जिन्होंने उनकी दृष्टि में युद्ध को भारत की सीमा पर ला दिया। इन
सब मतभेदों के बावजूद भी भारत और अमरीका के बीच साधारणतः
अच्छे सम्बन्ध रहे है। पूर्व और पश्चिम के प्रजातन्त्रात्मक राज्यो के
बीच आपसी सद्-इच्छा और दिलचस्पी का विशाल भंडार है।[8]

---

7 "The differences between the two countries on Kashmir, American military aid to Pakistan and on the admission of the People's Republic of China to the United Nations are all projections of the same difference in their fundamental approach to the question of peace and security."

Black and Thompson, *Foreign Policies in a World of Change*, p. 507.

8 Kahin, G. M. (ed.), *op. cit.*, p. 401.

जाता है, विदेशी सहायता की श्रेणी में नहीं सम्मिलित किया जाता। ठीक अर्थ में विश्व बैंक (World Bank) से प्राप्त ऋण को भी विदेशी सहायता के क्षेत्र से बाहर समझना चाहिये, क्योंकि इन ऋणों को अधिकांशतः विश्व पूंजी बाजारों से प्राप्त किया जाता है और सूद की ऐसी दरों पर जिसमें ऋण प्राप्त करने के व्यय को भी सम्मिलित किया जाता है। वास्तव में, विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ (International Development Association = I D A) से भिन्न एक उपयोगी अन्तर्राष्ट्रीय सेवा है, अन्तर्राष्ट्रीय सहायता का सच्चे अर्थ में प्रबन्धकर्त्ता नहीं है।[9]

उपरोक्त को ध्यान में रखने पर सन् १९४६ में स्थापित विश्व बैंक को निर्धन देशों को दी जाने वाली विदेशी सहायता का प्रारम्भकर्त्ता नहीं कहा जा सकता। तथ्य तो यह है कि सन् १९४८ में आरम्भ की गई **मार्शल योजना** (Marshall Plan) के अन्तर्गत १२ मिलियन डालर की अधिकांशतः अनुदान रूप में वितरित किया गया, जिसका उद्देश्य यूरोप के औद्योगिक क्षेत्र में विकसित देशों को उनके आर्थिक पुनर्स्थापन में सहायता देना था; उन वर्षों में विकासशील देशों के प्रतिनिधियों ने निर्धन देशों को सरकारी ऋण अथवा अनुदान देने का अनुमोदन करना आरम्भ कर दिया था। अंशतः उन प्रयत्नों के उत्तर में और अंशतः इस विचार के उत्पन्न होने से बचने के लिये कि संयुक्त राज्य अमरीका विश्व के केवल उस भाग में दिलचस्पी रखता है जिसमें उसकी सांस्कृतिक और मूल-वंशीय समानतायें हैं, राष्ट्रपति ट्रूमैन ने १९४९ में पॉइन्ट फोर कार्यक्रम (Point Four Programme) की घोषणा की और अगले वर्ष दक्षिण-पूर्वी एशिया के लिये **कोलम्बो योजना (Colombo Plan)** आरम्भ हुई। परन्तु इन दोनों ही कार्यक्रमों का मुख्य जोर तकनीकी सहायता देने पर था और दोनों ही योजनाओं के अन्तर्गत दी गई कुल सहायता की राशि प्रारम्भिक वर्षों में बहुत कम थी। तथ्य यह है कि १९५० के प्रथम अर्द्धांश में संयुक्त राज्य अमरीका, कैनाडा और फ्रांस को छोड़कर कठिनाई से ही कोई विकसित देश था जिसने महत्वपूर्ण आर्थिक सहायता प्रदान की हो।

कुछ समय बाद ही संयुक्त राज्य अमरीका ने शीत-युद्ध (cold-war) से उत्पन्न हुई परिस्थितियों में सच्चे विकास की आवश्यकताओं के लिए चिन्ता को छोड़कर अपने वाह्य सहायता कार्यक्रम में शीत-युद्ध को वास्तविक मार्ग-दर्शक शक्ति के रूप में अपनाया और विख्यात यू एस पी एल—४८० कार्यक्रम को आरम्भ किया, जिसे प्रथमतः विकास सहायता के कार्यक्रम के रूप में न सोचा गया था। सन् १९५७ में स० रा० विकास ऋण कोष (U. S. Development Loan Fund) की स्थापना के साथ ही व्यापक विकास सहायता कार्यक्रम का उचित रूप में प्रारम्भ

9 Patel, I. G., Art. *'Foreign Aid : Retrospect'*, *Indian and Foreign Review, March, 1968.*

देश का नाम	सहायता देने वाले देश द्वारा दी जाने वाली अधिकृत (धन राशि करोड़ रु० में)	भारत द्वारा प्रयुक्त (धन राशि करोड़ रु० में)
संयुक्त राज्य अमरीका	६,३६१	५,८६७
फेडरल रिपब्लिक ऑफ जर्मनी	८०२	६८८
ब्रिटेन	६२०	५५३
सोवियत संघ	१,०३२	५४६
केनाडा	५०१	३८५
जापान	३३२	२५४
फ्रांस	१५६	६७
आस्ट्रेलिया	५७	५४
चैकोस्लोवेकिया	९९	४४
नैदरलैंड्स	५२	३७
यूगोस्लेविया	९४	२६
पोलैण्ड	६५	२१
इटली	१५३	२०
स्विटजरलैंड	३६	२०
आस्ट्रिया	२१	१४
बैल्जियम	२१	१०
नार्वे	९	९
डेनमार्क	१४	[illegible]
न्यूजीलैंड	६	५
स्वीडन	७	३
हंगरी	२५	०
बल्गेरिया	११	०
अन्तर्राष्ट्रीय संगठन		
विश्व बैंक	७५६	६५०
अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ	६६६	६३२
कुल योग	११,८९६	९,८९२

मिले है। यूसेड ने भारत को देश के विकास कार्यक्रम में विशिष्ट तकनीकी और आर्थिक समस्याओं पर काम करने के लिये अमरीकी विशेषज्ञों के रूप मे भी सहायता दी है। पी एल ४८० के अन्तर्गत गत १२ वर्षों में भारत को खाद्यान्न, कपास और अन्य कृषि पैदावार बहुत बड़ी मात्रा में प्राप्त हुये है। पी एल ४८० कार्यक्रम मे भारत केवल विदेशी विनिमय के व्यय (foreign exchange expenditures) मे ही बचत नही कर सका है, वरन् इसने आर्थिक विकास के लिये रुपये के साधन (rupee resources) की भी व्यवस्था की। अब तक कुल मिले ४,२२१.२ मिलियन डालर मे ६०·१ मिलियन डालर रुपये के रूप मे अदा किये जाने हैं। ४,१३१·१ मिलियन डालर के लिये समझौतों मे यह व्यवस्था है कि ८०·२ प्रतिशत सयुक्त राज्य अमरीका द्वारा भारत सरकार को आर्थिक विकास के लिये अनुदानो और ऋणों (१६ ८ प्रतिशत अनुदान और ६०·४ प्रतिशत ऋण) के रूप मे लौटा दिया जाये। निर्यात-आयात बैंक ने भारत को २६ ऋण दिये है, जिनकी कुल राशि ३४६·०५ करोड़ रु० है। अमरीकी सहायता का एक मुख्य लक्ष्य भारत को खाद्यान्नो में आत्म-निर्भर बनाने तथा अन्य कृषि पैदावार को बढ़ाने मे सहायता देना है। कृषि के क्षेत्र मे अमरीकी सहायता निम्नलिखित अनेक कामो के लिये मिली है—कृषि विश्व-विद्यालयो की स्थापना और उनका परिचालन, उर्वरक की पूर्ति और उर्वरक कारखानो का निर्माण, सामुदायिक विकास, भारतीय प्रोफेसरों व कृषि तकनीकियो का उच्चतर प्रशिक्षण, अमरीकी विशेयज्ञो की सेवाओ की उपलब्धि, चावल, गेहूं, वर्णसंकर मकी व ज्वार, दाले आदि की नसलें सुधारना और उनकी पैदावार बढाना, सिंचाई, मिट्टी और पानी का प्रबन्ध तथा कृषि अनुसन्धान।[11] अन्य देशों से प्राप्त सहायता के लक्ष्य भी इन्ही के समान है।

परन्तु उपरोक्त चित्र का दूसरा पहलू भी है। विदेशी सहायता की कई आधारों पर आलोचना की जाती है। प्रथम, इस समय उपलब्ध सहायता का बहुत बड़ा अनुपात दो देशों के बीच समझौतो (bilateral agreements) के आधार पर मिला है; और कई देशो से प्राप्त होने वाली सहायता की राशि का योग १०—१२ प्रतिशत है। दूसरे, जहां तक सहायता की शर्तों का सम्बन्ध है पहले कुछ प्रवृत्ति उनको नरम बनाने की थी, परन्तु अब कुछ देशो में प्रवृत्ति उन्हे अधिक कठोर बनाने की है। तीसरे, अधिकतर देशों, विशेषकर भारत के लिये ऋण के भार ने गभीर अनुपात धारण कर लिया है और अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय ने इस दृष्टि से सहायता देने मे कोई क्रमबद्ध योजना का सगठन नही किया है। चौथे, देने वाले देशो की ओर से सहायता दिये जाने के वायदो में कोई निरन्तरता नही है; सहायता के लिये प्रतिवर्ष बजट मे व्यवस्था की जाती है, जिसका परिणाम अनिश्चितता है। इन तथा अन्य कारणो से विदेशी सहायता की साधारण रूप मे निन्दा की जाती है।[12]

11 *American Reporter, August 30, 1968.*

12 *Indian and Foreign Review, March 1, 1968.*

परन्तु विदेशी सहायता की आलोचना का एक अति महत्वपूर्ण आधार उसका वैदेशिक नीति से गहरा सम्बन्ध है। विदेशी सहायता वैदेशिक नीति की तनियों अथवा प्रतिबन्धों (strings of foreign policy) में से एक है; यह बात विशेष रूप से सं० रा० अमरीका व सोवियत संघ की विदेश नीति के बारे में अधिक सच है। निःसंदेह उनकी वैदेशिक नीतियाँ उनके राष्ट्रीय हितों पर आधारित हैं। विश्व में शक्ति-सन्तुलन बनाये रखना (maintenance of world balance of power) उनमें से एक है, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का मुख्य उद्देश्य ही शक्ति को प्राप्त करना अथवा बढ़ाना है। २०वीं शताब्दी के शेष काल में पाश्चात्य जगत के लिये भविष्य अन्धकारमय है, यह पश्चिमी देशों के लिए एक प्रकार की चुनौती है। अमरीकी सीनेट के विख्यात सदस्य फुलब्राइट (Senator Fulbright) ने इस विषय पर अपने ग्रन्थ (*Prospects for the West*) में ठीक ही व्यक्त किया है :

> अपने समय की दशाओं में न तो यह सम्भव है और न वाञ्छनीय ही है कि साम्यवादी जगत अथवा एशिया, अफ्रीका व लैटिन अमरीका के नये समाजों पर प्रत्यक्ष कार्यवाही द्वारा पाश्चात्य प्रजातन्त्र के विचारों और मूल्यों को थोपा जा सके, और चूंकि ऐसी प्रत्यक्ष कार्यवाही पश्चिम के लिये सम्भव नहीं है, अतः उसे परोक्ष कार्यवाही का सहारा लेना आवश्यक है। अनेक परोक्ष विधियों में से एक महत्वपूर्ण विधि विदेशी सहायता कार्यक्रम है। इसी कारण हाल में अधिक परोक्ष शैक्षिक व सांस्कृतिक विनिमय कार्यक्रमों पर अधिक बल दिया जाने लगा है। इस उद्देश्य से वैदेशिक नीति के तीन परम्परागत पक्षों (dimensions) आर्थिक, राजनीतिक और सैनिक में शैक्षिक एवं सांस्कृतिक विनिमय (educational and cultural exchange) का एक और पक्ष जुड़ गया है। इसका सम्बन्ध अमरीकी अथवा साम्यवादी विचारों को अनेक रूपों में सहायता प्राप्त करने वाले देशों की जनता तक पहुँचाना है। दूसरे शब्दों में, उन देशों की जनता को सभी प्रकार से अमरीकी या साम्यवादी बनाना है। इस नये कार्य द्वारा पाश्चात्य जगत का भविष्य उज्ज्वल हो सकता है।[13]

---

13 "And since this direct action fails the West, it has to take recourse to rather indirect methods to sell the Western ideas and values to its prospective markets in the communist world, more so, in Asia, Africa and Latin America. Foreign aid programmes are those indirect methods. Again, hereto perhaps 'direct action in the form of equipment, technical assistance and surplus food and fibre is not that effective. Hence, the recent emphasis on the more indirect educational and cultural exchange programmes...Obviously the new dimension added to the classic three—the economic, political and military dimensions—is the educational and cultural change."
Art '*Foreign Aid and Foreign Policy*', *India Quarterly, July-Sep. 1967, p. 254.*

विदेशी सहायता देने वाले देशों को विदेशी सहायता देने के अन्य लाभ भी हैं। उनमे से एक लाभ यह है कि उन देशो में रोजगार के साधन बढ़ते है अर्थात् काफी व्यक्तियो को विदेशो को भेजे जानी वाली वस्तुओ के उत्पादन तथा विशेषज्ञो के रूप मे रोजगार प्रदान किया जाता है, परन्तु यह पहलू बहुत महत्वपूर्ण नही है। इसका दूसरा और अधिक महत्वपूर्ण लाभ अविकसित तथा विकासशील देशों मे विदेशी सहायता देने वाले देशों के कारखानो मे बनी वस्तुओ के लिए बाजार व मडिया प्राप्त होती है, जिनमें वे अपने अतिरिक्त उत्पादन और आन्तरिक बाजार के लिए पुरानी पड़ गई वस्तुओ को बेच देते है (dispose off their surpluses of obsolete equipments and spare parts and the rest against credit)।

स० रा० अमरीका द्वारा दी जाने वाली आर्थिक तथा सैनिक सहायता के बारे मे पालन की जाने वाली नीति के दो मुख्य लक्ष्य है—प्रथम, स० रा० अमरीका की सापेक्ष सैनिक शक्ति किसी भी प्रकार से कम न हो और दूसरा, स्थायी शक्ति सन्तुलन की रक्षा करने मे ऐसी स्थिति उत्पन्न न होने देना कि जिससे उनके केन्द्रीय मूल्यो, प्रक्रियाओ व सस्थाओ पर कुप्रभाव पड़े। सं० रा० अमरीका के सहायता कार्यक्रमो के विषय में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो वैदेशिक नीति पूर्वोक्त लक्ष्यो की प्राप्ति में असफल रहे वह राष्ट्रीय हित की परीक्षा मे अपर्याप्त सिद्ध होगी। यह बात निश्चित है कि स० रा० अमरीका (और उसी प्रकार सोवियत सघ) का विदेशी सहायता देने मे अन्तिम उद्देश्य राजनीतिक है; वह अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे भारत जैसे विशाल देश द्वारा अपनी नीतियों का समर्थन प्राप्त करना चाहता है।

सन् १९४९ के अन्त में भारत के प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरू स्वयं सं० रा० अमरीका इस उद्देश्य से गये थे कि तत्कालीन निराशाजनक खाद्य स्थिति मे अमरीका से खाद्यान्नो की पूर्ति मे सहायता प्राप्त कर पाते; परन्तु अमरीका ने १९५१ मे गेहूँ का ऋण देने से पूर्व काफी सौदेबाजी की। स० रा० अमरीका की काग्रेस तथा जनता और वहां के समाचार-पत्रो मे इस बात पर खुलकर वाद-विवाद हुआ था कि क्या भारत को सहायता दी जाये यदि वह अमरीका की शर्तें न भी माने। अब यह प्रश्न उठता है कि वे शर्तें क्या थी। यह कहा जाता है कि स० रा० अमरीका संयुक्त राष्ट्र सघ के भीतर तथा बाहर सहायता प्राप्त करने वाले देशों से अपनी नीति का समर्थन चाहता है और हो सके तो सैनिक गठबन्धनों (military alliances) की सदस्यता भी। यह सब कुछ भारत की स्वतन्त्र और शक्ति गुटो से अलग रहने की नीति के विरुद्ध है। व्यवहार में भारत की वैदेशिक नीति अवश्य ही कुछ मात्रा मे विदेशी सहायता पाने के विचार से प्रभावित हुई है।[14]

14 "Mr. Nehru's premature assumption of the role of peace-maker apart, India's receiving foreign aid tied her apron strings to those

यह कहा जाता है कि भारत को गेहूं का ऋण देने से पूर्व सं० रा० अमरीका ने अपने अणु उद्योग के लिये मैंगेनीज और मोनेजाइट कच्ची धातु (manganese and manazite ore) बदले में मांगी और भारत को कुछ अमरीकी शर्तें माननी पड़ी। इस बात को बहुत व्यक्ति जानते हैं कि भारत के भूतपूर्व विदेश मन्त्री श्री कृष्णा मैनन के अमरीका-विरोधी रुख के कारण सं० रा० अमरीका ने भारत को दी जाने वाली सहायता पर कुछ प्रतिबन्ध लगाये। ऐसे ही जब भारत ने गोआ को स्वतन्त्र किया तो स० रा० अमरीकी सीनेट की वैदेशिक सम्बन्ध समिति (Senate Foreign Relations Committee) ने उस वर्ष की सहायता में २५ प्र० श० की कमी की। यह भी अब एक खुला भेद है कि सं० रा० अमरीका की सरकार ने विश्व बैंक के द्वारा भारत सरकार पर रुपये का अवमूल्यन (devaluation of rupee) करने के लिये जोर डाला।

सं० रा० अमरीका के बाद भारत को सहायता देने वाले देशों में दूसरा स्थान सोवियत संघ का है। सोवियत संघ ने अनुदान रूप में तो बहुत कम सहायता दी है, परन्तु इसने ऋण काफी बड़ी मात्रा में दिये हैं। उसके द्वारा दिये गये अनुदानों व ऋणों का योग लगभग २५० करोड़ रु० है। भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ के भीतर और बाहर अनेक अवसरों पर सोवियत संघ की नीति का समर्थन किया है और कभी-कभी तो अपने राष्ट्रीय हितों की कीमत पर भी।[१५]

अतएव विचारधारा के प्रति पक्षपात को छोड़कर भारत और सोवियत संघ के बीच सहायता सम्बन्धी समझौते भारत के लिए उतने ही असमान हैं जितने कि स० रा० अमरीका के साथ। कहा कुछ भी जाय। सोवियत संघ ने भी विदेशी सहायता को अपनी वैदेशिक नीति का महत्वपूर्ण साधन बनाया है। हमारा अपना विचार है कि वैदेशिक सहायता को बहुत बड़ी मात्रा में पाने से जहां एक ओर भारत के आर्थिक विकास में बड़ी सहायता मिली है, दूसरी ओर इसका भारत और उसके निवासियों पर कई बातों में प्रभाव पड़ा है। भारत ने विदेशों से सहायता मांग मांग कर अपनी प्रतिष्ठा और आत्म सम्मान को कम किया है। साथ ही स्वतन्त्र होने

---

national disputes in which the aid-giving countries—the United States and later the U. S. S. R.—in particular were directly involved. In such cases as Korea and Congo, India would have done well to stay uncommitted. However, that was not to be." *Ibid., p. 258.*

15 "India, on her part, had given respectability to the Soviet Union in the comity of nations in the U. N. and outside. Thus perhaps outweighs what India has received from the Soviet Union in material assistance and political support, specially vetoes on Kashmir......India's continued advocacy of the Soviet positions, even at some cost to her own national interests specially vis-a vis Communist China and the United States lent some credibility to Soviet deeds and doctrines among nations of Asia, Africa and latin America over the year and recently to Soviet position in Sino-Soviet conflict". *Ibid., p. 264.*

पर भारत ने विदेशों पर निर्भर होकर अपनी पराधीनता को बढ़ाया है और उससे उसकी आत्म-निर्भरता को बड़ा धक्का लगा है। वैदेशिक सहायता के रूप में भारत में विदेशों से अतुल धन आया है, जिसका भारत ने पूर्णतया सदुपयोग नहीं किया है। उसका बहुत बड़ा भाग सरकारी अधिकारियों, ठेकेदारों तथा अन्य लोगों की जेबों में पहुचा है और उससे (विशेषकर अमरीकी सहायता से) देश में भ्रष्टाचार बढ़ा है। साथ ही जनता में पहल (initiative) करने की बहुत कमी हुई है। अब जनता यह आशा करने लगी है कि सभी कार्य सरकार करे। वैदेशिक सहायता से भारतीय जनता पर अमरीकी तथा साम्यवादी विचारों और जीवन शैलियों का व्यापक प्रभाव भी पड़ा है, जिसके कारण सच्ची राष्ट्रीय शिक्षा व संस्कृति और राष्ट्रवादी दृष्टिकोण के विकास में बड़ी बाधा उत्पन्न हुई है।

वैदेशिक सहायता के बारे में विभिन्न दलों का दृष्टिकोण भी उल्लेखनीय है। इस विषय मे कांग्रेस के चुनाव घोषणा पत्र, १९६६ में कहा गया है :

> यह मानते हुए कि आर्थिक विकास की प्रारम्भिक मंजिल में बाह्य सहायता का महत्वपूर्ण भाग रहता है, यह अति आवश्यक है कि उस काल को निम्नतम सीमा तक कम किया जाये और बाह्य सहायता की राशि तथा विस्तार को तीव्र गति के साथ कम किया जाये। ऐसा केवल तभी हो सकता है जबकि उत्पादन को अधिकतम सीमा तक बढाया जाए, निर्यात द्वारा अपनी आय को बढाया जाये और आवश्यक वस्तुओं के आयात को कम किया जाये तथा अनावश्यक वस्तुओं के आयात को बन्द किया जाये। हम जो भी बाह्य सहायता प्राप्त कर सकें उसे पूर्णतया अपनी अर्थ-व्यवस्था के ऐसे क्षेत्रों के निर्माण में प्रयुक्त किया जाये जो कि आत्म-निर्भरता की दिशा में प्रगति को बढ़ाने मे सहायक हो सके। मशीन-निर्माण, उर्वरक, पैट्रोल, धातु उद्योग और उच्च-श्रेणी का प्रशिक्षण प्राप्त कार्मिक का विकास उन मर्गो में से है जो कि संक्रमण की गति को तेज करेंगे। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस यह अनुभव करती है कि आर्थिक और औद्योगिक विकास के नये संदर्भ में स्वदेशी की भावना को अविलम्ब सुदृढ़ बनाना चाहिए।

प्रजा समाजवादी दल के घोषणा-पत्र में भी प्रायः समान बातें कही गई हैं। नियोजन और विकास की समस्याओं को इस प्रकार हल किया जायेगा कि देश 'विकासशील और स्व-उत्पादक अर्थ-व्यवस्था की दिशा में आगे बढ़ सकें, जिससे कि बाह्य सहायता पर हमारी निर्भरता क्रमिक रूप से कम हो सके।' संयुक्त समाजवादी दल का मत है कि भारत की वैदेशिक नीति और उसके पीछे विचारों को सुधारने के लिए खाद्य के ऋण को बन्द करना, ऋण द्वारा प्राप्त धन पर निर्भरता का अन्त करना एक आवश्यक शर्त है। जनसंघ के घोषणा-पत्र में ऐसा वायदा किया गया है।

अमरीकी गेहूँ का आयात आगामी ५ वर्ष में पूर्णतया बन्द कर दिया जायेगा। बर्मा और दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों के साथ चावल मंगाने के लिए व्यापारिक समझौते किये जायेंगे। स्वदेशी और आत्म-निर्भरता पर बल दिया जायेगा तथा विदेशी पूंजी का प्रयोग कम से कम किया जायेगा; फिर भी कुछ प्राथमिकता प्राप्त उद्योगों में कुछ सहयोग (collaboration) की आज्ञा दी जायेगी।

विदेशी ऋणों के बारे में स्वतन्त्र पार्टी का कथन है : 'स्वतन्त्र पार्टी द्वारा विदेशी सरकारों से प्राप्त व्यर्थ के तथा अपव्ययी ऋणों के विरुद्ध बार-बार दी गई चेतावनियां सर्वथा न्यायोचित सिद्ध हुई हैं। अब आगे सरकार को सरकारों से ऋण नहीं लेना चाहिए।' मार्क्सवादी साम्यवादी दल की मांग है कि सभी विदेशी प्रदायियों पर ऋण स्थगित हों और अमरीकी सहायता बन्द की जाये।

५. मूल्यांकन

भारत की वैदेशिक नीति उच्च राजनीतिक आदर्शों व सिद्धान्तों पर आधारित है, जिनका कि भारत के संविधान में प्रगणित राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्तों में समावेश किया गया है। भारतीय परम्परा व राष्ट्रीयता गांधी जी के विचारों के अनुसार भारत की वैदेशिक नीति का बल शान्ति और मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों पर रहा है। इस नीति के मुख्य प्रणेता भारत के प्रथम प्रधान मन्त्री जवाहर लाल नेहरू रहे, जिन्होंने विश्व-शान्ति, सह-अस्तित्व तथा पंचशील के सिद्धान्तों को अपनी नीति के मार्ग-दर्शक सिद्धान्त बनाया। उनके नेतृत्व में ही भारत सरकार ने शक्ति-गुटों से अलग रहने की नीति को अपनाया। यह नीति, जैसा कि पूर्वगामी अध्याय के आरम्भ में बताया जा चुका है, केवल तटस्थता (neutrality) की नीति नहीं है, वरन् यह सकारात्मक तटस्थता (positive neutrality) की नीति है। इस नीति के अनुसरण से राज्यों के विश्व-समुदाय में भारत की प्रतिष्ठा बढ़ी है। इसकी सफलता तथा व्यावहारिकता का प्रमाण यह है कि अनेक देशों ने इसी नीति का अनुसरण किया है, जिनमें यूगोस्लेविया, बर्मा, सीलोन, संयुक्त अरब गणराज्य, इन्डोनीशिया आदि उल्लेखनीय हैं। साथ ही भारत के दोनों शक्ति-गुटों से अच्छे व सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध बन रहे हैं और भारत को सं० रा० अमरीका व सोवियत संघ दोनों ही प्रमुख शक्तिशाली देशों से आर्थिक विकास में काफी बड़ी मात्रा में आर्थिक सहायता मिली है। यहां पर यह कहना भी अनुचित न होगा कि भारत और अन्य समान विचार वाले देशों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सहयोग के कारण विश्व में शान्ति बनाये रखने के प्रयत्न काफी सीमा तक सफल रहे हैं।

परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक सर्वमान्य आधार यह है कि प्रत्येक देश अपने राष्ट्रीय हितों को आगे बढ़ाने का प्रयत्न करता है। स्वयं प्रधान मन्त्री जवाहर लाल नेहरू ने इस बात को स्वीकार किया था, जिसका हवाला पूर्वगामी

अध्याय के प्रारम्भ में ही दिया जा चुका है। किन्तु भारत की वैदेशिक नीति की आरम्भ से ही इस आधार पर आलोचना हुई कि उसके द्वारा देश के महत्वपूर्ण राष्ट्रीय हितों को आगे रही बढाया गया। इस प्रकार की आलोचना सन् १६५६ में यह सूचना मिलने पर, कि चीन ने भारतीय प्रदेश पर अपना आधिपत्य कायम कर लिया था पहले की अपेक्षा कहीं अधिक सवाक् हो गई। आचार्य कृपलानी के शब्दों में इसका सारांश निम्नलिखित है :

> कांग्रेस सरकार की अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में कुछ भी विफलतायें रही हों, यह सदैव ही इस बात को न्यायोचित रूप में दिखा सकती थी कि उसने अन्तर्राष्ट्रीय जगत में भारत की प्रतिष्ठा में वृद्धि की है। परन्तु इस सारी प्रतिष्ठा ने भारत में अत्यन्त आवश्यक (राष्ट्रीय) हितों को न तो आगे बढ़ाया और न उसकी सीमाओं पर तनाव को कम किया। पाकिस्तान के साथ हमारे सम्बन्ध पहले की भांति खिंचे हुए हैं। कश्मीर प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि में भ्रमजाल में फंसा है। .... अपनी उत्तरी सीमा पर भारत ने भारत और चीन के बीच टक्कर-रोक राज्य (buffer kingdom) तिब्बत को बिना विरोध के मिटाने दिया। हमने वहाँ पर चीनी दावे की वैधता को मान लिया है।

उपरोक्त तथ्यों के बारे कोई विवाद नहीं है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि उसके लिये सरकार की नीति को दोषी ठहराया जाये अथवा इस नीति के कार्यान्वयन को, जो विशेष रूप से कश्मीर के १/३ भाग तथा भारत के कई हजार वर्गमील प्रदेश पर विदेशों द्वारा अधिकार कायम होने को न रोक सकी। यह बात इसलिये और भी खटकने वाली है कि प्रायः प्रत्येक भारतीय इस बारे में पक्का विश्वास करता है कि दोनों मामलों में भारत का दावा पूर्णतया न्यायपूर्ण है। चीनी कार्यवाही के बारे में संसद में हुये वाद-विवाद में प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरू ने यह स्वीकार किया था कि उन्हें चीन द्वारा भारत पर आक्रमण की तनिक भी आशा न थी। फिर भी ऐसा हुआ है, क्या किया जाये, प्रश्न यह है।[16]

कुछ आलचकों का कहना है कि भारत की वैदेशिक नीति में आदर्शवाद को अधिक स्थान दिया गया है; और आदर्शवाद तथा स्व-हित साथ-साथ नहीं चल सकते। भारत की वैदेशिक नीति के आधारभूत आदर्शों का विवेचन पहले ही किया जा चुका है। अतः देखना यह है कि भारत की नीति उन आदर्शों तथा स्व-हित की दृष्टि से कहाँ तक सफल रही है। भारत की स्वतन्त्र नीति की आरम्भ में दोनों शक्तिशाली गुटों ने आलोचना की, परन्तु जब समय बीतने पर अन्य कई देशों ने उस नीति को अपना लिया तो इस प्रकार की आलोचना में काफी कमी हो गई भारतीय नीति की शक्ति का आधार उसका आदर्शवाद अथवा विश्व की नैतिक आत्मा के प्रति अपील रही; और व्यवहार में यह नीति अवश्य ही कुछ

16. Black & Thompson, *op cit*, p 511.

असफल रही है। यह सच है कि चीन और पाकिस्तान के बीच संकुचित राष्ट्रीय हितों के आधार पर भारत के विरुद्ध गठबन्धन हुआ है, परन्तु आज के द्रुतगामी से परिवर्तनशील जगत में ऐसे गठबन्धन बहुत समय तक स्थायी नहीं रह सकते। चीन में जो कुछ हो रहा है, उससे हम एक पाठ सीख सकते हैं। इस विषय में भारत सरकार के परराष्ट्र मंत्रालय के सचिव श्री टी. एन. कौल ने सन् १६६७ में दिये गये एक भाषण में कहा था :

> अफ्रीका और एशिया में चीनी प्रभाव के चढ़ाव और उतार का कारण, काफी बड़ी मात्रा में, भारत तथा उसके समान सोचने वाले देशों द्वारा शक्ति-गुटों से अलग रहने की नीति का दृढ़ता के साथ अनुसरण है। इस नीति का आदर करना और इसे सुदृढ़ बनाना दक्षिण पूर्वी-एशिया और सं० रा० अमरीका व सोवियत संघ सभी के हित में है—सम्बन्धित देशों के हितों तथा इस प्रदेश में चीनी विस्तार को रोकने, दोनों ही दृष्टियों से ऐसा किया जाना उचित है। सैनिक गठबन्धनों से इस क्षेत्र में न तो शान्ति ही आयेगी और न इस क्षेत्र की अर्थ-व्यवस्था व स्वतन्त्रता ही कायम रह सकेगी, यह बात वियतनाम में चल रहे युद्ध से स्पष्ट है। क्षेत्र को सुदृढ बनाने के लिये इसकी अर्थ-व्यवस्था का विकास, राजनीतिक स्थिरता, प्रत्येक देश को अपने पैरों पर खड़े होने की योग्यता आवश्यक हैं। इस कार्य में विदेशों से जो भी बिना शर्त सहायता मिल जाये, सहायक सिद्ध होगी। इसमें भारत की वैदेशिक नीति का दूसरा आधार शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व भी सहायता दे सकता है। इस प्रदेश के विभिन्न देशों के बीच, बावजूद इस बात के कि उनकी सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक पद्धतियाँ एक दूसरे से भिन्न है, यह अधिक मात्रा में आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक सहयोग की व्यवस्था करता है।[17]

विदेशी आलोचकों के अनुसार विश्व-शान्ति के प्रति भारतीय दृष्टिकोण में एक बात पर उचित ध्यान नहीं दिया गया है, वह है राजनीति में शक्ति का महत्वपूर्ण स्थान। एलेन डी रसेट (Alan de Russet) ने इस तर्क को इस प्रकार प्रस्तुत किया है :

> शान्ति को बनाये रखने में केन्द्रीय कारक, सारे इतिहास में, आरक्षित शक्ति रही है। वार्ता और अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को हल करने के लिये अन्य शान्तिपूर्ण उपायों की यह कारक एक आवश्यक दशा रही है क्योंकि विभिन्न पक्ष यह जानते है कि अन्तिम विश्लेषण में विभिन्न पक्षों के बीच शक्ति का सापेक्ष वितरण ही प्रश्न का निर्णय करता है।

17 See '*Idealism and Self-interest*' in *Indian and Foreign Review, June 1, 1967.*

इसमें कोई सन्देह नही है कि शक्ति सन्तुलन पद्धति (balance of power system) शान्ति कायम रखने का सर्वोत्तम उपाय नही है, विश्व सरकार ही आदर्श व्यवस्था है। परन्तु, विश्व सरकार और शक्ति सन्तुलन दोनों की ही अनुपस्थिति में, वार्ता करने के लिये इच्छा का ही लोप हो जाता जब कि सभी पक्ष स्वतन्त्रतापूर्वक वार्ता और अपने ध्येयो को हिंसक साधनों द्वारा प्राप्ति के बीच छाँट करते हैं। ...शान्ति के प्रति भारतीय हष्टिकोण—पंचशील, शान्ति के क्षेत्र का विस्तार, और युद्ध की अपेक्षा शान्ति के कार्यों के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ के भाग पर बल—ऐतिहासिक अनुभव के अत्यन्त महत्वपूर्ण पाठ की ओर ध्यान नही देता।[18]

यहाँ पर भारत की वैदेशिक नीति के बारे मे विभिन्न राजनीतिक दलों के मत देना प्रतीत होता है। श्री बलराज मधोक के अनुसार जनसंघ का मत निम्न प्रकार है :

> भारतीय जनसंघ का यह निश्चित मत है कि नई स्थिति में शक्ति गुटों से अलग रहने की नीति असगत हो गई है। भारत शक्ति गुटों से अलग रहने की बात सोच सकता था जब कि विश्व सयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत सघ के नेतृत्व में चलने वाले युद्ध मे रत दो गुटो में विभाजित था और जबकि यह अपने को उनके शीत-युद्ध से अलग रखना चाहता था। परन्तु भारत अब शक्ति गुटो से अलग नही रह सकता, जबकि वह एक उदासीन दर्शक नही रह गया है, वरन् उसे युद्ध में घसीट लिया गया है। अब विश्व बहु-ध्रुवीय हो गया है जिसमे कि सबसे अधिक जीवित दो ध्रुव नई दिल्ली और पेकिंग हैं। अब तो दूसरे देशों को इन दोनों महान् एशियाई शक्तियों मे से किसी एक के साथ मेल करना है अथवा उनके प्रति तटस्थ रहना है। ...भारतीय जनसघ चाहता है कि भारत एक, स्वतन्त्र वैदेशिक नीति का अनुसरण करे। यह चाहता है कि भारत सभी देशों से अलग-अलग द्विपक्षीय समझौते करे, वे चाहे किसी गुट से सम्बन्धित हों या न हों, और ऐसे समझौतो का आधार आपसी हित तथा पारस्परिकता हों। स्थूल शब्दो में, इसका अर्थ यह है कि भारत ऐसे देशों के साथ अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करे जो कि रावलपिंडी और पेकिंग के विरुद्ध सघर्ष में भारत का साथ दे सके।
>
> जनसघ के विचार में भारत द्वारा सयुक्त राष्ट्र में साम्यवादी चीन के प्रवेश का समर्थन जारी रखना तथा फॉर्मूसा आधारित चीनी गणतन्त्र को मान्यता न देना भारत के श्रेष्ठ हितो के विरुद्ध है। अतः जनसंघ चाहता है कि भारत फॉर्मूसा के साथ निकट राजनयिक, सांस्कृतिक और

18 Black & Thompson, *op. cit.*, p. 512.

आर्थिक सम्बन्धों का विकास करे। पश्चिमी एशिया के मुस्लिम देश, अफगानिस्तान को छोड़कर, भारत-पाक विवाद के बारे में सामान्यतः पाकिस्तानी पक्ष का समर्थन करते रहे हैं परन्तु उन्होने यह मान लिया है कि इजराइल के साथ उनके संघर्ष में भारत उसका समर्थन करेगा। जनसंघ चाहता है कि उनमें से प्रत्येक के साथ पारस्परिकता पर आधारित नीति को अपनाया जाये और भारत में अरब लीग के प्रतिनिधि को प्रदान की गई मान्यता वापस ली जाये। ···जनसंघ चाहता है कि भारत अफगानिस्तान के साथ यथासम्भव घनिष्ठतम सम्बन्ध स्थापित करे, जिससे भारत की कई बातों में समानता है। भारत का पाकिस्तान में रहने वाले पख्तूनो के प्रति एक नैतिक कर्तव्य है, जिनका उचित स्थान अफगानिस्तान अपने प्राकृतिक गृह-देश में है। ···जनसंघ चाहता है कि पूर्वी यूरोप के उन देशों से निकट सम्बन्धों को विकसित किया जाये जो रूसी संरक्षण की दो सदियों के बाद स्वतन्त्र नीति का अनुसरण आरम्भ कर रहे हैं। जहाँ तक सं० रा० अमरीका और सोवियत संघ का सम्बन्ध है, जनसंघ उनके साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखना चाहता है और उनके साथ सहमति के क्षेत्रों के विस्तार के लिये प्रयत्न जारी रखेगा, परन्तु साथ ही वह प्रयत्न करेगा कि भारत की उन पर निर्भरता कम हो। ···पाकिस्तान भारत का शत्रु है और बना रहेगा; इसका अस्तित्व ही भारत के प्रति शत्रुता और आक्रामकता की स्थिति बनाये रखने में है। उसके प्रति अब तक भारत ने जिस नीति का अनुसरण किया है, उससे उसके शासकीय केन्द्रो मे यह विचार बन गया है कि भारत के विरुद्ध आक्रामक कार्यवाहियों से लाभ होता है। अतएव जनसंघ चाहता है कि भारत सभी मामलो में पाकिस्तान के प्रति एक कठोर और पूर्णतया पारस्परिकता की नीति का पालन करे।[19]

श्री सुरेन्द्र मोहन के अनुसार प्रजा समाजवादी दल का मत निम्न प्रकार है :

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद दो शक्ति-गुटो के टकराव की वास्तविक प्रतिक्रिया के रूप में भारत द्वारा शक्ति-गुटो से अलग रहने का निश्चय बुद्धिमत्तापूर्ण था। फिर भी, चीन और सोवियत संघ के प्रति उसके पक्षपातपूर्ण झुकाव ने, सं० रा० अमरीका और पाकिस्तान के बीच सैनिक संधि को प्रतिक्रिया के रूप मे, उसकी शक्ति-गुटों मे दूर रहने की नीति के सिद्धान्त को कुछ सीमा तक गिराया ···। क्रमशः शक्ति-गुटों से अलग रहने की नीति सोवियत गुट से मिलने की पर्यायवाची हो

19 Madhok, B. R., Art. '*India's Foreign Policy : The Jan Sangh View*', *India Quarterly Jan-March, 1967, pp. 3-6.*

गई। जबकि सरकार ने, जनता के व्यापक समर्थन के साथ उचित रूप में ही, उपनिवेशवाद विरोधी संघर्षों का समर्थन किया, स्वेज के संकट काल के दौरान इजिप्ट से समेकन की अभिव्यक्ति की और आक्रमण की निन्दा की, हंगरी और तिब्बत के बारे में उसकी ढिलमुल नीति ने यह स्पष्ट कर दिया कि भारत की शक्ति-गुटों से अलग रहने की नीति असफल रही है।

उनको उत्तर देते हुये जिन्होंने ठीक समझकर यह घोषित किया कि भारत कभी भी अणु शस्त्रों के उत्पादन की बात न सोचेगा, प्रजा समाजवादी दल की कार्यकारिणी ने दृढ़ता पूर्वक यह कहा— 'हम देश की प्रभुता और स्वतन्त्रता बनाये रखने से किसी भी अन्य कायदे को उच्चतर नहीं मानते ?' उसने सं० रा० अमरीका यूनाइटेड किंगडम या सोवियत संघ द्वारा आणविक छत्री की व्यवस्था सम्बन्धी प्रस्तावों का विरोध किया और कहा कि इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है जिनमें कि रक्षक छत्री समय पर न खुली। अतएव उसने इस बात पर जोर दिया कि इस विकास की गति को उस स्तर तक कम से कम समय में बढ़ाने के लिये शीघ्र ही पग उठाये जायें जिससे कि प्रतिरक्षा के सभी शस्त्रों का आणविक शस्त्रों सहित, हम अपने आप उत्पादन कर सकें।

विश्व की स्थिति का पुनरावलोकन करते हुये प्रजा समाजवादी दल ने अपने राष्ट्रीय सम्मेलन में, जो दिसम्बर १९६६ में बम्बई में हुआ, यह प्रस्ताव पास किया : 'विश्व का राजनीतिक दृश्य तेजी के साथ बदल रहा है और स० रा० अमरीका व सोवियत संघ के बीच तनाव में कमी होने के बाद शीत-युद्ध का केन्द्र अफ्रीकी-एशियाई महाद्वीप में चला गया है। राष्ट्रीय सम्मेलन, १९६६ के प्रस्ताव में कहा गया है : 'भारत ही वह देश है जिसे चीन और उसके साथियों की चुनौती स्वीकार करने के लिये अधिकतम प्रयत्न करने चाहिये, तब तक जब तक कि शान्ति-प्रिय राष्ट्र उसकी भूमिका की सराहना करना आरम्भ करें। उसे नमनीय वैदेशिक नीति का पालन करना चाहिये। पूर्वी यूरोप में राष्ट्रवाद का उदय पश्चिमी यूरोप में आर्थिक प्रफुल्लता और शक्ति-गुटों से स्वतन्त्रता, और विकासशील देशों में आर्थिक हितों की वृद्धिपूर्ण सहमति जिसका युगोस्लेविया, संयुक्त अरब गणराज्य और भारत के बीच समझौता है, नये कारक हैं, जो सावधानीपूर्ण ध्यान की माँग करते हैं और हमारे दृष्टिकोण में नमनीयता की भी, जो कि हमारी वैदेशिक नीति को पैदा करनी चाहिये। अतः प्र० स० दल के चुनाव घोषणा-पत्र में कहा गया :

> प्रजा समाजवादी दल एक स्वतन्त्र वैदेशिक नीति का समर्थक है। यह सैनिक गठबन्धनों का विरोधी है, जो अवश्य ही महान् शक्तियों की राजनीति के साथ पेचीदगियों की ओर जाते हैं। पार्टी तो अन्तर्राष्ट्रीय

घटनाओं पर अपना निर्णय न्याय और औचित्य के आधार पर करेगी और राष्ट्र के अत्यन्त महत्वपूर्ण हित की रक्षा करेगी।[20]

भारत की वैदेशिक नीति के बारे में स्वतन्त्र पार्टी का मत, श्री सी० आर० ईरानी के अनुसार निम्नलिखित है :

> हमने तिब्बत में एक छोटे और शान्ति-प्रिय पड़ोसी के प्रति विश्वासघात किया; कोरिया और हिन्द-चीन में हम यह मानने के लिये तैयार नहीं हुये कि आक्रमण किसने शुरू किया; इन्डोनेशिया में हम उन देशभक्तों के प्रति अपने उत्तर में बहुत अधिक सावधान रहे, जो कि अपने देश को अत्याचार और राजद्रोह से बचाने का प्रयत्न कर रहे थे। अब प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों हुआ ? बात यह है कि हमारी वैदेशिक नीति का साम्यवाद के पक्ष में निश्चित झुकाव था। हमने यह विश्वास करने से इन्कार कर दिया कि चीन जैसा समाजवादी देश हम पर आक्रमण कर सकता था। ···अतः यह स्पष्ट है कि हमारी स्थिति और समस्याओं का सरकार द्वारा निर्धारण नैराश्यपूर्ण सीमा तक गलत रहा है। उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद की वास्तविक प्रकृति को समझना ही नहीं चाहा। हमारी स्थिति में दुःख की बात सरकार द्वारा अपनाई गई नीति या नीतियाँ उतनी नहीं है जितनी कि हमारी आधारभूत अभिवृत्तियाँ हैं। हमारी नीतियों में साम्यवाद के पक्ष में झुकाव का अवश्य ही त्याग किया जाना चाहिये। उसके बाद हमें अपने को हीनता की मनोग्रन्थि से स्वतन्त्र करना चाहिये, जो कि हमें आज के विश्व में अन्त निर्भरता के सिद्धान्त को मानने से रोकता है। तब हम खुशी से मलयेशिया जैसे देशों के साथ खुशी से सहयोग करेंगे, जिसने कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के संघ का विचार प्रस्तुत किया है।[21]

अन्त में, हम डा० राजन के इस मत को स्वीकार करते हैं कि भारत की वैदेशिक नीति व्यवहारवादी (pragmatic) होनी चाहिये। उन्होंने सन् १९६४ में अपने एक लेख में कहा है :

> यह एक बहुत ही बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय था कि स्वतन्त्र भारत ने अपनी वैदेशिक नीति के ध्येयों को प्राप्त करने के लिये शक्ति-गुटों से अलग रहने के व्यवहारवादी उपायों को अंगीकार करना पसन्द किया। किन्तु, पन्द्रह वर्ष से अधिक के काल में उस नीति के परिचालन में हम कहीं कहीं सिद्धान्तवादी (doctrinaire) और अपने ढंग की अनोखी शक्ति-गुटों से अलग रहने की नीति के बन्दी रहे, जिसका अन्तर्राष्ट्रीय

20 Mohan, S., Art. *'India's Foreign Policy : The PSP View'*, *Ibid.*, pp. 9, 14.

21 Irani, C. R., Art. *'India's Foreign Policy: The Swatantra Veiw*, *Ibid*, pp. 16–20.

सम्बन्धो के परिवर्तनशील नमूने को वास्तविकताओं से वृद्धिपूर्ण मात्रा में सम्पर्क खो गया। इस प्रकार भारत सरकार ने कुछ ऐसे सिद्धान्त में विश्वास किया कि सुदृढ़ प्रतिरक्षा व्यवस्था बनाये रखना और। या वैदेशिक सैनिक सहायता का स्वीकार करना शक्ति। गुटो से अलग रहने की नीति से असंगत थे तथा यह कि यह नीति ही (बिना पर्याप्त प्रतिरक्षा तैयारियो के) किसी प्रकार हमारी सुरक्षा का सरक्षण कर सकेगी। अन्य अनेक राज्य, जिन्होने शक्ति-गुटो से अलग रहने की नीति अंगीकृत की हुई है, या तो सैनिक गठबन्धनों (military alliances) मे सम्मिलित हुये (उदाहरण के लिये, सीलोन, युगोस्लेविया और मलाया) अथवा उन्होंने वैदेशिक सैनिक सहायता को, शीत-युद्ध मे भाग लेने वाले प्रधान राष्ट्रो से भी लेना स्वीकार किया (उदाहरण के लिये, इन्डोनीशिया और इजिप्ट ने सोवियत सघ से और युगोस्लेविया ने सं० रा० अमरीका से) और उन्होने ऐसा (हमारे मत में भी) बिना सिद्धान्त मे गिरे हुये किया।

ऐसे ही, अतीत मे, शक्ति-गुटो से अलग रहने की नीति को अपने विशिष्ट ध्येयो की प्राप्ति का साधन मानने के बजाय हमने यह प्रभाव डालने का प्रयत्न किया कि शक्ति-गुटो से अलग रहना ही विश्व के मामलों में हमारी भूमिका की सबसे बडी चिन्ता थी। उसके आगे, हमने शक्ति-गुटो से अलग रहने को एक उच्च नैतिक स्तर पर रखने अथवा उसे एक ऐसे नैतिक आदेश के रूप में स्वीकार करने का प्रयत्न किया, जिससे किन्ही भी परिस्थितियों में हटना नैतिकता से गिरना होगा। ये दोनो ही गम्भीर भूले थी, और यदि उन्हें शीघ्र ही न सुधारा गया, तो हम अपने जीवनदायिनी राष्ट्रीय हितों तथा अपने अस्तित्व को भी खतरे मे डाल देंगे, चूंकि शक्ति गुटो से अलग रहना तो केवल एक राजनीतिक नीति है, जिसका हमे तभी तक अनुसरण करना आवश्यक है जब तक कि यह हमारे राष्ट्रीय हितो को प्राप्त करे और प्रोत्साहन दे।

हमारी वैदेशिक नीति का एक दूसरा सैद्धान्तिक पहलू आणविक शस्त्रो के उत्पादन के बारे में रहा है। वर्षों से हमारे सरकारी प्रवक्ता अपने को ठीक मानकर जोर के साथ यह घोषित करते रहे है कि यद्यपि आणविक शक्ति के विकास मे भारत सबसे अधिक विकसित देश है, फिर भी हम उस शक्ति का प्रयोग आणविक शस्त्रो के बनाने के लिये नही करेंगे। प्रधान मत्री नेहरू ने इस मत को चीनी आक्रमण के बाद भी दोहराया और इस बात की सारपूर्ण साक्ष्य के सामने कि चीन आणविक शस्त्रो को बनाने की परियोजना को कार्यान्वित कर रहा है। "कुछ वर्ष पूर्व तक, इस देश में सरकार और जनता दोनो ने ही" ब्रिटिश वैदेशिक नीति के काल द्वारा परीक्षित सिद्धान्त—स्थायी मित्रों

अथवा स्थायी शत्रुओं पर निर्भर न रहने वरन् स्थायी हितों को प्राप्त करने का प्रयत्न करने की नीति—में विश्वास नहीं रखा। अनेक वर्षों तक हमने यह विश्वास किया कि चूंकि चीन सदियों से एक मैत्रीपूर्ण पड़ोसी था, वह ऐसा ही रहेगा, अतः हमें उस देश से सम्भावित खतरे के विरुद्ध प्रतिरक्षा की तैयारी करने की भी आवश्यकता न थी।

डा० राजन के अनुसार भविष्य के लिये हमें दो पाठ सीखने हैं। प्रथम, यथा व्यवहारवाद और अनुभववाद, जो कि मानवी मामलों में सफलता के लिये इतने आवश्यक हैं, वैदेशिक नीति के संचालन के लिये तो वे कहीं अधिक आवश्यक हैं; क्योंकि वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय समाज की प्रकृति ही ऐसी है। यह प्रभुत्वपूर्ण राज्यों का एक अति जटिल और प्रतियोगी समाज है। दूसरा, हमें अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में गत पन्द्रह वर्षों के अनुभव तथा दीर्घकालीन ब्रिटिश अनुभव से यह पाठ सीखना चाहिये कि हम अपनी सरकारी घोषणाओं की भाषा और स्वर-शैली में सुनिश्चितः कम उग्र तथा अधिक सावधानीपूर्ण और गंभीर रहें।[22]



22 "Pragmatism and empericism which are so essential for success in human affairs are even more essential for the conduct of a successful foreign policy, because of the nature of present international society. This is highly complex and competitive society of sovereign nation States...Another lesson that we need to learn from our experience in world affairs during the last 15 years as well as from the long British diplomatic experience is to be less categorically vehement and more cautious and sober in the tone and language of our official pronouncements."

Rajan, M. S., Art, '*The Need for a Pragmatic Indian Foreign Policy.*' *Political Science Review, May, 1964.*

अध्याय २२

उपसंहार

१. भारतीय प्रजातन्त्र

प्रजातन्त्र के विभिन्न रूपों में से दो प्रमुख हैं—संसदीय प्रजातन्त्र और राष्ट्रपति शासन। युनाइटेड किंगडम और सं० रा० अमरीका क्रमशः उनके सबसे अच्छे उदाहरण हैं। यह स्वाभाविक ही था कि भारतीय संविधान के निर्माता, ब्रिटिश जाति से दीर्घकालीन संसर्ग के कारण और ब्रिटिश शासन-काल में हुए संवैधानिक विकास के परिणामस्वरूप, संसदीय प्रजातन्त्र को अपनाते। वास्तव में भारत की स्वतन्त्रता से पूर्व ही केबिनेट मिशन योजना के अन्तर्गत केन्द्र में इस प्रकार की शासन प्रणाली प्रारम्भ की गई थी और गवर्नरों के प्रान्तों में सन् १९३७ से ही इस प्रकार की शासन प्रणाली चल रही थी। इस प्रकार भारत में प्रजातन्त्र को लागू हुए दो दशी से ऊपर बीत चुकी है। भारत के संविधान के प्रारम्भ से अब तक देश में ४ आम चुनाव हो चुके हैं। भारत के संविधान के अन्तर्गत २१ वर्ष से अधिक आयु वाले सभी वयस्कों को मताधिकार प्राप्त हुआ, अतः मतदाताओं की संख्या की दृष्टि से भारत विश्व का सबसे बड़ा प्रजातन्त्री देश है। चारों ही आम-चुनाव बड़े शान्तिपूर्ण ढंग से सम्पन्न हुए और उनकी विदेशी पर्यवेक्षकों ने भी सराहना की। सच तो यह है कि चुनावों ने भारतीय प्रजातन्त्रात्मक पद्धति की स्वस्थता को सिद्ध कर दिया है। इस सम्बन्ध में निम्न-लिखित टिप्पणी उल्लेखनीय है :

> अन्य लोगों के साथ उच्च राजनीतिक नेताओं का भी यह मत था कि चौथे आम चुनावों को स्थगित किया जायेगा अथवा वे नहीं होंगे। उनमें से कुछ ने अपने सन्देहों को सार्वजनिक रूप से अभिव्यक्त किया और दूसरों ने ऐसी बातें आपसी बातचीत में कहीं। चुनावों से पूर्व महीनों तक वातावरण हिंसा से पूर्ण रहा। परन्तु अनेक निराशपूर्ण मूल्यांकनों के विपरीत चुनावों को स्थगित नहीं किया गया और वे उतनी सफलता-पूर्वक सम्पन्न हुए, जितनी कि दीर्घकालीन प्रजातन्त्रात्मक परम्परा वाले देशों में भी साधारणतया प्राप्त नहीं होती। सरकारी और प्रेस के अनुमानों के अनुसार मतदान में पहले की अपेक्षा मतदाताओं के अधिक

प्रतिशत ने भाग लिया। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि इस बार बावजूद जवाहरलाल नेहरू जैसे लोकप्रिय नेता के अभाव के मतदाताओं ने उत्साहपूर्वक बहुत बड़ी संख्या में मतदान में भाग लिया। यह मतदाताओं की परिपक्वता और भारतीय प्रजातन्त्र की स्वस्थता का निश्चित चिन्ह है। यदि वे, जो इस देश में प्रजातन्त्रिक चुनावों की व्यवस्था के शीघ्र ही अन्त होने की भविष्य वाणी कर रहे थे, गलत सिद्ध हुये हैं, तो वे भी, जो भारत के लिये सैनिक अधिनायकशाही की भविष्यवाणी करते रहे हैं, झूठे भविष्य वक्ता सिद्ध होगे।[1]

किसी भी शासन पद्धति की सफलता इस बात में है कि वह स्थायित्व (stability) को सुनिश्चित बनाये। इस दृष्टि से भारतीय प्रजातन्त्र अन्य अनेक प्रजातन्त्री देशों की तुलना में बहुत अधिक सफल रहा है। जबकि बर्मा, इन्डोनेशिया, पाकिस्तान तथा हाल ही में स्वतन्त्रता प्राप्त करने वाले अनेक देशों में प्रजातन्त्रात्मक पद्धति असफल हो चुकी है, भारत में प्रजातन्त्रात्मक पद्धति, बावजूद अनेक कठिन परिस्थितियों के, न्यूनाधिक मात्रा में सफल रही है। अब तो अनेक पर्यवेक्षकों का मत है कि कई राज्यों में कांग्रेस विरोधी दलों को बहुमत मिल जाने के परिणामस्वरूप कांग्रेस की एकाधिकारी सत्ता का अन्त हुआ है और सच्चे अर्थ में, प्रजातन्त्र की स्थापना होगी। चौथे आम चुनावों के परिणामों से विरोधी दलों के नेताओं और कार्यकर्ताओं में यह विश्वास पैदा हो गया है कि वे संवैधानिक और शान्तिपूर्ण तरीकों से सत्ता प्राप्त कर सकते हैं। अतएव उनका प्रजातन्त्र में विश्वास पहले की अपेक्षा कहीं अधिक सुदृढ़ हो गया है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति से अब तक के लगभग २१ वर्ष में भारत ने विभिन्न क्षेत्रों में उल्लेखनीय प्रगति की है, जिसका श्रेय अधिकांशतः देश की प्रजातन्त्रात्मक पद्धति को ही दिया जाना चाहिये। सर्वप्रथम, भारत के राज्य-क्षेत्र में सम्मिलित सभी देशी रियासतों का भारतीय संघ में एकीकरण सुगमतापूर्वक हो गया और उनमें स्वेच्छाचारी तथा वैयक्तिक शासन के स्थान पर प्रजातन्त्रात्मक पद्धति लागू हुई। दूसरे, सन् १९५६ में राज्यों का पुनर्गठन हुआ, जिससे देश की बहुत बड़ी जनता की राजनीतिक अभिलाषायें पूरी हुईं। राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन तथा नये राज्यों के निर्माण की प्रक्रिया अब लगभग पूर्ण हो चुकी है। इस कार्य की पूर्ति अधिकांशत बहुसंख्या की इच्छा के अनुसार सहमति के आधार पर हुई है, यद्यपि आन्दोलनों और हिंसापूर्ण घटनाओं का भी उसमें भाग रहा है। तीसरे, विभिन्न संघीय क्षेत्रों में भी प्रजातन्त्रात्मक पद्धति को कुछ सीमाओं के अधीन लागू किया गया है। चौथे, विभिन्न पड़ोसी राज्यों और संघीय क्षेत्रों की सामान्य समस्याओं को सहयोग द्वारा हल करने के लिए जोनल परिषद् गठित हुई हैं।

---

1 *Hindustan Times, Feb. 22, 1967.*

परन्तु आज के विश्व में राजनीतिक प्रजातन्त्र अपर्याप्त है; अतएव सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में भी प्रजातन्त्र की स्थापना आवश्यक है। संविधान में समाविष्ट मूल अधिकारों के प्रदान किये जाने से सभी नागरिकों का कानूनी पद और सामाजिक दर्जा प्रायः एक समान हो गया है। अनुसूचित वर्गों व जन-जातियों, पिछड़े हुए वर्गों और स्त्रियों को समाज में समान पद दिलाने की दिशा में अनेक सराहनीय प्रयत्न हुये हैं और आवश्यक कानून बने हैं। जनसाधारण के जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने तथा देश के आर्थिक विकास को तीव्र गति से आगे बढ़ाने के लिये सरकार ने नियोजन (planning) को अपनाया है। नियोजित आर्थिक विकास हेतु भारत में तीन पंच-वर्षीय योजनायें कार्यान्वित हो चुकी है और चौथी पंच-वर्षीय योजना की रूपरेखा लगभग तैयार है। एक पत्रिका ने '२१ वर्ष' शीर्षक के अन्तर्गत संकेत किया है :

> विशुद्ध मानवी शब्दों में, सार्थक उपलब्धियां प्राप्त हुई है। जीवन की आशा का काल लम्बा हो गया है। स्वास्थ्य और शिक्षा की सुविधाओं का प्रसार हुआ है; और बावजूद वृद्धिपूर्ण बेरोजगारी के रोजगार के अवसरों का विस्तार हुआ है। इसी प्रकार, अर्थ-व्यवस्था के क्षेत्र में आज हमारे उद्योगों का धरातल वृहत और परिष्कृत है। औद्योगिक उत्पादन में लगभग १५० प्रतिशत की वृद्धि हुई है। कृषि पैदावार दो-गुनी हो गई है। राष्ट्रीय आय नियोजन के युग से पूर्व की अपेक्षा महत्वपूर्ण मात्रा में ऊंची हुई है, यद्यपि प्रति व्यक्ति आय में सुधार बहुत कम हुआ है।[2]

प्रजातन्त्र की सफलता का एक पहलू और है। प्रजातन्त्र में नागरिकों के स्वतन्त्रता सम्बन्धी अधिकार सुरक्षित रहने आवश्यक है। भारतीय संविधान के अन्तर्गत नागरिकों को भाषण, अभिव्यक्ति, सभा करने, संगठन बनाने, देश में कहीं भी आने-जाने आदि के मूल अधिकार मिले है और उन पर केवल उचित प्रतिबन्ध ही लगाये जा सकते है। इसी कारण देश में विरोधी दलों के अस्तित्व को कोई खतरा उत्पन्न नहीं हुआ है; वास्तव में लगभग २० वर्ष तक एक ही प्रमुख दल के सत्तारूढ़ रहने पर भी विरोधी दलों का महत्व कम न होकर बढ़ता रहा है और चौथे आम चुनावों के परिणामों ने तो इस बात को सिद्ध कर दिया है कि भारत में प्रजातन्त्र की नींव सुदृढ़ है। सरकार के विरोधियों, यहाँ तक कि साम्यवादियों को भी, जो प्रजातन्त्र के समर्थक बनते है किन्तु वास्तव में नहीं है, सरकार की आलोचना और विरोध करने की उचित मात्रा से भी अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त रही है। साथ ही भारत का प्रेस स्वतन्त्र है और ऐसा होना प्रजातन्त्र के लिये अति आवश्यक है। सन् १९५६ के संसदीय कार्यवाही (प्रकाशन के रक्षण)

2 *Indian Recorder and Digest*, Aug 1968

अधिनियम [Parliamentary Proceedings (Protection of Publication) Act, 1956] से प्रैस को मूल्यवान अधिकार मिला है । इस अधिनियम के अन्तर्गत कोई भी व्यक्ति किसी समाचारपत्र में संसद के दोनो सदनो की कार्यवाही की सारपूर्ण सच्ची रिपोर्ट प्रकाशित होने के लिये किसी न्यायालय के समक्ष उत्तरदायी नही है, जब तक यह सिद्ध न हो जाये कि प्रकाशन दुर्भावनापूर्ण है। अतएव भारतीय सविधान के अन्तर्गत हमारा प्रैस स्वतन्त्र है, और उस पर ससद केवल उचित प्रतिबन्ध ही लगा सकती है ।[3]

यहा पर ससद की कार्य प्रणाली से सम्बन्धित एक नई प्रक्रिया का उल्लेख करना भी उपयुक्त होगा। सन् १९५४ मे प्रक्रिया नियमो (Rules of Procedure) मे सरकार का ध्यान आकर्षित करने का नोटिस (Calling attention notice) देने के नियम को जोडा गया। इस नियम के अन्तर्गत कोई भी अ-सरकारी सदस्य दिन की कार्य-सूची मे किसी नये विषय को सम्मिलित करा सकता है। वह किसी भी घटना के बारे में सरकार का ध्यान आकर्षित करने का नोटिस देकर उस विषय पर लघु वाद-विवाद उठाने का अवसर पाता है। यह आधुनिक ससदीय प्रक्रिया मे भारत की नई देन है, जो अति-महत्वपूर्ण है।[4] इसके परिणामस्वरूप ससद की शक्ति मे वृद्धि हुई है, क्योकि संसद के सदस्यों को सरकार के कार्यों की आलोचना करने का एक नया अस्त्र प्राप्त हुआ है।

परन्तु अभी तक तो हमने भारतीय प्रजातन्त्र के एक पक्ष का ही चित्रण किया है। इसका दूसरा पक्ष बहुत महत्वपूर्ण है, विशेष रूप से वर्तमान परिस्थितियों मे जबकि जनसाधारण की आर्थिक कठिनाइयां बढ़ रही है और कांग्रेस विरोधी दलों द्वारा निर्मित सयुक्त विधायक दलों की सरकारों से जनता की आशायें निराशाओं मे बदल गई है। गिरते हुये मन्त्रिमण्डल राजनीतिक अस्थायित्व और क्षय के चिन्ह प्रतीत होते है। पाकिस्तान के राष्ट्रपति अय्यूबखां ने इस बारे मे कि पाकिस्तान मे संसदीय प्रजातन्त्र क्यो विफल हो गया जबकि वह भारत में कायम

---

3 "Therefore, under the Constitution our press is free, subject to any restrictions that Parliament may impose in its wisdom." (P. N. Sapru.)

Parliamentary Democracy, Report of the Second All India Seminar, p. 73

4 "It is a unique Indian innovation in modern parliamentary procedure, which is not found in the armoury of M. Ps even in Great Britain It enables a private member to introduce into a day's list of business an unscheduled item. When it is realised that most of the Lok Sabha's time is taken up by official business, legislative or budgetary, the calling attention notice will be seen as a significant accretion of strength to the private member. He can turn the parliamentary spotlight on a subject which the Government may not be keen on exposing to the time-light"

Bhargava, G. S., Art., *'Parliament : View from the press Gallery,' Indian and Foreign Review, June 15, 1967.*

है, निम्नलिखित विचार प्रकट किये है, जिन पर बहुत ही गम्भीरतापूर्वक ध्यान देना आवश्यक और उचित है :

> परन्तु इस तथ्य का कि हिन्दू एक प्रजातन्त्रात्मक राज्य को शासन के संसदीय रूप के साथ चला सके हैं यह अर्थ नही है कि यह पद्धति भारत मे स्थिर रहेगी । मेरा विश्वास है कि परिवर्तन आवेंगे और वह प्रेरणा तथा एकता जो कि स्वातन्त्र्य आन्दोलन ने उत्पन्न की अब वैयक्तिक वाद-विवादो के उदय होने, प्रादेशिक तनावों और भाषायी विशिष्टताओं के कारण लुप्त हो रही है । कांग्रेस पार्टी का खण्डित होना अवश्यंभावी है । जब ऐसा हो जायेगा, भारत उन बातो का सामना बाद मे करेगा जिनका कि हमने पहले किया ।[5]

कोई वीर मनुष्य ही भावी महीनों के राजनीतिक भविष्य के चित्रण का प्रयत्न कर सकता है। आज की खलबली मे सरलतापूर्वक ऐसी चार-पाँच राज्य सरकारों को ही गिना जा सकता है, जिन्होंने स्व-नाशक प्रवृत्तियों पर विजय पाई है । यह कहना सच नही होगा कि आज जनता देश मे राजनीतिक दलों के भविष्य के बारे में चिन्तित है । वह तो उसके स्थायित्व और प्रशासन की सच्चाई व निरन्तरता तथा आर्थिक-भार के प्रगतिशील हल्का होने में दिलचस्पी रखती है। यह मानना ठीक होगा कि आज अधिकतर राज्यों में प्रशासन का उत्साह और निर्देशन खो गया है; (कुछ समय पूर्व तक) राजनीतिक स्वामी अत्यधिक हस्तक्षेप द्वारा दिन-प्रतिदिन के प्रशासन को मोडते थे; परन्तु आज विपरीत बात सच है, क्योंकि राजनीतिक नेता अपने अस्तित्व को कायम रखने के संघर्ष में इतने लीन है कि उन्हे सरकारी सेवको के कार्यों पर दृष्टि डालने का तनिक भी समय नही है। १९६७ के प्रारम्भ से भारत मे भारतीय प्रजातन्त्र का पुनर्जन्म दुःख के जगत में प्रविष्ट हो गया प्रतीत होता है । अनेक विचारशील भारतीय अपने प्रजातन्त्र के भविष्य के बारे में, जिस पर हमारी स्वतन्त्रता निर्भर करती है, निराशा अनुभव करने लगे है । कुछ ने सुझाव दिया है कि अब हमें बहु-दलीय राजनीति और स्वार्थी राजनीतिज्ञों के साथ २० वर्ष के प्रयोग के बाद, राष्ट्रपति शासन को अपनाना चाहिये । इस समय आवश्यकता इस बात की है कि छोटे-छोटे दलो से मिलकर दो-तीन अखिल भारतीय दलो का विकास हो । अनुभव यह दिखाता है कि ढीले-ढाले गठबन्धन सुविधा के विवाहो से अधिक अच्छे नही है ।

5 "But the fact that the Hindus have been able so far to run a democratic state with a parliamentary form of government does not mean that this system has come to stay in India. I believe changes will occur and that the empetus and cohesion that the freedom movement generated is now dying out because of the [illegible] nsions, and linguistic identities. [illegible] inevitable. When that happens, [illegible]

Khan, M A., *Friends, Not Masters*, p 214.

संसदीय शासन के लिये मान्य नेताओं (acknowledged leaders) की आवश्यकता है—संघ सरकार व राज्य सरकारों में भी। पुराने माने हुये नेताओं की पीढ़ी का अन्त हो गया है और नया नेतृत्व भारी उत्तरदायित्वों को सम्भालने के योग्य सिद्ध नहीं हुआ है। वयस्क मताधिकार और विधायकों की बहुत बड़ी सख्या में आवश्यकता ने भावी नेताओं के ऊपर अधिक भार डाला है। स्वभावतः राजनीतिक दलों ने ऐसे उम्मीदवारों को खड़ा किया जो मतदाताओं को अपने साथ ले जा सकें; इस बात की किसी ने चिन्ता न की कि कैसे और क्यों ? इसके अतिरिक्त चुनावों मे व्यय बहुत बढ़ गया। अतः ऐसे उम्मीदवारों को छांटा गया जो स्वयं अधिक व्यय का भार सहन कर सके अथवा जो अन्य स्रोतों से वित्तीय साधन प्राप्त कर सके। ऐसी परिस्थितियों मे अधिकतर विधायक ऐसी प्रथाओं के दोषी बने अथवा समझे गये जो कि भ्रष्टाचार को बढाने वाली है।

संसदीय प्रक्रिया के सम्बन्ध से कुछ अभिसमयों (conventions) का विकास हुआ है, किन्तु ब्रिटेन में मान्यता प्राप्त स्वस्थ अभिसमयो को भारत की ससद तथा राज्यों के विधान-मण्डलों में अगीकृत नहीं किया गया है। उनमें से ये उल्लेखनीय है, जिनके अभाव मे ससदीय प्रजातन्त्र सुगमतापूर्वक नहीं चल सकता—अध्यक्ष (Speaker) को चुने जाने के बाद राजनीतिक दल से पूर्णतया सम्बन्ध-विच्छेद कर देना चाहिये और अपना कार्य पूर्ण निष्पक्षता से करना चाहिये; विरोधी पक्ष के नेता के महत्व को स्वीकार करना; बहुमत का विश्वास खो जाने पर मुख्यमन्त्री द्वारा पद-त्याग कर देना; ससदीय प्रक्रिया के नियमो का उल्लघन न करना; एक दल के टिकट पर चुने जाने के बाद दल को व्यक्तिगत लाभ के लिये न बदलना; इत्यादि। स्वस्थ अभिसमयों की अनुपस्थिति में विधान-मण्डलों में अव्यवस्था और गडबड के दृश्य प्रस्तुत होते रहते हैं और ऐसे मन्त्रि-मण्डल पदों पर आसीन रहे है, जिन्होने विधान-मण्डल के बहुमत का समर्थन खो दिया। ऐसी घटनाओं से ससदीय प्रजातन्त्र के प्रति जनता के विश्वास में कमी उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है।

१५ मार्च १९६७ को अपने पुनर्निर्वाचन के बाद प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने राष्ट्र के नाम प्रथम ब्राडकॉस्ट भाषण में कहा :

> कुछ वर्षों से, विशेषकर गत वर्ष, सरकार और जनता के बीच कभी-कभी भ्रमपूर्ण मुकाबला करने का वातावरण रहा है। मुझे विश्वास है कि हम में से प्रत्येक को हिंसा अथवा बलपूर्ण तरीकों के प्रयोग पर गम्भीर चिन्ता है। संसदीय प्रजातन्त्र में ऐसे तरीकों का कोई स्थान नहीं है। देश का शासन और विकास एक ऐसा उत्तरदायित्व है जिसमें समुदाय के सभी वर्गों और व्यक्तियों को भाग लेना चाहिये। मेरा यह प्रयत्न होगा कि भाग लेने, मन्त्रणा और वाद-विवाद के क्षेत्रो का विस्तार हो। हम उन्नति में साझेदारी चाहते है।

आर्थिक क्षेत्र में—हमारा ध्येय स्वदेशी या आर्थिक स्वराज्य—है और हम यह दिखाना चाहते है कि आत्म-निर्भरता लक्ष्य और प्रक्रिया दोनों ही है। हमें अपनी जनसख्या की वृद्धि पर नियन्त्रण करना है। परिवार-नियोजन मानव शक्ति के नियोजन का केवल एक पहलू है। शिक्षा दूसरा पहलू है। इस वर्ष विद्यार्थियों में अशान्ति के लिये कारण कुछ भी रहे हो, यह एक चेतावनी है। हमारी शिक्षा पद्धति में अविलम्ब सुधार की आवश्यकता है। ...यदि आम चुनावो ने किसी पाठ का सकेत दिया है तो वह यह है कि देश (नीतियों और कार्यक्रमो) का अनुपालन, उन्नति और परिवर्तन चाहता है। शक्ति और उत्तरदायित्व एक नई पीढी के हाथ में जा रहे है। आयु की बुद्धिमत्ता और अनुभव के साथ युवाओ के आदर्शवाद और ओजस्विता का मेल होना आवश्यक है।[6]

आज आवश्यकता इस बात की है कि जनता शासन के कार्यों में सक्रिय और बुद्धिपूर्ण भाग ले—केवल चुनावों के समय ही नहीं वरन् आर्थिक और सामाजिक पुनर्निर्माण के महान् एवं कठिन कार्य मे—जैसा कि अभी तक नही हो रहा है। यह बडे खेद की बात है कि जनता ने प्रजातन्त्र को सफल बनाने मे उचित उत्साह नही दिखाया है। यदि निर्वाचक-मण्डल सतर्क हो तो वह 'अवाछनीय मन्त्रि-मण्डल' को पदासीन न रहने दे। आधारभूत कठिनाई यह दिखाई पड़ती है कि शक्ति ना-समझ, ग्रामीण और अशिक्षित बहुसख्यक मतदाताओं के हाथ मे है, जबकि शहरी, समझदार और शिक्षित वर्ग अल्पसख्या मे हैं और सरकार को बदलने में असमर्थ है।

प्रो० के० वी० राओ के अनुसार जनता की आशाओ और सवैधानिक उत्तरों के बीच बडा अन्तराल (great gap between the people's expectations and the constitutional responses) है, और सवैधानिक तरीके तथा विधायन द्वारा परिवर्तन कठिन हो गया है; और अन्तराल को सभी तरीकों से भरने का प्रयत्न किया जा रहा है। इस प्रकार भारत ने सवैधानिक विरोध और जन-आन्दोलनो की तकनीकें विकसित की है, शान्तिपूर्ण सत्याग्रह से रेल स्टेशनों को जलाने की। तथ्य यह है कि यही ऐसी भाषा दिखाई पडती है जिसे सरकार समझ सकती है। इस अन्तराल के परिणामस्वरूप हमारे देश मे जन-नेताओं की एक नई पीढ़ी का उदय हुआ है। कुछ समय पूर्व तक देश मे ऐसा नेतृत्व था जो कि नीतियो को विकसित कर सकता था और बाद में उनके औचित्य के बारे में

---

6 "If the General Elections have pointed a moral, it is that the country wants performance, progress and *change. Power and responsibility* are passing to a new generation. The wisdom and experience of age must blend with the idealism and vitality of youth"

Indian and Foreign Review, Apl, 1, 1967.

जनता को शिक्षित करता था। इस प्रकार वे जनता के प्रतिनिधि थे, जो उसके बारे में सोचते थे और बुद्धिमत्तापूर्ण ढग से कार्य करते थे। परन्तु आज इस स्थिति में परिवर्तन हो गया है। आज के नेताओं को चुने जाने के लिये जनता की नब्ज को अनुभव करना, उनके मन को जानना और उनकी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करना पड़ता है। एक परिभाषा के अनुसार यह वास्तविक प्रजातन्त्र हो सकता है; परन्तु जहाँ साधारण जन (mass man) ने जीवन में अपनी दिशा और प्रयोजन को खो दिया है, सरकार भी अपनी दिशा और प्रयोजन को खो देगी।

प्रो० राओ के अनुसार इसका उपचार दो प्रकार का है। या तो हम फिर से श्रेष्ठ व्यक्तियों, अल्पसंख्या, मध्यम वर्ग का शासन स्थापित करें, या जनसाधारण को वास्तविक प्रजातन्त्रात्मक तकनीकों में शिक्षित करें। प्रथम विकल्प सम्भवतया *कठिन और प्रतिगामी है। दूसरा ही मार्ग एकमात्र हल है; और इस प्रकार की* शिक्षा सभी स्थानों पर तथा सभी स्तरों पर—स्कूलों में, परिवारों में, कारखानों में, सरकार में—आरम्भ हो जानी आवश्यक है। जनता को इस बात की शिक्षा और प्रशिक्षण मिलना चाहिये कि वाद-विवाद और समझौते द्वारा सभी प्रकार के मतभेदों को दूर किया जा सकता है तथा सरकार को सीखना चाहिये कि जन-इच्छाओं के अनुसार कार्य को जितना शीघ्र हम यह कर सकेंगे, उतना ही देश के *लिये अधिक अच्छा होगा।*[7]

इस समय भारत को ऐसे नेतृत्व की आवश्यकता है जो अपना जीवन देश को समर्पित करने को तैयार हो, जिसकी कल्पना शक्ति अच्छी हो, और जो निर्णय लेने के लिये समक्ष हो। हिचक और किसी भी ओर को बह जाने की भावना का अन्त होना आवश्यक है। जनता के लिये स्वतन्त्रता को वास्तविक बनाना अति आवश्यक है। अपने आप में राजनीतिक प्रजातन्त्र काफी नहीं है; इसे प्रभावी आर्थिक प्रजातन्त्र से मिलाना चाहिये। हमारे राजनीतिक नेताओं व कार्यकर्ताओं, सार्वजनिक सेवकों और शिक्षकों के प्रजातन्त्र और विधि के शासन (rule of law) में विश्वास को पुनर्जीवित करने की आवश्यकता है। यह एक माना हुआ तथ्य है कि स्कूलों और कालिजों में ही राजनीतिक विश्वास पैदा किया जाता है। राजनीतिक दलों को भी प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था और विधि के शासन में अपने विश्वास को पुनर्जीवित करना चाहिये।

श्री के० एम० मुन्शी के मतानुसार भारत में संसदीय प्रजातन्त्र तीन प्रकार के गम्भीर दबावों के अधीन चल रहा है, जिनका दूर होना अति आवश्यक है। वे दबाव ये है—(अ) बाह्य खतरे का दबाव; आक्रमण या आक्रामक कार्यवाही; तोड़-फोड; राज्य के विरुद्ध विद्रोहात्मक कार्यवाही; (ब) षड्यन्त्रकारी अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद द्वारा तोड-फोड और विद्रोहात्मक दबाव; और (स) आन्तरिक

7 Rao, K. V., *Parliamentary Democracy of India*, pp. 451-52.

अनेकीकरण अथवा खण्डन का दवाव।[8] हमारे विचार में, भारतीय प्रजातन्त्र को निम्नलिखित से गम्भीर खतरा है—(१) प्रादेशिकता और भाषावाद; (२) साम्प्रदायिकता; (३) जातिवाद; और (४) भ्रष्टाचार तथा राजनीति में धन की शक्ति। यदि हम इन आन्तरिक खतरों से सावधान हो जायें और बचने के लिये उचित उपाय निकाल लें तो भारत के लिये वाह्य आक्रमण का खतरा बहुत कम हो जायेगा।

इससे पूर्व कि हम इस अध्याय के आगामी खण्डों में इन खतरों का संक्षिप्त विवेचन करें यह आवश्यक और उचित प्रतीत होता है कि अति संक्षिप्त रूप में संसदीय प्रजातन्त्र के विकल्पों पर एक दृष्टि डाल लें। वास्तव में, प्रजातन्त्र का तो आजकल एक ही विकल्प है—अधिनायकतन्त्र (dictatorship), जिसके तीन रूप हो सकते है—(१) साम्यवादी अधिनायकशाही, जैसी कि सोवियत संघ और चीन में है, जहाँ व्यक्तियों और समूहों को राजनीतिक स्वतन्त्रतायें 'नहीं' के समान प्राप्त है; (२) फासिस्टवादी अधिनायकशाही, जैसी कि मुसोलिनी और हिटलर के अन्तर्गत क्रमशः इटली और जर्मनी में थी और जो हमारे विचार में प्रथम प्रकार की अधिनायकशाही से भी बुरी है, और (३) सैनिक अधिनायकशाही जैसी कि कुछ समय तक बर्मा, पाकिस्तान तथा अन्य देशों में रही और जिसे बहुत से व्यक्ति सम्भावित समझते है। हमारा विश्वास है कि प्रजातन्त्र सभी दृष्टियों से अधिनायकशाही की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छा है। जो लोग अधिनायकशाही की बात सोचते है वे भी उसे केवल अस्थायी रूप में चाहते है। भारत ने प्रजातन्त्र को सोच-समझकर अपनाया है। यदि भारत में प्रजातन्त्र सफल न हो सका तो भारत को ही नहीं विश्व को बड़ा भारी धक्का लगेगा और प्रजातन्त्र का भविष्य ही अन्धकारमय हो जायेगा। अतः हमें प्रजातन्त्र को सफल बनाने के लिये कठिनाइयों का सामना करना चाहिये और सभी प्रकार के सम्भव प्रयत्न करने चाहियें।

आगे यह प्रश्न उठना है कि संसदीय प्रजातन्त्र ही उपयुक्त रहेगा अथवा प्रजातन्त्र का कोई और रूप। श्री जयप्रकाश नारायण और कुछ अन्य विचारक पक्ष-विहीन प्रजातन्त्र (party-less democracy), गांधी जी द्वारा प्रतिपादित विकेन्द्रीकृत प्रजातन्त्र (decentralised democracy) तथा प्राचीन भारतीय नमूने पर आधारित प्रजातन्त्र की बात कहते है। श्री जयप्रकाश नारायण ने पाश्चात्य ढंग के प्रजातन्त्र पर आक्रमण करते हुये कहा है कि यह भारत के लिये अनुपयुक्त है और इसमें आधारभूत कमी है। प्रचलित प्रजातन्त्र में उनके अनुसार यह दोष है

---

8 (a) Pressure of external danger; aggression or invasion; sabotage; subversion; (b) pressure of subversion and sabotage by conspiratorial international communism; and (c) pressure of internal disintegration.

Munshi, K. M., Art, '*Parliamentary Democracy in Peril*', *The Indian Review*, Jan 1967

कि इसमें अल्पसंख्या, बहुसंख्या पर शासन करती है। इसका आधार समाज के बारे में आणविक दृष्टि (atomistic view of society) है, जिसमें व्यक्ति ऊपर से थोपी गई शक्ति के अधीन असहाय रहता है। इसके बजाय सम्पूर्ण वैध शक्ति नीचे से आती है, जिसमें से कम से कम ऊपर की ओर बहनी चाहिये। जिस प्रकार के प्रजातन्त्र की वह बात कहते हैं उसका दो विशेषणों द्वारा वर्णन किया जाता है— 'सामुदायिक' (communitarian) और 'भाग लेने वाली' (participating)। ग्रामीण समुदायों पर आधारित राजनीति के एक सच्चे पिरेमिड की रचना की जानी चाहिये; राज्य शक्ति के उच्चतर अंगों को निर्वाचन द्वारा नीचे के निकायों से गठित किया जाये और उन्हें केवल अवशिष्ट समन्वयकारी कार्य सौंपे जायें। इस प्रकार निर्णयों में सभी भाग ले सकेंगे और स्थानीय समुदायों को पुनर्जीवित करने पर दलगत राजनीति का अन्त हो जायेगा।[9] यह एक आदर्शवादी विचार है, जिसे आज के विश्व में व्यावहारिक रूप देना अत्यधिक कठिन होगा। फिर भी हमारा प्रयत्न यह होना चाहिये कि केन्द्रीकरण की वृद्धि को रोका जाये और विकेन्द्रीकरण को अधिक वास्तविक बनाया जाये। इस विषय में प्रो० जी० एन० पाठक ने सत्य ही टिप्पणी की है :

> संसदीय संस्थाओं के विरुद्ध शोर में आलोचकों ने कभी भी कोई काम चलाऊ स्थानापन्न नहीं सुझाया है, जो कि शासन कार्यों को उतने ही प्रभावी ढंग से पूरा कर सके जितना कि संसद द्वारा होता है। संसदीय पद्धति का सबसे बड़ा लाभ यह है कि यह ठीक प्रकार के नेतृत्व को उत्पन्न करती है और साथ ही साथ उत्तरदायित्व को सुनिश्चित बनाती है। सर्वोदय और भूदान के समर्थकों ने बहुधा संसद को एक विदेशी तथा अ-भारतीय संस्था बताया है। यह बात केवल आंशिक अर्थ में ही सच है। यदि शासन का कोई रूप है जिससे हम कुछ मात्रा में परिचित है तो वह संसदीय शासन है। आज महत्वपूर्ण प्रश्न यह नहीं है कि यह पद्धति भारतीय है या अ-भारतीय, किन्तु यह कि क्या यह भारतीय संस्था नहीं बन गई है। क्या इसका अब तक सफलतापूर्वक प्रयोग करके इसे हम त्याग दें? यदि संसद विदेशी है, तो उसी प्रकार संविधान, मूल अधिकार, संघात्मक व्यवस्था और भारत का प्रभुत्वपूर्ण प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य घोषित होना भी विदेशी हैं।...संसद द्रुतगति के साथ भारतीय राजनीतिक जीवन का केन्द्र बनती जा रही है। यह प्रजातन्त्र के अस्तित्व के जारी रहने का चिन्ह व गारण्टी है। प्रजातन्त्र के लिये संसद की सत्ता के कम होने से कोई अन्य बात अधिक खतरनाक नहीं है। इस समय संसदीय पद्धति की अनुपयुक्तता और अवांछनीयता की बात करना, उसे कमजोर बनाना तथा प्रजातन्त्र की नींव को खोखला

9 Morris-Jones, W. H., *The Government and Politics of India*, p. 215.

करना है। इण्डोनेशिया, बर्मा और पाकिस्तान में घटी हाल की घटनाओं से हमारी उत्तरदायित्व की भावना जाग्रत होनी चाहिये।[10]

संसदीय प्रजातन्त्र का एक विकल्प स्विटजरलैंड के नमूने का प्रजातन्त्र है, जो केवल उसी छोटे से देश में विकसित हुआ तथा सफलतापूर्वक चल रहा है। भारत जैसे विशाल देश में उस पद्धति का प्रयोग करना सम्भव और उचित न होगा। इस प्रकार हमारे सामने केवल एक ही विकल्प रह जाता है—राष्ट्रपति शासन पद्धति, जैसा कि संयुक्त राज्य अमरीका में है और जिसे पाकिस्तान में लागू किया गया है। फ्रांस में राष्ट्रपति डी० गॉल के अन्तर्गत संसदीय प्रजातन्त्र के साथ राष्ट्रपति शासन को मिलाया गया है, वह भी एक नमूना हमारे सामने है। राष्ट्रपति शासन में कार्यपालिका अधिक शक्तिशाली होती है, जो मन्त्रि-मण्डलों में अस्थायीपन को दूर करने के लिये आवश्यक प्रतीत होती है। अब तक भारत (केन्द्र व अधिकतर राज्यों) में एक ही दल का बहुमत व शासन रहा और बहुत ही कम अवसरों पर और कुछ ही राज्यों में राष्ट्रपति का शासन (President's rule) लागू करना पड़ा। चौथे आम चुनावों के बाद अवश्य ही स्थिति पूर्व की अपेक्षा अधिक खराब रही, जिसके परिणामस्वरूप कई राज्यों में राष्ट्रपति का शासन लागू हुआ और मध्य अवधि चुनाव होंगे। ऐसी आपातकालीन स्थितियों का मुकाबला करने के लिये भारत के संविधान में उपयुक्त और पर्याप्त प्राविधान है। अतएव संसदीय प्रजातन्त्र के स्थान पर राष्ट्रपति शासन को अपनाने का विकल्प आवश्यक और अधिक अच्छा भी नहीं है। देश की वर्तमान राजनीतिक और आर्थिक कठिनाइयों का वास्तविक हल प्रजातन्त्र के रूप का परिवर्तन नहीं, वरन् प्रजातन्त्र के लिये उत्पन्न खतरों से निवारण है। देश की स्वतन्त्रता और अखण्डता को बनाये रखने तथा आन्तरिक उन्नति की गति को बढ़ाने के लिये भी ऐसा करना अति आवश्यक और वांछनीय है।

२. साम्प्रदायिकता

भारतीय राष्ट्रवाद के सबसे बड़े शत्रु विदेशी शासक थे, जिन्होंने अपने शासन को बनाये रखने के लिये साम्प्रदायिकता के उदय और विकास में विशेष योग दिया। साम्प्रदायिकता का विकास अधिकांशतः साम्प्रदायिक अथवा पृथक् चुनावों की पद्धति के लागू किये जाने के परिणामस्वरूप हुआ। यहाँ पर साम्प्रदायिकता के लिये उत्तरदायी कारणों का अति संक्षिप्त विवेचन करना आवश्यक प्रतीत होता है। सर्वप्रथम, विदेशी शासकों ने 'विभाजन करो और शासन करो' की नीति का अनुसरण स्पष्ट रूप में किया। ब्रिटिश सरकार ने साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति जारी करने की नीति अचानक ही नहीं वरन् जान बूझकर अपनाई। यह नीति नियोजित और युक्ति युक्त थी। मोर्ले मुसलमानों को चाहता था, सिडेनहम

10 Pathak. D. N., Art, '*Is Parliamentary Government suitable to India*', *I. J. P. S.*, *Oct.–Dec 1958.*

अ-ब्राह्मणों को चाहता था। मॉन्टेग्यू ने सिखों को चाहा और मेक्डोनल्ड ने दलित वर्गों का पक्ष लिया। उनकी व्यक्तिगत पसन्द साम्राज्यवादी नीति के अनुकूल थी, जिसका उद्देश्य एक सम्प्रदाय को दूसरे के विरुद्ध खड़ा करना था। इस समस्या की उत्पत्ति और विकास में **मेहता और पटवर्धन ने त्रिकोण के ब्रिटिश बाजू के उत्तर**-दायित्व पर विशेष बल दिया है। इसके अतिरिक्त यह भी अकाट्य सत्य है कि ब्रिटिश शासकों ने सदैव मुसलमानो मे भी प्रतिक्रियावादी व सम्प्रदायवादी नेताओं का ही समर्थन किया। साथ ही अनेक अंग्रेज लेखकों ने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच वैमनस्य बढाने मे महत्वपूर्ण योग दिया। मार्वेस ऑफ जटलेण्ड ने **'आर्यावर्त का हृदय'** (The Heart of Aryavart) में दिखाया है कि हिन्दुओं के प्रयत्नों के पीछे तो अपने विश्वास और संस्कृति को पाश्चात्य सभ्यता द्वारा दबाये जाने से बचाने की इच्छा थी। मुसलमान भी वही लडाई लड रहे थे और वे साथ-साथ इस बात के लिये भी संघर्ष कर रहे थे कि ब्रिटिश सेनाओं के हटने पर कहीं हिन्दुओं की बहुसंख्या उन्हें न दबाले। वेलेन्टाइन शिरोल ने अपने विख्यात ग्रन्थ Indian Unrest में एक मुस्लिम मित्र की वार्ता का वर्णन देते हुए लिखा है; "गौ की पवित्रता हिन्दुओं की ईसाइयो व मुसलमानों दोनों के ही प्रति शत्रुता की कसौटी है; और दयानन्द की शिक्षाओं का पूर्ण बहाव विदेशी प्रभावो के क्रियात्मक विरोध की अपेक्षा हिन्दुत्व का सुधार करने की ओर बहुत कम है।" ऐसे ही एक लेख मे बॅक ने लिखा था; "गौ-वध रोकने के लिये हिन्दू मुसलमानो का बहिष्कार करने की सीमा तक चले गये, जिसके फलस्वरूप दंगे हुए।" १५ वर्ष तक अलीगढ केन्द्रित राजनीति मे उसका प्रमुख स्थान रहा था। इसी कारण जब उसकी मृत्यु हुई तो सर जोन स्ट्रेची ने कहा था; "एक ऐसा अंग्रेज जो साम्राज्य निर्माण कार्य मे एक दूरस्थ देश मे लगा था, मर गया है। वह एक सिपाही की भाति अपने कर्त्तव्य स्थान पर मरा है।"

साम्प्रदायिकता के विकास मे दूसरा बड़ा कारण सरकारी नौकरियो और विधान-मण्डलों में अधिक स्थान पाने की माग रही। साम्प्रदायिकता की समस्या का सम्बन्ध मुख्यतः धर्म से नही वरन् विभिन्न व्यावसायिक वर्गों के भिन्न-भिन्न समूहों के आर्थिक संघर्ष से था। इसी कारण यह समस्या मुख्यतः शिक्षित व व्यावसायिक वर्गों तक ही सीमित थी। सर्वसाधारण जनता से इसका विशेष सम्बन्ध न था। तीसरे, साम्प्रदायिकता के फैलाने में साम्प्रदायिक दलों और उनके नेताओं का विशेष योग रहा, जिन्होंने अपने नेतृत्व को अपने सम्प्रदाय के हितो व अधिकारों के लिए लड़ने वाले नेताओं के रूप में बढ़ाया। साम्प्रदायिक दंगों ने भी विभिन्न सम्प्रदायों के बीच वैमनस्य और खिचाव को प्रोत्साहन दिया, जब कभी दंगे हुये तो सरकारी अधिकारियों ने उनको दबाने के लिये उचित कार्यवाही करने मे ढील दिखाई। सन् १९३१ मे कानपुर में हुए दगो की जाच हेतु नियुक्त कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में कहा—'एक गवाह ने हमारे सामने कहा, यह भाव फैला है कि स्थानीय

अधिकारियों ने कड़े कदम नहीं उठाने चाहे, क्योंकि वे व्यापारियों से कांग्रेस कार्यों में सहायता देने पर नाराज थे और वे यह दिखाना चाहते थे कि अधिकारियों की सहायता के बिना वे अपना जीवन और सम्पत्ति की रक्षा नहीं कर सकते।'

पाकिस्तान की रचना अथवा भारत के विभाजन की ओर ले जाने वाली घटनाओं का वर्णन प्रारम्भिक अध्यायों में किया जा चुका है। उनसे एक स्पष्ट निष्कर्ष यह निकलता है कि मि० जिन्नाह के नेतृत्व में मुस्लिम लीग ने भारत की *संवैधानिक समस्या के हल करने में एक ऐसी रोक लगा दी, जो केवल विभाजन से ही हटी।* पाकिस्तान की रचना के उपरान्त उसके निर्माण के पक्ष और विपक्ष में तर्क देना व्यर्थ ही है। यहाँ पर, संक्षेप में, इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि धर्म के आधार पर 'राष्ट्र' नहीं बनता और पाकिस्तान की स्थापना से भी दो-राष्ट्र वाली समस्या का सन्तोषजनक हल नहीं निकला। दोनों ही राज्यों में दोनों प्रमुख सम्प्रदायों की जनता बड़ी संख्या में रहती है। पाकिस्तान के प्रधान मंत्री श्री सुहारावर्दी ने पाकिस्तान में संयुक्त निर्वाचन पद्धति का समर्थन करते हुये मुस्लिम लीग द्वारा प्रतिपादित और समर्थित द्वि-राष्ट्र के सिद्धान्त की निन्दा की।

देश के विभाजन से साम्प्रदायिक समस्या का कुछ हल तो अवश्य निकला, किन्तु समस्या का अन्त नहीं हुआ। विभाजन के उपरान्त ही विस्थापितों (displaced persons) की समस्या उत्पन्न हुई और उसने गम्भीर रूप धारण किया। पाकिस्तान में हिन्दुओं के साथ हुये दुर्व्यवहार ने हिन्दुओं को बदला लेने के लिये उत्साहित किया। देश के विभिन्न स्थानों में अनेक अशान्तिमय घटनायें हुई और क्रुद्ध जनता के रोष को सरकार भी न रोक सकी। उस समय राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, हिन्दु महासभा आदि ने मुसलमानों के प्रति हिन्दुओं की नाराजगी को भड़काया और राष्ट्रपिता का जीवन बलिदान हुआ। पश्चिमी पाकिस्तान से आने वाले विस्थापितों की समस्या तो कुछ ही वर्षों में सुलझ गई, किन्तु पूर्वी पाकिस्तान से अभी तक बड़ी संख्या में हिन्दुओं का भारत में प्रवेश जारी है। उनके लिये भूमि, मकान, व्यवसाय की समस्या काफी गम्भीर है। कुछ लोग पाकिस्तान से उनके बसाने के लिये भूमि की माँग करने पर जोर देते है तो कुछ पाकिस्तान के प्रति जैसे को तैसा वाली नीति पर चलने की भारत सरकार से माँग करते है। जम्मू-कश्मीर का प्रश्न भी स्थायी रूप से हल नहीं हुआ है और जब भी पाकिस्तानी नेताओं को आंतरिक समस्याओं को हल करने में सफलता मिलती प्रतीत नहीं होती तो वे कश्मीर के प्रश्न को उठा लेते हैं। पाकिस्तान सरकार हिन्दुओं के प्रति न्यायपूर्ण नीति का पालन नहीं कर सकी है। इन सभी कारणों से भारतीय जनता में साम्प्रदायिक तत्वों को समर्थन मिलता है। अभी तक केरल में 'मुस्लिम लीग' का संगठन शेष है और साथ ही हिन्दुओं में भी साम्प्रदायिक मनोवृति वाले नेता और दल कार्य कर रहे है। इन बातों से यह स्पष्ट है कि साम्प्रदायिक समस्या का अभी अन्त नहीं हुआ है।

भारत के संविधान द्वारा धर्म निरपेक्ष राज्य (Secular state) की स्थापना हुई है और सभी नागरिकों को समान अधिकार दिये गये हैं, जिनमें सरकारी नौकरियों आदि में अवसर की समता, धार्मिक और सांस्कृतिक स्वतन्त्रता मुख्य है। डोनल्ड युजीन स्मिथ नामक पाश्चात्य विद्वान का कथन है :

> भारत एक धर्म-निरपेक्ष राज्य है, उसी अर्थ में जिसमें कि कोई इसे प्रजातन्त्र कह सकता है। भारतीय राजनीति और शासन की विभिन्न अप्रजातान्त्रिक विशेषताओं के बावजूद, संसदीय प्रजातन्त्र चल रहा है, और काफी शक्ति के साथ। उसी प्रकार धर्म-निरपेक्ष राज्य; यह आदर्श स्पष्ट शब्दों में संविधान में समाविष्ट है, और इसे सारपूर्ण मात्रा में कार्यान्वित किया जा रहा है। इस प्रश्न का उत्तर (कि क्या भारत एक धर्म-निरपेक्ष राज्य है) ऐसे गतिशील राज्य की दृष्टि से दिया जाना चाहिये जिसे विरासत में कुछ कठिन समस्यायें प्राप्त हुई हैं और जो उन्हें साधारणतया स्वस्थ रेखाओं के आधार पर हल करने के लिये कठिन संघर्ष कर रहा है।[11]

१८ नवम्बर १९६६ को लन्दन (Royal Institute of International Affairs, London) में भाषण देते हुये पाकिस्तान के राष्ट्रपति अय्यूब खां ने दावा किया था कि पाकिस्तान समता की मुस्लिम विचारधारा का समर्थक है, जबकि भारत जाति की हिन्दू विचारधारा का। जोन ग्रिग नामक अंग्रेज ने उसकी आलोचना करते हुए गार्जियन (The Guardian) में व्यक्त किया :

> भारतीय और पाकिस्तानी के बीच वास्तव में विचारधारा की खाडी है—ऐसी नहीं जैसी कि राष्ट्रपति अय्यूब कहते हैं—इस्लाम और हिन्दुत्व के बीच में, वरन् अधिनायकशाही धर्मतन्त्र और धर्म-निरपेक्ष प्रजातन्त्र के बीच (between a dictatorial theocracy and secular democracy)। कांग्रेस का हिन्दू आन्दोलन या भारत का हिन्दू राज्य के रूप में वर्णन करना मनर्गल है। यह सच है कि हिन्दू धर्मान्धता अभी तक कायम है, परन्तु भारत उस अर्थ में धार्मिक राज्य नहीं है जिसमें कि पाकिस्तान है, न ही इसके नेताओं ने हिन्दू कट्टरता के प्रति अपील की है। इसके विपरीत भारतीय राष्ट्र के दो प्रमुख निर्माता सर्वोच्च दृष्टि से सहनशील गांधी और अज्ञेयवादी नेहरू (tolerant Gandhi and agnostic Nehru) रहे हैं।[12]

---

11 Smith, D. E. : *India as a Secular State, pp. 499-500.*

Also see : "Indian secularism is based on the national and scientific approach to the problem which a pluralistic society like the Indian society has to face."

Gajendragadkar, P. B., Art., *'Secularism and Indian Constitution', Pol. Sc Review, Apl 1966.*

12 *Indian and Foreign Review, Dec. 1, 1966.*

आधारित समूह भी है। दूसरी ओर हमारा संविधान ऐसा है जो इन सभी समूहों को कानूनी रक्षण प्रदान करता है और उन्हें एक अंग रूप में आत्मसात करता है। हमने भारत में यह गलती की है कि हमने अपनी जनता के विभिन्न अंगों को हिन्दू, मुस्लिम, सिख और अन्य अनेक अमूर्त प्रत्ययों (abstractions) का रूप दे दिया है। राष्ट्रीयता की उचित भावना के लिये आवश्यक है कि ये अनेक अमूर्त प्रत्यय एक ही अमूर्त प्रत्यय—भारतीय-में विलीन हो जायें। धर्म निरपेक्षता का आदर्श हमसे यही माग करता है; और यदि हमने एक बार अपने को भारतीय सोचने की आदत अर्जित कर ली तो हमारे हृदय और मन उतने ही बड़े हो जायंगे जितना कि हमारा देश है।[14]

राष्ट्रीयता की सच्ची भावना पैदा करने के लिये हमें देश में प्रजातन्त्र—राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक—को वास्तविक बनाना होगा, जिससे कि देश के सभी समूहों को सम पद (*equal status*), अवसर की समता और रोजगार के पर्याप्त साधन प्राप्त हो। सच तो यह है कि भारत में अल्पसंख्यकों (minorities) की समस्या आधारभूत समस्या है, साम्प्रदायिकता, प्रादेशिकता, भाषावाद और जातिवाद उसी समस्या के विभिन्न पहलू है। कई वर्ष पूर्व श्री श्रीप्रकाश ने 'अल्पसंख्यकों की समस्या' शीर्षक के अन्तर्गत लिखा था :

> चार कठिनाइयाँ, जैसा कि निरन्तर दोहराया जाता है, जातिवाद, साम्प्रदायिकता, भाषावाद और प्रादेशिकता के कारण हैं। यदि हम इन चारों वादों की ध्यानपूर्वक परीक्षा करें तो हम देखेंगे कि अन्तिम रूप में और आधारभूत, वे अल्पसंख्यकों की समस्या प्रस्तुत करती है, और यदि हम उस समस्या को सफलतापूर्वक हल कर ले तो ये सभी कठिनाइयाँ सरलता से और शीघ्र ही हल हो जायगी। ' सफल प्रजातन्त्र का सार इस बात में है कि अल्पसंख्यक वर्ग के सदस्य यह कहें कि उनके साथ न्याय हो रहा है। उन्हें शिकायत करने का कोई अवसर न मिले और बहुसंख्यक वर्ग को यह कहने की आवश्यकता न पड़े कि उनकी शिकायतें निराधार और पक्षपातपूर्ण है।[15]

हम उपरोक्त दृष्टिकोण से सहमत है, किन्तु यह कहना आवश्यक और उचित समझते है कि अल्पसंख्यकों को भी बहुमत का आदर करना चाहिये और पृथकता की भावना को त्याग कर राष्ट्रीय जीवन में अपना पूर्ण योग देना चाहिए। जहाँ तक भारत के जीवन में मुसलमानों के भाग का सम्बन्ध है, उन्हें देश के

---

14 Mujeeb, M., Art. *'Making of the Indian Nation', Indian and Foreign Review, Oct. 1967.*

15 *Problem of Minorities, Indian Express, Dec. 25, 1962.*

विधान मण्डलों, न्यायालयों और लोकसेवा आयोगों में उचित भाग मिला है; परन्तु कुछ अन्य क्षेत्रो मे ऐसा नही है। यदि हम आधुनिक व्यवसायों—चिकित्सा, उद्योग, वाणिज्य, इन्जीनियरिंग और सेवाओ पर ध्यान दे तो देखेंगे कि मुसलमानो का समुदाय पिछड़ा हुआ है। अतः यह गलत होगा कि हम भारत के सम्पूर्ण जीवन में मुसलमानो की स्थिति से सन्तुष्ट रहे। साम्प्रदायिक दगो का बार-बार होते रहना सामाजिक सामजस्य को प्राप्त करने में हमारी असफलता का बोधक है। आधुनिक व्यवसायो मे मुसलमानो के छोटे भाग के लिये अशत यह कारण भी उत्तरदायी है कि अनेक शिक्षित और उद्यमी मुस्लिम परिवार पाकिस्तान चले गये।

कारण कुछ भी हो, किन्तु यह तथ्य है कि आधुनिक शिक्षा और रोजगार के साधनो में, परम्परागत दस्तकारियो के बाहर, मुसलमानों की स्थिति अन्य समुदाय की अपेक्षा पिछडी हुई है। यहा तक कि जनवरी १९६८ मे उस्मानिया विश्वविद्यालय में मौलाना आजाद स्मृति भाषण में **श्री हुमायूं कबीर** ने सुझाव दिया : 'सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए अल्पसख्यक वर्गों के लिये सेवाओ, व्यापार और वाणिज्य तथा प्रतिनिधिक निकायो में १५ वर्ष के लिये आनुपातिक प्रतिनिधित्व हो जिसका उसके बाद २५ वर्षो में प्रगतिशील आधार पर अन्त किया जाये। श्री कबीर ने मुसलमानो की पिछडी हुई दशा पर ध्यान दिला कर उचित ही कार्य किया है, परन्तु खेद की बात है कि उन्होंने उन पगो पर विचार नही किया जिन्हे कि स्वय मुसलमानो को आधुनिकीकरण और सामाजिक एकीकरण के हित मे उठाना चाहिये। इस विषय मे निम्नलिखित टिप्पणी ध्यान देने योग्य है :

> सकीर्णता और धार्मिक भावों का राजनीतिक शोषण केवल हिन्दू सम्प्रदायवादियो का ही एकाधिकार नही है। दुर्भाग्यवश मुसलमानों में भी बहुत से सकुचित विचार वाले रूढ़िवादी (दकियानूसी) व्यक्ति है और श्री कबीर जैसे शिक्षित मुसलमान मुस्लिम समुदाय के भीतर रूढ़िवादिता से लडने के लिये पर्याप्त कार्य नही कर रहे है। शिकागो विश्वविद्यालय के **श्री इम्तियाज अहमद** के शब्दो मे 'मुसलमानो के वैयक्तिक कानून (personal law) को सुधारने के प्रस्ताव का सभी मतो के मुसलमानो ने जोरदार विरोध किया और कानून मत्रालय द्वारा गठित समिति ने, जिसमें प्रमुख मुस्लिम विद्वान और न्याय विद सदस्य थे, सरकार को परामर्श दिया कि प्रस्तावित सुधार को स्थगित कर दिया जाये। दुर्भाग्य की बात है कि किसी भी मुस्लिम राजनीतिक नेता ने अपने समुदाय के सदस्यो को यह बताने का प्रयत्न नहीं किया कि विकसित हो रही सामाजिक व्यवस्था के सन्दर्भ में मुसलमानो की आवश्यकता है।

कितना अधिक अच्छा होता यदि श्री जयप्रकाश नारायण के बजाय कोई मुस्लिम नेता अलीगढ विश्वविद्यालय के स्नातकों को यह परामर्श देता कि शिक्षित मुस्लिमों को पृथकता व स्वप्न की दुनिया में बचकर रहने के स्थान पर धर्म-निरपेक्ष प्रजातन्त्र और आर्थिक विकास व नई सामाजिक व्यवस्था के लिये किये जा रहे सघर्ष में भाग लेना चाहिए मुस्लिम प्रेस का भी यह कर्त्तव्य है कि वह मुस्लिम रूढ़वादिता के विरुद्ध युद्ध में उसी प्रकार भाग ले कि जिस प्रकार वह हिन्दु साम्प्रदायिकता के विरुद्ध लेता है। गणतन्त्र दिवस पर मुस्लिम प्रेस के बडे भाग मे यह लिखा है कि भारत मे धर्म निरपेक्ष सविधान लागू होने के १८ वर्ष बाद भी मुस्लिम समुदाय असुरक्षित है। परन्तु इस प्रेस ने मुसलमानो मे पृथकता व सकीर्णता का उपदेश देने वाले मुसलमानो की निन्दा करने के लिये क्या किया है। बहुसख्यक और अल्पसख्यक समुदायो मे प्रतिगामी कट्टर पथियो को केवल तभी पृथक और पराजित किया जा सकता है जबकि प्रगतिशील और प्रबुद्ध तत्व मिल जायें और सामान्य नागरिक अधिकारो व दायित्वो, अवसर की समता और रूढ़वादिता के बनारस व अलीगढ विश्वविद्यालयो जैसे स्थानो के धर्म-निरपेक्षीकरण के लिये युद्ध करे।[16]

३. प्रादेशिकता और भाषावाद

राज्यों के पुनर्गठन से एक समस्या का काफी सन्तोषजनक और उचित हल निकला, परन्तु उसके परिणाम बडे हानिकारक रहे हैं। कई राज्यों में अल्पसख्यकों की समस्या पूर्व की अपेक्षा अधिक गम्भीर हो गई है और भाषा सम्बन्धी कठिनाइया और विवाद बढ गये है। सन् १९६४ मे लार्ड एटली ने एक लेख में इस खतरे की ओर सकेत किया था

(भारत के बारे मे) दूसरी चिन्ता जो मेरे मन मे है एकता भग होने के खतरे की है। भाषायी राज्यों (lingustic states) की रचना से, बावजूद उसके पक्ष मे दिये जाने वाले स्पष्ट तर्कों के उस एकता के भंग होने की सम्भावना पैदा हो गई जो कि ब्रिटिश शासन की विशेषताओ मे से एक थी। यह एक गम्भीर प्रतिगामी पग होगा यदि भारत सघर्षशील और प्रतिद्वन्द्वी राज्यो में विभाजित हो गया। मैं भारत को (यूरोप के) बाल्कान प्राय द्वीप की भाति बटा हुआ नही देखना चाहता।[17]

अनेक विचारशील देशवासियों तथा भारत के प्रति सहानुभूति रखने वाले विदेशियो को बम्बई के महाराष्ट्र व गुजरात और पजाब के विभाजन से चिन्ता उत्पन्न हुई और पूर्वी भारत मे असम के भीतर पहाड़ी क्षेत्रों के लिये पृथक राज्य

16 *Thought, March 2, 1968,*

17 *Dangers to Democracy in India, The Indian Review, March-Apl. 1964.*

की माँग आदि से यह चिन्ता और भी गम्भीर रूप धारण करती जा रही है। यह कहना अयुक्तिपूर्ण न होगा कि भाषायी कट्टर पंथियो ने राष्ट्रवाद पर भयकर आघात किया है। कुछ राज्यो ने तो अभी से स्वतन्त्र राष्ट्रीय राज्यों का सा रूस अपना लिया है और देश के बड़े हितो को भुला दिया प्रतीत होता है। यह मानना पड़ेगा कि भाषावाद एक शक्तिशाली विभाजनात्मक शक्ति है। विभिन्न राज्यो के भीतर एक भाषा पर बल ने भारतीय नागरिको को सविधान से प्राप्त मूल अधिकारों को निरर्थक बना दिया है। सच तो यह है कि किसी भी भाषायी समूह की राजनीतिक आकांक्षाओं की सन्तुष्ट सम्बन्धित राज्य के क्षेत्र में अन्य भाषायी समूहो को निकालने तथा उनके प्रति विभेद की नीति द्वारा ही पूर्ण हो सकती है।

उपरोक्त के अतिरिक्त, अखिल भारतीय सेवाओं मे भरती के मामले मे योग्यता के आधार पर स्वस्थ प्रतियोगिता के स्थान पर बेशर्मी के साथ प्रादेशिक अधिमान्यता (regional preference) की माग की जा रही है। इसके साथ ही यह भी माग की गई है कि सघीय लोक-सेवा आयोग द्वारा सचालित परीक्षायें प्रादेशिक भाषाओं मे हो और अखिल-भारतीय सवर्गों (all India cadres) हानि कर कोटा पद्धति को जारी किया जाये। ये निःसदेह राजनीतिक शरीर में एक बढते हुए भयानक रोग के चिन्ह है। प्रादेशिक भाषाओं का अखिल-भारतीय परीक्षाओ के लिए माध्यम रूप में स्वीकार किया जाना राष्ट्रीय एकता के लिए भयानक खतरा सिद्ध होगा। सच तो यह है कि अब भाषा पर आधारित प्रादेशिकता एक विनाशकारी राजनीतिक शक्ति का रूप धारण करती जा रही है। यह सब कुछ **राज्य पुनर्गठन कानून, १९५६ (States Reorganisation Act, 1956)** द्वारा व्यवस्थित दो सस्थागत रोकों जोनल परिषदों और भाषायी अल्पसख्यकों के लिए आयुक्त (Zonal Councils and the Commissioner for Linguistic Minonrities) की स्थापना के बावजूद हुआ है।

भाषायी अल्पसंख्यक समूहो के भावो को शान्त करने के हेतु यह आवश्यक है कि उनमें उनकी भाषा, लिपि और सस्कृति को भविष्य में सुरक्षित बनाये रखने का विश्वास पैदा किया जाये। इस उद्देश्य से सघ सरकार को निम्नलिखित पगों में अधिक दिलचस्पी लेनी चाहिए और उन्हे सच्चाई के साथ कार्यान्वित करना चाहिए—(१) भाषायी अल्पसख्यको के बालकों के लिए प्रारम्भिक मंजिल में मातृ-भाषा के माध्यम द्वारा शिक्षा प्रदान करने के लिये राज्य को पर्याप्त सुविधाओं की व्यवस्था करनी चाहिये; (२) सविधान के अन्तर्गत भाषायी अल्पसख्यकों के लिये व्यवस्थित सरक्षणों का उचित रूप मे पालन किया जाये; और (३) भारत की सभी भाषाओ का विकास किया जाये तथा उन्हें धनी बनाया जाये, विशेष रूप से सघीय भाषा (हिन्दी) का, जिससे कि उसे भारत की मिश्रित संस्कृति के सभी तत्वों की अभिव्यक्ति का वास्तविक माध्यम बनाया जाये। यह भी वाञ्छनीय है कि अग्रेजी को हमारी शिक्षा पद्धति मे महत्वपूर्ण स्थान दिया जाये और उसे शिक्षा के उच्चतर

स्तर पर शिक्षा के माध्यम के रूप में कायम रखा जाये; कम से कम प्रत्येक राज्य में एक विश्वविद्यालय में ऐसा अवश्य ही किया जाये।

भाषा समस्या का एक पहलू और है, जिसके कारण देश के विभिन्न भागों में हिंसापूर्ण घटनायें घटी है, और कई अवसरों पर देश के विभिन्न भागों में अव्यवस्था फैली है। उस पहलू का सम्बन्ध संघ की सम्पर्क भाषा (link language) तथा राजभाषा से है। जनवरी सन् १९६५ से अंग्रेजी का स्थान हिन्दी को लेना था; परन्तु अ-हिन्दी भाषा भाषी राज्यों के विरोध के कारण यह सम्भव न हो सका और हिन्दी के साथ अंग्रेजी एक सहयोगी भाषा (associate language) के रूप में कायम रही। दिसम्बर १९६७ में भाषा विधेयक को संशोधित किया गया; उस संशोधन ने संघीय सरकार के कुछ प्रयोजनों के लिये हिन्दी के साथ अंग्रेजी के प्रयोग को पूर्व की भांति जारी रखने पर कानूनी स्वीकृति प्रदान की। संशोधन विधेयक पर बोलते हुए स्वराष्ट्र मामलों के राज्य-मंत्री ने एक प्रश्न के उत्तर में कहा :

> सरकार की नीति यह सुनिश्चित करने की है कि सभी संकल्प (resolutions), गजट की अधिसूचनायें (notifications) और प्रशासनिक रिपोर्टें एक साथ हिन्दी और अंग्रेजी में निकाली जायें; संसद के सामने रखी जाने वाली रिपोर्टें अवश्य ही हिन्दी में भी निकाली जाती है, जहाँ कहीं हिन्दी भाषा-भाषी राज्य से अथवा जनता के किसी सदस्य से हिन्दी में पत्र प्राप्त होता है, उत्तर या तो हिन्दी में ही जाना चाहिये या जब उसका उत्तर अंग्रेजी भाषा में भेजा जाये तो उसके साथ उसका हिन्दी अनुवाद भी भेजा जायेगा, इत्यादि।

उस अधिनियम में यह भी प्राविधान है कि द्वै-भाषावाद (bi-lingualism) तब तक जारी रहेगा जब तक अंग्रेजी के प्रयोग का अन्त करने के लिए ऐसे सभी राज्यों के विधान-मण्डलों द्वारा संकल्प पारित न हो जिन्होंने हिन्दी को अपनी राजभाषा के रूप में अंगीकृत नहीं किया है और जब तक पूर्व उल्लिखित संकल्पों पर विचार कर लेने के बाद संसद के दोनों सदनों द्वारा अंग्रेजी को जारी न रखने का संकल्प पारित किया जाये। इस विधेयक में समाविष्ट आश्वासन का हिन्दी अतिवादियों ने, जो संघ में तुरन्त ही द्वै-भाषावाद का अन्त करना चाहते है, इस आधार पर विरोध किया कि उसने अ-हिन्दी राज्यों-यथा मद्रास व नागालैंड को प्रतिषेध की शक्ति (power of veto) प्रदान की है। परन्तु चूंकि संसद के कानून को भावी संसद केवल साधारण बहुमत से बदल सकती है, इसलिये द्रविड़ मुनेत्र कजगम (D. M. K.) इस कानून से सन्तुष्ट न हुई, वह चाहती थी कि आश्वासन को संविधान के संशोधन में समाविष्ट किया जाना चाहिए था।

भाषा अधिनियम ने तो वर्तमान स्थिति में कोई महत्वपूर्ण अन्तर पैदा नहीं किया; परन्तु उसके साथ भाषा नीति पर पारित संकल्प ने अवश्य ही दो बातों में

महत्वपूर्ण परिवर्तन किया है। प्रथम, यह व्यवस्था करके कि उम्मीदवारो की छाट के समय हिन्दी या अंग्रेजी का अनिवार्य ज्ञान आवश्यक होगा। इसने अब तक मान्य शर्त कि अखिल-भारतीय और केन्द्रीय सेवाओ में प्रवेश करने वाले प्रत्येक प्रत्याशी को अंग्रेजी में निपुण होना चाहिये, को हटा दिया है। दूसरे, यह व्यवस्था करके कि अंग्रेजी के अतिरिक्त हिन्दी और सभी भारतीय भाषायें सघीय लोक सेवा आयोग की परीक्षाओं के लिये वैकल्पिक माध्यम होगी, सकल्प ने भाषायी प्रदेशों के लिए कोटा पद्धति के लिये मार्ग खोल दिया है। इन दोनो परिणामों के बुरे प्रभावो को तीन-भाषायी फार्मूले के द्वारा, जिसे सकल्प में दोहराया गया है, दूर करने की आशा की जाती है, परन्तु व्यवहार मे ऐसा न हो सकेगा।

४. जातिवाद

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से जातिवाद के खतरो का राजनीतिक महत्व बढा है। हिन्दू समाज के विभेदो (विभिन्न जातियों में विभाजन) ने वर्तमान सस्थाओ और कांग्रेस पार्टी द्वारा राजनीतिक जीवन मे महत्वपूर्ण स्थान पा लिया है। अछूत कहे जाने वाले वर्गों का पहले एक राजनीतिक दल अलग था, जिसका भारत का सविधान लागू होने के बाद महत्व कम हो गया। परन्तु डा० अम्बेदकर के अधिकतर अनुयायी कांग्रेस से सम्बन्ध विच्छेद कर रिपब्लिकन पार्टी में सम्मिलित हो गये है। पिछडे हुए वर्गो को सविधान के अन्तर्गत कुछ विशेष सुविधाये प्राप्त है और उनके कुछ सदस्यों ने कई राज्यो में उच्च स्थान व पद प्राप्त किये है। अतएव हिन्दू समाज में उनका एक पृथक वर्ग बन गया है। सन् १९६२ से सर्वोच्च न्यायालय ने मैसूर सरकार के उस आदेश को जिसके अन्तर्गत पिछड़े हुए वर्गों के लिये उच्चतर शिक्षा की कुछ संस्थाओं मे ६८ प्रतिशत स्थान आरक्षित किये गये थे, सविधान मे समाविष्ट मूल अधिकारो के विरुद्ध एक प्रकार का धोखा घोषित किया।

प्राय: सभी राज्यो मे विधान मण्डलो व अन्य निर्वाचित निकायो के लिये चुनावो में अधिकतर सदस्यो को जाति के आधार पर ही सफलता मिलती है, अतएव चुनावो के लिये उम्मीदवारो की छाट मे उनकी तथा बहुसख्यक जाति का विशेष ध्यान रखा जाता है। जब कि प्राय: सभी स्थानो पर राजनीतिक सम्बन्धो में जाति के प्रति वफादारी एक कारक के रूप मे पाई जाती है, मद्रास जैसे राज्य मे अ-ब्राह्मणों के वेगपूर्ण उदय ने राज्य की राजनीति मे प्रधानता ही प्राप्त नही की है, वरन् द्रविड़स्थान के पृथकतावादी आन्दोलन मे महत्वपूर्ण योग दिया है, जिसकी अभिव्यक्ति डी० एम० के० के रूप मे हुई है।[18]

18 "It can be said that while caste loyalty is almost everywhere present as a factor in political relations, in a State like Madras the rapid rise of the non-Brahmins has not merely dominated the whole shape of Madras politics but has in particular made a significant contribution to the movement for Dravidian separatism new expressed by the Dravida Munnetra Kazhgam (D M K)". Morris Jones, W H., *op cit*, p. 107.

प्राचीन काल मे हिन्दू समाज चार वर्णों में विभाजित था, जो कालान्तर मे प्रमुख जातियाँ बन गई और उनमे अनेक उपजातियो का विकास हुआ। प्रत्येक राज्य अथवा प्रदेश मे विभिन्न जातियाँ और उपजातियाँ किन्ही विशिष्ट क्षेत्रों या स्थानों से सम्बन्धित है। ऐसे क्षेत्रों व स्थानो में उन्ही उपजातियों के उम्मीदवारो को चुनावो मे सफलता मिलती है। राजनीति के अतिरिक्त सरकारी सेवाओं और शिक्षा सस्थाओ में भी नियुक्तियो के समय उम्मीदवारो की जाति पर विशेष ध्यान दिया जाता है। जातिवाद की वृद्धि में, हमारे विचार मे, जातिगत शिक्षा संस्थाओं से बहुत योग मिला है। यह तथ्य है कि शिक्षा के प्रसार के साथ स्थान २ पर स्कूल और कालिज खुले और कही-कही तो एक ही क्षेत्र व नगर मे प्रमुख जातियों के प्रयत्नो से उनकी पृथक सस्थाए स्थापित हुई। ऐसी सस्थाओं में अधिकाशतः उनकी जातियो के शिक्षको को ही नियुक्त किया गया और उन जातियों के विद्यार्थियो को कुछ विशेष सुविधायें भी प्रदान की गई। इसके फलस्वरूप जातिवाद की जड़ें अधिक मजबूत हुई।

प्रो० वी० के० एन० मेनन ने 'भारत में जाति, राजनीति और नेतृत्व' शीर्षक के अन्तर्गत एक लेख मे कहा है :

> स्वतन्त्रता के बाद के काल मे जाति का प्रभाव उससे तुरन्त पूर्व की तुलना मे बढा है, किन्तु सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रो में उसकी शक्ति कुछ कम हुई है। राजनीतिक और प्रशासन पर इसके बढते हुए प्रभाव को केवल राजनीति के विद्यार्थियो ने ही नहीं वरन देश में सरकारों और प्रमुख राजनीतिक दलो ने भी स्वीकार किया है। जातिवाद की समाजिक और राजनीतिक दृष्टि से अवांछनीय अभिव्यक्तियो को नियन्त्रित करने के लिये विधायी और प्रशासनिक पग उठाये गये है।

इस बात से इन्कार नही किया जाता कि राष्ट्रीय व राज्यीय विधान मण्डलो तथा पंचायतों के लिये मतदान मे जाति-विषयक विचार एक महत्वपूर्ण कारक रहे है। राजनीति पर जाति का प्रभाव देश के विभिन्न भागों मे भिन्न २ रहा है; उदाहरण के लिये उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में अधिक तथा उत्तर में भी राजस्थान, बिहार व उत्तर प्रदेश मे भिन्न २ मात्रा मे। साथ ही शासन के स्तरो पर नीचे से ऊपर की ओर चलने में गाव से जिला- राज्य और केन्द्र—जाति का प्रभाव कम होता जाता है। इस बात को विभिन्न स्तरों पर होने वाले चुनावो, राज्यों व केन्द्र के मन्त्रिमण्डलो की रचना के अध्ययन से स्पष्ट रूप मे देखा जा सकता है।

'जाति' शब्द का अर्थ ठीक प्रकार से समझना आवश्यक है। बहुधा जाति को समुदाय (community) और धर्म से स्पष्ट अन्तर नही किया जाता विशेष रूप मे राजनीति मे जाति के प्रभाव के बारे मे आम अब

धारणाओं मे। केरल में, राजनीति पर तीन समुदायों का बहुत प्रभाव रहता है—नायरों, एजवों और ईसाइयों (The Nayars, the Ezhavas and the Christians) का और यह सच है कि प्रजा समाजवादी दल और कांग्रेस को क्रमशः तीन समुदायों से मुख्य समर्थन प्राप्त होता है।[19]

तीसरे आम चुनावों (१९६२) में मतदाताओं का जाति-विषयक व्यवहार कैसा रहा, इस बारे में प्रो० मायरन वीनर और उनके सहयोगी श्री रजनी कोठारी ने शहरी और ग्रामीण निर्वाचन-क्षेत्रों के कुछ उदाहरण दिये हैं, जिनका सारांश निम्नलिखित है :

पूना निर्वाचन-क्षेत्र—कांग्रेस उम्मीदवार श्री वार्वे ने लगभग १३,००० परम्परागत कांग्रेस मत प्राप्त किये; परन्तु शेष १७,००० मत उसे सम्भवतया धनी ब्राह्मण जाति से प्राप्त हुए। यह कहा जा सकता है कि ये गैर कांग्रेसी मत श्री वार्वे को दलीय वफादारी की अपेक्षा जाति और वर्गीय सम्बन्ध के आधार पर मिले। उस वर्ग के मतदाताओं में श्री वार्वे का चित्र एक ऐसे कुशल प्रशासक का था, जो उनके ही वर्ग का सदस्य था और जो उनके वर्गीय (जातीय) हितों की रक्षा कर सकेगा। (पृष्ठ ४०)

कानपुर नगर निर्वाचन-क्षेत्र—साधारणतया अधिकतर स्थानीय राजनीतिक कार्यकर्ताओं का यह दावा है कि कानपुर जैसे औद्योगिक नगर मे भी मतदान व्यवहार में जाति एक महत्वपूर्ण कारक है। औद्योगिक श्रमिकों के बारे में यह कहा जाता है कि मिलों के दरवाजों पर ही वे कारखानों के श्रमिक रहते हैं; जब वे अपने घर जाते है तो वे अपने मोहल्लो में काम करने वाले प्रभावों के अधीन हो जाते हैं। इन प्रभावों मे····जाती एक महत्वपूर्ण तत्त्व है। इसका प्रभाव कुछ ऐसे मोहल्लों में एसेम्बली के लिये चुनावो में मतदान सम्बन्धी आकड़ों मे देखा जा सकता है जहां किसी जाति विशेष के मतदाताओं की बड़ी संख्या रहती है। विशेषरूप मे एक निर्वाचन क्षेत्र मे ब्राह्मणों और कायस्थो मे परम्परागत प्रतिद्वन्द्विता एसेम्बली के लिये चुनाव संघर्ष मे चुनाव-राजनीति का प्रमुख कारक था। (पृ० ६२)

सिधवां बेत निर्वाचन-क्षेत्र-पंजाब—अकाली-दल द्वारा समर्थित उम्मीदवार सरलता से विजयी हुआ। १९५२ मे उस स्थान को एक अकाली उम्मीदवार ने जीता था; १९५७ में उस क्षेत्र से कांग्रेस अकाली उम्मीदवार जीता था, और १९६२ में अकालियों द्वारा समर्थित किन्तु गैर-सिख उम्मीदवार जीता। यह इस बात का प्रमाण है कि अकाली दल सिख-

19 Menon, V. K. N., Art. '*Caste, Politics and Leadership in India,*' Political Science Review, Oct. 1963.

बहुमत वाले इस क्षेत्र में मतो को किसी भी उम्मीदवार के पक्ष मे डलवा सकता है। (पृ० १३१)

मोदासा-निर्वाचन-क्षेत्र-गुजरात—वनिये, पासीदार और क्षत्रिय मोदासा राजनीति की महत्वपूर्ण श्रेणियां (categories) थी। परन्तु वे परम्परागत सामुदायिक समूहों के रूप मे नही वरन् राजनीतिक समूहों के रूप मे कार्यशील थी और इस प्रक्रिया मे उन्होने महत्वपूर्ण सामाजिक श्रेणियो (gradations) पर ध्यान दिया अथवा उन्होने नई श्रेणियो की रचना की। मोदासा से जो बात निकली वह राजनीति का सामाजिक दशाओ से निर्धारण नही है वरन् सामाजिक विभेदो का राजनीतिक रूप धारण करना है तथा नई निष्ठाओ की रचना है। जबकि जाति ने राजनीति के सचालन के लिये ढांचा प्रदान किया, राजनीति ने ऐसी घटनाए और अवसर दिये जिनके द्वारा परम्परागत ढांचे खण्डित हुए अथवा उन्होने नई शक्तियो के प्रभाव में अपना रूप बदला। परम्परागत समाज के राजनैतिक रूप धारण करने का मोदासा एक महत्वपूर्ण अध्ययन विषय है। (पृ० १९१)[20]

जातिवाद को दूर करने के उपायो में हम इन्हे अधिक महत्व देंगे—प्रथम जातियो के नाम में चल रही शिक्षा सस्थाओ के नामों में परिवर्तन किया जाये और ऐसी संस्थाओं के प्रबन्ध-मण्डलों मे विशिष्ट जातियो के प्रतिनिधियो की प्रधानता का अन्त किया जाय। दूसरे, शिक्षा संस्थाओ, प्रतिनिधिक निकायो व सरकारी सेवाओं में जाति बोधक उपनामों के प्रयोग पर, प्रतिबन्ध लगाया जाय। जो व्यक्ति ऐसे उपनामो का प्रयोग करे उन्हे ऐसी सस्थाओ मे प्रवेश से वचित किया जाय। तीसरे, राजनीतिक दलो को मिलकर स्वस्थ प्रथायें डालनी चाहियें, जिनमे से एक का सम्बन्ध जातिगत राजनीति के त्याग से सम्बन्धित हो। चौथे, विभिन्न जातियो द्वारा प्रकाशित समाचार-पत्रो, पत्रिकाओ और अन्य प्रचार साहित्य पर कड़े प्रतिबन्ध लगाये जाये। पांचवे, जिन जातियो या वर्गों को सरकार से विशेष सुविधायें मिली है, उन सुविधाओ का काल शीघ्र ही समाप्त किया जाये। ऐसी सुविधायें जातियो के आधार के स्थान पर आर्थिक तथा शैक्षिक दृष्टियो से पिछड़े समूहो को दी जाये।

५. भारतीय राजनीति में भ्रष्टाचार

सन् १९६४ में ही लॉर्ड एटली ने 'भारत में प्रजातन्त्र के लिये खतरे' शीर्षक के अन्तर्गत एक छोटे से लेख में इस विषय मे बड़े सुन्दर ढग से वर्णित किया था :

---

20 Weiner & Kothari, *Indian Voting Behaviour: Studies of the 1962 General Election.*

अच्छे अविकृत सूत्र ने मुझे बताया है कि भ्रष्टाचार का भद्दा भूत कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्रों मे भी अपना सर उठा रहा है। यहाँ इसका दोहरा खतरा है। प्रथम, सभी प्रकार का भ्रष्टाचार अच्छे प्रशासन का विनाशक है, यह प्रजातन्त्रात्मक सरकार की जड़ पर वार करता है और राष्ट्रीय चरित्र को हानि पहुचाता है। दूसरे, यह साम्यवादी को अच्छा अवसर प्रदान करता है। मुझे याद आता है कि मंने अन्य एशियाई देश के एक मित्र से एक बार यह प्रश्न पूछा था कि क्या उसे साम्यवादी अन्त स्पदन (Communist infiltration) का भय है। उसने उत्तर दिया 'नही, हमारा शासन भ्रष्ट नही है। जहाँ कही भ्रष्टाचार का प्रवेश होता है वही साम्यवादी अपना पैर जमाता है।'[21]

बडी शर्म और दुर्भाग्य की बात है कि यद्यपि स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद से ही भ्रष्टाचार का विलोपन करने के लिये अनेक पग उठाये गये है, फिर भी उसकी मात्रा कम होने के बजाय बढती रही है। भाई-भतीजावाद (nepotism) और भ्रष्टाचार हमारे सामाजिक और राजनीतिक जीवन के अंश बन गये है। भ्रष्टाचार का मुख्य स्रोत लाइसेन्सों, परमिटो, कोटे, तथा उद्योग, व्यापार और व्यवसाय पर विनियमो व प्रतिबन्धों (जो सरकारी अधिकारियो के हाथो मे व्यापक विवेक निहित करते है) की वस्तुत: भूल-भूलैया मे है। ससदीय प्रजातन्त्र मे विधायक ही सार्वजनिक नैतिकता के अन्तिम सरक्षक है। यदि वे अपनी स्थिति का प्रयोग अनुचित लाभ उठाने या अपने प्रभाव व पहुंच द्वारा स्वार्थ हित मे दूसरों को लाभ पहुचाने का प्रयत्न करते है, तो भ्रष्टाचार अर्द्ध-वैधता का रूप धारण कर लेता है। आज वास्तव मे स्थिति कुछ ऐसी ही है। हमारे राजनीतिक जीवन तथा प्रशासन मे भ्रष्टाचार इस सीमा तक फैल गया है कि सत्यनिष्ठ मनुष्यों के लिये सार्वजनिक क्षेत्र में तथा सरकारी पदो पर कार्य करना बहुत कठिन हो गया है।

सरकारी दफ्तरो में काम करने की प्रक्रियायें भारी-भरकम और देर लगाने है। देरी से बचने की चिन्ता ने बेईमानी की प्रथाओं, जैसे जल्दी काम कराने के लिये घूस देने (Speed money) की पद्धति को प्रोत्साहन दिया है। नीचे के स्तरो पर सरकारी कर्मचारियों के वेतन आज की मूल्य-वृद्धि को देखते हुए बहुत कम है, अत. वे विवशता के कारण भी घूस लेते है। डा० पी० एस० मुहर ने लिखा है :

> सार्वजनिक सेवाओं मे भ्रष्टाचार एक जटिल विषय है। इसकी जड़े सामाजिक, आर्थिक, नैतिक-धार्मिक, कानूनी और राजनीतिक भी है। इस समस्या को हल करने के लिये किसी भी प्रकार का प्रयत्न करने

21 "I recall asking a friend in another Asian country if he was afraid of communist *infiltration. He replied, 'No, our government* is not corrupt. It is only where corruption comes in that the communist gets his foothold'."
Atlee, Art., '*Dangers to Democracy in India*', The Indian Review, March-Apl. 1964.

से पूर्व उन सभी तथ्यों पर ध्यान देना आवश्यक है। भ्रष्टाचार हमारे अर्जन-शील समाज की जीवन-शैली का परिणाम है; जिसमें कि मनुष्यों को इस बात से आंका जाता है कि उनके पास क्या (धन-सम्पत्ति) है, न कि उनके गुणों या चरित्र से। सांसारिक वस्तुओं पर अधिकार होना जीवन का आधार बन गया है।[22]

भ्रष्टाचार की वृद्धि में अग्रलिखित कारणों ने विशेषरूप से योग दिया है। प्रथम, भ्रष्ट अधिकारियों और कर्मचारियों के विरुद्ध कड़े पग नहीं उठाये जाते, क्योंकि वे विधायकों तथा मन्त्रियों तक पहुंच कर लेते है। दूसरे, राजनीतिक नेता और दल अपने हित में भ्रष्ट अधिकारियों और व्यक्तियों को रक्षण देते है; भ्रष्ट अधिकारियों से अनुचित कार्य कराते हैं और भ्रष्ट व्यापारियों आदि से चन्दा व आर्थिक सहायता प्राप्त करते हैं। तीसरे, औद्योगिक तथा व्यापारिक दोनों ही वर्गों में अधिकारियों तथा निर्वाचित प्रतिनिधियों आदि को भ्रष्ट करने की व्यापक इच्छा पाई जाती है; वे अधिक लाभ के लिये घूस देने को एक प्रकार का निवेश (investment) समझते है। चौथे, अकुशल प्रशासन और भ्रष्टाचार साथ-साथ चलते है। प्रशासन में देरी प्रशासन की अकुशलता व भ्रष्टाचार का महत्वपूर्ण कारण है। पाँचवे, राजनीति धन की दासी बन गई है।

इस विषय में भारत सरकार के भूतपूर्व स्वराष्ट्र मन्त्री श्री गुलजारी लाल नन्दा ने एक बार कहा था कि कांग्रेस पार्टी, जिस प्रकार से आज संगठित है, भारत में समाजवाद लाने के लिये अक्षम है। आज भारत में धन—चाहे भारतीय हो या विदेशी—का प्रभाव अत्यधिक दिखाई पड़ता है और जब तक ऐसा रहेगा कभी भी सच्चा स्वराज नहीं आ सकता। यह सच है कि चुनाव जीतने के लिये उम्मीदवारों को व्यक्तिगत रूप से तथा राजनीतिक दलों को बहुत धन व्यय करना पड़ता है। चुनाव के लिये भ्रष्ट व्यापारियों, लाइसेन्स, परमिट व कोटा पाने वाले व्यक्तियों—तथा कम्पनियों से चन्दा प्राप्त किया जाता है। चुने जाने पर विधायक अपने समर्थकों, विशेषकर आर्थिक सहायता देने वालों को, अनुचित रूप में लाभ पहुंचाने का प्रयत्न करते है और बहुधा ऐसे समर्थक उनपर अनुचित कार्य करने के लिये दबाव भी डालते है। इसके अतिरिक्त, अधिकतर विधायक अपना तथा परिवार का मिलने वाली उपलब्धियों से सुगमतापूर्वक निर्वाह नहीं कर पाते और उन्हें अगले चुनाव की तैयारी तथा भविष्य की चिन्ता भी रहती है, अत वे स्वयं भ्रष्टाचार के शिकार बन जाते है।

भ्रष्टाचार को दूर करने के लिये विभिन्न सरकारों, राजनीतिक दलों और सार्वजनिक नेताओं को इस प्रकार का संकल्प करना चाहिये और उसे कार्यान्वित करने के लिये सभी आवश्यक पग उठाने चाहिये। भ्रष्टाचार के दोषी व्यक्तियों—

22 Presidential Address at the All India Political Science Conference, *Dec. 1964, I. J. P. S. Vol. XXVI, NO I.*

सरकारी अधिकारियों, निर्वाचित व्यक्तियों और व्यापारियों आदि—के लिये अति कठोर दण्ड की व्यवस्था की जानी चाहिये। इस उद्देश्य से सम्बन्धित कानूनों और प्रक्रियाओं को संशोधित करना आवश्यक है। परन्तु सरकारी प्रयत्नों के साथ-साथ जनता को भी इस कार्य में सहयोग देना चाहिये तथा भ्रष्ट व्यक्तियों का समाज में किसी भी प्रकार मान नहीं होना चाहिये। सरकारी अधिकारियों व सार्वजनिक नेताओं को भ्रष्ट व्यक्तियों के यहाँ किसी भी प्रकार का आतिथ्य स्वीकार नहीं करना चाहिये और जन-साधारण को भ्रष्ट व्यक्तियों का सामाजिक बहिष्कार करना चाहिये।

६. अन्तिम विचार

एक अमरीकी लेखक ने 'विकासशील राष्ट्रों में प्रजातन्त्र को चुनौती' नामक पुस्तिका में प्रजातन्त्र के सफल संचालन के लिये तीन पूर्व दशायें आवश्यक बताई है, जो निम्नलिखित है :

> प्रथम, वैदेशिक और कल्याणकारी (अर्थात् आन्तरिक) नीति की मुख्य दिशाओं पर समाज के भीतर सापेक्षत. व्यापक एकमत होना चाहिये अर्थात्, सरकार के दो आधारभूत कार्यों के सार पर। दूसरी, अल्पसंख्यकों में यह भावना हो कि उनके अधिकारों की रक्षा की जायेगी तथा उन्हें जीवित राजनीतिक प्रक्रिया के भाग रूप में अपने विरोधी मतों को स्वतन्त्र तथा प्रभावी रूप में अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य प्राप्त रहेगी। तीसरी, सम्पूर्ण राजनीतिक प्रक्रिया का आधार प्रजातन्त्रात्मक मूल्यों और स्वयं प्रजातन्त्रात्मक प्रक्रिया की निरन्तरता के प्रति व्यापक निष्ठा है, विशेषरूप से उन लोगों में जो समाज के प्रमुख समूहों का नेतृत्व करते है। समाज में व्यक्तिगत नागरिकों और सारपूर्ण समूहों को, समय-समय पर स्थायी प्रतियोगी राजनीतिक पद्धति को कायम रखने के अधिक बड़े सामुदायिक हित में अपने हितों को हानि पहुंच जाने को स्वीकार करने के लिये तैयार रहना चाहिये।[23]

हमारे विचार में इन तीनों ही पूर्व दशाओं का होना आवश्यक है; और खेद की बात यह है कि आज देश में इनमें से कोई भी पूर्व दशा पूर्णरूप अथवा बड़ी मात्रा में विद्यमान नहीं है। इनके अतिरिक्त प्रजातन्त्र का एक अन्य आधार जनता की ऐच्छिक गतिविधियाँ हैं। आज हमारे देश में स्थिति इसके विपरीत है। जब से सरकार ने समाजवाद और कल्याणकारी राज्य की स्थापना करने के उद्देश्य से सरकार के कार्यों में अपूर्व वृद्धि की है, हमें ऐसा लगता है कि जनता ने ऐसे कार्यों में भी पहल करना बन्द कर दिया है, जिन्हें कि पहले सार्वजनिक कार्यकर्ता और संगठन ऐच्छिक आधार पर किया करते थे। जब तक प्रत्येक नागरिक अथवा

---

23 Rostow, W. W., *The Challenge of Democracy in Developing Nations*, pp. 9–10.

नागरिकों का बहुत बड़ा समूह प्रजातन्त्र के दायित्वों को समझ कर उन्हें पूरा करने का प्रयत्न न करेगा तब तक प्रजातन्त्र को खतरा बना रहेगा।

यहाँ अब यह बात दोहराने की आवश्यकता नहीं है कि भारतीय प्रजातन्त्र के लिये साम्प्रदायिकता, प्रादेशिकता व भाषावाद जातिवाद और भ्रष्टाचार बड़े गम्भीर खतरे है, अतः हमें उनके प्रति सावधान रहकर प्रजातन्त्र की रक्षा करनी चाहिये। प्रजातन्त्र को सफलतापूर्वक चलाने के हित मे हमें दो अन्य बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिये। प्रथम, प्रजातन्त्र में हिंसापूर्ण आन्दोलन, घेराव और असवैधानिक तरीको का त्याग करना अति आवश्यक है। सभी नागरिको व जन-समूहो को यह विश्वास रहना चाहिये कि शान्तिपूर्ण और वैध तरीको द्वारा वे सरकार को अपनी मांगो पर उचित विचार करने के लिये विवश कर सकते है। दूसरी, विश्वविद्यालयो और कालिजो मे शैक्षिक वातावरण को भग करना उचित नही। विद्यार्थियो को सक्रिय दलबन्दी से दूर रहना चाहिये और अपने को अच्छा विद्यार्थी बनाकर भावी नागरिकों पर आने वाले भारी दायित्वों को सुचारू रूप मे पूरा करने के योग्य बनाना चाहिये।

अन्त मे, सबमे अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि भारत मे प्रजातन्त्र का भविष्य क्या है? यह पहले ही कहा जा चुका है कि ऐसी भविष्यवाणी करना सबसे कठिन कार्य है। इस विषय मे हम गत गणतन्त्र दिवस पर 'हिन्दुस्तान टाइम्स' द्वारा आयोजित 'राउन्ड टेबिल' मे भाग लेने वाले कुछ अनुभवी राजनीतिक पर्यवेक्षको के मतो को देना ही पर्याप्त समझते है, जो निम्नलिखित है

हम चुनौती देने वाले संकट से गुजर रहे हैं, जो ऐसे सभी राजनीतिक दलो से जिनका प्रजातन्त्र मे वास्तविक विश्वास है, मिलजुल कर काम करने की माग करता है। इस समय कांग्रेस सहित एक राष्ट्रीय मिली-जुली सरकार की केन्द्र तथा राज्यो में आवश्यकता है, जो ऐसी अविलम्ब कार्यवाही चाहने वाली समस्याओ को हल कर सके जो कि किसी एक दल के साधनो से बाहर है। सत्यनिष्ठा और सक्षमता वाले व्यक्तियो को, जिनका सार्वजनिक सेवा का रेकार्ड बिना धब्बे वाला है, प्रशासन का भार संभालने के लिये एक साथ मिलाना चाहिये। अन्यथा भारत में प्रजातन्त्र का भविष्य अंधियारा है। (वी० शिव राओ)

जहाँ तक भारत में प्रजातन्त्र के भविष्य का सम्बन्ध है, मैं आशावादी हूँ। इस समय हम इस देश में स्थायी प्रजातान्त्रिक व्यवस्था के जन्म पर होने वाले कष्टों से गुजर रहे है। वर्तमान गडबडी और राजनीतिक खलबली इस समय काम कर रही राजनीतिक गतिशीलता की ओर सकेत करते है। परन्तु एक चीज महत्वपूर्ण है, जिसे अनुभव करने की आवश्यकता है और जिसे आने वाले वर्षों मे अवश्य ही अनुभव किया जायेगा, वह है शान्तिपूर्ण अहिंसक विधियो द्वारा उच्च राजनीतिक

लक्ष्यों को प्राप्त करने मे विश्वास को नया करना।"'सार्वजनिक सम्पत्ति का नाश और अपने राजनीतिज्ञ लक्ष्यो को प्राप्त के लिये हिंसक विधियों का प्रयोग प्रजातन्त्रात्मक जीवन शैली की सफलता की ओर ले जाने वाले नही है। (श्री एम० यमुनाचार्य निदेशक अनुसन्धान विभाग, गाधी पीस फाउन्डेशन)।

प्रजातन्त्र का भविष्य देश के आर्थिक विकास पर निर्भर करता है। यदि आर्थिक दशाओं में सुधार हो जाये और बेरोजगारी की समस्या को उचित रूप मे हल कर लिया जाता है तो मुझे कोई कारण नही दिखाई देता कि प्रजातन्त्र अपने यहाँ गहरी जड़ें क्यो न जमा लेगा। मेरे विचार मे भारतीय जनता आवश्यक रूप में सहनशील हैं, जो कि प्रजातन्त्र की सफलता के लिये एक आवश्यक गुण है। (पी० सी० भट्टाचार्य, रिजर्व बैंक के भूतपूर्व गवर्नर)।

भारत एक ऐसा देश है जिसमे प्रजातन्त्र का भविष्य निश्चित है, क्योंकि यहाँ विचार स्वातन्त्र्य की दीर्घकालीन परम्परा है।"'यदि देश के प्रजातन्त्रवादी, अपने दलीय सम्बन्धो के बावजूद सतर्क नही रहे और विचारधारा के आधार पर जानबूझकर राजनीतिक दलो व शक्तियो के ध्रुवीकरण (polarization) के लिये काम नही किया तो अधिनायकवादी शक्तियां विजयी हो जायेगी। अतएव कांग्रेस के भीतर और बाहर प्रजातन्त्र की सफलता के लिये ध्रुवीकरण अति आवश्यक है। (श्री बलराज मधोक, जनसघी सदस्य, भारत की ससद)।

सबसे अधिक सभ्य मार्ग होने के कारण यह (प्रजातन्त्र) शासन और जीवन-शैली की सबसे कठिन पद्धति है। यह हमारे जैसे नव-स्वतन्त्रता प्राप्त देश के लिये विशेषरूप से ऐसी है, जिसमे निर्धनता फैली है और जो ऐसी असमताओं व अन्य बुराईयो के भार से दबा है जो कि अधिकांशत: लम्बे काल की दासता से उत्पन्न हुई। परन्तु हमे घेरने वाली सभी कठिनाइयों के साथ हमने प्रजातन्त्र के मार्ग पर चलकर बड़ी मात्रा मे सफलता प्राप्त की है। जीवन के प्रजातन्त्रात्मक मार्ग पर लगकर चलने की हमारी सक्षमता के बारे मे अभी तक सन्देह बने हुये है। परन्तु सदैव सन्देह करने वाला मन प्रजातन्त्र की निरन्तर सफलता के लिये उचित बौद्धिक वातावरण नही पैदा करता। वे, जिनका प्रजातन्त्र में विश्वास गहरे कारण रखता है, यह नही चाहेंगे कि जनता के मन मे सन्देह पैदा करे, वरन् वे तो ऐसी शक्तियो को सुदृढ बनायेगे जो किसी भी नव-स्वतन्त्रता प्राप्त देश मे, जो समस्याओ से भरा हो और विश्व के विभिन्न भागो से आने वाली परिवर्तनकारी हवाओ के लिये खुला हो, प्रजातन्त्र को सफल बनाने वाली है। इसकी सफलता को जारी रखने के लिये अनेक दशाये है जिन्हे अभी पैदा करना है। अतएव भारत में प्रजातन्त्र का भविष्य पूर्व-निर्धारित नही है। यह तो हम पर निर्भर करता है कि हम दशाओं की रचना करें, जिनमे कि प्रजातन्त्र की आगे सफलता उचित रूप से आश्वस्त हो जाये। (श्री सादिक अली, जनरल सेक्रेटरी, अखिल भारतीय कांग्रेस समिति)[24]

---

24 *Hindustan Times, Jan 26, 1968.*

हम, भारत के भूतपूर्व महान्यायवादी, श्री एम० सी० शीतलवाद के शब्दों के साथ इस विषय को समाप्त करेंगे। उन्होंने लिखा है :

> किसी भी राष्ट्र में उसका नेतृत्व करने के लिये गाधी या नेहरू नही रहते। परन्तु स्वतन्त्रता के लिये निर्भीक योद्धाओं के अनुक्रम के अपने इतिहास के साथ, अच्छी प्रकार से सचालित अपनी संसदीय परम्परा के साथ अपनी संस्कृति की धनाढयता के साथ, हमारा राष्ट्र नि.सन्देह इस बात के लिये सक्षम होगा कि वह देश के संचालन में ऐसे व्यक्ति लाये जो नेहरू की धर्म-युद्ध वाली परम्परा को सफलता के किनारे तक ले जाये। ऐसे मनुष्य निर्णायक और सतर्क होने आवश्यक हैं; उन्हें आपस में सहयोग और एकता बनाये रखनी आवश्यक है; उन गुटों और समूहो को जो कि केन्द्र तथा राज्यों मे शासक दल मे उत्पन्न हो रहे हैं शान्त करना आवश्यक है; और सबसे बढ़कर, उन लोगों की पूर्ण सत्यनिष्ठा मे, जिन पर संघ व राज्य सरकारों के मामलो का भार है, जनता के विश्वास को फिर से पैदा करना। केवल तभी हम राज्य रूपी जलयान को अपने अभीष्ट की प्राप्ति के सुगम मार्ग पर चला सकेंगे।
>
> यह स्पष्ट है कि चोटी अथवा शासन के उच्चतर स्तरो पर थोड़े से व्यक्तियों का कोई भी प्रयत्न तब तक सफल नही हो सकता जब तक कि उन्हें सभी वर्गों के नागरिकों का पूर्ण और सच्चा सहयोग प्राप्त नही होगा। दूसरे मनुष्य के साथ काम न कर सकने की अयोग्यता, सत्ता को उचित आदर के साथ मानने मे हिचक, राजनीतिज्ञों मे समझौतों के स्थान पर फूट के लिये अधिमान्यता, शिक्षित वर्ग में अ-रचनात्मक और अनुचित आलोचना की प्रवृत्ति, जो कि हममें इतनी प्रचुर मात्रा मे पाई जाती है, का अवश्य ही अन्त होना चाहिये। सबसे बढ़कर, निहित हितो वाले मनुष्य को, चाहे वह सम्पत्ति अथवा छोटे या बड़े व्यवसाय मे हो, सम्पूर्ण विश्व मे बदलते हुये मूल्यो की प्रवृत्ति को समझना चाहिये। हमें केवल आगे ही नही बढ़ना है, वरन् हमे ऐसा कार्य बहुत तीव्र गति से करना है। हमारे सामने केवल दो विकल्प दिखाई पड़ते है; अपनी जनता की विशाल संख्या के जीवन-स्तरो को ऊँचा उठाने के लिये कल्याणकारी राज्य के आदर्श को सहर्ष और पूर्णरूप मे स्वीकार करना या अपने देश का साम्यवाद की घेरने वाली शक्तियो के सामने समर्पण करना, जहाँ हमारे संविधान के आदर्शों—न्याय, स्वतन्त्रता, समता और बन्धुत्व—में से किसी का भी कोई स्थान नही होगा और न मनुष्य की गरिमा का ही। हमें अपनी छाट बुद्धिमानी के साथ करनी चाहिये और निर्णय के साथ कार्य करना चाहिये जिससे कि राष्ट्र गाधी और नेहरू द्वारा हमारे सामने रखे गये ध्येयो की ओर कूच कर सकें।[25]

—:o:—

25 Setalvad, M C; *The Indian Constitution, 1950–65*, pp. 233–34.

परिशिष्ट,
भारतीय शासन और राजनीति
नवम्बर १९६९
अध्याय ६. राष्ट्रपति का निर्वाचन

पूर्वगामी राष्ट्रपति डा० जाकिर हुसैन की सामयिक मृत्यु के बाद राष्ट्रपति पद खाली हो गया। कुछ दिन तक उप-राष्ट्रपति श्री वी० वी० गिरी ने कार्यवाहक राष्ट्रपति के रूप में कार्य किया, किन्तु स्वय राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार होने के कारण उन्होने कार्यवाहक राष्ट्रपति रहना उचित नही समझा, अतः उन्होने अपने पद से त्याग पत्र दे दिया। ऐसी स्थिति में सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति श्री हिदायतुल्ला को कार्यवाहक राष्ट्रपति बनाया गया, जिसके लिए भारतीय संसद को आवश्यक सवैधानिक व्यवस्था करनी पड़ी। राष्ट्रपति के कार्य करने सम्बन्धी विधेयक (The President Discharge of Functions Bill) को राज्यसभा ने १९ मई, १९६९ को पारित किया। इस विधेयक में यह व्यवस्था की गई है कि यदि कभी राष्ट्रपति व उप-राष्ट्रपति पद दोनों ही रिक्त हो जाये (जैसा कि श्री गिरी के त्यागपत्र देने पर हुआ या अन्य किसी कारण से दोनो कार्य करने हेतु अक्षम हो जायें) तो भारत का मुख्य न्यायाधिपति (Chief Justice of India) राष्ट्रपति के पद पर कार्य करेगा। उसे उस काल में राष्ट्रपति की सभी शक्तियां व उन्मुक्तियां (immunities) प्राप्त होंगी तथा वे उपलब्धियां व भत्ते आदि मिलेंगे जो कि ससद उसके लिए निर्धारित करे। परन्तु जब तक संसद ऐसा निर्धारण करे तब तक उसे वे ही उपलब्धियां, भत्ते और विशेषाधिकार प्राप्त रहेंगे जो कि सविधान की दूसरी अनुसूची में दिये गये हैं।

राष्ट्रपति पद के लिये विगत निर्वाचन के अवसर पर सबसे अधिक उल्लेखनीय बात यह रही कि दो प्रमुख उम्मीदवारो के बीच जोरदार संघर्ष हुआ जैसा कि पहले कभी न हुआ था। उस निर्वाचन की दूसरी और बहुत ही आश्चर्यजनक बात यह रही कि इस प्रश्न पर कांग्रेस में फूट पड गई, जिसके कांग्रेस संगठन के लिए अत्यन्त नष्टकारी और देश के लिए भी अति हानिकारक परिणाम निकले। ९ से ११ जुलाई तक बगलौर में हुए कांग्रेस महासमीति (All India Congress Committee) के अधिवेशन के बाद १२ जुलाई को कांग्रेस की केन्द्रीय ससदीय मण्डली (Central Parliamentary Board) ने १२ जुलाई की बैठक में २ के विरुद्ध ४ के बहुमत से लोकसभा के अध्यक्ष, संजीवा रेड्डी को राष्ट्रपति पद के लिए कांग्रेसी उम्मीदवार के रूप में मनोनीत किया। उस बैठक में प्रधान मन्त्री, श्रीमती इन्दरा गांधी ने, जैसी कि पहले आशा की जाती थी,

श्री वी० वी० गिरी के स्थान पर श्री जगजीवन राम (खाद्य मन्त्री, भारत सरकार) का नाम प्रस्तावित किया, जिसका समर्थन केवल श्री फखरुद्दीन अली अहमद (उद्योग मन्त्री, भारत सरकार) ने किया।

कुछ दिन तक श्रीमती इन्दिरा यही कहती रहीं कि वह संसदीय मण्डली के निर्णय को मानेंगी और कांग्रेसी उम्मीदवार का समर्थन करेंगी। परन्तु निर्वाचन से कुछ ही दिन पूर्व श्री जगजीवन राम और श्री फखरुद्दीन अली अहमद ने कांग्रेस अध्यक्ष, श्री निजलिंगप्पा को एक पत्र लिखा जिसमें उन पर यह आरोप लगाया कि उन्होंने कांग्रेसी उम्मीदवार को जिताने के लिए जनसंघ और स्वतन्त्र पार्टी के नेताओं से वार्ता की और इस प्रकार वह कांग्रेस के सिद्धान्तों से गिरे। ऐसी परिस्थितियों में उन्होंने निर्वाचन में कांग्रेसी विधायकों के लिए अपनी अन्तरात्मा के अनुसार स्वतन्त्र मतदान (free voting according to conscience) की माग की। इस माग का अनेक विधायकों और कांग्रेसी नेताओं ने समर्थन किया और संगठन में अनुशासन बनाये रखने के समर्थकों ने इसका विरोध किया। प्रधान मन्त्री ने कांग्रेस संसदीय दल के सदस्यों के नाम किसी भी प्रकार का आदेश (whip) जारी करने से मना किया। निर्वाचन से पूर्व ही सबको यह स्पष्ट हो गया था कि कांग्रेस में इस प्रश्न पर गम्भीर फूट पड़ गई है। श्रीमती इन्दिरा गांधी और उनके समर्थकों ने श्री वी० वी० गिरी को विजयी बनाने के लिए सभी सम्भव प्रयत्न किये और श्री निजलिंगप्पा व अन्य कांग्रेसी नेताओं ने भी श्री संजीवा रेड्डी को जिताने के लिए यथासम्भव प्रयत्न किये।

उपरोक्त कारणों से यह स्पष्ट हो गया कि अनेक कांग्रेसी दलीय उम्मीदवार के पक्ष में मत न देंगे और ऐसे अन्य दलों में भी एकता भंग हुई। चुनाव परिणाम से भी यह बात सिद्ध हुई। ऐसी परिस्थितियों में निर्वाचन से पूर्व ही यह सम्भावना पैदा हो गई थी कि निर्वाचन का परिणाम प्रथम पसन्द से नहीं वरन् दूसरी पसन्द के मतों (second preference votes) से निश्चित होगा और ऐसा ही हुआ। अतः यहाँ पर मतगणना की विधि को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करना उपयुक्त होगा।

संविधान-निर्माताओं का विचार यह रहा कि राष्ट्रपति ऐसा व्यक्ति बने जो कुल डाले गये मतों में केवल सबसे अधिक मत नहीं वरन् आधे से अधिक (कम से कम ५० प्रतिशत + १) मत प्राप्त करे। इसीलिए राष्ट्रपति पद के लिए निर्वाचन प्रक्रिया ऐसी है कि जो प्रत्येक विधायक (मतदाता) को अपनी पहली, दूसरी, तीसरी आदि पसन्द बताने का अवसर देती है। निर्वाचक-मण्डल (Electoral College) में कांग्रेस का स्पष्ट बहुमत था, जिसके पूर्ण समर्थन से उसका उम्मीदवार अवश्य ही सफल हो जाता, किन्तु कांग्रेस में फूट पड़ जाने के कारण ऐसी सम्भावना लुप्त हो गई। ऐसी स्थिति में सन् १९५२ के राष्ट्रपति व उप-राष्ट्रपति के निर्वाचन कानून के अन्तर्गत बने नियमों को लागू करने का प्रथम अवसर आया।

गणना करते समय यदि किसी भी उम्मीदवार को आधे से अधिक मत प्राप्त न हों तो ऐसे उम्मीदवार को जिसे सबसे कम मत मिले हों, विलोपित (अलग) कर दिया जायेगा और उसके दूसरी पसन्द के मतों को अन्य उम्मीदवारो को हस्तान्तरित कर दिया जायेगा। इस प्रकार का विलोपन तब तक चलेगा जब तक कि किसी उम्मीदवार को पूर्ण बहुमत प्राप्त हो। विगत-निर्वाचन से पूर्व सूचना व प्रसारण मन्त्रालय (Information and Broadcasting ministry) के रिसर्च व रेफेरेन्स डिवीजन ने एक नोट तैयार किया था, जिसमे बताया गया है कि निर्वाचन पद्धति किस प्रकार लागू होगी, यह मानकर कि वैध मतो की कुल सख्या १५,००० है और सघर्ष में ४ उम्मीदवार हैं। चुने जाने के लिए उम्मीदवार को ७५०१ मत प्राप्त करने चाहिए। परन्तु ४ उम्मीदवारो को मत इस प्रकार मिलते है :—अ-५,२५०, ब-४,८००, स-२७,०० और द-२,२५०। अत उम्मीदवार द विलोपित हो जाता है। उसके २,२५० मतपत्रो पर दूसरी पसन्द इस प्रकार है—अ के पक्ष मे ३००, ब के पक्ष में १,०५० और स के पक्ष में ९००।

दूसरी पसन्द के मतो के हस्तातरण के बाद स्थिति यह हो जाती है—अ-५,२५०+३००=५,५५० ; ब-४,८००+१,०५०=५,८५० ; और स-२७००+९००=३६००। दूसरी गिनती हो जाने पर ब के मत अ से बढ जाते हैं और स को विलोपित कर दिया जाता है। उसके ३,६०० मतपत्रो पर तीसरी पसन्द के मत इस प्रकार हैं—अ-१,७०० और ब-१,९००। जब उन्हें हस्तातरित किया जाता है तो उम्मीदवार ब के कुल मत ७,७५० हो जाते है और वह निर्वाचित घोषित होता है।

राष्ट्रपति पद के लिये निर्वाचन-पद्धति की उपरोक्त विशेषता के अतिरिक्त अन्य विशेषताएँ इस प्रकार है। सविधान मे प्रावधान है कि जहाँ तक हो सकेगा राष्ट्रपति के निर्वाचन मे विभिन्न राज्यो के प्रतिनिधित्व में एकरूपता (uniformity in the scale of representation) रहेगी। अतएव राज्य विधानसभाओं के सदस्यों के मतों का मूल्य निकालने के लिए भी नियमों में व्यवस्था की गई है, जिसका सदस्यो की सख्या और राज्य की जनसख्या से सम्बन्ध है (फार्मूला पहले ही दिया जा चुका है)। इस योजना के अनुसार राज्य विधायको के मतों मे बडी भिन्नता है—नागालैण्ड मे एम० एल० ए० के मत का मूल्य ७, असम मे ६४ बिहार मे १४६, और उत्तर प्रदेश में १७४। साथ ही, ससद के कुल निर्वाचित सदस्यो (सख्या ७४८) के मतों का मूल्य राज्य विधानसभाओं के कुल सदस्यो (३,४३६) के मतो के मूल्य (४३०,८४७) के बरावर है। अत. प्रत्येक ससद सदस्य के मत का मूल्य ५७६ है।

विगत निर्वाचन मे १७ उम्मीदवारों ने भाग लिया, जिनमें से ९ को कोई मत प्राप्त न हुए। श्री गिरी और श्री रेड्डी के बीच वास्तविक सघर्ष था; तीसरे उल्लेखनीय उम्मीदवार डा० सी० डी० देशमुख थे, जिन्हे जनसघ, भारतीय

क्रान्ति दल और स्वतन्त्र पार्टी ने संयुक्त रूप से खड़ा किया था ; उन्हें केवल ५४,५६३ मत प्राप्त हुए। श्री गिरी ने अपने निकटतम प्रतिद्वन्द्वी श्री संजीवा रेड्डी को १४,६५० मतों से पराजित किया। दोनों प्रमुख उम्मीदवारों को इस प्रकार मत मिले श्री गिरी—४,२०,६७७ और श्री संजीवा रेड्डी—४,०५,४२७। श्री गिरी, श्री रेड्डी, श्री देशमुख और अन्य को संसद में क्रमश: ३५६; २६८ ; १०१ और ६ मत मिले, जिनका मूल्य २०६,७८४; १५४,३६८; ५८,१७६; और ३,४५६ रहा। वास्तव में श्री गिरी की विजय का श्रेय उत्तर प्रदेश को है। प्रथम गिनती के मतों में श्री गिरी अपने प्रतिद्वन्द्वी श्री रेड्डी से बहुत पीछे थे, उत्तर प्रदेश ने उन्हें विजय पथ पर रखा और उत्तर प्रदेश से दूसरी संसद के ८,१७६ मत मिलने पर ही वह विजयी हुई।

निम्न तालिका में यह दिखाया गया है कि विभिन्न राज्यों में श्री गिरी और श्री संजीवा रेड्डी को कितने मतपत्र व मत मिले :—

राज्य का नाम	श्री गिरी के मतपत्र	मत	श्री रेड्डी के मतपत्र	मत
आंध्र प्रदेश	१३१	१६,३७५	११८	१४,७५०
असम	४८	४,५१२	५७	५,३५८
बिहार	१६५	२४,०९०	१११	१६,२०६
गुजरात	१२	१,४७६	१०२	१२,५४६
हरयाना	३७	३,४७८	३२	३,००८
जम्मू-कश्मीर	५८	३,४२२	८	४७२
महाराष्ट्र	५०	७,३००	२०१	२९,३४६
नागालैण्ड	३८	२६६	४	२८
उड़ीसा	६७	८,३७५	१५	१,८७५
पंजाब	८०	८,५६०	१०	१,०७०
राजस्थान	३५	३,८५०	९८	१०,७८०
तमिल नाडु	१४२	२०,४४८	५४	७,७७६
उत्तर प्रदेश	१८१	३१,४९४	१३८	२४,०१२
प० बंगाल	२४८	३१,०००	२५	३,१२५
मैसूर	५३	५,७७७	१३५	१४,७१५
केरल	१०३	१३,०८१	१५५	१,९०५
मध्य प्रदेश	१०३	११,२७७	११२	१२,२०८

१ नये-उपराष्ट्रपति का निर्वाचन—मैसूर राज्य के भूतपूर्व गवर्नर श्री जी० एस० पाठक को, जिन्हें कांग्रेस ने इस पद के लिए नामजद, किया, संसद ने ३० अगस्त १९६१ को उप-राष्ट्रपति चुना। उन्हें कुल ७२५ वैध मतों में से ४०० मत प्राप्त

हुए और उनके दो प्रतिद्वन्द्वियों श्री शिवसंमुद्रम तथा श्री एच० वी० कामथ को क्रमशः १६६ और १२६ मत प्राप्त हुए। अन्य तीन उम्मीदवारों को एक भी मत प्राप्त न हुआ। उप-राष्ट्रपति चुने जाने पर श्री पाठक ने गवर्नर पद से त्याग पत्र दे दिया। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि इस चुनाव मे भी कांग्रेस के ५० सदस्यों ने स्वतन्त्र मत का प्रयोग किया और उन्होने अपने मत अन्य दो उम्मीदवारों के पक्ष मे डाले। ●●

अध्याय ७. भारत की संसद

बैंकों का राष्ट्रीयकरण (Bank Nationalization)—नये राष्ट्रपति के निर्वाचन पर कांग्रेस के नेताओ मे गम्भीर मतभेद उत्पन्न हो जाने का एक तुरन्त परिणाम यह निकला कि प्रधान मन्त्री, श्रीमती इन्दरा गाधी ने यह मानकर कि श्री मोरार-जी देसाई (उप-प्रधान मत्री एव वित्त मत्री, भारत सरकार) कांग्रेस द्वारा स्वीकृत बैंकों के राष्ट्रीयकरण की नीति को भली प्रकार कार्यान्वित न कर सकेंगे, उनसे १५ जुलाई को वित्त विभाग ले लिया, जिसके परिणामस्वरूप श्री मोरारजी देसाई ने इसको अपना अपमान समझते हुए सघीय मन्त्री-मण्डल (Union Cabinet) से १६ जुलाई को त्यागपत्र दे दिया। प्रधान मन्त्री ने १६ जुलाई को उनका त्याग-पत्र स्वीकार कर लिया और उसी दिन कार्यवाहक राष्ट्रपति, श्री वी० वी० गिरी ने सघ सरकार के इस निर्णय को कि चोटी के १४ बैंकों को राष्ट्रीयकृत किया जाये, लागू करने के लिये आवश्यक अध्यादेश (Ordinance) पर अपने हस्ताक्षर किये।

यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है—जबकि २१ जुलाई से (अर्थात् ४८ घण्टे बाद ही) ससद का सत्र आरम्भ होने को था तो क्या भारत सरकार के लिये यह उचित था कि इतने महत्वपूर्ण निर्णय को एक अध्यादेश द्वारा लागू किया जाये? सरकार की-ओर से यह तर्क दिया गया कि ऐसा करना इसलिये आवश्यक था कि जिससे सम्बन्धित बेंक किसी प्रकार से अपने हिसाबो मे चालाकी युक्त परिवर्तन (उलट-फेर) न कर सके, जो कि सार्वजनिक हित मे न होता। इस तर्क मे सत्य का कुछ अश है, परन्तु फिर भी यह कहा जा सकता है कि यदि ऐसा निर्णय ससद के सत्र काल मे किया गया होता तो क्या उसे लागू करने के लिये तब भी अध्यादेश जारी किया जाता, क्योकि आवश्यक कानून बनने मे तो समय लगता ही। इस आधार पर आलोचको ने यह कहा कि ससद का सत्र आरम्भ होने के दो दिन पूर्व इस प्रकार का अध्यादेश जारी करना न्यायोचित न था, क्योंकि इसका प्रभाव ससद की विधायी शक्तियों पर कार्यपालिका का अवाछनीय अधिकार कायम करना रहा।

२१ जुलाई को संसद का सत्र आरम्भ होने पर प्रधान मन्त्री ने ससद मे एक वक्तव्य दिया, जिसमे बताया गया कि सरकार द्वारा बैंकों का राष्ट्रीयकरण अधिक व्यापक सामाजिक हित में आवश्यक था। उसके बाद इस उद्देश्य से एक विधेयक लोकसभा में २५ जुलाई को पेश किया गया, जिस पर दोनों सदनों में जोरदार वाद-विवाद हुआ और जो अन्त में बहुमत के समर्थन से पास हो गया। सरकारी पक्ष और समाजवादी व साम्यवादी सदस्यों ने राष्ट्रीयकरण के पग को आवश्यक बताया। प्रधान मन्त्री ने कहा कि ऐसा निर्णय आर्थिक उद्देश्यों को सामने रखकर किया गया है। जनसघ व स्वतन्त्र पार्टी के सदस्यों ने विधेयक का विरोध किया और कहा कि यह पग सरकार को अधिनायकतन्त्र की दिशा में ले जाने वाला है।

यहाँ इस प्रश्न पर भी विचार करना उपयुक्त होगा कि क्या बैंकों का राष्ट्रीयकरण सार्वजनिक प्रयोजन के हित मे था। इस सम्बन्ध मे विरोधियों का यह कहना था कि कांग्रेस द्वारा स्वीकृत बैंको पर सामाजिक नियन्त्रण (social control) स्थापित करने की नीति को कार्यान्वित करने के उद्देश्य से पारित बैंकिंग कानून (सशोधन) अधिनियम, १९६८ [Banking Laws (Amendment) Act, 1968] फरवरी १९६९ मे लागू हुआ था। उसमें बैंकों और उनसे सम्बन्धित मामलो पर सरकारी नियन्त्रण स्थापित करने की व्यवस्था की गई थी। १४ दिसम्बर १९६७ को इस विषय पर ससद में बोलते हुए उप-प्रधान मन्त्री श्री मोरारजी देसाई ने विभिन्न सरचनात्मक तथा अन्य प्रस्तावित सुधारो की रूपरेखा दी तथा अनेक व्यक्तियो द्वारा समर्थित राष्ट्रीयकरण को न्यायोचित नही स्वीकार किया। उन्होने स्पष्ट किया कि मुख्य समस्या बैंकों द्वारा दिये जाने वाले ऋण के विभिन्न क्षेत्रों मे उचित वितरण की है। अत: सामाजिक नियन्त्रण द्वारा लघु-पैमाने के उद्योगों, कृषि और निर्यात आदि के लिये ऋण की व्यवस्था की जायेगी, साथ ही राष्ट्रीय हित मे बड़े पैमाने के उद्योगों को भी ऋण दिया जायेगा। उन्होंने यह भी कहा कि जबकि ऋण के लिये मांग बहुत बढ़ रही है, बैंकों में धन जमा करने की गति मे काफी वृद्धि नहीं हुई।

श्री मोरारजी ने आगे कहा कि सरकार का यह निश्चित मत है कि बैंकों के अर्जित करने से सरकार के प्रशासनिक साधनों पर बड़ा भार पड़ेगा, जबकि आधारभूत प्रश्न अछूते ही रह जायेंगे। अति महत्वपूर्ण बात यह है कि ऋण देने की क्रिया में किन्ही विशेष समूहो के प्रति पक्षपात का व्यवहार न किया जाये, अत: सामाजिक नियन्त्रण की योजना इसी आधार पर बनी है। यह निर्णय किया गया है कि अखिल-भारतीय स्तर पर एक उच्च-स्तरीय निकाय बनाया जाये, जिसे राष्ट्रीय ऋण परिषद् (National Credit Council) कहा जायेगा। उसमें बड़े मध्यम और लघु पैमाने के उद्योगों, कृषि, सहकारी क्षेत्र, व्यापार और व्यावसायिक

समूहों के प्रतिनिधि सम्मिलित किये जायेंगे और वित्त मन्त्री उसका चेयरमैन तथा रिजर्व बैंक का गवर्नर उसके वाइस-चेयरमैन होंगे।

यह सुनिश्चित करना होगा कि पूर्वोक्त परिषद् के मनन के प्रकाश में रिजर्व बैंक द्वारा निर्मित आर्थिक और ऋण सम्बन्धी नीति को वाणिज्यिक बैंक कार्यान्वित करें। कुछ ही दिनों के भीतर संसद में रिजर्व बैंक को अतिरिक्त सविधिक शक्तियाँ देने के सम्बन्ध में एक विधेयक प्रस्तुत किया जायेगा। ये शक्तियाँ अधिक निश्चित और प्रयोजनमय होंगी। विधेयक में व्यवस्था है कि वाणिज्यिक बैंकों के प्रबन्ध में बड़ा परिवर्तन किया जाये। प्रत्येक बैंक का एक पूरा समय देने वाला चेयरमैन होगा, जो कि व्यावसायिक बैंकर होगा। यदि बैंक द्वारा नामित व्यक्ति रिजर्व बैंक को स्वीकार न हो तो वह स्वयं अपने द्वारा नामित व्यक्ति को चेयरमैन नियुक्त कर सकेगा और आवश्यक समझने पर चेयरमैन को उसके पद से हटा भी सकेगा।

ऐसी स्थिति में सरकार के लिये यह उचित होता कि वह १९६८ में बैंकिंग कानूनों में किये गये संशोधनों को लागू करके कुछ समय तक उनके परिणामों को देखती। दूसरे शब्दों में, विरोधियों के मतानुसार ऐसी जल्दी करने के लिये पर्याप्त कारण न थे जैसी कि बैंकों के राष्ट्रीयकरण को अध्यादेश द्वारा लागू करने में की गई। किन्तु बैंकों के राष्ट्रीयकरण की नीति के समर्थकों ने सरकार के निर्णय का खुलकर स्वागत किया और देश में विभिन्न स्थानों पर जन साधारण ने उसके पक्ष में प्रदर्शन किये तथा प्रधान मन्त्री के साहस पूर्ण पग की सराहना की। अनेक कांग्रेसी व अन्य व्यक्तियों का यह विचार है कि बैंकों के राष्ट्रीयकरण का निर्णय प्रधान मन्त्री और उनके समर्थकों द्वारा, विशेषरूप से उस अवसर पर, राष्ट्रपति पद के लिये प्रधानमन्त्री और उनके समर्थकों तथा कांग्रेस अध्यक्ष और तथाकथित सिंडीकेट के सदस्यों के बीच उत्पन्न हुए गम्भीर मतभेद के कारण किया गया।

१९६९ में ही भारतीय संसद ने जो अन्य अनेक विधेयक पारित किये, उनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

एकाधिकार विधेयक (Monopolies and Restrictive Trade Practices Bill)—जिसका प्रायः सभी संसद सदस्यों ने समर्थन किया। इसमें यह व्यवस्था है कि देश की आर्थिक पद्धति इस प्रकार से परिचालित हो कि आर्थिक शक्ति का सामान्य हित के विरुद्ध कुछ ही व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रीयकरण न हो। संसद ने कम्पनी विधेयक (Companies Bill) भी पास किया, जिसमें यह प्रावधान है कि कम्पनियाँ राजनीतिक दलों को चन्दा न दें।

प० बंगाल की विधान परिषद् के उन्मूलन हेतु अधिनियम पारित हो चुका है और पंजाब की विधान परिषद् के उन्मूलन का विधेयक भी पास हो गया है। संसद ने दोनों राज्यों में विधान-परिषदों के उन्मूलन सम्बन्धी विधेयकों को, सम्बन्धित राज्यों की विधान सभाओं द्वारा स्वीकृत संकल्पों (resolutions) को कार्यरूप देने के उद्देश्य से स्वीकृत किया।

अवैध कार्यवाही (निरोधक) अधिनियम, १९६९ [Unlawful Activities (Prevention) Act, 1969]। वास्तव में मौलिक कानून १९६७ में पास किया गया था। अब तो उसे जम्मू-कश्मीर राज्य तक विस्तृत किया गया है, अर्थात् अब यह कानून उस राज्य में भी लागू हो गया है। ●●

अध्याय ८. राज्यों का शासन

प० बंगाल और पंजाब की विधान सभाओं ने विधान परिषदों के उन्मूलन का प्रस्ताव पास किया। उसके परिणामस्वरूप बंगाल की विधान-परिषद् का उन्मूलन हो गया है और पंजाब की विधान-परिषद् का शीघ्र ही हो जायेगा। इस उद्देश्य से संसद ने आवश्यक संवैधानिक संशोधन सम्बन्धी कार्यवाही पूर्ण कर दी है।

सन् १९६७ से गवर्नरों के पद का महत्व बहुत बढ़ गया है, विशेष रूप से संघ सरकार के प्रतिनिधि के रूप में। उनके इस भाग तथा महत्वपूर्ण शक्तियों का विवेचन अध्याय १० के अन्तर्गत किया गया है। ●●

अध्याय ९. जम्मू-कश्मीर संघीय क्षेत्र और असम के भीतर स्वायत्तपूर्ण राज्य जम्मू-कश्मीर

कश्मीर सम्मेलन (Kashmir Convention)—सितम्बर १९६९ में शेख अब्दुल्ला द्वारा बुलाये गये कश्मीर सम्मेलन में कोई निर्णय न लिया जा सका। सम्मेलन के दौरान विभिन्न मतों को अभिव्यक्त किया गया, जिनमें से उल्लेखनीय ये थे—जनमत (plebiscite), स्वभाग्य निर्धारण, जनमत कराने से पूर्व कुछ समय के लिए कश्मीर का प्रशासन संयुक्त राष्ट्र संघ को सौंपा जाए और स्वतन्त्र कश्मीर जिसकी प्रतिरक्षा के लिए सं० रा० संघ दायित्व ग्रहण करे। परन्तु सर्वोदयी नेता, श्री जयप्रकाश नारायण, ने जिन्हें सम्मेलन का उद्घाटन करने के लिए आमन्त्रित किया गया था, कहा कि कश्मीर समस्या का हल केवल भारतीय संविधान के भीतर ही पाया जा सकता है। अतः कुछ समय बाद इस प्रश्न पर निर्णय लेने के लिए दूसरा सम्मेलन बुलाया जायेगा।

अनुच्छेद ३७० (Article 370)—१८ मार्च १९६९ को लोकसभा में श्री प्रकाशवीर शास्त्री द्वारा प्रस्तुत विधेयक पर विचार किया गया था, जिसमें माँग की गई थी कि अनुच्छेद ३७० को निराकृत (abrogate) कर दिया जाए। उस अवसर पर हुए वाद-विवाद के दौरान कुछ सदस्यों ने ये विचार अभिव्यक्त किये थे—श्री एन० सी० चटर्जी स्वतन्त्र अनुच्छेद ३७० वर्तमान संदर्भ में असंगत है; श्री इन्द्रजीत मल्होत्रा (साम्यवादी) जम्मू-कश्मीर के पद के सम्बन्ध में पाकिस्तान के प्रति कोई रियायत नहीं की जानी चाहिए; और डा० एल० एन०

सिंघवी (स्वतन्त्र)—इस अनुच्छेद को एक आपातकालीन और अस्थायी आधार पर सविधान में निर्गमित किया गया था और उसे सविधान में स्थायी स्थान देने के लिए कोई कारण नही है।

उपरोक्त मतों से स्पष्ट है कि इस विषय पर सरकारी दृष्टिकोण और विरोधी पक्ष के दृष्टिकोण मे महत्वपूर्ण अन्तर है। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि सविधान निर्माताओ ने जम्मू-कश्मीर के विशेष पद को ध्यान मे रखते हुए ही इस अनुच्छेद को सविधान मे सम्मिलित कराया। नि:सदेह अनुच्छेद ३७० के कुछ खण्ड कश्मीर को एक विशेष स्थान प्रदान करते है, परन्तु उनमें से कुछ खण्डों का अन्त करने के लिए राष्ट्रपति ने अनेक आदेश निकाले हैं। फिर भी अनेक नेता और व्यक्ति यह मांग करते रहे है कि अनुच्छेद ३७० को निराकृत किया जाए। जनसघ के प्रधान श्री अ० बि० वाजपेयी ने कहा था कि अनुच्छेद ३७० कश्मीर और भारत की शेष जनता के बीच एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक बाधा है तथा यह अनुच्छेद पृथकता, साम्प्रदायिकता और अराष्ट्रीयता को प्रोत्साहन देने वाली है।

परन्तु उपरोक्त मत के विरोध मे ये बातें कही जा सकती है—हमें यह नही भूल जाना चाहिए कि जब सविधान बन रहा था और जम्मू-कश्मीर के बारे में कुछ विशिष्ट अनुच्छेद सम्मिलित किये गये थे, उसके लिए उपयुक्त कारण यह था कि जम्मू-कश्मीर राज्य का पद भारतीय सघ के अन्य राज्यों के समान न था। उस राज्य को दिया गया विशेष पद उस राज्य के निवासियों को दिया गया एक प्रकार का आश्वासन (undertaking) है, जिसे भारत सरकार एक पक्षीय रूप में (unilaterally) निराकृत नही कर सकती। अतएव इस सम्बन्ध मे राज्य के निवासियो की इच्छा का आदर किया जाना उचित है।

वास्तव मे, अनुच्छेद ३७० तो भारत के सविधान और कश्मीर के बीच एक प्रकार के पुल का काम कर रहा है, जिसके ऊपर से (अथवा द्वारा) भारत सरकार द्वारा निर्मित कानून जम्मू-कश्मीर में जा रहे है अर्थात् लागू हो रहे हैं। इस अनुच्छेद के विरोधियों से हमे यह कहना है कि जब तक उस राज्य की जनता ऐसी मांग न करे हमें उसे निराकृत करने में पहल नही करनी चाहिए। अधिक अच्छा तो यह होगा कि हम राज्य के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक पहलुओं पर अधिक ध्यान दें। गजेन्द्रगडकर आयोग (Gajendragadkar Commission) की रिपोर्ट में यही सुझाव दिया गया है कि इस प्रश्न को राज्य की सरकार और जनता के निर्णय पर छोड़ दिया जाए।

गजेन्द्रगडकर आयोग को रिपोर्ट—जम्मू और कश्मीर राज्य में प्रादेशिक तनावों (regional tensions) पर यह रिपोर्ट कुछ ही समय पूर्व प्रकाशित हुई है। इसमें दो बातों पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। प्रथम, सरकारी सेवाओं मे भरती और दूसरी शैक्षिक एव व्यावसायिक सस्थाओं में प्रवेश। आयोग ने इन दोनों ही क्षेत्रों मे प्रचलित छांट प्रक्रियाओं की आलोचना की है। इसके

आक्षेप का आधार यह है कि इन प्रक्रियाओं में किसी प्रकार का साम्प्रदायिक या प्रादेशिक सिद्धान्त प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में निहित है। यद्यपि इस आवश्यकता के प्रति हमारी सहानुभूति है कि जिन वर्गों को सरकारी सेवाओं या शैक्षिक सस्थाओ मे पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त नही है, उनके लिए साम्प्रदायिक या प्रादेशिक आधार पर विशेष व्यवस्था की जाय फिर भी हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इस प्रकार का भेदभाव (discrimination) सविधान से असगत है। यह सभी सम्प्रदायो व प्रदेशों के सदस्यों को सविधान द्वारा प्रदत्त सम मूल अधिकार के विरुद्ध है।

अभी तक राज्य में जो योजना चालू है उसके अन्तर्गत सम्पूर्ण राज्य के मुस्लिमों और जम्मू प्रात के हिन्दुओ को, जिनकी जनसख्या का योग राज्य की कुल जनसख्या का ६४·२ प्रतिशत है, पिछड़े वर्गों (backward classes) में सम्मिलित किया हुआ है। आयोग का कहना यह है कि इस वडी जनसख्या मे कुछ वर्ग यथार्थ में वहुत पिछड़े हुए हैं और कुछ काफी आगे वढे हुए हैं। अतएव इस योजना के रहते हुए वास्तव मे पिछड़े हुए वर्गों को आगे वढे हुए वर्गों से प्रतिस्पर्धा करनी पडती है। इसके परिणामस्वरूप वास्तव मे पिछड़े हुए वर्गों को सरकारी सेवाओं और शैक्षिक सस्थाओं मे पर्याप्त व उचित प्रतिनिधित्व नही मिल पाता। अतएव आयोग ने प्रस्तावित किया है कि 'पिछडे हुए वर्गों' को पुनः पारिभाषित किया जाए। वास्तव मे पिछडे हुए वर्गों के लिए सरकारी सेवाओं और शैक्षिक सस्थाओं मे स्थानों के आरक्षण की पद्धति विहित की जा सकती है। इस हेतु आयोग ने राज्य सरकार से कहा है कि वह इस कार्य को करने के लिए एक उच्च शक्ति प्राप्त विशेषज्ञ समिति नियुक्त करे।

●●

अध्याय १०. संघ और राज्यों के वीच सम्वन्ध

मध्यावधि चुनावों के वाद—इन चुनावों के वाद से संघ व राज्य सरकारों के वीच सम्वन्धों का प्रश्न पहले की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हो गया है। पजाव और प० वगाल मे गैर-काग्रेसी सरकारे वनी हैं और उन्होने अधिक मात्रा में स्वायत्तता चाही है; विशेषरूप से वित्तीय क्षेत्र मे। राज्य-सरकारों की मांग यह है कि उनके वित्तीय साधनों मे वृद्धि हो। इस वारे मे एक सुझाव यह है कि एक स्थायी वित्त आयोग (Permanent Finance Commission) स्थापित किया जाय। दूसरा सुझाव यह है कि तेलंगाना जैसे प्रश्नों को हल करने के लिए संविधान के अनुच्छेद २६३ मे वर्णित अन्तर्राज्य परिषद (Inter-State Council) की स्थापना की जाए। यद्यपि यह परिषद सवैधानिक और अन्य प्रश्नो पर अन्तिम निर्णय न दे सकेगी, फिर भी यह अन्तर्राज्य मतभेदों व सघर्षों के वारे में राष्ट्रपति को उचित परामर्श दे सकेगी। इसका लाभ यह होगा कि इसके सामने सम्वन्धित राज्यों और भारत सरक[illegible]

को अपने अपने दृष्टिकोण रखने पड़ेंगे और उन्हें न्यायोचित सिद्ध करना पड़ेगा। इसके परामर्श और सुझावो के आधार पर प्रधान मंत्री राष्ट्रपति को अधिक उचित परामर्श देने की स्थिति में होगा।

पांचवें वित्त आयोग (Fifth Finance Commission) की सिफारिशें—अप्रैल १९६९ से आरम्भ होने वाले वर्ष से ५ वर्ष तक राज्यों को ४,२६६ करोड रुपये हस्तांतरित किये जायेंगे, जबकि चौथे वित्त आयोग की सिफारिश के अनुसार यह धन राशि २,८८६ करोड होती। भारत सरकार ने आयोग की वे सिफारिशें स्वीकार कर ली है जिनके अनुसार राज्यो और संघीय क्षेत्रों की संघ सरकार द्वारा आरोपित व एकत्रित करो में पहले से कही अधिक बडा भाग प्राप्त होगा। आयोग की अन्य उल्लेखनीय सिफारिशें ये हैं :

(१) ऐसे ७ राज्यो को जिनकी वित्तीय स्थिति अच्छी है, भारत सरकार संविधान के अनुच्छेद २७५ के अन्तर्गत कोई अनुदान (grants) न दे। (२) आयकर के वितरण के आधार में महत्वपूर्ण परिवर्तन का सुझाव दिया गया है। जबकि तीसरे और चौथे आयोग ने जनसंख्या और वसूलयाबी को क्रमशः ८० और २० प्र० श० का वजन (weightage) देना स्वीकार किया था, पांचवें आयोग ने इस अनुपात को ९० और १० प्र० श० में बदलने का सुझाव दिया है। इसके परिणामस्वरूप ऐसे राज्यो को अधिक सहायता मिल सकेगी जो औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं। (३) आयोग ने सुझाव दिया है कि संघ सरकार द्वारा आरोपित किये जाने वाले करो मे वृद्धि अथवा नये कर आरोपित करने की गुंजायश बहुत कम है। परन्तु राज्य सरकारें अवश्य ही नये कर लगा सकती हैं, विशेषरूप से ग्रामीण क्षेत्रों (rural sector) पर। यदि वे कृषि आय कर लगाना न चाहे तो कोई अन्य प्रकार के कर लगायें।

गवर्नरों का संघ-राज्यों के सम्बन्धों में महत्वपूर्ण भाग :

सन् १९६७ के पूर्व श्री श्रीप्रकाश जी ने, जो तीन राज्यों मे गवर्नर रह चुके थे, गवर्नर की गिरती हुई स्थिति के बारे मे लिखा था : 'समय बीतने पर प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करने लगा कि गवर्नर शक्तिहीन व्यक्ति होता है, जिसका प्रयोजन समारोहों और मनोरंजन के स्थानों पर प्रदर्शन है।''''''(परन्तु) इससे पूर्व केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच अधिकांश वार्ता गवर्नरो के द्वारा ही होती थी। मुख्य मन्त्री विभिन्न मामलों पर उनकी सहायता पाने के लिए उत्सुक रहते थे। वे केन्द्र को अपने संदेश गवर्नरों के द्वारा ही भेजा करते थे। किन्तु क्रमशः केन्द्र ने राज्य सरकारो से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखना प्रारम्भ किया। वह गवर्नरो को, जिनकी उसने रचना की थी, भूल गया।"[1]

श्रीमती सरोजिनी नायडू ने, जिस समय वह उत्तर प्रदेश की गवर्नर थी, अपने को 'सुनहरे पींजड़े में चिड़िया' बताया था, श्री वी० वी० गिरी ने आरम्भ

१. श्री प्रकाश : स्टेट गवर्नर्स इन इण्डिया (मीनाक्षी प्रकाशन मेरठ, १९६६) पृ० २८-१।

में गवर्नर बनने में अनिच्छा प्रकट की थी और डा० हरिकृष्ण महताब ने १९५६ में उड़ीसा का मुख्य मंत्री बनने के लिए गवर्नर के पद को त्यागा था। श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित ने तो १९६४ में संसद का सदस्य बनने के लिए बम्बई राज्य के गवर्नर पद से त्यागपत्र दिया था। ९ अक्तूबर १९६६ को भूतपूर्व गवर्नर, श्री धर्मवीर, ने एक पत्रकार सम्मेलन में कहा : 'स्वतन्त्रता के उपरान्त प्रारम्भिक काल में, जबकि सम्पूर्ण देश में एक दल की स्थायी सरकारें थी, गवर्नर के दायित्व केवल एक संवैधानिक अध्यक्ष के थे। परन्तु वर्तमान सन्दर्भ में, जबकि राजनीतिक निष्ठायें तेजी से बदल रही है और जब बहुदलीय सरकारें तथा ऐसी सरकारें जो राजनीतिक दृष्टि से केन्द्रीय सरकार से भिन्न है, राज्यों में कार्य कर रही हैं, गवर्नर के दायित्वों में बड़ी वृद्धि हुई है।'[२]

स्वयं श्री धर्मवीर द्वारा २१ नवम्बर १९६७ को प० बंगाल में संयुक्त मोर्चे के मंत्रि-मंडल को अपदस्थ किये जाने तथा डा० पी० सी० घोष के नये मुख्य मंत्री बनाये जाने ने गवर्नर की ठीक भूमिका के बारे में एक अभूतपूर्व प्रवाद को जन्म दिया। पहले प० बंगाल में और उसके बाद पंजाब में विधानसभा के अध्यक्ष ने अपनी शक्तियों का प्रयोग इस प्रकार किया कि विधानसभा अपनी सत्ता का प्रयोग न कर सकी। पंजाब विधानसभा के अध्यक्ष ने अपना निर्णय ऐसे प्रश्न पर दिया था जिसका सम्बन्ध सदन के सत्रावसान तथा उसके पुनः आहूत किये जाने के बारे में गवर्नर द्वारा निकाले गये अध्यादेश से था। उसके निर्णय के विरुद्ध पंजाब सरकार ने उच्च न्यायालय में अपील की और वहाँ असफल होने पर सरकार सर्वोच्च न्यायालय में गई। अपील की सुनवाई सर्वोच्च न्यायालय की संवैधानिक बेंच ने की और ३० जुलाई १९६८ को सर्वसम्मति से यह निर्णय दिया कि १८ मार्च १९६८ को विधानसभा में की गई वित्तीय कार्यवाही वैधानिक थी तथा उसके द्वारा पारित और गवर्नर द्वारा प्रमाणित विनियोग अधिनियम वैध थे।

राजस्थान में (१९६७ के आम चुनाव के बाद) गवर्नर ने कांग्रेस दल के नेता को मंत्रि-मंडल का निर्माण करने के हेतु आमन्त्रित किया, जबकि १८३ सदस्यों वाले सदन में विरोधी पक्ष को ९२ स्थान प्राप्त हुए थे। गवर्नर द्वारा कांग्रेसी नेता, श्री मोहनलाल सुखाडिया को आमन्त्रित किये जाने का राज्य भर में व्यापक विरोध हुआ। स्थान-स्थान पर विरोध प्रदर्शन और सभाएँ हुईं; जयपुर में तो दफा १४४ लागू कर दी गई और पुलिस को प्रदर्शनकारियों पर गोली वर्षा भी करनी पड़ी। मार्च १९६९ में मध्य प्रदेश के गवर्नर ने सत्तारूढ़ दल के नेता श्री जी० एन० सिंह द्वारा त्यागपत्र देने के बाद नव-निर्वाचित नेता, राजा नरेशचन्द्र सिंह को मंत्रि-मंडल के निर्माण हेतु आमन्त्रित करने में इतनी देरी कि उसकी गैर कांग्रेसी क्षेत्रों में बड़ी आलोचना हुई और कांग्रेस संसदीय दल के कुछ सदस्यों तक ने भी आलोचना की। यहाँ यह भी उल्लेख करना उचित होगा कि जब बिहार में

२. हिन्दुस्तान टाईम्स, १० अक्तूबर, १९६६।

श्री महामाया प्रसाद सिन्हा के मुख्य-मंत्रित्व काल मे संयुक्त मोर्चे की सरकार पदासीन थी तो भारत सरकार ने मुख्य मंत्री से मंत्रणा करने के उपरान्त श्री नित्यानन्द कानूनगो को, जो उड़ीसा के पुराने कांग्रेसी नेता है, गवर्नर मनोनीत किया। मुख्य मंत्री ने उस समय माँग की कि नये गवर्नर अपना पद कुछ माह बाद ग्रहण करें, जिसे भारत सरकार ने नही माना। इस पर मुख्य मंत्री ने नये गवर्नर से असहयोग करने की बात कही, परन्तु स्वराष्ट्र मंत्री, श्री वाई० बी० चव्हाण ने उन्हे चेतावनी दी कि इसे राज्य मे संवैधानिक शासन की विफलता समझा जायेगा। फलतः बिहार मे कोई गतिरोध पर संघर्ष पैदा नही हुआ।

गवर्नर के कार्यों और शक्तियों से सम्बन्धित संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने के बाद यह निष्कर्ष निकलता है कि गवर्नर को दो रूप मे कार्य करना पड़ता है—साधारणतः वह राज्य की कार्यपालिका के अध्यक्ष रूप मे कार्य करता है; परन्तु उसे कभी-कभी संघ सरकार के प्रतिनिधि रूप में भी कार्य करना पड़ता है। 'उसकी भूमिका में यह द्वैधता उसकी सबसे अधिक महत्वपूर्ण और निश्चितता सबसे अधिक अनोखी विशेषता है।...अधिकतर प्रयोजनों के लिए तो गवर्नर राज्य के शासन तंत्र का अंग है; परन्तु साथ ही वह केन्द्र से सम्बन्ध जोड़ने वाली कड़ी भी है। यह कड़ी और केन्द्र के प्रति उसका उत्तरदायित्व संविधान से निकलते है, मुख्यतः संविधान के इस प्राविधान से कि उसकी नियुक्ति और पदच्युति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। यह उल्लेखनीय है कि जबकि संविधान ने राष्ट्रपति की नियुक्ति हेतु निर्वाचन और पदच्युति के लिए महाभियोग की विधियाँ विहित की है, गवर्नरों के लिए संविधान ने नियुक्ति व पदच्युति की शक्तियाँ राष्ट्रपति में निहित की है। इस प्रकार संविधान ने विशिष्ट रूप मे कठोर संघात्मक सिद्धांत से हटने की व्यवस्था की है और ऐसा सोच समझकर किया गया है।[3]

गवर्नर की भूमिका के इस दूसरे पहलू का राष्ट्रीयकरण के लिए बड़ा महत्व है, जिसे १९६७ से पूर्व काफी मान्यता न मिली थी। अतीत मे इसके लिए उत्तरदायी कारण को 'केन्द्र व राज्यों में एकात्मक (एक दलीय) शासन' में ढूंढना चाहिए। ऐसे राज्य मे जहाँ मंत्रि-मंडल उसी दल का था जो केन्द्र में पदासीन था, गवर्नर का महत्व बहुत ही कम रह गया था। ऐसी स्थितियो में गवर्नर पद पर नियुक्त किये जाने वाले व्यक्ति को उसकी योग्यता के बजाय अन्य बातों का विचार करके छाँटा जाता था, जिनमे से यह मुख्य थी कि वह अपनी महत्वपूर्ण भूमिका को त्यागने के लिए उद्यत रहे। परन्तु अब यह परिदृश्य पूर्णतया बदल गया है और फिर कभी भी वही न रहेगा। अब केन्द्र व राज्यों में विभिन्न दलों का शासन है और यह बहुदलीय स्थिति कायम रहने वाली है।

३. प्रशासन सुधार आयोग, स्टडी-टीम की केन्द्र–राज्य सम्बन्धों के बारे में रिपोर्ट (सितम्बर १९६७), खण्ड १, पैरा १८, १ व २।

केन्द्र द्वारा नियुक्त अधिकारी के रूप में गवर्नर को अपने विवेक में दो महत्वपूर्ण कार्य करने पड़ते हैं—अनुच्छेद ३५६ के अन्तर्गत राष्ट्रपति को राज्य के शासन के बारे में समय-समय पर रिपोर्ट भेजते रहना और अनुच्छेद २०० के अन्तर्गत किसी विधेयक को राष्ट्रपति की अनुमति के लिए रोके रखना। गवर्नर की विवेकीय शक्तियों को दो शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है—संवैधानिक और स्थितीय। दोनों प्रकार की शक्तियों का क्षेत्र सीमित है, परन्तु वर्तमान परिस्थितियों में दूसरे प्रकार की विवेकीय शक्तियों का महत्व बहुत बढ़ गया है। इनमें हम इन्हें सम्मिलित कर सकते हैं—(१) विधानसभा का सत्र आहूत करना तथा उसका सत्रावसान करना; (२) मन्त्रि-मंडल को अपदस्थ करना; (३) अपनी दृष्टि से यह निर्णय करना कि बहुमत प्राप्त दल की शक्ति कितनी है; (४) अनुच्छेद २०६ के अन्तर्गत अध्यादेश जारी करना; (५) ऐसे विधेयकों पर भी हस्ताक्षर करना (अनुमति प्रदान करना) जिन्हें उपाध्यक्ष ने ही प्रमाणित किया हो और (६) राष्ट्रपति को आपातकालीन उद्घोषणा लागू करने का परामर्श देना।

गवर्नर के कार्यों के विश्लेषण से यह स्पष्ट होगा कि उसे विभिन्न प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं, जिन्हें मोटे रूप मे दो समूहों में रखा जा सकता है—ऐसे कार्य जिनमे उसे अपने व्यक्तिगत निर्णय या विवेक का प्रयोग करना पड़ता है और अन्य। अतः यह निश्चित है कि गवर्नर की भूमिका केवल निष्क्रिय अथवा औपचारिक नहीं है, उसे विशेष परिस्थितियों में अपने निर्णय और विवेक का प्रयोग करना पड़ता है और वह राज्य की राजनीति में बड़ा ही निर्णायक सिद्ध हो सकता है। अतएव यह अति आवश्यक है कि गवर्नर अपने कार्यों को बहुत सोच समझकर, न्यायपूर्वक, निष्पक्षता और कार्यकुशलता से करे। परन्तु इस बात में कोई संदेह नहीं कि विभिन्न अवसरों पर गवर्नरों ने भिन्न-भिन्न निर्णय लिये। अतएव यह आवश्यक और उचित समझा गया कि उनके मार्ग-दर्शन हेतु कुछ अभिसमय स्थापित हों और मार्ग-दर्शक रेखायें निर्धारित की जायें। इस विचार से स्वराष्ट्र मंत्री ने दिसम्बर १९६१ में ही विभिन्न राजनीतिक दलों के नेताओं और विशेषज्ञों की बैठक बुलाई थी, किन्तु उसमें इतने विरोधी मत अभिव्यक्त किये गये कि कोई अभिसमय या मार्गदर्शक रेखायें स्वीकृत न हो पाई। प्रशासन सुधार आयोग के समूह ने भी सिफारिश की कि गवर्नरों को संवैधानिक अथवा प्रशासनिक गतिरोध की परिस्थितियों का सामना करने के लिए कानून द्वारा शक्तियाँ प्रदान की जायें।

गवर्नर की उचित भूमिका के सम्बन्ध में प्रशासन सुधार आयोग ने अपनी रिपोर्ट में कहा है कि 'गवर्नर को राज्य के अध्यक्ष रूप में राजनीतिक पक्षपात से स्वतन्त्र होना चाहिए और दलों के बीच निष्पक्ष एवं न्यायपूर्ण रुख अपनाना चाहिए, जिससे कि उसे राज्य के सभी दलों का आदर प्राप्त हो।'[४] जहाँ तक केन्द्र

४. इंडियन रेकार्डर एण्ड डाइजेस्ट, जुलाई १९६९, पृ० १२।

और राज्यों के बीच सम्बन्ध जोड़ने वाली कड़ी का सम्बन्ध है, उपराष्ट्रपति श्री जी० एस० पाठक के अनुसार गवर्नर अपनी शपथ से 'सविधान के परिरक्षण और प्रतिरक्षण' हेतु संवैधानिक दायित्व के अन्तर्गत है। अतएव यह स्वाभाविक है कि ऐसे किसी मामले में मन्त्रि-परिषद को कोई परामर्श नही देना चाहिए जिसमे कि उसे अपनी शपथ का अतिक्रमण करना पड़े।'[५]

अब हम इस प्रश्न पर आते हैं कि किस व्यक्ति को गवर्नर नियुक्त किया जाये। एक मत यह है कि पद से निवृत्त नागरिक सेवको को गवर्नर नही बनाना चाहिए, क्योकि वे केन्द्रीय सरकार की कृपा से यह पद पायेगे और उसी के इशारे पर कार्य करेंगे। यह आक्षेप पद से निवृत्त उच्च न्यायालयो के न्यायाधीशों पर भी लागू होता है। दूसरा मत यह है कि पुराने काग्रेस जनों, विशेषकर निर्वाचनों मे पराजित नेताओं को गवर्नर नहीं बनाना चाहिए। वे चाहे निष्पक्षतापूर्वक कार्य करें, उनके प्रति विरोधी दलो का यही भाव बना रहेगा कि वे अपना कार्य स्वतन्त्रता व निष्पक्षतापूर्वक नही कर सकते। संसद के कुछ सदस्यो ने यह मांग प्रस्तुत की कि गवर्नरों की नियुक्ति का ससद द्वारा पुष्टिकरण किया जाय। एक सुझाव यह भी आया है कि सब सरकार को प्रत्येक गवर्नर की नियुक्ति के पूर्व लोकसभा में विरोधी पक्ष के नेता से अनौपचारिक रूप में मन्त्रणा करनी चाहिए। तीसरा सुझाव यह आया कि राष्ट्रपति को गवर्नर की नियुक्ति अपने विवेक में करनी चाहिए। अन्त मे, हम इस सम्बन्ध में प्रशासन सुधार आयोग के अध्ययन समूह की निम्नलिखित सिफारिशें देना उपयुक्त समझते हैं।

> 'गवर्नरों की नियुक्ति के बारे में हमारी प्रथम और मुख्य सिफारिश यह है कि इन नियुक्तियों के प्रति केन्द्र के रुख में उग्र परिवर्तन होना चाहिए। इन पदों को दायित्वहीन पद समझने के बजाय भारतीय प्रशासन के सघात्मक तन्त्र मे अति महत्वपूर्ण पद मानना चाहिए। फलतः गवर्नरों की छांट में सरक्षण व राजनीति का स्थान योग्यता को मिलना चाहिए। यद्यपि गवर्नर में असाधारण रूप से उच्च वैयक्तिक गुणों का होना आवश्यक है, हम यह विश्वास नही कर सकते कि इस बड़े देश मे १७ राज्यों के लिये ठीक चरित्रबल वाले व्यक्ति नहीं मिल सकते। हम सिफारिश करते है कि श्रेष्ठ व्यक्तियों का पता लगाने के लिए क्रमबद्ध और ध्यानपूर्वक तालाश करनी चाहिए। हम यह तो नही कहेंगे कि जिन व्यक्तियों ने राजनीति में भाग लिया हो उन्हें न छांटा जाये; परन्तु हम यह सुझाव देंगे कि छाट केवल केन्द्र में पदारूढ़ दल के व्यक्तियों तक ही परिमित नही रहनी चाहिये और वास्तव मे इस प्रकार की तलाश शासक दल के बाहर ही नही वरन् राजनीतिक क्षेत्र के बाहर तक विस्तृत की जानी चाहिये। (पैरा १८-१३)

५. हिन्दुस्तान टाइम्स, सितम्बर १२, १९६९।

जहाँ तक नियुक्ति की प्रक्रिया का सम्बन्ध है, वर्तमान प्रथा यह है कि गवर्नर की छांट का अन्तिम निर्णय करने से पूर्व राज्य के मुख्य मंत्री से मन्त्रणा की जाती है। कुछ व्यक्ति यह तर्क देते हैं कि इस प्रकार की मन्त्रणा का अन्त करना चाहिए, क्योंकि इसके लिये कोई संवैधानिक दायित्व नहीं है और इससे भी बढ़कर महत्वपूर्ण बात यह है कि शक्तिशाली मुख्य मन्त्री को ऐसा गवर्नर मिल जाता है जो कि उसके आज्ञाधीन रहे। इस तर्क का इस बात से भी समर्थन होता है कि गवर्नर की अवधि ५ वर्ष है, जबकि मुख्य मन्त्री राजनीतिक उलट-फेर के अनुसार आते हैं और चले जाते हैं। रिक्त पद भरने के समय उस व्यक्ति से मन्त्रणा करना जो कि मुख्य मन्त्री हो, इस संदर्भ में काफी अर्थपूर्ण नहीं है। बावजूद इन सभी तर्कों के नियुक्ति से पूर्व मुख्य मन्त्री से मन्त्रणा करना अच्छा है, क्योंकि ऐसा करने पर गवर्नर का कार्य और भी कठिन हो जायेगा। अतएव हम गवर्नर की नियुक्ति से पूर्व मुख्य मन्त्री से मन्त्रणा करने सम्बन्धी प्रथा में परिवर्तन की सिफारिश नहीं करते। फिर भी हम इस बात पर बल देंगे कि गवर्नर पद पर योग्य और सूक्ष्म व्यक्तियों को नियुक्त करने का प्राथमिक उत्तरदायित्व केन्द्र पर है और यह भी कि मुख्य मन्त्री से मन्त्रणा करने की प्रथा से इस उत्तरदायित्व को हल्का नहीं होने देना चाहिये अथवा इन नियुक्तियों के गुणों को नीचे नहीं गिराना चाहिए। (पैरा १८.१४)

संविधान द्वारा विहित किया गया है कि गवर्नर अपने पद पर ५ वर्ष तक रहेगा और वह अपना पद तब तक नहीं त्यागेगा जब तक कि उसका उत्तराधिकारी पद ग्रहण न कर ले। हम सिफारिश करते हैं कि एक ऐसा अपरिवर्तनशील नियम बने कि किसी गवर्नर को ५ वर्ष से अधिक अवधि प्राप्त न हो। अधिक से अधिक यह विहित किया जा सकता है कि असाधारण परिस्थितियों में उसकी अवधि को अधिक से अधिक ३ माह तक बढ़ाया जा सकता है। किसी व्यक्ति को उसी राज्य का ५ वर्ष की अवधि पूरी होने के बाद पुनः गवर्नर नहीं बनाना चाहिये अथवा अन्य किसी राज्य में भी उस अवधि के बाद उसे गवर्नर नहीं बनाना चाहिए। इस प्रतिबन्ध से गवर्नर मुख्य मन्त्री अथवा केन्द्रीय संरक्षण के अधिकार-क्षेत्र से बाहर निकल जायेगा। (पैरा १८.१५)

गवर्नरों के लिए पर्याप्त सूचना पद्धति की व्यवस्था करने के उद्देश्य से—(१) सभी राज्यों में अनुच्छेद १६६ के अन्तर्गत कार्यवाही के नियमों का पुनरावलोकन किया जाना चाहिये, जिसका लक्ष्य गवर्नर को भली प्रकार से सूचित रखने के लिये प्रावधानों को कड़ा बनाना हो; (२) अपने-अपने राज्य-क्षेत्र में गवर्नरों के कहीं भी आने-जाने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिये और उसमें बाधा डालने वाले नियम, अभिसमय या प्रथा का परिवर्तन किया जाना चाहिये; और (३) प्रत्येक

गवर्नर के साथ एक काफी कर्मचारियों वाला सचिवालय रहना चाहिए, जिसमें प्रमुख पद पर भारतीय प्रशासन सेवा का कोई सदस्य नियुक्त होना चाहिए। इसके अतिरिक्त गवर्नर द्वारा राष्ट्रपति को पाक्षिक रिपोर्ट भेजने की प्रथा जारी रहनी चाहिए और पाक्षिक तथा समय-समय पर भेजी गई रिपोर्टों के अतिरिक्त वार्षिक रिपोर्ट भेजने के लिये भी व्यवस्था की जानी चाहिये। (पैरा १८.२२–३)



अध्याय १२. संविधान के अन्य पहलू

राजभाषा अधिनियम—राजभाषा (संशोधन) विधेयक और सरकार की भाषा सम्बन्धी नीति को कार्यरूप देने के लिये एक सरकारी संकल्प को लोकसभा ने १६ दिसम्बर १९६७ को पास कर दिया था। ये दोनों ही पूर्वगामी प्रधान मन्त्रियों जवाहरलाल नेहरू और लाल बहादुर शास्त्री द्वारा दक्षिण भारत को दिये गये आश्वासनों को कार्यान्वित करने के उद्देश्य से पास किये गये। अपने भाषण में स्वराष्ट्र मन्त्री श्री चह्वाण ने यह स्वीकार किया कि विधेयक के पास होने पर अहिन्दी भाषा-भाषी लोगों पर तीन भाषायें प्रादेशिक भाषा, अंग्रेजी और हिन्दी-सीखने में अवश्य ही अधिक भार पड़ेगा। परन्तु सम्पर्क की भाषा स्वीकार करने में यह कठिनाई अन्तर्निहित है। इसी उद्देश्य से त्रिभाषा फार्मूला स्वीकार किया जा रहा है। उन्होने इस माँग को अस्वीकृत कर दिया कि केन्द्रीय सेवाओं में राज्यों के लिये कोटा पद्धति अपनाई जाये। डी० एम० के० और दक्षिण के वामपंथी साम्यवादी सदस्यों ने त्रिभाषा फार्मूले पर इस आधार पर जोरदार आक्षेप किया कि अहिन्दी भाषा-भाषियों पर दूसरों की अपेक्षा अधिक भार पड़ेगा।

विधेयक में किये गये मुख्य परिवर्तन—सन् १९६३ के राजभाषा अधिनियम के सेक्शन ३ के स्थान पर निम्नलिखित सेक्शन रखा जायेगा :

संविधान के प्रारम्भ से १५ वर्ष की अवधि समाप्त हो जाने पर भी नियत दिन से हिन्दी के अतिरिक्त अंग्रेजी भाषा का प्रयोग भी जारी रह सकेगा—(अ) संघ के उन सभी सरकारी प्रयोजनों के लिये जिनके लिये अंग्रेजी का नियत दिन से पूर्व तक प्रयोग हो रहा था और (ब) संसद में कार्यवाही करने के लिए।

'इस शर्त के आधीन कि संघ और ऐसे राज्य के बीच जिसने हिन्दी को राजभाषा के रूप में अंगीकार नहीं किया है, संचार के प्रयोजनों के लिये अंग्रेजी भाषा का प्रयोग किया जायेगा।

साथ में इस शर्त के आधीन कि जहाँ एक राज्य, जिसने हिन्दी को राजभाषा स्वीकार कर लिया है और दूसरे राज्य, जिन्होने हिन्दी को राजभाषा नहीं बनाया है, के बीच संचार के लिये हिन्दी का प्रयोग होता है, वहाँ हिन्दी में पत्रों के साथ उसका अंग्रेजी अनुवाद भी भेजा जायेगा।

---

८. प्रशासन सुधार आयोग—केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के बारे में रिपोर्ट, खंड १;

लोकसभा द्वारा भाषा नीति पर निम्नलिखित सकल्प अंगीकृत किया गया जबकि सविधान के अनुच्छेद ३४३ के अन्तर्गत सघ की राजभाषा हिन्दी होगी और जबकि अनुच्छेद ३५१ के अनुसार सघ का यह कर्त्तव्य है कि हिन्दी भाषा के प्रसार को प्रोत्साहन दें और उसे इस प्रकार विकसित करे कि वह भारत की मिश्रित सस्कृति के सभी तत्वो के लिए अभिव्यक्ति का माध्यम बन जाये, यह सदन सकल्प करता है कि भारत सरकार द्वारा एक अधिक गहन और विस्तारपूर्ण कार्यक्रम तैयार किया तथा कार्यान्वित किया जायेगा जिससे कि हिन्दी के प्रसार और विकास की गति को अधिक वेगपूर्ण बनाया जाये और सघ के विभिन्न प्रयोजनो के लिये इसका उन्नतिशील प्रयोग किया जाये। इस उद्देश्य से उठाये गये पगो तथा वर्ष में की गई उन्नति की रिपोर्टें प्रतिवर्ष दोनो सदनो की मेज पर रखी जायेंगी।

सदन सकल्प करता है कि भारत सरकार द्वारा राज्य सरकारों से मिलकर हिन्दी के साथ सविधान की अनुसूची मे वर्णित १४ प्रादेशिक भाषाओं के समुचित विकास के लिये एक कार्यक्रम तैयार और कार्यान्वित किया जायेगा, जिससे कि वे शीघ्रता से विकसित होकर धनी बनें और आधुनिक ज्ञान प्रदान करने का प्रभावी माध्यम बन सकें।

चूंकि एकता की भावना को प्रोत्साहन देने और देश के विभिन्न भागों की जनता के बीच संचार को सुविधाजनक बनाने के लिये यह आवश्यक है कि सभी राज्यों मे त्रि-भाषा फार्मूले को पूर्णतया कार्यान्वित करने के लिये प्रभावी पग उठाये जाये, यह सदन सकल्प करता है कि उस फार्मूले के अनुसार किसी आधुनिक भारतीय भाषा के अध्ययन के लिये व्यवस्था की जाए, जहाँ तक हो सके हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों में हिन्दी और अंग्रेजी के साथ दक्षिण की किसी भाषा के लिये और अहिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों के लिये प्रादेशिक भाषा और अंग्रेजी के साथ हिन्दी के अध्ययन के लिये।

और चूंकि सघ की सार्वजनिक सेवाओं के बारे में देश के विभिन्न भागों की जनता के न्यायपूर्ण दावों और हितों को सुनिश्चित बनाने के लिये यह आवश्यक है कि उन्हें पूर्ण सरक्षण प्रदान किये जायें। अत. यह सदन सकल्प करता है :

(अ) केन्द्रीय सेवाओं और पदो की भर्ती के लिये, सिवाय किन्ही विशेष सेवाओ और पदों के लिये, जिनके लिये कि अकेली अंग्रेजी या हिन्दी के ऊंचे ज्ञान की आवश्यकता हो, हिन्दी या अंग्रेजी का अनिवार्य ज्ञान प्राथियों के चयन के समय आवश्यक होगा; और

(ब) सविधान की अनुसूची में सम्मिलित सभी भाषायें और अंग्रेजी को परीक्षाओ की भावी योजना व प्रक्रिया सम्बन्धी पहलुओं और समय क्रम के बारे में सघीय लोक सेवा आयोग के मतों को जानने के बाद

अखिल-भारतीय और उच्चतर केन्द्रीय सेवाओं के लिये वैकल्पिक माध्यमों के रूप में आज्ञा दी जायेगी।

२२ वां संशोधन—पृ० २६६ पर दिये गये २२वें संशोधन के स्थान पर इसे रखिये—१५ अगस्त १९६९ को लोकसभा ने संविधान के २२वें संशोधन विधेयक को पास किया। उनके पास हो जाने पर संसद असम के पहाड़ी जिलों को स्वायत्तपूर्ण राज्य का पद (Autonomous state status) प्रदान करने के लिये आवश्यक कानून बना सकेगी। राज्य सभा इस विधेयक को अप्रैल में ही पास कर चुकी थी। अब विधेयक का कम से कम राज्यों के विधान मण्डलों द्वारा पुष्टिकरण होना शेष है। उसके बाद ही सरकार संसद में असम के भीतर स्वायत्तपूर्ण राज्य की रचना सम्बन्धी विधेयक प्रस्तुत कर सकेगी। ● ●

अध्याय १४. राजनीतिक दल—१

कांग्रेस—जैसा कि अध्याय ६ के अन्तर्गत राष्ट्रपति के निर्वाचन के सम्बन्ध में बताया जा चुका है, इस पद के लिये कांग्रेसी उम्मीदवार की छांट के प्रश्न पर कांग्रेस में गम्भीर फूट पड़ गई। एक गुट में संगठन पर नियन्त्रण प्राप्त नेता कांग्रेस के प्रधान, श्री निजलिंगप्पा, और उनके प्रमुख समर्थकों में श्री मोरारजी देसाई भूतपूर्व वित्त मंत्री एवं उप-प्रधानमंत्री, श्री एस. के. पाटिल, श्री के. कामराज, श्री अतुल्य घोष, श्री सादिक अली (जनरल सेक्रेटरी) और श्री संजीवा रेड्डी हैं। दूसरे गुट की नेता स्वयं श्रीमती इन्दिरा गांधी, प्रधानमंत्री है और उनके प्रमुख समर्थकों में श्री जगजीवन राम, (खाद्य मंत्री), श्री फखरूद्दीन अली अहमद (उद्योग मंत्री), कई राज्यों के मुख्य मंत्री आदि हैं। कांग्रेस में नवयुवक वर्ग का समर्थन भी अधिकांशतः इसी गुट को प्राप्त है।

राष्ट्रपति के निर्वाचन के बाद ही दोनों गुटों में अति गंभीर मतभेद पैदा हो गया था, परन्तु अन्त में कुछ नेताओं के प्रयत्नों के फलस्वरूप कांग्रेस कार्य समिति (Congress working Committee) ने २५ अगस्त को एकता प्रस्ताव (Unity resolution) पास किया, जिसके परिणामस्वरूप उस समय संकट टल गया; परन्तु केवल कुछ ही दिनों के लिये ऐसा हुआ। दोनों गुटों के नेताओं ने विभिन्न स्थानों व अवसरों पर अपने भाषणों में एकता की भावना का स्पष्ट रूप से अतिक्रमण किया और एक दूसरे गुट पर दोषारोपण भी करना आरम्भ किया। अक्टूबर में श्रीमती इन्दिरा गांधी और उनके समर्थकों ने कांग्रेस के प्रधान श्री निजलिंगप्पा के स्थान पर दिसम्बर १९६९ के अन्त होने से पूर्व ही नये प्रधान का चुनाव कराने के लिये कांग्रेस महासमिति (All India Congress Committee) की बैठक बुलाने का निर्णय किया और इस उद्देश्य से महासमिति के सदस्यों की ओर से एक प्रार्थना पत्र प्रस्तुत करने के लिये सदस्यों के हस्ताक्षर कराने आरम्भ किये।

जैसा कि स्वाभाविक ही था, दूसरे गुट ने इस प्रस्ताव के विरोध में कार्य किया। प्रार्थना पत्र पर लगभग ४००' (५० प्र० घ०) से अधिक हस्ताक्षर कराये गये। प्रथम नवम्बर को होने वाली कार्य समिति में इस प्रार्थनापत्र पर विचार होना था। उस बैठक से दो दिन पूर्व श्री फखरुद्दीन अली अहमद को (जो प्रधान द्वारा नामजद सदस्य थे) कांग्रेस प्रधान ने अपना विश्वास खो देने के आधार पर कार्य समिति की सदस्यता से पृथक कर दिया और श्री सी० सुब्रह्मण्यम को (जो कुछ दिन पूर्व तक तमिलनाडु कांग्रेस समिति के प्रधान थे) प्रधान पद से त्यागपत्र दे देने के कारण कार्य समिति की सदस्यता से वंचित कर दिया। इस प्रकार उन्होंने कार्य समिति में श्रीमती इन्दरा गाधी के बहुमत को अल्पमत में बदल दिया।

कांग्रेस प्रधान के उपर्युक्त कार्य के विरोध में श्रीमती इन्दरा गाधी और उनके समर्थकों ने कार्य समिति की बैठक में भाग न लेकर प्रधान मन्त्री के निवास स्थान पर पृथक से बैठक करने का निर्णय किया। कार्य समिति के दो समूहों की पृथक-पृथक बैठकें एक ही समय पर १ नवम्बर को हुईं। कांग्रेस प्रधान की अध्यक्षता में, कांग्रेस के मुख्य कार्यालय में हुई बैठक में २१ में से ११ सदस्यों ने भाग लिया और सर्वसम्मति से यह महत्वपूर्ण निर्णय किया कि दिसम्बर में गुजरात में महासमिति का नियमित अधिवेशन बुलाया जाये। इस प्रकार कार्यसमिति ने महासमिति का विशेष अधिवेशन बुलाने के लिये विरोधी द्वारा प्रस्तुत प्रार्थना-पत्र को अस्वीकार कर दिया। श्रीमती इन्दरा गाधी और उनके समर्थकों की बैठक में निर्णय किया गया कि २२ और २३ नवम्बर को दिल्ली में महासमिति का विशेष अधिवेशन किया जाये। कांग्रेस प्रधान ने महासमिति के दूसरे जनरल सेक्रेटरी, श्री शकरदयाल शर्मा को जनरल सेक्रेटरी के पद से अलग कर दिया। इस कारण वह कार्यसमिति की सदस्यता से भी वंचित हो गये।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि कांग्रेस में ऐसी गम्भीर फूट पड़ी है कि उसका कोई हल निकालना सम्भव नहीं दीखता। फिर भी मैसूर के मुख्य मन्त्री, श्री पाटिल और केराला प्रदेश कांग्रेस कमेटी के प्रधान श्री अब्राहम के प्रयत्नों के फलस्वरूप श्री निजलिंगप्पा और श्रीमती इन्दरा गाधी के बीच श्रीमती इन्दरा गाधी के निवास स्थान पर दोपहर के खाने पर एकता के लिये वार्ता हुई, जो पूर्णतया निष्फल रही। ११ नवम्बर को कांग्रेस कार्य समिति की बैठक से पूर्व कुछ मुख्य मन्त्रियों ने एकता स्थापित करने के लिये एक प्रयास और किया। किन्तु वह भी विफल रहा।

११ नवम्बर को कांग्रेस कार्य समिति की बैठक हुई, जिसमें प्रधानमंत्री को कांग्रेस की प्रारम्भिक सदस्यता से भी अलग करने और कांग्रेस ससदीय दल द्वारा नये नेता के चुने जाने का निर्णय किया गया। प्रधानमन्त्री पर मुख्य आरोप यह लगाया कि वह दलीय सगठन पर अपना अधिकार जमाना चाहती है। उसी दिन कांग्रेस

संसदीय दल के लगभग १२० संसद सदस्यों ने प्रधानमंत्री के समर्थन में प्रस्ताव पास किया। १२ नवम्बर को कांग्रेस संसदीय दल की बैठक हुई, जिसमें लगभग ३०० सदस्यों ने भाग लिया और प्रधानमंत्री ने अपने विश्वास को फिर से प्रकट किया। फलत. कांग्रेस संगठन के समर्थन करने वाले संसद सदस्यों को नया नेता चुनने को कहा गया और उन्होंने श्री मोरारजी देसाई को अपना नेता चुना। १७ नवम्बर को संसद का सत्र आरम्भ हुआ; उस दिन एक काम 'रोको प्रस्ताव' पर मतदान हुआ जिसका परिणाम प्रधानमंत्री और सरकार के पक्ष में रहा।

साम्यवादी दल—साम्यवादी दल (मार्क्सवादी —C P. M.) और भारतीय साम्यवादी दल (C. P. I.) के बीच मतभेद तीव्रतर होते जा रहे हैं। इसी कारण से केरल के संयुक्त मोर्चे के मन्त्रिमण्डल को जिसमें कि प्रधान स्थान साम्यवादी दल (मार्क्सवादी) का था, अक्तूबर १९६९ में त्यागपत्र देना पड़ा। ३१ अक्तूबर को उस राज्य में भारतीय साम्यवादी दल के नेता, श्री अच्युत मेनन के नेतृत्व में गैर-मार्क्सवादी दलों की मिली-जुली सरकार का निर्माण हुआ है। नये मन्त्रि-मण्डल में ८ मंत्री हैं—तीन भारतीय साम्यवादी दल के दो मुस्लिम लीग के, २ भारतीय समाजवादी पार्टी (Indian Socialist Party) के और १ केरल कांग्रेस का।

केरल में संयुक्त मोर्चे की सरकार के पतन से प० बंगाल के संयुक्त मोर्चे के मन्त्रि-मण्डल के अस्तित्व को भी खतरा पैदा हो गया है। वहाँ भी साम्यवादी दल (मार्क्सवादी) की नीति व गतिविधियों से मोर्चे के अन्य दलों को बड़ी शिकायत है। राज्य के मुख्य मंत्री (बंगला कांग्रेस के अध्यक्ष) श्री अजय मुकर्जी ने १० नवम्बर १९६९ को पत्रकारों से कहा कि प० बंगाल में संयुक्त मोर्चे की सरकार जन साधारण के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करने में असफल रही है। अतः उनके दल की राज्य समिति १२ नवम्बर को होने वाली बैठक में दल. के संयुक्त मोर्चे से सम्बन्ध के बारे में पुनरावलोकन करेगी। सम्भावना यही है कि संयुक्त मोर्चे का मन्त्रि-मण्डल अधिक समय तक पदासीन न रह सकेगा।

प्रजा समाजवादी दल के राष्ट्रीय सम्मेलन के नवें अधिवेशन पर भाषण देते हुए दल के चेयरमैन श्री एन० जी० गोरे ने ३० दिसम्बर १९६७ को कानपुर में घोषित किया कि राज्यों में संयुक्त मोर्चे की सरकारें अर्थहीन हो चुकी थी। उन्होंने कहा :—

> प्रत्येक राज्य में, राजनीतिक विवाद और चालें आनन्दपूर्वक चले जा रहे हैं। संयुक्त मोर्चे की सरकारें रेत पर बने मकान की भांति खण्डित होती जा रही हैं। राजनीतिक दलों में अवसरवादी—चाहे सत्तारूढ़ दल में या विरोधी पक्ष में, वेग के साथ पतनशील, आर्थिक और सामाजिक मूल्यों पर कोई ध्यान नहीं देते।

श्री गोरे ने तैयार किये गये अभिभाषण से हटकर हिन्दी के उत्साही समर्थकों को चेतावनी देते हुए कहा कि हिन्दी से तमिल कहीं अधिक विकसित है। भाषा प्रवाद को शान्तिमय तरीकों द्वारा हल करना चाहिये। २ जनवरी १९६८ को पास किये गये एक प्रस्ताव में सम्मेलन ने बैंकों, सामान्य बीमा और अन्य बड़े ऋण देने वाले संस्थानों के तुरन्त राष्ट्रीयकरण की मांग की। आर्थिक स्थिति पर दूसरे प्रस्ताव में सरकार द्वारा बैंकों पर सामाजिक नियन्त्रण स्थापित करने के प्रस्ताव को कोरा दिखावा बताया। उसमें यह भी मांग की गई कि प्रबन्ध-अभिकरण पद्धति (managing agency system) का उन्मूलन किया जाये। उसमें यह मत भी अभिव्यक्त किया गया कि नियोजन में कृषि को 'गर्व का स्थान' (place of pride) दिया जाना चाहिये था।

संयुक्त समाजवादी दल (S. S. P.)—९ मई १९६९ को दल की राष्ट्रीय कार्यकारिणी ने दो नीति-सम्बन्धी प्रस्ताव स्वीकार किये। राजनीतिक प्रस्ताव में कहा गया है कि दल अब गैर-कांग्रेसी सरकारों में भाग लेने की अपेक्षा कार्यक्रम की दिशा में अधिक झुकेगा। दल का बल 'संसदीय और निर्वाचन राजनीति' के स्थान पर 'जन-साधारण की राजनीति' (mass politics rather than parliamentary and election politics) पर रहेगा। दल की नीति और कार्यक्रम में दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि सविनय अवज्ञा के कार्यक्रम के स्थान पर दल आन्दोलन का ऐसा कार्यक्रम अपनायेगा जिसमें जन साधारण भाग ले, जैसे पीने के पानी की सुविधाओं और खेतिहर मजदूरों के लिये निम्नतम पारिश्रमिक के लिये आन्दोलन।

दूसरे प्रस्ताव में दल की राष्ट्रीय कार्य-कारिणी ने माँग की है कि देश की नई स्थिति के प्रकाश में नया संविधान बनाने के लिये वयस्क मताधिकार के आधार पर नई संविधान सभा निर्मित की जाये। बिहार के भूतपूर्व मुख्य मन्त्री श्री कर्पूरी ठाकुर और संसद सदस्य श्री जार्ज फर्नेन्डेस क्रमशः दल के नये चेयरमैन और जनरल सेक्रेटरी चुने गये।

विलीनीकरण (merger) के बारे में प्रजा समाजवादी दल का दृष्टिकोण—उसी दौरान दल के संयुक्त मन्त्री द्वारा जारी किये गये एक वक्तव्य में इस बात पर निराशा प्रकट की कि संयुक्त समाजवादी दल ने प्रजातन्त्रात्मक समाजवादी समेकन (democratic socialist consolidation) की नीति को अस्वीकार कर दिया है। उसके बाद प्र० स० दल के जनरल सेक्रेटरी श्री प्रेम भसीन ने कानपुर में पत्रकारों से कहा कि चेयरमैन के पद से अलग होने वाले श्री एस० एम० जोशी के संशोधन की पराजय ने 'संयुक्त समाजवादी दल और प्रजा समाजवादी दल' के विलीनीकरण हेतु दरवाजा बन्द कर दिया है। उन्होंने यह भी कहा कि जब तक सर्वश्री राजनारायण, मधु लिमये और जार्ज फर्नेन्डेस जैसे नेताओं का स० स० दल पर नियन्त्रण बना रहेगा तब तक समाजवादी और प्रजातन्त्रात्मक दलों का समेकन न हो सकेगा।

अध्याय १५. राजनीतिक दल–२

जनसंघ—जनसघ का वार्षिक सम्मेलन बम्बई मे अप्रैल के अन्तिम सप्ताह में हुआ। सघ के प्रधान श्री अटल विहारी वाजपेयी ने अपने अभिभाषण मे कहा . तीन पचवर्षीय योजनाओं ने प्रादेशिक असमानताओं को दूर करने के बजाय तीव्रतर बनाया है। हाल में हुए मध्यावधि चुनावों के परिणामों ने यह सिद्ध कर दिया है कि दल का जनता से सम्पर्क बहुत कम हो गया है। काग्रेस के पतन और किसी अन्य दल का स्पष्ट विकल्प रूप मे उदय न होने से देश मे अस्थायीपन और अनिश्चितता का वातावरण पैदा किया है। सुदृढ केन्द्र की आवश्यकता पर बल देते हुए, उन्होने कहा कि भारत का सविधान सरचना मे सघात्मक है किन्तु सार मे एकात्मक है। जबकि जनसघ को इस बात से खुशी होगी कि संविधान की सरचना भी एकात्मक हो जाये, यह अति आवश्यक है कि सविधान के एकात्मक सार की उत्साहपूर्वक सुरक्षा की जाये।

१ सितम्बर १६३६ को जनसघ की कार्यसमिति ने दिल्ली में एक महत्वपूर्ण राजनीतिक अगीकार किया, जिसमें घोषित किया कि इस समय की वास्तविक आवश्यकता यह है कि वे सभी व्यक्ति जो राष्ट्रीयता और प्रजातन्त्र मे विश्वास करते है, इस बात को भली प्रकार समझ लें कि चाहे विभिन्न दलों में आर्थिक उन्नति के लिये अपनाये जाने वाले मार्ग के बारे में असहमति रहे, राष्ट्र राष्ट्रवाद और प्रजातन्त्र के आधारभूत तत्वों के बारे मे विभाजित नही हो सकता। प्रस्ताव में यह भी कहा गया है कि दोनों ही भारतीय साम्यवादी दल इन दोनों आधारभूत मूल्यो को स्वीकार नही करते, जैसा कि प्रमुख साम्यवादियो ने अपने वक्तव्यो मे कहा है कि उनका उद्देश्य तो भीतर से सविधान को तोड़ना (to breck the constitution from within) है।

भारतीय क्रान्ति दल (बी० के० डी०)—दल के उप-प्रधान, श्री रामगोपाल ने १० जनवरी, १६६६ के हिन्दुस्तान टाइम्स में प्रकाशित एक लेख मे कहा है कि देश की वर्तमान राजनीतिक स्थिति में मिले-जुले मन्त्रि-मण्डलो का निर्माण अवश्य-भावी है (coalitions are inevitable)। ●●

ध्यायअ १६. दलगत राजनीति का विकास

१६६७ के बाद कई राज्यों में विभिन्न दलों के मिले-जुले मन्त्रि-मण्डल बने जो विधायकों के एक दल से दूसरे दल में आवागमन (political defections) के कारण अस्थायी रहे और उनका शीघ्र ही पतन हुआ। परिणामस्वरूप ५ राज्यो में मध्यावधि चुनाव हुए। जिन राज्यों मे विभिन्न दलों ने संयुक्त विधायक दल (United Legislative Party) या सयुक्त मोर्चे (United Front) बनाकर

मन्त्रि मण्डलों का निर्माण किया था, उनमें केवल नाम मात्र की ही एकता रही, जिसके फलस्वरूप उन मन्त्रि-मण्डलों का शीघ्र ही पतन हो गया। सबसे पहले हरयाना में मध्यावधि चुनाव हुए और कांग्रेस पार्टी को पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ। अन्य चार राज्यों में चुनाव फरवरी १९६९ में हुए। विभिन्न दलों की स्थिति निम्न तालिका में दिखाई गई है:

	यू० पी०	पंजाब	बिहार	प० बंगाल
कुल स्थान	४२५	१०४	३१८	२८०
कांग्रेस	२११	३८	११८	५५
जनसंघ	४९	८	३४	—
स्वतन्त्र पार्टी	५	१	३	—
साम्यवादी दल (दक्षिणपंथी)	४	४	२५	३०
साम्यवादी दल (मार्क्सवादी)	१	२	३	८०
प्र० स० दल	३	१	१७	५
स० स० दल	३३	२	५२	९
बी० के० डी०	९९	—	६	—
अकाली	—	४३	—	—
बंगला कांग्रेस	—	—	—	३३
अन्य दल	२	१	४०	५७
स्वतन्त्र	१८	४	१६	११

अन्य दलों की स्थिति इस प्रकार रही : बिहार में—जनता १४, लोकतांत्रिक कांग्रेस ९, हुल झारखण्ड १०, शोषित दल ६ और फारवर्ड ब्लॉक १।

प० बंगाल में—फारवर्ड ब्लॉक २२, आर० एस० पी० १२, लोकसेवक संघ ४, सोशलिस्ट युनिटी सैन्टर ७, वर्कर्स पार्टी २, आर० सी० पी० आई० २, प्रोग्रेसिव मुस्लिम लीग ३, इण्डियन नेशनल डेमोक्रेटिक फ्रन्ट १।

फरवरी १९६९ में नागालैंड की विधान सभा के लिये भी चुनाव हुए, जिनके परिणामस्वरूप विभिन्न दलों की स्थिति निम्न प्रकार रही :

नागालैंड नेशनलिस्ट ऑरगेनाईजेशन	२२
युनाइटेड फ्रन्ट	१०
स्वतन्त्र	८
त्वेनसाग जिला परिषद के नामजद सदस्य	१२
कुल	५२

१ जनवरी १९६९ को मध्य प्रदेश संयुक्त विधायक दल मन्त्रि-मण्डल को पुनर्गठित किया गया, जिसमें उन २० मन्त्रियों में से १५ को सम्मिलित किया गया जो अपने दल छोड़कर सं० वि० द० में आ मिले थे और जिन्होंने एक साथ २ माह पूर्व त्यागपत्र दे दिये थे और साथ में दो नये मन्त्रियों को भी लिया गया। उसके बाद मन्त्रि-मण्डल के सदस्यों की संख्या ३२ रही, जबकि पहले यह ३६ थी। यह बात उल्लेखनीय है कि मन्त्रि-मण्डल में ऐसे ३ सदस्यों को भी सम्मिलित किया गया जिनके विरुद्ध जनसंघ और राजमाता के समूहों ने भ्रष्टाचार व संयुक्त विधायक दल विरोधी कार्यवाहियों के आधार पर उत्तेजनापूर्ण भाषण दिये थे; इतना ही नहीं, उनमें से एक को, केबिनेट का भी सदस्य बनाया गया। कुछ ही समय पश्चात् श्री जी० एन० सिंह ने मुख्य मन्त्री के पद और सत्तारूढ़ दल के नेतृत्व से त्यागपत्र दे दिया। उनके बाद राजा नरेश चन्द्र सिंह मुख्य मन्त्री बने। श्री जी० एन० सिंह और उनके साथी फिर से कांग्रेस पार्टी में लौट आये। नये मन्त्रि-मण्डल का शीघ्र ही पतन हो गया और उसके बाद श्री श्यामा चरण शुक्ला के नेतृत्व में कांग्रेस ने नया मन्त्रि मण्डल बनाया।

भूतपूर्व कांग्रेस के प्रधान कामराज ९ जनवरी १९६९ को उप-चुनाव में मद्रास के नागरकोइल चुनाव-क्षेत्र से अपने विरोधी स्वतन्त्र दलीय उम्मीदवार डा० एम० मथियास (जिन्हें डी० एम० के० ने भी अपना समर्थन प्रदान किया) के विरुद्ध १२८, २०१ मतों से विजयी घोषित हुए। कांग्रेस की निर्णायक जीत से डी० एम० के० को भारी धक्का लगा। उसके बाद गुजरात से लोकसभा के लिये एक उप-चुनाव में प्रमुख कांग्रेसी नेता श्री एस० के० पाटिल विजयी हुए और उन्होंने अपने प्रमुख प्रतिद्वन्द्वि स्वतन्त्र पार्टी के उम्मीदवार को काफी मतों से पराजित किया। ●●

अध्याय १७. दबाव अथवा हित समूह

१९६९–७० के लिये संघ सरकार के बजट में उर्वरकों (fertilisers) और बिजली से चालित पम्पों पर एक्साईज महसूल लगाने के प्रस्ताव सम्मिलित किये गये। परन्तु संसद में उनका विरोध किया गया, जिसके पीछे कृषकों की लाबी (farmers labby) का हाथ स्पष्ट दिखाई देता है। इतना ही नहीं इस लॉबी ने कृषि आय पर भी प्रस्तावित कर (जिससे होने वाली सम्पूर्ण आय राज्य सरकारों को मिलनी है) का विरोध किया। वास्तव में उस लॉबी का यह प्रयत्न रहा है कि केन्द्र अथवा राज्यों में जहाँ तक हो सके ग्रामीण क्षेत्र पर नये कर न लगाये जायें, जबकि सभी अर्थशास्त्री और आयोग यह कहते हैं कि नये करों के आरोपण के लिये केवल ग्रामीण क्षेत्र ही बचा है। परन्तु अभी तक फार्मर्स लॉबी का संगठन स्पष्ट रूप में दिखाई नहीं पड़ता। ●●

अध्याय १८. प्रजातांत्रिक नियोजन

अप्रैल १९६६ में चौथी पंचवर्षीय योजना का जो आलेख नेशनल डेवलपमेंट कौंसिल के सामने विचारार्थ रखा गया उसमें आधारभूत ध्येय यह बताया गया है— ऐसे पगो द्वारा जनता के जीवन स्तर को वेग से ऊपर उठाना, जिनसे समता और सामाजिक न्याय को भी प्रोत्साहन मिले। इसमे प्रस्तावित है कि विकास कार्य की गति मे इस प्रकार वृद्धि की जाये जो कि आत्म-निर्भरता की ओर उन्नति और स्थायित्व से संगत हो। योजना के प्रारूप में बल साधारण व्यक्ति, कमजोर वर्गों और विशेषाधिकारहीन समूहों पर दिया गया है। इसके सामाजिक लक्ष्यों में आर्थिक विषमताओं और प्रादेशिक असन्तुलनों को कम करके अधिक समता लाने को सम्मिलित किया गया है। लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये योजना में विहित किया गया है :

(१) नियोजन के परिणामस्वरूप आय और धन मे अधिक समता आनी चाहिये।

(२) आयों, धन और आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण (Concentration) में प्रगतिशील कमी होनी चाहिये।

(३) समाज के विशेषाधिकार हीन वर्गों से अनुसूचित वर्गों और जनजातियों को विकास से अधिक लाभ पहुचे।

अत. योजना मे इस आवश्यकता पर बल दिया गया है कि सामाजिक और आर्थिक संस्थाओं को इस प्रकार से पुन. ढाला जाये कि सामाजिक न्याय की दिशा मे वेगपूर्ण विकास हो सके। जहाँ तक योजना की वृहत् रूपरेखाओं का सम्बन्ध है, इसमें २४,००० करोड़ रु० के व्यय की व्यवस्था प्रस्तावित है, जिसमें से १४,००० करोड़ सार्वजनिक क्षेत्र (Public sector) के लिए रखे गये है। इससे आशा की जाती है कि यह ५–६ प्रतिशत वार्षिक विकास की गति (5 to 6 percent annual rate of growth) को पैदा कर सकेगी। जैसा कि होना चाहिए था, बल कीमतों की स्थिरता और आत्म-निर्भरता की ओर निर्णायक प्रगति पर है।

●●

अध्याय १९ और २०. वैदेशिक नीति

कच्छ सीमा निर्धारण के बारे में समझौता—कच्छ सीमा निर्धारण कार्य (Demarcation of the Kutch Boundary) पूर्ण हो जाने पर भारत और पाकिस्तान के बीच उत्पन्न हुए सीमा विवाद का अन्तिम हल निकल आया है और दोनो देशो के बीच समझौता हो गया है। सीमा समझौते से सम्बन्धित आलेखों पर (जिनका आधार अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण का पंच निर्णय–Award of the International Tribunal) है, ४ जुलाई १९६९ को हस्ताक्षर हुए। श्री छागला

के मतानुसार पंच-निर्णय राजनीतिक है, किन्तु श्री सीतलवाद के मत में पच-निर्णय न्यायिक है।

१६६६–७० में संकाय सहायता (Consortium Aid)—२४ मई १६६६ को जारी की गई एक विज्ञप्ति मे विश्व बैंक ने कहा है कि पेरिस मे हुई भारत-सहायता सकाय (Aid-India Consortium) ने भारत के लिए परियोजना सहायता (Project Assistance) में वृद्धि की आवश्यकता को माना है और भारत की ४०० मिलियन डॉलर की सहायता के लिए प्रार्थना को उचित स्वीकार किया है। सकाय ने ७०० मिलियन डॉलर अन्य सहायता (Non-project Assistance) के रूप में देने का निर्णय किया। सकाय के निर्णयों का भारत मे स्वागत किया गया। सकाय की बैठक मे भाग लेने वाले भारतीय प्रतिनिधिमण्डल के मुख्य प्रतिनिधि ने ५ जून को पत्रकारों को बताया कि भारत १,१०० मिलियन डॉलर (८२६ करोड़ रुपये) की सहायता को चालू वर्ष मे ही प्रयोग करेगा।

विकास दशी में वैदेशिक सहायता (Foreign Aid in Development Decade)—सन् १६६२ में स० रा० सघ की जनरल एसेम्बली ने एक प्रस्ताव द्वारा यह सिफारिश की कि विकसित देश अपनी राष्ट्रीय आय का १ प्रतिशत विकासशील देशो की आवश्यकताओं को पूरी करने के हेतु देने के लिये सहमत हो जायें। उस प्रस्ताव के साथ ही स० रा० विकास दशी, १६६०–७० (U. N. Development Decade, 1960–70) आरम्भ हुई। इस दशी के लिये स्वीकृत विशिष्ट लक्ष्य ये हैं :

> दशी के अन्त तक प्रत्येक विकासशील देश सारपूर्ण विकास की गति, कम से कम ५ प्रतिशत वार्षिक प्राप्त करे; कृषि मे कम से कम ४·५ प्रतिशत वार्षिक की और कारखानों के उत्पादन में १३ प्रतिशत की विकास गति प्राप्त करे।

श्री जी० एन० गाधी के मतानुसार विदेशी सहायता की वर्तमान मात्रा से भी काफी अच्छे परिणाम प्राप्त हो जाते, यदि सहायता को सहायता की भावना से दिया जाता। समय बीतने पर मानवतावादी प्रयोजन का स्थान वाणिज्यिक प्रयोजनों ने ले लिया और ऐसे तरीके अपनाये गये जैसे सूद की उच्चतर दरें, कम समय में ऋण की अदायगी, शर्तों से बधी सहायता, सहायता में दी जाने वाली वस्तुओं का देने वाले देशों के जहाजो द्वारा भेजा जाना, जिनके परिणामस्वरूप सहायता का वास्तविक मूल्य उसकी मात्रा से भी नीचे गिर गया। इस प्रकार सूद की रकम और अदायगी के रूप मे प्राप्त सहायता और निर्यात की गई वस्तुओं से प्राप्त आय का लगभग १/४ तो सहायता पाने वाले देशों को शीघ्र ही देना पड़ा। शर्तों से बधी सहायता के तरीके द्वारा विकसित देशों ने सहायता पाने वाले देशों को विवश किया कि वे सहायता देने वाले देशो से ही वस्तुएँ खरीदें, जिनके लिए उन्हें खुले बाजार के मूल्य से २०–३० प्रतिशत अधिक कीमत देनी पड़ी। पाकिस्तान

मे किये गये एक अध्ययन (ECAFE Study) द्वारा हिसाब लगाने पर पता लगा कि सहायता के शर्तों से बधने के कारण वास्तविक सहायता ३० प्रतिशत कम रही।[1]

भारत को वैदेशिक नीति—कुछ नये पहलू और उनकी आलोचना—सोवियत सघ द्वारा पाकिस्तान को शस्त्रों की सहाया (Soviet Arms Aid to Pakistan) जब १९६८ में सोवियत सघ की सरकार ने पाकिस्तान को शस्त्रो की सहायता देने का निर्णय किया तो भारत में उसकी बडी आलोचना की गई और भारत सरकार ने भी चिन्ता प्रकट की। चाहे सोवियत सरकार का लक्ष्य विश्व के इस भाग में शान्ति बनाये रखना और एक नये शक्ति-सन्तुलन की रचना करना हो, किन्तु इस कार्य मे वास्तविक सफलता तब तक नही प्राप्त हो सकती जब तक पाकिस्तान भारत को अपना प्रमुख अथवा एकमात्र शत्रु समझने की नीति का परित्याग न करे। सोवियत सघ के नेताओं का चाहे कुछ भी विश्वास हो, भारतवासी तो यह विश्वास करते है कि पाकिस्तान को जो शस्त्र मिल रहे है, वह उनका प्रयोग अपनी इच्छा के अनुसार कर सकेगा। यदि पाकिस्तान ने उनका प्रयोग कभी किया तो वह अवश्य ही भारत के विरुद्ध किया जायेगा, क्योंकि पाकिस्तान चीन से शत्रुता मोल नही लेना चाहेगा और किसी ऐसे सैनिक गठबन्धन में भी सम्मिलित न होगा जिसका मुख्य उद्देश्य भारत के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही न होकर चीन या स० रा० अमरीका के विरुद्ध ऐसी कार्यवाही हो।

परन्तु हमें इस सम्बन्ध में दो बातों का ध्यान रखना चाहिए। प्रथम, सोवियत सरकार ने ऐसा निर्णय करने से पूर्व भली प्रकार अनुमान लगा लिया होगा कि उसके निर्णय की भारत मे क्या प्रतिक्रिया होगी। प्रश्न यह नही है कि मास्को को पाकिस्तान या भारत में से किसकी मित्रता अधिक प्रिय है। वास्तव मे मास्को ने इस प्रकार की छांट नही की; सोवियत सरकार ने तो कदाचित यह सोचा कि पाकिस्तान को शस्त्रो के रूप में दी जाने वाली सहायता के परिणामस्वरूप भारत मे उत्पन्न नाराजगी का हल भारत को अधिक बड़े पैमाने पर दूसरे प्रकार की सहायता देने से निकल आयेगा। ऐसा प्रतीत होता है कि सोवियत सरकार पाकिस्तान को उतनी सहायता देना चाहती है जितनी कि उसे अपने अधिक निकट लाने के लिए आवश्यक हो और उसका इरादा भारत को पहले से भी अधिक मात्रा मे अन्य प्रकार की सहायता देना है जिससे कि सोवियत सरकार को भारत मे अपना विशेष स्थान बनाये रखने के लिए काफी हो।

दूसरे, हमें यह नही भूल जाना चाहिए कि सोवियत सरकार ने भारत को कितनी अधिक सहायता दी है। सोवियत सरकार ने भारत को २००–३०० मिलियन डॉलर के तो शस्त्र ही दिये हैं, जो परिष्कृत होने के साथ-साथ आक्रमण और

1 G. N. Gandhi, 'Foreign Aid in Development Decade', Eastern Economist, Aug., 1969.

प्रतिरक्षा दोनों ही प्रकार की सैनिक कार्यवाही के लिए अति उपयोगी हैं। हमारे बहुत से उद्योगों का निर्माण सोवियत सरकार की सहायता से हुआ है। सोवियत सरकार ने भारतीय व्यापार को प्रोत्साहन दिया है और देश में उत्पन्न आर्थिक मन्दी (Economic recession) के दौरान हमारे कारखानों में बनी वस्तुएँ खरीदी हैं, जैसे रेलवे वैगन। कश्मीर के प्रश्न पर भी हमें अब तक सोवियत सरकार का महत्वपूर्ण समर्थन प्राप्त रहा है। अतएव सोवियत सरकार के साथ मित्रता बनाये रखने में ही हमारा हित है।

हनोई में राजदूत की नियुक्ति का प्रश्न और भारत-अमरीकी सम्बन्ध—उत्तरी वियतनाम के राष्ट्रपति, होची मिन्ह की मृत्यु के बाद भारत सरकार के विदेश मन्त्रालय की ओर से घोषित किया गया कि भारत हनोई में अपने राजनयिक प्रतिनिधि के पद को ऊँचा करेगा, अर्थात् वहाँ राजदूत भेजेगा, जबकि दक्षिण वियतनाम के साथ सम्बन्ध पूर्ववत् ही बना रहेगा। अब तक भारत सरकार ने उस देश के दोनों भागों के बीच समता का सम्बन्ध बनाये रखा है; अत. नये निर्णय से स्पष्ट है कि भारत सरकार ने उत्तरी वियतनाम को अधिक महत्व देना चाहा है। जैसा कि स्वाभाविक था। इस निर्णय की प्रतिक्रिया सयुक्त राज्य अमरीका में भारत के विपक्ष में हुई। वहाँ पर कांग्रेस (विधान मण्डल) के प्रमुख सदस्यों और सरकारी प्रवक्ताओं ने भारत की इस भेदपूर्ण नीति की आलोचना की और ऐसी सम्भावना उत्पन्न हुई कि कांग्रेस भारत को दी जाने वाली सहायता में कटौती करेगी, यद्यपि अब ऐसा नहीं हुआ है।

फिर भी, दोनों देशों के बीच इस प्रश्न पर मतभेद पैदा हुआ और सरकार को अमरीकी अधिकारियों को अपना दृष्टिकोण समझाने में कठिनाई का सामना करना पड़ा। अक्तूबर में भारत के विदेश मन्त्री, श्री दिनेश सिंह अमरीका गये और वहाँ के विदेश सक्रेटरी से वार्ता की। उसके बाद भारत सरकार के एक प्रवक्ता ने कहा कि अमरीकी सरकार ने यह सहर्ष स्वीकार किया कि भारत को किसी अन्य देश में राजदूत नियुक्त करने का पूरा अधिकार है। उसके मतानुसार अमरीकी विदेश विभाग (Department of State) ने ऐसा अनुभव किया कि इस प्रकार के निर्णय के लिये वर्तमान समय उपयुक्त नहीं है। वास्तव में अमरीका की ओर से भारत सरकार के निर्णय का जोरदार विरोध किया गया और कांग्रेस के प्रमुख सदस्यों ने भारत को दी जाने वाली आर्थिक सहायता में बड़ी कटौती करने के विचार का समर्थन किया।

यह सच है कि भारत सरकार पर अपने निर्णय को बदलने के लिये अमरीकी सरकार ने दबाव नहीं डाला; परन्तु अपनी नाराजगी अवश्य ही अभिव्यक्त की। अमरीका के विदेश सेक्रेटरी, मि० रोजर्स ने भारत के राजदूत, श्री टी० एन० कौल का ध्यान इस बात पर दिलाया कि भारत के निर्णय का कांग्रेस के सदस्यों पर कुप्रभाव पड़ेगा और भारत को दी जाने वाली सहायता में कटौती की जा

सकती है। भारत के विदेश मन्त्री और अमरीकी विदेश सेक्रेटरी के बीच हुई वार्ता के उपरान्त भारतीय प्रवक्ता ने कहा कि अमरीकी प्रशासन वियतनाम में किये गये भारतीय प्रयत्नों के इरादों के बारे में सन्देह नहीं करता है। उसमें यह भी कहा गया कि अमरीकी विदेश विभाग 'हनोई के साथ सचार के माध्यम' के रूप में भारत के महत्व को स्वीकार करता है। परन्तु कुछ आलोचकों का मत है कि भारत ने उपर्युक्त निर्णय सोवियत सघ के प्रभाव में किया है। इस मत का इस बात से भी कुछ समर्थन होता है कि भारत के विदेश मन्त्री ने मास्को द्वारा सुझाई गई 'एशिया सुरक्षा योजना' का भी अनुमोदन किया है।

रबात (मोरक्को) में इस्लामिक सम्मेलन (Islamic Conference at Rabat)—इस प्रश्न पर भारत की वैदेशिक नीति की देश में व्यापक आलोचना हुई है और *जनसघ व स्वतन्त्र पार्टी तथा कांग्रेस ससदीय पार्टी का एक अग (कांग्रेस* सगठन के समर्थकों का समूह) सरकार की रबात में असफलता के प्रश्न पर श्री दिनेश सिंह, विदेश मंत्री के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पेश करने का विचार कर रहे हैं। इस घटना से सम्बन्धित कुछ तथ्य इस प्रकार हैं—२१ अगस्त को इजराइल में स्थित इस्लाम के प्रसिद्ध धार्मिक स्थान—अल अक्सा मस्जिद—में एक आस्ट्रेलियन यात्री ने आग लगा दी, जिसके परिणाम स्वरूप मस्जिद को भारी क्षति पहुँची और सभी देशो के मुसलमानो ने इस कार्य के लिये इजराइल सरकार की निन्दा की तथा उसके विरुद्ध जोरदार प्रदर्शन किये। जहाँ तक मस्जिद में आग लगाने का प्रश्न है, विश्व के सभी विचारवान् व्यक्तियों ने इस कार्य की निन्दा की।

उपरोक्त घटना के बाद मुस्लिम देशों के राज्य अध्यक्षों का एक इस्लामिक शिखर सम्मेलन (**Islamic Summit Conference**) रबात (मोरक्को) में इस प्रश्न पर विचार करने के लिए आयोजित किया गया। इस सम्मेलन में इस्लामी देशों और इस्लामी प्रदेशो की सरकारो के अध्यक्षो को भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया गया। अतः भारत को इसमें भाग लेने के लिए कोई निमन्त्रण नहीं भेजा गया। परन्तु भारत सरकार ने इसमें भाग लेने के लिए निमन्त्रण पाने के हेतु विशेष प्रयत्न किये और उसे भी निमन्त्रण मिल गया। भारतीय प्रतिनिधि मण्डल के नेता के रूप में भारत सरकार के उद्योग मंत्री, श्री फखरुद्दीन अली अहमद को भेजा गया। भारतीय प्रतिनिधिमण्डल का अन्य प्रतिनिधि मण्डलों की भाँति मान्य नियमों के अनुसार स्वागत भी नहीं हुआ। उसके प्रति अपमानजनक व्यवहार किया गया और एक दिन तो उसे पीने का पानी भी नहीं मिला तथा खाना भी असाधारण देरी से खिलाया गया। पाकिस्तान के राष्ट्रपति ने भारत के प्रतिनिधिमण्डल द्वारा सम्मेलन में भाग लेने का इतना जोरदार विरोध किया कि सम्मेलन ने यह प्रस्ताव पास किया कि भारतीय प्रतिनिधि मण्डल सम्मेलन में भाग न ले। फिर भी प्रतिनिधि मण्डल *और उसके नेता वहाँ ठहरे रहे*; *यद्यपि वे सम्मेलन में भाग न* ले सके।

भारत लौटने पर श्री फखरुद्दीन अली अहमद ने रबात में किये गये अपमानजनक व्यवहार के बारे में इतना रोष प्रकट किया कि उन्होंने भारत की वैदेशिक नीति द्वारा नई दिशा अपनाने तक की बात कही। परन्तु सरकार के कुछ समर्थकों ने इस पर भी यह मत प्रकट किया कि भारत का अपमान नहीं हुआ तथा दोष तो सम्मेलन के आयोजकों का है। यह बड़ी ही अजीब और नासमझी की बात प्रतीत होती है कि भारत ने, जिसका संविधान धर्म-निरपेक्षीय है और जिसकी बहुसंख्यक जनता भी गैर-मुस्लिम है, सम्मेलन में भाग लेने के लिए निमन्त्रण प्राप्त करने के लिए विशेष प्रयत्न किया। जैसा कि चलन पड गया है, भारत सरकार के प्रवक्ताओं ने पाकिस्तान की चालों को दोषी ठहराया।

समझ में नहीं आता कि ऐसे सम्मेलन में भाग लेने से भारत को क्या लाभ होने वाला था। जहाँ तक अरब-इजराइल विवाद का सम्बन्ध है, इस बारे में भारत की नीति और दृष्टिकोण सुविदित हैं। परन्तु क्या भारत मुख्यत धार्मिक भावना से प्रेरित इस्लामी-सम्मेलन में स्वीकृत किये जाने वाले प्रस्ताव का, जो कि मुस्लिम देशों की जनता के इस्लामी भावों को उभारने वाला हो, समर्थन करता। यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि सम्मेलन केवल यह मांग करता कि इजरायली सेनायें युद्ध से पूर्व की सीमाओं के पीछे हटें (जिसका कि भारत और विश्व के अनेक देश समर्थन करते है)। सम्भावना तो यही थी कि सम्मेलन में भाग लेने वाले अधिकतर अरब व इस्लामी देश इजराइल के अस्तित्व को मानने से इन्कार करते और यदि ऐसा होता तो भारत की सम्मेलन में क्या स्थिति रहती। जिस प्रकार का समर्थन अल-फतह (पैलेस्टीन के राष्ट्रवादी अरब शरणार्थियों का आतंकवादी संगठन) का श्री फखरुद्दीन अली अहमद ने किया और उसके प्रतिनिधियों का जिस प्रकार से भारत के विदेश-मन्त्री श्री दिनेश सिंह ने स्वागत किया, उससे तो ऐसा लगता है कि भारत सरकार इजराइल द्वारा अरब प्रदेशों पर आधिपत्य और इजराइल के अस्तित्व को अस्वीकार करने के बीच स्पष्ट अन्तर को भुला रही है क्योंकि भारत सरकार की नीति पहली बात के समर्थन की है न कि दूसरी बात की। ऐसा होने पर भी भारत सरकार के ज्येष्ठ मन्त्रियों ने स्व-घोषित आतंकवादी संगठन की सराहना की और उसके प्रति समर्थन भी अभिव्यक्त किया। भारत में अल-फतह के प्रतिनिधिमण्डल का अनेक स्थानों पर उत्साहपूर्ण स्वागत किया गया और उसका व्यापक प्रचार भी हुआ। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि भारत विरोधी तत्वों ने जम्मू-कश्मीर में अल-फतह के नमूने पर कार्यवाहियाँ सचालित करने का निर्णय किया है। इस दृष्टि से भारत की पश्चिमी एशिया के बारे में वैदेशिक नीति वृद्धिपूर्ण मात्रा में अजीब अथवा असगत प्रतीत होती है। ●●

अध्याय २१. उपसंहार

बढ़ती हुई साम्प्रदायिकता और प्रादेशिकता की भावनाओं ने देश की राष्ट्रीय एकता के लिए गम्भीर खतरा पैदा कर दिया है। इस सम्बन्ध में हम तीन बातों का संक्षेप में वर्णन करना आवश्यक समझते हैं—(१) गुजरात में हुए हाल के साम्प्रदायिक दंगे, (२) तेलगाना (पृथक् राज्य) की मांग और (३) चण्डीगढ़ व भाखड़ा-नागल पर अधिकार के लिए पंजाब व हरयाना के बीच गम्भीर विवाद। इन बातों (तथा पश्चिमी बंगाल में मार्क्सवादी दल की हिंसक गतिविधियों और के दो गुटों के बीच आपसी संघर्ष) में हिंसा का प्रयोग वृद्धिपूर्ण मात्रा में हो है। इससे तो प्रजातन्त्र की स्थिरता को भी गम्भीर खतरा पैदा हो गया है। इन सब बातों के परिणाम देश की अखण्डता और विकास की गति के लिए अत्यन्त भयंकर व हानिकारक हो सकते हैं।

(१) *गुजरात में साम्प्रदायिक दंगे*—अहमदाबाद (गुजरात) में स्वतन्त्रता के बाद सबसे भयंकर साम्प्रदायिक दंगे १९ सितम्बर, १९६९ को आरम्भ हुए जबकि जगन्नाथ मन्दिर पर आक्रमण किया गया और हिन्दू सन्यासियों के प्रति, जो २०० गायें ले जा रहे थे, एक मुस्लिम जलूस ने (जो एक धार्मिक समारोह में भाग लेने जा रहा था) बुरा व्यवहार किया। लगभग एक माह पूर्व एक ठेले से टक्कर हो जाने पर एक कुरान की प्रति नीचे गिर गई थी और उसके लगभग १५ दिन बाद रामायण का निरादर किया गया था। १९ सितम्बर को दोनों प्रमुख सम्प्रदायों के समूहों के बीच मुठभेड़ हुई और चार क्षेत्रों में कर्फ्यू लगाया गया। २० सितम्बर को आग लगाने, छुरेबाजी, गोली चलाने, दुकानें तोड़ने आदि की लगभग ४०० घटनायें हुई। दंगे कई दिन तक चले और अहमदाबाद के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी अशोभनीय घटनायें घटी।

स्वराष्ट्र-मन्त्री श्री चह्वाण ने दंगा-ग्रस्त क्षेत्रों का २४ सितम्बर को दौरा किया और अगले दिन प्रधान-मन्त्री श्रीमती गांधी ने भी दौरा किया। प्रधान-मन्त्री ने पीड़ित व्यक्तियों व उनके परिवारों की सहायता के लिए प्रधान-मन्त्री सहायता कोष से एक लाख रुपये के अनुदान की भी घोषणा की। ८ अक्तूबर को नई दिल्ली 'आन्तरिक मामलों की संसदीय समिति' (Consultative Committee of Parliament on Home Affairs) को सम्बोधित करते हुए गुजरात सरकार की बड़ी आलोचना और निन्दा की क्योंकि वह अहमदाबाद में समय पर पाशविक मार-काट को रोकने में असफल रही।

गुजरात में हुए दंगों की निष्पक्ष रूप से जाँच की जानी चाहिए जिससे कि उसके कारणों का ठीक-ठीक पता लग सके और भविष्य में ऐसी घटनाओं को घटने से रोकने के लिए सभी आवश्यक और कठोर पग उठाये जा सकें। साम्प्रदायिक दंगों के भयंकर और नष्टकारी परिणामों को हमे भुलाना नहीं चाहिए। प्रत्येक

...रतीय को यह ध्यान रखना चाहिए कि भारत सभी का है और सबको उसके ...दार होना आवश्यक है। साम्प्रदायिक आधार पर भेदभाव करना सविधान ...रा प्रत्याभूत मूल अधिकारों और धर्म-निरपेक्षता के ध्येय का उल्लघन करना है, ...ो केवल दण्डनीय अपराध ही नही वरन् राष्ट्रीय एकीकरण के लिए घातक भी है। ...े दगों के लिए किसी एक सम्प्रदाय को दोषी ठहराना उचित नही प्रतीत होता, ...ा सिद्धान्त हो जाए। जो भी व्यक्ति या समूह ऐसे दगो और साम्प्रदायिक ...ने के लिए उत्तरदायी हों उन्हे कठोर से कठोर दण्ड देना चाहिए।

...टूबर १५ व १६ को राष्ट्रीय एकीकरण परिषद् (National Integr...ion Council) की स्थायी समिति (Standing Committee) की बैठक हुई। ...धान-मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाधी ने समिति के समक्ष अपने भाषण में कहा कि ...राष्ट्रीय स्वय-संघ के प्रमुख श्री गोलवलकर ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि भारत ...ा निर्माण 'हिन्दू राष्ट्र की धारणा' के आधार पर हो सकता है। उन्होने जनसघ ...प्रतिनिधि श्री महावीर से उसका स्पष्टीकरण करने को कहा। श्री महावीर ने ...तर दिया कि उस वाक्य को सदर्भ से अलग नहीं पढ़ना चाहिए। साथ में उन्होंने ...ह तर्क दिया कि सरकार ही साम्प्रदायिक तनाव मे योग देती है, जैसा कि ...रबात मे इस्लामी शिखर सम्मेलन में भाग लेने के लिए निमन्त्रण स्वीकार ...र किया। श्री महावीर ने समिति द्वारा प्रकाशित किये जाने वाले वक्तव्य मे ...म्मिलित इन शब्दों के प्रति आक्षेप उठाया—"हम इस विचार के फैलाने की ...ोर निन्दा करते हैं कि किसी अल्पसख्यक समुदाय का भारतीयकरण किया जाए ...ा उसे देश छोड़ने के लिए बाध्य किया जाए।" श्री महावीर ने यह भी कहा ...वक्तव्य में यह भी हवाला होना चाहिए कि देश के सभी नागरिकों के लिए एक ...व्यवहार संहिता (Civil Code) हो, परन्तु उनके सुझाव को स्वीकार नही ...ा गया।

...श्रीमती गाधी ने श्री महावीर द्वारा प्रस्तुत सशोधन का विरोध करते हुए ...कि मुसलमानों ने अपने को देश के साथ मिला दिया है और उन्होने सकटकाल ...अपनी वफादारी का प्रमाण दिया है। श्री जयप्रकाश नारायण ने गुजरात मे ...ए दगो के उपरान्त दिये गये अपने भाषण का स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि ...होने तो साम्प्रदायिक दगों के लिए हिन्दू और मुस्लिम दोनो ही सम्प्रदायवादियों ...को दोषी ठहराया है। जनसंख्या की अदला-बदली की माँग को उन्होंने मूर्खतापूर्ण ...बताया। स्थायी समिति द्वारा अगीकृत वक्तव्य निम्न प्रकार है—

राष्ट्रीय एकीकरण परिषद् की स्थायी समिति हाल ही में गुजरात ...घटी साम्प्रदायिक हिंसा के प्रति अति भय की भावना अभिव्यक्त करती ...है, जिसने साम्प्रदायिक सामञ्जस्य और सद्भावना को, जो कि हमारे ...धर्म-निरपेक्षीय प्रजातन्त्र के आधार हैं, को गम्भीर धक्का लगाया है। उन

सभी को जिन्हें कष्ट सहने पड़े हैं, समिति अपनी ओर से गहरी सहानुभूति का सन्देश भेजती है।

स्थायी समिति का मत है कि साम्प्रदायिक संघर्ष और खण्डन का मुकाबला करने के लिए प्रभावी शस्त्र सभी राजनीतिक दलों द्वारा साम्प्रदायिक मित्रता और सामञ्जस्य के पक्ष में जनसाधारण का संयुक्त अभियान और शिक्षा है। हम इस बात का कड़ा विरोध करते हैं कि किसी भी अल्पसंख्यक समुदाय की उसे देशभक्तिहीन अथवा किसी विदेशी शक्ति का अभिकरण कहकर निन्दा की जाये। इसके बराबर ही हम इस विचार के भी विरोधी हैं कि किसी अल्पसंख्यक समुदाय का भारतीयकरण होना आवश्यक है, अन्यथा उसे देश छोड़कर जाने पर बाध्य किया जायेगा।

साम्प्रदायिक पागलपन के दौरान कभी-कभी लोग ऐसी-ऐसी अनुत्तरदायित्वपूर्ण बातें कह देते हैं जैसे कि हिन्दू-मुस्लिम समस्या का हल जनसंख्या की अदला-बदली है। समिति का यह पक्का मत है कि ऐसे विचारों का खुलकर विरोध करना आवश्यक है क्योंकि वे केवल धर्म-निरपेक्षता और राष्ट्रीयता की हमारी धारणा से पूर्णतया असंगत ही नहीं हैं वरन् हमारे देश की एकता और सुरक्षा के लिए हानिकारक भी हैं।

धर्म-निरपेक्ष प्रजातन्त्रात्मक देश में सभी अल्पसंख्यकों को, चाहे वे धर्म, जाति या जनजाति पर आधारित हों, इस बात का आश्वासन देना आवश्यक है कि उनके उचित हितों—जीवन, सम्पत्ति और सम्मान की उचित रक्षा की जायेगी। अल्पसंख्यक समुदाय के साम्प्रदायिक तत्वों द्वारा साम्प्रदायिक आवेगों और पृथकतावादी भावों को भड़काने वाले प्रयत्नों का डटकर मुकाबला किया जायगा। वे देश की एकता और धर्म-निरपेक्षीय आधार के लिए हानिकारक होने के अतिरिक्त स्वयं अल्पसंख्यक समुदाय के हितों को खतरे में डालने वाले हैं।

सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह साम्प्रदायिक घृणा और शत्रुता का किसी भी प्रकार से प्रचार किये जाने के विरुद्ध कठोर कार्यवाही करे। प्रशासनिक अभिकरणों को कड़ाई और शीघ्रता से "साम्प्रदायिक आन्दोलन और उत्तेजनापूर्ण कार्यों को, जो कि साधारणतया साम्प्रदायिक गड़बड़ों के पूर्व होते हैं, दबा दें। प्रशासन का यह भी कर्त्तव्य है कि जो व्यक्ति साम्प्रदायिक दंगों के दौरान लूट-मार, कत्ल और आग लगाने के कार्यों में भाग लेते पकड़े जायें, उन्हें निरोधक दण्ड दिया जाये। जनता का यह कर्त्तव्य है और विशेष रूप से सभी राजनीतिक दलों का कि वे सरकार द्वारा साम्प्रदायिक हिंसा को दबाने और ऐसे लोगों के विरुद्ध न्यायिक कार्यवाही करने में, जो कि ऐसे दंगों में अपराध करें, कठोर कार्यवाही का समर्थन करें।

(२) तेलंगाना (पृथक राज्य) की स्थापना के
प्रादेशिक समिति (Telangana Regional Committ
सेवकों के बारे में अपनी रिपोर्ट में (जो १४ मार्च १९
सरकार पर यह दोषारोपण किया कि उसने जान-बूझकर
१९५६ के अनुसार बनने वाली सामान्य स्नातक सूचियों
मन्त्रालय के अनुदेशों पर ध्यान नहीं दिया। समिति ने
के निर्माण से लेकर १२ वर्ष के काल के बारे में निष्क
खेद प्रकट किया गया है कि दोनों भागों की सेवाओं
आदेशात्मक चारों बातों यथा पद, वेतनक्रम, कर्तव्य
विभागों ने एकरूप ढंग से लागू नहीं किया, चूँकि
(General Administration Department) ने इस
नहीं किया।

आन्ध्र प्रदेश के मुख्य मन्त्री, श्री ब्रह्मानन्द रेड्डी
में घोषित किया कि १२ वर्ष के काल में तेलगाना
(Telengana's surplus revenues) ३४ करोड़ रुप
मार्च को यह भी कहा कि सरकार ने तेलगाना क्षेत्र के
को अतिरिक्त मुख्य सचिव (Additional Chief Sec
किया है जो तेलंगाना से सम्बन्धित सभी मामलों, विशे
बारे में शीघ्र और प्रभावी पग उठायेगा। श्री रेड्डी ने
विभिन्न संरक्षणों (safeguards) को कार्यरूप देने के
(effective mechanism) की व्यवस्था करने के हेतु
की घोषणा की। २८ मार्च को श्री कोंडा लक्ष्मण बा
मुख्य मन्त्री से मतभेद के कारण मन्त्रि-मण्डल से त्यागपत्र
की राज्य कौंसिल ने २४ मार्च को तेलगाना संरक्षणों
१२ सूत्री कार्यक्रम का सुझाव दिया।

तेलगाना प्रश्न के बारे में प्रधान मन्त्री ने
१०–११ अप्रैल को दिल्ली में, बातचीत के उपरान्त स
की घोषणा की। प्रधान मन्त्री ने उसमें कहा कि सरक
समिति नियुक्त करने का निर्णय किया है, जो तेलगाना
बारे में दिये गये विभिन्न अनुमानों और प्रतिवेदनों की
अन्त तक भारत सरकार को रिपोर्ट देगी। उन्होंने तेलग
को समाप्त करने के लिये भी अपील की, परन्तु आन्दोल
से तेलगाना प्रजा समिति ने पृथक् राज्य के लिये आन्दोलन
किया। समिति के स्वयं सेवको ने हैदराबाद व सिकन्द
सत्याग्रह किया। आन्दोलन कई दिन तक चला। २ जून

अधिकारियों की सहायता के लिये सेना को भी बुलाया। उस दिन हैदराबाद में पृथक् तेलंगाना राज्य और एकीकृत आन्ध्र प्रदेश के समर्थकों के बीच गम्भीर मुठभेड़ हुई। उसके बाद प्रधान मन्त्री और स्वराष्ट्र मन्त्री राज्य के दौरे पर गये। ८ जून को स्वराष्ट्र मन्त्री ने एक वक्तव्य में अपील की कि तेलगाना में चल रही सभी आन्दोलनात्मक गतिविधियों को स्थगित कर दिया जाये, जिससे कि शांत वातावरण में समस्या का न्यायोचित हल निकाला जा सके।

१ जून को तेलगाना के कांग्रेस कार्यकर्ताओं का सम्मेलन हुआ, जिसमें भारत सरकार से मांग की गई कि राज्य विधान सभा को ६ माह के लिये निलम्बित करके राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया जाये। २६ मई को भारतीय क्रांति दल की राष्ट्रीय कार्यकारिणी ने एक प्रस्ताव में पृथक् तेलगाना राज्य की मांग का समर्थन किया। पृथक राज्य के लिये आन्दोलन ने प्रबल रूप धारण किया और उसमें हिंसा-पूर्ण घटनायें भी घटी। कुछ समय से आन्दोलन निलम्बित अवस्था में है। तेलगाना प्रदेश के अधिकतर नेताओं का यह कहना है कि १३ वर्ष के अनुभव के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि तेलगाना का आन्ध्र प्रदेश के साथ किया गया विलीनीकरण (merger) उनके हित में नहीं रहा है। पृथकतावादियों का यह भी कहना है कि उन्हें जनता का व्यापक समर्थन प्राप्त है। उनकी यह आम शिकायत है कि आन्ध्र के निर्माण के समय ३ शर्तें स्वीकार की गई थी, जिनका ठीक से पालन नहीं हुआ है—(१) मन्त्रि-मण्डल में तेलगाना प्रदेश का उप-मुख्य मन्त्री रहेगा; (२) तेलगाना प्रदेश की कांग्रेस कमेटी पृथक् रहेगी; और (३) प्रादेशिक समिति प्रभावी रूप में कार्य करेगी। तेलगाना क्षेत्र के सरकारी सेवकों की सबसे बड़ी शिकायत यह है कि जो स्थान उनके लिये रखे गये हैं उन्हें भी आन्ध्र क्षेत्र के सेवकों व अधिकारियों से भरा जाता है। भारत सरकार को इस समस्या का सम्बन्धित पक्षों के मान्य नेताओं के परामर्श से शीघ्र ही सन्तोषजनक और न्यायोचित हल निकालना चाहिये।

(३) चंडीगढ़ और भाखड़ा-नांगल पर अधिकार के लिये पंजाब व हरयाना में विवाद—इस विवाद का मूल कारण तो पंजाब का दो राज्यों में विभाजन है। चंडीगढ़ पर सीमा आयोग ने हरयाने के दावे को स्वीकार किया था, किन्तु पंजाबी इस निर्णय को स्वीकार नहीं करते, इसलिये भारत सरकार ने चण्डीगढ़ को पृथक संघीय क्षेत्र बना दिया और इसी प्रकार भाखड़ा नांगल पर किसी एक राज्य को अधिकार नहीं सौंपा। तभी से चण्डीगढ़ के प्रश्न पर विवाद चल रहा है और आपसी वार्ता द्वारा इस प्रश्न का कोई सन्तोषप्रद हल नहीं निकल सका है। प्रधान मन्त्री द्वारा इस प्रश्न पर पंच-निर्णय देने का सुझाव भी विफल रहा, क्योंकि दोनों विरोधी पक्ष इस बारे में सहमत न हो सके। कुछ समय से अकाली दल और उसके प्रमुख नेता सन्त फतह सिंह ने चण्डीगढ़ व भाखड़ा-नांगल पर अधिकार के लिये जोरदार आन्दोलन चलाया हुआ है। इसी सम्बन्ध में एक भूतपूर्व कांग्रेसी नेता दर्शन सिंह फेरूमान ने अनशन किया हुआ था, जिनका ७४ दिन के अनशन के बाद

२७ अक्तूबर को निधन हो गया। उनके मुकाबले
अनशन किया हुआ था। दर्शन सिंह फेरूमान के नि
घोषणा की कि यदि एक निश्चित तारीख तक
स्वीकार न की तो वह सर्वोच्च बलिदान करेंगे। प
चडीगढ़ आदि प्राप्त करने के लिये संगठित रूप से
निर्णय किया है। इसी प्रकार से हरयाना में स
१७ नवम्बर को दिल्ली में हरयाना के दावे के सम
जोरदार प्रदर्शन किया और मांग की कि चण्डीग
हरयाना और पंजाब के बढ़ते हुए दबाव के भारत
इस प्रश्न पर कोई शीघ्र निर्णय नहीं करने वाली है